श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला का तृतीय पुष्प

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्यम्

यशस्तिलकदीपिकाख्यया भाषाटीकया समेतम्

उत्तरखण्डम्

—अनुवादक-सम्पादक व प्रकाशक—

पं० सुन्दरलाल शास्त्री

जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व काव्यतीर्थ

अध्यक्ष—श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला

कमच्छा बी० २१।१२९ ठाकुरवाड़ी

वाराणसी (यू० पी०)

—प्राक्कथन-लेखक—

श्री० डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल

अध्यक्ष—कला व पुरातत्त्व विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

सम्पादन-प्रकाशन प्रभृति सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम आवृत्ति
२१०४ प्रति

श्रावण वीर नि० २४९७
वि० सं० २०२८
जुलाई १९७१

मूल्य इक्कीस २१ रु०
सजिल्द

मुद्रक—आनन्द प्रेस, बी० १२।११२ गौरीगंज, वाराणसी-१

प्राक्कथन

संस्कृत के गद्य-साहित्य में अनेक कथाग्रन्थ हैं। उनमें बाण की 'कादम्बरी', सोमदेव का 'यशस्तिलकचम्पू' और धनपाल की 'तिलकमञ्जरी'—ये तीन अत्यन्त विशिष्ट ग्रन्थ हैं। बाण ने कादम्बरी में भाषा और कथावस्तु का जिस उच्च पद तक परिमार्जन किया था उसी आदर्श का अनुकरण करते हुए सोमदेव और धनपाल ने अपने ग्रन्थ लिखे। संस्कृत भाषा का समृद्ध उत्तराधिकार क्रमशः हिन्दी भाषा को प्राप्त हो रहा है। तदनुसार ही 'कादम्बरी' के कई अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में श्री० सुन्दरलालजी शास्त्री ने 'सोमदेव' के 'यशस्तिलकचम्पू' का भाषानुवाद प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य की विशेष सेवा की है। हम उनके परिश्रम और पाण्डित्य की प्रशंसा करते हैं। इस अनुवाद को करने से पहले 'यशस्तिलकचम्पू' के मूल पाठ का भी उन्होंने संशोधन किया और इस अनुसंधान के लिये जयपुर, नागौर, सीकर, अजमेर और बड़नगर के प्राचीन शास्त्रभंडारों में छानबीन करके 'यशस्तिलकचम्पू' की कई ह० लि० प्राचीन प्रतियों से मूल पाठ और अर्थों का निश्चय किया। इस श्रमसाध्य कार्य में उन्हें लगभग ८-१० वर्ष लगे। किन्तु इसका फल 'यशस्तिलकचम्पू' के अधिक प्रामाणिक संस्करण के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। 'यशस्तिलक' का पहला संस्करण मूल के आठ आश्वास और लगभग साढ़े चार आश्वासों पर 'श्रुतसागर' की सं० टीका के साथ १९०१-१९०३ में 'निर्णयसागर' यंत्रालय से प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थ में लगभग एक सहस्र पृष्ठ हैं। उसी की सांस्कृतिक सामग्री, विशेषतः धार्मिक और दार्शनिक सामग्री को आधार बनाकर श्री कृष्णकान्त हन्दीकी ने 'यशस्तिलक और इण्डियन कल्चर' नामका पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ १९४९ में प्रकाशित किया, जिससे इस योग्य ग्रन्थ की अत्यधिक ख्याति विद्वानों में प्रसिद्ध हुई। उसके बाद श्री सुन्दरलालजी शास्त्री का 'यशस्तिलक' पर यह उल्लेखनीय कार्य सामने आया है।

आपने आठों आश्वासों के मूलपाठ का संशोधन और भाषाटीका तैयार कर ली है। तीन आश्वास प्रथमखण्ड के रूप में १९६० में प्रकाशित हो चुके हैं और शेष पांच आश्वास टीका-सहित दूसरे खण्ड के रूप में प्रकाशित होंगे। प्राचीन प्रतियों की छानबीन करते समय श्री सुन्दरलालजी शास्त्री को 'भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन सरस्वती भवन' नागौर के शास्त्रभण्डार में 'यशस्तिलक-पञ्जिका' नामका एक विशिष्ट ग्रन्थ मिला, जिसके रचयिता 'श्रीदेव' नामक कोई विद्वान् थे। उसमें आठों आश्वासों के अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्दों का निघण्टु या कोश प्राप्त हुआ। इसकी विशेष चर्चा हम आगे करेंगे। इसे भी श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने परिशिष्ट दो में स्थान दिया है। इसप्रकार ग्रन्थ को स्वरूप-सम्पन्न बनाने में वर्तमान सम्पादक और अनुवादक श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने जो महान् परिश्रम किया है, उसे हम सर्वथा प्रशंसा के योग्य समझते हैं। आशा है इसके आधार से संस्कृत वाङ्मय के 'यशस्तिलकचम्पू' जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थ का पुनः पारायण करने का अवसर प्राप्त करेंगे।

'सोमदेव' ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना ९५९ ईसवी में की। 'यशस्तिलक' का दूसरा नाम 'यशोधरमहाराजचरित' भी है, क्योंकि इसमें उज्जयिनी के सम्राट् यशोधर का चरित्र कहा गया है। अर्थात्—'यशोधर' नामक राजा की कथा को आधार बनाकर व्यवहार, राजनीति, धर्म, दर्शन और मोक्ष सम्बन्धी अनेक विषयों की सामग्री प्रस्तुत की गई है। 'सोमदेव' का लिखा हुआ दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत'

है, उसमें 'कौटिल्य' के अर्थशास्त्र को आधार मानकर **'सोमदेव'** ने राजशास्त्र विषय को सूत्रों में निबद्ध किया है। संस्कृत वाङ्मय में 'नीतिवाक्यामृत' का भी विशिष्ट स्थान है और जीवन की व्यवहारिक निपुणता से ओतप्रोत होने के कारण यह ग्रन्थ भी सर्वथा प्रशंसनीय है। उस पर भी श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने हिन्दी टीका लिखी है। इन दोनों ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि **'सोमदेव'** की प्रज्ञा अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की थी और संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था।

'सोमदेव' ने अपने विषय में जो कुछ उल्लेख किया है, उसके अनुसार वे देवसंघ के साधु **'नेमिदेव'** के शिष्य थे। वे राष्ट्रकूट सम्राट् **'कृष्ण'** तृतीय (९२९–९६८ ई०) के राज्यकाल में हुए। सोमदेव के संरक्षक **'अरिकेसरी'** नामक चालुक्य राजा के पुत्र **'वाद्यराज'** या **'वद्दिग'** नामक राजकुमार थे। यह वंश राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्त पदवीधारी था। **'सोमदेव'** ने अपना ग्रन्थ **'गङ्गधारा'** नामक स्थान में रहते हुए लिखा। धारवाड़ कर्नाटक महाराज और वर्तमान 'हैदराबाद' प्रदेश पर राष्ट्रकूटों का अखण्ड राज्य था। लगभग आठवीं शती के मध्य से लेकर दशम शती के अन्त तक महाप्रतापी राष्ट्रकूट सम्राट् न केवल भारतवर्ष में बल्कि पश्चिम के अरब साम्राज्य में भी अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अरबों के साथ उन्होंने विशेष मैत्री का व्यवहार रक्खा और उन्हें अपने यहाँ व्यापार की सुविधाएँ दीं। इस वंश के राजाओं का विरुद **'वल्लभराज'** प्रसिद्ध था, जिसका रूप अरब लेखकों में बल्हरा पाया जाता है। राष्ट्रकूटों के राज्य में साहित्य, कला, धर्म और दर्शन की चौमुखी उन्नति हुई। उस युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर दो चम्पू ग्रन्थों की रचना हुई। पहला महाकवि त्रिविक्रमकृत **'नलचम्पू'** है। **'त्रिविक्रम'** राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्र तृतीय (९१४–९१६ ई०) के राजपण्डित थे। इस चम्पू ग्रन्थ की संस्कृत शैली श्लेष प्रधान शब्दों से भरी हुई है और उससे राष्ट्रकूट संस्कृति का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

त्रिविक्रम के पचास वर्ष बाद **'सोमदेव'** ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की। उनका भरसक प्रयत्न यह था कि अपने युग का सच्चा चित्र अपने गद्यपद्यमय ग्रन्थ में उतार दें। निःसन्देह इस उद्देश्य में उनको पूरी सफलता मिली। **'सोमदेव'** जैन साधु थे और उन्होंने 'यशस्तिलक' में जैनधर्म को व्याख्या और प्रभावना को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया है। उस समय कापालिक, कालामुख, शैव व चार्वाक-आदि जो विभिन्न सम्प्रदाय लोक में प्रचलित थे, उनको शास्त्रार्थ के अखाड़े में उतार कर तुलनात्मक दृष्टि से **'सोमदेव'** ने उनका अच्छा परिचय दिया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ भारत के मध्यकालीन सांस्कृतिक इतिहास का उमँड़ता हुआ स्रोत है, जिसकी बहुमूल्य सामग्री का उपयोग भविष्य के इतिहास ग्रन्थों में किया जाना चाहिए। इस क्षेत्र में श्रीकृष्णकान्त हन्दीकी का कार्य, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, महत्त्वपूर्ण है। किन्तु हमारी सम्मति में अभी उस कार्य को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है, जिससे **'सोमदेव'** की श्लेषमयी शैली में भरी हुई समस्त सामग्री का दोहन किया जा सके। भविष्य में किसी अनुसन्धान प्रेमी विद्वान् को यह कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

'यशस्तिलक' की कथा कुछ उलझी हुई है। **'बाण'** की कादम्बरी के पात्रों की तरह इसके पात्र भी कई जन्मों में हमारे सामने आते हैं। बीच-बीच में वर्णन बहुत लम्बे हैं, जिनमें कथा का सूत्र खो जाता है। इससे बचने के लिये संक्षिप्त कथासूत्र का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राचीन समय में **'यौधेय'** नाम का जनपद था। वहाँ का राजा **'मारिदत्त'** था। उसने **'वीरभैरव'** नामक अपने पुरोहित की सलाह से अपनी कुलदेवी चण्डमारी को प्रसन्न करने के लिये एक सुन्दर पुरुष और स्त्री की बलि देने का विचार किया और चाण्डालों को ऐसा जोड़ा लाने की आज्ञा दी। उसी समय **'सुदत्त'**

नाम के एक महात्मा राजधानी के बाहर ठहरे हुए थे। उनके साथ दो शिष्य थे—एक 'अभयरुचि' नाम का राजकुमार और दूसरी उसकी बहिन 'अभयमति'। दोनों ने छोटी आयु में ही दीक्षा ले ली थी। वे दोनों दोपहर की भिक्षा के लिये निकले हुए थे कि चाण्डाल पकड़कर देवी के मन्दिर में राजा के पास ले गया। राजा ने पहले तो उनकी बलि के लिये तलवार निकाली पर उनके तप: प्रभाव से उसके विचार सौम्य हो गए और उसने उनका परिचय पूँछा। इस पर राजकुमार ने कहना शुरु किया।

(कथावतार नामक प्रथम आश्वास समाप्त)।

इसी 'भरतक्षेत्र' में 'अवन्ति' नाम का जनपद है। उसकी राजधानी 'उज्जयिनी' शिप्रा नदी के तट पर स्थित है। वहाँ 'यशोर्घ' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी 'चन्द्रमति' थी। उनके 'यशोधर' नामक पुत्र हुआ। एक बार अपने शिर पर सफेद बाल देखकर राजा को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने पुत्र यशोधर को राज्य सौंपकर संन्यास ले लिया। मन्त्रियों ने यशोधर का राज्याभिषेक किया। उसके लिए शिप्रा के तट पर एक विशाल मण्डप बनवाया गया। नये राजा के लिये 'उदयगिरि' नामक एक सुन्दर तरुण हाथी और 'विजयवैनतेय' नामक अश्व लाया गया। यशोधर का विवाह 'अमृतमति' नाम की रानी से हुआ। राजा ने रानी, अश्व और हाथी का पट्टबन्ध धूमधाम से किया।

(पट्टबन्धोत्सव नामक द्वितीय आश्वास समाप्त)।

अपने नये राज्य में राजा का समय अनेक आमोद-प्रमोदों व दिग्विजयादि के द्वारा सुख से बीतने लगा।

(राजलक्ष्मीविनोदन नामक तृतीय आश्वास समाप्त)।

एक दिन राज-कार्य शीघ्र समाप्त करके वह रानी अमृतमति के महल में गया। वहाँ उसके साथ विलास करने के बाद जब वह लेटा हुआ था तब रानी उसे सोया जानकर धीरे से पलँग से उतरी और वहाँ गई, जहाँ गजशाला में एक महावत सो रहा था। राजा भी चुपके से पीछे गया। रानी ने सोते हुए महावत को जगाया और उसके साथ विलास किया। राजा यह देखकर क्रोध से उन्मत्त होगया। उसने चाहा कि वहीं तलवार से दोनों का काम तमाम कर दे, पर कुछ सोचकर रुक गया और उलटे पैर लौट आया, पर उसका हृदय सूना हो गया और उसके मन में संसार की असारता के विचार आने लगे। नियमानुसार वह राजसभा में गया। वहाँ उसकी माता चन्द्रमति ने उसके उदास होने का कारण पूँछा तो उसने कहा कि 'मैंने स्वप्न देखा है कि राजपाट अपने राजकुमार 'यशोमति' को देकर मैं वन में चला गया हूँ; तो जैसा मेरे पिता ने किया मैं भी उसी कुलरीति को पूरा करना चाहता हूँ' यह सुनकर उसकी माँ चिन्तित हुई और उसने कुलदेवी को बलि चढ़ाकर स्वप्न को शान्ति करने का उपाय बताया। माँ का यह प्रस्ताव सुनकर राजा ने कहा कि मैं पशुहिंसा नहीं करूँगा। तब माँ ने कहा कि हम आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि चढ़ायेंगे और उसी का प्रसाद ग्रहण करेंगे। राजा ने यह बात मान ली और साथ ही अपने पुत्र 'यशोमति' के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। यह समाचार जब रानी ने सुना तो वह भीतर से प्रसन्न हुई पर ऊपरी दिखावा करती हुई बोली—'महाराज ! मुझ पर कृपा करके मुझे भी अपने साथ वन में ले चलें।' कुलटा रानी की इस ढिठाई से राजा के मन को गहरी चोट लगी, पर उसने मन्दिर में आकर आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई। इससे उसकी माँ प्रसन्न हुई, किन्तु असती रानी को भय हुआ कि कहीं राजा का वैराग्य क्षणिक न हो। अतएव उसने आटे के मुर्गे में विष मिला दिया। उसके खाने से चन्द्रमति और यशोधर दोनों तुरन्त मर गये।

(अमृतमति महादेवी-दुर्विलसन नामक चतुर्थ आश्वास समाप्त)।

राजमाता चन्द्रमति और राजा यशोधर ने आटे के मुर्गे की बलि का संकल्प करके जो पाप किया, उसके फलस्वरूप तीन जन्मों तक उन्हें पशु योनि में उत्पन्न होना पड़ा। पहली योनि में यशोधर मोर की योनि में पैदा हुआ और चन्द्रमति कुत्ता बनी। दूसरे जन्म में दोनों उज्जयिनी की शिप्रा नदी में मछली के रूप में उत्पन्न हुए। तीसरे जन्म में वे दो मुर्गे हुए, जिन्हें पकड़ कर एक जल्लाद उज्जयिनी के कामदेव के मन्दिर के उद्यान में होने वाले वसन्तोत्सव में कुक्कुट-युद्ध का तमाशा दिखाने के लिये ले गया। वहाँ उसे आचार्य 'सुदत्त' के दर्शन हुए। ये पहले कलिङ्ग देश के राजा थे, पर अपना विशाल राज्य छोड़कर मुनिव्रत में दीक्षित हुए। उनका उपदेश सुनकर दोनों मुर्गों को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अगले जन्म में वे दोनों यशोमति राजा की रानी कुसुमावलि के उदर से भाई बहिन के रूप में उत्पन्न हुए और उनका नाम क्रमशः 'अभयरुचि' और 'अभयमति' रक्खा गया। एक बार राजा यशोमति आचार्य सुदत्त के दर्शन करने गया और अपने पूर्वजों की परलोक-गति के बारे में प्रश्न किया।

आचार्य ने कहा—तुम्हारे पितामह यशोर्घ स्वर्ग में इन्द्रपद भोग रहे हैं। तुम्हारी माता अमृतमति नरक में है और यशोधर और चन्द्रमति ने इस प्रकार तीन बार संसार का भ्रमण किया है। इसके बाद उन्होंने यशोधर और चन्द्रमति के संसार-भ्रमण की कहानी भी सुनाई। उस वृत्तान्त को सुनकर संसार के स्वरूप का ज्ञान हो गया और यह डर हुआ कि कहीं हम बड़े होकर फिर इस भवचक्र में न फँस जाँय। अतएव बाल्यावस्था में ही दोनों ने आचार्य सुदत्त के संघ में दीक्षा ले ली।

इतना कहकर 'अभयरुचि' ने राजा मारिदत्त से कहा—हे राजन्। हम वे ही भाई बहिन हैं। हमारे आचार्य सुदत्त भी नगर से बाहर ठहरे हैं। उनके आदेश से हम भिक्षा के लिये निकले थे कि तुम्हारे चाण्डाल हमें यहाँ पकड़ लाए।

(भव-भ्रमणवर्णन नामक पाँचवें आश्वास की कथा यहाँ तक समाप्त हुई)।

वस्तुतः 'यशस्तिलकचम्पू' का कथाभाग यहीं समाप्त हो जाता है। आश्वास छह, सात, आठ इन तीनों का नाम 'उपासकाध्ययन' है, जिनमें उपासक या गृहस्थों के लिये छोटे बड़े छियालिस कल्प या अध्यायों में गृहस्थोपयोगी धर्मों का उपदेश आचार्य सुदत्त के मुख से कराया गया है। इनमें जैनधर्म का बहुत ही विशद निरूपण हुआ है। छठें आश्वास में भिन्न-भिन्न नाम के २१ कल्प हैं। सातवें आश्वास में बाइसवें कल्प से तेतीसवें कल्प तक मद्यप्रवृत्तिदोष, मद्यनिवृत्तिगुण, स्तेय, हिंसा, लोभ-आदि के दुष्परिणामों को बताने के लिये छोटे-छोटे उपाख्यान हैं। ऐसे ही आठवें आश्वास में चौंतीसवें कल्प से छियालीसवें कल्प तक उपाख्यानों का सिलसिला है। अन्त में इस सूचना के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है कि आचार्य सुदत्त का उपदेश सुनकर राजा मारिदत्त और उसकी प्रजाएँ प्रसन्न हुईं और उन्होंने श्रद्धा से धर्म का पालन किया, जिसके फलस्वरूप सारा यौधेय देश सुख एवं शान्ति से भर गया।

इसप्रकार सोमदेव का रचा हुआ यह विशिष्ट ग्रन्थ जैनधर्मावलम्बियों के लिये कल्पवृक्ष के समान है। अन्य पाठक भी जहाँ एक ओर इससे जैनधर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त कर सकते हैं वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के विविध अङ्गों का भी सविशेष परिचय प्राप्त कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक आश्वास में इस प्रकार की सामग्री विद्यमान है। उदाहरण के लिए तीसरे आश्वास में प्राचीन भारतीय राजाओं के आमोद-प्रमोद का एवं अनोखी बेजोड़ राजनीति का सविस्तर उल्लेख है। बाण ने जैसे 'कादम्बरी' में हिमगृह का ब्योरेवार वर्णन किया है वैसा ही वर्णन 'यशस्तिलक' में भी है। सोमदेव के मन पर कादम्बरी की गहरी छाप पड़ी

थी। वे इस बात के लिए चिन्तित दिखाई देते हैं कि बाण के किये हुए उदात्त वर्णनों के सदृश कोई वर्णन उनके काव्य में छूटा न रह जाय। सेना की दिग्विजय यात्रा का उन्होंने लम्बा वर्णन किया है। इन सारे वर्णनों की तुलनात्मक जानकारी के लिए बाणभट्ट के तत्सदृश प्रसंगों के साथ मिलाकर पढ़ना और अर्थ लगाना आवश्यक है। तभी उनका पूरा रहस्य प्रकट हो सकेगा। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, इस ग्रन्थ के अर्थ-गाम्भीर्य को समझने के लिये एक स्वतंत्र शोधग्रंथ की आवश्यकता है। केवल मात्र हिन्दी टीका से उस उद्देश्य की आंशिक पूर्ति ही संभव है इस पर भी श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने इस महाकठिन प्राय: निष्टीक ग्रन्थ के विषय में व्याख्या का जो कार्य किया है, उसकी हम विशेष प्रशंसा करते हैं और हमारा अनुरोध है कि उनके इस ग्रन्थ को पाठकों द्वारा उचित सन्मान दिया जाय।

महाकवि सोमदेव को अपने ज्ञान और पाण्डित्य का बड़ा गर्व था और 'यशस्तिलक' एवं 'नीतिवाक्यामृत' की साक्षी के आधार पर उनकी उस भावना को यथार्थ ही कहा जा सकता है। 'यशस्तिलक' में अनेक अप्रचलित क्लिष्टतम शब्दों को जान बूझकर प्रयुक्त किया गया है। अप्रयुक्त और क्लिष्ट शब्दों के लिए सोमदेव ने अपनी काव्यरचना का द्वार खोल दिया है। कितने ही प्राचीन शब्दों का वे जैसे उद्धार करना चाहते थे। इसके पूर्वखण्ड के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—घृणि = सूर्यरश्मि (पूर्वखण्ड पृ० १२, पंक्ति ५)। बल्लिका = शृंखला, हिन्दी बेल; हाथी के बांधने को जंजीर को 'गजबेल' कहा जाता है और जिस लोहे से वह बनती है उसे भी 'गजबेल' कहते थे (१८।२ पूर्व०)। सामज = हाथी; (१८।७ पूर्व०) कालिदास ने इसका पर्याय सामयोनि (रघु० १६।३) दिया है और माघ (१२।११) में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कमल शब्द का एक अर्थ मृगविशेष अमरकोश में आया है और बाण की कादम्बरी में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सोमदेव ने इस अर्थ में इस शब्द को रक्खा है (२३।१ पूर्वखण्ड)। इसीसे बनाया हुआ कमली शब्द (२४।२ पूर्व०)। मृगांक—चन्द्रमा के लिए उन्होंने प्रयुक्त किया है। कामदेव के लिये शूर्पकाराति (२५।१ पूर्वखण्ड) पर्याय कुषाण-युग में प्रचलित हो गया था। अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दोनों ग्रन्थों में शूर्पक नामक मछुवे की कहानी का उल्लेख किया है। वह पहले काम से अविजित था, पर पीछे कुमुद्वती नामक राजकुमारी की प्रार्थना पर कामदेव ने उसे अपने वश में करके राजकुमारी को सौंप दिया।

आच्छोदना = मृगया (२५।१ पूर्व०); पिशुर = पिशाच (२८।३ पूर्व०); जल्य = पल या मांस (२८।३ पूर्व०); दंदिवेध = कमल (३७।७ पूर्व०); विरेय = नद (३७।९ पूर्व०); गर्वर = महिष (३८।१ पूर्व०); प्रधि = कूप (३८।६ पूर्व०); गोमिनी = श्री (४२।९ पूर्व०); कच्छ = पुष्पवाटिका (४९।२ पूर्व०); दर्दरीक = दाडिम (५५।८ पूर्व०); नन्दिनी = उज्जयिनी (७०।६ पूर्व०); मय = उष्ट्र (७५।२ पूर्व०); मितद्रु = अश्व (७५।४ पूर्व०); स्तभ = छाग (७८।६ पूर्व०); पालिन्दी = वीचि (१०६।२ पूर्व०); वलाल = वायु (११९।५ पूर्व०); पुलाक = घुंघरू (२३५।१ पूर्व०); इत्यादि नये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, जिनका समावेश सोमदेव के प्रयोगानुसार संस्कृत कोशों में होना चाहिए। सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दों का भी प्रयोग किया है; जैसे विश्वकद्रु = श्वा (६१।९ पूर्व०); शिपिविष्ट (७७।१ पूर्व०); जो ऋग्वेद में विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु पञ्जिकाकार ने जिसका अर्थ रुद्र किया है। तमङ्ग (९५।१ पूर्व०) शब्द भोजकृत समरांगण सूत्रधार में कई बार प्रयुक्त हुआ है, जो कि प्रासाद शिल्प का पारिभाषिक शब्द था। इस समय लोक में आगे खम्भे या पार्श्वभाग को तमञ्जा कहा जाता है। सर्प अर्थ में चित्रशिखण्डि शब्द का, प्रयोग (५१।१ पूर्व०) बहुत ही कम देखने में आता है। केवल महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय पर्व में इसका प्रयोग हुआ है और सोमदेव ने वहीं से इसे लिया होगा। इससे ज्ञात होता है कि नये-नये शब्दों को ढूंढ़कर लाने की कितनी अधिक प्रवृत्ति

उनमें थी। सोमदेव के शब्द शास्त्र पर तो स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है। ज्ञात होता है कि माघ, बाण और भवभूति इन तीनों कवियों के ग्रन्थों को अच्छी तरह छानकर उन्होंने शब्दों का एक बड़ा संग्रह बना लिया था, जिनका वे यथा समय प्रयोग करते थे। मौकुलि=काकु (१२५।७ पूर्व०); शब्द भवभूति के 'उत्तररामचरित' में प्रयुक्त हुआ है। हंस के लिये द्रुहिणद्विज अर्थात्—ब्रह्मा का वाहन पक्षी (१३७।२ पूर्व०) प्रयुक्त हुआ है।

इस ग्रन्थ के उद्धार करने में केवल एक व्यक्ति ने अपनी निजी शक्ति का सदुपयोग किया है। जिस प्रकार श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने यशस्तिलक का पूर्व खण्ड प्रकाशित किया उसी प्रकार वे कठोर साधना करके इसका उत्तर खण्ड भी, जो कि निष्टीक व महाक्लिष्ट है, प्रकाशित करके संस्कृत प्रेमी पाठकों का महान् उपकार करेंगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
व्यासपूर्णिमा (ता० ७–७–६०)

वासुदेव शरण अग्रवाल

सम्पादकीय

पाठकवृन्द ! पूज्य आचार्यों ने कहा है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥'

अर्थात्—'निर्दोष, गुणालंकारशाली व सरस काव्यशास्त्रों का अध्ययन, श्रवण व मनन-आदि, धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का एवं संगीत-आदि ६४ कलाओं का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न करता है एवं कीर्ति व प्रीति उत्पन्न करता है ।'

उक्त प्रवचन से प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' भी समूचे भारतीय संस्कृत साहित्य में उच्चकोटि का, निर्दोष, गुणालंकारशाली, सरस, अनोखा एवं बेजोड़ महाकाव्य है, अतः इसके अध्ययन-आदि से भी निस्सन्देह उक्त प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु अभी तक किसी विशिष्ट विद्वान् ने श्रीमत्सोमदेवसूरि के समूचे 'यशस्तिलक-चम्पू' महाकाव्य की अनुसन्धानपूर्ण भाषाटीका नहीं की, अतः इस कमी की पूर्ति के लिए हमने ८-१० वर्ष पर्यन्त कठोर साधना करके इसकी 'यशस्तिलकदीपिका' नाम की भाषा टीका तैयार की और १९६० ई० में इसका पूर्वखण्ड प्रकाशित किया । तत्पश्चात् प्रस्तुत उत्तर खण्ड भी प्रकाशित किया ।

संशोधन एवं उसमें उपयोगी व महत्वपूर्ण प्रतियाँ—

आठ आश्वासवाला एवं आठ हजार श्लोक परिमाणवाला 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य निर्णय सागर मुद्रण यन्त्रालय बम्बई से सन् १९१६ में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ था, उनमें से प्रथमखण्ड (३ आश्वास पर्यन्त) मूल व संस्कृत टीका-सहित मुद्रित हुआ है और दूसरा खण्ड, जो कि ४ आश्वास से लेकर ८ आश्वास पर्यन्त है, ४।। आश्वास तक सटीक और बाकी का निष्टीक (मूलमात्र) प्रकाशित हुआ है । परन्तु दूसरे खण्ड में प्रतिपेज में अनेक स्थलों पर विशेष अशुद्धियाँ हैं, एवं पहले खण्ड में यद्यपि उतनी अशु-द्धियाँ नहीं हैं तथापि कतिपय स्थानों में अशुद्धियाँ हैं । दूसरा खण्ड तो मूलरूप में भी कई जगह त्रुटित प्रका-शित हुआ है ।

अतः हम इसके अनुसन्धान-हेतु जयपुर, नागौर, सीकर, अजमेर व बड़नगर-आदि स्थानों पर पहुँचे और वहाँ के शास्त्रभण्डारों से प्रस्तुत ग्रन्थ की ह० लि० मूल व सटिप्पण तथा सटीक प्रतियाँ निकलवाईं और उक्त स्थानों पर महीनों ठहरकर संशोधन-आदि कार्य सम्पन्न किया । अभिप्राय यह है कि इस महाक्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थ की उलझी हुईं गुत्थियों के सुलझाने में हमें इसकी महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीका के सिवाय उक्त स्थानों के शास्त्रभण्डारों की ह० लि० मूल व सटिप्पण प्रतियों का विशेष आधार मिला । इसके सिवाय हमें नागौर के सरस्वती भवन में श्रीदेव-विरचित 'यशस्तिलक पञ्जिका' भी मिली, जिसमें इसके कई हजार अप्रयुक्त व क्लिष्टतम शब्द, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों में नहीं हैं, उनका अर्थ उल्लिखित है, हमने वहाँ पर ठहरकर उसके शब्दनिघण्टु (कोश) का संकलन किया, विद्वानों की जानकारी के लिए हमने उसे परिशिष्ट संख्या २ में ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया है । इससे भी हमें भाषाटीका करने में विशेष सहायता मिली एवं भाषाटीका को पल्लवित करने में 'नीतिवाक्यामृत' (हमारी भाषाटीका), आदि-पुराण, सर्वदर्शन संग्रह, पातञ्जल योग-दर्शन, साहित्यदर्पण, आप्तमीमांसा, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक व रत्नकरण्ड श्रावकाचार-आदि अनेक ग्रन्थों की सहायता मिली ।

अतः प्रस्तुत 'यशस्तिलक' की 'यशस्तिलकदीपिका' नाम की भाषाटीका विशेष अध्ययन, मनन व अनुसन्धानपूर्वक लिखी गई है, निष्ठोक आश्वास (५ आश्वास से ८ आश्वास) सटिप्पण व कोश-सहित (यश० पं०) प्रकाशित किये जा रहे हैं। इसमें मूलग्रन्थकार की आत्मा ज्यों की त्यों बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है, शब्दशः सही अनुवाद किया गया है। कहानियों का भी शब्दशः अनुवाद हुआ है। साधारण संस्कृत पढ़े हुए सज्जन इसे पढ़कर मूलग्रन्थ लगा सकते हैं।

हमने इसमें मु० सटी० व निष्ठोक प्रति का संस्कृत मूलपाठ ज्यों का त्यों प्रकाशित किया है, परन्तु जहाँपर मूलपाठ अशुद्ध व असम्बद्ध मुद्रित था, उसे अन्य ह० लि० सटि० प्रतियों के आधार से मूल में ही सुधार दिया है, जिसका तत् तत् स्थलों पर टिप्पणी में उल्लेख कर दिया है और साथ ही ह० लि० प्रतियों के पाठान्तर भी टिप्पणी में दिये गए हैं। इसी प्रकार जिस श्लोक या गद्य में कोई शब्द या पद अशुद्ध था, उसे साधार संशोधित व परिवर्तित करके टिप्पणी में संकेत कर दिया है।

हमने स्वयं वाराणसी में ठहरकर इसके प्रूफ संशोधन किये हैं, अतः इसका प्रकाशन भी शुद्ध हुआ है, परन्तु कतिपय स्थलों पर दृष्टिदोष से और कतिपय स्थलों पर प्रेस की असावधानी से कुछ अशुद्धियाँ (रेफ व मात्रा का कट जाना-आदि) रह गई हैं, उसके लिए पाठक महानुभाव क्षमा करते हुए और अन्त में प्रकाशित हुए शुद्धि-पत्र से संशोधन करते हुए अनुगृहीत करेंगे ऐसी आशा है।

प्रस्तावना

प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की भाषाटीका का सम्पादन विशेष अनुसन्धानपूर्वक निम्नलिखित ह० लि० प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया गया है—

१. 'क' प्रति का परिचय—यह प्रति श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति दि० जैन सरस्वती भवन नागौर (राजस्थान) व्यवस्थापक—श्री पूज्य भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति गादी नागौर की है, जो कि संशोधन-हेतु नागौर पहुँचे हुए मुझे श्री० धर्म० सेठ रामदेव रामनाथ जी चाँदूवाड़ नागौर के अनुग्रह से प्राप्त हुई थी। इसमें १०३×५ इञ्च की साईज के ३३१ पत्र हैं। यह विशेष प्राचीन प्रति है, इसकी लिपि ज्येष्ठ वदी ११ रविवार सं० १६५४ को श्री 'एकादेवी' श्राविका ने कराई थी। प्रति का आरम्भ—श्री पार्श्वनाथाय नमः। श्रियं कुवलयानन्द-प्रसादितमहोदयः। इत्यादि मु० प्रतिवत् है। इसमें दो आश्वासपर्यन्त कहीं-कहीं टिप्पणी हैं और आगे मूलमात्र है। इसके अन्त में निम्न लेख उल्लिखित है—

'यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वासः। 'भद्रं भूयात्' 'कल्याणमस्तु' शुभं भवतु। संवत् १६५४ वर्षे ज्येष्ठ वदी ११ तिथौ रविवासरे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे नंद्याम्नाये आचार्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मंडलाचार्य श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे मण्डलाचार्यानुक्रमे मुनि नेमिचन्द तच्छिष्य आचार्य श्री यशकीर्तिस्तस्मै इदं शास्त्रं 'यशस्तिलकाख्यं जिनधर्मं समाश्रिता श्राविका 'एका' ज्ञानावरणीयकर्म-क्षयनिमित्तं घटाप्यतं।'

ज्ञानवान्ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः। अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥

शुभं भवतु। कल्याणमस्तु। इस प्रति का सांकेतिक नाम 'क' है।

विशेष उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान—उक्त 'क' प्रति के सिवाय हमें उक्त नागौर के सरस्वती भवन में श्रीदेव-विरचित **'यशस्तिलकपञ्जिका'** भी मिली, जिसमें 'यशस्तिलकचम्पू' के विशेष क्लिष्ट, अप्रयुक्त व वर्तमान कोशग्रन्थों में न पाये जानेवाले हजारों शब्दों का निघण्टु १३०० श्लोकपरिमाण लिखा हुआ है। इसमें १३×६ इञ्च की साईज के ३३ पृष्ठ हैं। प्रति की हालत देखने से विशेष प्राचीन प्रतीत हुई, परन्तु इसमें इसके श्रीदेव-विद्वान् या आचार्य का समय उल्लिखित नहीं है उक्त 'यशस्तिलक पञ्जिका' का अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु हमने विद्वानों की जानकारी के लिए एवं 'यशस्तिलक' पढ़नेवाले छात्रों के हित के लिए इसी ग्रन्थ के अखीर में (परिशिष्ट संख्या २ में) ज्यों का त्यों ४ आश्वास से लेकर ८ आश्वास पर्यन्त प्रकाशित भी किया है।

'यशस्तिलक-पञ्जिका' के प्रारम्भ में १० श्लोक निम्नप्रकार हैं[1]। अर्थात्—श्रीमज्जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके श्रीमत्सोमदेव सूरि-विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' की पञ्जिका श्रीदेव-विद्वान् द्वारा कही जाती है॥ १॥ 'यशस्तिलकचम्पू' में निम्नप्रकार विषयों का निरूपण है—

१. यशोधरमहाकाव्ये सोमदेवविनिर्मिते। श्रीदेवेनोच्यते पंजी नत्वा देवं जिनेश्वरम् ॥ १ ॥
छंदः शब्दनिघंटवलंकृतिकलासिद्धान्तसामुद्रक। ज्योतिर्वैद्यकवेदवादभरतानङ्गद्विपाश्वायुधम् ॥
तर्काख्यानकमंत्रनीतिशकुनक्ष्मारुहपुराणस्मृति। श्रेयोऽध्यात्मजगत्स्थिति प्रवचनी व्युत्पत्तिरत्रोच्यते ॥ २ ॥

१. छन्दशास्त्र, २. शब्दनिघण्टु, ३. अलङ्कार, ४. संगीत-आदि कलाएँ, ५. सिद्धान्त, ६. हस्तरेखा विज्ञान, ७. ज्योतिषशास्त्र, ८. वैद्यक, ९. वेद, १०. वादविवाद (खण्डन-मण्डन), ११. नृत्यशास्त्र, १२. कामशास्त्र या मनोविज्ञान, १३. गजविद्या, १४. शस्त्रविद्या, १५. दर्शनशास्त्र, १६. पौराणिक व ऐतिहासिक कथानक, १७. राजनीति, १८. शकुनशास्त्र, १९. वनस्पतिशास्त्र, २०. [illegible], २१. [illegible], २२. [illegible] जगत में वर्तमान श्रेय (शाश्वत कल्याण) और २३. वक्तृत्व कला की व्युत्पत्ति ॥ २ ॥

अहं वा काव्यकर्ता वा सो द्वावेवेश्वराविह । विधुप्रद्योतिरेकेण को नामान्यस्तमोपहः ॥ ३ ॥
कवेरपि विदग्धोऽहमेतत्सूक्तिसमर्थने । यत्सौभाग्यविधौ स्त्रीणां पतिवन्न पिता प्रभुः ॥ ४ ॥
प्रयोगास्तमयं छन्दस्स्वप्रसिद्धिमयं तमः । तत्प्रयोगोदयार्को हि निरस्यत्यसमंजसम् ॥ ५ ॥

मैं (श्रीदेव) और यशस्तिलककार श्रीमत्सोमदेवसूरि ये दोनों ही लोक में काव्यकला के ईश्वर (स्वामी) हैं; क्योंकि सूर्य व चन्द्र को छोड़कर दूसरा कौन अन्धकार-विध्वंसक हो सकता है? अपि तु कोई नहीं ॥ ३ ॥ 'यशस्तिलक' की सूक्तियों के समर्थन के विषय में तो मैं (श्रीदेव) यशस्तिलककार सोमदेवसूरि से भी विशिष्ट विद्वान् हूँ; क्योंकि स्त्रियों की सौभाग्य-विधि में जैसा पति समर्थ होता है वैसा पिता नहीं होता ॥ ४ ॥ यशस्तिलक के अप्रयुक्त शब्दनिघण्टु का व्यवहार में प्रयोग के अस्त हो जाने रूपी अन्धकार को और द्विपदी-आदि अप्रयुक्त छन्दशास्त्र विषयक अप्रसिद्धिरूपी अन्धकार को यह हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ (यशस्तिलक-पञ्जिका), जो कि उनका प्रयोगोत्पादक रूपी सूर्य-सरीखा है, निश्चय से नष्ट करेगा ॥ ५ ॥

कर्षयत्याकर्षकायान्धः स्वदोषेण यथा स्खलन् । स्वयमज्ञस्तथा लोकः प्रयोक्तारं विनिन्दति ॥ ६ ॥
नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीतेत्येतन्मार्गानुसारिभिः । निघण्टुशब्दशास्त्रेभ्यो नूनं दत्तो जलाञ्जलिः ॥ ७ ॥
जह्ले पेलव योन्यादीन् शब्दांस्तत्र प्रयुञ्जते । नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीतेत्येष येषां नयो हृदि ॥ ८ ॥
नाप्रयुक्तं प्रयोक्तव्यं प्रयुक्तं वा प्रयुज्यते । इत्येकान्तस्तत्त्वतो नास्ति वागर्थौचित्यवेदिनाम् ॥ ९ ॥
भाषा दशशती याश्रामपूर्वा समभूदिह । कवेर्वागर्थसर्वज्ञाद्वर्णकश्रिमतो यथा ॥ १० ॥

जिसप्रकार लोक में अन्धा पुरुष अपने दोष से स्खलन करता हुआ अपने खींचनेवाले पर कुपित होता है उसीप्रकार लोक भी स्वयं अज्ञ (शब्दों के सही अर्थ से अनभिज्ञ) है, इसलिए शब्दों के प्रयोक्ता कवि की निन्दा करता है ॥ ६ ॥ 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करनेवालों ने तो निस्सन्देह निघण्टु शब्दशास्त्रों के लिए जलाञ्जलि दे दी, अर्थात्—उन्हें पानी में बहा दिया ॥ ७ ॥ जिनकी ऐसी मान्यता है, कि 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' उनके यहाँ जह्ले, पेलव (पेलवं विरलं तनु इत्यमरः—छितरा) व योनि-आदि शब्दों का प्रयोग किस प्रकार संघटित होगा? ॥ ८ ॥ इसलिए शब्द व अर्थ के वेत्ता विद्वानों का 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' अथवा 'प्रयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए' यह एकान्त सिद्धान्त नहीं है ॥ ९ ॥ प्रस्तुत शास्त्र (यशस्तिलक-पञ्जिका) में १३०० श्लोक परिमाण रचा हुआ अभूतपूर्व व प्रमुख शब्दनिघण्टु शब्द व अर्थ के सर्वज्ञ श्रीदेव कवि से उत्पन्न हुआ है ॥ १० ॥

इसके अन्त में निम्न प्रकार उल्लिखित है—

इति श्रीदेव विरचितायां यशस्तिलक-पञ्जिकायां अष्टम आश्वासः। इति यशस्तिलकटिप्पणीकं समाप्तं। शुभं भवतु।

इस प्रति का भी सांकेतिक नाम 'क' है।

२. **'ख' प्रति का परिचय**—यह सटिप्पण प्रति आमेर-शास्त्रभण्डार जयपुर की है। श्री० माननीय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ प्रिन्सिपल संस्कृत जैन कालेज जयपुर एवं श्री० पं० कस्तूरचन्द्रजी काशलीवाल एम० ए० शास्त्री जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें १२¾×६ इञ्च की साईज के २५९ पत्र हैं। रचना शक संवत् १०८८ व लिपि सं० १८९९ की है। प्रति विशेष शुद्ध व टिप्पणी-मण्डित है। इसका आरम्भ निम्न प्रकार है—

श्रियं कुवलयानन्द[1]प्रसादितमहोदयः। देवश्चन्द्रप्रभः[2]पुष्याज्जगन्मानसवासिनीम् ॥ १ ॥

इसका अन्त निम्न प्रकार है—

वर्णः पदं वाक्यविधिः समासो इत्यादि मु० प्रतिवत्।

३. **'ग' प्रति का परिचय**—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री० दि० जैन बड़ा धड़ा के पंचायती दि० जैन मन्दिर अजमेर के शास्त्र-भण्डार की है, जो कि श्री० बा० मिलापचन्द्रजी B. Sc. LL. B एडवोकेट सभापति महोदय एवं श्री० धर्म० सेठ नौरतमलजी सेठी सर्राफ ऑ० कोषाध्यक्ष तथा युवराज पदस्थ श्री० पं० चिम्मन लाल जी के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें ११¾×८¾ इञ्च की साईज के ४०४ पत्र हैं। यह प्रति विशेष शुद्ध एवं सटिप्पण है। प्रस्तुत प्रति वि० सं० १८५८ के तपसि मास में गंगा विष्णु नाम के किसी विद्वान् द्वारा लिखी गई है।

प्रति का आरम्भ—ॐ परमात्मने नमः।

श्रियं कुवलयानन्द[3]प्रसादितमहोदयः। देवश्चन्द्रप्रभः[4] पुष्या[5]ज्जगन्मानसवासिनीम् ॥ १ ॥

इसके अन्त में—वर्षे वेद-शरेभ-शीतगुमिते मासे तपस्याह्वये, तिथ्यां……तत्त्वविद मतं वेत्तु जिनाधीशिनाम्।

गंगाविष्णुरितिप्रथामधिगतेनाभिख्यया निर्मिता, प्र (न्यस्या) स्य लिपिः समाप्तिमगमद् गुर्वङ्घ्रि-पद्मालिना ॥ १ ॥ श्रीरस्तु। श्रीः।

विशेष—प्रस्तुत प्रति के आधार से किया हुआ यश० उत्तरार्द्ध का विशेष उपयोगी व महत्त्वपूर्ण मुद्रित संशोधन (अनेकान्त वर्ष ५ किरण १-२) की प्रतिएँ हमें श्री० पं० दीपचन्द्रजी शास्त्री पांड्या केकड़ी ने प्रदान की थीं, एतदर्थ अनेक धन्यवाद। उक्त संशोधन से भी हमें यश० उत्तरार्द्ध के संस्कृत पाठ-संशोधन में यथेष्ट सहायता मिली।

४ **'घ' प्रति का परिचय**—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री० दि० जैन बड़ा मन्दिर वीसपन्थ आम्नाय सीकर के शास्त्र भण्डार से श्री पं० केशवदेव जी शास्त्री व श्री० पं० पदमचन्द्र जी शास्त्री के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें १२×५¾ इञ्च की साईज के २८५ पत्र हैं। लिपि विशेष स्पष्ट व शुद्ध है। इसकी प्रतिलिपि फाल्गुन कृ० ६ शनिवार सं० १९१० को श्री० पं० चिमनराम जी के पौत्र व शिष्य पं० महाचन्द्र विद्वान् द्वारा की गई थी। प्रति का आरम्भ—ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

---

१. प्रसादीकृतः दत्त इत्यर्थः। २. चन्द्रवत्-कर्पूरवद् गौरा प्रभा यस्य।

३. प्रसादितः निर्मलीकृतो महानुदयो येन सः। प्रसादीकृतः दत्त इत्यर्थः। ४. चन्द्रस्य मृगाङ्कस्येव प्रभा दीप्तिर्यस्यासौ। चन्द्रः कर्पूरः तद्वत् प्रभा यस्य सः। हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः घनसारश्चन्द्रसंज्ञः इत्युभयत्राप्यमरः। ५. पुष्टिं वृद्धिं क्रियात्।

श्रियं कुवलयानंदप्रसादितमहोदयः इत्यादि मु० प्रतिवत् है।

अन्त में—वर्णः पदं वाक्यविधिः समासो इत्यादि मु० प्रतिवत्। ग्रन्थ-संख्या ८००० शुभं भूयात्। श्रेयोऽस्तु।

इसका अन्तिम लेख—अथास्मिन् शुभसंवत्सरे विक्रमादित्यसमयात् संवत् १९१० का प्रवर्तमाने फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे तिथौ षष्ठ्यां ६ शनिवासरे मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये अजमेरगच्छे श्रीमदाचार्यवर आचार्यजी श्री श्री श्री श्री १०८ श्री गुणचन्द्रजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री कल्याणकीर्तिजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री विशालकीर्तिजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री १०८ भानुकीर्तिजी तत् शिष्य पं० भागचन्द्रजी, गोवर्धनदासजी, हेमराजजी, वेणीरामजी, लक्ष्मीचन्दजी, लालचन्दजी, उदयरामजी मनसारामजी, आर्जिका विमल श्री,[1] लक्ष्मीमति,[2] हरबाई,[3] बखती[4] राजा[5], राही[6] एतेषां मध्ये पंडित जी श्री भागचन्दजी, तच्छिष्य पं० जी श्री दीपचन्दजी तच्छिष्य पंडितोत्तम पंडितजी श्री श्री चिमनरामजी तत्पौत्र शिष्य महाचन्द्रेणेदं 'यशस्तिलक' नाम महाकाव्यं लिपिकृतं सीकरनगरे जैनमन्दिरे श्री शान्तिनाथ चैत्यालये शेखावत-महाराव राजा श्री भैरवसिंह जी राज्ये स्वात्मार्थं लिपिकृतं शुभं भूयात्। इसका सांकेतिक नाम 'घ' है।

५. 'च' प्रति का परिचय—यह प्रति बड़नगर के श्री दि० जैन मन्दिर गोट श्री० सेठ मलूकचन्द जी हीराचन्द जी वाले मन्दिर की है। प्रस्तुत मन्दिर के अध्यक्ष श्री० धर्म० सेठ मिश्रीलाल जी राजमल जी टोंग्या सर्राफ बड़नगर के अनुग्रह एवं सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें १२×५½ इञ्च की साईज के २८२ पत्र हैं। इसकी लिपि पौष कृ० द्वादशी रविवार वि० सं० १८८० में श्री० पं० विरधीचन्द जी ने की थी। प्रति की स्थिति अच्छी है। यह शुद्ध व सटिप्पण है। इसके शुरु में मुद्रित प्रति की भाँति श्लोक हैं और अन्त में निम्नप्रकार लेख है—

वि० सं० १८८० वर्षे पौषमासे कृष्णपक्षे द्वादश्यां तिथौ आदित्यवासरे श्री मूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये आचार्य श्री श्री शुभचन्द्रदेवाः तत्संघाष्टके पंडितजी श्री श्री नौनिधिरामजी तच्छिष्य पं० श्री नवलरामजी तच्छिष्य पं० विरधीचन्द्रजी तेनेदं 'यशस्तिलकचम्पू' नाम शास्त्रं लिखितं स्ववाचनार्थं।

श्री शुभं भवतु कल्याणमस्तु।

इसका सांकेतिक नाम 'च' है।

ग्रन्थ-परिचय

श्रीमत्सोमदेवसूरि का 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य संस्कृत साहित्यसागर का अमूल्य, अनोखा व बेजोड़ रत्न है। इसमें यशोधरमहाराज के चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर राजनीति, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष एवं सुभाषित-आदि विषयों के ज्ञान का विशाल खजाना वर्तमान है। अतः यह समूचे संस्कृत साहित्य में अपनी महत्त्वपूर्ण अनोखी विशेषता रखता है। इसका गद्य 'कादम्बरी' व 'तिलकमञ्जरी' की टक्कर का ही नहीं प्रत्युत उससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण व क्लिष्टतर है। प्रस्तुत महाकाव्य महान् क्लिष्ट संस्कृत में अष्टसहस्री-प्रमाण (आठ हजार श्लोक परिमाण) गद्य पद्य पद्धति से लिखा गया है। इसमें आठ आश्वास (सर्ग) हैं, जो कि अपने नामानुरूप विषय-निरूपक हैं। जो विद्वान् 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' अर्थात्—'नौ सर्ग पर्यन्त 'माघ' काव्य पढ़ लेने पर संस्कृत का कोई नया शब्द बाकी नहीं रहता' यह कहते हैं, उन्होंने 'यशस्तिलकचम्पू' का गम्भीर अध्ययन नहीं किया, अन्यथा ऐसा न कहते, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में हजारों शब्द ऐसे मौजूद हैं, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों और काव्यशास्त्रों में नहीं पाये जाते।[1] अतः 'अभिधाननिधानेऽस्मिन् यशस्तिलकनामनि। पठिते समग्रे नूनं नवशब्दो न विद्यते ॥ १ ॥' अर्थात्—'सुभाषित पदों की निधिवाले इस 'यशस्तिलकचम्पू' नामक महाकाव्य को पूरा पढ़ लेने पर निस्सन्देह संस्कृत का कोई भी नया शब्द बाकी नहीं रहता, यह उक्ति सही समझनी चाहिए।'

यश० पञ्जिकाकार श्री देव विद्वान् ने कहा है कि इसमें यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के मिष से राजनीति, गजविद्या, अश्वविद्या, शस्त्रविद्या, आयुर्वेद, वादविवाद, नीतिशास्त्र, ऐतिहासिक व पौराणिक कथाएँ, अनोखी व बेजोड़ काव्यकला, ज्योतिष, वेद, पुराण, स्मृतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अलङ्कार, सुभाषित एवं अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्दनिघण्टु-आदि के ललित निरूपण द्वारा ज्ञान का विशाल खजाना भरा हुआ है।

उदाहरणार्थ—राजनीति—इसके पूर्व खण्ड का तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० २२५-२५१, २५९-३१७, ३६५-३७७ आदि) राजनीति के समस्त तत्वों से ओतप्रोत है। इसमें राजनीति की विशद, विस्तृत व सरस व्याख्या है। प्रस्तुत शास्त्रकार द्वारा अपना पहला राजनीति ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' इसमें यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के व्याज से अन्तर्निहित किया हुआ-सा मालूम पड़ता है। इसमें काव्यकला व कहानीकला की कमनीयता के कारण राजनीति की नीरसता लुप्तप्राय हो गई है। गजविद्या व अश्वविद्या—इसके पूर्व खण्ड के द्वितीय व तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड-आश्वास २ पृ० १६३-१७९, एवं आश्वास ३ पृ० ३२६-३३९) में गजविद्या व अश्वविद्या का निरूपण है। शस्त्रविद्या—इसके तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० ३६९-३७४ व ३९३-३९५) में उक्त विद्या का निरूपण है। आयुर्वेद—इसके तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० ३४०-३५१) में स्वास्थ्योपयोगी आयुर्वैदिक सिद्धान्तों का वर्णन है। वादविवाद—इसके तृतीय आश्वास (पृ० २१८-२४१) में उक्त विषय का कथन है। नीतिशास्त्र—इसके प्रथम आश्वास (पूर्व खण्ड श्लोक नं० ३०-३२, ३५-३८, ४५, १२८, १३०, १३१, १३३, १४३, १४८-१५१,) में तथा द्वितीय आश्वास (पूर्व खंड श्लोक नं० ९-११, १३, २४, ३३, ३८, ५६-५७-आदि) नीतिशास्त्र का प्रतीक है।

---

1. देखिए—इसका अप्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु (परिशिष्ट २ पृ० ४१९-४४० पूर्व खण्ड व परिशिष्ट २ पृ० ४९८-५१६ उत्तर खण्ड।

चतुर्थ आश्वास पृ० ४२ के सुभाषित पद्यों व गद्य का अभिप्राय यह है—यशोधर महाराज दीक्षा-हेतु विचार करते हुए कहते हैं—'मैंने शास्त्र पढ़ लिए, पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया। याचकों अथवा सेवकों के लिए यथोक्त धन दे दिए और यह हमारा यशोमतिकुमार पुत्र भी कवचधारी वीर है, अतः मैं समस्त कार्य में अपने मनोरथ की पूर्ण प्राप्त करनेवाला हो गया हूँ[1] ॥ २६ ॥ पंचेन्द्रियों के स्पर्श-आदि विषयों से उत्पन्न हुई मृग-तृष्णा भी प्रायः मेरे मन को भक्षण करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय-विषयों (भोगोपभोगपदार्थों) में, जिनकी श्रेष्ठता या शक्ति एकबार परीक्षित हो चुकी है, प्रवृत्त होने से बार-बार खाये हुए को खाता हुआ यह प्राणी किस प्रकार लज्जित नहीं होता ?'[2] ॥ २७ ॥ मैथुन क्रीड़ा के अन्त में होनेवाले सुखानुमान को छोड़कर दूसरा कोई भी सांसारिक सुख नहीं है, उस सुख द्वारा यदि विद्वान् पुरुष ठगाए जाते हैं तो उनका तत्वज्ञान नष्ट ही है[3] ॥ २८ ॥ इसके पश्चात् के गद्य-खण्ड का अभिप्राय यह है कि 'मानव को बाल्यावस्था में विद्याभ्यास व गुणादि का संचयरूप कर्तव्य करना चाहिए और जवानी में काम-सेवन करना चाहिए एवं वृद्धावस्था में धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए। अथवा अवसर के अनुसार काम-आदि सेवन करना चाहिए। यह भी वैदिक वचन है' परन्तु उक्त प्रकार की मान्यता सर्वथा नहीं है; क्योंकि आयु अस्थिर है। अभिप्राय यह है, कि उक्त प्रकार की वैदिक मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि जीवन क्षणभङ्गुर है अतः मृत्यु द्वारा गृहीत केश-सरीखा होते हुए धर्म पुरुषार्थ का अनुष्ठान विद्याभ्यास-सा बाल्यावस्था से ही करना चाहिए।

यशस्तिलक संबंधी धार्मिक प्रसङ्ग

यशस्तिलक की कथावस्तु बाण की कादम्बरी और धनपाल की तिलकमञ्जरी की तरह केवल आख्यान मात्र नहीं है, किन्तु जैन और जैनेतर दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ भी है। इसके साथ ही इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध रूप भी वर्णित हैं। कथा-भाग में भी सोमदेव ने जैन तत्वों व सुभाषितों का भी समावेश किया है। यशस्तिलक का चतुर्थ आश्वास विशेष महत्व पूर्ण है। क्योंकि इसमें कवि ने यशोधर और उसकी माता के बीच में पशुबलि-आदि विषयों को लेकर वार्तालाप कराया है। यशोधर जैन धर्म में श्रद्धा रखता है और उसकी माता ब्राह्मण धर्म में। इस सन्दर्भ में यशोधर वैदिकी हिंसा का निरसन करता हुआ अनेक जैनेतर शास्त्रों के उद्धरणों द्वारा जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करता है।

(देखिए वैदिकी हिंसा का समर्थन पृ० ५० श्लोक ४१-४४) तत्पश्चात् यशोधर कहता है कि 'हे माता! निश्चय से प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रिय राजकुमारों का श्रेष्ठ धर्म है, वह धर्म, निर्दोष प्राणियों के घात करने से विशेष रूप से नष्ट हो जाता है।

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य ।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥ ५५ ॥

अर्थात्—जो शत्रु युद्धभूमि पर शस्त्र धारण किये हुए है, अथवा जो अपने देश का काँटा है, अर्थात् जो अपने देश पर आक्रमण करने को उद्यत है, उसी शत्रु पर राजा लोग शस्त्र प्रहार करते हैं। न कि दुर्बल, प्रजा पर उपद्रव न करने वाले और साधुजनों के ऊपर शस्त्र-प्रहार करते हैं ॥ ५५ ॥ इत्यादि पृ. ५४-५६ तक यशोधर ने अनेक जैनेतर शास्त्रों के उद्धरणों द्वारा जीव हिंसा व मांस भक्षण का विरोध किया। इसी प्रकार उसने अनेक जैनेतर शास्त्रों के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता (पृ. ६३-६४ तक) सिद्ध की।

पश्चात् यशोधर ने माता के समक्ष वैदिक समालोचना (पृ. ६६ श्लोक नं. १२० से १२८ तक) की। चतुर्थ आश्वास (पृ. ८२-८३ श्लोक नं. १७९-१८७) के नौ सुभाषित पद्यों में कूटनीति है।

---

१. समुच्चयालंकार। २. ३. दृष्टान्तालंकार।

ऐतिहासिक व पौराणिक दृष्टान्तमालाएँ—इसके पूर्व खण्ड के तृतीय आश्वास (पृ. २८५-२८६) में उक्त विषय का उल्लेख है। इसी प्रकार चतुर्थ आश्वास के पृ० ८८ के गद्य में इसका विवेचन है।

अनोखा व बेजोड़ काव्यकला— इस विषय में तो यह प्रसिद्ध ही है। क्योंकि साहित्यकार आचार्यों ने कहा है[1]—'निर्दोष (दुःश्रवत्व-आदि दोषों से शून्य), गुणसम्पन्न (औदार्य-आदि १० काव्य-गुणों से युक्त), तथा प्रायः सालंकार (उपमा-आदि अलङ्कारों से युक्त) शब्द व अर्थ को उत्तम काव्य कहते हैं।'

अथवा शृङ्गार-आदि रसों की आत्मावाले वाक्य (पद-समूह) को काव्य कहते हैं[2]। उक्त प्रकार के लक्षण प्रस्तुत यशस्तिलक में वर्तमान हैं। इसके सिवाय 'ध्वन्यतेऽभिव्यज्यते चमत्कारालिङ्गितो भावोऽस्मिन्निति ध्वनिः' अर्थात्—जहाँ पर चमत्कारालिङ्गित पदार्थ व्यञ्जना शक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, उसे ध्वनि कहते हैं। शास्त्रकारों ने ध्वन्य काव्य को सर्वश्रेष्ठ कहा है।[3] अतः प्रस्तुत यशस्तिलक के अनेक स्थलों पर (पूर्वखंड प्रथम आश्वास पृ० ४५ (गद्य)-४७) ध्वन्य काव्य वर्तमान है, जो कि इसकी उत्तमता का प्रतीक है। एवं इसके अनेक गद्यों व पद्यों में शृङ्गार, वीर, करुण व हास्यादि रस वर्तमान हैं, उदाहरणार्थ आश्वास दूसरे में (श्लोक नं. २२०) पद्य शृङ्गार रस प्रधान है। एवं आश्वास चार (पृ. २० श्लोक ४) संयुक्त शृङ्गार रस प्रधान है इत्यादि।

ज्योतिष शास्त्र—आश्वास २ (पूर्व खण्ड पृ. १८०-१८२) में ज्योतिष शास्त्र का उल्लेख है। इसके सिवाय चतुर्थ आश्वास में कहा है, जब यशोधर महाराज की माता चन्द्रमति ने नास्तिक दर्शन का आश्रय लेकर उनके समक्ष इस जीव का पूर्वजन्म व भविष्य जन्म का अभाव सिद्ध किया तब यशोधर महाराज ज्योतिष शास्त्र के आधार से जीव का पूर्व जन्म और भविष्य जन्म सिद्ध करते हैं, कि हे माता! जब इस जीव का पूर्व जन्म है तभी निम्न प्रकार आर्याच्छन्द जन्म पत्रिका के आरंभ में लिखा जाता है—'इस जीव ने पूर्व जन्म में जो पुण्य व पाप कर्म उपार्जित किये हैं, भविष्य जन्म में उस कर्म के उदय को यह ज्योतिष शास्त्र उस प्रकार प्रकट करता है जिस प्रकार दीपक, अन्धकार में वर्तमान घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है। अर्थात्—जब पूर्व जन्म का सद्भाव है तभी ज्योतिष शास्त्र उत्तर जन्म का स्वरूप प्रकट करता है, इससे जाना जाता है कि गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीव नहीं है, अपितु गर्भ से पूर्व और मरण के बाद भी है इत्यादि।[4]

अप्रयुक्त-क्लिष्टतम-शब्दनिघण्टु—अर्थात् प्रस्तुत ग्रंथ में कई हजार ऐसे संस्कृत शब्द हैं, जो कि वर्तमान कोश ग्रन्थों में नहीं हैं, अतः हमने इसके निघण्टु या कोश का अनुसंधान किया और उसे परिशिष्ट नं० २ में स्थान दिया है।

दर्शनशास्त्र—इसके पंचम आश्वास में सांख्य, जैमिनीय, वाममार्गी व चार्वाक दर्शन के पूर्व पक्ष हैं।

यथा—घृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नैति जातुचित्। विशुद्ध्यति कुतश्चित्तं निसर्गमलिनं तथा॥

आ० ५ पृ० १५३ श्लोक ६४

न चापरमिपस्ताविषः समर्थोऽस्ति यदर्थोऽयं तपः प्रयासः सफलायासः स्यात्। आ. ५ पृ० १५३

---

१. तथा च काव्यप्रकाशकार :—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

२. तथा च विश्वनाथः कविराजः—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—साहित्यदर्पण से संकलित—सम्पादक

३. तथा च विश्वनाथ : कविराजः—'वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्' साहित्यदर्पण (४ परिच्छेद) से संकलित—

४. यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम्। व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव॥ १॥

आ. ४ (पृ० ५२ श्लोक ४७

यतः। द्वादशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थितिः पुरुषः। प्रीतिः परा परस्परमनयोः स्वर्गः स्मृतः सद्भिः॥
आ० ५ पृ. १५२ श्लोक ६५

अर्थात्—'धूमध्वज' नामके विद्वान् ने मीमांसक मत का आश्रय लेकर मुदत्ताचार्य से कहा—'जिस प्रकार घर्षण किया हुआ अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता (शुभ्रता) को प्राप्त भी नहीं होता उसी प्रकार स्वभावतः मलिन चित्त भी किन कारणों से विशुद्ध हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता। परलोक स्वभाव वाला स्वर्ग प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है जिस निमित्त यह तपश्चर्या का खेद सफल खेद-युक्त होसके। क्योंकि 'बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष की योग्य आयु वाला पुरुष, इन दोनों की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति (दाम्पत्य प्रेम) को सज्जनों ने स्वर्ग कहा है।'

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्यालापि नीलपटेन—

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं सर्वार्थसंपत्करीं, ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं मुण्डीकृताः लुञ्चिताः, केचित् पञ्चशिखीकृताश्च जटिनः कापालिकाश्चापरे॥ ७७॥
आ. ५ पृ० १५६ श्लोक ७७

अर्थात्—जो मूढ़बुद्धि झूठे स्वर्गादि फल का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञान-वश कामदेव की सर्व श्रेष्ठ और समस्त प्रयोजन रूप सम्पत्ति सिद्ध करने वाली स्त्रीमुद्रा का तिरस्कार करते हैं, वे मानों—उसी कामदेव द्वारा विशेष निर्दयता पूर्वक ताड़ित कर मुण्डन किये गए अथवा केश उखाड़ने वाले कर दिये गए एवं मानों—पञ्चशिखा-युक्त (चोटी धारी) किए गए एवं कोई तपस्वी कापालिक किये गए' ॥ ७७ ॥

चण्डकर्मा— यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः, भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः॥
पृ० १५७ श्लोक ७९

अर्थात्—चण्डकर्मा कहता है, कि निम्न प्रकार नास्तिक दर्शन की मान्यता स्वीकार करनी चाहिए—जब तक जियो तब तक सुख पूर्वक जीवन यापन करो। क्योंकि संसार में कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है। अर्थात्—सभी काल-कवलित होते हैं। भस्म की हुई शान्त देह का पुनरागमन किस प्रकार हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता॥ ७९ ॥

पश्चात् उनका अनेक प्रबल व अकाट्य दार्शनिक युक्तियों द्वारा खण्डन किया गया है
(आ. ५ पृ० १५९ श्लोक ९३)।

यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वासों (आ० ६-८) में श्रावकाचार का दार्शनिक पद्धति से अनेक कथानकों सहित साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। सोमदेवसूरि ने इसका नाम उपासकाध्ययन रक्खा है; क्योंकि इन्होंने सातवें उपासकाध्ययन अङ्ग को आधार बनाकर इसकी रचना की है ❀।

उपासकाध्ययन में ४६ कल्प हैं। प्रथम कल्प का नाम 'समस्तसमयसिद्धान्तावबोधन' है; क्योंकि इसमें सैद्धान्त वैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक व वेदान्तवादी-आदि समस्त दर्शनों की मुक्ति विषयक मान्यताओं की अकाट्य युक्तियों से समीक्षा की गई है। यह विषय आ. ६ पृ० १८३ के गद्य से लेकर पृ० १९४ तक है। प्रस्तुत विवेचन सोमदेव का समस्त दर्शन संबंधी तल-स्पर्शी अध्ययन का प्रतीक है। इस तरह का दार्शनिक विवेचन उपलब्ध श्रावकाचारों में नहीं मिलता।

---

१. व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालंकारः।

❀. तथा च सोमदेवसूरिः—'इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्'। आ० ५ श्लोक १५५ का अन्तिमचरण

२. दूसरे कल्प का नाम 'आप्तस्वरूपमीमांसन' है। इसमें आप्त के यथार्थ स्वरूप का निर्देश करते हुए, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध व सूर्य-आदि को देव मानने की युक्तिपूर्वक समालोचना की गई है। साथ में जैन तीर्थङ्करों को आप्त मानने में किये हुए आक्षेपों का समाधान युक्ति पूर्वक किया गया है।

३. तीसरा कल्प 'आगमपदार्थपरीक्षण' नाम का है। इसमें आगम के पदार्थों (जीवादि) का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा है कि 'ये सभी पदार्थ (जीवादि) द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा स्वभाव से वैसे उत्पाद, विनाश व स्थिर शील हैं जैसे समुद्र की तरङ्गें उक्त नयों की अपेक्षा स्वभावतः उत्पाद, विनाश व स्थिर शील हैं। पश्चात् समस्त वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील मानने वाले बौद्धों की और समस्त वस्तु को सर्वथा नित्य मानने वाले सांख्य की अकाट्य युक्तियों से समीक्षा की है। पश्चात् जैन साधुओं में आरोपण किये हुए दोषों (स्नान न करना, आचमन न करना, नग्न रहना व खड़े होकर भोजन करना) का युक्ति पूर्वक समाधान किया गया है।

४. चौथा कल्प 'मूढतोन्मथन' नामका है, इसमें सूर्य को अर्घ देना व ग्रहण में स्नान करना-आदि मूढताओं के त्याग का विवेचन है। इसके पश्चात् पञ्चम कल्प से लेकर बीस कल्प पर्यन्त (पृ० २१२-२८१) सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित-आदि आठों अंगों में प्रसिद्ध अञ्जन चोर, अनन्त मति, उद्दायन, रेवतीरानी, जिनेन्द्र-भक्त सेठ, वारिषेण, वज्रकुमार व विष्णु कुमार मुनि की रोचक कथाएँ ललित व क्लिष्ट संस्कृत-गद्य में कही गई हैं। ये कथाएँ अन्य किसी श्रावकाचार में नहीं हैं। प्रत्येक कथा के पूर्व उस अङ्ग का स्वरूप महत्वपूर्ण पद्यों में कहा गया है। २१ वें कल्प में सम्यग्दर्शन का विस्तृत विवेचन करते हुए रत्नत्रय का स्वरूप-आदि बतलाया है। सप्तम आश्वास, जो कि बाईस कल्प से ३३ कल्प पर्यन्त (पृ. २९४-३७५) है।

२२-२३ कल्प में मद्य प्रवृत्ति के दोष व मद्य निवृत्ति के गुण बतलाने वाली कथाएँ हैं। २४ वें कल्प में मांस-त्याग-आदि का विवेचन करते हुए मांसभक्षण का संकल्प करने वाले सौरसेन राजा की कथा है। २५ वें कल्प में मांस त्यागी चांडाल की कथा है।

२६-३२ कल्पों में पाँच अणुव्रतों का वर्णन है एवं हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के कटु-फल वर्णन करते हुए पाँच कथाएँ विस्तृत गद्य शैली में वर्णन की गई है, जो कि विशेष रोचक व नैतिक शिक्षा से ओत प्रोत हैं। ३३ वें 'कल्प में' तीन गुण व्रतों का वर्णन है।

३४ वें कल्प में सामायिक शिक्षाव्रत का कथन है, परन्तु सोमदेव ने सामायिक का अर्थ जिन पूजा संबंधी क्रियाकाण्ड कहा है। अतः ३४ वें कल्प में स्नानविधि, ३५ में समय-समाचार विधि, ३६ में अभिषेक व पूजन विधि, ३७ में स्तवन विधि ३८ में जप विधि ३९ में ध्यान विधि और ४० वें कल्प में श्रुताराधन विधि का वर्णन है। यह समस्त वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दूसरे श्रावकाचारों में नहीं है। सोमदेव की ध्यान विधि का वर्णन अनोखा व महत्त्व-पूर्ण है। ४१ वें कल्प में प्रोषधोपवास का और ४२ वें कल्प में भोगोपभोगपरिमाण व्रत का कथन है।

४३ वें कल्प में दानविधि का वर्णन अनोखा व विशेष महत्त्व पूर्ण है। ४४ वें कल्प में ग्यारह प्रतिमाओं का और मुनियों के नामों की निरुक्ति पूर्वक व्याख्या की गई है, जो कि नई वस्तु है। ४५ वें कल्प में सल्लेखना का और ४६ वें कल्प में प्रकीर्णक सुभाषितों का कथन है।

इस प्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि का उपासकाध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है।

ग्रन्थकर्ता का परिचय—प्रस्तुत शास्त्रकार श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा स्वयं लिखी हुई **यशस्तिलक** की पद्यप्रशस्ति[1] से विदित होता है कि '**यशस्तिलकचम्पू**' महाकाव्य के रचयिता आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेव सूरि हैं, जो कि दि. जैन सम्प्रदाय में प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार संघों में से देवसंघ के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम '**नेमिदेव**' और दादा गुरु का नाम '**यशोदेव**' था। ग्रंथकर्ता के गुरु दार्शनिक-चूड़ामणि थे; क्योंकि उन्होंने ९३ महावादियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर विजयश्री प्राप्त की थी। '**नीतिवाक्यामृत**' की गद्य प्रशस्ति[2] से भी यह मालूम होता है कि श्रीमत्सोमदेव सूरि' के गुरु श्रीमन्नेमिदेव ऐसे थे, जिनके चरण कमल समस्त तार्किक-समूह में चूड़ामणि विद्वानों द्वारा पूजे गये हैं एवं पचपन महावादियों पर विजयश्री प्राप्त करने के कारण प्राप्त की हुई कीर्तिरूपी मन्दाकिनी द्वारा जिन्होंने तीन भुवन पवित्र किये हैं तथा जो परम तपश्चरण रूप रत्नों के रत्नाकर (समुद्र) हैं। उसमें यह भी उल्लिखित है कि सोमदेव सूरि वादीन्द्रकालानल श्री महेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज (लघुभ्राता) थे। श्री महेन्द्रदेव भट्टारक की उक्त 'वादीन्द्रकालानल' उपाधि उनकी दिग्विजयिनी दार्शनिक विद्वत्ता की प्रतीक है। प्रस्तुत प्रशस्ति से यह भी प्रतीत होता है कि श्रीमत्सोमदेव सूरि अपने गुरु व अनुज सरीखे तार्किक चूड़ामणि व कविचक्रवर्ती थे। अर्थात्—श्रीमत्सोमदेव सूरि 'स्याद्वादाचलसिंह' 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादीभ पंचानन', वाक्कल्लोलपयोनिधि' व 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्ति (उपाधि) रूप प्रशस्त अलङ्कारों से मण्डित हैं।

साथ में उसमें यह भी लिखा है कि उन्होंने निम्नप्रकार शास्त्र-रचना की थी। अर्थात्—वे षण्णवति प्रकरण (९६ अध्यायवाला शास्त्र), युक्तिचिन्तामणि (दार्शनिक ग्रन्थ), त्रिवर्गमहेन्द्रमातलि-संजल्प (धर्मादिपुरुषार्थत्रय-निरूपक नीतिशास्त्र), 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य और 'नीतिवाक्यामृत' इन महाशास्त्रों के बृहस्पति-सरीखे रचयिता हैं। उक्त तीनों महात्माओं (यशोदेव, नेमिदेव व महेन्द्रदेव) के संबंध में कोई ऐतिहासिक सामग्री व उनकी ग्रन्थ-रचना-आदि उपलब्ध न होने के कारण हमें और कोई बात ज्ञात नहीं है।

तार्किकचूड़ामणि—श्रीमत्सोमदेव सूरि भी अपने गुरु और अनुज के सदृश बड़े भारी तार्किक विद्वान् थे। इनके जीवन का बहुभाग षड् दर्शनों के अभ्यास में व्यतीत हुआ था, जैसा कि उन्होंने 'यशस्तिलक' की उत्थानिका में कहा है—'शुष्क घास सरीखे जन्मपर्यन्त अभ्यास किये हुए पक्षान्तर में (भक्षण किये हुए) दर्शन शास्त्र के कारण मेरी इस बुद्धिरूपी गौ से 'यशस्तिलक' महाकाव्य रूप दूध विद्वानों के पुण्य से उत्पन्न हुआ है।[3] उनकी पूर्वोक्त स्याद्वादाचलसिंह, वादीभपंचानन व तार्किक-चक्रवर्ती-आदि उपाधियां उनकी दार्शनिक प्रकाण्ड विद्वत्ता की प्रतीक हैं। साथ में प्रस्तुत 'यशस्तिलक' के पंचम, षष्ठ व अष्टम आश्वास में सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसक व चार्वाक-आदि दार्शनिकों के पूर्वपक्ष व उनकी युक्ति-पूर्ण मीमांसा भी उनकी

---

१. श्रीमानस्ति स देवसङ्घतिलको देवो यशःपूर्वकः, शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्री नेमिदेवाह्वयः। तस्याश्चर्यतपःस्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां, शिष्योऽभूदिह सोमदेव यतिपस्तस्यैष काव्यक्रमः॥ —'यशस्तिलकचम्पू',

२. इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण, वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्ति-वादीभपंचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि-कविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवति-प्रकरण-युक्तिचिन्तामणिसूत्र-महेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति ।—नीतिवाक्यामृत

३. देखिए यश० आ० १ श्लोक नं० १७।

विलक्षण व प्रकाण्ड दार्शनिकता प्रकट करती है, जिसका हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं। परन्तु वे केवल दार्शनिक-चूडामणि ही नहीं थे, साथ में काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र व राजनीति-आदि के भी धुरन्धर विद्वान् थे।

कवित्व—उनका यह 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे महाकवि थे और काव्य-कला पर भी उनका असाधारण अधिकार था। उसकी प्रशंसा में स्वयं ग्रंथकर्ता ने यत्र तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं, वे जानने योग्य हैं।[1-2]

मैं शब्द और अर्थ-पूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) को भोग चुका हूँ; अतएव अब जो अन्य कवि होंगे, वे निश्चय से उच्छिष्ट भोजी (जूँठा खाने वाले) होंगे—वे कोई नई बात न कह सकेंगे।[3] इन उक्तियों से इस बात का आभास मिलता है कि आचार्य सोमदेव किस श्रेणी के कवि थे और उनका यह महाकाव्य कितना महत्वपूर्ण है। महाकवि सोमदेव की वाक्कल्लोलपयोनिधि और कविराजकुञ्जर-आदि उपाधियाँ भी उनके श्रेष्ठ कवित्व की प्रतीक हैं।

धर्माचार्यत्व—यद्यपि अभी तक श्रीमत्सोमदेवसूरि का कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वास (६-८), जिनमें उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है, एवं यश० के चतुर्थ आश्वास में वैदिकी हिंसा का निरसन करके अहिंसा तत्व की मार्मिक व्याख्या की गई है एवं अनेक जैनेतर उद्धरणों द्वारा जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की गई है, इससे उनका धर्माचार्यत्व प्रकट होता है।

राजनीतिज्ञता—श्रीमत्सोमदेवसूरि के राजनीतिज्ञ होने का प्रमाण उनका 'नीतिवाक्यामृत' तो है ही, इसके सिवा 'यशस्तिलक' के तृतीय आश्वास व चतुर्थ आश्वास में यशोधर महाराज का चरित्र-चित्रण करते समय राजनीति की मन्दाकिनी प्रवाहित की गई है यह भी उनकी राजनीतिज्ञता की प्रतीक है।

विशाल अध्ययन—'यशस्तिलक' व 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ उनका विशाल अध्ययन प्रकट करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उनके समय में जितना भी जैन व जैनेतर साहित्य (न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति व दर्शन-आदि) उपलब्ध था, उसका उन्होंने गम्भीर व तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

ग्रन्थकर्ता का समय और स्थान—'यशस्तिलकचम्पू[4]' के अन्त में लिखा है कि चैत्र शुक्ल १३ शक सं० ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) को, जिस समय श्री कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल व चेरमप्रभृति राजाओं को जीतकर मेलपाटी नामक सेना-शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त 'वद्दिग' की (जो चालुक्यवंशीय अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे) राजधानी गंगाधारा[5] में यह काव्य समाप्त हुआ और 'नीति

१. देखिए आ. १ श्लोक नं०. १४, १८, २३।

२. देखिए—आ० २ श्लोक नं० २४६ आ० ३ श्लोक नं० ५१४।

३. मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे। कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः॥ चतुर्थ आश्वास श्लोक नं. २२३

४. "शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरांतर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य—सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मल्पाटी (मेलपाटी) प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्री कृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथम-पुत्रस्य श्रीमद्वागराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।"

५. चालुक्यों की एक शाखा 'जोल' नामक प्रांत पर राज्य करती थी, जिसका एक भाग इस समय के धारवाड़ जिले में आता है और श्री० आर० नरसिंहाचार्य के मत से चालुक्य अरिकेसरी की राजधानी 'पुलगेरी' में थी, जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है। गंगाधारा भी संभवतः वही है।

वाक्यामृत' 'यशस्तिलक' के बाद की रचना है; क्योंकि नीतिवाक्यामृत की पूर्वोक्त प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने को 'यशस्तिलक महाकाव्य का कर्ता प्रकट किया है, इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे 'यशस्तिलक' को समाप्त कर चुके थे।

दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वंश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम 'अकालवर्ष' था। ये अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे। इनका राज्य-काल कम से कम शक संवत् ८६७ से ८९४ (वि० सं० १००२–१०२९) तक प्रायः निश्चित है। ये दक्षिण के सार्वभौम राजा थे और बड़े प्रतापी थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराजदेव ने—जैसा कि सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक' में लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्ड्य और चेरम राजाओं को युद्ध में परास्त किया था। इनके समय में कनड़ी भाषा का सुप्रसिद्ध कवि 'पोन्न' हुआ है, जो जैन था और जिसने 'शान्तिपुराण' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की है। महाराज कृष्णराजदेव के दरबार से उसे 'उभयभाषा कविचक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी।

राष्ट्रकूटों या राठोरों द्वारा दक्षिण के चालुक्य (सोलंकी) वंश का सार्वभौमत्व अपहरण किये जाने के कारण वह निष्प्रभ होगया था। अतः जब तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर रहे। अतः अरिकेसरी का पुत्र 'वद्दिग' ऐसा ही एक सामन्त राजा था, जिसकी गङ्गाधारा नामक राजधानी में 'यशस्तिलक' की रचना समाप्त हुई है। इसी 'अरिकेसरी' के समय में कनड़ी भाषा का सर्व श्रेष्ठ जैन कवि 'पम्प' हुआ है, जिसकी रचना पर मुग्ध होकर 'अरिकेसरी' ने उसे धर्मपुर नामका एक ग्राम पारितोषिक में दिया था। उसके बनाये हुए दो ग्रंथ ही इस समय उपलब्ध हैं— १. 'आदिपुराणचम्पू' और २ 'भारत या विक्रमार्जुनविजय'। पिछला ग्रन्थ शक संवत् ८६३ (वि० सं० ९९८) में—यशस्तिलक से १८ वर्ष पहले—बन चुका था। इसकी रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था। तब उसके १८ वर्ष बाद—यशस्तिलक की रचना के समय—उसका पुत्र सामन्त 'वद्दिग' राज्य करता होगा, यह इतिहास से प्रमाणित होता है।

विनीत—
सुन्दरलाल शास्त्री
—सम्पादक

वाराणसी
श्रावण कृ० ११ वीर नि० २४९७

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ आश्वास

विषय .... **पृष्ठ**

मङ्गलाचरण १

'अभयरुचि' क्षुल्लक द्वारा मारिदत्त राजा को अपना वृत्तान्त सुनाते हुए कहा जाना—'जब ऐसा संध्याकालीन लालिमा का तेज प्रकट हो रहा था और जब स्थल-कमल-समूह की ऐसी पत्र-श्रेणी संकुचित हो रही थी, तब हे मारिदत्त महाराज ! मैं (यशोधर) रात्रि की वेला में अमृतमति महादेवी के महलद्वार पर पहुँचा''' २

इसके बाद हे मारिदत्त महाराज ! मुझसे सरस वार्तालाप करने वाली ऐसी द्वारपालिका द्वारा कुछ कालक्षेप कराये जा रहे मेरे द्वारा ऐसे राजमहल में वर्तमान ऐसे पलङ्ग को अलंकृत किया जाना''' १२

तदनन्तर मेरे द्वारा मेरे पलङ्ग पर बैठी हुई ऐसी अमृतमति महादेवी देखी जाना, जिससे मेरा हृदय प्रमुदित होना ''' १५

पश्चात् मेरे द्वारा अमृतमति महादेवी के दक्षिण पार्श्व भाग से शरीर के संघट्टन-सहित बैठा जाना और रसिकता को प्राप्त हुए आलिङ्गनों द्वारा मेरे हृदय रूपी राजहंस का उस सुख (रतिविलास) के प्रवाह में विस्मृत हुआ जाना पुनः रति विलास के बाद मेरे द्वारा नींद-सी ली जाना''' १८

हे मारिदत्त महाराज ! मेरी (यशोधर महाराज की) पट्टरानी अमृतमति महादेवी द्वारा, मुझे स्वभाव से शयन करता हुआ-सा देखकर और राजमहल का मध्यभाग शून्य जानकर आभूषणों को उतारकर चँवर ढोरने वाली का वेष धारण करके किवाड़ खुले छोड़कर शीघ्र प्रस्थान किया जाना, पुनः मेरे द्वारा भी कालक्षेप न करके उत्सुकता से अङ्गरक्षक का वेष धारण करके और प्रस्थान करके उस महादेवी के मार्ग को ढूँढते हुए ऐसे अष्टवङ्क नामवाले नीच महावत से प्रार्थना करती हुई अमृतमति महादेवी देखी जाना। २१

पश्चात् मेरे द्वारा अष्टवङ्क व अमृतमति का ऐसा कुकृत्य देखकर विशेष कुपित होकर उन दोनों का वध करने के लिए म्यान में से आधी निकली हुई तलवार खींची जाना, परन्तु कर्मयोग से तलवार खींचने के अवसर पर ही नैतिक विचार-धारा के कारण मेरा क्रोध, दीपक के जलाने से अन्धकार की तरह नष्ट हो जाना और मेरे द्वारा अमृतमति के प्रति कर्तव्य निश्चित किया जाना''' २५

इसके बाद अमृतमति का अपना कुकृत्य पूर्ण करके उद्दण्डतापूर्वक मेरे समीप आना, जो कि उसका दुर्विलास न जानने वाले-सा होकर अमृतमति देवी की शय्या पर पूर्व की तरह शयन कर रहा था, और उसके द्वारा मेरी बाहुरूपी पिंजरे का आश्रय करके अत्यन्त गाढ़ निद्रापूर्वक शयन किया जाना'''' २८

उक्त घटना के घटने से मेरा मन प्रसन्न न रहना व हृदय शून्य होना एवं अमृतमति के विषय में मेरी आश्चर्य-जनक विचार-धारा का होना''' २८

तदनन्तर मेरे द्वारा स्त्रियों के विषय में नीतिकारों के वचनों का स्मरण किया जाना''' ३०

तत्पश्चात्—यशोधर महाराज द्वारा यह सोचा जाना—कि 'आश्चर्य है, विषय-सुखों में तृष्णा करना निरर्थक

है, अतः अब क्या स्त्रियों को छोड़कर उस उत्कृष्ट राज्यलक्ष्मी को भोगूँ ? यह भी उचित नहीं; क्योंकि स्त्रीजन के बिना राज्यलक्ष्मी वन-सरीखी निस्सार है'। ३१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा स्त्रियों से विरक्त करने वाले नैतिक सिद्धान्त सोचे जाना और 'स्त्रियाँ अपनी प्रकृति नहीं छोड़ती इनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है' इस बात का दृष्टान्त माला द्वारा समर्थन किया जाना··· ३२

पश्चात् उक्त घटना के कारण यशोधर महाराज द्वारा पूर्वकालीन अपने मन की रागकलुषता का और वर्तमान कालीन चित्त की निर्मलता-आदि का विचार किया जाना एवं पापिष्ठ विधि को उलाहना दिया जाना-आदि वैराग्य-पूर्ण विचार किया जाना··· ३६

पुनः यशोधर महाराज द्वारा तपोवन के प्रति प्रस्थान करने के लिये यह उपाय सोचा जाना कि 'यदि यह आज की रात्रि निर्विघ्न व्यतीत हो जायगी उस समय मैं 'सर्वावसर' नाम के सभामण्डप में बैठकर अपनी माता चन्द्रमती देवी व समस्त सेवक-समूह को बुलाकर ऐसा कूटकपट (मायाचार) करूँगा, जो कि अद्वितीय, अनुपदिष्ट व पूर्व में अनुभव में नहीं आया हुआ एवं जो अनुचित होने पर भी समस्त विघ्नों को निवारण करने वाला है, इत्यादि' प्रसङ्ग वश प्रभात वेला का सरस वर्णन··· ४०

तदनन्तर मेरे द्वारा 'अखिलजनावसर' नाम के सभामण्डप में पहुँचना, वहाँ पर जब समस्त सेवकजन एकत्रित होकर यथास्थान पर स्थिति कर चुका था एवं शास्त्र-वाचक (पुरोहित) प्रवृत्त हो चुका था। इसी प्रकार जब तक मेरे द्वारा चन्द्रमति माता के प्रति लेख भेजने की इच्छा से 'मनोरथसारथि' नाम के मंत्री का मुख देखा जा रहा था। तब तक मेरे द्वारा अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक स्वयं आती हुई चन्द्रमति माता का देखा जाना पश्चात् उसके सन्मुख जाना और उसे लाकर महान् सिंहासन पीठ पर बैठाई जाना, एवं उसकी आज्ञा से मेरा भी अपने सिंहासन पर बैठना। ४५

पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा मुझे आशीर्वाद दिया जाना। इसी अवसर पर कथावाचक द्वारा सुभाषित पद्यों का पढ़ा जाना और उसके लिए, मेरे द्वारा (यशोधर महाराज द्वारा) पारितोषिक दिये जाने का आदेश दिया जाना एवं उसके लिए वसुवर्ष-खजानची द्वारा पारितोषिक दिया जाना। ४६

इसके बाद चन्द्रमति माता द्वारा मन में ऐसा सोचा जाना कि 'मेरे पुत्र का मन सांसारिक भोगों से विरक्त करने वाली वार्ताओं में कैसे संलग्न हुआ ? ऐसा मालूम पड़ता है कि महादेवी के गृह पर प्राप्त हुए मेरे पुत्र को कोई वैराग्य का कारण अवश्य हुआ है ? क्योंकि मेरे पुत्र ने इसे विशेष स्वाधीनता दे दी है। जो कि तलवार की धार-सरीखी पति के हृदय को विदीर्ण किये बिना विश्राम नहीं लेती। मुझसे प्रियंवदा ने कहा था, कि आपकी पुत्रवधू की दृष्टि उस 'अष्टवङ्क' नाम के निकृष्ट महावत से स्नेह करने में तत्पर-सी मालूम पड़ती है··· ४७

पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा मुझसे स्पष्ट पूँछा जाना 'हे पुत्र! इस युवावस्था में तेरा मन धर्मकथाओं में क्यों संलग्न है ? तेरी मुख-कान्ति म्लान क्यों है ? तेरा शरीर कान्ति-हीन क्यों है ? तुम सिंहासन पर निश्चल होकर क्यों नहीं बैठते ? इसे सुनकर यशोधर महाराज द्वारा माता को अपने द्वारा कल्पित स्वप्न-वृत्तान्त सुनाया जाना··· ४८

पश्चात् माता द्वारा आशीर्वाद देकर मुझे समझाया जाना और मेरा स्वप्न-दर्शन असत्य साबित करने के लिए दृष्टान्तमाला उपस्थित की जाकर मुझे समझाया जाना—'हे पुत्र! तुम इस समस्त राज्यादि वैभव को छोड़कर किस अभिलाषा से तपश्चरण करते हो ? यह तपश्चरण स्वर्ग व मोक्ष-निमित्त नहीं है। क्या प्रत्यक्षफल से परोक्ष-फल निश्चय से महान् होता है ? ४९

इसके बाद माता द्वारा कहा जाना—'हे पुत्र ! यदि आपको दुष्ट स्वप्न का भय है तो कुलदेवता के लिए समस्त प्राणी-समूह की बलि (घात) करके दुष्ट स्वप्न का शमन-विधान करो। कुलदेवता के लिए प्राणियों का बलि-विधान सदा से चला आ रहा है और लोक-प्रसिद्ध भी है। पश्चात् उसके द्वारा मनु के दो उद्धरणों (श्लोक नं० ४२-४३) द्वारा और वैदिक प्रमाणों द्वारा पशुबलि सिद्ध की जाना'··· ५०

तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा अपने दोनों श्रोत्र बन्द करके और दर्भास ग्रहण करके पश्चात्ताप करते हुए कहा जाना—'हे माता ! यदि आपके द्वारा मेरे ऊपर कुपुत्र संबंधी निन्दारूपी धूलि न फेंकी जाय तो मेरे द्वारा कुछ कहा जाता है।'

उसे रोककर माता द्वारा नास्तिक दर्शन संबंधी पूर्वपक्ष किया जाना। तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा अनेक प्रबल अकाट्य युक्तियों से और ज्योतिष शास्त्र के आधार से नास्तिक दर्शन का निरसन (खण्डन) किया जाना··· ५१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा कहा जाना—'निश्चय से प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रिय राजाओं का श्रेष्ठ धर्म है, वह धर्म निर्दोष प्राणियों के घात करने से नष्ट हो जाता है। निश्चय से प्राणियों के व्यवहार-शास्त्र राजा के अधीन हैं। प्राणियों के पुण्य व पाप के कारण तथा चार वर्णों व चार आश्रमों के आचरण व मर्यादाएँ भी राजाधीन प्रवृत्त होती हैं। वे राजा लोग काम, क्रोध व अज्ञान से जिस प्रकार पुण्य व पाप आरम्भ करते हैं उसी प्रकार प्रजा भी आरम्भ कर देती है। उक्त बात का दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन किया जाना इत्यादि अहिंसा प्रधान राजनीति की त्रिवेणी प्रवाहित की जाना' ५३

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा अनेक जैनेतर शास्त्रों के प्रमाणों से पशुबलि व मांस-भक्षण का निरसन किया जाना। ५५

तदनन्तर यशोधर महाराज व 'इन्द्रार्चितचरण' नाम के मुनिराज के मध्य हुई प्रश्नोत्तरमाला का निरूपण होना जिससे यशोधर महाराज की अहिंसाधर्म में रुचि का उद्गम होना··· ५७

तत्पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा जैनधर्म पर दोषारोपण किया जाना, अर्थात्,—'हे पुत्र ! दिगम्बरों के धर्म में देवतर्पण, पितृतर्पण व ब्राह्मण तर्पण नहीं है, एवं स्नान व होम की बात भी नहीं है। ये लोग वेद व स्मृति से बहिर्भूत हैं, ऐसे दिगम्बरों के धर्म में तुम्हारी बुद्धि किस प्रकार प्रवृत्त हो रही है ? जो दिगम्बर साधु ऊपर खड़े हुए पशु-सरीखे आहार करते हैं। जो निर्लज्ज व शौच गुण से हीन हैं ! हे पुत्र ! दिगम्बरों का पूर्व में (कृतयुग, त्रेता व द्वापर आदि) में नाम भी नहीं है। केवल कलिकाल में ही इनका दर्शन हुआ है। इनके मत में निश्चय से मनुष्य ही देव (ईश्वर) हो जाता है एवं ईश्वर भी बहुसंख्यावाला (चौबीस) है। इत्यादि' ५९

पुनः यशोधर महाराज द्वारा उक्त दोषों का परिहार किया जाना। ६१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की जाना। ६३

तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा दिगम्बर साधुओं के दोषारोपणों का परिहार किया जाना और जैनों के आप्त का स्वरूप निर्देश करके जैनेतर आप्त का निरसन किया जाना। ६५

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा मांस व मधु के त्याग का निरूपण करके वैदिक समालोचना की जाना ६६

पुनः यशोधर महाराज द्वारा यथार्थ शास्त्र का स्वरूप निर्देश करके आप्त की मीमांसा की जाना ६८

इसके बाद चन्द्रमति माता द्वारा पुनः पशु-बलि से कुल देवता की पूजा का तथा मधु, मद्य व मांसभक्षण का समर्थन किया जाना··· ७१

पुनः यशोधर महाराज द्वारा पशु-बलि-आदि का निरसन किया जाना··· ७४

पश्चात् हे मारिदत्त महाराज ! जब वह मेरी (यशोधर की) माता (चन्द्रमति) मेरे उक्त प्रकार के वचनों से निरुत्तर हुई और जब उसके द्वारा कोई दूसरा उपाय नहीं देखा गया तब उसने मेरे पैरों पर पड़कर मुझ से निम्नप्रकार प्रार्थना की—'हे पुत्र ! यदि तुम दुर्गति-गमन की आशङ्का से अथवा किसी दूसरे कारण से जीव-वध में प्रवृत्त नहीं होते तो मत प्रवृत्त होओ, किन्तु आटे के मुर्गे से कुल-देवता के निमित्त बलि समर्पण करके उससे बचे हुए आटे में मांस का संकल्प करके तुम्हें मेरे साथ अवश्य भक्षण करना चाहिए ।' ७६

पुनः यशोधर महाराज की स्त्रियों के विषय में मानसिक नैतिक विचारधारा का, एवं मानसिक संकल्प से होने वाले दुष्परिणाम-आदि की विचारधारा का और तत्समर्थक दृष्टान्तमाला का निरूपण किया जाना ७७

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा माता के प्रति स्पष्ट कहा जाना—'हे माता ! तेरी बुद्धि अयोग्य आचरण में दुराग्रह से विशेष मलिन किस प्रकार हुई ? अस्तु इस कार्य (आटे के मुर्गे का मारण व उसको मांस समझ कर भक्षण रूप कार्य) में आप ही प्रमाण हैं । हे माता तुम्हीं शिल्पियों को बुलाकर मुर्गा बनाने की आज्ञा दो एवं यशोमति कुमार के राज्याभिषेक करने की लग्न के शोधन के लिये तुम्हीं ज्योतिषियों को आदेश दो । ८०

इसके बाद कुलटा अमृतमति महादेवी द्वारा उक्त वृत्तान्त सुना जाकर कूटनीति का विचार किया जाना—'इस राजा के ऐसे कूट कपट का कारण निस्सन्देह मेरे द्वारा रात्रि में किये हुए दुर्विलास को छोड़कर दूसरा नहीं है । पश्चात् कुलटाओं की [illegible] विरक्त को अनुरक्त बनाना शक्य नहीं । अतः यह राजा जब तक मेरे ऊपर क्रोध रूपी विष का क्षरण नहीं करता तब तक मैं ही इसके ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण करती हूं । ८१

तत्पश्चात् अमृतमति महादेवी द्वारा 'गविष्ठिर' नामक मंत्री का यशोधर महाराज के पास भेजा जाकर निम्नप्रकार संदेश भेजा जाना—'इस समय मेरे प्राणनाथ मोक्ष-सुख की इच्छा से अथवा उपस्थित हुए दोषों का निराकरण न होने की बुद्धि से दीक्षा धारण कर रहे हैं और मैं पुत्र यशोमति कुमार की लक्ष्मी भोगती हुई गृह में ही रहूँ यह बात अनुचित है' परन्तु यदि हम दोनों चरित्र-पालन में तत्पर हों तो इसमें कोई आगम से विरोध नहीं है । क्योंकि शास्त्रों में पतिव्रता स्त्रियों के दृष्टान्तों द्वारा पतिव्रत धर्म का निरूपण किया गया है । दीक्षा-ग्रहण के दिन चन्द्रमति माता के साथ मेरे गृह पर आपको गणभोजन करना चाहिए ।' ८५

इसके अनन्तर यशोधर महाराज द्वारा गणभोजन की स्वीकारता देकर 'गविष्ठिर' मन्त्री को वापिस भेज कर विशेष पश्चात्ताप किया जाना··· ८६

'अतः इस चण्डिका देवी के मन्दिर में गमन-करना आदि में दैव ही शरण है' ऐसा विचार कर कुछ निद्रा-सुख को भोग कर यशोधर महाराज का जाग्रत होना । ९१

पश्चात् 'वैकुण्ठमति' नाम के क्षेत्रपाल द्वारा यह विदित होने पर कि चन्द्रमति माता चण्डिका देवी की चरण पूजा के लिए उसके मन्दिर में सपरिवार गई है मेरे द्वारा भी ऐरावण-पत्नी नामकी हथिनी पर सवार होकर चण्डिका देवी के मन्दिर के प्रति प्रस्थान किया जाना इसी प्रसङ्ग में अनेक अपशकुन का होना··· ९१

पुनः 'हे चण्डिका देवी ! समस्त प्राणियों के मार देने पर जो कुछ फल होता है, वह फल यहाँ पर मेरे लिए प्राप्त होवे ।' ऐसे अभिप्राय से यशोधर महाराज द्वारा चण्डिका देवी के सामने छुरी से उस मुर्गे का मस्तक काटा जाना, उस आटे के मुर्गे द्वारा जीवित मुर्गे की तरह शब्द किया जाना, उस मुर्गे के चूर्ण में 'मांस' ऐसा संकल्प करके रसोई घर में भेजा जाना । उस दिन से दूसरे दिन अमृतमति देवी द्वारा माता-सहित मेरे लिए भोजन बनाया जाना, परन्तु उस पापिनी कुलटा अमृतमति द्वारा माता-सहित मेरे भोजनों में विष प्रवेश किया जाना, जिससे यशोधर व उसकी माता का काल-कवलित होना, पुनः अमृतमति द्वारा दिखाऊ रुदन आदि किया जाना एवं कवि की कामना तथा महाकवि सोमदेव को छोड़कर दूसरे कवि उच्छिष्ट भोजी हैं, इसका वर्णन । ९४

इति चतुर्थ आश्वासः

मङ्गलाचरण ९६

मुनिकुमार ने कहा—मुर्गे के वधरूपी पाप-युक्त अभिप्राय से यशोधर का ऐसे सुवेल पर्वत के समीपवर्ती नदी तट पर वर्तमान वृक्ष पर मोर-कुल में मोर होना, प्रसङ्गवश सुवेल पर्वत का, वृक्ष का एवं मयूर कुल-का सरस वर्णन ९७

पश्चात् शिकारी 'गजशल्यक' द्वारा मयूर का पिंजरे में बन्दीकृत किया जाकर, उज्जयिनी नगरी में यशोमति महाराज के लिए भेंट किया जाना और भाग्योदय से मोर के लिए जातिस्मरण प्रकट होना। १०४

पश्चात् राजमाता चन्द्रमति का विन्ध्याचल पर्वत की दक्षिण दिशा में वर्तमान 'करहाट' नाम के जनपद में 'गोधन' नाम के गोकुल (गोशाला) पति के गृह पर कुत्तों के कुल में कुत्ता होना। इसी प्रसंग में करहाट देश के ग्रामों की और गोकुल की छटा का सरस वर्णन एवं प्रस्तुत कुत्ता 'गोधन' नाम के गोकुलस्वामी द्वारा उज्जयिनी नगरी में यशोमति महाराज के लिए भेंट किया जाना। १०५

पश्चात् चन्द्रमति के जीव कुत्ते द्वारा मोर का प्राणान्त किया जाना, उसे जानकर यशोमति महाराज द्वारा कुत्ते का प्राणान्त किया जाना। इसी प्रसंग में मयूर व कुत्ते के मरण से यशोमति महाराज का शोकाकुल होकर इनकी पूर्वजों-जैसी क्रियाएँ किये जाने का आदेश देना। ११०

इसके बाद यशोधर का जीव मयूर का मरकर 'शिखण्डिताण्डवमण्डन' नाम के वन में सेहिनी के गर्भ में आकर सेही होना, इसी प्रसंग में प्रस्तुत वन का सरस वर्णन और चन्द्रमति के जीव कुत्ते का मरकर सर्प होना, पश्चात् सेही द्वारा सर्प का भक्षण किया जाना, प्रसंगवश सर्प का वर्णन पुनः सर्प द्वारा सेही का खाया जाना। ११७

उसके पश्चात् यशोधर के जीव सेही का सिप्रा नदी के जल में महान् अजगर-सरीखी देह वाला 'रोहिताक्ष' नाम का मच्छ होना और चन्द्रमति के जीव काले साँप का सिप्रा नदी के अगाध जलाशय में 'शिशुमार' नाम का भयानक मकर होना, इसी प्रसंग में सिप्रा नदी का और उसके जल का तथा जल-क्रीड़ा करने वाली नागरिक कमनीय कामिनियों का सरस वर्णन ११८

इसके बाद उस नागरिक स्त्रियों की जलक्रीड़ा के अवसर पर उस 'शिशुमार' नाम के मकर द्वारा, जो कि मुक्त 'रोहिताक्ष' नाम के मच्छ को पकड़कर खाने के निमित्त लौटा हुआ था, 'मदनमञ्जरिका' नाम की स्त्री पकड़ी जाना, जो कि यशोमति महाराज की कुसुमावली नाम की रानी की दासी थी, इससे कुपित हुए यशोमति महाराज द्वारा मछुवारों का समूह बुलाकर समस्त जलचर दुष्ट जन्तुओं के विनाश के लिए आदेश दिया जाना, जिससे शिशुमार मकर की कण्ठनाल में लोहे का वज्र काँटा पड़ना और रोहिताक्ष मच्छ के ऊपर भयानक जाल पड़ना, पश्चात् मछुवारों द्वारा लाये हुये दोनों को देखकर यशोमति महाराज द्वारा पितरों के सन्तर्पण के लिए ब्राह्मण-समूह की सदावर्त शाला के रसोइए के लिए समर्पण किया जाना इस तरह दोनों का प्राणान्त होना। १२३

पुनः चन्द्रमति के जीव मकर का और यशोधर के जीव रोहिताक्ष मच्छ का, उज्जयिनी के निकटवर्ती 'कच्छाहि' नाम के ग्राम में भेड़ों के झुण्ड के मध्य क्रमशः बकरी व बकरा होना, जवान होने पर एक दिन यशोधर के जीव बकरे द्वारा अपनी माता चन्द्रमति के जीव बकरी के साथ कामसेवन किया जाना और तत्काल भेड़ों के समूह के स्वामी द्वारा विशेष तीक्ष्ण सींगों से बकरे के मर्मस्थानों में निष्ठुर प्रहार किया जाना, एवं उसके आघात से मरकर उसका उसी बकरी के गर्भ में आकर बकरा होना। १२४

इसी अवसर पर यशोमति महाराज का शिकार खेलने के लिये वन में जाना, इसी प्रसंग में शिकारी यशोमति महाराज का वर्णन होना, परन्तु कोई शिकार न मिलने से निराश और क्रुद्ध हुए उसके द्वारा बकरियां, भेड़ा समूह,

व पारद्र-समूह से सहित उक्त मकरा-समूह के मध्य में से वापिस लौटा जाना, इसी अवसर पर उसके द्वारा लोह की नोक के तीर से मेरी माता बकरी का विदीर्ण किया जाना और उसका पेट फाड़ दिया जाना जिससे उसके द्वारा कम्पायमान शरीर वाला एवं अंगार-पुञ्ज के ऊपर धारण किया हुआ मांस-शरीरवाला (यशोधर का जीव गर्भ-स्थित बकरा) देखा जाना और रसोइए के लिए प्रतिपालन निमित्त दिया जाना। १२५

इसी प्रस्ताव में उस चन्द्रमति के जीव बकरी का मरकर कलिङ्ग देशों में भैंसा होना, और एक व्यापारी द्वारा खरीदा जाकर उसका उज्जयिनी में आना और सिप्रानदी में प्रविष्ट होना, पुनः यशोमति महाराज के अश्व पर उसके द्वारा सांघातिक प्रहार किया जाकर मारा जाना, जिसके फलस्वरूप राजा के आदेश से सेवकों द्वारा घोर यन्त्रणा देकर उस भैंसे को मार दिया जाना, वहाँ मांस-लम्पट अमृत-मति द्वारा बकरे को पकवाकर भक्षण किया जाना। इस तरह भैंसा और बकरे का प्राणान्त होना, अगले जन्म में दोनों मुर्गा-मुर्गी हुए १२७

'मन्मथमथन' नाम के चरम देहधारी एक मुनिराज द्वारा जम्बूद्वीप के विजयार्द्ध पर्वत पर ध्यानस्थ होना, इसी प्रसङ्ग में विजयार्द्ध पर्वत की छटा का सरस वर्णन किया जाना, 'कन्दर्पविलास' नाम के एक विद्याधर का आकाश-मार्ग से इधर से निकलना, मुनिराज के तप के माहात्म्य से उसके विमान का रुक जाना, जिससे कुपित होकर उसके द्वारा मुनि के ऊपर घोर उपसर्ग किया जाना, विद्याधरों के राजा रत्नशिखण्डी का प्रस्तुत मुनिराज के दर्शनार्थ वहाँ आना और 'कन्दर्पविलास' विद्याधर के दुष्कर्म को देखकर उस पर कुपित होना और उसे शाप देना कि इस दुष्कर्म के विपाक से तू उज्जयिनी में चण्डकर्मा नाम का कोट्टपाल होगा १२८

विद्याधर द्वारा पैरों पर गिरकर प्रार्थना की जाने पर रत्नशिखण्डी द्वारा कहा जाना—'जब तुझे आचार्य सुदत्त के दर्शनों का लाभ होगा और तू उनसे धर्मग्रहण करेगा तो तेरी इस शाप से मुक्ति हो जाएगी' इसी प्रसङ्ग में आचार्य सुदत्त का, जो कि कलिङ्ग देश के शक्तिशाली राजा थे, विस्तृत व अलंकार-युक्त वर्णन किया जाना १३३

रत्नशिखण्डी द्वारा विद्याधर से यह कहा जाना कि एक दिन दरबार में सुदत्त राजा के समक्ष एक चोर उपस्थित किया गया, जो कि सोते हुए नाई को मार डालने और उसका सर्वस्व हरण करने का अपराधी था, राजा द्वारा उसे दण्ड देने के विषय में धर्माधिकारियों की ओर दृष्टिपात किया जाना, धर्माधिकारियों द्वारा उसके ऐसे चित्र वध करने का आदेश देना, जिससे दस या बारह दिनों में प्राणत्याग कर देवे, यह सुन कर राजा को क्षत्रिय जीवन से विशेष अरुचि होना, जिससे उसके द्वारा राज्य त्याग कर अपने छोटे भाई को राज्यलक्ष्मी समर्पण करके जिन दीक्षा धारण की जाना १४१

इसी प्रसङ्ग में रत्नशिखण्डी द्वारा 'कन्दर्पविलास' नामक विद्याधर के प्रति उज्जयिनी नगरी में वर्तमान 'सहस्रकूट' नाम की वसति (जिन मन्दिर) का, जो कि निम्नलिखित षोडश स्वप्नोंवाली है, श्लेषप्रधान अलङ्कारों द्वारा सरस वर्णन किया जाना एवं परिसंख्यालंकार द्वारा उज्जयिनी का ललित निरूपण किया जाना १४२

पुनः उस विद्याधरों के चक्रवर्ती रत्नशिखण्डी द्वारा उक्त निरूपण करके और मन्मथमथन ऋषि की पूजा करके इच्छित स्थान को प्रस्थान किया जाना और उसके शाप-वश कन्दर्पविलास विद्याधर का उज्जयिनी में आकर चण्डकर्मा नामक कोट्टपाल होना १४६

पुनः यशोधर के जीव (बकरे) का और चन्द्रमति के जीव (भैंसे) का उसी उज्जयिनी के समीप एक चाण्डालबस्ती में साथ-साथ मुर्गा-मुर्गी होना बाल्यावस्था व्यतीत हो जाने के बाद किसी अवसर पर चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल द्वारा दोनों मुर्गा-मुर्गी का एक चाण्डाल पुत्र के हस्तगत देखा जाना, पश्चात् उससे लेकर यशोमति महाराज के लिए दिखलाये जाना, पुनः उनके द्वारा यह कहा जाना कि 'हे चण्डकर्मा ! यह मुर्गा का जोड़ा तब तक तुम्हारे ही

हस्तगत रहे, क्योंकि मैं सहस्रकूट चैत्यालय के उपवन में कामदेव की पूजा के लिए जाऊँगा, तुम्हें वहाँ पर युद्ध-क्रीड़ा के लिए इस पक्षी जोड़े को दिखाना चाहिए।' ऐसी आज्ञा कहकर चण्डकर्मा द्वारा पिञ्जरा के साथ प्रस्थान किया जाना। १५०

इसके बाद चण्डकर्मा का पिंजरे के साथ उसी उद्यान में पहुँचना, एवं उसके साथियों (शकुनसर्वज्ञ नामक विप्रशुभ्रक विद्वान-आदि) का भी वहाँ पहुँचना, वहाँ पर उनके द्वारा अशोक वृक्ष के मूल में विराजमान हुए सुदत्ताचार्य का देखा जाना, पश्चात् उनके समक्ष, शकुन सर्वज्ञ नामके विद्वान् द्वारा सांख्यदर्शन का समर्थन किया जाना, धूमध्वज नाम के विद्वान् द्वारा मीमांसक मत की स्थापना की जाना, हरप्रबोध द्वारा दक्षिणमार्ग व वाममार्ग के सिद्धान्तों का समर्थन किया जाना, और सुगत कीर्ति द्वारा बौद्ध दर्शन की स्थापना की जाना, एवं चण्डकर्मा द्वारा चार्वाक मत का समर्थन किया जाना, पश्चात् आचार्य सुदत्त द्वारा उन सभी दार्शनिकों की मान्यता का अकाट्य युक्तियों द्वारा खंडन किया जाना और अहिंसा को ही धर्म का मूल बताना और अपने पक्ष का समर्थन करते हुए सुदत्ताचार्य द्वारा उन मुर्गा-मुर्गी के पूर्व भवों का वर्णन किया जाना, जिसके फलस्वरूप उन्हें यह निश्चय होना कि 'हमने यशोधर राजा व चन्द्रमति की पर्याय में कुलदेवी के लिए आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई थी, जिससे हमें इस भवचक्र में घूमना पड़ा, इत्यादि' १५२

पश्चात् यशोमति महाराज द्वारा कुसुमावली महारानी के लिए अपनी शब्दवेधिता की कुशलता प्रदर्शित करने के लिए भेदने में समर्थ बाण छोड़ा जाना, जिससे दोनों मुर्गा-मुर्गी का आहत होकर मर जाना और धर्म के माहात्म्य से दोनों का मनुष्य योनि में जन्म होना, अर्थात्-दोनों का यशोमति कुमार की रानी कुसुमावलि के गर्भ से यमज (जोड़ा) भाई-बहन के रूप में उत्पन्न होना, इसी प्रसंग में गर्भवती कुसुमावलि रानी का वर्णन होना और रानी द्वारा अपने दोहले राजा के लिए प्रकट किये जाना और यशोमति महाराज द्वारा अधिकारियों के लिए उक्त कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा की जाना। पश्चात् उनका नाम 'यशस्तिलक और मदनमति रक्खा जाना और माता के दोहला के अधीन अभयरुचि और अभयमति नाम रक्खा जाना, प्रसंगवश यशस्तिलक और मदनमति के कुमार काल का निरूपण किया जाना १६७

एक दिन यशोमति महाराज का शिकार खेलने के लिए जाना और उनके द्वारा सहस्रकूट जिनालय के उद्यान में श्री सुदत्ताचार्य का देखा जाना, अजमार नामक विदूषक द्वारा यह कहा जाना कि राजन्! 'इस मुनि के दर्शन से आज शिकार मिलना असम्भव है, इसे सुनकर राजा का क्षुब्ध हो जाना। इसी अवसर पर सुदत्ताचार्य की वंदना के लिए आए हुए कल्याण मित्र नाम के वणिक-स्वामी द्वारा यशोधर महाराज से कहा जाना—हे राजन्! असमय में आपका मुख शोक से म्लान क्यों हो रहा है? विदूषक पुत्र अजमार—''हे वणिक् स्वामी इस अमङ्गलीभूत नग्न के देखने से'।

कल्याणमित्र द्वारा यह कहा जाना—'राजन्! ऐसा मत सोचो, क्योंकि यह भगवान् निस्सन्देह पूर्व में कलिङ्ग देश के राजा थे, तुम्हारे पिता से इनका वंशानुगत पूज्यता का संबंध था। इसने व्यभिचारिणी स्त्री सरीखी स्वयं आई हुई राज्यलक्ष्मी को चञ्चल स्त्री-सी जानकर तिरस्कृत किया और त्रिलोक पूज्य तपश्चर्या में स्थित है, अतः इनकी अवज्ञा करना उचित नहीं है। पुनः नग्नता के समर्थक अनेक प्रमाण दिये तब यशोमति कुमार द्वारा कल्याण मित्र के साथ मुनिराज को नमस्कार किया जाना और मुनिराज द्वारा उसे शुभाशीर्वाद दी जाना १६९

यशोमति कुमार को अपनी दुर्भावना पर पश्चाताप होना, और उसके मन में यह विचार आना कि 'अपने शिर कमल से प्रस्तुत भगवान के चरणों की पूजा करनी ही इस पाप का प्रायश्चित्त है' प्रस्तुत आचार्य द्वारा राजा के मन की बात जानकर उसे रोका जाना इससे प्रभावित हुए यशोमति कुमार द्वारा उन्हें अतीन्द्रियदर्शी जानकर अपने दादा यशोर्घ

महाराज और पितामही चन्द्रमति और माता-पिता के विषय में पूँछा जाना कि अब वे किस लोक में है ? मुनिराज द्वारा कहा जाना—राजन् ! तुम्हारे दादा यशोर्घमहाराज तो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हैं। तुम्हारी माता पाँचवें नरक में है और तुम्हारी पितामही तथा पिता आटे के बने मुर्गे की बलि देने के पाप से अनेक जन्मों में कष्ट उठाकर अब तुम्हारे गृह में पुत्र-पुत्री के रूपमें वर्तमान हैं। यह सुनकर यशोमति कुमार द्वारा अपने दुष्कृत्यों पर खेद-खिन्न होकर आचार्य से दीक्षा देने की प्रार्थना की जाना एवं समस्त परिवार को बुलवाकर मुनिराज द्वारा कहा हुआ वृत्तान्त सुनाना १७३

इसके पश्चात् मुनिकुमार द्वारा राजा मारिदत्त से कहा जाना 'राजन् ? हम वही अभयरुचि और अभयमति हैं, अपने पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनकर हमें अपने पूर्वजन्मका स्मरण होगया जिससे हमने संसार को छोड़ देने का निश्चय किया। उस समय हम दोनों की अवस्था केवल ८ वर्ष की थी, इसलिए हमें क्षुल्लक के व्रत दिये गए। आचार्य सुदत्त के साथ विहार करते हुए आपकी नगरी में आए तो तुम्हारे सेवक हमें पकड़ कर तुम्हारे पास ले आए॥' १७५

मुनिकुमार की कथा सुनकर मारिदत्त राजा को अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई, उसकी जीवन-धारा धर्म की ओर प्रवाहित होने लगी। पुनः उसने मुनिकुमार से अपने समान बना लेने की प्रार्थना की। मुनिकुमार ने उन्हें अपने गुरु सुदत्ताचार्य के पास प्रस्थान करने को कहा १७६

१ ला कल्प

इति पञ्चम आश्वासः

श्री० सुदत्ताचार्य का चण्डमारी देवी के मन्दिर में पहुँचना, उससे मारिदत्त राजा की सभा का क्षुब्ध होना और मारिदत्त राजा द्वारा आचार्य की पूजा की जाने पर अभयरुचि क्षुल्लक द्वारा प्रस्तुत राजा का परिचय देने के लिए आचार्य से यह कहा जाना कि—'भगवन् यदुवंश में 'चण्डमहासेन' नाम का राजा था, प्रसङ्गवश यदुवंश का व उक्त राजा का ललित निरूपण किया जाना और यह कहा जाना कि ये मारिदत्त महाराज उक्त राजा के सुपुत्र हैं और हमारी माता कुसुमावलि रानी के लघु भ्राता हैं, अर्थात्—हमारे छोटे मामा हैं, अब ये उपदेश सुनने के पात्र हैं; अतः इन्हें धर्मोपदेश दीजिए। पश्चात् मारिदत्त राजा द्वारा आचार्य के लिए नमस्कार किया जाना और निराकुल मनोवृत्ति वाले व बुद्धि गुणों से युक्त होकर पूज्य सुदत्ताचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न किये जाना 'भगवन् ! निस्सन्देह यह प्राणी धर्म से सुखी होता है, उस धर्म का क्या स्वरूप है ? और उसके कितने भेद हैं ? एवं उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? और उसका क्या फल है ? १७९

इसके बाद आचार्य द्वारा धर्म, उसका स्वरूप व उसके भेद निरूपण किये जाना १८२

पश्चात् राजा द्वारा मोक्षमार्ग व संसारकारण गृहस्थ-धर्म व मुनिधर्म के विषय में पूँछा जाना १८२

तत्पश्चात्— आचार्य द्वारा मोक्षमार्ग व संसार के कारणों का निरूपण किया जाना १८३

५

मुक्ति के विषय में अनेक मान्यताएँ व उनकी समीक्षा—सैद्धान्तवैशेषिक, तार्किकवैशेषिक, पाशुपत, कौल, सांख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक, वेदान्ती, माध्यमिक बौद्ध, काणाद, ताथागत, कापिल, व अद्वैतवादियों के मत व उनकी समीक्षा और स्याद्वादियों द्वारा मानी हुई मुक्ति का स्वरूप। १८३-१९४

२ रा कल्प

आप्तस्वरूपमीमांसा—सम्यग्दर्शन का माहात्म्य व स्वरूप, आप्त का लक्षण, १८ दोष, ब्रह्मा, विष्णु, महेश-आदि की आप्तता का निरसन, शिव को आप्त मानने के विषय में विशेष प्रबल युक्तियों द्वारा समीक्षा की जाना, एवं जैन तीर्थङ्करों को आप्त मानने में अन्यवादियों के आक्षेपों का समाधान करते हुए उनकी आप्तता का समर्थन १९५-२०४

३ रा कल्प

आगमपदार्थपरीक्षा—

आप्त की प्रामाणिकता से आगम की प्रामाणिकता, आगम का लक्षण व विषय, वस्तु का स्वरूप द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पाद, विनाश व स्थिर शील है, वस्तु को सर्वथा प्रतिक्षण विनाशशील मानने वाले बौद्धों का और सर्वथा नित्य मानने वाले सांख्यों का युक्तिपूर्ण खंडन, आत्मा का स्वरूप, आत्मा को ज्ञान-दर्शन से शून्य मानने पर और ज्ञानमात्र को जीव मानने पर आपत्ति का प्रसंग, जीव और कर्म का संबंध, जीव के भेद, अजीव द्रव्य, बन्ध का स्वरूप और भेद, मोक्ष का लक्षण, बन्ध व मोक्ष-कारण, मिथ्यात्व के भेद, असंयम का लक्षण, कषायों के भेद, योग, आर्हतों द्वारा माने गये लोक का स्वरूप, लोक को वातवलय के आधार मानने की आर्हन्मान्यता का समर्थन, जैन साधुओं पर अन्य मतावलम्बियों द्वारा चार दोषों (स्नान न करना, आचमन न करना, नग्न रहना और खड़े होकर भोजन करना) का आरोपण किया जाना और उन दोषों का युक्ति व आगम प्रमाण से समाधान किया जाना व केश लुंचन का प्रयोजन २०५-२१०

४था कल्प

मूढ़ता का निषेध—

सूर्य को पूजा-निमित्त जल चढ़ाना-आदि व कैसे मानवों को जैनधर्म में लाने की चेष्टा करनी चाहिए? २११

५वाँ कल्प

सम्यक्त्व के अतिचार (शङ्का-आदि) व शङ्का का स्वरूप व उससे हानि और निःशंकित अंग का स्वरूप तथा जमदग्नि तापसी के तपोभंग की कथा २१२-२१९

६ठा कल्प

जिनदत्त और पद्मरथराजा की प्रतिज्ञा के निर्वाह की कथा २१९-२२२

७वाँ कल्प

निःशङ्कित अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर की कथा २२३-२२५

८वाँ कल्प

निःकांक्षित अंग का स्वरूप व उसमें प्रसिद्ध अनन्तमति की कथा २२६-२३०

९वाँ कल्प

निर्विचिकित्सा अंग का स्वरूप व उसमें प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कथा २३१-२३४

१० वाँ कल्प

अमूढदृष्टि अंग का स्वरूप व भव्यसेन नामक मुनि की आगम विरुद्ध प्रवृत्ति का निरूपण २३४-२४०

११ वाँ कल्प

अमूढदृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा २४०-२४५

१२ वाँ कल्प

सम्यक्त्व के वर्धक गुण, जैन शासन के वर्धक गुण, उपगूहन अंग का निरूपण और इसमें प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त की कथा २४६-२४९

१३-१४ वाँ कल्प

स्थितिकरण अंग का स्वरूप संघ की वृद्धि के विषय

में एवं स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध वारिषेण मुनि की कथा २४१-२५७

१५, १६, १७, १८ वाँ कल्प

प्रभावना अंग का स्वरूप और इसमें प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा २५७-२७०

१९, २० वाँ कल्प

वात्सल्य अंग का स्वरूप और उसमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा २७०-२८१

२१ वाँ कल्प

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के दो कारण, सम्यक्त्व के अन्तरंग व बाह्यसाधन, सम्यग्दर्शन के दो भेद, तीन भेद और दश भेद, उनमें दो भेदों का निरूपण, सम्यक्त्व के चिह्न, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य का स्वरूप, सम्यक्त्व के तीन भेदों और दश भेदों का स्वरूप २८२-२८५ गृहस्थ श्रावक के ग्यारह भेद (११ प्रतिमाएँ) और मुनि के चार भेद, शल्यों के तीन भेद और उनके दूर करने का उपाय, सम्यक्त्व का माहात्म्य, सम्यक्त्व के अष्ट अंगों की परिपूर्णता के विषय में, सम्यक्त्व के पच्चीस दोष, मोक्षमार्गी कौन है ?, निश्चय नय से रत्नत्रय का स्वरूप, 'रत्नत्रय आत्मस्वरूप है' इसका सप्रमाण समर्थन, आत्मा और कर्म में महान् भेद, 'आत्मा अपनी पर्याय का और कर्म अपनी पर्याय का कर्ता है' इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, जिसका मन विशुद्ध है वह अहिंसक है और जिसका मन अशुद्ध (कषाय-युक्त) है वह हिंसक व पापी है, सुख-दुःख से पुण्य-पाप का बन्ध, यह चित्त अशुभ ध्यान द्वारा पापबन्ध और शुभ ध्यान द्वारा पुण्यबन्ध और शुक्लध्यान द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है, चित्त को नियन्त्रित करने का उपदेश २८६-२९०

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप व माहात्म्य, ज्ञाता के दोष से बुद्धि की विपरीतता, ज्ञान के भेद २९०-२९१

चारित्र का लक्षण व भेद, सम्यक्त्व-हीन ज्ञान की व्यर्थता और ज्ञानहीन चारित्र की व्यर्थता, सम्यक्त्व से सुगति, ज्ञान से कीर्ति, चारित्र से पूजा और तीनों की प्राप्ति से मोक्ष की प्राप्ति का निर्देश करके तीनों का स्वरूप-निर्देश, अशुद्ध आत्मारूपी पारद को शुद्ध करने का उपाय एवं सम्यग्दर्शन-आदि का आश्रय २९१-२९३

२२, २३ वाँ कल्प सप्तम आश्वास

'व्रत सम्यग्दर्शन के गुणवर्द्धक हैं' इसका दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन, श्रावक-व्रत के दो भेद, आठ मूल गुण, मद्य के दोष, मद्य पीनेवाले संन्यासी की कथा, मद्यव्रती धूर्तिल चोर की कथा २९४-२९७

२४ वाँ कल्प

मांस-भक्षण के दोष, धर्म-सेवन न करने वालों की मूर्खता, अहिंसा धर्म-पालन का उपदेश, मधु-सेवन के दोष, पाँच उदुम्बर फलों के दोष, मद्य पीनेवालों तथा अव्रतियों के साथ खान-पान का निषेध, चर्मपात्र में रक्खे हुए जल व घृत-आदि का निषेध २९८-३००

कुछ लोगों की मान्यता है कि 'मूँग व उड़द-आदि एकेन्द्रिय जीवों का शरीर भी ऊँट व भेड़ा-आदि के शरीर की तरह मांस है, क्योंकि वह जीव का शरीर है' इसका युक्तिपूर्वक निरास, गाय का दूध शुद्ध है, परन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है, इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, मांस त्याज्य है और दूध पीने लायक है इसका ललित दृष्टान्त द्वारा समर्थन, मांस और घी में अन्तर, विधि द्वारा शुद्धि के विधान की समीक्षा, बौद्ध, सांख्य व चार्वाक आदि की मान्यता को न मान कर मांस-भक्षण का त्याग करना चाहिए, लालसापूर्वक मांस खाने वालों को दोहरा पाप, मांस-भक्षण का संकल्प करने वाले राजा सौरसेन की कथा ३००-३०४

२५ वाँ कल्प

मांसत्यागी चाण्डाल की कथा ३०४-३०५

२६ वाँ कल्प

श्रावकों के बारह उत्तर गुण, पाँच अणुव्रत, व्रत का लक्षण, पाँच पापों के सेवन से दुर्गति, हिंसा और अहिंसा का लक्षण, समस्त गृह-कार्य देख-भाल कर करना और समस्त तरल पदार्थ (घी, दूध-आदि) वस्त्र से छानकर उपयोग में लाने चाहिए, ३०६

भोजन के अन्तराय व उनके पालने का उद्देश्य, रात्रि-

भोजन का निषेध, अपने आश्रितों को भोजन कराना, भोजन में त्याज्य वस्तु (अचार-आदि), असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण, चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्य भावना का स्वरूप, हिंसा और अहिंसा में मुख्य व गौणभावों की विशेषता, निष्प्रयोजन स्थावरजीवों के घात का निषेध, दो इन्द्रिय-आदि जीवों का घात हो जाने पर आगमानुकूल प्रायश्चित्त-विधान, प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ और प्रायश्चित्त देने का अधिकार और पाप-त्याग की अमोघ औषधि, योग का स्वरूप व भेद, शुभाशुभ योग, पाप से बचने का उपाय, रात्रि का कर्तव्य, जीवदया का महत्व, अहिंसाव्रती मृगसेन धीवर की कथा ३०७-३२४

२७ वाँ कल्प

अचौर्याणुव्रत का स्वरूप, उसकी विस्तृत व्याख्या, अचौर्याणुव्रत के अतीचार, अचौर्य का माहात्म्य व चोरी से उभयलोक में दुःख एवं चोरी में आसक्त श्रीभूति पुरोहित की कथा ३२५-३३४

२८-३० वाँ कल्प

सत्याणुव्रत का स्वरूप, सत्यवादी को कैसा होना चाहिए ?, केवली भगवान्-आदि के अवर्णवाद से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव, जो विद्वान् मोक्षमार्ग को स्वयं जानता हुआ भी ज्ञान का घमण्ड करने-आदि से नहीं बतलाता, उसे ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है, सत्याणुव्रत के अतीचार, स्त्री-आदि की कथा करने का निषेध, वचन के असत्यसत्य व सत्यासत्य आदि चार भेद और उनका स्वरूप, सत्यवादी को अपनी प्रशंसा न करते हुए दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। उसे दूसरों में विद्यमान गुणों का घात (लोप) नहीं करना चाहिए और अपने में अविद्यमान गुणों को नहीं कहना चाहिए; क्योंकि पर-निन्दा व आत्मप्रशंसा आदि से नीच गोत्र का बंध होता है, सत्य बोलने से लाभ, असत्यभाषण से हानि, असत्य-भाषी वसु और पर्वत-नारद की कथा, इसी प्रसङ्ग में सुलसा राजकुमारी का सगर राजा के साथ संगम होना, जिससे मधुपिङ्गल का विरक्त होकर मरकर कालासुर होना-आदि की कथा ३३४-३५३

३१ वाँ कल्प

ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप, ब्रह्मचारी का कर्तव्य, 'ब्रह्म' शब्द की निरुक्ति, काम का मद न लाने की प्रेरणा, सांसारिक भोगों से तृप्त न होने के विषय में दृष्टान्तमाला, काम भोगों की निन्दा, कामी की विकृत मनोवृत्ति, प्रचुर मात्रा में काम-सेवन करने का दुष्परिणाम, काम की क्षय-रोग की तुलना, कामरूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर स्वाध्याय व धर्मध्यान आदि का अभाव, आहार की तरह भोगसेवन करना चाहिए, ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार, काम के दश गण, क्रोध के आठ अनुचर, ब्रह्मचर्याणुव्रत से लाभ, परस्त्रीलम्पटता से उभय लोक में भयानक विपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं, दुराचारी कडारपिङ्ग की कथा ३५३-३६७

३२ वाँ कल्प

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का लक्षण, दश बाह्य व चौदह आभ्यन्तर परिग्रह, अथवा बाह्य परिग्रह के दो भेद और आभ्यन्तर परिग्रह का एक भेद, धन की तृष्णा का निषेध, लोभी की निन्दा, सन्तोषी की प्रशंसा, परिग्रह में आसक्त मनुष्य की मनोवृत्ति विशुद्ध नहीं होती, परिग्रह में अनासक्त मानव की प्रशंसा, सत्पात्र को दान देने वाला सच्चा लोभी, लोभ-वश परिमाण किये हुए धन से अधिक धन का संचय करनेवाला श्रम की क्षति करता है, प्रचुर धनाकांक्षा से पाप-संचय, लोभी पिण्याकगन्ध की कथा ३६७-३७३

३३ वाँ कल्प

तीन गुणव्रत, दिग्व्रत व देशव्रत का लक्षण और उससे लाभ, अनर्थदण्ड का स्वरूप, अनर्थदण्डव्रत से लाभ, अनर्थदण्ड-विरति के अतीचार ३७४-३७५

इति सप्तम आश्वास।

३४ वाँ कल्प

चार शिक्षाव्रत, सामायिक का लक्षण, मूर्तिपूजा का विधान अथवा देव-प्रतिमा की पूजन से लाभ, देवपूजा में अन्तरङ्ग व बहिरङ्गशुद्धि की आवश्यकता, स्नान करने का उद्देश्य, देवपूजा के लिए गृहस्थ को नित्य स्नान करना चाहिए और मुनि को दुर्जन से छू जाने पर स्नान करना चाहिए, स्नान के योग्य जल, स्नान के पाँच भेद, गृहस्थ

कण्ठपर्यन्त व मस्तकपर्यन्त स्नान द्वारा बाह्य शुद्धि किये बिना देवपूजा का अधिकार नहीं, प्रशस्त मिट्टी-आदि से शुद्धि का विधान, आचमन किये बिना गृह में प्रवेश-निषिद्ध, स्नान करके अव्यग्रचित्त होकर पवित्र वस्त्र पहनकर मौन व संयमपूर्वक देवपूजा की विधि करनी चाहिए, होम व भूतबलि का विधान, गृहस्थों के दो धर्म—लौकिक व पारलौकिक, जातियाँ व उनकी क्रियाएँ अनादि हैं; विशुद्ध जाति वालों के लिए जैन विधि, जैनों को वही लौकिक विधि विधान (विवाह-आदि) मान्य है; जिसमें उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता और चारित्र भी दूषित नहीं होता; ३७६-३७६

३५ वाँ कल्प

देवपूजा के अधिकारी दो प्रकार के हैं, अन्य मत की प्रतिमाओं में आप्त का संकल्प नहीं करना चाहिए, पुष्पादिक में जिनेन्द्र देव की स्थापना करने वालों के लिए पूजा-विधि, पंच परमेष्ठी तथा रत्नत्रय की स्थापना की विधि, अर्हन्त की पूजा, सिद्ध की पूजा, आचार्य-पूजा, उपाध्याय-पूजा, साधु पूजा, सम्यग्दर्शन-पूजा, सम्यग्ज्ञान-पूजा सम्यक् चारित्र पूजा, दर्शन-भक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्र-भक्ति, अर्हन्त-भक्ति, सिद्ध-भक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति-भक्ति, आचार्य-भक्ति। ३७६-३६४

३६ वाँ कल्प

प्रतिमा में आप्त-आदि की स्थापना करने वालों के लिए पूजाविधि, अभिषेक, पूजा, स्तुति, जप, ध्यान व श्रुताराधना इन छह विधियों के कहने की प्रतिज्ञा, पूजक को स्वयं उत्तर दिशा की ओर मुँह करके स्थित होने का और जिन प्रतिमा को पूर्वाभिमुख स्थापन करने का विधान, देव-पूजा के छह विधि विधान-प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना सन्निधापन, पूजा और पूजाफल, प्रभु की आरती, जलाभिषेक, मुनक्का दाख व खर्जूर-आदि के रसों से जिनेन्द्र का अभिषेक, घृताभिषेक, धारोष्ण दुग्ध-प्रवाह से जिनाभिषेक, दही से अभिषेक, इलायची, लौंग व कङ्कोल (सुगन्धि जड़ी बूटी) के चूर्णों के कल्कों से प्रभु का अभिषेक, शुभ्र जल-पूर से भरे हुए चार कलशों से प्रभु का जलाभिषेक, गन्धोदकों से अभिषेक, पुष्पाञ्जलि-क्षेपण, सोलह पाँखुड़ीवाले कमल की कर्णिका में अर्हन्त प्रभु को स्थापित करके उनकी पूजा करना व पूजा-फल ३६४-४०४

३७ वाँ कल्प

तीर्थङ्कर अर्हन्त भगवान् की स्तुति, इसी प्रसङ्ग में (जिन-स्तुति को आधार मानकर) जैमिनीय मत-समीक्षा, सांख्यदर्शन-मीमांसा, चार्वाक-दर्शन-मीमांसा, वैशेषिक दर्शन की मुक्ति-मीमांसा, सृष्टि कर्तृत्व-मीमांसा, वेद की ईश्वर कर्तृत्व मान्यता की समीक्षा, बौद्धदर्शन-मीमांसा, बुद्ध के प्रमाणत्व की मीमांसा व ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार (बौद्धविशेष) मत-समीक्षा आदि विषयों का ललित व युक्तिपूर्ण विवेचन। ४०५-४१३

३८ वाँ कल्प

जप-विधि, अनादि सिद्ध पैंतीस अक्षरों वाले पञ्चनमस्कार मन्त्र से जप करने का विधान, जप की माला-आदि, मन से व वचन से जप का विधान, पंच नमस्कार मन्त्र का माहात्म्य, जप प्रारम्भ करने के पूर्व सकलीकरण-विधान-आदि। ४१३-४१५

३९ वाँ कल्प

ध्यान-विधि, पद्मासन या खड्गासन से स्थित होकर उच्छ्वासनिःश्वास रूप प्राणवायु के प्रवेश व निर्गम को सूक्ष्म करते हुए पाषाण-घटित-सा निश्चल होकर ध्यानस्थ होना चाहिए, ध्यान, ध्याता व ध्येय का स्वरूप, धर्मध्यानी का परीषह-सहन, ध्यान के योग्य स्थान, सबीज ध्यान (पृथक्त्ववितर्कसवीचार शुक्लध्यान) का स्वरूप, अबीजध्यान (एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्ल ध्यान) का स्वरूप, धर्मध्यानी को अज्ञान-निवृत्ति आवश्यक, ध्यान की दुर्लभता व ध्यान का काल, धर्मध्यान की उत्पत्ति में पाँच कारण; धर्म ध्यान के अन्तराय १ दुर्गुण, ध्यानी को शत्रु-मित्र में समभावी होने का विधान, पातञ्जल योगदर्शन के ध्यान का निरूपण और उसकी समीक्षा, धर्मध्यानी को शत्रु-मित्र में समभाव रखने वाला व सत्यवादी होना चाहिए, आर्त व रौद्रध्यान का स्वरूप और उनके त्यागने का उपदेश, दोनों ध्यानों से होने वाला दुष्परिणाम, धर्मध्यान

का स्वरूप आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान का स्वरूप; अपायविचय का स्वरूप; संस्थानविचय का स्वरूप; विपाक विचय का स्वरूप, धर्मध्यान का फल, शुक्लध्यान का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, ध्यान करने के योग्य वस्तु, धर्म ध्यानी को क्या विचार करना चाहिये ?, अर्हन्त भगवान् का ध्यान करने योग्य स्वरूप, इसी प्रसङ्ग में 'वैशेषिक, सांख्य व बौद्धदर्शन की मुक्ति-मीमांसा करके उक्त तीनों दार्शनिकों के निर्वाण अनेकान्त शैली के अनुसार अलौकिक अर्हन्त भगवान् में प्रकट रूप से विद्यमान हैं' इसका विवेचन, अर्हन्त भगवान का ध्यान करने से लाभ, पूजविधान में व्यन्तरादिक देवताओं को अर्हन्त भगवान् के समान माननेवाला मनुष्य नरकगामी होता है, क्योंकि जिनागम में जिन-शासन की रक्षा के लिए शासन देवताओं की कल्पना की गई है, अतः उन्हें पूजा का एक अंश देकर उनको सम्मानित करना चाहिए, न कि जिनेन्द्रसरीखी अभिषेक-आदि पूजा द्वारा, निष्काम (निःस्पृह) होकर धर्माचरण करने का विधान; पंचनमस्कार मन्त्र के ध्यान की विधि तथा महत्व, इस मन्त्र के ध्यान से समस्त उपद्रव शान्त हो जाते हैं; चूलिका-व्याख्या के कारण लौकिक ध्यान का निरूपण; लौकिक ध्यान की विधि, ध्यान का माहात्म्य;

शङ्का—संसारी जीव शिव (मुक्त) है और शिव संसारी जीव है; इन दोनों में क्या कुछ भेद है ? क्योंकि जीवत्व की अपेक्षा एक हैं, इसका समाधान, आत्मध्यान के विषय में प्रश्न व उत्तर, शरीर और आत्मा की भिन्नता में उदाहरणमाला; जैसे घी मन्थनादि उपाय द्वारा दही से पृथक् कर दिया जाता है वैसे ही यह आत्मा ध्यानादि उपाय से शरीर से पृथक् की जाती है; शरीर साकार और आत्मा निराकार है इसके समर्थन में उदाहरण-माला; आयुरूपी खम्भे पर ठहरा हुआ यह शरीर ही योगियों का गृह है, योगियों का मन इसी आत्मध्यान रूपी बन्धुजनों में क्रीड़ा करता है, इन्द्रियों से प्रेरित आत्मा क्षणभर ध्यान में स्थिर नहीं रहता; अतः धर्मध्यानी को जितेन्द्रिय होना आवश्यक है; आत्मस्वरूप के ध्यान की विधि, पद्मासन, वीरासन और सुखासन का लक्षण और ध्यान की विधि। ४१५-४४०

४० वाँ कल्प

श्रुतपूजा—

४१ वाँ कल्प ४४०-४४२

प्रोषधोपवास का स्वरूप, उपवास की विधि, उपवास के दिन का कर्त्तव्य, उपवास के दिन आरम्भ के त्याग का विधान, प्रोषधोपवास के अतीचार, कायक्लेश के बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती एवं चारित्र धारक का माहात्म्य। ४४३-४४४

४२ वाँ कल्प

भोग व परिभोग (उपभोग) का लक्षण करके भोग परिभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप, यम और नियम का लक्षण, प्रस्तुत व्रत को सुरा-आदि के भक्षण का निषेध, भोगपरिभोगव्रत के अतीचार और इस व्रत से लाभ ४४४-४४५

४३ वाँ कल्प

दान का स्वरूप, दान में विशेषता का कारण, दाता, पात्र, विधि और द्रव्य का स्वरूप, सज्जन दाताओं के धन-वितरण के तीन उद्देश्य, दान के चार भेद, चारों दानों का फल, सबसे प्रथम अभयदान देने का विधान, उसकी प्रशंसा, साधुओं के लिए आहार-दान देना, नवधा भक्ति, दाता के सात गुण, दाता के विज्ञानगुण का लक्षण, किनके गृहों में साधु वर्ग को आहार-ग्रहण नहीं करना चाहिए ? गृहस्थ को दान-पुण्यादि धार्मिक कार्य स्वयं करना चाहिए, स्वयं धर्म करने का फल, मुनियों के आहार-ग्रहण के अयोग्य गृह, जिनदीक्षा तथा आहारदान के योग्य वर्ण, पात्र-(दान) पंचक करना चाहिए, कलिकाल में मुनियों के दर्शन की दुर्लभता, आधुनिक मुनियों को पूर्वकालीन मुनि-सरीखे समझकर पूजना चाहिए, पात्र के तीन भेद, अपात्र का लक्षण और उसे दान देना व्यर्थ, पात्र-दान से पुण्य, मिथ्यादृष्टि को केवल करुणा बुद्धि से ही कुछ देना चाहिए, बौद्ध व नास्तिक-आदि के साथ संबंध-विच्छेद, अन्य तरह से पात्रों के पाँच भेद और उनका स्वरूप, समयी आदि का लक्षण और उन्हें दान देने की प्रेरणा, जिस साधु में ज्ञान और तप नहीं है, वह तो केवल संघ का स्थान भरने वाला है। योगियों के विनय करने की

विधि, गुरु के निकट त्याज्य व्यवहार, आहार-दान के लिए साधुओं की परीक्षा करने का निषेध, गुणों की विशेषता से साधु की पूज्यता में विशेषता, साधर्मी के लिए धन-खर्च करना चाहिए।

जैनधर्म अनेक पुरुषों के आश्रय से ठहरा हुआ है, साधुओं के नाम-आदि निक्षेप की अपेक्षा चार भेद, नामादि निक्षेपों का लक्षण, राजसदान, तामसदान का लक्षण, सात्विक दान का लक्षण, उत्तम, मध्यम, जघन्य दान, भक्तिपूर्वक शाक-पात का दान भी प्रचुर पुण्य का कारण, आहार-बेला में मौन रखने का आदेश, मौनव्रत से लाभ, रुग्ण साधुओं की परिचर्या, श्रुत के पाठकों और व्याख्याताओं के लिए निवास-स्थान, शास्त्र व आहारादि की सुविधा देना, क्योंकि उनके अभाव में श्रुत का विच्छेद हो जायगा, मुनियों को श्रुत के विद्वान् बनाना चाहिए, श्रुत का माहात्म्य, ज्ञान की दुर्लभता, महत्ता, अज्ञानी और ज्ञानी में अन्तर, ज्ञान के बिना पुरुष अन्धा-सा है, प्रत्येक शास्त्र में स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलङ्कार और वर्णन किया हुआ विषय होता है, और स्वरूप-आदि के दो दो भेद, मुनिदान के अतीचार, मुनियों को नमस्कार-आदि करने से लाभ
४४५-४६१

४४ वाँ कल्प

श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाएं, पूर्व प्रतिमाओं के चारित्र को पालन करने में स्थित होकर आगे-आगे की प्रतिमाओं का चारित्र पालन करना चाहिए। एवं समस्त प्रतिमाओं में रत्नत्रय की भावनाएं एकसरीखी कही गई हैं, ग्यारह प्रतिमाओं के नामधारकों में संज्ञाभेद, जितेन्द्रिय, क्षपण, श्रमण, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, मुनि, यति, अनगार, शुचि, निर्मम, मुमुक्षु, शंसितव्रत, वाचंयम, अनूचान, अनाश्वान्, योगी, पंचाग्निसाधक, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, शिखाच्छेदी, परमहंस, तपस्वी, अतिथि, दीक्षितात्मा, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अध्वर्यु, व ब्राह्मण इन मुनियों के नामों की युक्तिपूर्वक निरुक्ति और इसी प्रसङ्ग में यथार्थ वेद व यथार्थ अग्निविद्या की निरुक्ति, धर्म से युक्त जाति-श्रेष्ठ है, शैव, बौद्ध, सांख्य और द्विज की निरुक्ति व स्वरूप, दान के अपात्र व्यक्ति, देशविरत और सर्वविरत की अपेक्षा से भिक्षा के चार भेद
४६१-४६६

४५ वाँ कल्प

शरीर को विनाशोन्मुख जानकर समाधिमरण करना चाहिए, शरीर-त्याग करना आश्चर्यजनक नहीं किन्तु संयम धारण आश्चर्यजनक है, अतः विनश्वर शरीर के नष्ट होने में शोक नहीं करना चाहिए, शरीर, स्वयं समाधि के समय की सूचित कर देता है, जब मानवों को यम-दूती-सी वृद्धावस्था आजाय तब उन्हें जीवन की लालसा क्यों करनी चाहिए? समाधिमरण की विधि, यदि अन्त समय मन मलिन हो गया, तो जीवनपर्यन्त किया हुआ धर्माराधन व्यर्थ है, क्रमशः अन्न का त्याग कर दूध व मट्ठा रख लेवे पुनः उन्हें भी छोड़कर गर्मजल रख लेवे।

पश्चात् सब कुछ छोड़ देवे, अचानक मृत्यु आने पर यह क्रम नहीं, आचार्य-आदि कुशल हों तो समाधि में कठिनता नहीं होती, सल्लेखना के अतीचार, समाधिमरण से लाभ
४६७-४७०

प्रकीर्णक का लक्षण, धर्मकथा करने का पात्र, तत्वज्ञान में बाधक दोष, संशयालु की असफलता, आठ मद, घमण्ड में आकर साधर्मी जनों का निन्दक धर्मघाती है, गृहस्थ के छह धार्मिक कर्त्तव्य, देवपूजा की क्रमिक विधि (षडक्रियाएं), कल्याण-प्राप्ति के उपाय, शिष्य-कर्तव्य, स्वाध्याय का स्वरूप, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानु योग का स्वरूप, जीवसमास, योग, गुणस्थान व मार्गणा इनके प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद, चारों गतियों में होनेवाले गुण-स्थानों की संख्या, तप के दो लक्षण, संयम का स्वरूप, कषाय की निरुक्ति और भेदों का लक्षण, अनन्तानुबन्धि कषाय—सम्यक्त्व की घातक, अप्रत्याख्यान—देशव्रत की घातक प्रत्याख्यान-संयम की घातक और संज्वलन—यथाख्यात चारित्र की घातक क्रोध, मान, माया व लोभ के शक्ति की अपेक्षा चार-चार भेद और उनके कार्य, क्रोध का दुष्परिणाम, मान, माया और लोभ से हानि, संयम रूपी चीलों द्वारा क्रोध-आदि कषाय रूपी शल्यों को निकालने का उपदेश, जितेन्द्रिय होने का उपदेश, विषय विष के तुल्य हैं, व्रती-कर्तव्य, वैराग्य का स्वरूप, तत्त्वचिन्तन का स्वरूप, नियम व यम ४७०-४७८

इसप्रकार सुदत्ताचार्य द्वारा गृहस्थ-धर्म कहा जाना और चण्डमारी देवी, मारिदत्त महाराज व नगरवासी जनों

द्वारा अपनी योग्यता के अनुरूप धर्म: ग्रहण किया जाना और क्षुल्लक जोड़े द्वारा कुमारकाल व्यतीत करके मुनिधर्म व आर्यिका-धर्म ग्रहण किया जाना, क्षुल्लक जोड़े द्वारा समाधिमरण करके दूसरे ऐशान कल्प नामक स्वर्ग में जन्म लेना और श्रावकधर्म धारण किये हुए मारिदत्त राजा द्वारा उसी तरह स्वर्गलक्ष्मी का विलास प्राप्त किया जाना और चण्डमारी देवी द्वारा आचार्य को नमस्कार करके अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शनार्थ प्रस्थान किया जाना ४७६

श्रीसुदत्ताचार्य द्वारा सिद्धवर कूट पर धर्म ध्यान करके लान्तव नामके सातवें स्वर्ग में समस्त देवों के नेता देव होना।

श्रीसुदत्ताचार्य से धर्म ग्रहण करने वाले दूसरे यशोमति कुमार-आदि का देवेन्द्र होना ४८०

ग्रन्थकार की कामना, इस अष्ट सहस्री प्रमाण वाले यशस्तिलक के अध्ययन का फल, ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति, रच्छुक नाम के लेखक का परिचय, ग्रन्थकर्ता का समय व स्थान, 'यशस्तिलक' महाकाव्य की चौदह वस्तुएँ ४८०-४८२

अन्त्य मंगल व आत्मपरिचय ४८३-४८४

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः (परि० नं० १) ४८५-४९७

अप्रयुक्त-क्लिष्टतम-शब्द-निघण्टु: (परि० नं० २) ४९८-५२८

धन्यवाद व शुद्धि पत्र ५२९-५३२

— :०: —

ॐ

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यम्

उत्तरखण्डम्

यशस्तिलकदीपिका-नाम भाषाटीकासमेतम्

चतुर्थ आश्वास

श्रीमानस्ति समस्तवस्तुविषयव्यापारपारंगमः पारेऽशेषतमः पयोधि कृतधीर्मध्ये गुणाम्भोनिधिः ।
किं चान्यद्भुवनत्रयस्य पतयो यस्मिन्नवाप्तोदये जायन्ते प्रतिहारका इव पुरश्छत्रत्रयं बिभ्रतः ॥ १ ॥
तद्ध्यानद्विषि जातकल्मषमुषि प्रादुर्भवज्ज्योतिषि त्रैलोक्यक्षुभि दत्तयात्रककुभि स्वर्गिस्मृतानुष्टुभि ।
यस्मिन्नच्युति सर्वलोकमहति स्तोत्रोन्मुखश्रीकृति श्रेयोभाजनतां जनः परमगात्स स्ताच्छ्रिये वो जिनः ॥ २ ॥

अनुवादक का मङ्गलाचरण

जो हैं मोक्षमार्ग के नेता, अरु रागादि विजेता हैं।
जिनके पूर्णज्ञान-दर्पण में, जग प्रतिभासित होता है॥
जिनने कर्म-शत्रु-विध्वंसक, धर्मतीर्थ दरशाया है।
ऐसे श्रीऋषभादि प्रभु को, शत-शत शीश झुकाया है॥ १॥

जो अन्तरङ्ग लक्ष्मी—अनन्तज्ञानादि व बहिरङ्ग लक्ष्मी—समवसरणादि विभूति से अलंकृत हैं जो समस्त जीवादि तत्वों के प्रत्यक्ष जानने में पारगामी हैं, जो समस्त अज्ञानसमुद्र से दूरवर्ती हैं, पूर्वजन्म में बांधी हुई तीर्थङ्कर प्रकृति के कारण जो सार्थक नामवाले (तीर्थङ्कर) हैं, जो अनन्तज्ञानादि गुणरूप समुद्र के मध्य में वर्तमान हैं तथा केवलज्ञानादि लक्ष्मी के प्राप्त होने पर जिनके मस्तक पर तीन लोक के स्वामी (इन्द्र व धरणेन्द्रादि) तीन छत्र धारण करते हुए सेवकों-सरीखे आचरण करते हैं, ऐसे ऋषभदेव तीर्थङ्कर भगवान् आप लोगों को स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए होवें[1] ॥ १ ॥

जिनके धर्मसाम्राज्य में समस्त लोक निश्चय से शाश्वत कल्याण परम्परा को प्राप्त हुआ। जिनकी शुक्लध्यानरूप ज्योति समस्त कर्मों को समूल नष्ट करनेवाली है। जो पाप कर्मों को नष्ट करनेवाले हुए हैं अर्थात्—जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का तथा नामकर्म की सोलह प्रकृतियों का क्षय किया है। जिनकी विशुद्ध आत्मा में केवलज्ञानरूप तेज उत्पन्न होरहा है। अर्थात् घातिया कर्मसंघात के घातने पर जिनके केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, जिससे तीन लोक में संचलन—आसनादि-कम्पन हुआ है, अर्थात् केवल ज्ञान प्रकट होने के अवसर पर इन्द्रादिकों के आसन कम्पायमान होते हैं

---

१. रूपक उपमालंकार।

अहो स्वकीयप्रतापोद्रेकमुद्रितसमस्तसमुद्र कुवलयानन्दनचन्द्र, अन्यदा तु वियद्वनविकासोद्वेल्लत्ककेलिपल्लवोल्लासलालसे गगनकाननप्रबोधप्रधावितधातकीप्रसवपेशलरुचिषि प्रचेतःपुरकान्तारस्मेरताम्रचूलककुलप्रसूनसंदोहसुन्दरे त्रिदिवोद्यानान्तरालनिलीनोन्मीलल्लाङ्गलीलतान्तकान्तरुचि पश्चिमाचलस्थलविलासिनीशिखण्डमण्डनोत्तंसविकसत्काश्मीरकुसुमकेसरासरालाभोगभङ्गौ अहर्पतिपथानुसारिदिवसलक्ष्मीपिण्डालक्तकरसप्रसाधितचरणमार्गनिर्गमद्युति खरकरानुव्रजनपराम्बरचरचमूरचितारुणमणिविमानप्रभापटलतुलने त्रिपुरदहाजितधूर्जटिनिटिललोचनानलज्वलद्दानवनगरनीराजिनि सुरासुरसमरमेदिनीप्रवहद्रुधिरपूरप्रकाशिनि दिनकृत्करकृपाणपातितदैत्यचिताचक्रवालानुकूले मातृमण्डलक्रीडाकीलालकुण्डकान्तिनिकेतिनि रविरथतुरगवेगखरखुरोत्खातास्तमस्तकमनःशिलाधूलिलीले चण्डीशताण्डवाडम्बरावसरसुरप्रसारितसुवर्णमण्डपभ्रमिणि

और जिससे स्वर्गलोक में घण्टानाद-आदि होते हैं। जिनके केवलज्ञान कल्याणक की पूजा के लिए देवों ने अनेक दिशाओं में गमन किया है। जिनकी अनेक इन्द्रादिकों द्वारा समवसरण में विशेष श्रद्धापूर्वक अनुष्टुप् आदि छन्दों से स्तुति की गई है। जो निश्चलता को प्राप्त हुए हैं, अर्थात्—विहार करने के बाद योग-निरोध हो जाने से जो निश्चल हुए हैं। जो समस्त लोकों के परमगुरु हो जाते हैं, अर्थात् अर्हन्त अवस्था के बाद जिन्होंने सिद्ध पदवी प्राप्त की है एवं जो स्तुति करने में उत्कण्ठा रखनेवाले इन्द्रादिकों के लिए लक्ष्मी उत्पन्न करनेवाले हैं, अर्थात् जिनका निर्वाण कल्याणक इन्द्रादिकों द्वारा विशेष उल्लासपूर्वक मनाया गया है ऐसे वे जिनेन्द्र प्रभु आप लोगों के लिए स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए होवें[1] ॥ २ ॥

अपनी प्रताप की विशेषता से चारों समुद्रों को चिह्नित करनेवाले व कुवलय (पृथिवी मण्डल) को उसप्रकार आनन्दित करनेवाले जिसप्रकार चन्द्रमा कुवलयों-चन्द्र विकासी कमलों को आनन्दित (प्रफुल्लित) करता है, ऐसे हे मारिदत्त महाराज! अन्य अवसर पर मैं भी (यशोधर महाराज), पैदल मार्ग से ही सब अमृतमति महादेवी के महल द्वार पर प्राप्त हुआ, जब ऐसा संध्या कालीन लालिमा का तेज प्रकट हो रहा था। जिसकी उत्कट अभिलाषा, आकाशरूपी वन के विकास से कम्पित होते हुए अशोक वृक्ष के पल्लवों के प्रफुल्लित करने में है। जिसकी कान्ति आकाशरूपी वन के उद्योत के लिए शीघ्र गमनशील धातकी पुष्पों-सरीखी मनोज्ञ है। जो ऐसे पलाश पुष्पों के समूह-सरीखा मनोज्ञ है, जो कि वरुण नगर के वन के विकास में प्रगुण (प्रचुर) हैं। जिसकी कान्ति, स्वर्ग के बगीचे के मध्य में स्थित हुई व विकसित होने वाली जल पिप्पली (जल पीपल) के पुष्पों सरीखी (लालिमा-युक्त) मनोहर है। जिसकी रचना, अस्ताचल के स्थल पर स्थित हुई कमनीय कामिनियों के मस्तक को अलङ्कृत करने वाले मुकुट पर विकसित होते हुए केसर पुष्पों की पराग के प्रचुर विस्तार सरीखी है। जिसकी कान्ति सूर्य के मार्ग का अनुसरण करनेवाली दिवस लक्ष्मी के पिण्डभूत लाक्षारस से सुशोभित हुए चरणों के मार्ग-निर्गम सरीखी है।

जिसकी तुलना सूर्य के पीछे गमन करने में तत्पर हुई देवसेना द्वारा निर्मित हुए पद्मराग मणि के विमानों की कान्ति-समूह से होती है। जिसके समीप उन दानव नगरों (त्रिपुर-पुरों) की सदृशता है, जो कि त्रिपुर नाम के दैत्य विशेष को भस्मीभूत करने में अप्रतिहत व्यापारशाली श्री महादेव के ललाट पर स्थित हुई तृतीय नेत्र की अग्नि द्वारा जल रहे थे। जो, देव और दानवों की युद्धभूमि पर बहते हुए रुधिरपूर सरीखा प्रकाशशील है। जो सूर्य के हस्त पर वर्तमान तलवार द्वारा मारे हुए दैत्यों की मृतकाग्नि के मण्डल-सरीखा है। जिसकी तुलना मातृमण्डल की क्रीड़ा के रुधिर कुण्ड की कान्ति के साथ होती है। जिसमें उस अस्ताचल पर्वत के शिखर की मैनशिल सम्बन्धी धूलि की शोभा वर्तमान है, जो कि सूर्य-रथ के घोड़ों की वेगशाली तीव्रतर टापों से उठी हुई थी। जिसमें श्री महादेव के ताण्डव नृत्य के आडम्बर (विस्तार) के अवसर

---

१. अतिशयालंकार।

समस्तमालारामप्रथमतराविर्भूतकिशलयस्तम्बाडम्बरे अपरगिरिशिखराश्रयाश्रमावासतापसावसितार्द्रवसनधातुजलपाटलपट-प्रतानस्पृशि पूर्वतराकूपारतीरावतरत्तपनस्यन्दनातिथेयक्रियोत्सालजलधिजलदेवताप्रकल्पितप्रवालाङ्कुरोपचारव्यतिकरे सकल-विषयिवश्यतावेशविजृम्भिष्यमाणमनसिजैश्वर्यपर्याप्तपत्रसिन्दूरमुद्रोद्रेकरोचिषि नवयौवनरसवशाङ्गनापयोधरभराविर्भविष्यन्न-वमदुमकन्दलकदम्बविडम्बिनि रतिकलहकृतिकुतूहलबहलविलासिजनसैनिकशृङ्गारसंगरसंभावनोत्तरङ्गान्तरङ्गानङ्गविस्तारि-तातिरिक्तसंकेतकेतुकमनीये मिथुनचरसङ्गरागापहारादिव वरदकन्दरपरागसंगमादिव दाडिमीकुसुमकुड्मलपरिमलनादिव द्युनदीतीरतपोधनोन्मुक्तरक्तचन्दनवन्दनादिव कनककेतकीरजोरञ्जनादिव वृक्षोत्पलमञ्जरीमकरन्दस्पन्दादिव च नितान्तं लोहितायति निजारुणिमरञ्जितवरुणपुरपुरंध्रिकाधरदले सति संध्यारागमहसि,

तरसरसिकराक्षसक्षोभसमीक्षणसंरम्भकबुद्धिनहृदयरक्षापेक्षणादिव अधोक्षजविपक्षोत्क्षीवदानवावस्कन्दभीते-

---

पर देवों द्वारा फैलाए हुए सुवर्ण मण्डप की शोभा वर्तमान है। जिसका विस्तार अन्धकाररूपी तमाल वृक्षों के वन से पूर्व में ही प्रकट हुए पल्लवोंके समूह-सरीखा है। जो, अस्ताचल पर्वत की शिखर पर आश्रय वाले निवास गृहों में रहने वाले तपस्वियों के गीले व चँदेवारूप किये गए (सुखाने के लिए फैलाए हुए) तथा गेरु के जल से लाल किये हुए वस्त्रों के विस्तार की सदृशता धारण करता है।

जिसमें समुद्र की जल देवताओं द्वारा, जो कि पश्चिम समुद्र के तटपर आते हुए सूर्यरथ की अतिथि सत्कार-क्रिया में उत्कण्ठित हो रहे थे, रची हुई पल्लवाङ्कुरों की पूजा की तुलना पाई जाती है। जिसकी कान्ति समस्त कामी पुरुषों के वशीकरण प्रदेश पर फैलने वाली कामदेव की लक्ष्मी के परिपूर्ण लेख में स्थित हुए सिन्दूर-चिह्न की प्रचुरता-सरीखी है। जो उन कन्दलरूपी वृक्ष के नये अङ्कुर-समूह को तिरस्कृत करता है, जो कि नई जवानी के रस में पराधीन हुई कमनीय कामिनियों के कुचकलशों के भार से प्रकट हो रहे थे। जो ऐसे मन में स्थित हुए कामदेव द्वारा फैलाई हुईं विशेष लालिमा वाली संकेत ध्वजाओं-सरीखा मनोहर है, जो कि कामी पुरुषों के समूहरूपी सैनिकों के रति क्रीड़ा युद्ध की, जो कि रति क्रीड़ा सम्बन्धी कलह विधान में विशेष कौतुक करता है, विशेष रुचि में उत्कट है। जो विशेष विस्तृत लालिमा-युक्त होने से ऐसा मालूम पड़ता था—मानों रात्रि निकट होने के कारण चकवा-चकवी पक्षियों का वियोग हो जाने से उनके राग का अपहरण करने से ही मानों विशेष लालिमा-युक्त हुआ है। अथवा जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों हिंगुल व गुफाओं सम्बन्धी परागों के संगम से ही ऐसा हुआ है। अथवा ऐसा मालूम पड़ता था—मानों दाड़िम वृक्ष के फूलों की कलियों के विमर्दन से ही ऐसा हुआ है। अथवा मानों—गङ्गा नदी के तटों पर वर्तमान तपस्वियों द्वारा सूर्य की पूजा के लिए ऊपर फेंके हुए लाल चन्दन के सङ्गम से ही ऐसा हुआ है। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों धतूरा अथवा टेसू अथवा नाग केसर तथा केतकी के पुष्पों की पराग सम्बन्धी लालिमा के संयोग से ही ऐसा हुआ है। अथवा मानों—कर्णिकार वृक्षों की पुष्प मञ्जरियों के पुष्प रस के क्षरण से ऐसा हुआ है और जिसने अपनी लालिमा द्वारा पश्चिम दिक्पाल-नगर की कमनीय कामिनियों के ओष्ठदल रञ्जित किये हैं।[1]

इसी प्रकार जब स्थल कमलों के समूह की पत्र-श्रेणी संकुचित हो रही थी, इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कच्चे मांस की आकांक्षा करनेवाले राक्षसों से उत्पन्न हुए क्षोभ के देखने से विशेष लालिमा-युक्त अपने हृदयों के संरक्षण की आकांक्षा से ही मानों अपने पत्र-समूह संकुचित कर रहे थे। अर्थात् मानों—स्थल कमलों ने ऐसा विचार किया कि 'हमारे हृदय लाल हैं, इसलिए कहीं राक्षस उन्हें मांस समझकर भक्षण न कर लें' इस प्रकार की शंका से ही मानों—कमलों ने अपने हृदयों का संवरण (संकोच) कर लिया था।[2]

अथवा मानों—श्री नारायण के शत्रुभूत व विशेष अभिमानी दानवों की रात्रि संबंधी बाधा के भय

---

१. उत्प्रेक्षालंकारः। २. उत्प्रेक्षालंकारः।

दितिसुतशत्रुकलत्रपरित्राणचरित्रेणेव जराजिह्मब्रह्मासनस्खलनसंभावनया सर्वतस्तदवष्टम्भसंभ्रमादिव च संकोचोदञ्चत्पुटप्रकाण्डे स्थलनलिनखण्डे, अतिमात्रवारुणीसमागमादिव मन्दरगिरिशिखरजवनिकाभिवेदितसर्वानवसरेऽपि घनघुसृणारुणितसुरपुरन्ध्रीकपोलच्छविनि विताप्यमानतपनीयतलिकाकृतिमनोहरे भुवनान्तरप्रयाणकर्मणि पुनर्दर्शनादरादिव कमलिनीकुलकुड्मलप्रणामकृताञ्जलिकारके तमीरातिमण्डले, पुनरावृत्तिभयात्तदवतरणपथमुद्वीक्षितुमिव विनतविश्वंभराभावकाशदेशरोहिणि महीरुहगहनानि श्रितवति दरजरच्चिकुरनिकुरम्बानुकारिणि तिमिरनिकरे, चीवरोपरागनिरतान्तःकरणेनापरगिरिशिखरान्तरविहारिणा मुनिकुमारनिकायेन करचापलादिव परिमुषितबहलतरपाटलिम्नि पुनर्मुहूर्तमात्रमतिपुराणकपिलपनलीलातुल्यतामनुशील्य क्षणादुपशान्तवयसि समस्तसंध्यारागतेजसि, सुरनदीसंभेदरेखारुचिकान्तेषु च समन्ततो वियत्पर्यन्तेषु, बहुलीभवन्तीष्विव च योषितामलकधूपधूमेषु, वलयितास्विवावतंसकुवलयेषु, स्खलितवेगास्विव कृष्णागुरुपञ्जरितकर्णपालीषु,

से श्रीनारायण की पत्नी (लक्ष्मी) के संरक्षण के लिए मानों स्थल कमल समूह की पत्र-श्रेणी संकुचित होरही थी। अथवा मानों—वृद्धता के कारण शक्तिहीन हो रहे गरुड़ से [illegible] की रक्षा करने के उद्देश्य से ही समस्त दिशाओं में उनको थांभने के लिए (वृद्ध होने के कारण कहीं गिर न जावें) इस प्रकार का आदर करने के कारण से ही मानों स्थल कमल समूह की पत्र-श्रेणी संकुचित हो रही थी। इसीप्रकार जब सूर्य इसप्रकार का हो रहा था। अस्ताचल की शिखररूपी जवनिका (पर्दा) द्वारा जिसने समस्त लोक को अनवसर (अप्रस्ताव) सूचित किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता था—मानों विशेष मात्रा में वारुणी-समागम (मद्यपान पक्षान्तर में पश्चिम दिशा का आश्रय) करने से ही उसने समस्त लोक को अनवसर सूचित किया था। इसीप्रकार जिसकी कान्ति प्रचुर केसर रस से अव्यक्त लाल किये हुए सुर-सुन्दरियों (देवियों) के गालों जैसी थी।

इसी प्रकार जो अग्निमें तपाई हुई सुवर्णमयी कड़ाही की आकृति सरीखा मनोज्ञ था। जिसका प्रस्थान कर्म अपर विदेहक्षेत्र में हो रहा था और 'पुनर्दर्शन हो', इस आदरसे ही मानों—कमलिनियोंके वन की अधखिली कलियाँ ही जिसके लिए प्रणामाञ्जलि करने वाली थी।[1]

इसी प्रकार जब अन्धकार-समूह ऐसे वृक्षों के वनों में प्रविष्ट होचुका था, जो कि नीची पृथिवी के अवकाश प्रदेशों में उत्पन्न हो रहे थे। इसलिए जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—'श्री सूर्य पुनः आवेगा' इस भय से उसके आगमन-मार्ग को बार-बार या छिप-छिप करके देखने के लिए ही मानों—वह वृक्षों के वनों में प्रविष्ट हुआ था। इसी प्रकार जो कुछ शुभ्र केश-समूह की सदृशता धारण कर रहा था[2]।

इसी प्रकार जब ऐसा समस्त संध्याकालीन लालिमा का तेज, अल्पकालमें अत्यन्त जरा (वृद्धावस्था) से जीर्ण हुए बन्दर की मुख-शोभा को सदृशता का अभ्यास करके क्षण भर में नष्ट तारुण्यशाली (मन्द तेजवाला) हो रहा था। इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसकी प्रचुर लालिमा, ऐसे मुनिकुमार-समूह द्वारा हस्त की चपलता से ही चुराई गई थी, जिसका मन गेरुआ रक्तवस्त्र की रक्तता में तत्पर (भ्रान्ति प्राप्त) है और जो अस्ताचल की शिखरों के मध्य भागों पर विहार करनेवाला है, इसी कारण से मन्द तेजवाला हुआ है[3]।

इसी प्रकार जब निम्नप्रकार की घटनाएँ घट रही थीं तब मैं अमृतमति महादेवी के महल-द्वार पर आया।

जब सर्वत्र आकाश के प्रान्त भाग गङ्गा-यमुना के सङ्गम की आवली की शोभा-सरीखे मनोहर हो रहे थे। अर्थात् कुछ दिन शेष होने के कारण जब आकाश के प्रान्त भाग उज्ज्वल व कृष्ण हो रहे थे। जब ऐसी अन्धकार लहरीरूपी समुद्र-लहरियाँ, उसप्रकार प्रचुरतर होकर सुशोभित हो रही थीं जिसप्रकार कमनीय कामिनियों के केशपाश सम्बन्धी धूप के धुआँ प्रचुरतर होते हुए शोभायमान होते हैं। जो, वेष्टन को प्राप्त

१. उत्प्रेक्षालंकारः। २. उत्प्रेक्षालंकारः। ३. उत्प्रेक्षालंकारः।

प्रवृत्तप्रवाहास्विव घुसृणरसविस्फुरितभ्रूलतालेखासु, प्रसरन्तीष्विव लोचनाञ्जनमार्गेषु, स्तिमितायमानास्विव ताम्बूल-कृष्णिकाश्यामलिमाधरदलेषु, घनभावमुपगतास्विव स्तनाभोगलिखितमृगमदपत्रभङ्गेषु, लब्धावकाशास्विव सान्द्रसुर-भितनाभिकुहरेषु, पयोधरपथप्रस्थितास्विव तमालदलधूलिधूसरितरोमराजिनिर्गमेषु, मन्थरप्रकारास्विव मेखलामणिकिङ्किणीजालवचनेषु, विहितावतारास्विव नीलोपलतुलाकोटिषु, मुक्ताफलदन्तुरास्विव निर्माजितचरणनखपरम्परासु, पर्यस्त-विद्रुमवनास्विव यावकपुनरुक्तकान्तिप्रभावेषु पादपल्लवेषु, पूर्वदिगन्तादितस्ततो धावन्तीषु कृष्णलागुरुमलिनरुचिषु तमःपयोधिवीचिषु, सर्वं विष्णुमयं जगदिति सत्यतां नयतीव प्रतिक्षणं कृष्णतां पुष्णति ······ विश्वश्रीत्रिभुवने संजाते च प्रदोषसमये, तदनु कामिनीप्रसाधनेष्विव यथास्थानमुपसरत्सु वनमृगेषु, प्रवसितेष्विव वासराश्रयोन्मुखेषु विकिरनिकरेषु, वारवनितास्विव स्ववासाङ्गणभागिनीषु शार्दूलसमितिषु, कितवकटिश्रेणिष्विव विमुच्यमानेषु संध्योपासनाञ्जलिमुकुलेषु,

---

होती हुई उस प्रकार सुशोभित हो रही थीं जिस प्रकार स्त्रियोंके कर्णपूर सम्बन्धी नील कमल वेष्टन को प्राप्त हुए शोभायमान होते हैं।

जो उस प्रकार निश्चल होती हुई सुशोभित हो रही थीं जिसप्रकार कृष्णागुरु से विलिप्त हुए कर्णों के पर्यन्त भाग निश्चल होते हैं। जो उसप्रकार चलित प्रवाह वाली हैं जिस प्रकार कुंकुम या केसर रस से व्याप्त हुई भुकुटिरूपी लता-पंक्तियाँ चलित प्रवाह वाली होती है। जो उस प्रकार विस्तृत हो रही थीं जिस प्रकार नेत्रों के कज्जल मार्ग विस्तृत होते हैं। जो उस प्रकार निश्चल हो रही थीं जिस प्रकार ताम्बूल की कृष्णता द्वारा कृष्ण किये गए ओष्ठ दल निश्चल होते हैं। जो उस प्रकार कठिनता को प्राप्त हो रही थीं जिस प्रकार विस्तृत कुच कलशों पर लिखी हुई कस्तूरी की पत्ररचना कठिनता प्राप्त करती है। जिन्होंने उस प्रकार प्रवेश प्राप्त किया था जिस प्रकार प्रचुर व सुगन्धी कृत नाभिच्छिद्र प्रवेश प्राप्त करते हैं।

जिन्होंने उस प्रकार पयोधर-पथ (आकाश-मार्ग) में प्रस्थान किया था जिस प्रकार तमाखू के पत्तों की धूलि से धूसरित रोम-राजियों के निर्गम पयोधरपथ (कुच कलशों का मार्ग—वक्षः स्थल) पर प्रस्थान करते हैं।

जो उसप्रकार मन्द गमन के प्रकार से युक्त थीं जिसप्रकार कटिमेखलाओं (करधोनियों) की रत्न-निर्मित क्षुद्र घण्टिकाओं की श्रेणी के अग्रभाग मन्दगमन के प्रकार-युक्त होते हैं। जिन्होंने उसप्रकार प्रवेश प्राप्त किया था जिस प्रकार नील मणियों के नूपुर प्रवेश प्राप्त करते हैं। जो उस प्रकार मुक्ताफल के दाँतों से युक्त थीं, जिस प्रकार निहुनी द्वारा कृश की हुई चरणों की नख परम्पराएँ मुक्ताफल के दाँतों सरीखी शुभ्र होती हैं।

लाक्षारस से द्विगुणित कान्ति प्रभाव वाले चरणों के प्रान्त भागों पर जिनके द्वारा प्रवाल रत्नों के वन गिराए गए हैं, ऐसी सुशोभित हो रही थीं। जो पूर्व दिशा के प्रान्त भाग से यहाँ वहाँ वेग पूर्वक गमन कर रही थीं। इसी प्रकार जो घुँघुची के मुख (अग्र भाग) सरीखी श्याम कान्ति युक्त हैं।[1]

एसी प्रकार जब रजनी मुख (गमन योग्य रात्रि-भाग), समस्त पृथिवी मण्डल पर प्रत्येक क्षण कृष्णता (श्यामता पक्षान्तर में कृष्ण भगवान्) की वृद्धि करता हुआ उत्पन्न हो चुका था। इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों 'समस्त लोक विष्णुमय है' इस बात को सत्यता में ही ले जा रहा है।

तत्पश्चात्—प्रदोष समय के अनन्तर जब वन के हिरण-आदि पशु उस प्रकार अपना-अपना स्थान प्राप्त कर रहे थे जिस प्रकार कमनीय कामिनियों के उवटन-आदि परिकर्म अपना-अपना स्थान प्राप्त करते हैं। जब पक्षियों के समूह उस प्रकार शयन योग्य आश्रय (घोंसला आदि स्थान) में तत्पर हो रहे थे जिस प्रकार पथिक लोग शयन योग्य आश्रय—स्थान प्राप्त करने में तत्पर होते हैं। जब व्याघ्रों की श्रेणियाँ उस प्रकार अपने निवास-अङ्गणों का सेवन कर रही थीं जिस प्रकार वेश्याएँ अपने निवास अङ्गणों का सेवन करती हैं। जब

---

१. उपमालंकारः।

कुमुदकुड्मलेष्विव विघटमानेषु चक्रवाकमिथुनेषु, मुनिग्रन्थदलेष्विव संकोचनोचितेषु पल्लवकलोकपाटोपटेषु, प्रदीपकलिकास्विवोन्मिषन्तीषु विरहिणीनां मदनशिखिशिखासु, सुरभोगिभुजिष्याजनेष्विवाभिनयोन्मुखेषु द्विरदनकुलेषु,

समुच्छलति च पुरदेवतानां प्रासादपरिसरेषु चामरधारिणीनां रणन्मणिमञ्जीरमणितमनोहारिणि मृदङ्गानकशङ्खकोलाहले, मुखरीभवत्सु मथ्यमानेष्वर्णवार्णःस्विवाभ्यर्णतर्णकस्वनाकर्णनोदीर्णेन धेनुध्वानां दीर्घरम्भितरवेण गोपुरमुखेषु, दिग्विजयप्रयाणचरितुमिच्छतामसमशरसैनिकानां दधिचन्दनतिलकेष्विव च नयनविषयतामवतरत्सु नक्षत्रबिम्बेषु, इतश्च पुरस्त्यवनविशि चिरमवेक्षितसुधासूतिसाहाय्यकेन तदासन्नतरागमनविलोकनादिव पुरःसत्वरमुदयगिरिशिखरान्तरालादुच्चलमानेन मदनसैन्येन दलितकर्पूरतरुगर्भधूलिनिकर इव, शिरःपिण्डकण्डूयनमिषोदस्तहस्तेन हरिदन्तिना मुहुर्मुहुरुपरिविकीर्यमाणकरवारिशीकरोत्करागम इव, गगनपुरप्रवेशावसरतः खण्डपरशुचूडामणेः पुरस्तादुडुपुरंध्रिकाभिरवकीर्यमाणलाजाञ्जलिप्रकर इव विभावरीवधूवदनदर्शनायासीदतो निशीथिनीनाथस्यान्तराप्रसारितसितदुकूलमुखपटप्रसर इव,

---

संध्योपासना सम्बन्धी अञ्जलिरूपी फूलों की अविकसित कलियाँ उस प्रकार विमुच्यमान (समाप्त) हो रही थीं जिस प्रकार जुआरी के वस्त्र, संध्या में विमुच्यमान (जोड़े गए—जुए में दाव पर लगाए हुए) होते हैं। जब चकवा-चकवी के जोड़े उस प्रकार विघटमान (वियोग प्राप्त करने वाले) हो रहे थे जिस प्रकार कुमुद पुष्पों (चन्द्र विकासी कमलों) की कलियाँ विघटमान (विकसित) हो रही थीं। जब विद्वानों की पुस्तकों के अवयव उस प्रकार संकोचन (संघाटन—परस्पर छेदन या संकेतन-पलटना) योग्य हो रहे थे जिस प्रकार रात्रि के अवसर पर अगस्ति वृक्ष के पत्ते संकुचित होते हैं। जब विरहिनी स्त्रियों की कामाग्नि की ज्वालाएँ उसप्रकार उद्दीप्त होरही थीं, जिसप्रकार दीपक-कलिकाएँ रात्रि में उद्दीप्त होती हैं एवं जब हाथियों के समूह उस प्रकार अभिनय—पूर्ववृत्तानुकरण में तत्पर हो रहे थे जिस प्रकार कामी देवताओं को वेश्या-श्रेणियाँ अभिनय में उन्मुख—शय्यागमन तत्पर होती हैं।

जब नगर देवताओं के चैत्यालय सम्बन्धी प्राङ्गणों में, मृदङ्ग, ढोल अथवा भेरी व शङ्खबाजों की ध्वनि, जो कि चँवर धारण करने वाली स्त्रियों के शब्द करते हुए रत्नघटित नूपुरों के मणित (रतिकूजित) सरीखी चित्त का अनुरञ्जन करने वाली थी, प्रकट हो रही थी। जब नगर के प्रतोली, द्वार उत्तम गायों की दीर्घ गोध्वनि (रँभाने) के शब्द से, जो कि समीपवर्ती बछड़ों के शब्द श्रवण से उत्कृष्ट है, उस प्रकार शब्दायमान हो रहे थे जिसप्रकार देव व दानवों द्वारा विलोड़न किये जाने वाले समुद्र-जल, शब्दायमान होते हैं और जब दिग्विजय करने के इच्छुक कामदेव सम्बन्धी सैनिकों के दही-मिश्रित चन्दन -तिलक-सरीखे शोभायमान होनेवाले नक्षत्र-मण्डल दृष्टिगोचरता को प्राप्त कर रहे थे।

इसी प्रकार जब एक पार्श्व भाग में पूर्व दिशा में चन्द्रमा का किरण-समूह दृष्टिमार्ग प्राप्त कर रहा था। जो इस प्रकार की (कल्पना) प्राप्त कर रहा था।

जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कामदेव की सेना द्वारा, जो कि [अपने मित्र] चन्द्रमा के निकटतर आगमन के देखने से ही मानों सामने शीघ्र ही उदयाचल की शिखर के मध्यभाग से सन्मुख जा रही थी और जिसने चन्द्रमा की सहायता चिरकाल से चाही है, तोड़े गए कर्पूर वृक्षों की गर्भधूलि की श्रेणी ही है। जो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों—ऐरावत हाथी द्वारा, मस्तक कुम्भों के खुजाने के बहाने से उठाए हुए शुण्डादण्ड से वारवार ऊपर फेंके जाने वाले शुण्डा-जलकणों के समूह का आगमन ही है। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों आकाशरूपी नगर में प्रवेश करते हुए चन्द्रमा के सामने नक्षत्र-कामिनियों द्वारा ऊपर फेंकी जानेवाली लाजाञ्जलियों (आर्द्रतण्डुल-आदि) की श्रेणी ही है। जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों रात्रिरूपी वधू के मुख-दर्शनार्थ आते हुए चन्द्रमा के बीच में फैलाया हुआ (तिरस्करिणी किया हुआ—जवनिका

मित्रसुहृज्जन्मोत्सवविजृम्भितस्य जलराशेश्चटुललहरिकोत्तम्भितफेनपुञ्जोच्छ्रय इव, उष्णकराभितापदुःखितस्य धरणिधरकुटुम्बिग्रामस्य शिशिरकरमहीपतेः प्रसादावलोकनोदय इव, उत्प्रेक्षागर्हति विरहिणीकपोलपाण्डुरे पुरंदरपुरपुरंध्रिकास्मितसितचोरिणि हसितसितपताकांशुकाडम्बरे विडम्बितकेतकीरजःपटलकान्तिनि दृष्टिपथमवतरति सरस्वतीकटाक्षधवलतासराले किरणजाले, ततः प्रथमतरमचिरहतमतङ्गजरुधिरजलजडिमानमुपनेतुमिच्छुना करिवैरिकिशोरकेण मण्डलितसटाचक्रवालहारिणि समीपतराशोकतरुणपल्लवरुचि कपिशकुसुमस्तबकसुन्दरे कुसुम्भांशुकपिहितगौरीपयोधरविडम्बिनि धूर्जटिजटाज्योतिरमन्दमन्दाकिनीडिण्डीरपिण्डहृद्यंगमे पुरुहूतनिकेतकेतुरक्ताञ्चलकलितकलधौतकलशलक्ष्मीलिहि रोहिणीमुखचुम्बनसंगलितजतुरसारुणिताङ्गनिर्माणे क्षणमुपलक्ष्यमाणे, पुनरनतिचिरादेव निकटगतगगनापगातरङ्गसंगमादिव मनसिजोत्सवप्रसाधितसितातपत्ररोचिषि, योषिदोष्ठौषधीनामधरदलेषु रागसंक्रमादिव पितामहमौलिमनोहरत्विषि, निखिलजगद्धामधवलनसुधाकुम्भे रतिविनोदविद्योपदेशिनि, मदनद्विरदमदोद्दीपनपिण्डे, सुरतश्रमाम्भःकणलुण्ठिनि, पौलोमीविलास-

---

पड़दा) उज्वल रेशमी वस्त्र का विस्तृत मुखवस्त्र ही है। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—अपने मित्र चन्द्रमा के जन्मोत्सव से विशेष प्रमुदित हुए समुद्र की अत्यन्त चञ्चल तरङ्गों द्वारा उठे हुए फेनपुञ्ज की उन्नति ही है। जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों सूर्य के सन्ताप से दुःखी हुए पर्वत सम्बन्धी कृषक-समूह के चन्द्रमारूपी राजा की प्रसन्नता के निरीक्षण का प्रादुर्भाव ही है। जो विरहिणी स्त्री के गालों-सरीखा उज्वल है। जो इन्द्र नगर की कामिनियों के हास्य की उज्वलता को तिरस्कार करने वाला है, अर्थात् उसके सरीखा है। जिसके द्वारा शुभ्र ध्वजाओं का विस्तृत वस्त्र तिरस्कृत किया गया है। जिसने केतकी पुष्पों के पराग-पटल की कान्ति तिरस्कृत की है। इसी प्रकार जो सरस्वती (श्रुत देवता) के नेत्र प्रान्तों की उज्वलता से असराल—अपर्यन्त है।

तदनन्तर जब उदयकाल में चन्द्रमा एक मुहूर्त पर्यन्त इस प्रकार की उत्प्रेक्षा के योग्य हो रहा था—

जो (चन्द्रमा) शीघ्र मारे हुए हाथियोंके रुधिर जल की जड़ता को ग्रहण करने के इच्छुक सिंह-बालक द्वारा कुण्डलाकार किये हुए स्कन्ध के केसर-मण्डल का तिरस्कार करता है, अर्थात् उसकी सदृशता धारण कर रहा है। जिसकी कान्ति (लालिमा) चन्द्र के निकटवर्ती अशोक वृक्षों की नवीन कोंपलों सरीखी है। जो अशोक वृक्ष के पाण्डुर व लाल फूलों के गुच्छों-सरीखा मनोहर है। जो कुसुम्भ (रागद्रव) रंगवाले सूक्ष्म वस्त्र से ढँके हुए गौरी (पार्वती) के कुचकलश को तिरस्कृत कर रहा है। अर्थात् उसके सदृश है। जो श्री महादेव की जटाओं की कान्तियों से प्रचुर हुए गङ्गा नदी के फेनपिण्ड-सरीखा मनोहर है। जो इन्द्र (पूर्व दिशा का स्वामी) के महल पर वर्तमान ध्वजाओं के रक्ताञ्चलों से वेष्टित हुए सुवर्ण अथवा चाँदी के कलश की लक्ष्मी का आस्वादन करनेवाला है। जिसकी शरीर-रचना रोहिणी (चन्द्र-प्रिया) के मुखचुम्बन से निर्गलित हुए लाक्षारस से अव्यक्त लाल की गई है।

फिर शीघ्र ही लाल होने के बाद जिसकी शोभा कामदेव के महोत्सव में धारण किये हुए शुभ्र छत्र-सरीखी हो रही है। अर्थात् जो उज्वलता को प्राप्त हो गया है। इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—समीपवर्ती आकाशगङ्गा की विशाल तरङ्गों के संसर्ग से ही उज्वलता को प्राप्त हुआ था। जिसकी कान्ति ब्रह्माजी के मस्तक सरीखी उज्वल है। इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कमनीय कामिनियों के ओष्ठों में तथा औषधियों के पल्लवों में अपनी लालिमा का संक्रमण (स्थापन) करने के कारण ही वह शुभ्र हो रहा है। मानों—जो समस्त लोकरूपी महल को शुभ्र करने में सुधाकुम्भ (चूना का घड़ा) ही है। जो रति के क्रीड़ा विज्ञान का उपदेष्टा है। जो कामदेवरूपी हाथी के मद के उद्दीपन में जीवन है।

जो स्त्रीसङ्ग के श्रम से उत्पन्न हुए जलकणों का लुण्ठन-शील है। मानों—जो इन्द्राणी का क्रीड़ा-

दर्पणे, क्रमेण च नमुचिरिपुदिगन्तपर्वतानां पादस्थलाङ्गुलीषु नखमणिभूयमुपगम्य संविश्य मेखलासु नायकमणिगणितिमनुभूयोपकण्ठदेशेषु कुण्डलमणिश्रियमाश्रित्य च शिरःश्रेणिषु शिखण्डमण्डनमणिभावं को नु खलु सकलभुवनोपकारबद्धकक्षाणामेकान्तस्थितिबहुलैरेभिरचलैः सह संगमक्रम इति विचिन्त्येवानवरतमुदयाचलाग्रसरसः कलहंस इवाकाशदेशनिःश्रेणिमुपेयुषि कुमुदचक्षुषि, विजृम्भमाणासु च बालसखीष्विव पयोधिवेलानाम्, उपकल्पितपारणास्विव चकोरकुलकामिनीनाम्, उपाध्यायिकास्विव युवतिरतिकैतवानाम्, गतिनियन्त्रणमन्त्रसिद्धिष्विवाभिसारिकाभुजङ्गीनाम्, तिमिरतिरस्कारसितशलाकास्विव च भुवनलोचनमार्गाणाम्, अमृतधौतातसतन्तुसंतानमन्थरायाममिव व्योम निर्मापयन्तीषु शिशिरकरकिरणपरम्परासु, प्रकटीभवति च लोकान्तरादिहानुसरतो रोहिणीपतेर्विरहविनोदनाय निजाङ्गनालिङ्गनव्यतिकरादिव हृदयप्रतिबिम्बितस्तनतमालरसलिखितपत्त्रस्पृहणीये, हंसांसविलग्नशैवलविलासिनि, अपहसितविरहिणीकपोलतलविलम्बमानालकभङ्गे कुमुदोदरलीनालिकुलस्पर्धिनि, मघवन्मातङ्गकटनिकटमदलेखारेखे, सुधासिन्धुप्रफुल्लनीलाम्बुजशङ्किनि,

---

दर्पण है। जिसने अनुक्रम से पूर्व में पूर्व दिशा-सम्बन्धी इन्द्र के और पूर्वदिशा के प्रान्तभाग संबंधी पर्वतों के पादस्थलों (प्रत्यन्त पर्वतस्थलों व पक्षान्तर में चरणस्थलों) की अंगुलियों में मणि-सरीखा नखपना प्राप्त किया था। बाद में मानों—जो, उक्त पर्वतों की कटिनियों में मध्यमणि की गणना में प्रविष्ट हुआ था। इसके बाद—मानों—जिसने उक्त पूर्व दिशा के प्रान्तभाग संबंधी पर्वतों की शिखरों के अधोभूमि-भागों में माणिक्य-सरीखे कुण्डलों की शोभा प्राप्त की थी। इसके बाद जिसने उक्त पर्वतों की मस्तक श्रेणियों में शिरोरत्नपना प्राप्त किया था। फिर जिसने निरन्तर निम्न प्रकार विचार करके 'जिन्होंने समस्त पृथ्वीमण्डल के उपकार करने में प्रीति बाँधी है, उनको सर्वथा स्थिति में प्रचुरता रखनेवाले इन प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले अचलों (दुष्ट पर्वतों) के साथ निश्चय से सङ्गम करने का क्रम क्या उचित है ? अर्थात् नहीं है। जिसनेउस प्रकार आकाश देशरूपी सीढ़ी प्राप्त की थी, जिस प्रकार कलहंस उदयाचल के अग्रसरोवर से उड़कर आकाश प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जब चन्द्रमा की ऐसीं किरण-श्रेणियाँ प्रसरित हो रही थीं, जो समुद्र-तरङ्गों की बाल सखी-सरीखी, चकोर पक्षियों के समूह की कामिनियों के लिए पारणा (व्रतान्त भोजन) देने वाली-सीं, युवति कामिनियों के संभोग कपटों को सिखाने के लिए अध्यापिकाएँ जैसीं, व्यभिचारिणी स्त्रीरूपी सर्पिणियों के गमन को रोकने वाली मन्त्र सिद्धि-सरीखीं, शोभायमान हो रही थीं। जो जगत में स्थित प्राणी-समूह के नेत्र मार्ग में वर्तमान तिमिर नामक नेत्ररोग को नष्ट करने वाली उज्वल शलाकाओं के समान सुशोभित हो रहीं थीं और जो आकाश को इस प्रकार का, जिसकी दीर्घता, अमृत द्वारा उज्वल किये हुए अलसी के तन्तु समूह से मन्दगामी है, निर्मापित करती हुईं सरीखीं सुशोभित हो रही थीं।

इसी प्रकार जब मृग-सरीखा चन्द्र-चिह्न प्रकट हो रहा था। जो कि चन्द्र के हृदय में प्रतिबिम्बित हुई (स्थासक की तरह स्थित हुई) स्तनरूपी तमाल रस से लिखी हुई पत्र रचना-सरीखा मनोहर था। इससे जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों पूर्वविदेह क्षेत्र से इस भरत क्षेत्र पर आते हुए चन्द्र का अपनी प्रिया (रोहिणी) से विरह नाश करने के लिए, अपनी प्रिया रोहिणी के आलिङ्गन के सम्बन्ध से ही मानो जो उक्त प्रकार की पत्र रचना से मनोज्ञ था।[1]

जो हंस के पक्ष-मूल पर लगे हुए शैवाल-सरीखा शोभायमान हो रहा था। जिसने विरहिणी स्त्री के गालों के स्थल पर शोभायमान होते हुए बिखरे हुए केश तिरस्कृत किये हैं। जो कुमुद (चन्द्र विकासी कमल) के मध्य में स्थित हुए भ्रमर-समूह के साथ सदृशता धारण करता है। जिसकी सदृशता इन्द्र के ऐरावत हाथी के गण्डस्थल के उपरितन भाग में वर्तमान दान रेखा के साथ होती है। जिसमें क्षीर सागर में विकसित

---

१. उत्प्रेक्षालंकार।

प्रसूनस्तबकान्तरोद्गतहरितच्छदच्छायामस्पृशि लाञ्छने,

न खल्वसमानविग्रहः पुरुषाणामनारभ्य कांचिन्महतीमापदमुपशाम्यतीति मनीषयेव निजान्वयबीजसंरक्षणाय परं केषुचिन्नीचावृतगहनप्रकाशदेशेषु निभृत्य स्थितिकुशले च तमःपटले[1], भवत्सु च मधुगन्धलुब्धमधुपसंबाधनिरुध्यमान-विधुदीधितिप्रसरेषु विलासिनामुदवसितवातायनविवरेषु,

करविलम्बितकुसुमसरसौरभसुभगेषु स्रगाजीविनामापणरङ्गभागेषु,

परिवर्तमानकाश्मीरमलयजागुरुपरिमलोद्गारसारेषु सौगन्धिकानां विपणिविस्तारेषु,

ससंभ्रममितस्ततः परिसर्पता संभोगोपकरणाहितादरेण पौरनिकरेण निजविलासदर्शनाहंकारिमनोरथाभिरव-धारितविटमुधाप्रश्नसंकथाभिः स्मरकुरङ्गक्रीडावनस्थलीभिः पण्याङ्गनासमितिभिरात्मपतिसंदिष्टघटनाकुलितहृदयेनाव-धीरितसखीजनसंभाषणोत्तरदानसमयेन संचरता संचारिकानिकायेन च समाकुलेषु समन्ततो राजवीथीमण्डलेषु,

---

हुए नीलकमल-सी उपमा वर्तमान है। इसीप्रकार जो उज्वल पुष्प-गुच्छों के मध्य में उत्पन्न हुए नीलपत्र की शोभा को स्पर्श कर रहा है— उसकी उपमा धारण कर रहा है।

जब अन्धकारपटल 'महान् पुरुषों के साथ युद्ध करता, निश्चय से पुरुषों के ऊपर कोई महान् विपत्ति उत्पन्न किये बिना शान्त नहीं होता' इसप्रकार की बुद्धि से ही मानों—अपने वंशबीज (अन्धकार) की रक्षा के लिए केवल ऐसे प्रदेशों में, जो कि नीचे, ढँके हुए, गहन व सूर्यादि-तेज से हीन थे, छिपकर अपनी स्थिति करने में निपुण होरहा था।

जब विलासी पुरुषों के गृह सम्बन्धी झरोखोंके छिद्र, जिनमें मद्य की गन्ध में लुब्ध हुए भँवरों के जमाव द्वारा, चन्द्र-किरणों का प्रसार रोका गया है, ऐसे हो रहे थे।

जब मालाकारों के बाजार के अग्रभाग, हाथों से ऊपर चलाए हुए पुष्पहारों की सुगन्धि से विशेष मनोहर हो रहे थे।

जब सुगन्धि द्रव्य बेंचनेवाले व्यापारियों की दुकानों के विस्तार, पलटे जानेवाले कुङ्कुम, मलयागिर चन्दन, व अगुरु की सुगन्धि के प्रादुर्भावों से अत्यन्त मनोहर हो रहे थे।

जब राजमार्गों की श्रेणियाँ, नागरिक लोक-समूह से, जो कि सादर यहाँ वहाँ चारों ओर जा रहा था व जिसने भोग-सामग्री के उपकरणों (साधनों—ताम्बूल-आदि) में आदर किया था, चारों ओर से व्याप्त हो रही थीं।

जो (राजमार्ग-श्रेणियाँ), वेश्या-समूहों से व्याप्त हो रही थीं, जिनके मनोरथ कामी पुरुषों के लिए अपने हाव-भाव व विभ्रम-आदि दिखाने से अहङ्कार-युक्त हैं, जिन्होंने कामी पुरुषों के निरर्थक प्रश्नों की वार्ताएँ ठीक-ठीक निश्चय की थीं एवं जो कामदेवरूपी हिरण की क्रीड़ा की वनस्थलियाँ हैं।

इसीप्रकार जो, ऐसी दूती-समूह से व्याप्त हो रही थीं, जिसका हृदय, अपने स्वामी द्वारा सिखाई हुई घटना से भरा हुआ है और जिसने सखीजनों के परस्पर भाषण सम्बन्धी प्रत्युत्तर देने का अवसर तिरस्कृत किया है एवं जो विवक्षित गृहों में प्रवेश कर रहा था।

---

१. उत्प्रेक्षालंकारः।

प्रवृत्तासु च दिवसव्यापारद्विगुणितानुरागवेगसृतासु नगरमिथुनानामनङ्गरसरहस्यगोष्ठीषु,

निखिलजनमनोनलिनसंभव सकलभुवनोत्पत्तिप्रजापते रतिरमण प्रियतमाधरामृतवर्षाविग्रहावकाण्डजन्मनः कृशानुकणगर्भानिव करान्विकिरतोऽमुष्मादुत्पातरविमण्डलाच्चन्द्रात्स्वयमेव शुष्कसारःकमलिनीवनादपि कष्टतरमवस्थान्तरमुपगतवति विरहिणीजने किं पञ्चभिरपि बाणैर्भवतः प्रहर्तुं युक्तमिति प्रवासितपथिकवनिताभिरुपालभ्यमाने च कुसुमधनुषि,

अहमपि तदाहो मनसिजातिशायिशरीरपरिकर कामिनीमुखकमलमधुकर विभ्रमविवृक्षयेव विलासिनीनां नयनेषु प्रतिफलन्तीभिः लावण्यरसपिपासयेव कपोलेषु विलुण्ठन्तीभिः चुम्बनाभिलाषयेवाधरेषु परिस्फुरन्तीभिः परामर्शमनीषयेव स्तनतटेषु चोद्दण्डया प्रवृत्ताभिरमृतमरीचिदीधितिभिराज्याहुतिभिरिव संधुक्ष्यमाणमदनदहनः, रतिरहस्यवयस्याभिरिव शिथिलीक्रियमाणमानबन्धनः, प्रस्थापनदूतिकाभिरिव संपाद्यमानप्रियतमासमागमः, कुसुमशरप्रवेशोत्सवपता-

---

जब उज्जयिनी नगरी के स्त्री-पुरुषों के जोड़ों सम्बन्धी कामरस की गोप्यतत्व-वार्ताएँ प्रवृत्त हो रही थीं, जो कि सेवा, कृषि व व्यापार-आदि दैनिक कर्तव्यों द्वारा दुगुने हुए अकृत्रिम स्नेह की उत्कण्ठा से प्रवृत्त हुई थीं।

जब प्रवासी पथिकों की विरहिणी उत्तम नायिकाओं द्वारा, कामदेव निम्नप्रकार से निन्दा-युक्त उलाहना के वचनों में प्राप्त किया जा रहा था। 'हे समस्त लोक के हृदय कमल में उत्पन्न होनेवाले व हे समस्त पृथिवी मण्डल सम्बन्धी उत्पत्ति के प्रजापति (ब्रह्मा) एवं हे रतिवल्लभ !

ऐसी विरहिणी स्त्रियों के समूह पर पाँच बाणों (उन्माद, मोहन, संतापन, शोषण व मारण) द्वारा निष्ठुर प्रहार करने का तेरा यह कार्य क्या उचित है ? जो कि स्वयं शुष्क सरोवर सम्बन्धी कमलिनी-वन से भी कष्टतर अवस्थान्तर को प्राप्त हुआ है और जो इस प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर हुए चन्द्र से, जो विरहिणी स्त्रियों के लिए चन्द्र न होकर उत्पात सम्बन्धी सूर्य-मण्डल है, एवं जिसमें प्रियतम के ओष्ठपान पीयूष की वर्षा का प्रतिबन्ध (वृष्टि रोकना) पाया जाता है एवं जो अग्नि कणों से भरे हुए मध्य प्रदेशों के समान किरणों को फेंक रहा है, विशेष कष्टतर अवस्थान्तर को प्राप्त हुआ है।

कामदेव से भी अतिशयवान् शरीर समुदायवाले तथा कमनीय कामिनियों के मुखरूप कमलों के मकरन्द-आस्वादन करने में भ्रमर-स्वरूप ऐसे हे मारिदत्त महाराज! उस चन्द्रोदय काल में मैं भी, जिसकी कामाग्नि ऐसी चन्द्र किरणों द्वारा उसप्रकार उद्दीपित की जा रही थी जिसप्रकार घी की आहुतियों द्वारा अग्नि उद्दीपित की जाती है, अमृतमति महादेवी के महल-द्वार पर आया, जो (चन्द्रकिरणें), ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—भ्रकुटि-संचालन की शोभा को देखने की इच्छा से ही रसिक कामिनियों के नेत्रों में प्रतिबिम्बित हो रही थीं। जो, लावण्यरूपी रस के पीने की इच्छा से ही मानों—कमनीय कामिनियों के गालोंपर विलुण्ठन कर रही थीं। जो, ओठों के चूँमने की अभिलाषा-बुद्धि से ही मानों—कामिनियों के अधरों पर चमत्कृत हो रही थीं।

जो कुचकलशों के स्पर्श करने की बुद्धि से ही मानों—स्त्रियों के कुच तटों पर दण्डाकाररूप से प्रवृत्त हुई थीं।

जिसका मानबन्धन चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार शिथिल किया जा रहा था जिसप्रकार संभोगक्रीड़ा सम्बन्धी गोप्यतत्व की शिक्षा देनेवाली सखियों द्वारा मानबन्धन शिथिल किया जाता है। जिसे चन्द्रकिरणों

किकाभिरिव सूच्यमानतदाराधनक्रमः, शृङ्गारजलधिविजृम्भमाणवात्याभिरिव प्रसर्पमाणमनःकल्लोलः सुरतसूत्राकर्षण-सूचिभिरिव पूर्यमाणवक्षःस्थलः, प्रतीहारवेत्रलताभिरिव निवेद्यमानसभाविसर्जनकालः,

कोमल एव निशीथिन्याः प्रथमाष्टमभागेऽर्धपरिसमाप्त एव च सेवावसरे विसृज्य भ्रूलतोल्लासेन प्रणामावर्जित-मौलिमणिमकरिकामरीचिपरिवेषपुनरुक्तपादपीठक्षितीन्सामन्तमहीपतीन् अवलोकनप्रसादप्रदानेन मन्त्रिपरिषदम् आलापसंभ्रमेण बलमुख्यान् उपासनोपचारेण पुरोधसम् उपभोगपारितोषिकेण राजकुमारकान् पादवन्दनेन पितृपितामहसंबन्धवतीर्जरतीः अनुगमनविनयेन च गुरून्, आसन्नचरचामरधारिणीभुजशिरसि समर्पितवामबाहुः, अपरकराङ्गुलिनिर्देशेन विनोदवीथी-गृहान्तर्वर्तिनो जनस्य मन्दिराणि दर्शयन्, दृष्टिप्रदानसंभावितान्तःपुररक्षारक्षकलोकः, स्मरनिशितविशिखाग्रभागानिवो-पहसता विडम्बयतेव विद्रुमोद्भेदशिखाडम्बरमुल्लासयतेव सहविहरन्तीनां विलोचनानि विस्तारयतेव दशनरश्मीनुपचिन्व-

---

द्वारा प्रियतमा का समागम उसप्रकार भविष्यमें प्राप्त किया जा रहा है जिसप्रकार वर को प्रियतमा के गृह पर लानेवाली दूतियों द्वारा प्रियतमा का समागम प्राप्त किया जाता है। जिसे चन्द्रकिरणों द्वारा प्रिया की सेवा-परिपाटी उसप्रकार सूचित की जा रही थी जिसप्रकार कामदेवके आगमनके अवसर पर फहराई जाने-वाली महोत्सव-ध्वजाओं द्वारा कामदेव की सेवा-परिपाटी सूचित की जाती है। जिसके चित्तकी संकल्प लक्षण-वाली तरङ्गें चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार फैलाई जारहीं थीं जिसप्रकार शृङ्गारसमुद्र में व्याप्त हुई वायु-मण्डलियों द्वारा चित्त की संकल्पलक्षणवाली तरङ्गें फैलाई जाती हैं। जिसका वक्षःस्थल (हृदयस्थल) प्रस्तुत चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार भरा जा रहा था जिसप्रकार मैथुनतन्तुओं के प्रवेश में समर्थ सुइयों द्वारा मैथुन-वस्त्र का हृदय भरा जाता है और जिसकी सभा का विसर्जनकाल, प्रस्तुत चन्द्रकिरणों द्वारा उसप्रकार ज्ञापित किया जा रहा था जिसप्रकार द्वारपालों की वेंतलताओं द्वारा सभा का विसर्जनकाल सूचित किया जाता है।

जब रात्रिसंबंधी प्रथमप्रहर का मृदु अर्धभाग व्यतीत हो चुका था और जब सेवा का अवसर अर्द्ध-परिसमाप्त हुआ था, अर्थात्—जब मेरी सभा के सदस्यों से आधी भेंट हुई थी तब मैंने सेवा में आए हुए सामन्त नरेन्द्रों को, जिनके द्वारा प्रणाम से नम्रीभूत हुए मुकुटों या मस्तकों पर वर्तमान सुवर्ण-घटित रत्नजड़ित (आभरणविशेषों) की किरणों के मण्डल द्वारा चरणावशेषवाली सिंहासनभूमि द्विगुणित की गई है, भ्रकुटिलता के उल्लास द्वारा विसर्जित किया। इसकेबाद सम्मुख निरीक्षण से व्याप्त हुए वस्त्राभरणादि के समर्पण द्वारा मन्त्री-परिषत् का विसर्जन किया। बाद में सेनापतियों को आभरणों के आदर (दान) द्वारा विसर्जित करके एवं राजपुरोहित को चरणों में नमस्कार करना-आदि सेवा-व्यवहार द्वारा विसर्जित किया। तत्पश्चात् राजपुत्रों को वस्त्राभरणादि उपभोग सामग्री के पारितोषिक-दान द्वारा विदाई करके पिता (यशोर्घमहाराज) तथा पितामह (पिता के पिता—यशोबन्धु-महाराज) से संबंध रखनेवाली वृद्ध स्त्रियों को पादवन्दनपूर्वक विदाई करके गुरुजनों की पीछे गमन तथा पूजनपूर्वक विदाई की। इसके बाद—मैं (यशोधर महाराज), जिसने समीपवर्ती चँवरढोरनेवाली स्त्रियों के स्कन्ध-प्रदेश पर बाँया भुजादण्ड स्थापित किया है, दूसरी हस्ताङ्गुलि के निर्देश (आज्ञा) द्वारा क्रीडागजों के समीपवर्ती जनों (महावत-वगैरह) के लिए गृहस्थान दिखा रहा था। अर्थात्—'आप लोग यहाँ बैठिए' इसप्रकार कह रहा था। और इसके बाद मैंने सन्मुख अवलोकन द्वारा अन्तःपुर संबंधी रक्षक-स्त्रियों का समूह अनुकूल किया।

इसके बाद मैं, कर्पूर व तैल से जलाए हुए व हस्तों द्वारा धारण किये हुए ऐसे दीपक-मण्डल से वेष्टित हुआ। जो कामदेव के तीक्ष्णबाणों के अग्रभागों का उपहास करता हुआ सरीखा सुशोभित हो रहा था। जो प्रवालवृक्ष के अंकुरों के अग्रभागों के विस्तार को तिरस्कृत कर रहा था। जो साथ गमन करती हुई कामिनियों

नेत्राधरदलानि स्पन्दयतेव वदनलावण्यमचमत्कारयतेव वक्षोजमण्डलानि तरलयतेव त्रिवलितरङ्गान् गम्भीरयतेव नाभीकुहराणि दीर्घयतेव नखशुक्तीः समन्तात्प्रभापटलपल्लवितानिव च कुर्वताभरणमणीन् कर्पूरतैलप्रबोधितेन करदीपिकाचक्रवालेन परिवृतः, तारागणमध्यगतः शर्वरीपतिरिव, कल्पवल्लरीप्रवालपरिवारितः सुरतरुरिव, कनककेतकीकुड्मलान्तरालविलासरसः कलहंस इव, तत्कालोचितालापनपेशलनर्मकेलिकिलैर्मुहुर्मुहुरुपगृह्यमाणप्रसादपरम्परः, मदान्धसिन्धुर इव पुरस्सारिदौवारिकनिवेद्यमानमार्गभूमिरवचरणकर्मणैव महादेवीभवनद्वारमुपगतोऽस्मि ।

तस्मिन्नमृतमतिमहादेवीलावण्यशेषादिवोत्पन्नया . भ्रूविजृम्भितेनान्तर्वंशिकानां चापकोटीरिव विफलयन्त्या, नयनविभ्रमेण बाणाडम्बरमिव च निराचक्षाणया, वचनसौष्ठवेन गोपुरपरिघानिव प्रत्याविशन्त्या, स्तनाभोगेन कपाटयुगलमिवापकुर्वाणया, रोमराजिनिर्गमेन वेत्रलतामिवाधिक्षिपन्त्या, ऊरुभारेण तोरणस्तम्भानिव विजयमानया, मेखलाजालेन वन्दनमालामिव पुनरुक्तयन्त्या, चरणनखस्फुरितेन रङ्गावलिमणीनिवासहमानया, वैकक्ष्यकलक्ष्यदक्षिणेतरकक्षान्तरविनि-

---

के नेत्रों को उल्लासित करता हुआ-जैसा व उनकी दन्तकिरणों को विस्तारित करता हुआ-सा तथा उनके ओष्ठपल्लवों को पुष्ट करता हुआ सरीखा शोभायमान हो रहा था। जो साथ जाती हुई स्त्रियों की मुखकान्ति को कुछ संचालित करता हुआ जैसा, एवं उनके स्तन चक्रवालों को चारों ओर से वृद्धिगत करता हुआ जैसा तथा उनकी त्रिवलिरूप तरङ्गों को चञ्चल करता हुआ सरीखा सुशोभित हो रहा था।

जो उनके नाभिच्छिद्रों को गम्भीर करता हुआ जैसा, तथा उनके नखरूपी सीपों को विस्तारित करता हुआ सरीखा सुशोभित हो रहा था और जो साथ जाती हुई स्त्रियों के आभरणों के मणियों को प्रभा-पटलों से उल्लासित करता हुआ जैसा सुशोभित हो रहा था। उस अवसर पर मैं उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार तारागणों के मध्यवर्ती चन्द्र सुशोभित होता है और जिसप्रकार कल्पवेलों से वेष्टित हुआ कल्पवृक्ष सुशोभित होता है एवं जिसप्रकार सुवर्णकेतकी मुकुलों के मध्यवर्ती विलासरसवाला राजहंस सुशोभित होता है। मैं, जिससे अवसरोचित वचन-भाषण में मनोहर नर्म (हँसी मजाक) क्रीड़ा में चतुर पुरुषों द्वारा बारम्बार उचित दानपरम्परा ग्रहण की जा रही है एवं जिसके लिए अग्रेसर द्वारपालों द्वारा मार्गभूमि प्रदर्शित की जा रही थी, मदोन्मत्त हाथी-सरीखा चरणमार्ग से ही अमृतमति महादेवी के द्वारपर आया।

इसके बाद—हे मारिदत्त महाराज! ऐसी द्वारपालिका द्वारा कुछ कालक्षेप कराये जा रहे मैंने, उस 'मनसिजविलासहंसनिवासतामरस' (कामसेवन रूपी हंस की स्थिति के लिए कमल-सरीखा) नाम के राजमहल में वर्तमान पलङ्ग को अलंकृत किया। जो (द्वारपालिका), मानों—अमृतमति महादेवी के लावण्यशेष से उत्पन्न हुई थी, अर्थात्—जो कुछ महादेवी-सरीखी थी। जो भ्रकुटि-संचालनादि व्यापार से रानियों की रक्षार्थ नियुक्त हुए पुरुषों के धनुषसंबंधी अग्रभागों को तिरस्कृत करती हुई सरीखी सुशोभित हो रही थी। जो नेत्रों की शोभा द्वारा उक्त पुरुषों के बाणों के विस्तार को निराकृत करती हुई-सी शोभायमान हो रही थी। जो वचन-चातुर्य द्वारा प्रतोली-द्वार के अर्गलों को निराकृत करती हुई-सी थी। जो स्तनों के उद्घाटन द्वारा दोनों किवाड़ों को उद्घाटित करती हुई-जैसी सुशोभित हो रही थी। जो रोमराजि के दिखाने से रानियों की रक्षार्थ नियुक्त हुए पुरुषों की वेंतलता को तिरस्कृत करती हुई-सरीखी सुशोभित हो रही थी। जो उरुस्थल से तोरणखम्भों को निराकृत करती हुई-सी थी। जो मेखलाजाल (करधोनी) की रचना द्वारा वन्दनमाला को द्विगुणित करती हुई-सी सुशोभित हो रही थी। जो चरण-नखों के तेज द्वारा रङ्गावलि के मणियों को तिरस्कृत करती हुई-सी थी। जिसने वैकक्ष्यक[1] (उत्तरीय वस्त्र) सरीखे दिखाई देनेवाले और दाहिनी व बाईं बगलों के मध्यभागपर

---

१. तदुक्तं—तिर्यग्वक्षसि विक्षिप्तं वस्त्रं वैकक्ष्यकमुच्यते।
सं० टी० पृ० २४ से संकलित—सम्पादक।

क्षिप्तकौक्षेयिकया प्रतापानुगतयेव मन्मथकीर्त्या, भुजगाधिष्ठितयेव कल्पलतिकया, सतडिद्गुणयेव बलाहकमालया, लाञ्छनलेखालंकृतयेव चन्द्रकलया, मधुकरकुलकलितयेव पारिजातमञ्जरिकया, विकृताकल्परामणीयकेन सकुतूहलमवलोकनीयया, निःशेषविषयभाषावेषधिषणया, प्रणयशठभावेनार्धमूर्धप्रणामगलितकर्णावतंसया प्रतीहारपालिकया मनागिवलम्ब्यमानः 'किमकाण्डे कठिनहृदया देवी । यतस्त्वमेवं संवृतासि ।' 'कथयामि । देवस्य किलाद्यापरैव काचित्प्रणयिन्यभूदिति निशम्य देवी महति कोपे कृतावेशास्ते । विज्ञापयत्यपि च मन्मुखेन—देवस्य तयैव पर्याप्तस्तावदलमस्मासु कितवोपचारदर्शिकेन—इति सचाटूकारं देव, देवस्योपरि प्रसादनाय देव्याः पादयोः पतितायास्तवलक्तकाविलं मे भालं किं न पश्यति देवः ।

अपि च—

नयननलिनवानैरेभिरश्रुप्रवाहैः स्तनकलशमुखाग्रन्यस्तधारासहस्रैः ।
सुतनु हृदयमध्यस्थे प्रियेऽस्मिन् भवत्या कथमिह बहिरेषा लक्ष्यते मज्जनश्रीः ।। ३ ।।'

उत्तरीय वस्त्र-जैसे धारण किये हुए खड्गों को धारण किया था। इससे जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—प्रताप-सहित कामदेव की कीर्ति ही है। अथवा मानों—दोनों सापों से वेष्टित हुई चन्दनवल्ली ही है। अथवा मानों—बिजली के गुणसे संयुक्त हुई मेघमाला ही है। जो चन्द्रचिह्न-रेखा से अलंकृत हुई चन्द्रकला-सरीखी व भ्रमर श्रेणी से वेष्टित हुई कल्पवृक्ष की लता-सरीखी सुशोभित हो रही थी। एवं जो खड्गधारण करने से विकृत वेष के सौन्दर्य से कौतुक-सहित निरीक्षण करने योग्य थी। जो समस्त देशों की भाषाओं तथा वेषों में बुद्धि धारण करनेवाली थी। थोड़ा स्नेह दिखाने से थोड़े मस्तक मात्रके नमाने से जिसका कर्णपूर नीचे जमीन पर गिर गया था।

एवं जिसने महारानी के प्रति राजा साहब का योग्य अनुराग जान लिया है तथा 'राजन्! आप विशेष बलवान् हैं, अतः मैं आपको रोकने में समर्थ नहीं हूँ' इसप्रकार कहकर जिसने हास्यपूर्वक गृहका देहली-प्रदेश छोड़ दिया है।

[उक्त महल में वर्तमान पलङ्ग को अलंकृत करने के पूर्व] हे मारिदत्त महाराज! उक्त द्वारपालिका द्वारा कुछ कालक्षेप कराए हुए मैंने उससे कहा—'हे द्वारपालिके! क्या अमृतमति महादेवी असमय में मेरे प्रति कठोर हृदयवाली है? अर्थात्—क्या प्रस्तुत महादेवी का मेरे ऊपर प्रेम नहीं है? जिससे तुम मेरे प्रति इसप्रकार की नमस्कार न करनेवाली व मायाचारिणी हो रहीं हो। उक्त बात को सुनकर द्वारपालिका ने राजा से कहा—

'मैं आपसे कहती हूँ' अर्थात्—आप मेरे वचन सुनिए।

'आज कोई दूसरी ही स्त्री आप से स्नेह प्रकट करनेवाली हुई है'।

इस बात को कहीं से सुनकर आज अमृतमति महादेवी आप से विशेष कुपित-सी हो रही है और मेरे मुख से आपको निम्नप्रकार विज्ञापित करती है।

'आपको वही प्रिया पर्याप्त है, अतः हमारे साथ कुटिलता का बर्तावपूर्ण मायाचार करने से कोई लाभ नहीं।'

'हे राजन्! मेरे, जो कि आपके ऊपर महादेवी को प्रसन्न करने के लिए उसके चरण कमलों में पड़ी थी, ललाट को, जो कि देवी के चरणकमलों में लगे हुए लाक्षारस से लिप्त हुआ है, क्या स्वामी नहीं देख रहे हैं।'

विशेषता यह है कि—

[प्रकरण—हे राजन्! एक अवसर पर मैंने प्रस्तुत महादेवी से कहा था—]

'खदिरिके, मामपि महादेव्यौ प्रत्येवमुपालभेथाः। ननु विदितमेवैतद्देव्या यथा न स्वप्नेऽपि मे विप्रलम्भनकराः काश्चिदपि प्रवृत्तयः। किंतु तवैवेदमशेषं धूर्तविलसितम्। त्वं हि न भवसि सामान्येति किमहं न जाने। कुलागतं च तव परनरप्रतारणे परमनैपुण्यम्। अयमपि च जनो नन्वशेषविटकुट्टिनीचूर्णघटितदेह एव न भवति भवत्याश्चेष्टितानां भूमिः। तदलमत्र मुधाप्रयासेन। गृहाणेदं मुखताम्बूलम्। इतः समागच्छ। भव पुरोवर्तिनी। मा भूरहस्त्रियामयोरिवावयोर्मध्ये संध्येव समागमविलम्बिनी' इति विहितानुगतभाषया, 'बलवानत्र देवः। नाहमलं निवारयितुम्' इति सपरिहासं समुत्सृष्टगृहावग्रहणीदेशया, निषिध्य च तिर्यक्प्रवृत्तकुण्डलमणिकिरणपल्लवितरत्नांशुवलयेनोत्तालतरलाङ्गुलिना हस्तेन मया सहागच्छत्समखिलमनुचरबलमीषद्वाकेकरनिरीक्षणेन मनाक्प्रतिरहस्यगर्भसंभाषणेन च प्रतिपदमुल्लास्यमानमानसः, कक्षान्तराणि वशया वनगज इव च तया नीयमानः, सहेलमन्तःपुरप्रचारिभिरस्मद्दर्शनप्रवृत्तमनोनुरागवेगैः कुब्जवामन-

'हे शोभन शरीरवाली अमृतमति महादेवी! जब यह प्रत्यक्षीभूत तुम्हारा प्राणवल्लभ तुम्हारे हृदय के मध्य स्थित है, अर्थात्—तुम्हारे समीपवर्ती हो रहा है, तब आपके द्वारा इस तुम्हारे शरीर पर यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली ऐसे आँसुओं के प्रवाहों द्वारा, जिनके आदिकारण दोनों नेत्ररूपी तालाब हैं, और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं एवं जिनकी हजारों धाराएँ कुचकलशों के मुखों के अग्रभागों पर व्यापारवाली हैं, होनेवाली स्नानलक्ष्मी बाह्य में क्यों रची जा रही है? भावार्थ—प्रस्तुत द्वारपालिका यशोधर महाराज से कहती है कि हे राजन्! एक अवसर पर मैंने रानी साहब से कहा था—कि हे शोभन शरीरशालिनि! जब तुम्हारा भर्ता तुम्हारे चित्त में स्थित है तब यह रुदनलक्षणवाली स्नानलक्ष्मी तेरे द्वारा क्यों रची जा रही है?'[1] ॥ ३ ॥

[उक्त द्वारपाली की बात सुनकर] प्रस्तुत राजा ने कहा—हे धूर्त खदिरिके! तुम अमृतमति महादेवी से इस माया-प्रकार से मेरी निन्दा के वचन कहती हो! अहो धूर्त खदिरिके! देवी को विदित ही है कि मेरी कोई भी प्रवृत्तियाँ स्वप्न में भी फिर जाग्रत अवस्था का तो कहना ही क्या है, वञ्चना करनेवाली नहीं हैं, सब तो तुम्हारी ही यह सब प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली वञ्चना की चेष्टा है। तुम सब लोक की तरह सामान्य नहीं हो, इस बात को क्या मैं नहीं जानता? तुम्हारी मुझे और दूसरे लोगों के ठगने की विशेष चतुराई कुल परम्परा से चली आ रही है। यह मानव भी (यशोधर महाराज भी) निश्चय से समस्त कामुक व कुट्टिनियों के चूर्ण से घड़े हुए—रचे हुए शरीरवाला ही है, इसलिए आपकी वञ्चना-क्रियाओं का पात्र नहीं हो सकता। अतः मुझ सरीखे मनुष्य में निष्फल वञ्चना करने के प्रयास से कोई लाभ नहीं है। मेरे इस प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुए मुख-ताम्बूल के उद्गार को स्वीकार करो। इस स्थान से मेरी दृष्टि के सम्मुख आओ और अग्रगामिनी होओ। तुम हम दोनों के मध्य में उसप्रकार समागम में विलम्ब करनेवाली मत होओ जिसप्रकार दिन व रात्रि के मध्य में संध्या उनके समागम में विलम्ब करनेवाली होती है। इसके बाद मैंने ऐसे हाथ द्वारा, जिसमें चक्र के आकार प्रवृत्त हुई कुण्डल-मणियों की किरणों द्वारा रत्न किरणों से व्याप्त हुए कङ्कण, पल्लव युक्त किये गए हैं और जिसकी अंगुलियाँ उत्सुक व चञ्चल हैं, मेरे साथ आए हुए समस्त किङ्कर-समूह को रोका। अर्थात् 'आप लोग यहीं ठहरिए' ऐसा कहते हुए रोका।

इसके बाद—मैं, जिसका मन, कुछ कटाक्षों के देखने द्वारा और ऐसे संभाषण द्वारा, जिसके मध्य संभोग सम्बन्धी गोप्यतत्व वर्तमान है, प्रत्येक चरण-स्थापन में विशेष उल्लास में प्राप्त किया जा रहा था। इसके बाद मैं उस द्वारपालिका द्वारा उसप्रकार कक्षान्तरों (गृह-प्रकोष्ठों—राजमहल के मध्यवर्ती कमरों) में लाया जा रहा था जिसप्रकार हथिनी द्वारा जंगली हाथी कक्षान्तरों (वन के मध्य भागों) में लाया जाता

१. रूपकालंकारः।

किरातकञ्चुकीभिः कृतेन विकृतालापनर्तनकैतवेन विकास्यमानलोचनः, समन्तादाकुलाकुलविरलीभवत्सकलपरिजने,

यक्षकर्दमखचितकर्पूरदलदन्तुरितशातकुम्भभित्तिनि मृगमदपङ्कोपलिप्तरजतवातायनविवरविहरमाणसमीरसुरभिते सान्द्रस्यन्दसंमार्जितामलकवेहलीशिरसि घुसृणरसार्द्रितमरकतपरागपरिकल्पितभूमितलभागे मनाङ्मीलमानमालतीमुकुल-निर्मितरङ्गवल्लिनि [illegible]धूपधूमधूसरितवितानपर्यन्तावलम्बितमुक्ताफलमाले कूर्चस्थानविनिवेशित-प्रसूनसमूहामोदमिलितालिकुलझङ्कारिणि संचारिमहेमकन्यकासोत्तंसितमुखवासताम्बूलकपिलिके तुहिनतरुविनिर्मितवल्ली-कान्तरमुक्तकुसुमस्रक्सौरभाधिवास्यमानसुरतावसानिकोपकरणवस्तुनि मणिपञ्जरोपविष्टशुकसारिकामिथुनकथ्यमानमन्म-थकथासनाथे सारसज्जितफलकोत्क्षेपिणा प्रसाधितकुतपवादनचपलेन समुद्गकव्यजनाचमनकापलोपिना कलमूकलोकेन पर्याकुलितसौविदल्लपरिषदि विविधमणिमनोहराधिरोहिणीसरणिके सप्ततलप्रासादोपरितनभागवर्तिनि मनसिजविलासहंस-निवासतामरसनाम्नि वासभवने, सरसचन्दनतरुस्तम्भिकाचतुष्टयमध्यावतीर्णपुल्लपत्रपरापतपत्यङ्कपेशलप्रतिपादोपरिविन्यस्त-

---

है और मैं कुबड़ों, बौनों, भीलों व कञ्चुकियों द्वारा, जो कि एक साथ अथवा लीला-सहित अन्तः पुर में संचार करनेवाले हैं और हमारे देखने से जिन्हें हृदय में कृत्रिम स्नेह व उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है, क्रमशः किये हुए विकृत (विचित्र कृत), व भाषण, नृत्य व कैतव द्वारा उल्लास-युक्त नेत्रोंवाला हुआ। इसके बाद मैंने ऐसे 'मनसिज-विलासहँसनिवासतामरस' नाम के महल में, वर्तमान पलङ्ग को अलङ्कृत किया, जिसमें (प्रस्तुत महल में), समस्त सेवक अत्यन्त व्याकुल होते हुए दूर हो रहे थे।

जिसकी सुवर्ण-भित्तियाँ, यक्षकर्दम (कपूर, अगर, कस्तूरी व कङ्कोल इनको समभाग मिलाकर बनाया हुआ लेपन अथवा कुङ्कुम व श्रीखण्ड) से लिप्त हुईं व कपूर खण्डों से व्याप्त होने के कारण उत्पन्न हुए दाँतोंवाली-सी प्रतीत हो रही थीं। जो, कस्तूरी-खण्डों से लिप्त हुए चांदी के झरोखों के छिद्रों से संचार करती हुई वायु से सुगन्धित था। जिसका स्फटिक मणियोंका देहली-मस्तक विलेपन विशेष के रस से लिप्त था। जिसका भूमि-तलभाग, कुङ्कुमद्रव से अव्यक्त लालिमावाले नील मणियों के चूर्ण से रचा गया था। जहाँ पर रङ्गावली (नानारंग के चूर्ण से रचा हुआ मण्डन-विशेष) कुछ विकसित होती हुई मालती पुष्पों की कलियों से सुशोभित थी। जहाँ पर चँदोवा के पर्यन्त भाग पर लटकी हुई मोतियों की मालाएँ निरन्तर जलते हुए काला गुरु धूप के धुएँ से धूसरित हो रही थीं। जहाँ पर सँभोग सम्बन्धी उपकरणों के स्थापन प्रदेश पर रक्खी हुई नाना प्रकार की पुष्प राशियों की सुगन्धि से एकत्रित हुई भ्रमर-श्रेणी का झङ्कार (गूँजना) हो रहा था। जहाँ पर मुख को सुगन्धित करनेवाली सुगन्धि युक्त ताम्बूल की कपिलिका संचरण करनेवाली सुवर्ण-पुतली का कर्णपूररूप हुई है। जहाँ पर मैथुन के अखीर में होनेवाली उपकरण वस्तुएँ (व्यञ्जनादि), कपूर वृक्षों से रची हुई पट्टियों के मध्य भागों से बँधी हुई पुष्प मालाओं की सुगन्धि से सुगन्धित की जा रही हैं। जो रत्न-घटित पिञ्जरों में बैठी हुई तोता-मैना के जोड़ों द्वारा कही जानेवाली काम-कथाओं से सहित है। जहाँ पर ऐसे नपुंसक-समूह द्वारा कञ्चुकियों की परिषत् व्याकुलित हो रही है, जो खदिरादि वृक्ष के तख्ते को उठानेवाला और सँवारे हुए बाजे को बजाने में चञ्चल है तथा जो संपुटक (सन्दूक), पंखे व उदकपान को दूर करनेवाला है और जिसमें नाना प्रकार के रत्नों की मनोहर सीढ़ियों का मार्ग वर्तमान है एवं जो सात तल्लेवाले राजमहल के ऊपर आठवें तल्ले पर वर्तमान है।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! मैंने किस प्रकार के पलँग को अलङ्कृत किया? जो (पलँग), नवीन चन्दन वृक्ष के छोटे चार पायों के मध्य में प्राप्त हुआ है। अर्थात्—जिसमें उक्त प्रकार के चार पाँव

पादमण्डलं तरङ्गितदुकूलपटप्रसाधितहंसतूलिकमन्तरान्तरा हरिचन्दनस्थासकाङ्कितपर्यन्तमविरलोपान्तपरिकल्पितधूपकूपिका-छिद्रविसरद्धूमपटलमुभयपार्श्वोपदर्शितमणिप्रदीपिकमुपधानद्वयोत्तम्भितपूर्वापरभागमुत्फुल्लकमलाकरमिव सरोवरमम्बुधरपरिवारितमिव शंभुशिखरिणमरासुरगुरुमध्यवर्तिनमिव तुहिनकिरणमधरोत्तरसेतुबन्धावबद्धमिव मन्दाकिनीप्रवाहमुच्छ्वसितमात्रेणापि तरलतरान्तरालविहितसुखसंवेशमनेकविस्मयनीयस्मरग्रहावेशकरं पल्यङ्कमलंकुर्वाणाम् ।

अतः शयनतलमलंकुर्वतीमपरामिव लक्ष्मीम्, अनिमिषनिवासान्नरलोकसुखतृष्णावतीर्णामिव सरस्वतीम्, अबलारूपपरिणतामिव कलासमितिम्, उपात्तमानुषीभावामिव सागराम्बराम्, अतिरोहितात्मशरीरामिव राज्याधिदेवताम्, अखिलसुखसारखानिमिव स्त्रीत्वमुपागताम्, अनङ्गतोरणस्रजमिव चरणपल्लवाभिरामाम्, अनङ्गभूषणावनिमिव स्फुरन्नखमणिपरम्पराम्, अनङ्गशरधिमिव पूर्वानुवृत्तजङ्घाभोगाम्, अनङ्गमण्डपिकामिवोरुस्तम्भश्रिताम्, अनङ्गयोगाभ्यासभूमिमिव

हैं। उत्कर्ष रूप से अव्यक्त शब्द करते हुए कबूतरपक्षियों से मनोहर प्रतीत होनेवाले प्रतिपादों (चार पांवों के नीचे स्थित हुए पांवों) के ऊपर जिसमें पलँग के चारों पाँव स्थापित किये गए हैं। जिसपर लहरों से व्याप्त हुआ—अर्थात्—मछली की चित्रकारी होने के कारण नीचा-ऊँचा प्रतीत होनेवाला—व रेशमी वस्त्रों से निर्मित हुआ आस्तरण-विशेष (गद्दा) बिछा हुआ है। जिसका प्रान्तभाग बीच-बीच में परमोत्तम चन्दन के हस्त-प्रतिबिम्बों (छापाओं) से चिह्नित था, अतः जो उसप्रकार शोभायमान हो रहा था जिसप्रकार प्रफुल्लित कमल-समूहवाला तालाब सुशोभित होता है। जहाँपर अविच्छिन्न (खाट के निकटवर्ती) समीप में रखे हुए छोटे धूप-घड़ों के छिद्रों से फैलते हुए धूमपटल वर्तमान हैं, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था, जिसप्रकार कालमेघ से वेष्टित हुआ कैलाशपर्वत सुशोभित होता है। जिसके बाएँ व दाहिने भाग के समीप रत्नों के छोटे-छोटे दीपक स्थापित किये गए हैं, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार बृहस्पति और शुक्रके मध्यवर्ती परिपूर्ण चन्द्रमण्डल सुशोभित होता है। जिसके पूर्व व अपर भाग—अर्थात्—शिरभाग व पादभाग, तकियों के जोड़ों द्वारा रोक थाम किये गए थे, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार अधो-भाग व पूर्वभाग पर स्थित हुए सेतु-बन्धों से रुका हुआ गङ्गा नदी का पूर सुशोभित होता है।[1] जहाँ पर उल्लसन मात्र से ही विशेष चञ्चल मध्यभाग द्वारा अनायास सुरत (मैथुन) किया गया है, इसीप्रकार जो अनेक आश्चर्य-जनक कामदेवरूपी पिशाच-प्रवेशों को करनेवाला है।

उक्त प्रकार के पलँग को अलङ्कृत करने के बाद [हे मारिदत्त महाराज !] मैंने अपने पलँग पर बैठी हुई उस प्रसिद्ध ऐसी अमृतमति महादेवी को देखा, जो ऐसी प्रतीत हो रही थी—मानों—दूसरी राज्य श्री ही है। अथवा मानों—मनुष्य लोक की सुखाभिलाषा से स्वर्ग लोक से आई हुई सरस्वती ही है। अथवा मानों—स्त्रीरूप से उत्पन्न हुई बहत्तर कलाओं की श्रेणी ही है। जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—मानुषी स्त्री-पर्याय धारिणी पृथिवी ही है। अथवा मानों—अपना स्वरूप प्रकट करनेवाली राज्य की अधिष्ठात्री देवी ही है। अथवा मानों—स्त्रीत्व को प्राप्त हुई समस्त सुखसारों की खानि ही है। जो उसप्रकार चरणरूपी पल्लवों से मनोज्ञ थी जिसप्रकार कामदेव की तोरणमाला पल्लवों से मनोज्ञ होती है। जो उसप्रकार देदीप्यमान नखरूपी मणि-माला से अलङ्कृत थी जिसप्रकार कामदेव की भूषणभूमि मणिमालासे अलङ्कृत होती है। जिसकी जङ्घाओं का विस्तार उसप्रकार क्रमशः पूर्वानुवृत्त (गो-पुच्छ की आकृति-सरीखा) था जिसप्रकार कामदेव के बाणों का भाता पूर्वानुवृत्त—फैला हुआ होता है। जो उसप्रकार घुटनों के ऊपरी भागरूपी खम्भों से आश्रित थी जिसप्रकार कामदेव की उपकारिका वसति खम्भों से आश्रित होती है। जिसका जघन-स्थल उसप्रकार विस्तीर्ण

---

१. यथासंख्योपमालंकारः ।

विशालजघनस्थलाम्, अनङ्गजयपताकामिव विततरोमराजियष्टिकाम्, अनङ्गजलकेलिवापिकामिव गम्भीरनाभिमण्डलाम्, अनङ्गावतरणवसतिमिव वलिविराजिताम्, अनङ्गायुधयष्टिमिव मुष्टिमितमध्यभागाम्, अनङ्गशरासारवृष्टिमिव परिपूर्णपयोधराम्, अनङ्गवनवसुधामिव भुजलतानन्दिनीम्, अनङ्गादेशपत्त्रिकामिवालकलिपिलिखितभालमध्याम्, अभ्युत्तिष्ठन्तीमिव भ्रूलताविलासेन, स्वागतप्रणयिनीमिव बिम्बाधरस्फुरितेन, विहितासनप्रदानामिव नीवीनिवेशोल्लासेन, पाद्यक्रियोपयुक्तामिव कर्णकण्डूयिनोद्दण्डकरतलहस्तनखप्रभाप्रवाहेण, अर्घमुत्क्षिपन्तीमिव प्रत्यङ्गनिर्गतरोमाञ्चकदम्बेन, संपादितमधुपर्कामिवालकवल्लरीव्यापारितबाहुमूलप्रदर्शनेन, आचामयन्तीमिव च शृङ्गाररसोत्तरङ्गितैः कटाक्षवीक्षितैः, धृतवासकसज्जिकास्थितिं तामभूतसमसौं महादेवीमपश्यम् । अवलोक्य च तां अहो पुण्यभाग, महारण्यनिर्गमनादिव नवा हि मे समुल्लसितं हृदयेन, दिव्याञ्जनोपदेहादिव प्रसन्नं चक्षुषा, अमृतवर्षाभिषेकादिव प्रशान्तं देहेन, सिद्धौषधिबन्धनादिव विरलं विरहज्वरेण, चिन्ता-

था जिसप्रकार कामदेव के ध्यानानुशीलन का स्थान विस्तीर्ण होता है। जिसकी रोमराजिरूपी यष्टि उसप्रकार विस्तृत थी जिसप्रकार कामदेव की विजयपताका विस्तृत होती है। जिसका नाभिमण्डल उसप्रकार गम्भीर था जिसप्रकार कामदेव की जलक्रीड़ा की बावड़ी गम्भीर होती है। जो उसप्रकार त्रिवलियों—उदर रेखाओं से अलङ्कृत थी जिसप्रकार कामदेव का अवतार-गृह बलियों (पूजाओं) से अलङ्कृत होता है।

जिसके शरीर का मध्यभाग (कमर) उसप्रकार मुष्टि (संकुचित हाथ) द्वारा नापा गया है, अर्थात् जो कृशकटि (पतली कमर वाली) है जिसप्रकार कामदेव का धनुष दंड मध्यभाग में मुष्टिमित होता है। जो कामदेव की शरासार-वृष्टि-(बाण-समूह की वर्षा) सरीखी परिपूर्ण (परस्पर में सटे हुए पीन—स्थूल) पयोधरों (स्तनों) से अलङ्कृत थी। अर्थात्—जिसप्रकार पयोधर (मेघ) शरासार वृष्टि (जल की वेगशाली वर्षा) से महित होते हैं। जो उसप्रकार बाहुरूपी लताओं को आनन्द-दायिनी थी जिसप्रकार कामदेव की वनभूमि लताओं से आनन्ददायिनी होती है। जिसका शिर का मध्यभाग उसप्रकार केशपाशों के अक्षर-विन्यास से लिखित था जिसप्रकार कामदेव की शासन पत्रिका का मध्यभाग लिपि-लिखित होता है। भ्रकुटी रूपी लता के उल्लसन से अभ्युत्थान करती हुई-सी और बिम्बफल-सरीखे ओष्ठों के संचलन से स्वागत-प्रणयिनी (प्रशस्तरूप से आई हूँ इसप्रकार अपने को कहती हुई-सरीखी) जैसी सुशोभित हो रही थी। जो नीवी (स्त्री की कमर का वस्त्र-बन्धन) स्थान को ऊँचा उठाने से बैठने के लिए आसन-दान करती हुई सरीखी सुशोभित हो रही थी। जो कानों की खुजली को नष्ट करने के लिए ऊपर उठाए हुए हाथों के नखों की प्रभा-प्रवाह द्वारा पादप्रक्षालनोदक सम्बन्धी आचार में उद्यमशील-सरीखी और सर्वाङ्गीण रोमाञ्च-समूह द्वारा पूजा-पात्र को प्रदान करती हुई जैसी एवं केशपाशरूपी वल्लरी के कारण फैलाई हुई भुजा का मूलभाग (कुचकलश) के प्रदर्शन द्वारा मधुपर्क (दही मधु, घृत पाददान) को उत्पन्न करनेवाली-सी एवं जो शृङ्गाररूपी अमृत रस से उत्कृष्ट तरङ्गोंवाले नेत्रों के कटाक्षों के विलोकन द्वारा आचमन देनेवाली सरीखी सुशोभित हो रही थी एवं जिसने वासकसज्जिका—शृङ्गारकारिणी—की क्रिया की है।[1] हे महापुण्यशाली मारिदत्त महाराज! उसे देखकर मेरा हृदय उसप्रकार हर्षित हुआ जिसप्रकार दण्डकारण्य से निकलने पर हृदय हर्षित होता है और मेरे नेत्र उसप्रकार प्रसन्न हुए जिसप्रकार दिव्य अञ्जन के लेप से नेत्र प्रसन्न होते हैं एवं मेरे शरीर को उसप्रकार शान्ति मिली जिसप्रकार अमृत वृष्टि के स्नान से शान्ति मिलती है। मेरा विरह-ज्वर उसप्रकार

1. तथा चोक्तम्—'उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा । मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥'
—सं० टी० पृ० ३३ से संकलित—सम्पादक

मणिलाभादिव फलितं मनोरथैः, कामधेनुसमागमादिव चाभवत्कृतार्थागमः समस्तोऽपि प्रजापालनाश्रमः परिश्रमः।

ततस्तच्छयनतले दक्षिणतः ससंबाधमुपविश्य तस्यास्तैस्तैस्तेन तेनार्धोक्तिसुभगेन मुग्धविदग्धभाषितेन मनागपरिसमाप्तव्यापारेण स्निग्धमधुरावलोकितेन ईषन्निषेधार्पणरसिकेन समालिङ्गितेनान्यैश्च तैस्तैरनङ्गनटरहस्योपदेशप्रगल्भवृत्तिभिर्विलासैस्तत्र तथावस्थान्तरं सुखस्रोतसि विजृम्भमाणमनःकलहंसः, वसन्त इव दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुतः प्रविलसर्य मनसिजरसोल्लासादिव तरलतारोदयेन लोचनद्वयेन कामसमीरसमागमादिव सपारिप्लवेनाधरपल्लवेन शृङ्गारामृतपानादिव संजातोत्सेकेन कपोलपुलकेन मदनानलसंधुक्षणादिवोष्मलेन स्तनयुगलेनानन्यजपर्जन्याभिवर्षादिव च साम्बुसङ्गेन तेनाङ्गेन संपा-

---

नष्ट हो गया जिसप्रकार सिद्धपुरुषों की औषधि के सम्बन्ध से ज्वर नष्ट होता है एवं मेरे मनोरथ उसप्रकार सफल हुए जिसप्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से मनोरथ सफल होते हैं और मेरा प्रजापालन में समर्थ हुआ समस्त खेद उसप्रकार सफल हुआ जिसप्रकार कामधेनु की प्राप्ति से समस्त खेद सफल होता है।

प्रसङ्गानुवाद—इसके बाद मैं उस महादेवी के पलँग पर नींद-सी लेता हुआ। इसके पूर्व मैं अमृतमति महादेवी के दक्षिण पार्श्वभाग में शरीर के संघट्टन-सहित बैठा। बाद में उसके कामीजनों में प्रसिद्ध, आधी उक्ति से मनोहर, कोमल और चतुर वचन द्वारा और कुछ आधे विलोकनवाली स्नेह-पूर्ण अमृतधारा-सी चितवन द्वारा तथा कुछ निषेध व अङ्गार्पण से रसिकता को प्राप्त हुए आलिङ्गन द्वारा एवं दूसरे चतुर कामीजनों में प्रसिद्ध ऐसे विलासों द्वारा, जिनमें कामदेवरूपी नट की कामदेव सम्बन्धी गोप्यतत्त्व की शिक्षा सम्बन्धी उपदेश की प्रौढ़तर प्रवृत्ति पाई जाती है, उस उस सुख के प्रवाह में जिसका हृदयरूपी राजहँस विस्तृत हो रहा है, ऐसा हुआ। उस दूसरी सुख की दशा को प्राप्त हुआ मैं उसप्रकार दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुतशाली हुआ। अर्थात्—जिसकी श्वासोच्छ्वास वायु पिङ्गला नाड़ी में संचार कर रही है, ऐसा हुआ जिसप्रकार वसन्त ऋतु, दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुतशाली होती है। अर्थात् जिसमें वायु का संचार दक्षिण दिशा में होता है।[1] इसके बाद मैंने ऐसे स्मरमन्दिररूपी महल का चिंतवन किया, जिसमें निम्न प्रकार की घटनाओं—सुख साधनों द्वारा मानसिक हर्ष उत्पन्न किया गया है।[2]

जैसे चञ्चल व उज्वल उदयवाले दोनों नेत्रों से, जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—कामदेव सम्बन्धी रस (रागरूप जल) के उल्लसन से ही चञ्चल व उज्ज्वल हुए हैं, अर्थात्—जिसप्रकार जल के उल्लास से वस्तु चञ्चल व उज्ज्वल होती है और चञ्चल ओष्ठपल्लव से, मानों—कामदेवरूपी वायु के समागम से ही चञ्चल हुए हैं। अर्थात्-जिसप्रकार वायु से वस्तु चञ्चल होती है। एवं गालों के स्थल पर उत्पन्न हुए प्रचुर रोमाञ्चों से, मानों—शृङ्गाररूपी अमृतपान से ही जिनमें भली प्रकार प्रचुरता उत्पन्न हुई है, अर्थात्—जिसप्रकार अमृतपान से गालों पर रोमाञ्च प्रकट होते हैं। मानों—कामरूपी अग्नि के संधुक्षण से ही ऊष्म होनेवाले कुचकलशों (स्तनों) से, अर्थात्—जिसप्रकार अग्नि के संधुक्षण से ऊष्मा प्रकट होती है। एवं कामदेवरूपी मेघ की चारों ओर वृष्टि होने से ही मानों—स्वेद जल से व्याप्त हुए शरीर से।

---

१. तथा चोक्तं स्वरोदयशास्त्रे—'दाक्षिणात्योऽनिलः श्रेयान् कामसंग्रामयोर्नृणाम्।
क्रियास्वन्यास्वन्यः स्याद्वामनाडीप्रभञ्जनः ॥'

२. तथा चोक्तम्—'पारिप्लवं नयनयोरधरप्रकम्पः कामं कपोलफलके पुलकप्रबन्धः।
ऊष्मागमः स्तनयुगे मकरन्दसङ्गः क्रीडाम्बुजे च नियतं वनितासु रागः ॥'
—सं० टी० पृ० ३५ से संकलित—सम्पादक

विलक्षयोन्मादं स्मरमन्दिरप्रासादम्, प्रस्तुत्य च चाटुकारपरिभाषामनोहराः प्रणत्युपोद्घातविस्तारिणीर्दण्डप्रदानानुतन्त्र-प्रवृत्ताः स्मरसूत्रविवरणवतीस्तास्ताः कथाः, पुनर्द्विरेफ इव मकरन्दपानेन, राजहंस इव मृणालखण्डनेन, कुरङ्ग इव मृगीशृङ्गविलेखनेन, वनपादप इव लतावेष्टनेन, सिंह इव मेखलाधिरोहणेन, पुष्पाकर इव पिकवधूकूजितेन, उत्सवदिनपल्लव इव पूर्णकुम्भाश्रयणेन, करभ इव विटपाकर्षणेन, सरित्पतिरिवापगावर्तपरिवर्तकलनेन, मकर इव कल्लोलताडनेन, वनगज इव कमलिनीसरःपरिमलेन, द्रवन्निव विलीयमानिव निमज्जन्निव विशन्निव निर्वापयन्निव च, तैस्तैरनन्यजन्मनो रसप्रसरैः

इसके बाद मैंने कामीजनों में प्रसिद्ध ऐसी कथाएँ कहीं, जो चाटुकार परिभाषा से मनोहर थीं। अर्थात्—जो स्नेह जनक व मिथ्या प्रशंसा से व्याप्त हुई परिभाषा (भाषण) से हृदय को उल्लासित करनेवाली थीं। पक्षान्तर में अनियम में नियमकारिणी परिभाषाएँ (शास्त्र विशेष) जिसप्रकार मनोहर होतीं हैं। जो प्रणति (पादपतन) व उपोद्घात (समीप में मस्तक-ताड़न) से विस्तृत थीं। पक्षान्तर में कथा-प्रारम्भ में मङ्गलार्थ प्रणति (इष्ट देवता को नमस्कार) की जाती है, पश्चात् उपोद्घात (विवक्षित वस्तु का अवतरण-क्रम) द्वारा कथाएँ विस्तृत होतीं हैं।

इसीप्रकार जो दण्डप्रदानानुतन्त्रप्रवृत्त हैं। अर्थात्—जो पुरुषकार (पुरुषत्व) दानानन्तर पश्चात् सुरत (मैथुन) में प्रवृत्त हुई हैं। पक्षान्तर में जो, दण्डप्रदान (दक्षिणापथ—गुरुदक्षिणा के मार्ग पूर्वक ?) अनुतन्त्र (वार्तिक—शङ्काएँ उठाकर उनका समाधान करना) द्वारा प्रवृत्त हुई हैं। एवं जो स्मरसूत्र धारण (जङ्घाओं के ऊपर जंघाओं का स्थापन) द्वारा विवरण-युक्त हैं। अर्थात्—गोप्यस्थान-प्रकटन-युक्त हैं। पक्षान्तर में शास्त्रों के मूल सूत्रों का विवरण वृत्तिग्रन्थ द्वारा होता है।

इसके बाद मैंने उस अमृतमति महादेवीके साथ उसप्रकार मकरन्दपान (ओष्ठ-चुम्बन) द्वारा मैथुन-सुख भोगा जिस प्रकार भ्रमर मकरन्द-पान (पुष्परस-पान) द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उसके साथ मृणाल-खण्डन (ओष्ठ-खण्डन) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख भोगा जिसप्रकार राजहंस मृणालखण्डन (कमल की नाल के खण्डन) से सुखानुभव करता है। मैंने उसके साथ मृगीशृङ्गविलेखन (प्रिया के केश-पाशग्रहण) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख भोगा जिसप्रकार हिरण मृगीशृङ्ग विलेखन (हिरणी के सींगों का खरोंचना) द्वारा सुख भोगता है। मैंने उसके साथ लतावेष्टन (भुजाओं द्वारा आलिङ्गन) द्वारा उसप्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार वन का वृक्ष लतावेष्टन द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उस महादेवी के साथ मेखलाधिरोहण (कटिदेश—कमर के ग्रहण) द्वारा उसप्रकार काम-सुख का अनुभव किया जिसप्रकार सिंह मेखलाधिरोहण (पर्वत-नितम्ब पर आरोहण) द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उसके साथ पिकवधूकूजित (कोयल-सरीखी सरस वाणी के श्रवण) द्वारा उसप्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार वसन्त कोयल के कलकल कूजित द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उस देवी के साथ पूर्णकुम्भाश्रयण (स्तनों के मर्दन) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख का अनुभव किया जिसप्रकार उत्सव दिवसरूपी पल्लव पूर्णकुम्भाश्रयण (पूर्णकलशों) के स्थापन द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उसके साथ विटपाकर्षण (बाहुलताओं के आकर्षण) द्वारा उस-प्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार ऊँट विटपाकर्षण (वृक्ष-शाखाओं के आकर्षण) द्वारा सुखानुभव करता है। मैंने उस महादेवी के साथ आपगावर्तपरिवर्तकलन (नाभि प्रदेश के अवलोकन) द्वारा उसप्रकार कामसुख भोगा जिसप्रकार समुद्र नदियों के भँवर धारण द्वारा सुखानुभव करता है। जिसप्रकार मकर कल्लोल-ताड़न (समुद्र-तरङ्गों के ताड़न) द्वारा सुखानुभव करता है उसीप्रकार मैंने उस महादेवी के कल्लोलताड़न (बाहुदण्डों के ताड़न) द्वारा कामसुख का अनुभव किया। एवं जिसप्रकार विन्ध्याचल का हाथी कम-लिनीसरःपरिमलन (कमलिनियों से व्याप्त हुए तालाब में डुबकी लगाने) द्वारा सुखानुभव करता है उसी-

प्रणयकोपसंवर्धितानुरागमनुनयोपचारद्विगुणितस्नेहसङ्गमन्योन्यकलाकौशलोपचितरसवेगममर्यादमुल्लङ्घितक्रमास्पदमनपेक्षितवपुःखेदमपुनर्लभ्यमिवापश्चिमं तया सह संवेशसुखमनुभूय, उपान्तयन्त्रपुत्रिकोत्क्षिप्यमाणव्यजनपवनापनीयमानसुरतश्रमः,

गलिते नितम्बदेशात्काञ्चीगुणमण्डने नितम्बिन्याः । नखरेखाः पुनरधिकां शोभां जनयन्ति जघनस्य ॥ ४ ॥
भवति कचग्रहयोगात्सरलत्वं कुन्तलेषु युवतीनाम् । तन्निक्षेपविधेरिव कुटिलाः श्वासास्तु जायन्ते ॥ ५ ॥
दन्तक्षतमिदमधरे रमणीनां नेति मन्मनः किं तु । हरप्रदग्धमन्मथतरोरयं पल्लवोल्लासः ॥ ६ ॥
चक्षुषि लाक्षारागः कज्जलमधरे च मण्डनं कुरुते । विन्यासस इव चित्रा वृत्तिर्मदनस्य विपरीता ॥ ७ ॥
रमयति मनो नितान्तं स्वेदोद्गमबिन्दुमञ्जरीजालम् । लज्जित इव कुचमध्ये प्रविशति हारः पुरन्ध्रीणाम् ॥ ८ ॥
उरसि नखक्षतपंक्तिर्वनितानां भाति सरसविनिवेशा । स्मरशरशल्यविनिर्गमजनितः प्रायेण मार्ग इव ॥ ९ ॥

प्रकार मैंने उस प्रिया के साथ कमलिनीसरःपरिमज्जन (स्मरमन्दिर में प्रवेश करने) द्वारा कामसुख का अनुभव किया ।[1]

उस अवसर पर मैं धारण करता हुआ-सा, तन्मय होता हुआ-सा, उसके मध्य प्रवेश करता हुआ-सरीखा, उसमें प्रविष्ट हुआ-सा तथा अपने को उस विशेष सुख में प्राप्त कराता हुआ-सरीखा प्रतीत हो रहा था ।[2] हे मारिदत्त महाराज ! मैंने उस प्रिया के साथ कैसे कामसुख का अनुभव किया ? उन-उन प्रसिद्ध कामदेव के रस प्रवाहों द्वारा व प्रणयकोप द्वारा जिसमें अनुराग वृद्धिंगत किया जाता है । जिसमें मानव-व्यवहार द्वारा प्रेम का सङ्ग द्विगुणित किया गया है । जिसमें परस्पर के कलाचातुर्य द्वारा राग-वेग वृद्धिंगत किया गया है । जो बेमर्याद है । जिसमें अपनी स्थिति के स्थान का अतिक्रमण किया है । जिसमें शारीरिक कष्ट की गणना नहीं की गई और जो अपश्चिम—अत्यन्त है एवं जो पुनः प्राप्त न होने योग्य सरीखा है । उस अवसर पर मैं ऐसा था जिसका संभोग-खेद समीपवर्ती अथवा दोनों पार्श्व भागों में वर्तमान कला पुतलियों द्वारा प्रेरित की जानेवाली पंखों की वायु से दूर किया जा रहा था ।

जब नितम्बिनी (कमनीय कामिनी) के नितम्बदेश से करधोनी रूपी आभूषण खिसक जाता है तब जङ्घाओं की नखरेखाएँ फिर भी अधिक शोभा उत्पन्न करती हैं[3] ॥४॥ युवती स्त्रियों के केशपाशों को मुष्टि द्वारा ग्रहण करने से केशों में सरलता हो जाती है और श्वास कुटिल हो जाते हैं । इससे ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—केशों की कुटिलता के त्याग के दुःख से ही श्वास कुटिल हुए हैं[4] ॥५॥ रमणियों के ओष्ठों में वर्तमान यह प्रत्यक्ष दिखाई देता हुआ दन्तक्षत (व्रण) नहीं है, फिर क्या है ? मेरा मन यह कह रहा है कि रुद्र द्वारा पूर्व में भस्म किये हुए पश्चात् उत्पन्न हुए कामदेवरूपी वृक्ष का यह प्रवालों का उल्लास ही है[5] ॥६॥ नेत्रों में लगा हुआ लाक्षारस (अलक्तक या ताम्बूलरस) और ओष्ठ में कज्जल शोभा को धारण करता है । अभिप्राय यह है कि पुरुष ने स्त्री के नेत्रों का चुम्बन किया, अतः उनमें लाक्षारस या ताम्बूलरस लग गया । इसीप्रकार

---

१. ध्वन्यलंकारः ।

तथा चोक्तम्—'अन्यार्थवाचकैर्यत्र पदैरन्यार्थ उच्यते । सोऽलंकारो ध्वनिर्ज्ञेयो वक्तुराशयसूचनात् ॥'

सं० टी० पृ. ३६ से संकलित—सम्पादक

२. क्रियासमुच्चयालंकारः ।

३. संयुक्तशृङ्गाररसः । ४. उत्प्रेक्षालंकारः । ५. अपह्नुतिरलंकारः ।

स्तनगलकपोलभुजगा राजन्ते करजराजयः कुटिलाः । मदनस्य युवतिवसतिषु निवासलिखिता प्रशस्तिरिव ॥ १० ॥
मार्थिनि मलिनमुखत्वं दातुः कस्यापि युज्यते कर्तुम् । स्तब्धमविवेकि कठिनं कुचयुग्मं कोऽपि किं त्यजति ॥ ११ ॥
नीचैर्वृत्तिर्येषां त एव भवन्ति चिरतरं पुरुषाः । नूपुरवदिह सुरते महोत्सवः केशकुसुमेषु ॥ १२ ॥

अपि च ।

पुष्पेभ्यस्तशिलीमुखावलिरभून्नीलालकश्रीरियं नेत्रे श्रोत्रसमीपमाश्रितवती किंचिन्मिथो भाषितुम् ।
वक्त्रं चुम्बितुमुन्नताविव कुचावस्याः पुनः सुभ्रुवः कांचिस्थानसमृद्धिमत्सरितया मध्यं कृशत्वं गतम् ॥ १३ ॥
मनसिजकलभोऽयं नूनमस्मिन् प्रदेशे निवसति वनितानामूरुमूलप्रचारः ।
यदिह तनुजराजिव्याजतो नाभिवाप्यां प्रसृतवपुरिवास्या लक्ष्यते हस्त एषः ॥ १४ ॥

स्त्री के नेत्रों का कज्जल पुरुष के ओष्ठ पर लग गया। अतः कामदेव की चेष्टा दिगम्बर मुनि-सरीखी विपरीत होने के कारण आश्चर्यजनक होती है। अर्थात् जिसप्रकार ध्यान-योग से दिगम्बर मुनि के नेत्र रक्त हो जाते हैं एवं विशेष प्यास के कारण ओष्ठ श्याम हो जाते हैं[1] ॥७॥ स्त्रियों की प्रकट हुई स्वेदबिन्दुरूपी मञ्जरी-श्रेणी मन को विशेष रूप से प्रमुदित करती है एवं हार मानों—लज्जित हुआ सरीखा स्तनों के मध्य प्रवेश करता है[2] ॥८॥ स्त्रियों के हृदय पर तत्काल की हुई नखों की व्रणराजि (श्रेणी) ऐसी प्रतीत होती है—मानों—कामदेव के बाणरूपी काँटों के निकलने से उत्पन्न हुआ प्रायः मार्ग ही है[3] ॥९॥ कमनीय कामिनियों के कुचों, गलों व गालों की स्थली तथा भुजलताओं पर स्थित हुई व वक्र नखक्षत श्रेणियाँ सुशोभित होती हुईं ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—कामदेवसंबंधी युवतीरूपी महलोंपर निवास करने से उकीरी हुई प्रशस्तियाँ ही हैं ॥१०॥[4] याचक अथवा प्रयोजनार्थी पुरुष के आनेपर किसी दाता को अपना मुख म्लान (श्याम) करना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ—क्या कोई पुरुष (उदरस्थित बालक या कामसेवन में प्रवृत्त हुआ पुरुष) ऐसे स्तनों के जोड़े को, जो कि स्तब्ध (उन्नत—उठा हुआ व पक्षान्तर में अभिमानी) और अविवेकी (अघटित व पक्षान्तर में सदसद्विवेक-शून्य) एवं कठिन (कर्कश—कड़े एवं पक्षान्तर में निर्दयी या लुब्ध) है, छोड़ता है ? अपितु नहीं छोड़ता ॥११॥[5] जिन पुरुषों में नीचैर्वृत्ति (विनयशीलता व पक्षान्तर में निकृष्ट पद में स्थिति) होती है, वे ही पुरुष निरन्तर वृद्धिगत होते हैं। उदाहरणार्थ—सम्भोग क्रीड़ा में नूपुरों (पाद-मञ्जीरों) सरीखा महोत्सव क्या शिर पर स्थित हुए पुष्पों में होता है ?[6] ॥१२॥ सुन्दर भ्रकुटिशालिनी इस कमनीय कामिनी की यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई श्याम केशपाश-लक्ष्मी, कामदेव द्वारा प्रेरित की गई बाणश्रेणी सरीखी हुई। अर्थात्—इसके श्याम केशों की लक्ष्मी ऐसी प्रतीत होती है—मानों—कामदेव द्वारा प्रेरित की गई बाण-श्रेणी ही है। अथवा इसकी पुष्पों के मध्यवर्तिनी श्यामकेशलक्ष्मी भ्रमर-रहित हो गई। इसके दोनों नेत्र दोनों कानों के समीप आश्रित हुए ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—परस्पर में कुछ कहने के लिए ही श्रोत्रों के समीप आश्रित हुए हैं। इसके दोनों स्तन उन्नत हुए ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—इसका मुख चुम्बन करने के लिए ही उन्नत (उठे हुए) हुए हैं। एवं करधोनी के स्थान की उन्नति से द्वेष करने के कारण से ही मानों—इसका मध्यभाग (कमर) कृश हो गया[7] ॥१३॥ ऊरुओं (घुटनों के उपरितन भागों) के मूल में संचार करनेवाला यह कामदेव रूपी हाथी का बच्चा निश्चय से कामिनियों के इस स्मर-मन्दिर प्रदेश में निवास करता है।

---

१. दीपकोपमाहेत्वलंकारः । २. रूपकोपमालंकारः । ३. उत्प्रेक्षादीपकालंकारः । ४. समुच्चयरूपकोत्प्रेक्षालंकारः ।
५. श्लेषाक्षेपालंकारः । ६. आक्षेपालंकारः । ७. उत्प्रेक्षालंकारः ।

इति भगवतः कुसुमशरस्य चरितचिन्तासन्तानस्तिमितान्तःकरणः स्तोकोन्मेषस्फुरितलोचनपर्यन्तो निद्रामिवाहम-करवम् ।

महादेवी तु मां स्वभावसुप्तमिवालक्ष्य, निभृतमाक्षिप्य मत्कण्ठदेशादुपधानीकृतं करम्, अवेक्ष्य मुहुर्मुहुराकुलाकुलविलोचना मदीयाननम्, उत्सृज्य शनैःशनैः शयनम्, उपविश्यार्धमुहूर्तमात्रं बहिरन्तश्चाटनचापलत्वम्, अनुचितकर्म निःसंचारतया शून्यतावन्ध्यामिव राजभवनमध्यम्, अवकीर्यात्मनः शीलमिव धम्मिल्लकुसुमानि, परामृश्य सच्चरितमिवाङ्गरागम्, अवज्ञाय हितोपदेशमिव कर्णाभरणम्, अवधीर्य मत्प्रणयमिव हृदयभूषणम्, अवधूय प्रियसखीमिव काञ्चीदाम, निर्भर्त्स्य बान्धवमिव नूपुरयुगलम्, अपहाय वैहायकोचितपतिकेव सकलं वलयादिकं मण्डनम्, अन्यच्च राजमहिषीयोग्यमाकल्पम्, अतिदवरितमुपाललनिजासन्नचामरधारिणीवेषा विधाय किंचिदर्धोद्गलितमुपकरणमुत्सङ्गाधिकरणमसंवाय च कपाटपुटमाशु प्रस्थितवती । ममाप्यकृत्वा कालक्षेपम् 'अहो, महादेव्याः कोऽप्यपर एव महासाहसव्यवसायो लक्ष्यते । यदस्यामर्धरात्रवेलायां निश्चेकाकिन्यसतीजनोचिताचरणेव लघुतरमुच्चलिता । तदलमत्र चित्तभ्रमकारिणा विचारचक्रेण । अवलोकयेयमहमेवास्याः साहसाकूतपरिपाकम् ।'

यह प्रस्तुत प्रदेश में निवास करता है, यह कैसे जाना जाता है ? क्योंकि इस प्रदेश पर वर्तमान रोमावली के मिष से इस कामदेव रूपी हाथी के ऊपर को गई स्पष्ट दिखाई देनेवाली सूँड, जिसका शरीर इस नाभिरूपी बावड़ी पर फैला हुआ-सा है, दिखाई दे रही है[1] ॥१४॥

उक्त प्रकार से मैं, जिसका मन श्रीमान् कामदेव संबंधी चेष्टा की चिन्ताश्रेणी द्वारा निश्चल है और जिसके नेत्रों का प्रान्तभाग कुछ नेत्रों के उद्घाटन द्वारा स्फुरित (तेज-व्याप्त) हो रहा है, उस महादेवी के पलङ्ग पर नींद-सी लेता हुआ।

हे मारिदत्त महाराज ! मेरी पट्टरानी अमृतमति महादेवी ने तो मुझे स्वभाव से शयन करता हुआ-सा देखकर मेरे द्वारा तकिया रूप की हुई अपनी बाहु को मेरे कण्ठदेश से धीरे से खींचकर शीघ्र प्रस्थान किया । प्रस्थान करने से पहले, अतिव्याकुल नेत्रोंवाली उसने बारम्बार मेरा मुख देखा । बाद में उसने धीरे-धीरे पलङ्ग को छोड़कर बाह्यरूप से व मन से गमन करने की चञ्चलता आधे क्षण में करके राजमहल के मध्यभाग को, जिसमें किसी का प्रवेश न होनेके कारण शून्यता-सहित-सा निश्चय करके अपने बँधे हुए केशपाशों के पुष्प उसप्रकार फैंके जिसप्रकार उसके द्वारा अपना उज्वल ब्रह्मचर्य फेंका जा रहा है । बाद में उसने सदाचार-सरीखा अङ्गराग (कपूर, कस्तूरी, आदि के रस का विलेपन) दूर किया । पश्चात् उसने कर्ण-कुण्डल-आदि आभूषण उसप्रकार तिरस्कृत किये जिसप्रकार गुरुवचन तिरस्कृत किये जा रहे हैं । बाद में उसने वक्षःस्थल के आभूषण (मोतियों की माला व हार आदि) वैसे दूर किए जैसे उसके द्वारा मेरा प्रेम दूर किया जा रहा है । इसके बाद उसने प्यारी सखी-सी कमर की करधोनी दूर की । बाद में बन्धु सरीखे नूपुरों के जोड़ों को उतारकर विधवा-सरीखी होकर इसने समस्त हस्त व पाद के आभूषण (कटकादि) दूर किए एवं दूसरा पट्टरानी के योग्य वेष को छोड़ा । इसके बाद शीघ्र ही अपने समीपवर्ती चँवर ढोरनेवाली का वेष धारण करके उसने उत्तरीयवस्त्र और उपकरण (वक्षःस्थलपर धारण किया हुआ जम्फर वगैरह) को सिकुड़ा हुआ करके किवाड़ों के जोड़े खुले छोड़कर शीघ्र प्रस्थान किया । हे मारिदत्त महाराज ! मैंने भी निम्नप्रकार मन में निश्चय करते हुए कालक्षेप न करके उत्सुकता से अपने समीपवर्ती अङ्गरक्षक का वेष धारण करके उस महादेवी के मार्ग

---

१. वर्तमानालंकारः ।

इत्यवसितचेतसा, सोत्तालं विहितनिजनिकटवर्तिखड्गवहवेषेण गवेषयता च तत्पदवीम्,

राजमन्दिरस्य प्रथमकक्ष्यायां दक्षिणस्यां दिशि युवराजविनोदहस्तिनो विजयमकरध्वजनामधेयस्यापाश्रयाविदूरवर्तिनि कटङ्कुरकुटीरके करिकवलावशिष्टयवसप्रस्तरविस्तरिण्यवगुण्ठितरज्जुपुञ्जपरिकल्पितशिरस्पदे निद्रायन्तम्, इभाभ्यङ्गकर्पटपिहितलज्जास्थानम्, अतिकठिनकचकण्टकोड्डमरमुखमण्डलम्, अनवानुपदीनापटलसमश्रवसम्, उत्तानकपिकराभोगनिभललाटम्, अङ्गारलिखितैकरेखासमानभ्रूकम्, उदन्ननालिकेरविवरातिशायिविलोचनम्, अर्धदग्धाजिनमलिनपक्ष्मपुटम्, अविषमभूतनलदण्डद्वयसदृशनासीरम्, उन्दुरविकर्तरितसंघाटतटलुञ्चितोभयदशनवसनम्, अतिपुराणकुजकोटरप्रतिमगल्लम्, असमस्थापितवराटकविकटदन्तम्, अजकमश्रुकूर्चशोभिचिबुकमध्यम्, एरण्डकाण्डविडम्बिधमनीगलनालम्, अथालवीरणवलपटिसंकिटिकास्थपुटवक्षसम्, उल्लम्बितमृतगोनसानुकारिक्षिप्तपरिसरनिर्गमम्, अनिलभृतभस्त्राध्मातजठरम्, उलूखलानुकारिकटीभागम्, अग्निलङ्घितस्थाणुगणनोरुकम्, अतनुकूर्मकूर्परप्रतिच्छायाष्ठीवत्प्रदेशम्, उच्छूनसिराग्रन्थिजटिलपिण्डिकम्, उन्निर्गतोत्कटघुण्टिकाकीकसम्, अनेकविपादिकाविलविरलवक्राङ्गुलिफटत्कपादम्, अघसंघातमिव दुर्निरीक्ष्यम्, अमङ्गल-

---

को ढूंढते हुए मैंने ऐसे 'अष्टवङ्क' नामवाले महावतों में नीचमहावत से प्रार्थना करती हुई महादेवी देखी। मैंने मन में किस प्रकार का निश्चय किया?

'अहो आत्मन्! इस महादेवी का कोई (कहने के लिए अशक्य) अपूर्व ही महान् अद्भुत करने में उद्यम दिखाई देता है, क्योंकि इसने इस प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई रात्रि में, जिसमें अर्धरात्रि की वेला थोड़ी-सी समाप्त हुई है, अकेली व्यभिचारिणी स्त्रीजनों के योग्य चेष्टा-सरीखी होकर शीघ्र प्रस्थान किया, इसलिए इस विषय में हृदय में सन्देह उत्पन्न करनेवाले विचार-समूह से क्या लाभ है? अतः मैं ही इस महादेवी के अभिप्राय का परिपाक देखता हूँ। अर्थात्—मैं दूसरों की कही हुई बात नहीं मानता।'

[उक्तप्रकार का मन में निश्चय करनेवाले मैंने कैसे 'अष्टवङ्क' नामके नीच महावत से प्रार्थना करती हुई महादेवी देखी?]

जो ऐसी वृक्षशाखा की कुत्सित कुटी में नींद ले रहा है, जो कि राजमहल के प्रथम प्रकोष्ठ की दक्षिणदिशा में वर्तमान 'विजयमकरध्वज' नामवाले युवराज (यशोमति कुमार) संबंधी क्रीडागज के राज्य स्थान से समीप थी एवं जिसमें हाथी के ग्रास से बची हुई घास का बिछौना बिछा हुआ था तथा जिसमें कुण्डलाकार की हुई रस्सियों की श्रेणी से बनी हुई तकिया वर्तमान थी, जिसने हाथियों के तैल-मालिश संबंधी (मलिन) वस्त्र द्वारा अपने अण्डकोश आच्छादित किये हैं। जिसका मुखमण्डल अत्यन्त कर्कश केशरूपी काँटों से भयानक है। जिसके कान जीर्ण जूता के चमड़े सरीखे हैं। जिसका ललाट फैलाए हुए बन्दर के हाथ के विस्तार-सरीखा है। जिसकी दोनों भ्रकुटियाँ कोयले से लिखी हुई मलिन एकरेखा-सी थीं। जिसके नेत्र नारियल के खप्पड़ के छिद्र-सरीखे भद्दे थे। जिसके नेत्र-पटल आधे जले हुए चमड़े जैसे मलिन हैं। जिसकी नासिका समरूप से धारण किये हुए कमलदण्डों के जोड़ों-सी थी। जिसके दोनों ओष्ठ, चूहों द्वारा नानाप्रकार से कुतरे हुए चनों-सरीखे थे। जिसके गाल अत्यन्त जीर्णवृक्ष की कोटर-सरीखे थे। जिसके दांत पंक्ति-रहित कौड़ियों जैसे बाहिर निकले हुए थे। जिसकी ठोडी बकरे की दाढ़ी-सी देखने में भद्दी थी।

जिसका प्रकट हुई नसोंवाला गलारूपी नाल (कमल-डंठल), एरण्ड वृक्ष के तना या पत्तसमूह सरीखा है। जिसका हृदय विशाल तृणविशेष-रचित कुटी जैसा ऊँचा-नीचा है। जिसकी बाहुओं का विस्तार ऊपर लटके हुए व मरे हुए दो साँपों सरीखा है। जिसका उदर वायु से भरी हुई लुहार की धौंकनी-सा भरा हुआ है। जिसकी कमर ओखली जैसी है। जिसके ऊरु अग्निसे आधे जले हुए ठूँठों-सरीखे हैं। जिसके

स्थानमिव नितरामुद्वेजनीयम्, अखण्डमण्डूरकुलमिव मनुष्यरूपेण परिणतम्, अखिलमिव वैरूप्यमवचित्य वेधसा निष्पादितम्, अतिस्थूलश्वासस्फूर्जत्कुक्षिपरिसरम्,

उदग्रघोणघोरणघोषघर्घरितदिग्विवरम्, उत्फुल्लनिद्राभरव्याविदीर्णवदनकन्दरम्, उपलसंपुटनिष्पीडितमिव सर्वतरपूर्वभागम्, उभयतः परिकृष्टमिव दीर्घतरापरागम्, इह करिणिजनस्य दृष्टिविषमापतेदिति मषीपुण्ड्रकमिव द्विपसमीपविनियुक्तम्, अखिलगजोपजीविकेलाजीवनमष्टवङ्कनामधेयं लेसिकापसदमूर्ध्वशुष्कशाल्मलीविटपकर्कशस्पर्शे स्थूले चरणाङ्गुष्ठमूले विनिवेश्य मत्प्रेमप्रासादपरिलोपोग्रवज्रानलस्फुलिङ्गमिव करमुत्थापयन्ती, पुनरुदितेन च तेन किंचित्कलोलमालपता विधुंतुदमलिनेन वामहस्तेनाकृष्य कुरङ्गाङ्ककलङ्कसंकाशं केशपाशमङ्कुशप्रहारनिर्दयेन चेतरेण करेण हन्यमाना, 'अये प्रियतम, अलमलमनेनावेगेन। क्षमस्वैनमेकमनुचितसंबन्धमपराधम्।

आकर्णय तावत्। एषास्मि तव दासी। धृती च ते मया याची। इयं च वासतेयी मम कुशलेन मा विभासीत्, यदहमात्मवशैनैव स्थितवती। किं नु हतविधिनाहं मन्दभाग्यवती परवती विहिता। स च तपनः क्षणमपि दृष्टमह

जानुओं (घुटनों) के प्रदेश महान् कछुए के खर्पर-सरीखे हैं। जिसकी जङ्घाएँ सूजी हुई नसों की गाठों से सर्वत्र व्याप्त थीं। जिसके पैरों की गाठों की दोनों हड्डियाँ ऊपर निकली हुईं व उत्कट हैं। जिसके फटे हुए पाँव अनेक प्रकार की सुरसियों से व्याप्त व निकली हुई टेढ़ी अङ्गुलियों से युक्त थे। जो पाप-समूह सरीखा महान् वाष्ट से देखने लायक था। जो श्मशान-सरीखा अत्यन्त भयानक था। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मनुष्य पर्याय को परिणमन हुआ मण्डूर-(लोह-मल) समूह ही है। अथवा मानों—पूर्वजन्म संबंधी पापकर्म द्वारा समस्त कुरूपता को ग्रहण करके निर्माण किया गया है। जिसके उदर का पर्यन्तभूमि-प्रदेश महान् श्वासों से अप्रतिहतव्यापारशाली था। जिसने उलटित नासिका के निद्राशब्दों से दिशाओं के छिद्रों को बहरे या जर्जरित किये हैं। जिसकी मुखरूपी गुफा उन्माद को प्राप्त हुए निद्रा-भार से विदारित की गई है। जिसका पूर्व शरीर लघु होने से ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—पाषाण-पटल का जोड़ा चम्पित हुआ है। जिसका नीचे का शरीर विस्तृत है, इससे ऐसा प्रतीत होता था—मानों—अपर शरीर के दोनों भागों में ताना गया है। जो कज्जल के तिलक-सा हाथियों के समीप नियुक्त हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों—इन हाथियों के निकट महावत-समूह का दृष्टिविष (नजर-दोष) पड़ जायगा, इसलिए—मानों—जो कज्जल-तिलक ही है एवं जो समस्त महावत लोगों का जूंठा भोजन करनेवाला था।

[हे मारिदत्त महाराज मैंने उक्त 'अष्टवङ्क' के सामने कैसी ? या क्या करती हुई ? अमृतमति देवी देखी ?

जो (अमृतमति) उसके पैरों के अँगूठे के समीप, जो कि विशेष सूखी हुई शाल्मलि वृक्ष की शाखा-सरीखा कठोर स्पर्श वाला व महान् था, बैठकर उसके हाथ को, जो कि मेरे प्रेमरूपी महल को नष्ट करने के लिए उत्कट वज्राग्नि के कण सरीखा था, ऊपर उठा रही थी। एवं जिसके चन्द्र-लाञ्छन सरीखे श्याम केशपाश सोकर उठे हुए व कुछ गाली देते हुए अष्टवङ्क द्वारा राहु-सरीखे मलिन बाएँ हाथ से खींचे गए थे और जो अङ्कुश के निष्ठुर प्रहार-सरीखे निर्दय दाहिने हाथ से पीटी जा रही थी एवं जिसने उस अष्टवङ्क से निम्नप्रकार प्रार्थना की थी।

'अहो स्वामिन्! इस प्रत्यक्ष प्रतीत हुए क्रोध से कोई लाभ नहीं। अद्वितीय, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुए व अयुक्त मेरे अपराध को क्षमा कीजिए। अनुक्रम से सुनिए। यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई मैं आपकी दासी

स्मरगरल न मां मुञ्चति । तत्किं नु खलु करोमि । नन्वहं हताशा । बलीयश्च मे निर्भागिन्याः पुराकृतं दुष्कृतम्, येन त्वयि न शक्नोमि जीवितेश, मनोनुरागवद्बलेन मुधागलल्लावण्यकेन कायेन सदा सन्निधातुम् । तत्समागमसमये च यदि त्वामेव हृदये निधाय तेन सह नासे, तदास्यामेव निशि भगवती कात्यायनी मां खादतु । पृथिव्येनसां च भागिनी स्याम् । तत्प्रसीद । एष ते पादपतनं प्रणयदण्डः संभावय । इदमुपकरणम् । आलिङ्ग्य निर्वापयेमकान्यङ्गकानि । गतेनैव पर्याप्तमन्तरायेण ।' इत्यनुनयन्ती च दृष्टा ।

तदनु वड्वानलपरिष्वङ्गमिव मे संसारसुखतरङ्गस्यापुनरागमनवेलजमिव विषयाभिलाषगजस्य तयोर्दुरभि-सन्धिमात्मसमक्षविधिमवेक्ष्य, आशुशुक्षणिकक्षीकृतः क्षितिरुह इव दह्यमानान्तर्देहः, च्युतमर्यादमुद्रः समुद्र इवानिवार्य-कोपप्रसरः, सैंहिकेयगृहीतशिशिरकर इव विभिन्नाननकान्तिः, आसन्नमरणः प्राणिगण इव कम्पोत्तरलतरकरणः छिद्यमान-

---

हूँ। इस समय मैं आपके चरण कमलों की शपथ करती हूँ। यदि मैं स्वाधीन होती तो यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुई रात्रि [आपके बिना] मेरी कुशलता पूर्वक नहीं व्यतीत होती। किन्तु निन्दित ब्रह्मा ने मुझ अभागिनी को पराधीन बनाया है। वह कामदेव पिशाच-सरीखा आकर मुझे क्षणभर भी नहीं छोड़ता। अर्थात्—तुम्हारी अभिलाषा से ही मैं जीवित रह रही हूँ, इसलिए मैं अनुनय पूर्वक पूँछती हूँ कि मैं क्या करूँ ? अर्थात्—मेरा क्या दोष है ? विधि का ही दोष है। मेरा मनोरथ निश्चय से नष्ट हो गया। मुझ पापिनी का पूर्वजन्म में उपार्जन किया हुआ पाप विशेष शक्तिशाली है, जिससे मैं तुम्हारे पास इस शरीर से, जिसकी कान्ति निरर्थक नष्ट हो रही है, सदा निकट रहने के लिए उसप्रकार समर्थ नहीं हूँ जिसप्रकार आपका अनुराग मेरे हृदय में सदा निकट रहता है। अर्थात्—जिसप्रकार आप प्राणेश्वर में मेरा मानसिक अनुराग सदा रहता है उसप्रकार शरीर से समीप रहने के लिए समर्थ नहीं हूँ। यदि मैं यशोधर के साथ काम सेवन के अवसर पर आपको ही हृदय में धारण करके नहीं रहती हूँ तो इसी रात्रि में परमेश्वरी चण्डिका माता मुझे खाजाय और पृथिवी के पापों की भागिनी हो जाऊँ। इसलिए प्रसन्न होइए। यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ आपके चरण कमलों में नमस्कार ही प्रेम प्रायश्चित्त है, उसे ग्रहण कीजिए। इस उपकरण (कपूर, कस्तूरी, चन्दन-विलेपनादि) को ग्रहण कीजिए। इन शारीरिक अङ्गों को आलिङ्गन देकर सुखी कीजिए। व्यतीत हुआ अन्तराय (विघ्न बाधा) ही पर्याप्त है। अर्थात्—इतने समय तक जो मैं न आ सकी वही काफी है।'

इसके बाद मैंने उन दोनों (अमृतमति देवी व अष्टवङ्क) का वध करनेके लिए म्यान में से आधी निकली हुई तलवार खींची।

[हे मारिदत्त महाराज ! इसके पूर्व मैंने क्या किया ?]

मैंने उन दोनों अष्टवङ्क व अमृतमति का ऐसा कुकृत्य देखा, जो कि संसार-समुद्र सम्बन्धी सुख की लहर-सरीखे मुझे वड़वानल के सम्बन्ध-सा था। अर्थात् जैसे समुद्र-तरङ्ग को वडवानल अग्नि का सम्बन्ध दुःखदायी होता है वैसे ही मुझे उन दोनों का कुकृत्य दुःखदायी हुआ। जो विषयों की लालसारूपी हाथी-सरीखे मुझे अपुनरागमनवेलजद्वार-सरीखा था। अर्थात्—जैसे हाथी जिस दरवाजे से पीड़ित होता है, उस दरवाजे से फिर दूसरी बार नहीं आता, उस दरवाजे को 'अपुनरागमन वेलज-द्वार' कहा जाता है वैसे ही उन दोनों का दुर्विलास भी, मेरे विषयों की अभिलाषारूपी हाथी को अपुनरागमन वेजल द्वार-सरीखा था एवं जो, मेरी आत्मा द्वारा (स्वयं) प्रत्यक्ष किया हुआ था। उससे मैं वैसा जाज्वल्यमान हृदयवाला हुआ जैसे अग्नि से व्याप्त हुआ वृक्ष जाज्वल्यमान मध्यभागवाला होता है। [उस समय] मेरी क्रोध-प्रवृत्ति वैसी निषेध करने के अयोग्य हुई जैसे मर्यादा-रहित समुद्र की क्षोभ-प्रवृत्ति निषेध करने के अयोग्य होती है। जैसे राहु से निगला

लवः पल्लव इव प्रकंपमानाधरदलः, त्रिपुरदाहप्रवृत्तमतिः पार्वतीपतिरिव भ्रुकुटिभङ्गुरितभालमध्यः, ताप्यमानावगाहः कटाह इव लोहिततरवक्षःस्थलः, तिमिरवीचिकाभिरिवामर्षोर्मिकाभिरन्धीक्रियमाणलोचनस्तद्वधाय कोशादधरानुरोध-मसिमहमाकृष्टवान् । अभवच्च दैवात्तदैव मे प्रदीपबोधादिव मनस्तमस्तनुच्छेदः । आः किमिदमहो कर्माहमनुष्ठातुं व्यवसितः । न खलु नार्य इव शुभमशुभं वा कर्म सहसैवारम्भन्ते विनीतमतयः, नापि विपदि संपदि वा कृपणप्रकृतय इवाशु विक्रियां गच्छन्ति महानुभावाः, न चाल्पमेधसामिव महीयसामुपपन्ना भवन्ति कामचारेण प्रवृत्तयः, न चैतद्वधगहनं किंतु प्रातर्मयैव लज्जावनतमस्तकेन शिरः पिधाय स्थातव्यम् । शोचितव्यं च मयैव प्रणयिनां पुरः पश्चात्तापदुःप्रतिष्ठान-मिदमनुष्ठानम् । श्रोतव्या भविष्यन्ति मयैव कर्णकटुताकाराः पुरजनस्य धिक्काराः । सुष्ठु मलिनीकृतं स्यान्मयैवात्मीयं मामीयं च कुलम् । सोढव्या मयैव स्वकुटुम्बकृत्यनिकषसरविषादिषसशल्यस्पृशः कुलवृद्धानामभिधाः । अहमेवोदाहरणं भविष्यामि दुर्बुद्धीनां कुटुम्बविघटने । कलुषतामेष्यत्येषानास्थाने विनियोजिता खड्गलता ।

स्त्रीवधादयमजनि तपस्वीति मृतस्यापि मे न दुर्यशः प्रशान्तिमर्हति । शोकातङ्के पतिष्यति च सापराधस-

---

हुआ चन्द्र कान्ति-हीन होता है वैसे ही मैं भी दूर की हुई मुख-कान्तिवाला हुआ। जैसे निकट मृत्यु प्राणि-समूह चञ्चल देह से व्याप्त होता है वैसे ही मैं भी विशेष चञ्चल शारीरिक अवयव-युक्त हुआ। मैं वैसा कम्पित होते हुए ओष्ठदलवाला हुआ जैसा छेदे जानेवाला विलास-युक्त पल्लव कम्पित पल्लव-युक्त होता है। जैसे दैत्य विशेष के भस्म करने में प्रवृत्त हुई बुद्धिवाला रुद्र भृकुटियों के चढ़ाने से वक्र हुए ललाट के मध्यभागवाला होता है वैसे हो मैं भी भौंहों के चढ़ाने से वक्र किये गए मध्यभागवाला हुआ। जैसे विशेष तपाए जानेवाले मध्यभागवाली कड़ाही विशेष रक्त होती है वैसे मैं भी विशेष रक्त वक्षः स्थलवाला हुआ और अन्धकार लहरी-सरीखीं क्रोध-तरङ्गों से मेरे नेत्र अन्धे किये जा रहे थे।

हे मारिदत्त महाराज ! कर्मयोग से तलवार खींचने के अवसर पर ही मेरे मन में स्थित हुआ क्रोध-रूपी अन्धकार-शरीर वैसा नष्ट हो गया जैसे दीपकके जलाने से अन्धकार नष्ट होता है। उस समय मैंने निम्न प्रकार चिन्तवन किया—

'अहो आत्मन् ! दुःख है कि मैं (यशोधर) इस अष्टवक्र व अमृतमति देवी के वध-कर्म करने में क्यों प्रवृत्त हो रहा हूँ ? क्योंकि विद्वान् पुरुष स्त्रियों-जैसे शुभ व अशुभ कर्म सहसा (बिना विचारे) आरम्भ नहीं करते। जैसे मूर्ख लोग विपत्ति व संपत्ति के अवसर पर विकृत हो जाते हैं, अर्थात् विपत्ति में व्याकुलित व सम्पत्ति में हर्षित हो जाते हैं वैसे महापुरुष विपत्ति व सम्पत्ति के समय विकृत नहीं होते। जैसे मूर्ख पुरुषों की चेष्टाएँ स्वेच्छाचार पूर्वक होती हैं वैसी महापुरुषों की नहीं होतीं। यद्यपि मेरे लिए इन दोनों का वध करना कठिन नहीं है किन्तु ऐसा करने से मुझे प्रातः काल में ही लज्जा से नम्रीभूत मस्तकवाला होकर मस्तक ढककर स्थित रहना पड़ेगा और स्नेही पुरुषों के आगे मुझे ही पश्चात्तापरूपी दुष्ट मूलवाला इस अमृतमति देवी का कुकृत्य प्रकाशित करके शोक करना होगा एवं कानों में कटुकता प्राप्त करनेवाले नागरिक लोगों के धिक्कार वचन मुझ से ही श्रवण करने योग्य होंगे। मुझ से ही मेरा व मामा का वंश विशेष मलिन किया हुआ होगा। मुझ से ही अपने कुल के ज्येष्ठ पुरुषों के वचन, जो कि मन को शल्य सरीखे छूनेवाले हैं और जिनके प्रकार अपनी स्त्री के वध लक्षणवाले पाप में उत्तरहीन हैं, सहन करने योग्य होंगे एवं मैं ही कुटुम्बी जन के नष्ट करने के विषय में दुष्ट बुद्धिवालों का उदाहरण होऊँगा और यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई तलवार अयोग्य स्थान में अधिकृत हुई कलुषता प्राप्त करेगी। अर्थात्—वर देनेवाली व विजय लक्ष्मी प्राप्त करानेवाली नहीं होगी।

विश्रीभूतिदुःखितो युवराजः । परं च बह्वपराधे हि देहिनि क्षणमात्रव्यथाकारणं मरणमनुग्रह इव । यदि पुनरन्वेषण-मुपस्थितस्य, असंभाषणमासन्नस्य, उपेक्षणं विज्ञपयतः, अवधीरणमसमैः परिभूयमानस्य, आशाभङ्गकरणमर्थयतः, प्रीति-वितरणं तदनभिमतानाम्, अस्मरणं प्रियगोष्ठीषु, अनवेक्षणं तत्परिजनस्य, अपवार्य व्याहरणं स्वप्रकाशेष्वप्यालापेषु, अनवसरानुसरणमसङ्गभावेष्वपि प्रस्तावेषु क्रियेत, स्यात्तत्स्थानीतश्चिरमस्थाने कृतसमयः प्रणयः । साधितं चाभिमतम् । इदमेव च निश्चित्याविदितवृत्तान्तस्येव तच्छयनतलमुपगम्य पुरावस्थितवतः प्रलयकालकलितप्रसरस्य मकराकरस्येव निर्मर्यादमन्तर्विकल्पकल्लोलदोलायमानमानसस्य, सा निर्वृत्यात्मनो दुर्विलसितमतित्वरितगतिजनितं वातमन्तरेव जयन्ती

'यह यशोधर स्त्री का घात करने के कारण सन्यासी होगया' ऐसी मेरी अपकीर्ति मर जानेपर भी शान्त नहीं होगी एवं युवराज (श्री यशोमति कुमार) पाप करनेवाली माता के वध से दुःखित होकर पश्चात्ताप रूपी रोग में प्रविष्ट होगा।

अतः मैंने निम्नप्रकार निश्चय किया—दूसरी बात यह है कि विशेष पाप करनेवाले प्राणी से किया हुआ मरण उसको थोड़े समय के लिए दुःख का स्थान है, अतः उसका उपकार सरीखा है। इससे यदि आये हुए पुरुष की ओर दृष्टिपात न किया जाय तो अयोग्य स्थान में किये हुए अवसरवाला प्रणय (स्नेह) चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जाता है। यदि सन्मुख आये हुए पुरुष के साथ भाषण न किया जाय तो अयोग्य स्थान में किये हुए अवसरवाला प्रणय (स्नेह) चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जाता है। अर्थात्—जैसे सन्मुख आए हुए पुरुष के साथ भाषण न करने से स्नेह नष्ट हो जाता वैसे ही सन्मुख आई हुई अमृतमति देवीके साथ वार्तालाप न किया जाय तो मेरा उसके साथ उक्त प्रकार का स्नेह चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जायगा। यदि योग्य शिक्षा देनेवाले का अनादर किया जाय तो उक्त प्रकार का प्रणय नष्ट हो जाता है। यदि विशेष बलिष्ठ शत्रुओं से तिरस्कार किये जानेवाले पुरुष का निरादर किया जाय तो उक्त प्रकार का स्नेह नष्ट हो जाता है। यदि याचना करनेवाले पुरुष की आशा का भङ्ग किया जावे तो स्नेह नष्ट हो जाता है। यदि द्वेष करनेवाले पुरुषों से स्नेह प्रकट किया जावे तो उक्त प्रकार का स्नेह नष्ट हो जाता है। जैसे प्रेमी पुरुषों की सभाओं में प्रेमी का स्मरण न करना प्रणय-भङ्ग करनेवाला होता है वैसे ही प्रिय गोष्ठी में अमृतमति देवी का स्मरण न करना भी उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। एवं जैसे प्रेमी पुरुष के परिवार की ओर दृष्टिपात न करना प्रणय-भङ्ग कारक होता है वैसे ही अमृतमति देवी के परिवार (सखीजन) की ओर दृष्टिपात न करना भी मेरे उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। जैसे स्वाधीन भाषणों में स्नेही को दूर होने की कहना प्रणय भङ्गकारी होता है वैसे ही स्वाधीन वार्तालाप के अवसर पर अमृतमति देवी को दूर होने की कहना भी उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। जैसे वैराग्यजनक अवसरों पर भी अनादर करना प्रणय भङ्गकारी होता है वैसे ही वैराग्य व शृङ्गार जनक सभी अवसरों पर अमृतमति देवी का अनादर मेरे प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। मैंने कर्तव्य निश्चित कर लिया 'मैं उस अमृतमति देवी के साथ वार्तालाप-आदि नहीं करूँगा।'

इसके बाद वह अमृतमति अपना कुकृत्य पूर्ण करके अपनी शीघ्र गति से उत्पन्न हुई वायु पर मध्य में ही विजय श्री प्राप्त करती हुई और ऊर्ध्व श्वाँस द्वारा कञ्चुक को ऊँचा नीचा करनेवाले हृदय-कम्पन को रोकती हुई उद्दण्डता पूर्वक मेरे समीप आई और उसने मेरे, जो कि दुर्विलास न जाननेवाले-सरीखा होकर अमृतमति देवी की शय्या पर पूर्व की तरह सो रहा था और जिसका चित्त वैसा बेमर्यादावाली मानसिक विकल्परूपी महातरङ्गों द्वारा कम्पित हो रहा था जैसे प्रलयकाल द्वारा विस्तृत होनेवाला समुद्र बेमर्याद महातरङ्गों से कम्पित होता है, बाहुरूपी पिञ्जरे का वैसा आश्रय करके अत्यन्त गाढ़ निद्रा पूर्वक शयन किया

निश्वासा चोत्कम्पोत्तालितवारबाणं हृदयतरङ्गमाणमविनीतैरुपसृत्याश्रित्य च मम भुजपञ्जरं कुञ्जनिकुञ्जमिव व्याली, पर्जन्योत्सङ्गमिव सौदामिनी, कुलशैलकन्दरमिव भुजङ्गी, जगदन्तरालमिव कालदूती, जलधिमध्यमिव मकरी, वनगहनमिव निशाचरी, निजाङ्गस्पर्शबीभत्सयेव मदीयां तनुमशेषतः कण्टकयन्ती, बहुकालमात्मदुष्कर्मणः परिणतारम्भत्वादविदितसाहसैवाङ्गनिक्षेपमात्रेणैवातिसरसं न्यद्रासीत् ।

न खलु विवृतेङ्गिताकारस्य पुंसः काचिदपि भवति कार्यसिद्धिरिति जानतोऽपि न मे मनागपि प्रसीदति मनः । पिशाचच्छलितस्येव शून्यहृदयता, महाशोकतप्तस्येव दीर्घतरमुष्णश्वसितम्, अग्निपतितस्येव परिवर्तनबहुलता, ज्वरितस्येवातीव मुखशोषः, कौसीद्योपहतस्येव मुहुर्मुहुर्विजृम्भणम्, उन्मत्तस्येव यत्किंचित्प्रलपनम्, निषादानुगताङ्गी कुरङ्गीव च क्वचिदेव पवनाप्नोति बुद्धिः, मनोऽपि घनदिनमिव आशामन्धकारयत्याशाम्, आत्मनः क्षणमात्रमुद्योतमानमिव प्रतिभासते, भवति च पुनर्बाष्पजलप्रवाहदुर्दिनम् । अहो महदाश्चर्यम् । इयं हि पुरा स्वैरविहारेष्वपि रममाणा भग्नचरणेव नैकाकिनी पदमेकमपि ददाति, जलक्रीडासु बालमृणालस्पर्शेनापि संदिग्धजीवितेव मूर्च्छति, कुसुमावचयेष्वशोकपल्लवक्लिप-

---

जैसे दुष्ट हथिनी लताओं से आच्छादित मध्यवाले स्थान का आश्रय करके शयन करती है। जैसे बिजली मेघ प्रदेश का आश्रय करके निद्रा लेती है। जिस तरह सर्पिणी पर्वत-गुफा का आश्रय करके शयन करती है। जैसे यमराज की दूती तीन लोक के मध्य का आश्रय करके शयन करती है। जैसे मकरी समुद्र के मध्य का आश्रय करके शयन करती है और जैसे राक्षसी वन के मध्य का आश्रय करके शयन करती है। क्या करती हुई उसने शयन किया? मेरे शरीर को रोमाञ्चित करती हुई जो ऐसी मालूम पड़ती थी मानों—मेरे शरीर के छूने में ग्लानि होने के कारण से ही उसने मेरे शरीर को पूर्णरूप से रोमाञ्चित किया था। अज्ञात दुराचारवाली वह ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—दीर्घकाल तक किये हुए अपने पाप सम्बन्धी दुराचार को जीर्ण करने के कारण ही वह बिना जाने हुए दुर्विलास-सरीखी थी।

हे मारिदत्त महाराज! उक्त घटना के घटित होने से 'निश्चय से मानसिक विचार व उसके अनुसार शारीरिक चेष्टा (आकृति) को प्रकाशित करनेवाले पुरुष की कोई भी कार्य सिद्धि नहीं होती। अर्थात्—मानसिक विचार व उसके अनुकूल शारीरिक चेष्टा को गुप्त रखनेवाले पुरुष को ही कार्य में सफलता प्राप्त होती है' उक्त नीति को जानते हुए भी मेरा मन जरा भी प्रसन्न नहीं रहता। मेरे हृदय की शून्यता (जड़ता) वैसी होती थी जैसी ग्रह द्वारा गृहीत पुरुष की हृदय-शून्यता होती है। उस समय मेरा श्वाँस वैसा विस्तृत हो रहा था जैसा महान् शोक से पीड़ित हुए पुरुष का श्वाँस विस्तृत होता है। मेरे शरीर के बाएँ व दाहिने पार्श्व भागों में परिवर्तन की अधिकता वैसी होती थी जैसे अग्नि में पड़ा हुआ पुरुष विशेष परिवर्तन करता है। ज्वर से पीड़ित पुरुष-सा मेरा मुख-शोष होता था। आलस्य से नष्ट होनेवाले पुरुष-सरीखी मुझे बार-बार जँभाई आती थी। मेरे यद्वा तद्वा अनर्थक वचन वैसे हो रहे थे जैसे मद्यपान करनेवाले के वचन यद्वा तद्वा अनर्थक होते हैं। मेरी बुद्धि कहीं पर वैसी स्थान प्राप्त नहीं करती थी जैसे जिसके शरीर के पीछे व्याध लगा है, ऐसी हिरणी कहीं पर स्थान प्राप्त नहीं करती। मेरा मन भी वैसा आशा (धन व भोगादि की वाञ्छा) को अन्धकार-युक्त (शून्य) करता था जैसे वर्षा-दिन अतिशयरूप से आशा (पूर्व-आदि दिशा) को अन्धकारित (अन्धकार से व्याप्त) करता है और मेरा मन अपना क्षणमात्र उद्योत करता हुआ-सरीखा प्रतिभासित हो रहा था तथा अश्रुजल से पूर्ण हो रहा था।

प्रसङ्गानुवाद—हे राजन्! मैं निम्न प्रकार भली-भाँति विचार करके 'अखिल-जनावसर' नाम के सभा मण्डप में प्राप्त हुआ। 'अहो महान् आश्चर्य है, कि यह अमृतमति महादेवी निश्चय से पूर्व में वन क्रीड़ा

तास्वपि शय्यासु शर्करिलदेशपतितेव न सुखायते, मणिकुट्टिमेष्वपि संचरन्ती कण्टकोत्कटक्रमेव स्खलति, केलिकलहेष्वपि विमुच्यमाना भूतपिशाचोपग्रहेव विलपति, कथं चेदानीं सु सङ्कुटोत्स्फुटिता घोटिकेव भृशायमानगमना तथाविधप्रहारसंपातेऽप्यन्येव काचिद्‌धृतेव तिष्ठति, तृणसंस्तरेऽपि निवसन्ती न मनागपि दुःखायते, परुषमार्गप्रचारेष्वपि कक्षान्तरेषु प्रविशन्ती रथारूढेव प्रयाति, वीरचर्यातिवर्तिन्यामप्यस्यां वेलायामवगणा न बिभेति। कथं नु नाम महिलानां स्वप्नेऽपि सरलभावः संभाव्यते, यासामन्तरमनवाप्तावगाह इव मनः कुटिलतासरित्प्रवाहः कुन्तलच्छलेन ललाटतटेषु, भ्रूभङ्गेन श्रवणान्तरालेषु, विलोकनव्याजेन लोचनकुहरेषु, आलापमिषेण वदनकन्दरेषु, गतिविभ्रमेण चरणवर्त्मसु, बहिर्दर्शनपथमगात्।

अतएव प्रावृषि वाहिनीनामिव सीमन्तिनीनां प्रायेण भवन्ति मलीमसाः प्रवृत्तयः। तथाहि—नावेक्षितो ममात्मनश्च कुलस्य परिवादः, न गणितो मे मनागप्यनन्यसाधारणः प्रणयः, नालोकितानि प्रणयकलहेष्वपि मया विहितपरमार्थागसेव कृतान्यनुनयप्रसादनानि, न स्मृतमननुभूतपूर्वमिवाजन्मसंवर्धितं सहावासवासख्यम्, न चिन्तिता सकल

आदि ऐच्छिक विहारों में आमोद-प्रमोद प्राप्त करती हुई अकेली भग्न पैरवाली-सरीखी होकर एक पैर रखने योग्य स्थान प्राप्त नहीं करती थी।

यह देवी जल क्रीड़ादि के अवसरों पर कोमल कमलिनी-कन्द के छू जाने से भी मरी हुई-सरीखी मूर्च्छित हो जाती थी। यह देवी पुष्पों के तोड़ने के अवसरों पर अशोक वृक्ष के पत्तों से रची हुई शय्याओं पर भी ककरीले प्रदेश पर गिरी हुई-सी होकर सुख नहीं मानती थी। यह देवी रत्न-खचित भूमियों पर संचार करती हुई कण्टकों से ताड़ित पैरवाली-सरीखी स्खलन करती हुई चलती थी। यह क्रीड़ा कलहों में भी तिरस्कृत होती हुई ग्रह द्वारा ग्रहण की हुई सरीखी विलाप करती थी। वह इस समय घुड़साल से छूटे हुए बन्धनवाली घोड़ी-सरीखी अत्यन्त तेजी से गमन करनेवाली कैसे हो गई? वैसे प्रहारों (दक्षिण हाथ द्वारा ताड़नों) के संपात होनेपर भी जो दूसरी कोई धारण की हुई-सरीखी स्थित हो रही है। जो घास के बिछौने पर निवास करती हुई जरा-सी भी दुःखी नहीं होती। जो कठिन मार्गपर गमन करने पर भी बड़े-बड़े प्रकोष्ठों (कोठों) में प्रवेश करती हुई रथ पर चढ़ी हुई-सी प्रयाण करती है। वीर पुरुषों द्वारा प्राप्त होने के अयोग्य इस गाढ़ रात्रि में अकेली होकर क्यों भयभीत नहीं होती? स्त्रियों में स्वप्न में भी सरलता हो सकती है, यह कैसे विचार किया जा सकता है? जिन स्त्रियों की मानसिक कुटिलतारूपी नदी का प्रवाह मन में न समाता हुआ ही मानों—निम्न प्रकार बाह्य प्रदेशों में दृष्टि गोचर हो रहा है। जैसे—जो कुटिलतारूपी नदी-प्रवाह केशों के बहाने से उनके मस्तक तटों पर दृष्टिगोचर हुआ। जो भृकुटियों के मिष से कानों के मध्य प्रदेशों पर बाहर दृष्टि पथ को प्राप्त हुआ। जो देखने के बहाने से नेत्र-छिद्रों में बाह्य दृष्टि पथ को प्राप्त हुआ। जो वचनों के बहाने से मुखरूप गुफा में बाहर दृष्टि गोचर हुआ एवं जो गमन के मिष से पादमार्गों में बाहर दृष्टि मार्ग को प्राप्त हुआ।

अत: स्त्रियों की प्रवृत्तियाँ प्राय: करके वैसी मलिन (पाप-युक्त) होती हैं जैसे वर्षा ऋतु में नदियों की प्रवृत्तियाँ प्राय: करके मलिन होती हैं। उक्त बात का निरूपण—इस कुलटा अमृतमति महादेवी ने मेरे तथा अपने वंश की निन्दा नहीं देखी। इसने अपने में रहनेवाले मेरे असाधारण प्रणय (स्नेह) की ओर थोड़ा सा भी विचार नहीं किया। इसने प्रणय-कोपों के अवसर पर भी यथार्थ अपराध करनेवाले मुझ से किये गए अनुनय-प्रसादनों (मान को दूर करनेवाली प्रसन्नताओं) की ओर दृष्टिपात नहीं किया। इसने जन्म पर्यन्त वृद्धिगत हुई सहवास मैत्री का इसलिए चिन्तवन नहीं किया—मानों—जिसे इसने पहिले कभी अनुभव ही नहीं किया है। इसने सर्वलोक से पूज्य अपने महादेवी पद का विचार नहीं किया। मुझ से होनेवाली पराभव-

जनमान्या स्वस्य पदवी, कथमिव न स्थिता मतः परिभवाशङ्का, कथमिव न लज्जितं सपत्नीजनस्य, कथमिव न बीभत्सितमयशःपटहस्य, कथमिव च नावधारितमनन्यजनसुलभविलासानां संपादनम् । यद्यपि च 'स्त्रियः खलेषु रज्यन्ते वत्सहस्तिपकादिषु' इति 'अपात्रे रमते नारी' इति वचनमस्ति, तथापि वयोभोगवस्त्रावेषिता कलासु विश्रुतत्वं च पुरुषाणां संगमयन्त्यसंस्तुता अपि वनिताः । न चास्यैतेष्वन्यतमोऽपि गुणः । तत्किं नु खल्वस्याः कश्मललोचनाब्जेऽस्मिन् कुब्जे प्रीतिकारणम् । आः, अज्ञासिषमज्ञासिषम् । एष हि किल निसर्गकलकण्ठतया शुष्कानपि तरून् पल्लवयतीत्यनेकशः कथितं कुमारेण । गृणन्ति च कलासु गीतस्यैव परं महिमानमुपाध्यायाः । सुप्रयुक्तं हि गीतं स्वभावदुर्भगमपि नरं करोति युवतीनां नयनमनोविश्रामस्थानम् । भवति कुरूपोऽपि गायनः कामदेवादपि कामिनीनां प्रियदर्शनः । गानेन हि दुर्दर्शा अपि योषितः पाशेनाकृष्टा इव सुतरां संगच्छन्ते । कुशलैः कृतप्रयोगं हि गेयमपनीय मानग्रहमपरमेव कंचिदनन्यजनसाध्यमा-धिमुत्पादयति मनस्विनीनाम् । अत एवोशन्ति नीतिवेदिनः—तैरश्चोऽपि पुंयोगः स्त्रियो दूषयति, किं पुनर्न मानुषः । न चैतासामकालतडितामिव प्रवृत्तावपेक्षास्ति । प्रत्युत केतक्य इवाशुचिष्वेव वस्तुषु प्रायेण बध्नन्ति प्रीतिम् ।

भीति इसके मन में क्यों स्थित नहीं हुई ? यह सौत-समूह से क्यों लज्जित नहीं हुई ? इसने अपकीर्तिरूप नगाड़े की ध्वनि से कैसे घृणा प्राप्त नहीं की ? इसने ऐसे भोगों की उत्पत्ति का, जो कि दूसरे लोगों के लिए दुर्लभ हैं, स्मरण क्यों नहीं किया ? यद्यपि 'स्त्रियाँ दुष्ट सेवक व महावत-आदि में अनुरक्त होती हैं' 'स्त्री अयोग्य पुरुष से रमण करती है' ऐसी उक्ति है। तथापि युवावस्था, कपूर, कस्तूरी व चन्दनादि भोग, सुन्दर वस्त्र व आभरण-आदि तथा संगीत-आदि कलाओं में प्रसिद्धि, पुरुषों के ये गुण, उन्हें अपरिचित स्त्रियों से भी संगम करा देते हैं। परन्तु इस कुब्जक में तो उक्त गुणों में से एक भी गुण नहीं है तब मैं फिर सोचता हूँ कि इस अमृतमति देवी का इस कुत्सित नेत्र कमलवाले कुब्जक में प्रेम करने का क्या कारण है ? [उक्त बात को सोचकर] सन्ताप पूर्वक यशोधर महाराज कहते हैं—मैंने प्रेमका कारण जान लिया, जान लिया।

यशोमति कुमार ने मुझ से अनेक बार कहा है कि यह (अष्टवङ्क) स्वभाव से ही मधुर स्वरशाली होने के कारण सूखे वृक्षों को भी पल्लवित—उल्लसित कर देता है। अर्थात्—नीरस पुरुषों को भी अनुरञ्जित कर देता है। विद्वान् अध्यापक लोग बहत्तर कलाओं में गान कला का उत्कृष्ट माहात्म्य कथन करते हैं। अच्छे प्रयोग में लाया हुआ गीत निश्चय से स्वभाव से कुरूप मनुष्य को भी युवती स्त्रियों के नेत्र व हृदय को सुख उत्पन्न करनेवाला स्थान कर देता है।

गायक कुरूप होने पर भी कामिनियों के लिए कामदेव से बढ़कर प्रिय दर्शन-वाली होता है। गान-कला के प्रभाव से वे स्त्रियाँ, जिनका दर्शन भी दुर्लभ है, जाल से खींची हुई-सरीखी विशेषरूप से संगत हो जाती हैं। संगीतशास्त्र में प्रवीण गायकों से अच्छी तरह गाया हुआ गीत मानवती स्त्रियों के अभिमान रूपी पिशाच को दूर करके दूसरी ही कोई अपूर्व मानसी पीड़ा, जो दूसरे के द्वारा न होनेवाली अर्थात्—गीत के बिना ऐसी मानसी पीड़ा कोई उत्पन्न नहीं कर सकता, उत्पन्न कर देता है। अतः नीतिशास्त्र वेत्ता कहते हैं 'पशुसंबंधी पुरुषसंयोग स्त्रियों को दूषित कर देता है फिर मनुष्यसंबंधी पुरुषसंयोग क्या दूषित नहीं करेगा ? ये स्त्रियाँ प्रवृत्ति (संभोग) में वैसे सुन्दरवस्त्र व मनोज्ञ वस्त्राभरणादि की अपेक्षा नहीं करतीं जैसे असमय में चमकनेवाली बिजली प्रवृत्ति (चमकने) में कोई अपेक्षा नहीं करती। विशेषरूप से स्त्रियाँ वैसी अशुचि (मलिन) वस्तुओं (पुरुषों) में ही प्रायः करके प्रेम करती हैं जैसे केतकी पुष्प अशुचि वस्तुओं (विष्ठा) में ही प्रीति रखता है। विद्वानों ने कहा है—'ये स्त्रियाँ पुरुष के सुन्दर रूप की प्रतीक्षा नहीं करतीं, इन्हें पुरुष की जवानी में भी संस्था (मन का टिकना) नहीं है। स्त्रियाँ 'यह पुरुष है' ऐसा मानकर उसे भोग लेती हैं चाहे वह रूपवान् हो अथवा कुरूप हो ॥ १ ॥

उदाहरन्ति च—

'नैता रूपं प्रतीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः। विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥१॥' इति

आः पाण्डुरपृष्ठे, त्वदालम्बनैकजीविते हि मयि दुष्कर्मैवमाचरन्ती कथं द्विधा न विदीर्णासि। अहो पर्याप्तं विषयसुखतर्षेण। तद्विरामो किमिमाः परित्यज्य परमाज्ञाफलोपचर्यमैश्वर्यमनुभवामि। तन्न। विना हि विलासिनीजनेनारण्यमिवेदं राज्यम्, मृतकमण्डनमिवाभरणम्, पङ्कोपदेह इव विलेपनम्, सुप्तसंवाहनमिव शरीरसंस्कारः, प्रकरणमिव चामरातपत्राडम्बरः, कालहरणोपाय इव कलानामभ्यासः, तुण्डकण्डूविनयनमिव काव्याध्ययनम्, ग्रहाभिनिवेश इव मन्त्रचिन्तनम्, कारागारप्रवेशनमिव सभाप्रदानम्, वृथाजीवितपूत्कार इव गेयसमाचारः, संसारसुखोत्सारणपटहनाद इव दुन्दुभीनां नादः, शैलकन्दरावकाशा इव भवनविनिवेशाः, पितृवनानीवोद्यानानि, जठरभृतिवेतनमिव प्रजापालनम्, नगरनापितकर्मेव प्रकृतीनामनुनयकरणम्, शुष्कनदीतरणमिव षाड्गुण्यप्रयोगः, अन्धकारनर्तनमिव धनसंग्रहप्रयासः, पुराकृत-

पीड़ापूर्वक यशोधर महाराज सोचते हैं—

हे कुलटे अथवा निर्भागिनी! मेरे विषय में, जिसके तुम्हीं आधार व अद्वितीय जीवन हो, निस्सन्देह ऐसा पापाचरण करती हुई तू कैसे दो टुकड़ों में प्राप्त नहीं हुई? अहो—आश्चर्य है, विषयसुखों में तृष्णा करना निरर्थक है। अतः अब क्या स्त्रियों को छोड़कर उस उत्कृष्ट ऐश्वर्य (राज्य लक्ष्मी) को भोगूँ, जो कि आज्ञारूपी लाभ से पूज्य है। वह भी उचित नहीं है; क्योंकि स्त्रियों को छोड़कर यदि ऐश्वर्य भोगा जाय तो स्त्रीजन के बिना राज्य वन-सरीखा निस्सार है। कामिनीजन के बिना सुवर्णमय आभूषणों का धारण मुर्दे को अलंकृत करनेसरीखा निष्फल है और कपूर, कस्तूरी व चन्दनादि का लेप करना कीचड़ के विलेपन-सा है। स्त्रीजन के बिना शरीर-मण्डन करना सोते हुए के पैर-दाबने-जैसा निष्फल है। स्त्रीजन के बिना चमर ढोरने का व छत्र-धारण का विस्तार प्रकरण-सा है। अर्थात्—क्षेत्रपाल-आदि के बधापिन (वर्षगाँठ का उत्सव) सरीखा है। लेखन व पठनादि कलाओं का अभ्यास समय व्यतीत करने का उपाय-सा है। कामिनीजन के बिना काव्यशास्त्र का अध्ययन (पठन) मुख की खुजली दूर करनेसरीखा है और पञ्चाङ्ग मन्त्र का विचार भूतावेश-सा है। रमणीजन के बिना सभा का मण्डन करना जेलखाने में प्रविष्ट होने जैसा है और गानकला की समीचीन प्रवृत्ति वृथाजीवन का पूत्कार-सा है। कामिनीजन के बिना दुन्दुभियों की ध्वनि संसार-सुख को दूर करनेवाली पटह-ध्वनि-सी है और नन्द्यावर्त व स्वस्तिकादि महलों में निवास करना पर्वत-गुफाओं में निवास करने सरीखा है तथा प्रमद वन श्मशान-तुल्य है। स्त्रीजन के बिना प्रजा की रक्षा उदरपूर्ति के लिए वेतन-सरीखा है और प्रकृतियों (अमात्य-आदि) का विनय करना नगर के नाई-कर्म-सा है। अर्थात्—जिस प्रकार नाई सभी के कर्म करता है। स्त्रीजन के बिना सन्धि व विग्रह-आदि षाड्गुण्य नीति का प्रयोग सूखी नदी में तैरने के समान कष्टप्रद है। कामिनी जन के बिना धन संचय करने का कष्ट अन्धकार में नाचने सरीखा निरर्थक है और शरीर को पुष्ट करना पूर्वजन्म में किये हुए पाप कर्म के भोग निमित्त सरीखा है। अहो आश्चर्य है कि ब्रह्मा की एक पदार्थ में विरुद्ध गुणों की रचना सम्बन्धी उत्कृष्ट निपुणता क्या है? अर्थात्—यदि ब्रह्मा से ऐसी उपयोगी स्त्री रची गई तो उसे गुणहीन क्यों बनाया? क्योंकि वही पदार्थ विषफल सरीखा पूर्वारम्भ में सुस्वादु और परिणाम में विरस होता है, यही ब्रह्मा की एक पदार्थ में विरुद्ध गुणों की रचना है। समुद्र की तरङ्गों सरीखे प्राणियों का जो उत्पत्ति स्थान है वही विनाश का स्थान है। अर्थात्—जैसे समुद्र तरङ्गों का उत्पत्ति स्थान व विनाश स्थान होता है वैसे स्त्री-आदि इन्द्रियों के भी भोग तत्काल में सुखोत्पत्ति के स्थान और परिणाम में नीरस होने के कारण दुःखोत्पत्ति के स्थान हैं। इन्द्रजाल-सरीखे जिस

कर्मानुभवनार्थमिव च देहपोषणम् । अहो किमिदं विधातुरेकत्र विरुद्धगुणनिर्माणे परमं नैपुण्यम् । यत्किंपाकफलमिवापातमधुरः परिणामविरसश्च स एव भवति भावः, समुद्रकल्लोलानामिव यत्रैव जन्तूनामुत्पत्तिस्थानं तदेव भवति विलयस्य च, माहेन्द्रविज्ञान इव यत्रैवेदं मनो बाढमुत्कण्ठते तत्रैव भवति मुहुः शिथिलादरं च, पथिकसंगसमिव यदेवानन्दजननं तदेव भवति हेतुर्महतः परितापस्य च, हरिद्रारागहृदयस्यास्थिरचित्तस्य भूभुज इव यत एव सर्वकार्याणामारम्भस्तत एव भवत्युपरमश्च । संप्रति हि मे विघटिततमःपटलावकाशमिव सप्रकाशं मानसम्, उल्लिखिततिमिरदोषमिव यथार्थदर्शनमनोषं चक्षुः । कोऽस्कुतोऽयमन्यथा ममाद्य सुविवेकनिश्चयपरश्चित्तप्रसरः । तथाहि—युवजनमृगाणां बन्धायालाय इव वनितासु कुन्तलकलापः, पुनर्भवमहीरुहारोहणोपाय इव भ्रूलतोल्लासः, संसार-सागरपरिभ्रमाय नौयुग्ममिव लोचनयुगलम्, दुःखाटवीविनिपातकरमिव वाचि माधुर्यम्, मृत्युगजप्रलोभनकवल इवाधरपल्लवः, स्पर्शविषकन्दोद्भेद इव पयोधरविनिवेशः, यमपाशवेष्टनमिव भुजलतालिङ्गनम्, उत्पत्तिजरामरणवर्त्मेव वलीनां त्रयम्, आलम्भनकुण्डमिव नाभिमण्डलम्, अखिलगुणविलोपननखरेखेव रोमराजीविनिर्गमः, कालव्यालनिवासभूमिरिव मेखलास्थानम्, व्यसनागमनतोरणमिवोरुनिर्माणम्,[1]

गुणग्रामविलोपेषु साक्षाद्दुर्नीतयः स्त्रियः । स्वर्गापवर्गमार्गस्य निसर्गादर्गला इव ॥१५॥[2]

स्थान में यह मन दृढ़ता से उत्कण्ठित होता है उसी स्थान (स्त्री-आदि विषय) में बार-बार उदासीन हो जाता है। पथिकों के संगम-सरीखा जो स्थान अथवा वस्तु आनन्द जनक होती है वही महान् परिताप का कारण होती है। हल्दी के राग सरीखे हृदयवाले अस्थिर चित्त-युक्त राजा सरीखे जिससे समस्त कार्यों की उत्पत्ति होती है उसी से विनाश भी होता है। इस समय मेरा मन, जिसमें से अज्ञान-समूह का प्रवेश दूर किया गया है, उसके सरीखा प्रकाशमान हो रहा है। इस समय नष्ट तिमिर-आदि दोषवाली सी मेरी चक्षु यथार्थ वस्तु के देखने की बुद्धिवाली है। अन्यथा—यदि ऐसा नहीं है तो मेरा यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ मानसिक व्यापार, जो कि विशिष्ट विवेक व निर्णय करने में तत्पर है, कहाँ से हुआ? उसी अज्ञान के निराकरण का कथन करते हैं—

कमनीय कामिनियों के केशपाश युवकजनरूपी हरिणों के बाँधने के लिए जाल-सरीखा है। उनकी भृकुटिलताका विलास संसाररूपी वृक्ष पर चढ़ने का उपाय-सरीखा है। रमणियों का नेत्र युगल संसार समुद्र में पर्यटन करने के लिए नौका युगल के बन्ध-सा है एवं उनकी वचन-मधुरता दुःखरूपी अटवी में पातन कारक (गिरानेवाली) सी है।

स्त्रियों का बिम्बफल-सा ओष्ठपल्लव मृत्युरूपी हाथीके प्रलोभन के लिये ग्रास-सरीखा है। कामिनियोंके कुचकलशों का विनिवेश स्पर्शविष (जिसके छूने से विष चढ़ता है) वाले गोलाकार मूल की उत्पत्ति-जैसा है और उनकी भुजारूपी लतासे आलिङ्गन करना यमराज के जाल द्वारा अपने शरीर का वेष्टन सरीखा है एवं उनके उदर की त्रिवलियाँ (तीन रेखाएँ) जन्म, जरा व मरणके मार्ग जैसी हैं। कामिनियों का नाभि-मण्डल आलम्भन कुण्ड-सा है। अर्थात्—जिस कुण्ड में ब्राह्मणों द्वारा पशु होमे जाते हैं—मारण कुण्ड सा है एवं उनकी रोमराजि का बाहिर निकलना समस्त गुणों (कवित्व शक्ति व वक्तृत्वकला-आदि) के दूर करने में नखरेखा-जैसा है। स्त्रियों का मेखला स्थान (गुह्य) यमराजरूपी काले साँप की निवास-भूमि-सरीखा है और उनके ऊरुओं की रचना दुःखरूपी राजाके प्रवेश करने के तोरण-सरीखी है।

गुणरूपी नगर को उजाड़ करने में, स्त्रियाँ प्रत्यक्ष से अन्याय-सरीखी हैं। अर्थात्—जैसे अन्याय से ग्राम उजाड़ हो जाते हैं वैसे ही स्त्रियों से गुण नष्ट हो जाते हैं और स्वर्ग व मोक्षमार्ग को स्वभाव से अर्गला (बेड़ा) सरीखी हैं[2] ॥ १५ ॥ अमृतप्राय नेत्रोंवाली स्त्रियाँ परिपाक (कर्मोदय) में विष के समान कौन-कौन

---

१. श्लिष्टोपमालंकारः। २. रूपकोपमालंकारः।

विषवत् परिपाकेषु कां विपत्तिं न कुर्वते । जनयन्ति न कां प्रीतिमापाते मधुरेक्षणाः ॥१६॥
नार्पयन्ति मनः सङ्गे कुर्वन्ति विरहे भयम् । अपूर्वैव स्थितिः काचित्खलानामिव योषिताम् ॥१७॥
द्वेषं गच्छन्त्युपेक्षायां प्रीतौ प्रीतिं न तन्वते । रोषे तोषे च नारीणां सुखमस्ति न कामिषु ॥१८॥
प्रियोपचारसंचारे कुले रूपे वयस्यपि । अन्येष्वपि गुणेष्वासामपेक्षास्ति न मृत्युवत् ॥१९॥
भ्रूर्धनुर्दृष्टयो बाणास्त्रिशूलं च वलित्रयम् । हृदयं कर्तरी यासां ताः कथं नु न चण्डिकाः ॥२०॥
स्त्रीषु साक्षाद्विषं दृष्टौ न सर्पेष्विति मे मनः । तद्दृष्ट एव लोको हि दृश्यते भस्मतां गतः ॥२१॥
एतदेव द्वयं तस्मात् कार्यं स्त्रीषु हितैषिभिः । आहारवत्प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिरथवापरा ॥२२॥

किं च । अपि त्यजत्येवोपायपटुभिरनुप्रविश्यमानः सप्तार्चिरप्यात्मनः स्वभावम्, अपि भवति विदितवेदितव्यै-रुपयुज्यमानं विषमप्यमृतम्, अपि शक्यते महासाहसैर्वशयितुमानेतुं कंकसीनामपि कुलम्, अपि भवन्त्युपप्रलोभनप्रवीणैरुप-चर्यमाणाः क्रूरजन्तवोऽप्यनुलोमचरिताः, सुलभाश्च खलु शिलानामपि मृदूकरणे सन्ति विधयः, न पुनः स्त्रीणाम् । इमा

सी आपत्ति उत्पन्न नहीं करतीं ? और अनुराग काल में कौन से स्नेह को उत्पन्न नहीं करतीं ?[1] ॥ १६ ॥ स्त्रियाँ संयोग के अवसर पर अपना चित्त अर्पण नहीं करतीं, अर्थात्—मानसिक अभिप्राय प्रकट नहीं करतीं और वियोग में भय उत्पन्न करती हैं, इसलिए स्त्रियों की स्थिति (स्वभाव) दुष्टों-सरीखी कहने को अशक्य और अपूर्व (अभिनव) ही होती है । अर्थात्—जैसे दुष्टोंका संगम करने पर वे लोग मानसिक अभिप्राय प्रकट नहीं करते और दूर किये हुए भय उत्पन्न करते हैं[2] ॥ १७ ॥ स्त्रियाँ निरादर करनेसे द्वेष करने लगती हैं और प्रेम करनेसे प्रेम नहीं करतीं, अतः स्त्रियों के कुपित व सन्तुष्ट होने पर उनसे कामी पुरुषोंको सुख प्राप्त नहीं होता[3] ॥ १८ ॥ स्त्रियों को उपकार करना, उच्चकुल, सुन्दर रूप तथा जवानी एवं दूसरे गुणों की अभिलाषा वैसी नहीं होती, अर्थात्—उक्त गुणोंके कारण वे अनुरक्त नहीं होतीं, जैसे यमराज को उक्त अनुग्रह, उच्चकुल आदि गुणों की अपेक्षा नहीं होती । अर्थात्—उक्त गुणों के कारण वह किसी से अनुरक्त होकर उसे अपने मुख का ग्रास बनाना नहीं छोड़ता[4] ॥ १९ ॥ जिन स्त्रियों की भृकुटि धनुष है, तिरछी चितवन बाण हैं व उदर की त्रिवली त्रिशूल हैं एवं हृदय कैंची है, वे स्त्रियाँ चण्डिका देवी क्यों नहीं हैं ?[5] ॥ २० ॥ मुझे ऐसा प्रतीत होता है—मानों—स्त्रियों की दृष्टि में साक्षात् विष होता है और सर्पों की दृष्टि में विष नहीं होता । क्योंकि उन स्त्रियों से दृष्टिगोचर हुआ मनुष्य तो भस्म होता हुआ देखा जाता है परन्तु सर्पों से दृष्टिगोचर हुआ पुरुष भस्म होता हुआ नहीं देखा जाता[6] ॥ २१ ॥ अतः सुखाभिलाषी पुरुष को स्त्रियों के विषय में यही निम्न प्रकार दो कर्तव्य करने चाहिए । या तो उनमें आहार की तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए अथवा उनसे नीहार-सी निवृत्ति (त्याग) करनी चाहिए[7] ॥२२॥

संभावना है कि उपाय-चतुर पुरुषों द्वारा मन्त्रित की जानेवाली अग्नि अपनी उष्णत्व प्रकृति को छोड़ देती है परन्तु स्त्रियाँ अपनी प्रकृति नहीं छोड़तीं । मान्त्रिक व तान्त्रिक पुरुषों द्वारा उपयोग किया जानेवाला विष भी अमृत हो जाता है । इसीप्रकार संभावना है कि अद्भुत कार्य करनेवाले पुरुषों से राक्षसी-समूह वशमें लाने के लिए शक्य है परन्तु खोटी स्त्रियाँ वश में नहीं लाई जा सकतीं । लोभ दिखाने में प्रवीण पुरुषों से आराधन किये जानेवाले सिंह-व्याघ्रादि क्रूरजन्तु अनुकूल हो जाते हैं परन्तु स्त्रियाँ अनुकूल नहीं होतीं । सम्भावना है कि पाषाणों को मृदु—कोमल बनाने के उपाय हैं, परन्तु कठोर हृदयवाली स्त्रियों को मृदु हृदयवाली करने के उपाय नहीं हैं । ये कामिनियाँ निरन्तर शिक्षित

---

१. आक्षेपोपमालंकारः । २. उपमालंकारः । ३. जात्यलंकारः ।
४. समुच्चयोपमालंकारः । ५. उपमाक्षेपालंकारः । ६. उत्प्रेक्षानुमानालंकारः । ७. उपमालंकारः ।

ह्यनिशमनुनीयमाना गृहमर्कटमिव विडम्बयन्ति पुरुषम्, उपचारं गृह्णाणा दानदुर्भराः स मेष इवावक्षिपन्ति, अपेक्ष्यमाणाः पशुमिव मन्यन्ते, हठादुपभुज्यमाना श्मशानकुटमिव परिहरन्ति, सेर्ष्यमनुयुज्यमाना भुजङ्ग इव दशन्ति, गुणवद्भ्यो निम्बादिवोद्विजन्ते, शुचिक्रियेषु मृत्पिण्ड इवाभिनिविशन्ते। अनुरज्यन्त्य एव भवन्ति कारणमनर्थपरम्परायाः, हसन्त्य एव शल्ययन्त्यङ्गानि, पश्यन्त्य एव दहन्ति देहम्, आलपन्त्य एव स्खलन्ति मनसः स्थैर्यम्, आसजन्त्य एव कुर्वन्ति तृणादपि लघुतरं मनुष्यम्, आरक्ष्यमाणाः स्वच्छलेनैवारभन्ते दुष्कर्माणि। न चासामस्ति रक्षणोपायः। तथाहि—अनुश्रवः कृतरक्षाशल्याप्यहल्या किलाखण्डलेन सह संविवेश, हरदेहार्धस्थितापि गिरिसुता गजासुरेण, यमजठरस्थापि छाया पावकेन,

---

की जानेवाली मनुष्य को वैसी विडम्बित (क्लेशित) करती हैं जैसे गृह का बन्दर क्लेशित किया जाता है। ये स्त्रियाँ पूजा (सन्मान) आदि द्वारा स्वीकार की जानेवाली परन्तु दान द्वारा भरण-पोषण के लिये अशक्य हुई पुरुष को बकरा मानकर उसका तिरस्कार करती हैं। ये स्त्रियाँ चाही हुई पुरुष को पशु-सरीखा मानती हैं और जब ये बलात्कारपूर्वक भोगी जाती हैं तब पुरुष को वैसे छोड़ देती हैं जैसे श्मशान-घट अपवित्र जानकर छोड़ दिया जाता है एवं ये स्त्रियाँ क्रोधपूर्वक पूँछी जानेवालीं सर्पिणी-सरीखी पुरुषको काट लेती हैं। ये स्त्रियाँ गुणवान् पुरुषों से वैसी भयभीत होती हैं जैसे लोग कटुक होने से नीम वृक्ष से भयभीत होते हैं। ये पवित्र आचारवान् पुरुषोंमें अपवित्र मिट्टी के ढेले-सरीखा अभिप्राय रखती हैं। ये स्त्रियाँ स्नेह प्रकट करती हुई ही अनर्थपरम्परा की कारण होती हैं एवं हँसती हुई ही पुरुष के शरीरों को शल्य-सरीखों क्लेशित करती हैं। ये देखती हुई ही पुरुष-शरीर को भस्म कर डालती हैं और भाषण करती हुई ही चित्त की स्थिरता नष्ट कर देती हैं। रतिविलास करती हुई ही मनुष्य को तृण से भी नीचा कर देती हैं और अनेक प्रकार से पालन-पोषण की जानेवालीं अपने कपट से दुष्कर्म (जार-गमन-आदि कुकृत्य) आरम्भ करती हैं, इनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है। उक्त बात को दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन करते हैं—

लोक-प्रसिद्ध वैदिक वचन है कि अहल्या (गौतम-भार्या) ने, जिसकी रक्षा-शल्य (रक्षा के लिए काँटों की बाड़) की गई है, इन्द्र के साथ रतिविलास किया।[1]

शिवजी के शरीर के अर्ध भागपर स्थित हुई पार्वतीने गजासुरके साथ भोग विलास किया।[2] इसी प्रकार यम के पेट में स्थित हुई भी 'छाया' नाम की कन्या ने पावक के साथ रतिविलास किया[3] और एक

---

१. अहल्या (गौतम पत्नी) की कथा—
गौतम व कौशिक साथ-साथ विशेष तपश्चर्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उन दोनोंकी तपश्चर्या के प्रभाव से प्रसन्न हुए, इसलिए उन्होंने मन से अहल्या को उत्पन्न किया और उन दोनों में से किसी एक को इन्द्रपद देने की इच्छा की। कौशिक ने 'ऐश्वर्य होनेपर समस्त वैभव प्राप्त होते हैं' ऐसा विचारकर इन्द्रपद ग्रहण किया और अहल्या के साथ रमण किया। गौतम ने उसे शाप दिया, जिससे उसका शरीर भगों (योनियों) से आच्छादित हुआ।

२. पार्वती की कथा—हिमालय पर्वतराज की पुत्री गौरी ने हाथी का रूप धारण करनेवाले शिवजी को हृदयमें बनाया फिर स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाली उसने गजासुर के साथ भोग-विलास किया। उस दोष से उसे शिवजी ने मार दिया।

३. छाया की कथा—वत्सगोत्र में जन्मधारण करनेवाले आकम्पजि ने तीर्थयात्रा करने के इच्छुक होते हुए 'यह यम धर्मराज है' ऐसा सोचकर अपनी युवती छाया नाम की कन्या को उसके लिए रक्षणार्थ समर्पण कर दिया। यम ने भी उसे अपने पेट में स्थापित कर लिया। एक समय जब यम उस छाया नामकी कन्या को सरकण्डों के वन में स्थापित कर मानसरोवर में स्नान करने के लिए गया तब उस छाया ने पावक के साथ भोग-विलास किया!

एकशटनर्यवेहकवधूर्मूलदेवेन, एवमन्याश्चोपाध्यायिकाप्रभृतयो निजपतिसमक्षमुपपतिभिः सहारेभिरे महासाहसानि । अतिसूक्ष्मसंचारश्चायं मार्गो यथा न देवोऽपि प्रहीतुं शक्नोति महिलानां हृदयम् । कथमन्यथेमे पुरातन्यौ श्रुती—

पौंश्चल्याच्चलचित्तत्वान्निःस्नेहत्वाच्च स्वभावतः । रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥२३॥
यदर्थं च मही त्यक्ता जीवितार्धं च हारितम् । सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां वल्लभो नरः ॥२४॥

अहो, क्वेयं नु खलु चित्तस्य वचनगोचरातिचारिणो पुरस्तात् संध्याघनस्येव रागकलुषता, क्व चैवानीं शारदजलधौतस्य वसनस्येव निर्मलभावः, क्व तादृशं पाशपतितस्य पक्षिण इव चक्षुषश्चापलम्, क्व चेदानीं कुलिशकीलितस्येव निश्चलभावः । हतविधे, किमपरः कोऽपि न तवास्ति वधोपायो येनैवमुपप्रलोभ्य प्राणिनः संहरसि । कथं हि

शाट नाम के वणिक की पत्नी ने मूलदेव के साथ काम सेवन किया ।[1] इसी प्रकार दूसरी भी 'उपाध्यायिका' आदि स्त्रियों ने अपने पति के समक्ष जारों के साथ रतिविलास किया । स्त्रियों के हृदय को देवता भी नहीं जान सकता, अतः वह अतिसूक्ष्म सृष्टिवाला है । अन्यथा ये पुरानी बातें कैसे सुनी जाती हैं ।

व्यभिचारिणी होने से व चञ्चल चित्तवाली होने से तथा स्वाभाविक स्नेह-हीन होने के कारण स्त्रियाँ सावधानता पूर्वक रक्षा की हुई भी इस संसार में अपने पतियों के साथ विकृत होती हैं, अर्थात्—उन्हें धोखा देती हैं* ॥२३॥ जिसकी रक्षा के लिए मैंने राज्य छोड़ा और जिसकी रक्षार्थ मैंने (हुंकार नगर के राजकुमार ने) आधी आयु दी वह मेरी पत्नी स्नेह-शून्य होकर देवकेशी के साथ जाकर मुझे छोड़ रही है, अतः संसार में कौन पुरुष स्त्रियों का प्रेमपात्र हुआ है ?[2] ॥२४॥

१. एकशाटवाणिक्-पत्नी की कथा—'एकशाट' नामके महाजन ने, जो कि सर्वत्र अविश्वासी था, अपनी स्त्री की रक्षा के लिए अपने को पत्नी के साथ एक खाड़ी में ढक लिया । धूर्तमूलदेव उस बात को सुनकर आया और वहाँपर हाथों के कड़े पहिनने के बहाने से जब संकेत किये हुए मेघों से पानी बरस रहा था तब अर्धरात्रि में उसने उसकी पत्नी को, जो सात तल्लेवाले महल के अग्रभागपर सो रही थी, अपहरणकर लिया ।

* जात्यलंकारः ।

२. उक्त श्लोक की कथा—पटना नगर की राजकुमारी समस्त शास्त्रों में प्रवीण थी, उसने यह प्रतिज्ञा की कि जो मुझे संगीत-आदि कलाओं में जीत लेगा उसी की मैं पत्नी होऊँगी । उक्त बात को सुनकर हुंकार नामक नगर के राजकुमार ने वहाँ आकर उसे कलाओं में जीतकर उसके साथ विवाह किया । एक समय उस कन्या के पिता को महान् असाध्य बीमारी हुई । वहाँ पर किसी कुलाचार्य ने ऐसा उपदेश दिया 'यदि इसकी राजकुमारी की देवी को बलि दी जायगी तब यह जीवित रह सकता है, अन्यथा नहीं । उक्त बात को सुनकर जमाई राजकुमार राज्य को छोड़कर स्त्री को लेकर महान् अटवी में प्रविष्ट हुआ । वहाँ पर दुष्ट साँप ने उस राजकुमारी को काट खाया । अपनी पत्नी के मोह से राजकुमार के हृदय में साहस पूर्वक अग्नि में प्रवेश करने का अभिप्राय हुआ । उस समय वन देवता ने इसके ऊपर दया करते हुए कहा—यदि आप अपनी आधी आयु दोगे तो तुम्हारी पत्नी जीवित हो सकती है । प्रस्तुत राजकुमार ने अपनी पत्नी की रक्षा के लिए वैसा ही किया । अर्थात्—अपनी आधी आयु दे दी, जिससे उसकी प्रिया जीवित हो गई । वह अपनी प्रिया के साथ एक नगर में प्रवेश करता हुआ प्याऊ के पास सो गया । उसी अवसर पर स्वेच्छाचार से आया हुआ उस नगर का निवासी देवकेशी उसे जगा कर ले गया । फिर सोकर उठे हुए उसके पति ने देवकेशी के साथ उसी नगर में प्रवेश करती हुई उसे देखा और पकड़ लिया । कहाँ जा रही है ? ऐसा विवाद होने पर उसकी पत्नी ने कहा—यह देवकेशी मेरा पति है । पुनः राजपुत्र ने कहा—यदि तेरा यह निश्चय है तो वन देवता के

त्वमेवमसि मध्यस्थो यदेवमसदृशे वस्तुनि देहिनः स्नेहयसि । मुधा च तवैवमतिदारुणकर्मणो धर्म इति प्रसिद्धिः । अहो, कथमिव लोकस्याहार्यगुणरमणीयतामुषि वपुषि शुनः स्वतालुक्षतलोहितपरिप्लुते शुष्के कीकस इव तर्षः । अताम्बूलमुखं हृदुपानत्कारनिकेतनमिव करोति महोद्वेगं चित्तस्य । अनुपनीतं हि चक्षुः स्फुटितपिण्डगण्डमिव महतीं करोति विचिकित्सामन्तःकरणस्य । अविहितसंस्कारं हि शिरः क्षणादेव भवति गोगर्भुनिवारणादपि कष्टतरम् । मनागेवोपेक्षितसृष्टिः शरीरयष्टिश्चर्मकृत्कृतिरिव विदधाति पिधेयनासमासन्नचरम् । अरे, हतवृत्त चित्त, कथमिव त्वमत्र प्राप्तसंसारफलमिवाभिनिविशसे । प्रसरमलभमानं प्राणव्ययैरपि संगन्तुमिच्छसि, वियुज्यमानं परिमुषितसर्वस्वमिव ताम्यसि, अनुषज्यमानं ग्रहगृहीतमिवात्मानं विध्यसि । अहो, किमिवमस्य जगतो महान्ध्यं यदनिशमस्यान्तःसारतामवबुध्यमानमपि सर्वैरिव

आश्चर्य है मैं सोचता हूँ कि कहाँ यह पूर्व में होनेवाली कहने के लिए अशक्य मेरे मन की सन्ध्याकालीन मेघ-सरीखी रागकलुषता और कहाँ इस समय होनेवाली चित्त की वैसी निर्मलता जैसे श्वेत द्रव्य के जल से प्रक्षालित हुआ वस्त्र निर्मल (शुभ्र) होता है। कहाँ पूर्व में होनेवाली जाल में पड़े हुए पक्षी-सरीखी मेरी नेत्र-चपलता और कहाँ इस अवसर पर होनेवाली वज्र द्वारा कीलित हुई-सी मेरी चक्षु-निश्चलता। हे पापिष्ठ विधे ! क्या तुझे दूसरा कोई भी घात करने का उपाय नहीं था, जिससे तुम अमृतमति देवी को इस प्रकार का लोभ दिखाकर वशीभूत करके मुझ-सरीखे प्राणियों का घात करते हो। निस्सन्देह आप कैसे मध्यस्थ हो ? जिससे ऐसे अतुल्य पदार्थ में प्राणियों को स्नेह युक्त करते हो। ऐसा होनेपर विशेषरूप से हिंसा करनेवाले आपकी 'धर्म' ऐसी ख्याति झूठी है। आश्चर्य है किस प्रकार से विवेक-हीन लोक की सुगन्धित वस्त्रादि के संयोग से मनोज्ञता को पुष्ट करनेवाले शरीर में वैसी तृष्णा कैसे हो रही है ? जैसे कुत्ते को अपनी तालु में हुए व्रण से उत्पन्न हुए रक्त से आर्द्र (गीली) हुई नीरस हड्डी में तृष्णा होती है। जैसे चमड़ा बेचनेवाले (चमार) का गृह चित्त को दुःखित करता है वैसे ही ताम्बूल से रहित हुआ मुख महान् दुःख उत्पन्न करता है। जैसे शरीर का व्रणस्फोट (पका हुआ फोड़ा) विशेष घृणा उत्पन्न करता है वैसे ही संस्कार (प्रक्षालन-क्रिया) हीन नेत्र चित्त में विशेष घृणा उत्पन्न करता है एवं निश्चय से संस्कार-हीन (तैलमर्दन-आदि क्रिया से हीन) हुआ मस्तक तत्काल ही डाँस-मच्छड़ को निवारण करनेवाले पंखा से भी निन्द्यतर प्रतीत होता है। यह शरीर-यष्टि थोड़ी-सी ही संस्कारों (स्नान-आदि क्रिया) से उपेक्षित हुई (हीन हुई) वैसी निकटवर्ती पुरुष की नाक बन्द करनेवाली कर देती है जैसे चमार की चमड़े की मशक निकटवर्ती पुरुषको नाक बन्द करनेवाली कर देती है।

अरे दुरात्मन् नष्ट आचरण-शील मन ! तू इस स्त्रीजन में, प्राप्त हुए संसार फल-सरीखा क्यों अभिप्राय करता है ? रे मन ! तू अप्राप्त इष्ट वस्तु के संयोग को महान् कष्ट उठा करके भी प्राप्त करने की चेष्टा करता है। अरे चित्त ! स्त्रियों से वियोग-प्राप्त किये जा रहे तुम उनकी प्राप्ति की वैसी आकाङ्क्षा करते हो जैसे नष्ट हुए समस्त धन की पुनः प्राप्त करने की आकाङ्क्षा की जाती है। अरे चित्त ! तुम स्त्रीजन का संयोग प्राप्त करते हुए अपने को पिशाच से पकड़े हुए-सरीखे पीडित करते हो। आश्चर्य है कि इस लोक का यह अज्ञान क्या है ? जिससे यह लोक इस शरीर व स्त्रीजन के आभ्यन्तर स्वरूप को निरन्तर जानता हुआ भी उनकी प्राप्ति के लिए वैसा [वञ्चनार्थ] प्रयत्नशील किया जाता है जैसे विदूषकों द्वारा राजाओं या नाटक-दर्शकों का

समक्ष जो जो वस्तु तूने मेरी ली है, वह मेरे लिए दे जा। उसने कहा—दे दी। ऐसा कहते ही वह तत्काल काल-कवलित हो गई। बाद में विद्वानों ने उस राजकुमार से पूछा—यह कैसी घटना है ? तब उसने प्रस्तुत श्लोक पढ़ा। अर्थात्—मैंने इसके लिए राज्यादि छोड़ा—तथापि कठोर हृदयवाली यह मुझे छोड़कर देवकेशी के साथ जा रही है।

यत्यते । न वेत्ति बहिस्त्वक्छायाप्रतारितमुदुम्बरफलस्येवास्य कलेवरस्यान्तर्बीभत्सताम् । न चैतदपदा शोच्यं, किं नु खल्वयं वराकः करोतु जन्तुः । कर्मैव तावत्प्रथममनुकूलं न भवति जीवलोकस्य । यतः क्व निसर्गतः पर्वदिवसानीव पुराकृतपुण्यलव-विपाकदुर्लभानि प्राणिषु स्त्रीविलसितानि, क्व च तदुच्छेदनकरागमः कृतान्तपञ्चकुलसमः स्वच्छन्दवृत्तेर्गुणविद्वेषणस्याधर्म-रुचेरज्ञानतिमिरस्यैश्वर्यमहाग्रहस्य च समवायः । यथाजनाभिप्रायमुपदर्शितविषयास्ते च ते चागमाः प्रमाणम् । उपतर्पित-देवपितृतिथिचेतसि हि पुंसि किमप्यशुभं कर्म न भवति दोषायेति, तैस्तैर्निदर्शनैरभ्युपगमयितारः प्रायेण समीपवर्तिनः पुरुषाः । यौवनाविर्भावः पुनः कादम्बरीयोग इव परं मुमुक्षूणामपि नाविकार्य मनांसि विश्राम्यति ।

श्रीमदः सर्वेन्द्रियाणां अनुपाख्येयमिवाप्रतीकारमुपघातकरणम् । अनङ्गसिद्धान्तः खलोपदेश इवानर्थभुजङ्ग-भावनामुत्थापनदण्डः । कवयः पुनः पिशाचा इव विषयेषु विभ्रमयन्ति निसर्गादजिह्मान्यपि चित्तानि । डिण्डिमध्वनिरिव व्यसनव्यालप्रबोधनकरः कलानामभ्यासः । नियोगलाभ इवापातसुन्दरः प्रसह्योन्मादयति सुविदुषोऽपि पुरुषान् । प्रणयिजन-विलासो हृदयमुपनिपत्य दर्पयति च । याचितकमण्डनमिव छन्दानुवर्ती परिजनः । तदेतेष्वेकमप्यलमुपहन्तुं प्राणिनः, किं पुनरमीषां न समवायः । तदहमेवमनुसंभावयेयम्, स्वयमुचितं कर्मानुष्ठातुमशक्तैः स्वव्यसनतर्पणाय कामचारक्रियासु प्रवर्त्यन्ते विवेकविकलाः । न खलु आत्मापेक्षया पापमपापं धर्मो वा भवत्यधर्मः । स्यादपि यदि कर्मविपाकस्तथैव दृश्येत, न

समूह हँसी मँजाक के लिए प्रयत्नशील किया जाता है। यह लोक इस शरीर के बाहिरी वर्णन से धोखा खाया हुआ उदुम्बर फल-सरीखे इस शरीर की भीतरी ग्लानि नहीं जानता। अथवा इस विषय में शोक नहीं करना चाहिए। निस्सन्देह यह विचारा प्राणी क्या करे? अनुक्रम से पूर्व में इस प्राणी-समूह का पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म अनुकूल (सुखजनक) नहीं होता, क्योंकि कहाँ तो प्राणियों में वर्तमान स्त्रियों के विलसित (प्रेमो-द्योतक हाव-भाव-आदि), जो कि स्वभाव से दीपोत्सव-आदि पर्व दिनों-सरीखे प्रमुदित करनेवाले हैं और जो पूर्वोपार्जित पुण्य-लेश के उदय से दुर्लभ हैं, और कहाँ वह पुण्य का नाश करनेवाला मिथ्याशास्त्र, जो कि सिद्धान्त में कहे हुए पञ्चकुल बढ़ई व लुहार-आदि-सरीखा आचार-विचार को नष्ट करता है। जो (मिथ्या-शास्त्र), स्वच्छन्दवृत्ति, गुण-विद्वेषण, अधर्मरुचि, अज्ञानरूप अन्धकार तथा ऐश्वर्य महाग्रह उक्त पाँचों का समुदाय है। प्रस्तुत मिथ्या शास्त्र लोक के मानसिक अभिप्रायानुसार कर्तव्य प्रकट करने वाले हैं। अर्थात्—जैसे जन साधारण चाहता है वैसा ही शास्त्र मिथ्या दृष्टि पढ़ते हैं। वे आगम जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्त (वेद व स्मृतियाँ) प्रमाण माने जाते हैं।

प्राय: करके समीपवर्ती पुरुष, 'देवता, पिता व अतिथियों को चित्त से तृप्त करनेवाले पुरुष से किया हुआ कोई भी अशुभ (पाप) कर्म निश्चय से दोषजनक नहीं होता' ऐसे खोटे दृष्टान्तों द्वारा अशुभ कर्म कराने-वाले होते हैं। जवानी की उत्पत्ति मदिरापान-सरीखी निश्चयसे मोक्षाभिलाषी पुरुषोंके चित्तों को भी विना विकार प्राप्त किये विश्राम नहीं लेती। लक्ष्मी का मद पाँचों इन्द्रियों के विनाश का कारण है, जो जन्मान्ध-सरीखा चिकित्सा के अयोग्य है। कामशास्त्र दुष्टोपदेश-सरीखा धन, धान्य व जीवन का क्षयरूपी सर्पों को जगानेवाली यष्टि है। फिर कवि लोग व्यन्तरों-सरीखे स्वभावसे सरल चित्तों को भी इन्द्रियों के विषयों में भ्रान्ति उत्पन्न कराते हैं। संगीत-आदि कलाओं का अभ्यास डमरू की ध्वनि-सरीखा दुःखरूपी कालसर्प को जगानेवाला है। सचिव आदि उत्तम पदों की प्राप्ति-सरीखा स्त्रीजनों का भोग प्रथमारम्भ में मनोहर प्रतीत होता हुआ हठात्कार से विशिष्ट विद्वान् पुरुषों को भी उन्मत्त बना देता है। यह केवल उन्मत्त ही नहीं करता अपितु चित्त में प्राप्त हुआ दर्प कराता है। इच्छानुसारी परिवार याचना की हुई वस्तु को सुसज्जित करने-सरीखा केवल शोभा के लिए है। अत: इनमें से एक भी पदार्थ जब प्राणियों का विशेष रूप से पतन करने में

र्थयम् । तथाहि—वाच्यमानं पुस्तकमिव प्रतिक्षणमवहीयन्ते सकलजनसाधारणानामीश्वराणामप्यायूंषि । मुनिशिरःसिकेशु वृद्धिरिव न चिरस्थायिनी भवति देहकान्तिः । स्त्रीमनसोऽप्यस्थिरतरमिदं यौवनमाजवंजवीभावोपनीते विनिपाते च पतति । न भवत्यल्प इव महानगोचरः । कीनाशस्तु यः परं बीभत्सुमपि शरीरिणमतिस्पृहयालुतया गिलति, स कथं स्वभावसुभगं परिहरेत् । लब्धेव मे वृत्तिच्छेदो मा भूदिति स यदि कदाचित्कानिचिद्दिनानि दन्तान्तर इवास्ते, तदावश्यं विषयविजयप्रासादविनिर्माणादिव भवितव्यं शिरसि पलितवल्लरीपताकारोहणेन, हितोपदेशनिषेधपरिपाकादिव बाढमुत्कम्पितव्यमुत्त-

---

समर्थ है तब इन सब का समुदाय क्या प्राणियों का अनर्थ नहीं करेगा ? इससे मैं (यशोधर) निम्न प्रकार विचार करता हूँ ।

स्वयं पुण्य कर्म करनेमें असमर्थ पुरुषोंसे अपने व्यसन-पोषण के लिए अज्ञानी पुरुष स्वेच्छाओं में प्रवृत्त किये जाते हैं। निस्सन्देह जाति (ब्राह्मणत्वादि) की अपेक्षा से पाप, पुण्य नहीं होता और धर्म अधर्म नहीं होता। हो सकता है यदि कर्म का उदय विपरीत रूप से देखा जावे। अर्थात्—अधर्म से सुख और धर्म से दुःख होता हुआ देखा जाय तब कहीं अधर्म, धर्म हो सकता है किन्तु वैसा नहीं देखा जाता, किन्तु पाप से दुःख और पुण्य से सुख होता हुआ देखा जाता है।

अब उसी का निरूपण करते हैं—समस्त लोक-सरीखे धनाढ्यों या राजाओं की भी आयु पढ़ी जानेवाली पुस्तक-सी क्षण-क्षण में क्षीण हो रही है। जैसे मुनियों की केश-वृद्धि चिरस्थायिनी नहीं होती वैसे शरीर-कान्ति भी चिरस्थायिनी नहीं होती। यह जवानी स्त्री-चित्त से भी विशेष चञ्चल है। यह प्राणी संसार स्वभाव से आए हुए मरण के अवसर पर मरता ही है। महापुरुष भी साधारण लोक-सरीखा मृत्यु का विषय होता है। निस्सन्देह जो यमराज कुरूप प्राणी को भी विशेष चाहनेवाला होने से खा लेता है वह स्वभाव से सुन्दर राजा को कैसे छोड़ेगा ? 'मुझ यमराज की शीघ्र ही जीविका (लोक को अपने मुखका ग्रास बनानेरूप वृत्ति) का उच्छेद (नाश) नहीं होना चाहिए' इससे यदि वह कुछ दिनों तक अपने दाँतों के मध्य में स्थापित करनेवाला-सा स्थित रहता है। अर्थात्—यदि किसी को तत्काल नहीं निगलता तो उस कालमें निश्चय से वृद्ध के शिर पर सफेद बालों की लतारूपी ध्वजा का आरोहण होना चाहिए। जिससे ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—विषय-विजय-प्रासाद के निर्माण से ही ऐसा हुआ है। अर्थात्—जैसे जब राजा किसी विषय (देश) पर विजयश्री प्राप्त कर लेता है, जिससे वह उस देश को ग्रहण करता हुआ वहाँ पर प्रासाद (महल) का निर्माण करके उसके ऊपर ऊँची ध्वजा स्थापित करता है, वैसे ही यमराज भी जब वृद्ध पुरुष इन्द्रिय-भोगों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह (यमराज) प्रासाद (प्रसन्नता) का निर्माण करता है इससे वृद्ध के मस्तक पर श्वेत बालरूपी ध्वजा स्थापित करता है। इससे ही मानों—उसके मस्तक पर श्वेतकेशरूपी ध्वजा का आरोहण होता है। वृद्ध का शिर विशेष रूप से कम्पित होता है मानों—हितोपदेश के निषेध की परिपूर्णता से ही अतिशयरूप से कम्पित हो रहा है। एवं उसके नेत्र अन्धकार-पटल से सदा आच्छादित होते हैं—मानों—मानसिक स्फूर्ति के नष्ट हो जाने से ही ऐसे हुए हैं। वृद्ध पुरुष की मुखरूपी गुफा से लार बहती है, इससे ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—शारीरिक सन्धि-बन्धनों के टूट जाने से ही ऐसा हुआ है। तथा वृद्ध पुरुष की दन्त-पंक्ति चारों ओर से गिरने-योग्य होती हैं—इससे मानों—रति शक्ति के विधवा होने से ही ऐसा हुआ है तथा वृद्ध-शरीर प्रचुररूप से त्वचाओं की संकोचरूपी लहरों से व्याप्त होता है। इससे मानों—मोहरूपी वायु के प्रसार से ही ऐसा हुआ है। उसकी पीठ झुक जाती है—मानों—सरलता के विनाश से ही टेढ़ी हुई है। उसका स्नसानल-जाल (शरीररूपी महान् वृक्ष के लता-समूह-सरीखी नसों व हड्डियों की श्रेणी) विशेषरूप से प्रकट होती है—मानों—लावण्यरूपी समुद्र के जल के विनाश होने से ही ऐसा हुआ

भाङ्गेन, मनःस्फुरितविरामादिव नितरामावरीतव्यं चक्षुस्तिमिरपटलेन, संविन्नविघटनादिवालीव स्यन्दितव्यं वदनकन्दरेण, रतिशक्तिक्षयादिव समन्ततः पतितव्यं दन्तवलयेन, मोहानिलविजृम्भणादिव चलतरं तरङ्गायितव्यमपघनेन, सरसत्व-क्षयादिव नितान्तमवनमनीयं पृष्ठवंशेन, लावण्यजलधिगलनादिवात्ययर्थं प्रकटितव्यं स्मशानलजालेन, आसन्नतरमरणभयादिव प्रकामं वेपितव्यमङ्गेन। यस्यां पुनर्लक्ष्म्यामयं महानाग्रहो लोकस्य सा दैवात्करमुपागतापि सूतकणिकेव न भवति स्थिरा, खलमैत्रीव संगच्छमानापि अनर्थमवश्यं कांचिद्विपदम्, अपामार्गयवागूरिव लब्धापि न शक्यते परिणमयितुम्, प्रयत्नपरिपालितापि कुलटेव करोत्युपपतावभिलाषम्, अनुभूयमानापि मदिरेव मोहयत्यन्तःकरणम्, ग्रहोपरागलेखेव गताप्यसंतापयन्ती न व्यवतिष्ठते, साहसंकल्पस्थितापि राक्षसीव छलयति केवलं महापुरुषेषु प्रतिष्ठां प्रत्यवसादयितुम्, दुर्जनेषु क्षणमात्रं सखीभावमुपयाति। अलमतिविस्तरेण।

अहं तावत्परवशेनैव गलितमोहपाश इवाभूवम्। किंतु सकलजनविदितमप्रियं न मे किमप्यस्ति प्रव्रजतः। पाणिपरिगृहीता भुजङ्गीव सकृदेव मोक्तुमशक्या चेयं राज्यलक्ष्मीः। कष्टश्च खलु महत्यैश्वर्ये देहिनामात्मलाभः, यत्र श्रायसमपि कर्माचरितुं न लभ्यते स्वातन्त्र्येण। मन्ये च मद्दर्शनावलम्बनजीविता कुलदेवतेव न मामनुमंस्यते तपस्यायाम-म्बादेवी। नवे च वयसि मयि संजातनिर्वेदे विधास्यन्त्यशुभकर्मपरिणामा इव संहत्य मन्त्रिणो ममोचितस्यान्तरायम्। इयतोऽ-

---

है। विशेष निकटवर्ती मरण के भय से ही मानों—वृद्ध का शरीर अधिक कम्पित होता है।

जिस धनादि सम्पत्ति में लोक का महान् आदर है वह भाग्योदय से हस्त में प्राप्त होती हुई भी पारद रस की कणिका-सरीखी स्थिर नहीं रहती। वह (लक्ष्मी) प्राप्त होती हुई भी निश्चय से चुगलखोर की मैत्री-सरीखी कोई भी आपत्ति उत्पन्न कर देती है तथा प्राप्त हुई भी लक्ष्मी अपामार्ग के बीज की तरह पचाने (भोगने) को शक्य नहीं होती। वह लक्ष्मी प्रयत्न पूर्वक रक्षा की गई भी व्यभिचारिणी स्त्री-सी उपपति—दूसरे पुरुष—की अभिलाषा करती है। जिस प्रकार मद्य भोगी जा रही भी मन को मूर्छित करती है उसी प्रकार लक्ष्मी भोगी जा रही भी मनको मोहित—अज्ञानी—करती है। यह लक्ष्मी नष्ट होती हुई चन्द्र-ग्रहण व सूर्य-ग्रहण की रेखा-सी अवश्य क्लेशित करती है। यह लक्ष्मी राक्षसी-सी साहसों से प्राप्त हुई भी केवल महानुभावों की प्रतिष्ठा (शोभा) को नष्ट करने के लिए उन्हें धोखा देती है। वह लक्ष्मी क्षण भर में दुष्टों की सखी हो जाती है। विशेष विस्तार पूर्वक कथन करना पर्याप्त है।

मैं (यशोधर) अनुक्रम से पराधीनता से ही मोहजाल को नष्ट करनेवाला-सरीखा हुआ हूं, किन्तु दीक्षा-ग्रहण करते हुए मेरे पूर्वोक्त वैराग्य का कारण छोड़कर दूसरा कोई भी सर्वलोक विख्यात वैराग्य का कारण नहीं है। हस्त से धारण की हुई सर्पिणी-सरीखी यह राज्यलक्ष्मी एकबार में ही छोड़ने के लिए अशक्य है। महान् धनादि ऐश्वर्य में प्राणियों की उत्पत्ति कष्टदायक है; क्योंकि जिसके होने पर धनाढ्य पुरुष कल्याण-कारक आचरण भी स्वाधीनतापूर्वक करने के लिए समर्थ नहीं होता। मैं जानता हूँ कि मेरे दर्शनाधार से जीवित रहनेवाली व कुलदेवता-सी चन्द्रमती महादेवी (मेरी माता) मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुज्ञा नहीं देगी। जब मुझे इस युवावस्था में संसार, शरीर व भोगों से वैराग्य उत्पन्न होगा तब मन्त्रीगण एकत्रित होकर मेरे मनोवाञ्छित कार्य में वैसे विघ्न करेंगे जैसे पापकर्म के उदय मनोवाञ्छित कार्य में विघ्न करते हैं। जो अमृतमति महादेवी इतने वैराग्य का कारण है, वह अपने ऊपर लोगोंको प्रसन्न करने के लिए मेरे तपोवन में गमन करने का निषेध करनेवाली वैसी होगी जैसे समवसरण गमन करने का निषेध करता है। मेरी आज्ञा-नुसार चलनेवाला नृप-समूह पिशाचवृन्द-सा मोक्षसाधन-कार्य में मेरे अनुकूल होगा यह बात असम्भव है। स्वभाव से स्नेह करनेवाला युवराज (यशोमति कुमार) चरणों को ग्रहण करता हुआ तपश्चरणार्थ प्रस्थान

कस्यान्तरस्य हेतुर्लोकरञ्जनेनापि भविष्यति मे विध्नरिव प्रस्थानविघातकारिण्यमृतमतिमहादेवी। दुष्करमसमसहसंवाह इव श्रेयसि मामनुलोमयिष्यति सामन्तनिवहः। प्रार्थिते वस्तुनि पाश इव करिष्यति गतिभङ्गं पादयोः पतन्निसर्वं प्रणयी युवराजः। किमेकविषलतादोषादेव सकलमपि वनमुपहन्तुं युक्तमिति विलपदन्तःपुरं शिवाकुलमिव विघ्नयिष्यत्यभिलषितयात्रासमयम्। तिर्यग्गामिष्यन्ति च पतत्रिण इव पुरवृद्धाः कामितस्य प्रतिलोमनाय। यतः।

अप्रार्थितोऽपि जायेत पापायाग्रेसरो जनः। धर्मानुष्ठानवेलायां निसर्गात्प्रतिलोमनः ॥२५॥

तदहमत्र कं नु खलूपायमारचयामि। अथवा रचित एवोपायः। तथाहि—यदीयं विभावरी कुशलेन विभास्यति, तदा सर्वावसरं सभामण्डपमास्थायाहूय चाम्बादेवीमखिलं चानुचरलोकमिदमेकमशिक्षितमननुभूतपूर्वमनुचितमप्युपस्थितधर्मकूलनिस्तरणोपायं निकटकूटकपटमनुष्ठास्यामि। भवति हि मृषोद्यमपि प्रायेण महोदयकर्मणे, यत्रात्मनो नैहिकामुष्मिकफलविलोपः। मायापि खलु परं निःश्रेयसमेवारभते, या न भवति परेषां परमार्थतः प्रतारणकरी।

बहिरतिपरुषापि क्रिया सुकृतमेवातनोति, यदि न मनस्तमोबहुलम्। अवसानेष्वन्यथावृत्तिरपि व्यापारो न करोति कामप्यर्थक्षतिम्, यदि न विनेयानां जनयति व्यसनानि।

तथा च प्रवचनम्—वासुपूज्यभगवतो वन्दनामिषेण गतो मिथिलानगरीनाथः पद्मरथो बभूव गणधरदेवः। मातुः कानिचिद्दिनानि वत्सान्तरोऽपि पञ्चशतयुवतिरतिमारः सुकुमारश्च साधयामास अभिमतम्।

करने में वैसा विघ्न करेगा जैसा चरणोंपर पड़ा हुआ जाल गमन करने में विघ्न करता है। 'क्या एक जहरीली लता के दोष से समस्त वन का उच्छेद (काटना) उचित है ?' ऐसा सार्थक विलाप करती हुई मेरी पत्नी-समूह शृगाली-समूह-सी तपोवन के प्रति प्रस्थान करने में विघ्न करेगी। जैसे आड़े आए हुए पक्षी गमन करनेमें अपशकुन करते हैं वैसे नगर के सम्पत्तिशाली पुरुष तपोवन के प्रति प्रस्थान करने में विरोध करने के लिए आड़े आ जाएँगे; क्योंकि—लोक बिना याचना किया हुआ भी पाप-निमित्त अग्रेसर होता है परन्तु पुण्यकर्म करने के अवसर पर वह स्वभाव से प्रतिकूल हो जाता है ॥२५॥

अतः मैं निस्सन्देह तपोवन के प्रति प्रस्थान करने के लिए कौन-सा उपाय रचूँ ? अथवा मैंने उपाय प्राप्त कर लिया। उसी उपाय को दिखाते हैं—

यदि यह आज की रात्रि निर्विघ्न व्यतीत हो जायगी उस समय में 'सर्वावसर' नामके सभामण्डप में बैठकर अपनी माता चन्द्रमती देवी व समस्त सेवक-समूह को बुलाकर ऐसा समीपवर्ती कूटकपट (मायाचार) करूँगा, जो कि अद्वितीय, किसीके द्वारा उपदेश नहीं दिया हुआ, पूर्व में अनुभव में नहीं आया हुआ एवं जो अनुचित होनेपर भी समस्त आए हुए विघ्नों को निवारण करनेका उपाय है, क्योंकि वह असत्य वचन भी बहुलता से कल्याण-निमित्त होता है, जिसमें अपनी आत्माका इसलोक व परलोक संबंधी सुख का विनाश नहीं होता। जो मायाचार निश्चय से दूसरों को धोखा देनेवाला नहीं है, वह भी निस्सन्देह उत्कृष्ट पुण्य को ही उत्पन्न करता है। बाह्यरूप में अत्यन्त कठोर भी क्रिया (आचार—केशलुञ्चन व उपवासादि) पुण्य को ही उत्पन्न करती है यदि उसमें मन अज्ञान-बहुल न हो। समाप्ति में असत्य व्यापार भी कोई पुण्य-विनाश नहीं करता, यदि वह शिष्यों को दुःख उत्पन्न नहीं करता।

उक्त बात के समर्थक सिद्धान्त-वचन हैं—मिथिलानगरी का स्वामी पद्मरथ नामका राजा बारह में तीर्थङ्कर श्री वासुपूज्य भगवान् को वन्दना के बहाने से चम्पा नगरी में प्राप्त हुआ। वहाँ दीक्षा धारण करके गणधर देव हो गया। इसी प्रकार सुकुमाल स्वामी, जो कि पाँच सौ युवतिरूपी रतियों के लिए कामदेव-सरीखे

तदविलम्बम् अम्ब मन्मनोरथानां कल्पलतिके, निशमय ममैकां विज्ञप्तिम् । अयमामुक्तस्तत्रभवत्याः प्रणामाञ्जलिः । निसर्गैकस्वभाव संधिविग्रहप्रारम्भनिर्विघ्नमन्त्रप्रभाव मन्त्रिमण्डल, त्वमपि मनागवधानं कर्तुमर्हसि । उदितोदितकुलशीलावनिगुणधरणे दुरापफलसंपादनचिन्तामणे पुरोहित, सपादपतनं याचितोऽसि । प्रयच्छेतः प्रियशिष्याय कर्णम् । वीरश्रीविलासकमलाकर सकलदिग्वलयप्रसाधनकर सेनापते, भव व्यासङ्गमपहाय प्रयतचेताः । कीर्तिसुधाधवलिताशेषराजनिवास महाहवभरारम्भनिर्व्यूढमहासाहस सामन्तसमाज, समाकर्णय सम्यगिममुदन्तव्यतिकरम् । राज्यलक्ष्मीरक्षाक्षमप्रतापप्रसर निखिलमण्डलेश्वरप्रणामकर्कशकर दौवारिक, निषीदावधारयितुमेनं वृत्तान्तम् । एवमन्योऽपि यः कश्चिन्मत्प्रणयी परिजनः स क्षणमेकमनन्यमनाः शृणोतु । अद्य विभातशेषायां निशि स्वप्नमहमेवमदर्शम्—आत्मनः किलापनीय राज्यभारं यशोमतिकुमार एव निहितवान् । विहाय राजधानीमाश्रमावन्यामिव प्राविक्षम् । उत्सृज्य कनकासनमुपलगहन इवोपविष्टवान् । अवमत्य राजमन्दिरमद्रिकन्दरमिवाशिश्रियम् । अवधूय वसुधाधिपत्यचिह्नानि तपःश्रीलिङ्गानीव गृहीतवान् । परिहृत्य विषयरसमनुष्ठानमानस इवाभूवम् । विसृज्य भवादृशं परिजनं मुमुक्षुजनैरिव संगतोऽस्मि । परित्यज्य विलासिनीजनमरण्यलतावनमिवोपागूहिषम् । अवगणय्य बान्धवेषु परिचितत्वमटवीसत्त्वेष्विव प्रीतिं गतवान् । एवमन्या-

---

थे, और जिन्होंने अपनी माता से कुछ दिनों तक दीक्षा ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की थी और जिन्हें माता द्वारा कुछ दिनों तक दीक्षा ग्रहण में विघ्न बाधाएँ उपस्थित की गई थीं, दीक्षा ग्रहण को सिद्ध किया।

उस कारण से मेरे मनोरथों की पूर्ति के लिए कल्प लता-सरीखी हे माता चन्द्रमती ! मैं पूजनीय आपके लिए यह प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ। मेरा एक विज्ञापन सुनिए। निर्दोष प्रकृतिशाली व समस्त सन्धि व विग्रह-आदि कार्यों के प्रारम्भ में निर्विघ्न मन्त्र-प्रभावशाली हे मन्त्री-मण्डल ! आप भी थोड़ी एकाग्रता धारण के योग्य हैं। विशेष उदयवाले पवित्र वंश और परस्त्री के प्रति मातृ भगिनी-भाव-आदि गुणों की पृथिवी (आधार) एवं दुर्लभ अपूर्व लाभों की प्राप्ति करने में चिन्तामणि-सरीखे हे पुरोहित ! मैं चरणों में नमस्कार पूर्वक आप से प्रार्थना करता हूँ कि प्रिय शिष्य मेरा विज्ञापन ध्यान पूर्वक सुनिए। वीर लक्ष्मी की क्रीड़ा करने के लिए कमल-वन-सरीखे व समस्त दिशा समूह को वश करनेवाले हे सेनापति ! आप चित्त की अस्थिरता छोड़कर सावधान चित्त-युक्त होवें। कीर्तिरूप सुधा द्वारा समस्त राजमहलों को उज्वल करनेवाले और महासंग्राम-भार के प्रारम्भों में महान् अद्भुत कर्मों को वृद्धिंगत करनेवाले हे मेरे अधीनस्थ राजसमूह ! प्रत्यक्ष किये हुए इस वृत्तान्त प्रघट्टक को सावधानी पूर्वक श्रवण कीजिए। जिसके प्रताप का विस्तार, राज्य-लक्ष्मी की रक्षा करने में समर्थ है और जिसका हाथ, समस्त मण्डलेश्वर राजाओं को नम्रीभूत करने में विशेष कठिन है, ऐसे हे द्वारपाल ! तुम मेरी बातको यथार्थ निश्चय करने के लिए बैठो। इसी तरह दूसरा भी मुझसे स्नेह करनेवाला कोई कुटुम्ब वर्ग है, वह सब क्षणभर सावधान चित्त होकर सुने—मैंने आज इसी पश्चिम रात्रि में निम्न प्रकार स्वप्न देखा। अर्थात्—मैंने स्वप्न में अपने को निम्नप्रकार देखा—

मैंने निश्चय से अपना राज्यभार छोड़कर युवराज (यशोमति कुमार) में स्थापित करते हुए सरीखा अपने को देखा और इस राजधानी (उज्जयिनी नगरी) को छोड़कर तपोवन में प्रविष्ट होता हुआ-सा जाना। मैंने सुवर्ण-सिंहासन को छोड़कर स्वयं को पाषाण पर्वत पर स्थित हुआ-जैसा देखा और राजमहल को अनादृत करके पर्वत गुफा का आश्रय किये हुए-सरीखा तथा छत्र-चँवर-आदि राजचिह्नों का परित्याग करके तपोलक्ष्मी के चिह्न (पीछी व कमण्डलु-आदि) ग्रहण करते हुए सरीखा देखा। मैं विषय-स्वाद को छोड़कर क्रिया सरोवर में लीन हुआ-सा हो गया और आप सरीखे कुटुम्बी जनों को छोड़कर मोक्षाभिलाषी महामुनियों के साथ संगत हुआ-जैसा हो गया।

मैंने स्त्री-समूह को छोड़कर स्वयं को वनलताओं के वन का आलिङ्गन करते हुए-सरीखा देखा एवं

न्यप्यनेकशः संसारसुखविमुखानि भत्पुराकृतपुण्यावसानसूचनोल्लेखानि चतुर्थपुरुषार्थसमर्थनोचितानि स्वप्नजालान्यद्राक्षम् । अवबुद्धश्च तदैवाहं यदापि केनचिद्विबोधित इव । सत्यफलाश्च भवन्ति प्रायेण निशावसानेष्ववलोकिताः स्वप्नाः । नापि मे तामसगुणमयी दोषमयी वा प्रकृतिः, येनान्यथापि संभाव्येरन् । न चामीष्विहामुत्र च विरोधाश्रितं किंचिन्निरीक्षितम् । अपि च ।

> श्रुतान्यधीतानि, मही प्रसाधिता दत्तानि वित्तानि यथार्थमर्थिने ।
> पुत्रोऽप्ययं वर्महरः प्रवर्तते, सर्वत्र सम्पूर्णमनोरथागमः ॥२६॥

विषयजोऽपि सुखतर्षो न मे मनः प्रायेण प्रत्यवसाययितुमीश्वरः । यतः ।

> सकृद्विज्ञातसारेषु विषयेषु मुहुर्मुहुः । कथं कुर्वन्न लज्जेत जन्तुश्चर्वितचर्वणम् ॥२७॥
> न भगान्तकसंपर्कात्सुखमन्यन्नृणां भुवि । तेन सन्तः प्रतार्यन्ते यदि तत्त्वमता हता ॥२८॥

बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कुर्यात्, कामं यौवने, स्थविरे धर्मं मोक्षं चेत्यपि, नायमेकान्ततोऽनित्यत्वादायुषो यथोपपन्नं वा सेवेतेत्यपि श्रुतेः । अपि च ।

बन्धु-आदि वर्गों में परिचय को छोड़कर अटवी के हरिण-आदि प्राणियों में अनुराग को प्राप्त हुआ सरीखा अपने को देखा।

इसीप्रकार मैंने दूसरे भी अनेकप्रकार के स्वप्न-समूह देखे, जो कि संसार-सुख छुड़ानेवाले हैं और जिनका उद्देश्य मेरे पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य कर्म के विनाश को सूचित करता है एवं जो मोक्ष पुरुषार्थ के समर्थन में उचित हैं। जैसे मैंने स्वप्न-समूह देखे वैसे जाग गया—मानों—बोलते हुए किसी से जगाया गया हूँ।

पश्चिम रात्रि में देखे हुए स्वप्नों का फल प्रायः करके सत्य होता है। मेरी प्रकृति तामसी नहीं है तथा दोषमयी भी नहीं है, जिससे मेरे स्वप्न मिथ्याफलवाले संभावना किये जावें। इन स्वप्नों के मध्य में मैंने इस जन्म व भविष्य जन्म को विनाश करनेवाला कुछ नहीं देखा। विशेष यह है—

मैंने शास्त्र पढ़ लिए। पृथ्वी को अपने अधीन कर ली। याचकों अथवा सेवकों के लिए यथोक्त धन दे दिए और यह यशोमतिकुमार पुत्र भी कवचधारी वीर है, अतः मैं, समस्त कार्य में अपने मनोरथ को पूर्ण प्राप्ति करनेवाला हो गया हूँ[1] ॥२६॥

पञ्चेन्द्रियों के स्पर्श-आदि विषयों से उत्पन्न हुई सुख-तृष्णा भी प्रायः मेरे मन को भक्षण करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि—इन्द्रिय-विषयों (भोगोपभोग पदार्थों) में, जिनकी श्रेष्ठता या शक्ति एकबार परीक्षा की गई है, बार-बार खाये हुए को खाता हुआ यह प्राणी किसप्रकार लज्जित नहीं होता ?[2] ॥२७॥ मैथुन क्रीडा के अखीर में होनेवाले सुखानुमान को छोड़कर दूसरा कोई भी सांसारिक सुख नहीं है, उस सुख द्वारा यदि विद्वान् पुरुष ठगाए जाते हैं, तो उनका तत्वज्ञान नष्ट ही है[3] ॥२८॥ 'मानव को बाल्य अवस्था में विद्याभ्यास-गुणादि कर्तव्य करना चाहिए और जवानी में कामसेवन करना चाहिए एवं वृद्धावस्था में धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए। अथवा अवसर के अनुसार काम-आदि सेवन करना चाहिए।' यह भी वैदिक वचन है।' परन्तु उक्तप्रकार की मान्यता सर्वथा नहीं है, क्योंकि आयुकर्म अस्थिर है। अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार की वैदिक मान्यता आदि उचित नहीं है, क्योंकि जीवन क्षणभङ्गुर है, अतः मृत्यु द्वारा गृहीत-केश-सरीखा होते हुए धर्मपुरुषार्थ का अनुष्ठान विद्याभ्यास-सा बाल्यावस्था से ही करना चाहिए। तथा च—

---

१. समुच्चयालंकारः । २. आक्षेपालंकारः । ३. जातिरलंकारः ।

ध्यानानुष्ठानशक्तात्मा युवा यो न तपस्यति । स जराजर्जरोऽन्येषां तपोविघ्नकरः परम् ॥२९॥

तदहमेतत्स्वप्नदर्शनमशून्यपरामर्शनं कर्तुमीहे, यदि तत्रभवन्तो न मे भवन्त्युत्सर्गाणामपवादा इव प्रतिबन्धोपायाः । प्रत्युपपन्नं चैतत् । पुरा हि युष्माकमेकैकशः परिगणनातीतानि परमुखेनाप्यभ्यर्थितान्यहं संपादितवान् । भवद्भिः पुनरशेषैः किमेकमपि स्वयमभ्यर्थितं न मे संपाद्यत इति । तथाप्यमी परमार्थेन प्रतिस्वप्नव्याजेन वा तपस्यायां यदि न मामनुमंस्यन्ते, निरस्याप्येतानात्महितमनुष्ठास्यामि । को नु खलु विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव मुधापि संधातुमर्हति । निसर्गविस्निग्धे हि मनसि मरुभूम्यामिव वृथा भवन्ति परजनस्य रसानयनक्लेशाः । अन्यत्र कृतनिश्चये हि चेतसि मरणोपदेश इव विफलो भवति निकटवर्तिनां प्रतिकूलतया मनःसमागमनविनियोगः । स्वभावनिष्ठुरं हि मनः शिलाशकलमिव न देवोऽपि शक्नोति पल्लवयितुम् । अभिनिवेशकर्कशे हि हृदये कुलिश इव न प्रवेशं लभन्ते गुणवत्योऽपि वधूनां प्रार्थनाः । किं च ।

देवस्यापि ग्रहः प्रायः पुंसि जाताग्रहग्रहे । ऊषरे वर्षवन्न स्याद् गुणकारि मनागपि ॥३०॥

धर्मध्यान व चारित्र के पालन में समर्थ आत्मावाला जो पुरुष जवान होकर तपश्चर्या नहीं करता, वह पुरुष वृद्धावस्था में भग्न शरीर-युक्त होकर तपश्चर्या करता हुआ, केवल दूसरे साधुओं की तपश्चर्या में विघ्न उपस्थित करनेवाला होगा ॥२९॥ अतः मैं (यशोधर) इस स्वप्न-दर्शन को सफल विचारवाला करने की इच्छा करता हूँ । यदि आप लोग मुझे निषेध करने के उपाय उसप्रकार न होवें जिसप्रकार विशेष कही हुईं विधियाँ, सामान्य कही हुईं विधियों के निषेध करने के उपाय होती हैं । आपके द्वारा यह मेरी प्रार्थना पालन की हुई होगी, क्योंकि जब मैंने पूर्व में आप लोगों में से एक एक की अगणित प्रार्थनाएँ दूसरों के संदेश-वचन मात्र से भी पालन की हैं तब आप समस्त सज्जन मेरी स्वयं की हुई एक भी प्रार्थना को क्या पालन नहीं करोगे ? तथापि—यदि आप मेरी प्रार्थना सम्पादन नहीं करेंगे—और आप लोग यदि मुझे तपश्चर्या करने की अनुमति नहीं देंगे तो मैं परमार्थ रूप से अथवा स्वप्न-प्रतीकार के बहाने से इन स्वप्नों का निषेध करके आत्महित करूँगा, अर्थात्—तपोवन के प्रति गमन करूँगा । क्योंकि निश्चय से स्फटिक मणि के कङ्कण-सरीखे विघटित हुए (विरक्त हुए) चित्त को कौन पुरुष निरर्थक भी संधान (जोड़ना पक्षान्तर में अनुराग-युक्त) करने के योग्य है । स्वभावतः स्नेह-हीन चित्त में निश्चय से दूसरे लोगों के रसानयन क्लेश वृथा होते हैं । अर्थात्—शृङ्गाररस का प्रदर्शन मरुभूमि की तरह नेत्रों के संताप के लिए होता है । भावार्थ—जैसे मरुभूमि में स्वयं प्यासे होने पर रसानयन क्लेश—दूसरे के हाथ में रस (जल) देखकर नेत्रों को क्लेश होते हैं, वैसे वैराग्य-युक्त पुरुष को तपश्चर्या की प्यास होने पर दूसरे मनुष्यों द्वारा शृङ्गाररस का दिखाना नेत्रों के संताप के लिए होता है । दीक्षा-आदि धारण करने का निश्चय किये हुए चित्त को निश्चय से निकटवर्ती पुरुषों की प्रतिकूलता द्वारा वापिस लाने का अधिकार वैसा निष्फल होता है जैसे मरणोपदेश निष्फल होता है । अर्थात्—'तू मरजा' इसप्रकार का उपदेश सुननेवाला क्या कोई मरता है ? अर्थात्—जिसतरह दिया हुआ मरणोपदेश निष्फल होता है उसीतरह वैराग्यशील चित्तको सरागी बनाने का प्रयत्न भी निष्फल होता है । पाषाणखण्ड-सरीखे स्वभाव से कर्कश मन को निस्सन्देह देवता भी उल्लासित—रागयुक्त करने समर्थ नहीं होता । जैसे वज्र में गुण (तन्तु) प्रवेश नहीं होता वैसे निश्चय से अभिप्राय से कठिन हृदय में स्त्रियों की याचनाएँ गुणकारिणी होती हुईं भी प्रवेश (संक्रमण) नहीं करतीं ।

थोड़ा-सा कहता हूँ—उस पुरुष में, जिसमें प्रायः करके आग्रह रूप पिशाच उत्पन्न हुआ है, देवता

इति संकल्प्य अवश्यमिह जन्मनि न मे शयनतलमारोहन्ति महिला इति च पर्यालोच्य लोकालोकाचल इव 'प्रकाशान्धकारावृत्तिमन्थरितमनःप्रसरे विद्युदाभोगभङ्गुरे नभसीव निमेषोन्मेषाकुलितनयनपर्यन्ते स्वापप्रबोधव्यतिरिक्तामपरामेव काञ्चिद्रसालामिव संकीर्णरसासरालां निद्रावशामनुभवति मयि सति । अहो धर्मावलोक, मदभिमतसाधुकारवादेनेव ध्वनितं शङ्खेन, मत्प्रव्रजनमङ्गलरवेणेव समुच्छलितं संगीतकनिनादेन, मत्कार्यपरिच्छेदेनेव स्फुटितं पूर्वदिग्भागेन, मद्राज्याभिलाषेणेव विरलीभूतं तारकानिकरेण, मन्मनसिजविलासेनेव विच्छायितमिन्दुबिम्बेन, मद्वैराग्यमनसेव विकसितमरविन्दवृन्देन, मद्विषयसुखतर्षेणेव विघटितं तमःपटलेन, मन्मोहपाशेनेव विगलितं संध्यारागेण, मद्वपुषेव लोकलोचनगोचरतामुपगतमरुणकिरणेन, मद्भवनविन्यासैरिव पर्याकुलितं नगनिगमगोपुरसरित्प्रवेशैर्जनसमाजेन । तदनु अहमनवाप्तनिशानिद्रोऽपि वातायनविवरलब्धप्रसरेण रविणा प्रणयिनेव करस्पर्शात्

के भी वचन उसतरह थोड़े भी उपकारक नहीं होते जिसतरह ऊषर भूमि में मेघों की वृष्टि जरा-सी भी उपकारक नहीं होती ।।३०।।

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज ! मैं पूर्व में क्या-क्या करके 'अखिलजनावसर' नामके सभामण्डप में प्राप्त हुआ ?

पूर्वोक्त विषय को मन में धारण करके और 'निश्चय से इस भव में मेरी शय्या पर स्त्रियाँ आरोहण नहीं कर सकतीं' इसप्रकार पूर्व में विचार करके मैं उक्त सभामण्डप में प्राप्त हुआ ।

हे राजन् ! क्या होनेपर मैं उक्त सभामण्डप में प्राप्त हुआ ? जब मैं, जिसकी चित्तप्रवृत्ति वैसी वसी प्रकाश व अन्धकार के आवरण से मन्थरित (व्याप्त या भरी हुई) हुई है, अर्थात्—जो वैराग्य व उद्वेग दोनों से व्याप्त है, जैसे उदयाचल व अस्ताचल प्रकाश व अन्धकार दोनों से युक्त होते हैं। जिसके नेत्रप्रान्त निमेष (नेत्रों का मींचना) व उन्मेष (नेत्रों का खोलना) से संयुक्त हैं, अतः जो बिजली के विस्तार से विनाशशील आकाश-सरीखा था। अर्थात्—जिसप्रकार बिजली मेघों के मध्य में प्रवेश करती हुई अन्धकार उत्पन्न करती है और प्रकट होती हुई प्रकाश करती है उसीप्रकार मेरे नेत्रप्रान्तों में निमेष व उन्मेष उत्पन्न हुए। मैं कैसी निद्रावस्था का अनुभव कर रहा था ? जो शयन व जागरण-युक्त थी; अतः जो अपूर्व, अनिर्वचनीय तथा संमिश्र रसों से अधिक हुई रसाला (शक्कर व मसाला पड़ा हुआ दही—शिखरन) सरीखी थी। अर्थात्—जिसप्रकार रसाला संमिश्र (मिले हुए) रसों से व्याप्त होती है।

धर्म का अनुसन्धान करनेवाले हे मारिदत्त महाराज ! इसके बाद शङ्ख की ध्वनि हुई, उससमय ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मेरे मनचाहे दीक्षाग्रहण का समर्थक साधुकारवचन ही है। हे राजन् ! उससमय गीत, नृत्य व वादित्रों की ध्वनि प्रकट हुई, जो—मानों—मेरे दीक्षाग्रहण की माङ्गलिक ध्वनि ही है। पूर्वदिशा का प्रदेश विकसित हुआ, जो मानों—मेरी दीक्षा-ग्रहण का निश्चय ही है। उससमय ताराओं की श्रेणी मेरी राज्याभिलाषा-सी विरलीभूत हुई। उस समय चन्द्रमण्डल मेरे कामभोग-जैसा कान्ति-हीन हो गया। हे राजन् ! उस समय कमल-समूह वैसा विकसित हुआ जैसे मेरा वैराग्य, चित्त से विकसित—उल्लासित—हुआ। हे राजन् ! उससमय अन्धकार-पटल मेरी विषय सुख की अभिलाषा-सरीखा नष्ट हुआ। उससमय सायंकालीन संध्या की लाली मेरे मोहजाल-सरीखी नष्ट हुई। हे मारिदत्त महाराज ! उससमय सूर्य की किरणें मेरे शरीर-सीं लोगों को दृष्टिगोचर हुईं। हे राजन् ! जनसमाज (लोक-समूह), पर्वत-मार्ग, नगरद्वार व नदी स्थानों से आकर उसप्रकार व्याप्त हुआ जिसप्रकार जनसमाज (सेवक-समूह) मेरी महल-रचनाओं में व्याप्त होता है। हे राजन् ! इसके बाद मैं, रात्रि में निद्रा को प्राप्त न करता हुआ भी गवाक्षजालों (झरोखों) से प्रविष्ट होने-

प्रबोधितः । सिन्धुर इव शय्यामुत्सृज्य, उत्तानवेदिनो हि नरस्य सुखसाध्यमपि कार्यमुदके विशीर्णं चूर्णमिव न भवति यत्नशतैरपि कर्तव्यं प्रतिविधेयमित्यवधार्य, तस्याः दुष्कर्मणो महादेव्याः शरीरसंगमादिव विहितोषस्यमज्जनो निर्वर्त्य च गोसर्गसमयसंभविनमुपासनविधिम्, अपगतमोहबन्धे हि मनसि न खलु परोपनीतः परिग्रहासङ्गो भवति कर्मपरिष्वङ्गायेत्यनुध्याय गृहीतोद्गमनीयमङ्गलदुकूलः, समाचर्य तपश्चर्यानुरागेणेव [1]हरिरोहणेनाङ्गरागम्, आकृत्य हितोपदेशमिव कर्णाभरणम्, 'अहो गुणवतां वर हार, त्वं सुरतविनोदेषु खेदितोऽसि । तदस्य प्रणयिनः सर्वं क्षम्यताम्' इत्यनुनयेनेव कण्ठे गृहीत्वा मुक्ताफलभूषणानि, ईषत्प्राग्भारश्रीपरिणयोत्कण्ठयेव निधाय करे कङ्कणालंकारम्, मार्भून्मम तपस्यायाः कोऽप्यन्तराय इति सिद्धशेषामिव शिरसि विनिवेश्य कुसुमानि, हस्तेकृत्य चेतितकर्तव्यतासारमिव ताम्बूलमखिलजनावसरं सभामण्डपमुपागतोऽस्मि । मिलिते यथाभागमवस्थिते च सर्वस्मिन्ननुजीविलोके प्रवृत्ते च पुस्तकवाचनके चन्द्रमतिम्बादेवीं प्रति मूलं प्रहेतुमिच्छया यावन्मनोरथसारथेः मन्त्रिणो मुखमवलोकयामि, तावत्स्वयमेव मय्येकपुत्रे परमवत्सलतया रात्रिकृतमन्तरं वर्षशतमिव गणयन्तीमतियातयामवयोभिराप्तपुरुषैरधिष्ठिता

वाले सूर्य द्वारा उसप्रकार कर-स्पर्श (किरणों के स्पर्श व पक्षान्तर में हस्तस्पर्श) से जगाया गया जिसप्रकार स्नेही पुरुष द्वारा कर स्पर्श से मित्र जगाया जाता है। फिर हाथी-सरीखे मैंने शय्या (पलङ्ग) को छोड़कर निम्नप्रकार भलीभांति विचार किया। निश्चय से अस्थिर चित्तवाले पुरुष का बिना प्रयत्न सिद्ध होने योग्य कार्य, पानी में फेंके हुए चूने-सरीखा सैकड़ों प्रयत्नों से भी चिकित्सा करने योग्य नहीं होता। अभिप्राय यह है कि उक्त नैतिक सिद्धान्त को स्मरण करते हुए मैंने उक्त घटना किसी के सामने प्रकट नहीं की। इसके बाद हे मारिदत्त महाराज! उस दुराचारिणी महादेवी (अमृतमति) के अस्पृश्य शरीर के स्पर्श से ही मानों—प्रातःकालीन स्नान करनेवाले मैंने प्रभातकालीन उपासना विधि पूर्ण की। 'मोह-बन्ध से रहित चित्त में दूसरे पुरुष द्वारा समीप में लाए हुए वस्त्रादि-परिग्रह का स्वीकार करना, निश्चय से कर्मबन्ध के निमित्त नहीं होता' ऐसा चिन्तवन करके मैंने धुले हुए वस्त्र का धोती जोड़ा व माङ्गलिक दुपट्टा धारण किया। पश्चात् मैंने गोशीर्ष चन्दन द्रव से विलेपन किया, जो—मानों—तपश्चर्या करने में उत्पन्न हुआ अकृत्रिम स्नेह ही है, फिर मैंने हितोपदेश-सरीखे दोनों कर्ण-कुण्डल धारण किए।

'हे गुणवानों में श्रेष्ठ हार! तुम संभोग-क्रीड़ा में विशेष रूप से खेदखिन्न किये गए हो, अतः इस स्नेही का समस्त अपराध क्षमा करो' इसप्रकार अनुनय से ही मानों—मैंने मोतियों का हार कण्ठ में धारण किया। थोड़ी-सी पूर्व की राज्य पालन रूपी भार को लक्ष्मी के विवाह की उत्कण्ठा से ही मानों—मैंने हस्ताभूषण (कङ्कण-अलङ्कार) हस्त में धारण किए। फिर मैंने पुष्प मस्तक पर धारण किए, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—'मेरी तपश्चर्या में कोई विघ्न न होवे' इसकारण से सिद्धचक्र-पूजा संबंधी पुष्पमाला ही है। और मैंने ताम्बूल हस्त में ग्रहण किया, जो—मानों—मेरी दीक्षाग्रहण का निश्चय ही है।

उपसंहार—तदनन्तर मैं 'अखिल जनावसर' नाम के सभामण्डप में प्राप्त हुआ।

हे राजन्! जब समस्त सेवकजन एकत्रित हो चुका था व यथास्थान पर स्थिति कर चुका था एवं शास्त्र बाचनेवाला (पुरोहित) प्रवृत्त हो चुका था। इसीप्रकार जब तक मैं चन्द्रमति माता के प्रति लेख भेजने की इच्छा से 'मनोरथ सारथि' नाम के मन्त्री का मुख देख रहा था तब तक अत्यन्त उत्कण्ठा पूर्वक स्वयं आती हुई ऐसी चन्द्रमति माता को मैंने देखा। जो, मुझ एकलौते पुत्र में उत्कृष्ट स्नेह के कारण रात्रि-संबंधी विरह को सौवर्ष-समान जान रही थी। जो अत्यन्त वृद्ध उम्रवाले मन्त्री-आदि हितैषी पुरुषों से अधिष्ठित थी।

---

१. 'हरितरोहिणेन' इति ह. लि. (क) प्रतौ पाठः ।

मुत्सुकोत्सुकमागच्छन्तीममरसरितमिव हंसकुलपरिवृतामुत्फुल्लसितसरोजवनविहारिणीमिव सरस्वतीमखिलगुणानुगतामिव मत्पितुः कीर्तिमनेककक्षान्तरविनियुक्तविनतमहासामन्तारुणमणिमौलिमयूखोन्मुखराजिरञ्जितोपसंव्यानां संध्यारागोत्तरीयवसनामुदयमानचन्द्राकृतिमिवापश्यम्, अभिमुखमुपचलं च। उदयाचलशिखरसंचरच्चन्द्रप्रतिमोदयाविर्भूतजलः सकल्लोलः सिन्धुरिव पुनस्तच्चरणनखकरोत्सार्यमाणोत्तंसकुसुमसौरभासक्तभृङ्गावर्जितोत्तमाङ्गः

पातालमूलं स भुजङ्गपालो दिवं स देवाधिपतिर्यथा च। मज्जीवनेनापि तथा त्वमेनामाचन्द्रतारं वसुधां प्रशाधि ॥३१॥

इति विहिताशीर्वादोच्चारः शिरःसमाघ्राणपरिकल्पितबालकालोचितोपचारः सुखशयनसंकथाभिर्मुहुर्मुहुर्मामालापयन्तीमर्पितहस्तावलम्बनः पुरः परिसरन्नमृतमरीचिमूर्त्यनुगतस्तद्बालोक इव तं सभामण्डपमुपनीय महासिंहासनपीठिकायामुपावीविशम्, उपाविशं च तदादेशात्सिंहासने। प्रवृत्तासु च तासु तासु किंवदन्तीषु पाठकः संसारस्वरूपनिरूपणप्रस्तावायातमिदमप्यगोष्ट।

जरैव धन्या वनिताजनानां यस्याः समालिङ्गनभाजि पुंसि। अन्याङ्गनावीक्षणविभ्रमाणां न जातु जायेत समागमश्रीः ॥३२॥

जो उसप्रकार हंसकुल (गुरुजनों या निर्दोष पुरुष-समूह) से वेष्टित थी जिसप्रकार गङ्गानदी हंस-श्रेणी से वेष्टित होती है। जो उसप्रकार विकसित हुए उज्वल कमलवनों में विहार करनेवाली थी जिसप्रकार सरस्वती विकसित हुए उज्वल कमल खण्डों में विहार करती है। जो मेरे पिता यशोर्घमहाराज की कीर्ति-सरीखी सर्वगुण-सम्पन्न थी। जिसकी साड़ी बहुत से गृह प्रकोष्ठकों में नियुक्त हुए नम्रीभूत महान् सेवक राजाओं के अरुण (लाल) मणियों से व्याप्त (जड़ित) मुकुटों की किरणोन्मुख श्रेणी द्वारा रञ्जित की गई है। जिसका दुपट्टा, संध्याकालीन लालिमा-सरीखा है और जिसकी आकृति उदित हुए चन्द्र की आकृति-जैसी थी[1]। फिर मैं उसके सन्मुख गया और मैंने उस सभामण्डप में उसे लाकर महान् सिंहासन पीठ पर बैठाया एवं मैं भी उसकी (माता की) आज्ञा से अपने सिंहासन पर बैठा। हे राजन् ! मैं उससमय ऐसे समुद्र-सरीखा था, जिसके जल उदयाचल के शिखर पर संचार करती हुई चन्द्र प्रतिमा के उदय से वृद्धिंगत हो रहे थे और जो विशाल तरङ्गों से व्याप्त था। जिसने (मुझ यशोधर ने) ऐसा मस्तक स्वीकार किया था, जिसपर उस चन्द्रमती माता के चरणनखों की किरणों से तिरस्कार किये जा रहे मुकुट के पुष्पों की सुगन्धि में लम्पट हुए भौंरे वर्तमान थे। एवं जिसे माता ने निम्नप्रकार आशीर्वाद का उच्चारण किया था। हे पुत्र ! 'जैसे वह जगत्प्रसिद्ध शेषनाग पाताल-लोक का प्रतिपालन करता है एवं जैसे वह देवेन्द्र स्वर्ग का शासन करता है वैसे ही तुम मेरी आयु से भी (विशेष समय तक) चन्द्र व ताराओं पर्यन्त इस पृथिवी का शासन करो' ॥३१॥ एवं जिसका मस्तक-सूंघने से वाल्यकालोचित व्यवहार किया गया है। हे राजन् ! मैंने कैसी मेरी माता को सिंहासन पर बैठाया ? जो सुखपूर्वक निद्रा की कथाओं से मुझ से वार-बार एकान्त में भाषण कर रही थी। हे राजन् ! हस्तावलम्बन देनेवाला व माता के आगे गमन करता हुआ मैं चन्द्र-मूर्ति से अनुगत चन्द्रोद्योत-सरीखा था। हे राजन् ! जब वे वे जगत्प्रसिद्ध किंवदन्तियाँ—प्रवृत्त हो रहीं थीं तब कथावाचक विद्वान् ने संसार स्वभाव के कथनावसर पर प्राप्त हुए निम्नप्रकार सुभाषित श्लोक पढ़े—

स्त्रीजनों में वृद्धावस्था ही पुण्यवती है, क्योंकि जिस वृद्धावस्था रूपी स्त्री का आलिङ्गन करनेवाले मानव में (वृद्ध पुरुष में) परस्त्रियों के देखने की शोभा-प्राप्तिरूपी लक्ष्मी कभी भी उत्पन्न नहीं होती[2] ॥३२॥ उस कारण से हे आत्मन् ! जब तक वृद्धावस्था, शारीरिक शक्ति को नष्ट नहीं करती एवं इन्द्रिय-समूह में अन्धकार का विस्तार नहीं करती तब तक आप इस समय उस अनिर्वचनीय कर्त्तव्य को

---

१. उपमालंकारः। २. अप्रस्तुतप्रशंसालंकारः।

ततश्च । यावज्जरा जयते न शरीरशक्तिं यावत्समस्य न समेति हृषीकवर्गः ।
तावत्त्वमाचर विचार्य तदत्र किंचिज्जन्माङ्कुरः पुनरयं रमते न यत्र ॥ ३३ ॥

त्वं मन्दिरद्रविणदारतनूद्भवाद्यैस्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धिः ।
क्लिश्नास्यहर्निशमिमं न तु चित्त वेत्सि दण्डं यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव ॥ ३४ ॥

राजा—(स्वगतम् ।) साधु भो वाचक, साधु । यतः, कथमिव त्वमद्य मच्चेतःप्रविष्ट इव ब्रूषे । पुनरपि वाचको मामतीव संसारसुखासनास्थासु कथासु दत्तावधानमुपलक्ष्य

को नाम न जगति जनः कुशलैः स्ववश्य क्रियेत वशवर्ती । स्त्रीषु खलेष्विव विधिरपि मूढः खलु वश्यतोपाये ॥ ३५ ॥

इतीदं च । राजा—(सविस्मयः । स्वगतम् ।) अहो रात्रिप्रवृत्तवृत्तान्तवेदिन इवास्याद्य सरस्वती प्रेरयति वचांसि । आह्लादमानन्दितश्चाहमनेन । न च स्वामिप्रसादः सेवकेषु प्रसिद्धश्चिन्तामणिरिव फलमसंपाद्य विश्राम्यतीति । (प्रकाशम् ।) अहो वसुवर्ष, वितीर्यतामस्मै सुभाषितवर्षाय पारितोषिकम् ।

वसुवर्षः—यथाज्ञापयति देव इति । तथा कृतवति वसुवर्षे माता—(स्वगतम् ।) अहो, कुतोऽद्य मे पुत्रस्य भवभोगनिर्भर्त्सनपरासु कामिनीजनसंभावनभङ्गुरारम्भनिर्भरासु च गोष्ठीष्विदं परं मनः । किं नु खलु न महावेगोऽहं

विचार करके उसका आचरण करो, जिस कर्त्तव्य के करने पर यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला संसाररूपी अङ्कुर (संसार-प्रादुर्भाव) फिर से क्रीड़ा नहीं करता[1] ॥३३॥ हे आत्मन्! तुम पापास्रव को उत्पन्न करनेवाले व महल, धन, कलत्र व पुत्रादि की आकाङ्क्षा रूपी अन्धकारों द्वारा नष्ट बुद्धिवाले होते हुए निरन्तर क्लेशित हो रहे हो। हे चित्त! तुम बिना अवसर के गिरनेवाले यमराज के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले मरणलक्षण-वाले दण्ड को नहीं जानते हो[2] ॥३४॥ उक्त सुभाषित श्रवण कर यशोधर महाराज अपने मन में निम्नप्रकार चिन्तवन करते हैं—हे सुभाषित वाचनेवाले! तुमने विशेष प्रशस्त निरूपण किया। क्योंकि आज तुम मेरे मन में प्रविष्ट हुए सरीखे स्पष्ट बोलते हो। हे मारिदत्त महाराज! कथावाचक विद्वान् ने मुझे संसार-सुख से विमुख करनेवाली कथाओं में विशेष रूप से ध्यान देनेवाले देखकर फिर से निम्नप्रकार सुभाषित श्लोक पढ़ा—विद्वानों से संसार में कौन पुरुष अपने वशवर्ती नहीं किया जाता? परन्तु दुष्टों या चुगलखोरों की तरह स्त्रियों के वशीकरण के उपाय में विधि भी मूढ़ है। अर्थात्—वशीभूत करना नहीं जानता[3] ॥३५॥ यशोधर महाराज आश्चर्यान्वित होते हुए अपने मन में निम्नप्रकार चिन्तवन करते हैं—आश्चर्य है कि आज दिन रात्रि में उत्पन्न हुए वृत्तान्त को जाननेवाले-सरीखे इस कथावाचक की सरस्वती (वाग्देवता) वचनों को प्रेरित कर रही है। इसने मुझे विशेष आनन्दित किया। सेवकों में प्रसिद्धि-प्राप्त किया हुआ स्वामी का प्रसाद (प्रसन्नता) चिन्तामणि-सरीखा कुछ लाभ उत्पन्न किये बिना विश्राम नहीं लेता। इसप्रकार विचार कर यशोधर महाराज ने स्पष्ट कहा—हे 'वसुवर्ष' नामके खजानची! तुम सुभाषित की वृष्टि करनेवाले इस कथा-वाचक के लिए पारितोषिक दो।

वसुवर्ष नामका कोषाध्यक्ष—स्वामी की जैसी आज्ञा है। जब उक्त कोषाध्यक्ष ने उस कथावाचक विद्वान् के लिए पारितोषिक वितरण कर दिया तब चन्द्रमती माता अपने मन में निम्न प्रकार विचार करती है—'आश्चर्य है, आज के दिन ऐसी वार्ताओं में, जो सांसारिक भोगों का तिरस्कार करने में तत्पर हैं, एवं

---

१. रूपकालंकारः । २. रूपकालंकारः । ३. रूपकोपमालंकारः ।

गतस्यास्य किमपि वैराग्यकारणमभूत् । ममानिच्छन्त्या एव हि पुत्रेणेयं महति स्वातन्त्र्ये स्थापिता । अतिप्रसक्तं च स्त्रीषु स्वातन्त्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विरमति । कथितं च मे लाञ्चोपायनविनियुक्तया रसायनसिद्धेर्माहानसिकस्य सुतया प्रियंवदया यथा—अम्बादेवि, तव स्नुषायाः प्रणयपर इव दृश्यते तस्मिन् कुब्जे दृष्टिनिपातः ।' (प्रकाशम् ।) वत्स, कथमिव लक्ष्मीविलासहंसाभिनवसमागमसरस्यपि वयसि चतुर्थपुरुषार्थप्रार्थनोत्थासु कथासु गततृष्णमपि सतृष्णमिवाद्य ते प्रतिभाति चेतः । वदनच्छायाप्यन्यथैव ते दृश्यते । वपुरपि मलिनं कमलमिवातीव ते विच्छायम् । श्वासा अपि होमधूमोद्गमा इव तवाधरदलं मलिनयन्तो दीर्घतरमायच्छन्ते । लोचने अपि सान्द्रनिद्रोद्रेकघूर्णिते शत्रुकुलमिव ते मन्दस्पन्दे । मदारम्भे सामज इव मुहुर्मुहुरायासमायासि जृम्भितेषु । कर्मणि विनियुक्तस्तुरग इव न स्थिरस्तिष्ठसि चासने । राजा—(स्वगतम् ।) अहो, प्रारम्भे दैवस्य महती खलु कार्यघटनासु तत्परता, मातुश्च मयि संप्रश्नेषु । (प्रकाशम् ।) अम्ब, विज्ञापयामि स्वोपज्ञपथमुत्थितं कथयामास । मातापि निशम्यैनम्

यातु द्विषत्पक्षमयं समीक्षितुं प्रतीक्ष्यलक्ष्मीस्त्वमिहोचिताच्चिरम् ।
महीं च रत्नाकरवारिमेखलां समं स्नुषानन्दनजनेन रक्षतात् ।। ३६ ।।

जो स्त्रीजनों की अनुकूलता की स्वयं विनश्वरता के आरम्भ से गाढ़ हैं, मेरे पुत्र का यह मन विशेष संलग्न कैसे हो गया ? मैं ऐसा सोचती हूँ कि महादेवी के गृह में प्राप्त हुए मेरे पुत्र को निश्चय से क्या कोई वैराग्य-कारण नहीं हुआ ? अपि तु अवश्य हुआ है। क्योंकि न चाहती हुई ही मेरे पुत्र (यशोधर) ने इसे विशेष स्वाधीनता में स्थापित कर दिया है। क्योंकि विशेष मात्रा में प्राप्त हुई स्त्रियों की स्वाधीनता, तलवार की धार-सरीखी पति-हृदय को विना विदीर्ण किए विश्राम नहीं लेती। 'रसायनसिद्धि' नाम के रसोईये की प्रियंवदा नाम की पुत्री ने, जो कि मुझे लाडू-आदि भेंट लाने के अधिकार में नियुक्त की गई है, मुझसे कहा था—यथा—'हे माता ! आपकी पुत्रवधू (अमृतमति महादेवी) की दृष्टि उस प्रसिद्ध 'अष्टवङ्क' नामके निकृष्ट महावत में स्नेह करने में तत्पर हुई-सरीखी देखी जाती है।' फिर चन्द्रमती माता ने मुझसे स्पष्ट कहा—हे पुत्र ! इस युवावस्था में, जो कि लक्ष्मी-भोग रूपी हंस के नवीन समागम में सरोवर-सी भी है, मोक्ष पुरुषार्थ की आकाङ्क्षा का उत्थान करनेवाली धर्म-कथाओं में, अभिलाषा-रहित हुआ भी तेरा मन, इस समय तृष्णा-युक्त-सरीखा किस प्रकार प्रतिभासित हो रहा है ? हे पुत्र ! तेरी मुख-कान्ति भी दूसरी-सरीखी (म्लान) दिखाई देती है। तेरा शरीर भी मलिन कमल-जैसा विशेष कान्ति-हीन दृष्टिगोचर हो रहा है। तेरे श्वांस भी होम संबंधी धुएँ की उत्पत्ति-सरीखे तेरे ओष्ठदलों को मलिन करते हुए विस्तृत रूप से निकल रहे हैं। हे पुत्र ! तेरे दोनों नेत्र भी विशेष निद्रा की अधिकता से आच्छादित हुए शत्रुसमूह-सरीखे मन्द स्पन्द (ईषच्चलन) युक्त हैं। अर्थात्—जिसप्रकार तेरा शत्रु समूह मन्दस्पन्द (अल्पव्यापार) युक्त है। हे पुत्र ! तुम बार-बार जँभाई लेने में मद के आरम्भ में हाथी-जैसे कष्ट प्राप्त कर रहे हो। हे पुत्र ! तुम गमनादि क्रिया में अधिकृत होते हुए सिंहासन पर घोड़े-सरीखे निश्चल होकर नहीं बैठते। फिर यशोधर महाराज अपने मन में निम्न प्रकार विचार करते हैं—'आश्चर्य है दैव (पुराकृत कर्म) की निस्सन्देह प्रारम्भ में कार्य करने में विशेष एकाग्रता है और माता की मेरे विषय में शिष्टतापूर्ण अनुसन्धान करने में विशेष एकाग्रता है।' इसके बाद यशोधर महाराज ने स्पष्ट निवेदन किया—हे माता ! 'विज्ञापित करता हूँ'। ऐसा कहते हुए उसने अपने द्वारा कल्पना किये हुए मार्गवाला स्वप्न में प्राप्त हुआ वृत्तान्त कहा। माता ने भी स्वप्न में प्राप्त हुए वृत्तान्त को सुनकर सर्वरूप से रक्षा करने के लिए निष्ठीवन (थूंक) सम्बन्धी बिन्दुओं को भय-सहित व कम्पित हृदय पूर्वक एवं दयालुता के उदय-सहित नाना प्रकार से क्षरण करके निम्नप्रकार मुझे समझाया।

हे पुत्र ! यह दुःस्वप्न शत्रुपक्ष पर गिरे। पूज्य राज्यलक्ष्मीवाले आप, इस भूमण्डल पर दीर्घकाल

इति सभयं सोद्वेगहृदयं सानुकम्पोदयं च समन्तादस्रविप्रुषो विकिरन्ती मामेवमब्रुवत्—पुत्र, सर्वशास्त्रेषु बुधसङ्गविदग्धोऽपि कथं स्वमद्याचारान्ध इवावभाससे। को हि नाम सचेतनः स्वप्नेषु भक्तमुपलभ्य गोणिं प्रसारयति। यदि च नियमेन सत्फला भवन्ति स्वप्नास्तर्हि हतमेतदार्यकस्य त्रियामायां मोदकमन्दमठिकावलोकनादामन्त्रितमहीपतेरुपाख्यानम्। प्राणिनो ह्यनिलानलपीनसान्तरिताः स्वप्नावस्थायामर्थजातं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा निरीक्षन्ते। कथितवती चाधुनैव मे पथि सहागच्छन्तीयं तव धात्री दुहिता वसन्तिका, यथा—आर्याणि, प्रभातशेषायां निशि स्वप्ने किलाहं यवागूरिव संवृत्तास्मि। भुक्ता च मन्मातुः श्राद्धामन्त्रितैर्भूदेवैरिति।

निष्कण्टकं राज्यमिदं प्रवृद्धमिमे निदेशावहिताश्च भूपाः।
दिशो वशंतास्तव कामितानि यच्छन्ति चिन्तामणिभिः समानाः॥ ३७॥

अमूनि पूर्वैर्भवतार्जितानि त्यागाय भोगाय वसूनि सन्ति। इच्छाविधेयश्च विलासिनीनामयं गणस्तेऽप्सरसां सदृक्षः॥ ३८॥
निष्कारणं सर्वमिदं विहाय त्वं केन कामेन तपो हि कुर्याः। स्वर्गापवर्गार्थमिदं न सम्यग्दृष्टाददृष्टं खलु किं गरीयः॥ ३९॥

अथाज्ञया कोऽपि न वर्तते ते तत्रोत्सृज कोपविषं न दोषः।
भयेन किं मन्त्रविसर्पिणीनां कन्यां स्वयन्नकोऽपि निरीक्षितोऽस्ति॥ ४०॥

पर्यन्त उदय प्राप्त करें और वधू व पोते वर्ग के साथ समुद्रजल मर्यादावाली इस पृथिवी का प्रतिपालन करें।[1] ॥ ३६ ॥

हे पुत्र! समस्त शास्त्रों में विद्वानों की सङ्गति से विचक्षण होते हुए भी तुम इस समय मूर्ख या क्रियामूढ़-सरीखे किस प्रकार प्रतीत होते हो? निश्चय से कौन चतुर पुरुष स्वप्नमें धान्य प्राप्त करके [उसे भरने-हेतु] गोणी (बोरा या थैला) धारण करता है? अपि तु कोई नहीं करता। यदि स्वप्न नियम से सत्य फलवाले होते हैं तो आचार्य की, जिसने रात्रि में स्वप्न में लड्डुओं से भरी हुई छात्रशाला को देखने से राजा को परिवार-सहित निमन्त्रित किया था, यह जगत्प्रसिद्ध नष्ट दृष्टान्त कथा [सच्ची] समझनी चाहिए। अतः प्राणी वात पित्त व कफ-सहित होते हुए स्वप्नावसर में पूर्व में उत्पन्न हुए या पूर्व में नहीं उत्पन्न हुए वस्तु समूह को देखते हैं। इस समय में ही मेरे मार्ग में साथ आती हुई इस तुम्हारी धाय की पुत्री वसन्तिका नाम-वाली ने मुझ से निम्न प्रकार कहा था—यथा—'हे स्वामिनि! पश्चिम रात्रि के प्रान्तभाग में निश्चय से मैं स्वप्न में यवागू-सरीखी हुई। अर्थात्—मैंने स्वप्न में विशेष मात्रा में यवागू (पतले भात) देखे। और जिन्हें, मेरी माता के श्राद्ध में निमन्त्रित किये हुए ब्राह्मणों ने भक्षण किये।

हे पुत्र। यह राज्य, क्षुद्र शत्रुओं से रहित होता हुआ वृद्धिगत हुआ है व यह सामन्त वर्ग (अधीनस्थ नृप-समूह) आपका आज्ञावर्ती हुआ सावधान है। ये दश दिशाएँ चिन्तामणि-सरीखीं आपके लिए अभिलषित वस्तु देती हैं॥३७॥ ये धनादि लक्ष्मियां, जिन्हें आपने पूर्वजों (यशोबन्धु व यशोर्घ राजा) से उपार्जित की हैं, दान तथा भोग निमित्त वर्तमान हैं एवं रम्भा, तिलोत्तमा, मेनका और उर्वशी-आदि अप्सराओं-सरीखी यह कामिनियों की श्रेणी आपकी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती हुई विनयशील है॥३८॥ हे पुत्र! तुम इस समस्त पूर्वोक्त राज्यादि वैभव को निष्प्रयोजन छोड़कर निश्चय से किस अभिलाषा से तपश्चरण करते हो? यह तपश्चरण स्वर्ग व मोक्ष निमित्त नहीं है। हे पुत्र! क्या प्रत्यक्ष फल से परोक्ष फल निश्चय से विशेष महान् होता है? अपि तु नहीं होता॥३९॥ हे राजन्! यदि कोई पुरुष तुम्हारी आज्ञानुसार प्रवृत्ति नहीं करता तो

---

१. समुच्चयालंकारः। २. क्रमेण समुच्चयालंकारः आक्षेपश्च।

दुःस्वप्नशङ्का तव चेदथास्ति सत्त्वैः समस्तैः कुलदेवतायै ।
कृत्वा बलिं शान्तिकपौष्टिकार्थं पश्चात्प्रतिस्वप्नविधिं विधेहि ॥ ४१ ॥

न चैवं मनागपिकमलौकिकं वा । तथाहि—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४२ ॥

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदवेदार्थविद्द्विजः । आत्मानं च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४३ ॥

तथा वेदेऽप्यात्मश्रेयोऽर्थमशेषविघ्नोपशमनार्थं च राजसूयपुण्डरीकाश्वमेधगोसववाजपेयादिषु वर्षिकामेष्टिकारीरीत्यादिषु च यज्ञेषु प्रवृत्तोऽयं प्राणिवधः स च वधो न भवति । यतः ।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ४४ ॥

इति । राजा—(कर्णौ पिधाय निःश्वस्य च :) किं नु खलु न करोति देहिनामयं मोहबन्धः, तस्य प्रसव-

---

उस पर क्रोधरूपी जहर छोड़ो, क्योंकि ऐसा करने में कोई दोष नहीं है। हे राजन् ! क्या खटमलों के भय से कन्था (शीत-निवारण वस्त्र—गोदड़ी) को छोड़ता हुआ कोई भी पुरुष देखा गया है ? अपि तु नहीं देखा गया ॥४०॥[1] हे पुत्र ! यदि आपको दुष्ट स्वप्न का भय है तो कुलदेवता के लिए समस्त प्राणिवर्गों की बलि (घात) करके बाद में दुष्ट स्वप्न का ऐसा शमन विधान करो, जिसमें शान्ति देनेवाला कर्म और शारीरिक पुष्टि निमित्त कर्म इन दोनों का प्रयोजन वर्तमान है[2] ॥४१॥

हे पुत्र ! यह कुलदेवता के लिए प्राणियों का बलि विधान सदा से प्रचलित हुआ चला आ रहा है और लोक-प्रसिद्ध है। तथाहि—[यशोधर की माता निम्न प्रकार से उक्त बात का समर्थन करती है—मनु नाम के ऋषि ने कहा है कि निम्नलिखित चार स्थानों में ही पशु-वध करने योग्य हैं, अन्यत्र अर्थात्—भक्षण, व शारीरिक पुष्टि-आदि के निमित्त पशु-वध करने योग्य नहीं हैं। मधुपर्क (अतिथि सत्कार के अवसर पर अर्थात्—ब्राह्मण के गृहपर यदि ब्राह्मण अतिथि आता है, उस समय उसके चरण प्रक्षालित करके उनपर दही, मधु व घी छोड़े जाते हैं एवं बड़ा बैल व बड़ा बकरा मारकर उसे व अन्य ब्राह्मणों को खिलाया जाता है एवं चन्दन व पुष्प माला से उस अतिथि की पूजा की जाती है, इसे 'मधुपर्क' कहते हैं) २—यागकर्म (अश्व-मेध-आदि यज्ञ), ३—पितृकर्म (श्राद्ध कर्म) एवं ४—रुद्र-आदि की पूजा विधान के अवसर पर[3] ॥४२॥ वेद-पाठ व वेद के अर्थ को जाननेवाला इन पूर्वोक्त चार कार्यों में पशुओं का घात करता हुआ अपनी आत्मा व पशुओं को उत्तमगति (स्वर्ग-आदि) में प्राप्त कराता है[4] ॥४३॥

शास्त्र में आत्मा के पुण्य-निमित्त व समस्त विघ्नों के विनाशार्थ निम्न प्रकार के यज्ञों में किया हुआ प्राणि-वध, प्राणि-वध (जीव हिंसा) नहीं है। राजसूय, पुण्डरीक, अश्वमेध, गोसव व वाजपेय-इत्यादि अन्य भी यज्ञों के भेद हैं। एवं वार्षिकामेष्टि (यज्ञ विशेष) व कारी। क्योंकि ब्रह्मा ने स्वयं ही यज्ञ-निमित्त पशुओं की सृष्टि की है। निश्चय से यज्ञ समस्त याचक, आचार्य व यजमानादिकों के ऐश्वर्य-हेतु है, इसलिए यज्ञ-निमित्त की हुई प्राणि हिंसा हिंसा नहीं है ॥४४॥ उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज ने श्रोत्रों को बन्द करके व श्वांस-ग्रहण करके निम्न प्रकार कहा—'प्राणियों का यह मोहबन्ध (रागादि) व उसका उत्पत्ति स्थान अज्ञान-सम्बन्ध भी क्या-क्या अनर्थ नहीं करता ? कैसे हैं यशोधर महाराज ? जिसका मन निर्दय

---

१. दृष्टान्ताक्षेपालंकारः । २. जातिमात्रालंकारः । ३. जातिरलंकारः । ४. समुच्चयालंकारः ।

मुग्धिरजानर्सम्बन्धश्चेति, कर्कशोदर्कवितर्ककर्करसंपातस्तिमितचेताः क्षणमात्रमिलितकर्तव्यताविमूढमनःश्रोता इव सूत्स्वेदमवादीत्—प्रसीदाम्ब। वदामि किंचिदहम्, यदि तत्र भवती मयि कुपुत्रापवादपरागं न विकिरति। माता—पुत्र, मैवं मयि शङ्किष्ठाः। प्रतिष्ठस्व न्यायनिष्ठुरतया गोष्ठीसौष्ठवेषु। न खलु केवलमहं प्रसवधर्मिणी, किं तु भवत्पितुः प्रसादात्सकलव्यवहारवेदिनी च। यद्येवं युक्त एव पूर्वपक्षः। यस्मात् 'न धर्मं चरेत्, एष्यत्फलत्वात्संशयितत्वाच्च। को ह्यबालिशो हस्तगतं पादगतं कुर्यात्। वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात्। वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापणः' इति महान्खलु लोके लौकायतिकलोककोलाहलः। स चात्मनो गर्भादिमरणपर्यन्ततायां सुघट एव। राजा—

> सत्यं न धर्मः क्रियते यदि स्याद्गर्भादिशाभान्तर एव जीवः।
> जातिस्मराणामथ रक्षसां च वृष्टेः परं किं न समस्ति लोके (लोकः[1]) ॥ ४५ ॥

प चैवम्।

उत्तर फल के विचाररूपी पाषाण के पतन से निश्चल है और जिसकी चित्त-संगति अल्पकाल तक कर्तव्य-निश्चय में विमूढ़-सी है।

हे माता! प्रसन्न होइए। मैं कुछ कहता हूँ, यदि उस वचन के कहने पर आप मेरे ऊपर कुपुत्र संबंधी निन्दारूप धूलि नहीं फेंकतीं। इसके बाद यशोधर की माता ने कहा—हे पुत्र! तुम मुझ से इस प्रकार का भय मत करो। हे पुत्र! मेरी वार्ता-प्रारम्भ की प्रतिभा-शीलता में न्याय-निष्ठुरता पूर्वक पूर्वपक्ष करो। हे पुत्र! निश्चय से मैं केवल तुम्हें जन्म देनेवाली ही नहीं हूँ किन्तु आपके पिता की करुणा से समस्त व्यवहार को जाननेवाली हूँ। अतः हे पुत्र! मेरा पूर्वपक्ष करना उचित ही है, अतः यशोधर की माता उसी वार्ता का प्रारम्भ करती है—जिस कारण हे पुत्र! लोक में निश्चय से निम्न प्रकार नास्तिक दर्शन विशेषरूप से है—यथा 'धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्माचरण में भविष्यकालीन फल है। वर्तमान काल में धर्माचरण का फल दृष्टि गोचर नहीं होता। इतना ही नहीं, अपि तु—धर्माचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि संशयित्वात्। अर्थात्—यह नहीं जाना जाता कि धर्माचरण से फल मिलेगा? अथवा नहीं मिलेगा? इस प्रकार का सन्देह होने के कारण भी धर्माचरण नहीं करना चाहिए अब उक्त विषय को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं।

निश्चय से कौन विद्वान् पुरुष हस्तगत सुवर्ण-आदि वस्तु को पादगत करेगा? अर्थात्—दोनों पैरों से ग्रहण करेगा? अभिप्राय यह है कि हाथ निकटवर्ती हैं और पैर तो दूरवर्ती हैं, अतः जिस प्रकार निकटवर्ती हाथों में प्राप्त हुई सुवर्ण-आदि वस्तु को विद्वान् दूरवर्ती पैरों से धारण नहीं करता उसीप्रकार प्रत्यक्ष फलवाले कामिनी-आदि भोग ही ग्रहण करना चाहिए और अदृष्ट—परोक्ष—फलवाले धर्म का आचरण छोड़ देना चाहिए। कल प्रातःकाल प्राप्त होनेवाले मयूर की अपेक्षा आज प्राप्त होनेवाला कबूतर श्रेष्ठ है। यद्यपि मयूर में मांस अधिक है और कबूतर में अल्प है तथापि भविष्य में प्राप्त होनेवाले विशेष मांसशाली मयूर की अपेक्षा आज वर्तमान में प्राप्त होनेवाला अल्प मांस-युक्त कबूतर ही श्रेष्ठ है। अर्थात्—उसी प्रकार भविष्य में स्वर्गादि विशेष फलशाली धर्म की अपेक्षा वर्तमान में अल्प फलवाली जवानी व कमनीय कामिनी-आदि उपभोग वस्तुएँ ही श्रेष्ठ हैं। सन्देह-युक्त २१६ तोला परिमाणवाले सुवर्ण सिक्के या सुवर्णमयी हृदय-भूषण (हार) की अपेक्षा रत्तीभर तोल का निश्चित सुवर्ण श्रेष्ठ है। जब आत्मा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही है तब वह नास्तिक दर्शन युक्ति-युक्त ही है। फिर यशोधर महाराज ने कहा—

हे माता! तेरा वचन सत्य है परन्तु यदि जीव (आत्मा) गर्भ व मरण के मध्यवर्ती ही होता

1. 'परः किं न समस्ति लोकः' ह. लि. (क) प्रतौ पाठः।

स्वयं कृतं जन्तुषु कर्म नो चेत्समः समस्तः खलु किं न लोकः । भूतात्मकं चित्तमिदं च मिथ्या स्वरूपभेदात्पवनावनीव ।४६।
एवं चैवमपि संगच्छते—

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम् । व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ।। ४७ ।।

नवं वयश्चारुतरास्तरुण्यो रम्याणि हर्म्याणि शिवाः श्रियश्च ।
एतानि संसारतरोः फलानि स्वर्गः परोऽस्तीति मृषैव वार्ता ।। ४८ ।।

दोषस्त्वमीषां पुनरेक एव स्थैर्याय यन्नास्ति जगत्युपायः । तत्संभवे तत्त्वविदां परं स्यात्खेदाय देहस्य तपःप्रयासः ।। ४९ ।।

तब धर्म नहीं किया जाता परन्तु यह बात नहीं है। अर्थात्—जीव गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही नहीं है। अब उक्त बात को आक्षेप (दृष्टान्त) द्वारा समर्थन करते हैं—निश्चय से क्या लोक में जाति स्मरणवाले पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होते ? अर्थात्—यदि जीव, गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त ही होता तब जाति स्मरणवाला पुरुष क्यों इसप्रकार कहता है। 'मैं पूर्वजन्म में इसप्रकार (अमुक कुल में अमुक रूप से उत्पन्न होनेवाला) हुआ था।' अथवा पाठान्तर में जब जाति स्मरणवाले पुरुष दृष्टिगोचर हो रहे हैं तब क्या परलोक (पूर्वजन्म) नहीं है ? एवं क्या निश्चय से लोक में राक्षस (व्यन्तर) दृष्टिगोचर नहीं होते ? अर्थात्—किसी का पिता-आदि मरकर राक्षस हुआ श्मशान भूमि में जन्म धारण करता हुआ सुना जाता है। यदि गर्भ से लेकर मरण-पर्यन्त ही जीव होता तब व्यन्तर किसप्रकार हुआ ? अथवा पाठान्तर में जब पुरुष मरकर राक्षस हुए सुने जाते हैं तब क्या परलोक-(भविष्यजन्म) नहीं है ? अपितु अवश्य है। सारांश यह है उक्त राक्षसों के दृष्टान्त से भविष्य जन्म सिद्ध हुआ समझना चाहिए ।।४५।। यदि प्राणियों का स्वयं उपार्जित किया हुआ पुण्य व पापकर्म नहीं है तो निश्चय से समस्त लोक समान (सदृश) क्यों नहीं होता ? अर्थात्—फिर राजा, किङ्कर, गुरु, शिष्य, धनाढ्य व दरिद्र इत्यादि भेद किसप्रकार संभव होगा ? 'यह आत्मा पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चारों भूतों से निष्पन्न है' इसप्रकार की नास्तिक दर्शन की मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इनमें स्वरूप-भेद वर्तमान है। अर्थात्—विज्ञान, सुख व दुःख-आदि गुणवान् जीव है और भूत (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु) अचेतन (जड़) होने के कारण जीवद्रव्य से भिन्न हैं। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार वायु और पृथिवी द्रव्य स्वरूप भेद के कारण भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात्—वायु चञ्चल स्वभाव-युक्त व पृथिवी स्थिर स्वभाववाली है। उसीप्रकार आत्मा चेतन ज्ञानादिगुणवान् है और पृथिवी-आदि भूत अचेतन होते हुए धारण-आदि गुण-संयुक्त हैं ।।४६।।

जब इसप्रकार उक्त भेद सिद्ध है तभी निम्नप्रकार आर्याच्छन्द जन्मपत्रिका के आरम्भ में लिखा जाता है—इस जीव ने पूर्व जन्म में जो पुण्य-पाप कर्म उपार्जित किये हैं, भविष्य जन्म में उस कर्म के उदय को यह ज्योतिषशास्त्र उसप्रकार प्रकट करता है जिसप्रकार दीपक अन्धकार में वर्तमान घट-पटादि वस्तुओं को प्रकट (प्रकाशित) करता है। अर्थात्—जब पूर्वजन्म का सद्भाव है तभी ज्योतिःशास्त्र उत्तर जन्म के स्वरूप को प्रकट करता है। इससे जाना जाता है कि गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त ही जीव नहीं है, अपितु गर्भ से पूर्व व मरण के बाद भी है ।।४७।। पुनः यशोधर महाराज ने कहा—नवीन यौवन, विशेष सुन्दर युवतियाँ, मनोज्ञ महल और विशेष शुभ धनादि लक्ष्मियाँ, ये संसाररूपी वृक्ष के फल हैं। 'स्वर्ग भिन्न है' यह बात मिथ्या है, किन्तु यौवन, स्त्री व धनादि सुख सामग्री ही स्वर्ग है ।।४८।। परन्तु इस यौवन, स्त्री व धनादि सुख सामग्री में एक ही (महान्) दोष है, क्योंकि संसार में यौवन, स्त्री व धनादि सुख का कारण

बालस्य मौग्ध्यान्न तपोऽधिकारो युवा तपस्येद्यदि तत्र दण्डः । कुटुम्बभाराधिकृतश्च मध्यो वृद्धः पुनर्वृद्धिसहाय एव ॥५०॥

परोपरोधाद्वयमेवमात्मा मिथ्याग्रहग्रस्तमनःप्रतानः । स्वयं विजानन्नपि दैवदूतैराकृष्य नीयेत भवभ्रमाय ॥ ५१ ॥

चरमोऽपि पक्षः श्रेयानेव । द्विधा खलु प्राणिनामापदो भवन्ति—संभवत्प्रतीकाराः, कालकृतावतारास्च । तत्राद्यानामुपशमनाय प्रतिस्वप्नविधिः श्रेयःसंनिधेरेव रणाजिरेषु राजव्यञ्जनव्याजेन द्विषद्विषधराणाममर्षविषवर्षस्य प्रतीकार इव । मध्यमस्तु पक्षोऽतीव मध्यमः ।

अहोरात्रं यथा हेतुः प्रकाशध्वान्तजन्मनि । तथा महीपतिर्हेतुः पुण्यपापप्रवर्तने ॥ ५२ ॥

उक्तं च—राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः । राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ५३ ॥

इति । भूतसंरक्षणं हि क्षत्रियाणां महान् धर्मः । स च निरपराधप्राणिवधे नितरां निराकृतः स्यात् । नृपतिप्रतिष्ठानि च खलु देहिनां व्यवहारतन्त्राणि प्रवर्तन्ते । नृपत्यायत्ताः पुण्यपापहेतवो वर्णाश्रमाणामाचारव्यवस्थाश्च । ते

स्थिर नहीं है, किन्तु यौवन-आदि सब क्षणिक ही हैं। यदि ये यौवन-आदि स्थिर होते तो तत्त्वज्ञानियों का तपश्चर्या-प्रयास केवल शारीरिक खेद-निमित्त होता ॥४९॥

हे माता ! शिशु को दीक्षा-ग्रहण का अधिकार नहीं है, क्योंकि उसकी प्रकृति हिताहित के विवेक से शून्य होती है। यदि जवान पुरुष तपश्चर्या करे तो उस तपश्चर्या करने में प्रायश्चित्त है, अथवा शरीर-दण्डन का कष्ट होता है। इसीप्रकार अर्द्धवृद्ध पुरुष तो कुटुम्ब की उदर-पूर्ति करता है। वृद्ध पुरुष दीर्घकाल में उदर-पूर्ति करता है[1] ॥५०॥ यह जीव माता-पिता-आदि के अनुरोध से असत्य पिशाच-ग्रह से ग्रहण किये हुए मानसिक व्यापारवाला होता है। अतः स्वयं विशेष जानता हुआ भी यमराज के किङ्करों द्वारा खींचकर संसार-भ्रमण के लिए ले जाया जाता है ॥५१॥ हे माता ! यद्यपि चरम पक्ष (शान्तिक पौष्टिक लक्षणवाला अखीर का कथन) शुभ ही है, परन्तु प्राणिहिंसा के कारण कल्याण-कारक नहीं है। निश्चय से प्राणियों की विपत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, १—संभवत्प्रतीकार (जिनके दूर होने का उपाय हो सकता है) एवं २—यमराज द्वारा उत्पन्न होनेवाली मृत्यु। उन दोनों विपत्तियों के मध्य पहिली संभवत्प्रतीकारवाली आपत्तियों के उपशमन के लिए स्वप्नशमन-विधान पुण्याचरण से ही होता है, जो कि (स्वप्न-शमन-विधान), संग्रामाङ्गणों पर राज-चिह्नों के मिष से शत्रुसर्पों के क्रोधरूप विष-वर्षण की प्रतिक्रिया (दूर करने का उपाय—विद्याधर-औषधि, मन्त्रजल व हवनादि) सरीखा है। मध्यमपक्ष 'दुःस्वप्नवाञ्छा' इत्यादि तो जीवहिंसा के कारण निःकृष्ट है। जिसप्रकार प्रकाश की उत्पत्ति में दिन कारण है और अन्धकार की उत्पत्ति में रात्रि निमित्त है उसीप्रकार पुण्य-पाप की प्रवृत्ति में राजा कारण है ॥५२॥ अर्थशास्त्रकार चाणक्य ने कहा है—राजा के धर्मात्मा होने पर प्रजा धर्मात्मा होती है और राजा के पापी होनेपर प्रजा भी पापी हो जाती है एवं राजा के मध्यस्थ होने पर प्रजा भी मध्यस्थ हो जाती है। प्रजा के लोग राजा का अनुसरण करते हैं। जैसा राजा होता है, प्रजा भी वैसी होती है ॥५३॥ हे माता निश्चय से प्राणियों की रक्षा (प्रतिपालन), क्षत्रिय राजकुमारों का श्रेष्ठ धर्म है, वह धर्म, निर्दोष प्राणियों के घात करने से विशेष रूप से नष्ट हो जाता है। निश्चय से प्राणियों के व्यवहार शास्त्र राजा के अधीन हैं। प्राणियों के पुण्य व पाप के कारण तथा चार वर्णों (ब्राह्मणादि) व चार आश्रमों (ब्रह्मचारी आदि) के आचरण व मर्यादाएँ भी राजाधीन प्रवृत्त होतीं हैं। वे राजालोग काम, क्रोध

---

१. जात्यलंकारः ।

च नृपतयः कामक्रोधाभ्यामज्ञानेन वा यथैव शुभमशुभं वा कर्मारभन्ते तथैव जानपदा अपि । श्रूयते हि—वङ्कलीमण्डले नृपतिदोषाद्भूदेवेष्वासवोपयोगः, पारसीकेषु स्वसवित्रीसंयोगः, सिंहलेषु च विश्वामित्रसृष्टिप्रयोग इति । ततश्च ।

यथैव पुण्यस्य सुकर्मभाजां षष्ठांशभागी नृपतिः सुवृत्तः । तथैव पापस्य कुकर्मभाजां षष्ठांशभागी नृपतिः कुवृत्तः ॥ ५४ ॥

अपि च । यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य ।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥ ५५ ॥

तन्मातः, अहमैहिकामुत्रिकचर्याविमानत्रपस्तेषु प्राणिषु कथं नाम अस्त्रं प्रयोजयामि । किं च ।

न कुर्वीत स्वयं हिंसां प्रवृत्तां च निवारयेत् । जीवितं बलमारोग्यं शश्वद्वाञ्छन्महीपतिः ॥ ५६ ॥

यो दद्यात्काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चापि वसुंधराम् । एकस्य जीवितं दद्यात्फलेन न समं भवेत् ॥ ५७ ॥

यथात्मनि शरीरस्य दुःखं नेच्छन्ति जन्तवः । तथा यदि परस्यापि न दुःखं तेषु जायते ॥ ५८ ॥

इति श्लोकत्रयं गतवत्येव दिने हिरण्यगर्भस्य मन्त्रिणः सुतेन नीतिबृहस्पतिना मामध्यापितवती भवत्येव । कथं नाम विस्मृता । विधेयमेव चाशुभमपि कर्म । को दोषो यदि हन्यमानस्येवात्मनो न भवेयुः सुलभान्यापदि विजृम्भितानि ।

व अज्ञान से जिसप्रकार पुण्य या पाप आरम्भ करते हैं उसीप्रकार प्रजाजन भी आरम्भ कर देते हैं। उक्त बात का समर्थन दृष्टान्त-माला द्वारा करते हैं—निश्चय से सुना जाता है कि रत्नपुर नाम के नगर में राजा के दोष (मद्यपान) से ब्राह्मणों में मद्यपान की प्रवृत्ति हुई एवं राजा के दोष से रादवान देशों में अपनी माता के साथ संयोग प्रवृत्त हुआ। राजा के दोष से सिंहल देशों में वर्ण-सङ्करता प्रवृत्त हुई सुनी जाती है। अतः—

जिसप्रकार सदाचारी राजा पुण्यकर्म करनेवाले लोगों के पुण्य के छठे अंश का भोगनेवाला होता है उसीप्रकार दुराचारी राजा पापी लोगों के पाप के छठे अंश का भोगनेवाला होता है ॥५४॥ तथा च। जो शत्रु युद्धभूमि पर शस्त्र धारण किये हुए है अथवा जो अपने देश का काँटा है, अर्थात्—जो अपने देश पर आक्रमण करने को उद्यत है, उसी शत्रु पर राजा लोग शस्त्र प्रहार करते हैं, न कि दुर्बल, प्रजा पर उपद्रव-आदि न करनेवाले और साधुजनों के ऊपर शस्त्र प्रहार करते हैं ॥५५॥ अतः हे माता! मैं इस लोक व परलोक के आचरण में निर्लज्ज होता हुआ किसप्रकार उन दीन-आदि निरपराध प्राणियों पर खड्ग-आदि शस्त्र चलाऊँ?

हे माता! मैं और कुछ विशेष कहता हूँ—

राजा दीर्घायु, शारीरिक सामर्थ्य व निरोगता की निरन्तर अभिलाषा करता हुआ स्वयं प्राणियों का घात न करे और दूसरों द्वारा किये हुए प्राणिघात को रोके ॥५६॥ जो पुरुष सुमेरु पर्वत प्रमाण सुवर्ण-दान करता है और समस्त पृथिवी का दान करता है। एवं जो एक जीव के लिए अभयदान (रक्षा) देता है, वह पुरुष फल से समान नहीं है। अर्थात्—उसे दोनों दानों की अपेक्षा अभय दान (जीवन-दान) का विशेष फल प्राप्त होगा ॥५७॥ जिसप्रकार प्राणी, अपने शरीर के लिए दुःख देना नहीं चाहते उसीप्रकार यदि दूसरे प्राणी को दुःख देना नहीं चाहें तो उन प्राणियों को दुःख उत्पन्न नहीं होता ॥५८॥ हे माता! उक्त तीनों श्लोक, कल आपने ही हिरण्यगर्भ नाम के मन्त्री के पुत्र 'नीतिबृहस्पति' से मुझे पढ़ाये थे। हे माता! तुम उक्त श्लोकों को किसप्रकार से भूल गई? जब पापकर्म करना चाहिए, उसमें क्या दोष है? यदि घाते जानेवाले प्राणी की तरह अपनी आत्मा को आपत्तियों के सुलभ व व्यापार-युक्त विस्तार न होवें। अर्थात्—जब घाते जानेवाले प्राणी की तरह घातक पुरुष को विशेष दुःख भोगने पड़ते हैं तब हिंसादि पातक क्यों करना चाहिए? जब ब्राह्मणों व देवताओं के सन्तुष्ट करने के लिए एवं शारीरिक पुष्टि के लिए संसार में प्राणिहिंसा को छोड़कर

सन्तर्पणार्थं द्विजदेवतानां पुष्टयर्थमङ्गस्य च सन्त्युपायाः । अन्येऽपि लोके बहवः प्रशस्ताः सन्तः कुतः पापमिहाचरन्ति ॥५९॥

शुक्रशोणितसंभूतमशुचीनां निकेतनम् । मांसं चेत्प्रीणयेद्देवानित व्याघ्रानुपास्महे ॥ ६० ॥

मिथ्या चायं प्रवादः पशूपहारेण देवतास्तुष्यन्तीति ।

हताः कृपाणेन वनेऽपि जन्तवो बाढं म्रियन्ते गलपीडनाच्च । अदन्ति चैतान्स्वयमेव देव्यो व्याघ्राः स्तवार्हाः परमत्र सन्तु ॥६१॥

कृत्वा मिषं दैवमयं हि लोको मद्ये च मांसे च रतिं करोति । एवं न चेद्दुर्गतिसंगतिः स्याद्दुष्कर्मणां कोऽपर एव मार्गः ॥६२॥

यदि च हिंसैव परमार्थतो भवति धर्मः, कथं तर्हि मृगयायाः पापर्धिरिति रूढिः, मांसस्य च पिधायानयनम्, तत्संस्कर्तुर्गृहाद्बहिर्वासः, रावणशाक इति नामान्तरव्यपदेशः, पर्वदिवसेषु वर्जनं च

यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत । तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः ॥ ६३ ॥

इति कथमियं पौराणिकी श्रुतिः ।

दूसरे भी बहुत से प्रशस्त उपाय हैं तब हे माता ! सज्जन पुरुष इस लोक में किस कारण से हिंसादि पापकर्म करते हैं ? ॥५९॥ हे माता ! मांस, जो कि शुक्र (वीर्य) व शोणित (रुधिर) से उत्पन्न हुआ है एवं विष्ठादि का स्थान है, यदि देवताओं को सन्तुष्ट करता है, तो आप लोग खाइए, हम व्याघ्रों (चीतों या बाघों) की उपासना करते हैं, क्योंकि वे भी मांस से सन्तुष्ट होते हैं ॥६०॥

'पशुओं की बलि करने से देवता सन्तुष्ट होते हैं' यह कथन असत्य है । हे माता ! पशु-आदि प्राणी वन व नगर में तलवार से मारे हुए विशेषरूप से मरते हैं एवं गला-मरोड़ने से भी मरते हैं । कुलदेवता-आदि इन मरे हुए पशुओं का स्वयं भक्षण करते हैं । अर्थात्—जब ये हम लोगों से दान-ग्रहण करने में कुछ अपेक्षा करते हैं तब तो निश्चय से इस संसार में व्याघ्र ही स्तुति करने योग्य होवें, क्योंकि व्याघ्रादि हिंसक जन्तु तो पशुओं को मारकर स्वयं भक्षण करते हैं और देवता तो हम लोगों को प्रेरित करके मरण कराकर बाद में खाते हैं, अतः देवता स्तुति-योग्य नहीं हैं ॥६१॥ यह पापी मनुष्य, निश्चय से देवता का बहाना करके मद्यपान व मांस भक्षण में अनुराग करता है । यदि इस प्रकार का देवता का बहाना न होता तो पापियों को दूसरा कौन सा दुर्गति (नरकादिगति) का मार्ग होता ? क्योंकि यही तो—देवता का मिष ही—पापियों का दुर्गति-मार्ग है ॥६२॥

हे माता ! यदि प्राणियों का वध करना ही निश्चय से धर्म है तो शिकार की 'पापर्धि' नाम से प्रसिद्धि क्यों है ? और मांस की 'पिधायआनयन' (ढक करके लाने लायक) नाम से प्रसिद्धि किस प्रकार से है ? एवं मांस पकानेवाले का 'गृहाद्बहिर्वास' (घर से बाहिर निवास करना), तथा मांस का 'रावण शाक' इस प्रकार का दूसरा नाम-कथन किस प्रकार से है ? एवं अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व एकादशी-आदि पर्व दिनों में मांस का त्याग किस प्रकार से है ?

हे युधिष्ठिर महाराज ! जितने पशुओं के रोम पशु-शरीरों में वर्तमान हैं उतने हजारों वर्ष पर्यन्त पशुघातक नरकों में पकते हैं ॥६३॥ इस प्रकार की यह महाभारत शास्त्र की श्रुति किस प्रकार से है ? प्राणों के घात से निवृत्त होना, अर्थात्—समस्त प्राणियों की रक्षा करना, दूसरों के धन का अपहरण करने का जीवन पर्यन्त नियम करना, मिथ्या भाषण का त्याग, अर्थात्—हित, मित व प्रिय वचन बोलना, मुनियों या दूसरे अतिथियों को आहार-वेला में अपनी शक्ति के अनुसार दान देना, पर पुरुषों की युवतिजनों से मौन भाव, अर्थात्—दूसरे की स्त्रियों की प्रशंसा न करना—परस्त्रियों के प्रति मातृ-भगिनी-भाव एवं लोभरूपी जल

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविबन्धो गुरुषु च विनतिः सर्वभूतानुकम्पा सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष मार्गः ॥६४॥

इति कथमेतत्सर्वपथीनमुवाच वररुचिः ।

होमस्नानतपोजाप्यब्रह्मचर्यादयो गुणाः । पुंसि हिंसारते पार्थ चाण्डालसरसीसमाः ॥६५॥

इति कथमियं व्यासोक्तिः ।

भूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥६६॥

इति कथमिदमाह वैवस्वतो मनुः ।

अवक्षेपेण हि सतामसतां प्रग्रहेण च । तथा सत्त्वेष्वभिद्रोहादधर्मस्य च कारणात् ॥६७॥

विमाननाच्च मान्यानां विश्वस्तानां च घातनात् । प्रजानां जायते लोपो नृपतेश्चायुषः क्षयः ॥६८॥

कथमिदमभाषत षाड्गुण्यप्रस्तावे भारद्वाजः ।

चातुर्मास्येष्वर्धमासिकम्, दर्शपौर्णमासयोश्चातूरात्रिकम्, राजनक्षत्रे गुरुपर्वणि च त्रैरात्रिकम्, एवमन्यासु चोपहतासु तिथिषु द्विरात्रमेकरात्रं वा सर्वेषामघातं घोषयेदायुर्बलवृद्ध्यर्थमिति कथमुपनिषदि वदति स्म विशालाक्षः ।

प्रवाह का बांधना—अर्थात्—परिग्रह का परिमाण करना, गुरुजनों के लिए नमस्कार करना एवं समस्त प्राणियों के प्रति दयालुता, यह सर्वसाधारण सर्वशास्त्रों में पुण्यों का मार्ग है, जिसे कोई उल्लङ्घन नहीं करता ॥६४॥ वररुचि—कात्यायन नाम के विद्वान् ने यह सर्वसाधारण कल्याण का मार्ग किस प्रकार कहा ?

हे अर्जुन ! होम, स्नान, सांतपन-आदि तप करना, मन्त्रों का जाप करना, ब्रह्मचर्य-आदि गुण, हिंसक पुरुष में वर्तमान हुए चाण्डाल के तालाब के जल-सरीखे अग्राह्य हैं ॥६५॥ इस प्रकार का यह व्यास-वचन किस प्रकार से है ? समस्त प्राणियों में समता (दयालुता) परिणाम रखता हुआ गृहस्थ भी जिस किसी आश्रम (ब्रह्मचर्य-आदि) में रत हुआ धर्म का अनुष्ठान करे, जटी व मुण्डी-आदि चिह्न धर्म का कारण नहीं है ॥६६॥ इस प्रकार यह सूर्यपुत्र मनु ने किस प्रकार कहा ? निश्चय से शिष्ट पुरुषों का तिरस्कार करने से, दुष्ट पुरुषों के स्वीकार (आदर) करने से, प्राणियों का घात करने से, पाप के प्रयोजन से, माननीय (पूज्य) पुरुषों का भङ्ग करने से, एवं विश्वस्त पुरुषों का घात करने से प्रजाजनों का विनाश होता है और राजा की आयु क्षीण (नष्ट) होती है ॥६७-६८॥ यह वचन षाड्गुण्य (सन्धि व विग्रह-आदि) के अवसर पर भारद्वाज नाम के ब्राह्मण विद्वान् ने किस प्रकार कहा ?

'राजा का कर्त्तव्य है कि वह आयु व शक्ति की वृद्धि के लिए वर्षा काल में पन्द्रह दिन तक समस्त प्राणियों के घात न करने की घोषणा करे। तथा वर्षा ऋतु में अमावस्या व पूर्णमासी के समय चार दिन तक, अर्थात् वर्षा ऋतु सम्बन्धी दो अमावास्या व दो पूर्णमासी इस प्रकार चार दिन तक, समस्त प्राणियों के वध न करने की घोषणा करे। इसी प्रकार राज नक्षत्र (जिस नक्षत्र में राजा का जन्म हुआ है) में तथा संक्रान्ति आदि गुरुपर्व में तीन दिन तक समस्त प्राणियों की हिंसा न करने की घोषणा करे। इसी प्रकार दूसरी उपहत (ग्रहण-आदि से दूषित) तिथियों में दो दिन तक अथवा एक ही दिन समस्त प्राणियों के घात न करने की घोषणा करे।' इस प्रकार वेदान्त शास्त्र में विशालाक्ष (प्रभाकर ऋषि) ने किस प्रकार कहा ? 'मधु व मांस-आदि का आहार शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्दित हैं' इस प्रकार शिकार करने की जीविका में आनन्द माननेवाले

आहारः साधुजनविनिन्दितो मधुमांसादिविरतिः कथं चैवं मृगयोपयोगानन्दं शबरवृन्दं निन्दितावादि बाणेन ।

माता—(स्वगतम् ।) अहो, मदीये सुते साम्प्रतं जैनजनवात इव लग्नः प्रतिभासते । विषमश्च खलु भवत्ययं जनः, यस्माच्चिरं समयान्तरोपरचितप्रतीकाराण्यप्यन्येषां मनांसि प्रायेण पश्यतोहर इव हरत्याहंतो लोकः । तद्वासनावासितं हि चेतो न ब्रह्मणापि शक्यतेऽन्यथाकर्तुम् । दुश्चिकित्स्यश्च खलु करिणां कूटपाकल इव प्राणिनां क्षपणकोपनीतश्चित्तस्याभिनिवेशः । कथितं च मेऽपरेद्युरेव शिवभूतेः पुरोहितस्यात्मजेन शिवशर्मणा, यथा—अम्बादेवि, राजाद्य भ्रमणिकायां गतस्तरुमूलनिवासिनमवाससमिन्द्रार्चितचरणनामधेयमद्राक्षीत् । तद्दर्शननिवारणे च कृतकार्पण्यमपि मामवमत्य तेन सह महतीं वेलामिति प्रश्नोत्तरपरम्पराप्रवृत्तमुदन्तमकार्षीत्—

को भगवन्निह धर्मो यत्र दया भूप सर्वसत्त्वानाम् । को नामाप्तो यत्र हि न सन्ति सांसारिका दोषाः ॥ ६९ ॥

भीलों के समूह की निन्दा करते हुए 'बाण' नाम के महाकवि ने यह किस प्रकार कहा ? फिर यशोधर महाराज की माता (चन्द्रमति) अपने मन में निम्न प्रकार चिन्तवन करती है—आश्चर्य है कि इस समय मेरे पुत्र में जैन लोगों की वासना संगत हुई सरीखी प्रतिभासित होती है। निश्चय से यह जैनलोक असाध्य होता है। क्योंकि यह चोर-सरीखा दूसरों के चित्तों को, जिनके प्रतीकार (प्रतिक्रिया या चिकित्सा) दूसरे शास्त्रों से रचे गए हैं, अर्थात्—जिनकी वासना दूसरे शास्त्रों से रची गई है, प्रायः करके हरण कर लेता है। अर्थात्—उनमें अपनी वासना लगा देता है (अपने धर्म में ले आता है)। जैन लोक की भावना से वासित हुए मन को ब्रह्मा भी अन्यथा करने को समर्थ नहीं है। दिगम्बर मुनि द्वारा प्राप्त कराया गया प्राणियों के मन का अभिप्राय, उस प्रकार चिकित्सा करने के अयोग्य है अथवा प्रतीकार करने के अयोग्य है जिस प्रकार हाथियों का कूटपाकल (सद्यः प्राणहर ज्वर) चिकित्सा करने के अयोग्य होता है। परसों शिवभूति पुरोहित के पुत्र शिवशर्मा ने मुझ से कहा था। हे माता ! वन क्रीड़ार्थ गए हुए यशोधर महाराज ने आज वृक्ष की मूल में बैठे हुए 'इन्द्रार्चितचरण' नाम के दिगम्बर मुनि को देखा। उन्होंने उसके साथ गोष्ठी निवारण में चञ्चलता करनेवाले मुझे तिरस्कृत करके उस मुनि के साथ विशेष समय तक इसप्रकार का वार्तालाप किया, जो प्रश्न-परम्परा व उत्तर-परम्परा में प्रवृत्त हुआ था, अर्थात्—मेरे राजा सा० (यशोधर महाराज) ने प्रश्न-परम्परा की और प्रस्तुत मुनि ने उत्तर-परम्परा दी।

अब यशोधर महाराज व उक्त 'इन्द्रार्चितचरण' नामके मुनि के मध्य हुई प्रश्नोत्तरमाला का निरूपण करते हैं—

राजा—हे भगवन् ! इस संसार में धर्म का क्या स्वरूप है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिस धर्म में समस्त प्राणियों की दया है, उसे धर्म कहते हैं।

राजा—हे ऋषिराज ! आप्त (ईश्वर) का क्या स्वरूप है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिसमें क्षुधा व पिपासा-आदि संसार में होनेवाले अठारह दोष नहीं हैं वही आप्त है ।।६९।।

राजा—आप्त के जानने का क्या उपाय है ?

ऋषि—हे राजन् ! पूर्वापर के विरोध से रहित निर्दोष शास्त्र ही आप्त के जानने का उपाय है।

राजा—हे भगवन् ! तपश्चर्या—दीक्षा—का क्या स्वरूप है ?

८

तज्ज्ञाने क उपायः शास्त्रं [illegible] तपः किं विषयसङ्गविनिग्रहो यत्र ॥ ७० ॥
जीवः को यत्रैते भवन्ति बुद्ध्यादयः स्वसंवेद्याः । तस्यामूर्तस्य सतः शरीरबन्धः कथं भवति ॥ ७१ ॥
स्वकृतैः कर्मभिरेष प्रयाति जीवः शरीरबन्धं वा । वातेरितैः परागैर्भवति यथा संगमो नभसः ॥ ७२ ॥
तैरेव गर्भवासे स नीयते निजफलोपभोगार्थम् । अशुचिनि मदनद्रव्यैर्निपात्यते श्रोत्रियो यद्वत् ॥ ७३ ॥
अस्मादृशां स धर्मः कथं नु निजशक्तितो व्रतग्रहणात् । किं व्रतमिह वाञ्छाया यो दर्शनपूर्वको नियमः ॥ ७४ ॥
किं दर्शनमिदमाहुर्या श्रद्धा युक्तितः पदार्थेषु । के पुनरमी पदार्था यैरेतद्वर्तते जगत्त्रयम् ॥ ७५ ॥

ऋषि—हे राजन् ! जिसमें विषयों (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप व शब्द) की संगति का त्याग है, उसे तप—दीक्षा—कहते हैं ॥७०॥

राजा—हे ऋषिराज ! आत्मा (जीव) का क्या स्वरूप है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिसमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होने योग्य बुद्धि, सुख व दुःख-आदि गुण पाये जाते हैं, उसे जीव (आत्मा) कहते हैं।

राजा—हे भगवन् ! जब आत्मा अमूर्तिक है तो उसके साथ मूर्तिक शरीर का बन्ध किस प्रकार से हुआ ? ॥७१॥

ऋषि—हे राजन् ! स्वयं अपने द्वारा उपार्जन किये हुए कर्मों द्वारा यह जीव वैसा शरीर के साथ बन्ध को प्राप्त होता है जैसे वायु द्वारा प्रेरित हुई धूलियों से आकाश का संगम होता है ॥७२॥ और उन्हीं कर्मों के द्वारा गर्भवास (सम्मूर्च्छन, गर्भ व उपपाद लक्षणवाले जन्म स्थान) में अपने पुण्य-पाप लक्षणवाले कर्मों के सुख-दुःख रूप फलों के भोगने के लिए लाया जाता है—जिसप्रकार चारों वेदों का पढ़नेवाला ब्राह्मण विद्वान्, धतूरा व मादक कोदों द्वारा विष्ठा में पटका जाता है ॥७३॥

राजा—हे भगवन् ! यह पूर्व में कहा हुआ समस्त जीवों में दया लक्षणवाला धर्म हम-सरीखे गृहस्थ पुरुषों को किसप्रकार से प्राप्त होता है ?

ऋषि—हे राजन् ! अपनी शक्ति के अनुसार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग-आदि व्रतों के पालन करने से उक्त धर्म प्राप्त होता है।

राजा—हे भगवन् ! इस संसार में व्रत क्या है ?

ऋषि—हे राजन् ! सम्यग्दर्शन (तत्व-श्रद्धा) पूर्वक इच्छाओं के निरोध (रोकने) को व्रत कहते हैं ॥७४॥

राजा—हे ऋषिवर ! सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

ऋषि—हे राजन् ! तत्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष) की तर्कशास्त्र के अनुसार यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

राजा—हे भगवन् ! वे श्रद्धा के योग्य तत्व (पदार्थ) कौन हैं ?

ऋषि—हे राजन् ! जिन जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष-आदि पदार्थों से यह तीन लोक व्याप्त है, वे ही पदार्थ हैं[1] ॥७५॥

१. प्रश्नोत्तरालंकारः ।

तत्प्रभृति न साभिलाषं सेवते मधूनि, न मांसमभिनन्दति, नाखेटकमनुमन्यते, न हव्यकव्यार्थमालभते पशून्, श्रुतिस्मृतिवाक्येषु च प्रतिकूलतया प्रयच्छत्युत्तराणीति । (प्रकाशम् । मुक्तोष्ठतया प्रसार्य समीपवर्तिनः ।)

रे मम पुत्रस्य च तन्त्रस्य च सर्वस्वखादिनः, प्रजानां च लञ्चालुञ्चाः, निशाचराः, किमेवमस्मत्पुत्रो भवतां नाशयितुं युक्तः । ननु सदाहं निवारयामि भवतः, यदुतायमद्याप्यपरिपक्वबुद्धिः अलीकवैदग्ध्यात्मसमारोपितपण्डितंमन्यभावः श्रीविलासरसवासनासंजातसुकुमारप्रकृतिश्चन्द्रग्रहिल इव प्रसिद्धेष्वपि वस्तुषु विस्मयोत्फुल्ललोचनविक्षिप्यमानगलच्छगल इवाहितकारिणोऽपि जनस्य मुग्धतयातीवमुखनिरीक्षणकुतूहली कदाचिदपि जगन्मोहनाभ्यस्तकौशलैरिन्द्रजालकैरिव दिगम्बरैर्न संगमयितव्य इति कोपसकम्पां वाचमुच्चारयन्ती तर्जयित्वा च मनाग्भ्रूक्षेपेण माम्—अहो असंजातबुद्धिपरिपाक चार्वाक, समाकर्णय । ज्ञातः खलु भवतोऽभिप्रायः ।

तत्राहमेव समर्था वक्तुमुत्तरमित्यभिप्रेत्येदमवादीत्—

न तर्पणं देवपितृद्विजानां स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता ।
श्रुतेः स्मृतेर्बाह्यतरे च धीस्ते धर्मे कथं पुत्र दिगम्बराणाम् ॥ ७६ ॥

शिवभूति पुरोहित के पुत्र शिवशर्मा ने कहा—हे माता ! तभी से यशोधर महाराज मधु-आदि को रुचि-पूर्वक सेवन नहीं करते, न मांस की प्रशंसा करते हैं और न शिकार की अनुमोदना करते हैं एवं देव व पितृ कार्य में पशु-हिंसा नहीं करते और वेद व स्मृति शास्त्र के वचनों में पराङ्मुखतापूर्वक उत्तर देते हैं। उक्त बात को सुनकर चन्द्रमति माता निकटवर्ती सेवक जनों की ओर [क्रोध-वश] ओष्ठ दीर्घ करके उन्हें उलाहना देती हुई प्रकट रूप से निम्नप्रकार कहती है—मेरे पुत्र व सैन्य का समस्त धन भक्षण करनेवाले एवं प्रजा से घूँस लेनेवाले अरे पिशाचो ! क्या मेरा पुत्र (यशोधर) आपको इसप्रकार के दिगम्बरों का संगम कराकर विनाश करने योग्य है ? निश्चय से मैं सदा आप लोगों को निषेध करती हूँ कि हमारा पुत्र अब भी परिपक्व बुद्धिवाला नहीं है एवं जिसने झूँठी विद्वत्ता द्वारा अपनी आत्मा में अपने को पण्डित मानने का अभिप्राय आरोपित किया है और लक्ष्मी की क्रीड़ा सम्बन्धी भोगानुराग की वासना द्वारा जिसकी सुकुमार प्रकृति उत्पन्न हुई है एवं जो प्रसिद्ध पदार्थों में भी वैसा आश्चर्य से नेत्रों को प्रफुल्लित करनेवाला है जैसे चन्द्रग्रहिल (जो गर्भिणी स्त्री चन्द्रग्रहण होने पर खुली जगह शयन करती है उसका पुत्र चन्द्रग्रहिल होता है) बालक विख्यात पदार्थों में भी आश्चर्य से नेत्रों को प्रफुल्लित करने का विनोद करनेवाला होता है। एवं जो मूर्खता से वैसा अहितकारी मनुष्य का भी विशेष रूप से मुख-निरीक्षण करने का विनोद करनेवाला है जैसे कण्ठविदारण किया जानेवाला बकरा मूर्खता से अहितकारी जन (घातक—कसाई) का विशेष रूप से मुख निरीक्षण का विनोद करनेवाला होता है। ऐसा हमारा पुत्र, उन दिगम्बरों के साथ कदापि संगम कराने योग्य नहीं है, जो कि इन्द्रजालियों-सरीखे जगत को वशीकरण करने में प्रवीणता का अभ्यास किये हुए हैं।' इसप्रकार क्रोध से कम्पन-युक्त वाणी उच्चारण करती हुई मेरी माता चन्द्रमति ने कुछ भृकुटि-क्षेप द्वारा मेरा अनादर करके मुझसे कहा—अहो बुद्धि परिपाक की उत्पत्ति से शून्य व नास्तिक मतानुयायी यशोधर ! सुन। निश्चय से मैंने आपका अभिप्राय जान लिया। मैं ही उस विषय में उत्तर देने में समर्थ हूँ, ऐसा निश्चय करके उसने मुझसे निम्न प्रकार कहा—

हे पुत्र ! इन दिगम्बरों के धर्म में देवतर्पण, पितृतर्पण व ब्राह्मणतर्पण नहीं है एवं स्नान व होम की बात भी नहीं है। ये लोग वेद व स्मृति (धर्म-शास्त्र) से विशेष रूप से बाह्य हैं, ऐसे दिगम्बरों के धर्म में तुम्हारी बुद्धि किसप्रकार प्रवृत्त हो रही है ? ॥७६॥ जो दिगम्बर साधु ऊपर खड़े हुए पशु-सरीखे आहार

उद्धाः पशूनां सदृशं प्रसन्ते ये लज्जया शौचगुणेन हीनाः । त्वत्तः परस्तैः सह को हि गोष्ठीं करोतु देवद्विजनिन्दकैश्च ॥७७॥
नामापि पूर्वं न समस्त्यमीषामभूत्कलौ दर्शनमेतदीयम् । देवो मनुष्यः किल सोऽप्यनेकस्त एवमिच्छन्ति च निर्विचारम् ॥७८॥
धर्मे प्रमाणं खलु वेद एव वेदात्परं दैवतमत्र नास्ति । यो वेद सम्यङ् न हि वेदमेतं वर्णाश्रमाचारमसौ न वेद ॥ ७९ ॥
यद्यस्ति भक्तिस्तव दैवतेषु हरं हरिं वार्चय भास्करं वा । यच्छन्ति रुष्टाः स्वपुरीं क्षणेन तुष्टाः प्रयच्छन्ति च राज्यमेते ॥८०॥

राजा—(स्वगतम् ।) अहो, निसर्गाङ्गारमलिने हि मनसि न भवति खलु सुधासंबन्धोऽपि शुद्धये । यतः ।

अन्तर्न विज्ञाय मुधानुरागिता स्वभावदुष्टाशयता विमूढता ।
युक्तोपदेशे च विगृह्य वादिता भवन्त्यमी तत्त्वविबन्धहेतवः ॥ ८१ ॥

अपि च । यः कार्यवादेषु करोति संधां स्वपक्षहानौ च भवेद्विलक्ष्यः ।
तत्र स्वयं सामपरेण भाव्यं केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम् ॥ ८२ ॥

इयं हि तावज्जननी मदीया राज्यस्य साक्षादधिदेवता च । सर्वं तदस्या घटते विधातुं प्रभुर्यदेवेच्छति तत्करोति ॥ ८३ ॥

(प्रकाशम् ।) अज्ञानभावादथ चापलाद्वा कारुण्यतो वाधिगतावकाशः ।
पूर्वं त्वयैवाहितकर्मणां वा बुधे यदि क्षन्तुमनास्त्वमम्ब ॥ ८४ ॥

करते हैं। जो निर्लज्ज तथा शौचगुण से हीन हैं। उन दिगम्बरों के साथ, जो हरि (विष्णु), हर व ब्रह्मा-आदि देवताओं तथा ब्राह्मणों की निन्दा करनेवाले हैं, तुमको छोड़कर दूसरा कौन पुरुष स्पष्ट रूप से गोष्ठी (वार्ता) करता है ? ॥७७॥ हे पुत्र ! इन दिगम्बरों का पूर्व में (कृतयुग, त्रेता व द्वापर-आदि) में नाम भी नहीं है। केवल कलिकाल में ही इनका दर्शन हुआ है। इनके मत में निश्चय से मनुष्य ही देव (ईश्वर) हो जाता है एवं वह ईश्वर भी बहुसंख्या-युक्त (चौबीस) है। ये दिगम्बर ही इसप्रकार विचार-शून्य बातको मानते हैं ॥७८॥ हे पुत्र ! धर्म के विषय में निश्चय से वेद ही प्रमाण है। वेद को छोड़कर संसार में देव नहीं है। अर्थात्—वेद ही देवता है। जो पुरुष भली प्रकार इस वेद को नहीं जानता, वह चारों वर्णों (ब्राह्मणादि) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) के आचार को नहीं जानता ॥७९॥ हे पुत्र ! यदि तुम्हारी देवताओं में भक्ति है तो श्री महादेव अथवा लक्ष्मीकान्त अथवा श्री सूर्य देवता की पूजा करो। क्योंकि ये देवता कुपित हुए मृत्यु प्राप्त करते हैं व सन्तुष्ट हुए राज्य देते हैं ॥८०॥

उक्त बात सुनकर यशोधर महाराज अपने मन में विचारते हैं—

अहो आत्मन् ! निश्चय से स्वभाव से अङ्गार-सरीखे मलिन मन को अमृत से प्रक्षालन भी शुद्धि-निमित्त नहीं होता। क्योंकि—ये निम्न प्रकार चार पदार्थ तत्वज्ञान के निषेध के कारण हैं। चित्तवृत्ति न जान करके वृथा स्नेह करना, स्वभाव से दुष्ट हृदयता, अज्ञानता व युक्त उपदेश में बलात्कार से वाद विवाद करना ॥८१॥ जो पुरुष कर्तव्य-विचारों में प्रतिज्ञा करता है। अर्थात्—'यदि ऐसा नहीं होगा तो मैं अपनी जीभ काट लूँगा' इत्यादि प्रतिज्ञा करता है। एवं जो अपने पक्ष के निग्रह-स्थान (पराजय) होने पर व्याकुलित या लज्जित हो जाता है उस पुरुष के प्रति मृदुभाषी होना चाहिए, क्योंकि स्पष्ट है कि किसी भी उपाय से कर्तव्य सिद्ध करना चाहिए ॥८२॥ यह चन्द्रमती निश्चय से मेरी हितकारिणी माता है और इतना ही नहीं, अपितु राज्य की अधिष्ठात्री भी है। अतः इसको मेरे विषय में सभी कार्य (राज्य से निकालना-आदि) करने का अधिकार प्राप्त है। क्योंकि स्वामी जो चाहता है, वही करता है अर्थात्—प्रकरण में माता जो चाहेगी वही होगा ॥८३॥

पुत्रस्य पित्रानुचरस्य भर्त्रा शिष्यस्य वादो गुरुणा च सार्धम् । सुशिक्षितस्यापि सुमेधसोऽपि न श्रेयसे स्यादिह नाप्यमुत्र ॥८५॥
देवाभिषेकार्चनवन्दनानि जपप्रसंख्याश्रुतपूजनानि । यथा स लोकः कुरुते तथाम्ब प्रष्टव्य एवैष जनो भवत्या ॥ ८६ ॥
मर्त्येषु चेत्सद्मसु नाकिनां वा विधाय पुण्यं पितरः प्रयाताः । तेषामपेक्षा द्विजकाकभुक्तैः पिण्डैर्भवेद्वर्षकृतैर्न कापि ॥ ८७ ॥
गत्यन्तरे जन्मकृतां पितॄणां स्वकर्मपाकेन पुराकृतेन । तत्रापि किं तैर्न च दृष्टमेतत्तृप्तिः परेषां परतर्पणेति ॥ ८८ ॥
येनापि केनापि मिषेण मान्यैर्धर्मो विधेयः स्वहितैकतानैः । अनेन कामेन कृतः पुराणैर्मार्गोऽयमात्माभ्युदयप्रवीणैः ॥ ८९ ॥

निर्निमित्तं न कोऽपीह जनः प्रायेण धर्मधीः । अतः श्राद्धादिकाः प्रोक्ताः क्रियाः कुशलबुद्धिभिः ॥ ९० ॥
किं च पर्वतीर्थातिथिश्राद्धवारवासरतारकाः । नित्यं दातुमशक्तानां पुण्यायोक्ताः पुरातनैः ॥ ९१ ॥

जन्मैकमात्माधिगमो द्वितीयं भवेन्मुनीनां व्रतकर्मणा च । अमी द्विजाः साधु भवन्ति तेषां संतर्पणं जैनजनः करोति ॥ ९२ ॥
द्वयेन मार्गेण जगत्प्रवृत्तं गृहस्थवृत्त्या यतिकर्मणा च । तस्य द्वयस्यापि विभिन्नसृष्टेः शीतोष्णवन्नैकतया प्रवृत्तिः ॥ ९३ ॥

अब यशोधर महाराज स्पष्ट कहते हैं—हे माता ! अवसर प्राप्त किया हुआ मैं यदि अज्ञानता से अथवा चञ्चलता से अथवा दयालुता से अथवा पूर्व में आपके द्वारा स्थापित किये हुए गुणों के कारण अपना पक्ष-स्थापन करूँ तो आपका हृदय क्षमा करने योग्य होवे ॥८४॥ हे माता ! पुत्र का पिता के साथ, सेवक का स्वामी के साथ एवं शिष्य का गुरु के साथ वाद विवाद करना इस लोक व परलोक में कल्याणकारक नहीं है, चाहे वह (पुत्र-आदि) कितना ही सुशिक्षित (विद्वान्) व प्रशस्त बुद्धिशाली भी हो ॥८५॥ हे माता ! वह प्रशस्त आर्हत (जैन) लोक, जिसप्रकार से देवस्नपन, पूजन, स्तवन, मन्त्र-जाप, ध्यान व श्रुत पूजा करता है उसीप्रकार से आप इससे पूछ सकती हैं, मैं क्या कहूँ ॥८६॥ हे माता ! जब पूर्वज लोग पुण्य कर्म करके यदि मनुष्यजन्मों में अथवा स्वर्ग लोकों में प्राप्त हो चुके तब उन्हें उन श्राद्धपिण्डों की कोई भी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, जो कि ब्राह्मण व कार्कों द्वारा भक्षण किये गये हैं एवं जो एक वर्ष में किये गए हैं ॥८७॥ हे माता ! पूर्वजन्म में उपार्जन किये हुए अपने कर्मों के उदय से दूसरी गति (स्वर्गादि) में जन्म धारण करनेवाले पूर्वजनों की दूसरी गति (स्वर्गादि) में भी उन पूर्वजनों ने क्या यह नहीं देखा ? अथवा नहीं जाना ? कि 'ब्राह्मणादि का तर्पण पिताओं (पूर्वजनों) को तृप्त करनेवाला है' । क्योंकि वे भी श्राद्ध-आदि नहीं करते और न वैसी प्रवृत्ति करते हैं ॥८८॥ हे माता ! 'आत्म-हित में श्रद्धा रखनेवाले सत्पुरुषों को, जिस किसी भी बहाने से धर्म (दान-पुण्यादि) करना चाहिए' इस इच्छा से अपनी आत्मा की सुख-प्राप्ति करने में विचक्षण चिरन्तन पुरुषों ने यह श्राद्ध लक्षणवाला मार्ग किया है ॥८९॥ हे माता ! इस संसार में कोई भी पुरुष, निष्कारण प्रायः धर्म में बुद्धि रखनेवाला नहीं होता, इसलिए चतुर-बुद्धिशाली विद्वानों ने श्राद्ध-आदि क्रियाएँ कही हैं ॥९०॥

पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार के अवसर सदा दान करने में असमर्थ पुरुषों के पुण्य निमित्त कहे हैं—पर्व (अमावास्या-आदि), तीर्थ (गङ्गा-गोदावरी-आदि), अतिथि, श्राद्ध (पक्ष के मध्य में आहार दान), वार (रविवार-आदि), वासर (जिस दिन में पिता-आदि पूर्वजों का स्वर्गवास हुआ है) एवं रोहिणी-आदि नक्षत्र ॥९१॥ हे माता ! मुनियों के दो जन्म होते हैं—पहला जन्म उत्पन्न होना (गर्भ से निकलना) और दूसरा जन्म दीक्षा कर्म द्वारा । इसलिए ये मुनि लोग यथार्थरूप से द्विज (दो जन्मवाले-ब्राह्मण) हैं । उन मुनि-लक्षण-युक्त ब्राह्मणों का सन्तर्पण (चार प्रकार के दान द्वारा सन्तुष्ट करना) जैनजन (आर्हत लोक) करता है [अतः हे माता ! आपने कैसे कहा कि जैनों के यहाँ ब्राह्मण-सन्तर्पण नहीं है] ॥९२॥

स्नात्वा यजेताप्तमथागमं वा पठेदथ ध्यानमुपाचरेद्वा । स्नानं भवेदेव गृहाश्रितानां स्वर्गापवर्गागमसंगमाय ॥ ९४ ॥

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जतोन्मज्जनमात्रमेव । पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात् ॥ ९५ ॥

तदाह—रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः । न ते कालेन शुध्यन्ति स्नानात्तीर्थशतैरपि ॥ ९६ ॥

षट्कर्मकार्यार्थमथान्नशुद्ध्यै होमो भवेद्भूतबलिश्च नाम ।
सुधाशिनः स्वर्गसुखोचिताङ्गाः कामन्ति किं वह्निहुतं लिहन्ति ॥ ९७ ॥

तत् 'अग्निमुखा वै देवाः' इत्यस्यायमर्थः—अग्निरिव भासुरं मुखं येषां ते तथा । चन्द्रमुखी कन्येतिवत्, न पुनरग्निरेव मुखं येषामिति, प्रतीतिविरोधात् ।

मोक्षार्थमुद्युक्तधियां नराणां स्नानेन होमेन च नास्ति कार्यम् । गृहस्थधर्मो न यतेर्यतेर्वा धर्मो भवेन्नो गृहिणः कदाचित् ॥ ९८ ॥

तदुक्तम्— विमत्सरः कुचेलाङ्गः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः । समः सर्वेषु भूतेषु स यतिः परिकीर्तितः ॥ ९९ ॥

हे माता ! यह मनुष्य लोक दो धर्म-मार्गों से प्रवृत्त हुआ है। गृहस्थों के आचार मार्ग द्वारा और मुनियों के आचार-मार्ग द्वारा। उन दोनों गृहस्थ व मुनिमार्गों की एकरूप से प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि उन दोनों के आचार (क्रियाएँ) शीत व उष्ण-सरीखे भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात्—जिस प्रकार शीत स्पर्श पृथक् और उष्ण स्पर्श पृथक् है उसी प्रकार गृहस्थ धर्म पृथक् और मुनि धर्म पृथक् है। क्योंकि दोनों के आचार एक सरीखे नहीं हैं ।।९३।। गृहस्थ श्रावक को स्नान करके सर्वज्ञ, वीतराग अर्हन्त भगवान् की, अथवा आगम की पूजा करनी चाहिए, अथवा शास्त्रों का अध्ययन या धर्म ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थों का जल स्नान स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के संगम के लिए होता ही है। अर्थात्—गृहस्थ धर्मानुष्ठान करने से पूर्व में स्वर्ग जाते हैं, व वहाँ से चय करके मनुष्य जन्म धारण करके मुनि धर्म के अनुष्ठान द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं ।।९४।। हे माता ! नदी, तालाब, समुद्र व बावड़ी में डुबकी लगाना और निकलना मात्र यदि पुण्य निमित्त है तो मछली-आदि जलचर जीवों को पूर्व में स्वर्ग होना चाहिए और अन्य ब्राह्मणादि को बाद में ।।९५।। शास्त्रकारों ने कहा है—जो पुरुष राग, द्वेष व मद से उन्मत्त हैं, अर्थात्—खाए हुए धतूरे-सरीखे हैं एवं जो स्त्रियों में लम्पट हैं, वे सैकड़ों तीर्थों में स्नान करने से भी चिरकाल में भी शुद्ध नहीं होते ।।९६।। स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और मारण इन छह कर्मों के लिए अथवा अन्न को पवित्र करने के लिए होम होता है। एवं व्यन्तरों के सन्तुष्ट करने के लिए उनकी पूजा होती है। अमृत मात्र भोजन करनेवाले और स्वर्ग-सुख के योग्य शरीरवाले देवता क्या अग्नि में आहुति किये हुए पदार्थ का भक्षण करते है ? अपि तु नहीं करते ।।९७।। उस कारण से 'अग्निमुखा वै देवाः' इस वेदवाक्य का यह अर्थ है कि जिनका मुख अग्नि के समान प्रकाशमान है वे देव हैं। 'चन्द्रमुखी कन्येतिवत्' अर्थात्—जिस प्रकार उक्त पद का चन्द्र-सरीखे मुखवाली कन्या, यह अर्थ होता है। अर्थात्—इसका यह अर्थ नहीं है कि कन्या का मुख चन्द्र ही है। उसी प्रकार उक्त वेद वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि 'अग्नि ही है मुख जिनका', क्योंकि इस अर्थ में प्रतीति से विरोध है। क्योंकि मुख की प्रतीति दन्त, ओष्ठ, नासिका, नेत्र व श्रोत्रों से होती है, अग्निरूप से नहीं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बुद्धिवाले मुनियों को स्नान व होम से प्रयोजन नहीं है। तथ्य यह है कि गृहस्थ-धर्म, मुनि धर्म नहीं है एवं मुनि धर्म कभी भी गृहस्थ का धर्म नहीं हो सकता ।।९८।। कहा है—जो पुरुष मात्सर्य (दूसरों के शुभ में द्वेष करना) से रहित है एवं जिसका शरीर मलिन वस्त्र-सा मलिन है तथा जो समस्त कलङ्क से रहित होता हुआ समस्त प्राणियों में समान बुद्धि रखता है, वह यति (मुनि) कहा गया है ।।९९।। स्नान तीन प्रकार का होता है—जल स्नान, व्रत स्नान और मन्त्र स्नान। उक्त तीन प्रकार के स्नानों

आपस्नानं व्रतस्नानं मन्त्रस्नानं तथैव च । आपस्नानं गृहस्थस्य व्रतमन्त्रैस्तपस्विनः ॥ १०० ॥
न स्त्रीभिः संगमो यस्य यः परे ब्रह्मणि स्थितः । तं शुचिं सर्वदा प्राहुर्मारुतं च हुताशनम् ॥ १०१ ॥
इति । ऋचः सामान्यथर्वाणि यजूंष्यङ्गानि भारत । इतिहासः पुराणं च त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥ १०२ ॥

तदत्र श्रुतिस्मृतिभ्यामतीव बाह्योऽयमर्थस्तेनार्हत्समये कथं नाम ज्योतिषाङ्गे वचनमिदमुक्तम्——

समग्रं शनिना दृष्टः क्षपणः कोपितः पुनः । तद्भक्तस्तस्य पीडायां तावेव परिपूजयेत् ॥ १०३ ॥

सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी । तस्यां च स्यादस्ति स्यान्नास्तीति नग्नश्रमणक इति बृहस्पतिराखण्डलस्य पुरस्तं समयं कथं प्रत्यवतस्थे ।

प्रजापतिप्रोक्ते च चित्रकर्मणि——

श्रमणं तैललिप्ताङ्गं नवभिर्भित्तिभिर्युतम् । यो लिखेत्स लिखेत्सर्वां पृथ्वीमपि ससागराम् ॥ १०४ ॥

में से जल स्नान गृहस्थ का होता है और व्रत व मन्त्रों द्वारा स्नान तपस्वी का होता है ॥१००॥ विद्वानों ने उस पुरुष को, जिसका स्त्रियों के साथ संगम नहीं है, एवं जो आत्म भावना में लीन है, सदा शुचि कहा है एवं वायु तथा अग्नि को सदा पवित्र कहा है ॥१०१॥ ऋग्वेद-वाक्य, सामवेद-वाक्य, अथर्वण वेद के मन्त्र, यजुर्वेद वाक्य (काण्डी) और निम्न प्रकार वेद के छह अङ्ग । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष व निरुक्त । तथा इतिहास (महाभारत व रामायण), पुराण, मीमांसा व न्याय शास्त्र इन १४ विद्यास्थानों को त्रयी विद्या कहते हैं ॥१०२॥

अब जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करते हैं—हे माता ! आपके कहे अनुसार जब जैन दर्शन वेद व स्मृति से विशेष बहिर्भूत है एवं अभी कलिकाल से ही उत्पन्न हुआ है तब ज्योतिष शास्त्र में, जो कि वेदाङ्ग है, यह निम्न प्रकार वचन कैसे कहा ? 'जो पुरुष पूर्ण रूप से शनैश्चर द्वारा देखा गया है । अर्थात्—जो सप्तम स्थान में स्थित हुए शनैश्चर ग्रह द्वारा देखा गया है और जिसने दिगम्बर साधु को कुपित किया है, जिससे जब उसे शनैश्चर ग्रह सम्बन्धी व दिगम्बर मुनि सम्बन्धी पीड़ा (शारीरिक कष्ट) उपस्थित हुई है, तब उस पीड़ा के निवारण के लिए उसे शनिभक्त व दिगम्बर भक्त होते हुए शनैश्चर व दिगम्बर साधु की ही पूजा करनी चाहिए न कि उक्त पीड़ा के निवारणार्थ अन्य देवता की पूजा करनी चाहिए' ॥१०३॥ सांख्य, नैयायिक व चार्वाक (नास्तिक) दर्शन ये तीनों आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्याएँ) हैं । अर्थात्—अध्यात्म विद्या के प्रतिपादक दर्शन हैं । एवं उसी आन्वीक्षिकी (अध्यात्म विद्या) में अनेकान्त (प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सद्रूप (विद्यमान)है और परचतुष्टय की अपेक्षा असद्रूप (अविद्यमान) है—इत्यादि) के समर्थक वचन को दिगम्बर साधु कहता है । अर्थात्—उक्त आन्वीक्षिकी विद्या में जैन-दर्शन भी अन्तर्भूत है ।' इसप्रकार बृहस्पति (सुराचार्य) ने इन्द्र के समक्ष उस अनेकान्त-समर्थक जैनदर्शन को कैसे प्रतिपादन किया ? अर्थात्—यदि जैनदर्शन नवीन प्रचलित होता तो बृहस्पति ने इन्द्र के समक्ष उसे आन्वीक्षिकी विद्या में कैसे स्वीकार किया ? इसीप्रकार हे माता ! यदि जैन धर्म अभी का चला हुआ होता तो प्रजापति द्वारा कहे हुए चित्रशास्त्र में निम्न प्रकार वचन कैसे कहे गए—जो चित्रकार, करोड़ सूर्य-सरीखे तेजस्वी व नव भित्तियों (कोट, वेदी-आदि नौ भित्तियों) से संयुक्त श्रमणतीर्थङ्कर परमदेव को चित्र में लिखता है—चित्रित करता है—वह असंख्यात समुद्र-सहित पृथिवी को भी चित्र में लिखता है । अर्थात्—उसे पृथिवी, पाताल व स्वर्ग लोक को चित्र में चित्रित करने का प्रचुर पुण्य होता है ॥१०४॥ इसीप्रकार सूर्यसिद्धान्त में निम्नप्रकार अर्हत्प्रतिमा-सूचक वचन किसप्रकार कहे गये हैं ? वे तीर्थङ्कर परमदेव, जो कि

आदित्यमते च—

भवबीजाङ्कुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमुपेताः । ते देवा दशतालाः शेषा देवा भवन्ति नवतालाः ॥ १०५ ॥

वराहमिहिरव्याहृते प्रतिष्ठाकाण्डे च—विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्रह्मणो मातॄणामिति मातृमण्डलविदः शंभोः सभस्मा द्विजः । शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदुर्ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम् ॥ १०६ ॥

निमित्ताध्याये च— पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः । यं देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत् ॥ १०७ ॥

तथा—**उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेण्ठ-कण्ठ-गुणाढ्य-व्यास-भास-वोस-कालिदास-बाण-मयूर-नारायण-कुमार-माघ-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषु तेषूपाख्यानेषु च कथं तद्विषया महती प्रसिद्धिः ।** तस्मात्

चत्वार एते सहजाः समुद्रा यथैव लोके ऋतवोऽपि षट् च । चत्वार एते समयास्तथैव षड् दर्शनानीति वदन्ति सन्तः ॥१०८॥

संसार के बीजरूप रागद्वेषों के अङ्कुर (मोहनीय कर्म) का क्षय करनेवाले हैं एवं जो आठ महाप्रातिहार्य[1] रूपी ऐश्वर्य से व्याप्त हैं, दश हाथ परिमाणवाले होते हैं, अर्थात्—उनकी प्रतिमा दश हाथ की होनी चाहिए और बाकी के हरि व हरादि देवता नौ हाथ के परिमाणवाले होते हैं। अर्थात्—उनकी प्रतिमाएँ नौ हाथ की होनी चाहिए ॥१०५॥

इसीप्रकार हे माता ! आपके कहे अनुसार यदि दिगम्बर मत (जैनदर्शन) अभी कलिकाल में ही उत्पन्न हुआ है तो 'वराहमिहिर' आचार्य द्वारा कहे हुए 'प्रतिष्ठाध्याय' में निम्नप्रकार के वचन किसप्रकार से उल्लिखित हैं ? वैष्णवों को विष्णु की और आदित्योपजीवी ब्राह्मणों को श्री सूर्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। ब्राह्मण, ब्रह्मा की प्रतिष्ठा करना जानते हैं एवं मातृमण्डल वेत्ताओं को सात माताओं[2] की व भस्म सहित ब्राह्मण को शंभु की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। बौद्धों को बुद्ध की तथा शान्त मनवाले दिगम्बरों को जिनेन्द्रों की प्रतिष्ठा करना जानना चाहिए। अतः जो गृहस्थ पुरुष जिस देव की सेवा में तत्पर हैं, उन्हें अपनी शास्त्रोक्त विधि से उस देव की प्रतिष्ठा करनी चाहिए ॥१०६॥

इसीप्रकार निमित्ताध्याय में निम्नप्रकार के वचन कैसे कहे गए ? कमलिनी, राजहंस एवं निष्परिग्रही दिगम्बर साधु जिस देश में आते हैं। अर्थात्—कमलिनी जिस तालाब-आदि में उत्पन्न होती है एवं राजहंस व दिगम्बर साधु जिस देश में आते हैं, उसमें सुकाल कहना चाहिए ॥१०७॥ उसीप्रकार से उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ व राजशेखर-आदि महाकवियों के काव्यग्रन्थों में उस उस अवसर पर एवं भरतप्रणीत काव्याध्याय में तथा सर्वजन प्रसिद्ध उन उन दृष्टान्त कथाओं में किसप्रकार से दिगम्बर सम्बन्धी विशेष प्रसिद्धि वर्तमान है ? उस कारण हे माता ! जिस प्रकार ये चारों समुद्र स्वभाव से उत्पन्न हुए वर्तमान हैं एवं जिस प्रकार लोक में छह ऋतुएँ (हिम, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा व शरद) भी वर्तमान हैं उसी प्रकार ये चार आगम (जैन,

---

१. अशोकवृक्ष, दिव्यपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चौसठचामर, सिंहासन, करोड़ सूर्यों से अधिक तेजस्वी शरीर-तेज, साढ़ेबारह करोड़ दुन्दुभिबाजे और छत्र।

२. सप्तमातृमण्डल—ब्रह्माणी, इन्द्राणी, वाराही, भैरवी, चामुण्डा, कर्णमोटी व चर्चा।

यशः० सं० टी० पृ० ११३ से संकलित—सम्पादक

यावत्समर्थं वपुरुद्धृतायां यावच्च पाणिद्वयमेति बन्धम् । तावन्मुनीनामशने प्रवृत्तिरित्याशयेन स्थितभोजनास्ते ॥१०९॥

बालाग्रकोटावपि यत्र सङ्गे निष्किंचनत्वं परमं न तिष्ठेत् । मुमुक्षवस्तत्र कथं नु कुर्युर्मतिं दुकूलाजिनवल्कलेषु ॥११०॥

शौचं निकामं मुनिपुंगवानां कमण्डलोः संश्रयणात्समस्ति । न चाङ्गुली दर्विकृद्विषार्तां छिनत्ति नासां खलु कश्चिदत्र ॥१११॥

वदन्ति जैनास्तमिहाप्तमेते रागादयो यत्र न सन्ति दोषाः ।
मद्यादिशब्दोऽपि च यत्र दुष्टः शिष्टैः स निन्द्येत कथं नु धर्मः ॥११२॥

परेषु योगेषु मनीषयान्धः प्रीतिं दधात्यात्मपरिग्रहेषु । तथापि देवः स यदि प्रसक्तमेतज्जगद्देवमयं समस्तम् ॥११३॥

लज्जा न सज्जा कुशलं न शीलं श्रुतं न पूतं न वरः प्रचारः । मद्येन मन्दीकृतमानसानां विवेकनाशाच्च पिशाचभावः ॥११४॥

आतङ्कशोकामयकेतनस्य जीवस्य दुःखानुभवाश्रयस्य । देहस्य को नाम कृतेऽस्य मांसं सचेतनोऽद्यात्क्षणभङ्गुरस्य ॥११५॥

उक्तं च— तिलसर्षपमात्रं यो मांसमश्नाति मानवः । स श्वभ्रान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥११६॥

जैमिनी, शाक्य व शांकर) और छह दर्शन (जैन, जैमिनी, शाक्य, शङ्कर, सांख्य व चार्वाक दर्शन) वर्तमान हैं, इस प्रकार सज्जन पुरुष कहते हैं ॥ १०८ ॥ [हे माता ! जो तूने कहा है कि 'उद्भाः पशूनां सदृशं ग्रसन्ते' अर्थात्—'दिगम्बर साधु खड़े होकर पशु-सरीखे भोजन करते हैं' उस कटु-आलोचना का उत्तर यह है] कि 'जब तक दिगम्बर साधुओं का शरीर ऊपर खड़े होने में समर्थ है एवं जब तक दोनों हाथ परस्पर में मिलते हैं तभी तक मुनियों की भोजन में प्रवृत्ति होती है' इस अभिप्राय से वे खड़े होकर भोजन करनेवाले हैं ॥१०९॥ हे माता ! जिस दिगम्बर शासन में जब केश के अग्रभाग की नोंक बराबर भी सूक्ष्म परिग्रह रखने पर उत्कृष्ट निष्परिग्रहता नहीं रह सकती तब उस दिगम्बर शासन में मुमुक्षु साधु लोग दुपट्टा, मृगचर्म व वृक्ष की छाल रखने में किस प्रकार बुद्धि करेंगे ? ॥ ११० ॥

हे माता ! [जो तूने कहा है कि दिगम्बर साधु 'शौचगुणेन हीनाः' अर्थात्—शौच गुण से हीन हैं वह भी मिथ्या है, क्योंकि दिगम्बर मुनिश्रेष्ठ कमण्डलु ग्रहण करते हैं, इससे उनमें विशेष रूप से शौच गुण (जल द्वारा गुदा-प्रक्षालन) है, क्योंकि जब अंगुलि सर्प द्वारा डसी जाती है तब अंगुलि ही काटी जाती है, उस समय कोई पुरुष नाक नहीं काटता । अर्थात्—जो अपवित्र अङ्ग है वही जल द्वारा प्रक्षालन किया जाता है ॥१११॥ ये जैन लोग संसार में उसी पुरुष श्रेष्ठ को आप्त (ईश्वर) कहते हैं, जिसमें राग, द्वेष व मोह-आदि १८ दोष नहीं हैं । जिस धर्म में मद्यपान-आदि का शब्द सुनना भी भोजन-त्याग के निमित्त है, वह धर्म विद्वानों द्वारा किस प्रकार निन्दा योग्य हो सकता है ? अपि तु नहीं हो सकता ॥११२॥ जो देव, जरासन्ध व कंस-आदि शत्रु-सम्बन्धों में बुद्धि से क्रोधान्ध है एवं सत्यभामा व रुक्मिणी-आदि स्त्रियों में प्रीति धारण करता है, तथापि वह हरि व हर-आदि देव (ईश्वर) है तब तो 'समस्त संसार देवमय है' यह प्रसङ्ग उत्पन्न हुआ समझना चाहिए । अर्थात्—जब शत्रुओं से द्वेष करनेवाले व स्त्रियों में अनुराग करनेवाले को ईश्वर माना जायगा तब तो सभी ईश्वर हो जायेंगे बिना ईश्वर कोई नहीं होगा ॥११३॥ जिन रुद्रादिकों के चित्त, मद्यपान द्वारा जड़ हो चुके हैं, उनके न लज्जा, न इच्छानुसार उद्यम, न निपुणता न ब्रह्मचर्य, न पवित्र शास्त्र ज्ञान और न प्रशस्त प्रवृत्ति ही है [यदि उनमें उक्त गुण नहीं हैं तो क्या है ?] प्रत्युत उनमें प्रमाद दोष के कारण पिशाचता ही है ॥११४॥ हे माता ! जीव के ऐसे शरीर के लिए, जो कि सद्यः प्राण हर व्याधि, पश्चात्ताप व सामान्य रोगों का निवास है तथा दुःखों के उदय का स्थान है एवं जो क्षणभङ्गुर है, कौन बुद्धिमान् पुरुष मांस-भक्षण करेगा ? अपि तु नहीं करेगा ॥११५॥ शास्त्रकारों ने कहा है कि जो पुरुष तिल व सरसों बराबर मांस भक्षण करता है, वह नरक

संदिग्धेऽपि परलोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः। यदि न स्यात्ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः ॥११७॥

मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकनिपीडनात्। जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥११८॥

तथा च स्मृतिः—

सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते। तस्य चैतद्भवेत्पापं मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥११९॥

यथाजनाकूतमयं प्रवृत्तः परस्परार्थप्रतिकूलवृत्तः। विधौ निषेधे च न निश्चयोऽस्ति कथं स वेदो जगतः प्रमाणम् ॥१२०॥

तथाहि—मांसं चेदाचरितुमिच्छसि, आचर। किं तु विधिपूर्वकमाचरितव्यम्। तथाह—

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां तु काम्यया। यथाविधिनियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥१२१॥

क्रीत्वा स्वयं वा इप्युत्पाद्य परोपहृतमेव च। अर्चयित्वा पितॄन् देवान्खादन्मांसं न दुष्यति ॥ १२२ ॥

मातरि स्वसरि वा चेत्प्रवर्तितुमिच्छसि, प्रवर्तस्व। किं तु विधिपूर्वकं प्रवर्तितव्यम्। तथाह—गोसवे

से चन्द्र-सूर्य पर्यन्त नहीं निकल सकता ॥११६॥ स्वर्ग-आदि के संदिग्ध (सन्देह-युक्त) होनेपर भी विद्वानों को मद्य-मांस-आदि का भक्षणरूप पाप छोड़ना ही चाहिए। यदि स्वर्गादि नहीं है, तो क्या है? अर्थात्—मांस-आदि के त्यागी का कुछ भी अरुचिर (बुरा) नहीं होगा, अपि तु अच्छा ही होगा और यदि स्वर्ग-आदि हैं तब तो चार्वाक (नास्तिक) खण्डित ही है ॥११७॥ विद्वान् लोग ऐसे मधु (शहद) का किस प्रकार भक्षण करते हैं? जोकि शहद की मक्खियों के गर्भ में उत्पन्न हुए मक्खियों के बच्चों के अण्डों के निचोड़ने से उत्पन्न हुआ है एवं जिसकी आकृति जरायुपटल-सरीखी है ॥११८॥ स्मृति शास्त्र में भी कहा है—सात ग्रामों को अग्नि से जलाने पर जितना पाप लगता है, उतना पाप पुरुष को मधु की बूँद का आस्वादन करने से लगता है ॥११९॥ वैदिक-समालोचना—हे माता! यह वेद (ऋग्वेद-आदि), जो कि मनुष्यों की इच्छानुसार प्रकृतिवाला है। अर्थात्—लोक जिसप्रकार से विषयादि सेवन करना चाहता है वेद भी उसी प्रकार से कहता है। एवं परस्पर पूर्वापर के विरोध सहित होता हुआ प्रवृत्ति को प्राप्त हुआ है तथा जिसमें विधि (कर्तव्य) व निषेध का निश्चय नहीं है, संसार को प्रमाणभूत किस प्रकार से हो सकता है? ॥१२०॥ अब वेद सम्बन्धी उक्त बात का समर्थन किया जाता है—यदि मांस भक्षण करना चाहते हो तो उसका भक्षण करो किन्तु वेद में कही हुई विधि से भक्षण करना चाहिए।

मांस-भक्षण की विधि—

प्रोक्षणादि विधि (कुश—दर्भ व मन्त्र जल से पवित्र करना-आदि) से अधिकृत हुआ पुरुष ब्राह्मणों की इच्छा से कुश व मन्त्र जल से पवित्र किये हुए मांस का भक्षण करे। परन्तु प्राणों के विनाश होनेपर भी प्रोक्षणादि विधि के बिना मांस भक्षण न करे ॥१२१॥ पितरों (पूर्वजों) व देवताओं की पूजा करके ऐसे मांस को खानेवाला दोषी नहीं है, जो कि खरीदकर प्राप्त हुआ है, अथवा जो निश्चय से स्वयं जीव-घात किये बिना उत्पन्न किया गया है तथा जो दूसरे पुरुष द्वारा लाया गया है ॥१२२॥ यदि माता वा बहिन के साथ मैथुन करना चाहते हो तो मैथुन करो किन्तु विधि पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए। वह विधि कौन सी है, उसका निरूपण करते हैं—गोसव नाम के यज्ञ में केवल ब्राह्मण (दूसरा नहीं) गोवध से यज्ञ करके एक वर्ष के अन्त में माता को भी (अपि—भी—शब्द से बहिन को भी) अभिलाषा करता है। माता का सेवन करो और बहिन का सेवन करो। इस प्रकार का वचन एवं इसप्रकार के दूसरे भी विधान वेद में वर्तमान हैं, वे वे विधान

ब्राह्मणो गोसवेनेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषतीति । उपेहि मातरमुपेहि स्वसारमिति । एवमन्येऽपि सन्ति यथा-लोकाभिप्रायं प्रवृत्तास्ते ते विषयः ।

प्रसिद्धिरत एवास्य सर्वसाधारणी मता । को हि नाम भवेद्द्वेष्यो लोकच्छन्दानुवर्तनः ॥ १२३ ॥

हिताहितावेदि जगन्निसर्गतः परस्परस्त्रीधनलोलमानसम् । तत्रापि यद्यागम एष तन्मनोवशेन वर्तेत तदा किमुच्यते ॥१२४॥

'सुरा न पेया, ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यपि वचनमस्ति । 'सौत्रामणौ च एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवति' इत्यपि । तथा ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इति । अपि च—

शूद्रान्नं शूद्रशुश्रूषा शूद्रप्रेषणकारिणः । शूद्रदत्ता च या वृत्तिः पर्याप्तं नरकाय ते ॥ १२५ ॥

तथा मांसं श्वचाण्डालक्रव्यादादिनिपातितम् । ब्राह्मणेन गृहीतव्यं हव्यकव्याय कर्मणे ॥ १२६ ॥

इत्यपि । सद्यः प्रतिष्ठितोदन्ते सिद्धान्ते परमाग्रहः । किं वेदोक्तैरिमैः[1] (?) सूक्तैरेत विड्गानुपास्महे ॥ १२७ ॥

प्रमाणं व्यवहारेऽपि जन्तुरेकस्थितिर्मतः । को नामेत्थं विरुद्धार्थे सादरो निगमे नरः ॥ १२८ ॥

लोगों के अभिप्रायानुसार प्रवृत्त हुए हैं। इस कारण से इस वेद की ख्याति सर्वसाधारणी (समस्त लोगों को सामान्यरूप) मानी गई है। अर्थान्तर न्यास अलङ्कार द्वारा उक्त बात को दृढ़ करते हैं स्पष्ट है—कि लोगों के अभिप्रायानुसार प्रवृत्ति करनेवाला कौन पुरुष द्वेष करने योग्य होता है ? अपि तु कोई नहीं ॥१२३॥ हे माता ! यह संसार, जो कि स्वभाव से पुण्य व पाप को जाननेवाला नहीं है और जिसकी चित्तवृत्ति एक दूसरे की स्त्री व धन में लम्पट है, इसप्रकार के संसार में यदि यह वेद स्वरूप शास्त्र, जगत् के अभिप्रायानुसार कहता है—प्रवृत्त होता है—उस समय क्या कहा जावे ? अर्थात्—फिर तो संसार परस्पर की स्त्री व धन में विशेषरूप से लम्पट मनवाला होगा ही ॥१२४॥ अब वेद में पूर्वापर विरोध दिखाते हैं—

'मद्यपान नहीं करना चाहिए,' 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए' यह वचन भी वेद में हैं, उक्त वाक्य के विरुद्ध वाक्य—यथा—'जो पुरुष सौत्रामणि नाम के यज्ञ में पैष्टी, गौणी व माध्वी लक्षणवाली सुरा (मद्य) पीता है, उस पुरुष द्वारा सुरा पी हुई नहीं 'समझी जाती' यह वाक्य भी वेद में है। इसीप्रकार 'ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता) के लिए ब्राह्मण (चारों वेद का ज्ञाता ब्राह्मण विद्वान्) को मार देना चाहिए' यह वाक्य भी वेद में है। अब मांस विरुद्ध वाक्य दिखाते हैं—शूद्र का अन्न, शूद्र की सेवा, और शूद्र की नौकरी करनेवाले एवं शूद्र द्वारा दी गई जीविका यह तेरे लिए पूर्णरूप से नरक में गिराने के हेतु हैं ॥१२५॥ अब मांस भक्षण का समर्थक वेद वाक्य दिखाते हैं—'वेद-पाठक ब्राह्मण को देवतर्पण व पितृतर्पण कार्य के लिए कुत्ता, चाण्डाल, और व्याघ्रादि द्वारा पशुओं को मारकर लाया हुआ मांस ग्रहण करना चाहिए' ॥१२६॥ यह वचन भी वेद में है। वेद की समालोचना—वेद व स्मृति शास्त्र में, जिसमें तत्काल विषयों की वार्ता स्थापित की गई है यदि आप लोगों का विशेष आग्रह है, तो वेद में, कहे हुए निरर्थक सुभाषितों से क्या प्रयोजन है ? आप लोग आइए हम लोग विटों (जारों—कामुकों) की उपासना करते हैं, क्योंकि वे लोग भी तत्काल पूँछी हुई विषयों की बात का उत्तर (व्यभिचार-आदि का) देते हैं ॥१२७॥ जब व्यापार-आदि व्यवहार में भी एक वाक्यता-वाली (पूर्वापरविरोध-रहित—सत्य वक्ता) मानव प्रमाण माना गया है तब कौन पुरुष इस प्रकार (पूर्व में कहे हुए) पूर्वापर-विरुद्ध अर्थ कहनेवाले वेद में आदर-युक्त होगा ॥१२८॥

---

१. 'किं वेदोक्तैर्मुधासूक्तैः' यद्यपि सर्वत्र ह. लि. प्रतिषु मुद्रितः व्याकरण-विरुद्धः पाठः समुपलभ्यते परन्तु मन्यते मुधा इति चेत् सम्यक् स्यात् —सम्पादकः

यदि च वेदोक्तेन विधिना विधीयमाना हिंसा न भवत्यधर्मसाधनम्, कथं तर्हि मार्यमाणः पशुरेवं संबोध्यते 'अन्वेनं मातानुमन्यतामनुपितानुभ्रातानुसगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः' इति ।

अथ पौरुषेयागमवच्चोदनायां विचारे महत्पातकम् । तदाह—

मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् । अप्रमाणं तु यो ब्रूयात्स भवद्ब्रह्मघातकः ॥ १२९ ॥

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १३० ॥
इत्येतन्मुग्धभाषितम् ।

दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया । दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥ १३१ ॥
तस्मात्

वृत्तानुपात्तं सकलैः प्रमाणैर्दृष्टेषु तत्त्वेषु भवत्प्रमाणम् । अन्यत्र शास्त्रं तु सतां प्रवृत्त्यै पूर्वापरस्थित्यविरोधनेन ॥ १३२ ॥

उमापतिः स्कन्दपिता त्रिशूली संध्यासु यो नृत्यति चर्मवासाः । भिक्षाशनो होमजपोपपन्नः कथं स देवोऽन्यजनेन तुल्यः ॥१३३॥

यदि वेद में कहे हुए विधान से की जानेवाली हिंसा, अधर्म साधन नहीं है तो मारा जानेवाला पशु, इसप्रकार से क्यों संबोधन किया जाता है ? 'हे पशु ! इस हिंसक पुरुष के माता-पिता व बन्धु [दोषी] जाना जावे एवं इसका सम्बन्धी और समूह-सहित मित्र दोषी जाना जाय'। अब जिसप्रकार पुरुषकृत शास्त्र विचार किया जाता है उसी प्रकार वैदिक वचनों में विचार (तर्क-वितर्क) करने में महान् पाप है, जैसा कि कहा है—मनुरचित धर्म शास्त्र और व्यास व वसिष्ठ ऋषि-प्रणीत शास्त्र वेद में कहे हुए-सरीखा प्रमाण है। जो मानव उक्त धर्म शास्त्र को अप्रमाण—असत्य—कहेगा, वह ब्राह्मण-घात के पाप का भागी होगा ॥१२९॥ पुराण ग्रन्थ (महाभारत व रामायण-आदि), स्मृति शास्त्र, छह अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष व निरुक्त) सहित वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद व सामवेद) एवं आयुर्वेद ये चारों शास्त्र आज्ञा सिद्ध हैं। अर्थात्—इनके वचन ही प्रमाण माने जाते हैं। ये हेतुवादों (युक्तियों) द्वारा खंडनीय नहीं हैं ॥१३०॥ उक्त दोनों श्लोकों को कपोल-कल्पित—मिथ्या—समझना चाहिए। क्योंकि जब सुवर्ण अग्नि में तपाने, काटने व कसौटीपर कसने आदि की क्रियाओं द्वारा परीक्षण किया हुआ शुद्ध है तब उसमें शपथ-खाना क्या है ? अर्थात्—उक्त क्रियाओं द्वारा परीक्षित-शुद्ध सुवर्ण के विषय में कसम खाने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसकी शुद्धता प्रत्यक्ष प्रतीत ही है। एवं जब सुवर्ण उक्त क्रियाओं द्वारा परीक्षण किये जानेपर अशुद्ध है तब उसे शुद्ध बताने की कसम खाने से क्या लाभ है ? क्योंकि अशुद्ध वस्तु कसम खाने से शुद्ध नहीं हो सकती ॥१३१॥ उस कारण से—

वही शास्त्र, जो कि अविसंवादि होने से स्वीकृत व्यवहारवाला है एवं प्रत्यक्ष व अनुमान-आदि समस्त प्रमाणों द्वारा परीक्षित है, प्रत्यक्ष देखे हुए शास्त्रों में सत्यार्थ है। इसके विपरीत जो शास्त्र, प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणों द्वारा परीक्षा किया हुआ नहीं है व स्वर्ग-आदि परोक्ष (बिना देखे हुए) विषयों का निरूपण करनेवाला विसंवादी है, यदि वह पूर्वापर के विरोध से रहित है तो प्रमाण होता हुआ विद्वानों की प्रवृत्ति-हेतु है ॥१३२॥ देव-समीक्षा—वह (जगत्प्रसिद्ध) रुद्र (श्री महादेव), जो कि उमा—पार्वती-का पति व कार्तिकेय का पिता होने से ब्रह्मचर्य का भङ्ग करनेवाला है। जो त्रिशूल-धारक होने से शत्रुओं से द्वेष करनेवाला है, जो प्रभात, मध्याह्न व सायंकाल में नृत्य करता हुआ मृगचर्म को धारण करनेवाला है, अर्थात् मोह-युक्त है। एवं जो भिक्षा-भोजन करने के कारण क्षुधा दोष-युक्त है तथा होम व जप करता है। उक्त बातों के कारण वह रास्तागीर-सरीखा होने से देव (ईश्वर) किसप्रकार हो सकता है ? ॥१३३॥ जो (ऋषभादि तीर्थङ्कर) देवों व

देवेषु चार्येषु विचारचक्षुर्यथार्थवक्ता किमु निन्दकः स्यात्।
एवं न चेत्तर्हि यथार्थदर्शी भानुः प्रदीपोऽपि च निन्दकः स्यात्॥ १३४॥

यो भाषते दोषमविद्यमानं सतां गुणानां ग्रहणे च मूकः।
स पापभाक्स्यात्स विनिन्दकश्च यशोवधः प्राणिवधाद् गरीयान्॥ १३५॥

अथायमाप्तः पर एव न स्यादेवंविधो रुद्रगणोऽपरस्तु। परः पुनः किंगुण एव देवः संसारदोषानुगतो न यो हि॥ १३६॥

गुणाः कुतस्तस्य भवन्ति गम्याः शास्त्रात्प्रणीतात्स्वयमेव तेन।
वने परोक्षेऽपि पतत्त्रिसार्थे दृष्टो ध्वनेस्तत्र विनिश्चयो हि॥ १३७॥

सर्गस्थितिप्रत्यवहारवृत्तेर्हिमातपाम्भःसमयस्थितेर्वा। आद्यन्तभावोऽस्ति यथा न लोके तथैव मुक्तागममालिकायाः॥१३८॥

श्रुतात्स देवः श्रुतमेतदस्मादिमौ हि बीजाङ्कुरवत्प्रवृत्तौ। हिताहितज्ञे स्वयमेव वैशारिक पुंसि जातिस्मरवत्परेण॥१३९॥

दूसरे गुरु-आदि के विषय में विचार चक्षु (ज्ञाननेत्रवाला) है और दिगम्बर होकर यथार्थवक्ता (सत्यवादी) है, हे माता! क्या वह निंदा का पात्र हो सकता है? यदि वह निन्दा का पात्र है तब तो यथार्थ वस्तु को प्रकाशित करनेवाला सूर्य व दीपक भी निन्दा का पात्र हो जायगा॥१३४॥ जो पुरुष दूसरे के गैरमौजूद दोष कहता है व साधुओं के ज्ञानादि गुणों में मूक रहता है, वह पुरुष पापी व निन्दा का पात्र है, क्योंकि किसी की कीर्ति का घात करना उसकी हिंसा करने से भी महान् होता है॥१३५॥ यदि 'रुद्र लक्षणवाला देव ही आप्त (ईश्वर) है और निश्चय से अर्हन्त ईश्वर नहीं है' ऐसा आप कहते हैं तो आपके द्वारा माने हुए ग्यारह रुद्रों में तो ईश्वर होने योग्य वीतरागता व सर्वज्ञता-आदि गुण नहीं हैं, इसलिए ईश्वर होनेलायक गुणों से युक्त दूसरा रुद्रगण होना चाहिए। यदि आप पूँछें कि फिर यह ईश्वर होने योग्य दूसरा रुद्रगण किन गुणों से युक्त होना चाहिए? तो उसका उत्तर यह है, कि जो सांसारिक क्षुधा व तृषा-आदि अठारह दोषों से व्याप्त नहीं है—वीतराग है—वही देव (ईश्वर) है। अभिप्राय यह है कि आपके द्वारा कहे हुए ग्यारह रुद्रों में ईश्वर होने योग्य गुण नहीं हैं, अतः राग, द्वेष रहित जिनेन्द्र ही देव है॥१३६॥

जैनों द्वारा माने हुए ईश्वर के गुण किससे जानने योग्य हैं? उस आप्त गुरु द्वारा स्वयं कहे हुए शास्त्र से वे गुण जानने योग्य हैं। उस शास्त्र का निश्चय किसप्रकार होगा? इसका समाधान यह है कि शास्त्र की ध्वनि (शब्दों का वाचन) से शास्त्र का निश्चय होगा। जिसप्रकार वन के परोक्ष (दृष्टि द्वारा अगम्य) होनेपर भी पक्षी-समूह का निश्चय उसकी ध्वनि—शब्द-से होता है। जिस पक्षी की ऐसी ध्वनि है, वह पक्षी अमुक होगा, उस ध्वनि से ही पक्षी जाना जाता है, उसीप्रकार जिस देव ने यह शास्त्र कहा है उस शास्त्र से ही उसके दोषवान् व निर्दोष होने का निश्चय होता है॥१३७॥ जिसप्रकार लोक के मध्य में सृष्टि (उत्पत्ति), स्थिति व संहार (विनाश) की प्रवृत्ति का आदि (शुरू) व अन्त—अखीर-नहीं है, अर्थात्—सृष्टि-आदि अनादि काल से चले आ रहे हैं व अनन्त काल तक चले जावेंगे। एवं जिसप्रकार शीत ऋतु उष्ण ऋतु व वर्षा ऋतु की प्रवृत्ति अनादि काल से चली आ रही है व अनन्त काल तक चली जायगी। उदाहरणार्थ—उत्पत्ति के बाद विनाश होता है व विनाश के बाद उत्पत्ति होती है एवं शीत ऋतु के बाद ग्रीष्म ऋतु होती है और ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु होती है, उसके बाद शीत काल होता है। अर्थात्—एक से एक सदा होता है उसीप्रकार मुक्त परम्परा व श्रुतपरम्परा की शुरू व अखीर नहीं है। अर्थात्—ईश्वर व श्रुत भी अनादि हैं। उदाहरणार्थ—मुक्त (ईश्वर) से आगम (द्वादशाङ्ग श्रुत) होता है और आगम (शास्त्र) से मुक्त होता है॥१३८॥ उसी का निरूपण—आगम (शास्त्र) से वह जगत्प्रसिद्ध तीर्थङ्कर अर्हन्त

असंशयं हेतुविशेषभावाद्यथोपलः स्यात्कनकं तथैव । अन्तर्बहिर्व्यस्तसमस्तदोषो ज्योतिः परं स्याद्यमेव जीवः ॥१४०॥

अङ्गारवत्सद्धि न जातु शुद्धयेद्रूपान्तरं वस्तुनि यत्र नास्ति । दृष्टो मणीनां मलसंक्षयेण तेजःप्रभावः पटुभिः कृतेन ॥१४१॥

भूता भविष्यन्ति भवन्ति चान्ये लोकत्रयज्ञाः क्रमशः क्षितीशाः ।
यथा तथाप्ता यदि को विरोधो बहुत्वमन्यत्र च वादमस्ति ॥ १४२ ॥

हरिः पुनः क्षत्रिय एव कश्चिज्ज्योतिर्गणस्तुल्यगुणोरविश्च ।
देवौ स्त एतौ यदि मुक्तिमार्गौ पृथुश्च सोमश्च कुतस्तथा न ॥ १४३ ॥

अशेषमेतद्वपुषा बिभर्ति दशावतारेण स वर्तते च । शिला प्लवात्यतिविस्मयाहं मातः कथं संगतिमङ्गतीयम् ॥१४४॥

देव होता है और उस तीर्थङ्कर देव से आगम की उत्पत्ति होती है, निश्चय से दोनों श्रुत व देव, बीज व अङ्कुर की तरह प्रवृत्त होते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार बीज से अङ्कुर होता है और अङ्कुर से बीज होता है। हित (सुख व सुख के कारण) व अहित (दुःख व दुःख के कारण) को जानने की शक्ति जन्म से स्मरणवाले पुरुष की तरह पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य व पाप से होती है। दूसरे पुरुष से क्या प्रयोजन है ? अपि तु कोई प्रयोजन नहीं। अर्थात्—जिसप्रकार जन्म से स्मरणवाला पुरुष दूसरे से नहीं पूँछता किन्तु स्वयं ही जान लेता है उसीप्रकार यह आत्मा, जो कि तीर्थङ्कर होनेवाला है, पूर्वजन्म-कृत पुण्योदय से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा स्वयं हिताहित को जानता है उसे दूसरे पुरुष (गुरु-आदि) की अपेक्षा से कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥१३९॥

जिसप्रकार भिन्न भिन्न कारणों (अग्नि में तपाना व छेदन-आदि साधनों) से सुवर्ण पाषाण, निस्सन्देह सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार यही संसारी जीव (मानव), अन्तरङ्ग कारण (कर्मों का क्षय-आदि) वहिरङ्ग (गुरु-आदि का उपदेश-आदि) कारणों से कर्ममल कलङ्क को क्षीण करनेवाला होकर मुक्त (ईश्वर) हो जाता है ॥१४०॥ अभव्य पुरुष में रूपान्तर नहीं है, अर्थात्—वह मिथ्यात्व को छोड़कर कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता—कभी शुद्ध नहीं हो सकता। वह अभव्य लक्षणवाला पुरुष, उसप्रकार कदापि शुद्ध नहीं होता जिसप्रकार अङ्गार (कोयला) कदापि जलादि द्वारा शुद्ध नहीं हो सकता एवं जिसप्रकार विचक्षण पुरुषों द्वारा किये हुए मल-विनाश से मणियों—रत्नों—में कान्ति का प्रभाव देखा गया है, अर्थात्—उसीप्रकार यह संसारी भव्य मानव, अन्तरङ्ग (सम्यग्दर्शन-आदि) व वहिरङ्ग (गुरु-उपदेश-आदि) कारणों द्वारा कर्म-मल कलङ्क का क्षय करता हुआ शुद्ध—मुक्त-हो जाता है' ॥१४१॥ जिसप्रकार भूतकालीन, भविष्यत्कालीन व वर्तमानकालीन दूसरे लोकत्रय के जाननेवाले राजा लोग क्रमशः हुए होवेंगे व हो रहे हैं उसीप्रकार यदि अतीत, अनागत व वर्तमानकालीन तीर्थङ्कर परमदेव हुए, होंगे व हो रहे हैं तो इसमें क्या विरोध है ? अपि तु कोई विरोध नहीं। इसीप्रकार तीर्थङ्करों की अधिकता के विषय में भी कोई विरोध नहीं, क्योंकि परमत में भी देवताओं की प्रचुरता अतिशय रूप से है। अर्थात्—जिसप्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नवग्रह, तिथि, देवता व बारह सूर्य इनमें संख्या की अधिकता पाई जाती है उसीप्रकार तीर्थङ्कर परम देवों में भी प्रचुरता समझनी चाहिए ॥१४२॥ फिर श्रीनारायण कोई क्षत्रिय ही हैं और सूर्य भी शुक्र व शनैश्चर-आदि-सरीखा है। जब ये दोनों (श्री नारायण व सूर्य) मुक्ति का उपाय बतानेवाले देवता हैं तो आदि क्षत्रिय पृथुराजा व चन्द्रमा ये दोनों मुक्ति का उपाय बतानेवाले देवता क्यों नहीं हैं ? अपितु होने चाहिए ॥१४३॥

---

१. तथा चोक्तं समन्तभद्रेण महर्षिणा—
'दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥१॥'　　देवागमस्तोत्र से—

स्वयं स कुष्ठी पदयोः किलार्कः परेषु रोगातिहरश्च चित्रम् ।
अजा परेषां विनिहन्ति वातं स्वयं तु वातेन हि सा म्रियेत ॥ १४५ ॥

माता—(स्वगतम् ।)

गतः स कालः खलु यत्र पुत्रः स्वतन्त्रवृत्त्या हृदयेप्सितानि । कार्याणि कार्येत हठान्नयेन भयेन वा कर्णचपेटया वा ॥१४६॥

युवा निजादेशनिवेशितश्रीः स्वयंप्रभुः प्राप्तपदप्रतिष्ठः । शिष्यः सुतो वाऽऽत्महितैर्बलाद्धि न शिक्षणीयो न निवारणीयः ॥१४७॥

(प्रकाशम् ।)

त्वयोपदेशः खलु किं नु कुर्याद्विनीतचित्तस्य बहुश्रुतस्य । को नाम धीमांल्लवणाम्बुराशेरुपायनार्थं लवणं नयेत ॥१४८॥

विचक्षणः किं नु परोपदेशे न स्वस्य कार्ये सकलोऽपि लोकः । नेत्रं हि दूरेऽपि निरीक्षमाणमात्मावलोके त्वसमर्थमेव ॥१४९॥

निघ्नन्ति निःसंशयमेव भूपाः पुत्रं च मित्रं पितरं च बन्धुम् ।
स्वस्य श्रिये जीवितरक्षणाय राज्यं कुतः क्षान्तिपरायणानाम् ॥१५०॥

तदस्य दुःस्वप्नविधेः शमार्थं संरक्षणार्थं निजजीवितस्य । दुर्वाससां वत्स विहाय जीवैर्विधेहि मखं कुलदेवतायाः ॥१५१॥

किमङ्ग, महामुनिर्गौतमः प्राणत्राणार्थमात्मोपकारिणमपि नाडीजङ्घं न जघान । विश्वामित्रः सारमेयम् ।

हे माता ! जब वह विष्णु इस समस्त संसार को अपने उदर के मध्य में धारण करता है तब शूकर, कच्छप-आदि दश अवतार कैसे धारण करता है ? अर्थात्—जो समस्त तीन लोक को उदर के मध्य धारण करता है, वह दश अवतार कहाँ ठहरकर ग्रहण करता है ? यह बात 'शिला पानी में तैरती है' इससे भी विशेष आश्चर्यजनक है, अतः किसप्रकार युक्तिसङ्गत हो सकती है ? अपितु नहीं हो सकती ॥१४४॥ वह सूर्य स्वयं तो निश्चय से पादों में कुष्ठ रोगवाला है और भक्तों की रोग-पीड़ा-विध्वंसक है, यह उसप्रकार आश्चर्यजनक है जिसप्रकार बकरी दूसरे लोगों की दूषित वायु नष्ट करती है और स्वयं वात रोग से मृत्यु प्राप्त करती है ॥१४५॥ अब उक्त बात को सुनकर माता चन्द्रमति अपने मन में निम्नप्रकार चिन्तवन करती है—निश्चय से वह अवसर निकल गया, जिसमें यशोधर पुत्र, मेरी स्वतन्त्र वृत्ति से मनचाहे कार्य कराने के लिए हठ, नीति व भय से अथवा कान उमेठ कर प्रेरित किया जाता था । अर्थात्—अब हठादि से कर्तव्य कराने के लिए समर्थ नहीं रहा ॥१४६॥ इस समय यह जवान है, शिशु नहीं है, जिसने अपनी आज्ञा में लक्ष्मी आरोपित—स्थापित—की है एवं स्वयं सब का स्वामी है तथा जिसने राज्य पद में प्रतिष्ठा प्राप्त की है, अतः यह स्पष्ट है कि अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषों द्वारा विद्यार्थी अथवा पुत्र बलात्कार से न शिक्षा देने योग्य है और न रोकने योग्य है ॥१४७॥ हे पुत्र ! तुम सब विषयों में प्रवीण हो, इसलिए निश्चय से विनय में तत्पर चित्तवाले और अनेक शास्त्रों में निपुणता-प्राप्त किये हुए तुम्हें मेरा उपदेश क्या करेगा ? उदाहरणार्थ—कौन बुद्धिमान् पुरुष लवण समुद्र को भेंट देने के लिए नमक लाता है ॥१४८॥ हे पुत्र ! तुम बुद्धिमान् हो, परन्तु सभी लोग दूसरों को उपदेश देने में प्रवीण होते हैं, परन्तु अपने कर्तव्य-पालन में प्रवीण नहीं होते । जैसे चक्षु दूरवर्ती वस्तु को देखनेवाली होती है परन्तु स्वयं अपने को देखने में असमर्थ ही होती है ॥१४९॥ हे पुत्र ! राजा लोग अपनी लक्ष्मी व जीवन-रक्षा के लिए निस्सन्देह पुत्र, मित्र पिता व भाई को मार डालते हैं । क्योंकि क्षमाशील राजाओं का राज्य किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है ? ॥१५०॥ अतः हे पुत्र ! इस दुष्ट स्वप्न की शान्ति के लिए व अपनी आयु के संरक्षण के लिए दिगम्बरों का उपदेश छोड़कर पशुओं से कुलदेवता की पूजा करो ॥१५१॥

एवमन्येऽपि शिबिदधीचिबलिबाणासुरप्रभृतीनामवनिपतीनां सुरभिसमयादीनामितरेषां च सत्त्वानामालम्भनेनात्मनः शान्तिकर्माणि सम्यगारेभिरे ।

यथा जलैः पङ्कजिनीदलानां पङ्केन लेपो नभसो यथा च । राज्ञस्तथा शुद्धमतेर्न पापैः संबन्धगन्धोऽस्ति कथंचनापि ॥१५२॥

विषं विषस्यौषधमग्निरग्नेरियं प्रसिद्धिर्महती यथैव । पुण्याय हिंसापि भवेत्तथैव सर्वत्र हे पुत्र न षड्हलानि ॥१५३॥

गोब्राह्मणस्त्रीमुनिदेवतानां विचारयेत्कश्चरितं विपश्चित् ।
श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवाचस्त्यज आत्मना चेन्न तवास्ति कार्यम् ॥१५४॥

न क्वापि पुंसः पुरुषार्थसिद्धिः सूक्ष्मेक्षयालोचपरीक्षकस्य । जगत्प्रवाहेण तु वर्तितव्यं महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥१५५॥

विलासिनीविभ्रमदर्पणानि कंदर्पसंतर्पणकारणानि । क्रियाश्रमच्छेदकराणि हातुं मधूनि को नाम सुधीर्यतेत ॥१५६॥

मताः समा मन्मथतत्त्वविद्भिर्मृताः स्त्रियो मद्यविवर्जिताश्च ।
ये भुञ्जते मांसरसेन हीनं ते भुञ्जते किं नु न गोमयेन ॥१५७॥

अहो पुत्र ! गौतम नाम के महामुनि ने प्राण रक्षा के लिए अपना उपकार करनेवाले बन्दर को क्या नहीं मारा[1] ? इसीप्रकार हे पुत्र ! विश्वामित्र नाम के महामुनि ने अपना उपकार करनेवाले कुत्ते को क्या नहीं मारा ? इसीप्रकार दूसरे राजाओं ने भी शिबि, दधीचि, बलि व बाणासुर आदि नामवाले राजाओं के घात द्वारा और गाय वगैरह पशुओं के एवं दूसरे प्राणियों के घात द्वारा अपने शान्ति कर्म भली प्रकार आरम्भ किए। हे पुत्र ! जिसप्रकार कमलिनियों के पत्ते जलों से लिप्त नहीं होते एवं जिसप्रकार कीचड़ से आकाश लिप्त नहीं होता उसीप्रकार शुद्ध बुद्धिवाले राजा का पापों से बन्धलेश भी किसी प्रकार नहीं होता ॥१५२॥ हे पुत्र ! जिसप्रकार विष की औषधि विष व अग्नि की औषधि अग्नि है' यह विशेष प्रसिद्धि है उसी प्रकार जीव वध भी कल्याण हेतु होता है। हे पुत्र ! सभी खेतों में छह हल ही नहीं होते, अर्थात्—किसी खेत में कम और किसी में ज्यादा भी हल होते हैं एवं किसी में छह ही हल होते हैं ॥१५३॥ कौन विद्वान् पुरुष गायों, ब्राह्मणों, स्त्रियों, गौतम-आदि महामुनियों एवं देवताओं के आचार का विचार करता है ? यदि तुम्हें अपनी आत्म-रक्षा से प्रयोजन नहीं है तो वेद, स्मृति (धर्म शास्त्र), इतिहास और रामायण-महाभारत-आदि पुराणों के वचन छोड़ो। अर्थात्—यदि तुम आत्म रक्षार्थी हो तो वेद-आदि के वचन मत छोड़ो ॥१५४॥ हे पुत्र ! सूक्ष्म दृष्टि से विशेष परीक्षा करनेवाले मानव की कोई पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) सिद्धि नहीं होती। अतः मनुष्य को लोक मार्ग से प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि जिस मार्ग से सज्जन प्रवृत्त होता है, वही कर्तव्य मार्ग है ॥१५५॥ हे पुत्र ! कौन विद्वान् पुरुष ऐसे मधु व मद्य-आदि के छोड़ने का यत्न करेगा ? जो (मधु-आदि), कमनीय कामिनियों के विलासों (हाव-भाव-आदि) के देखने में दर्पण-सरीखे हैं और कामोद्रेक के उद्दीपन के कारण हैं एवं कर्तव्य करने से उत्पन्न हुए परिश्रम को नष्ट करनेवाले हैं ॥१५६॥ हे पुत्र ! कामशास्त्र के रहस्य में प्रवीण-पुरुषों ने मरी हुई स्त्रियाँ और मद्य न पीनेवाली स्त्रियाँ समान मानी हैं। हे पुत्र ! जो मांस रस-रहित भोजन करते हैं वे लोग क्या गोबर-सहित भोजन नहीं करते ? ॥१५७॥

---

१. गौतम नाम के महामुनि की कथा—एक समय गौतम नाम के महामुनि तीर्थयात्रार्थ गए परन्तु मार्ग भूल जाने के कारण महान् वन में प्रविष्ट हुए। प्यास से व्याकुलित हुए एवं भूँख की अग्नि द्वारा जलती हुई कुक्षिवाले उन्हें स्वच्छन्द विहार करनेवाला बन्दर तालाब-आदि जलस्थान पर ले गया। बाद में उस मुनि ने बन्दर द्वारा दिखाया हुआ पानी पीकर उस बन्दर को मार कर उसके मांस का भोजन करके वन को पार किया।

यदि च मद्यमांसनिषेवणे महादोषस्तदा कथमेतन्महर्षिभिरुदाहृतम्—

'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेष भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलम् ॥' इति १५८॥

कथं च हव्यकव्यविधिषु प्रयत्नेन तद्ग्रहणम्। तदाह—

'तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन च। दत्तेन मासं तृप्यन्ते विधिवत्पितरो नृणाम् ॥१५९॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन च। औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेव पञ्च वै ॥१६०॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन हि सप्त वै। अष्टावैणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥१६१॥

दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः। शशकूर्मस्य मांसेन मासानेकादशैव तु ॥१६२॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वा। वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥१६३॥' इति।

राजा—(स्वगतम्।)

ऐश्वर्यमेकं तिमिरं नराणामेवंविधो बन्धुगणो द्वितीयम्। किं नाम पापं न करोतु जन्तुर्मदेन मोहेन च निर्विचारः ॥१६४॥

श्रियां मनोदर्पकरैर्विलासैरापातरम्यैश्च विलासिनीनाम्। प्रतारितान्तःकरणो दुरन्तां भवाटवीमेष विशत्यवश्यम् ॥१६५॥

अलाघवीभिर्विषयैर्वराकः प्रायेण जानन्नपि मोहितात्मा। मृत्योः पुरोवारिविहारभाजां वध्यः करीवास्पदमापदां स्यात् ॥१६६॥

॥१५७॥ हे पुत्र ! यदि मद्यपान व मांस-भक्षण में महान् दोष है तब महर्षियों ने निम्न प्रकार वचन कैसे कहा ? 'मांस-भक्षण में पाप नहीं है एवं मद्य-पान व कामसेवन में भी पाप नहीं है, क्योंकि प्राणियों की मद्यपान आदि में प्रवृत्ति ही होती है। परन्तु मद्यपान व मांस-भक्षण के त्याग करने से महान् फल होता है' ॥१५८॥ हे पुत्र ! और किस प्रकार से देवकार्य व पितृकार्य विधानों में शास्त्र प्रमाण से मांस-ग्रहण वर्तमान है। उक्त बात का निरूपण—'तिलों, धान्य, जौ, उड़द, पानी और मूलों के साथ मांस को विधिपूर्वक देने से मानवों के पूर्वज सन्तुष्ट होते हैं ॥ १५९ ॥ मछली के मांस से दो महीनों तक हिरण-मांस से तीन महीनों तक और भेड़ के मांस से चार महीने तक एवं शकुनि (पक्षीविशेष) के मांस से पाँच महीने तक पिता-आदि पूर्वज तृप्त होते हैं ॥१६०॥ निश्चय से बकरे के मांस से छह माह तक पार्षत (मृगविशेष) के मांस से सात माह तक और कस्तूरी मृग के मांस से आठ महीनों तक तथा रुरुमृग के मांस से नौ महीने तक पितरगण (पूर्वज) तृप्त होते हैं ॥ १६१ ॥ शूकर व भैंसा के मांस से तो दश महीनों तक एवं खरगोश व कछुए के मांस से ग्यारह महीनों तक पितृगण तृप्त होते हैं ॥ १६२ ॥ गाय के दूध अथवा उसकी खीर से एक वर्ष तक पितृगण तृप्त होते हैं एवं गण्डक-मांस से पूर्वजों की बारह वर्ष तक होने वाली तृप्ति होती है ॥ १६३ ॥'

उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज अपने मन में निम्नप्रकार सोचते हैं—ऐश्वर्य (राज्यादि वैभव), मानवों का पहिला अन्धकार है। इसीप्रकार माता-पिता-आदि लक्षणवाला बन्धुवर्ग दूसरा अन्धकार है। अतः ऐश्वर्य के गर्व से व इसप्रकार के बन्धुवर्ग के मोह से विवेक-शून्य हुआ प्राणी कौन सा पाप नहीं करता' ? ॥१६४॥ लक्ष्मी के होने पर हृदय में मद उत्पन्न करनेवाले प्रथम प्रारम्भ में रमणीक प्रतीत हुए कमनीय कामिनियों के विलासों (नेत्र शोभाओं) द्वारा वञ्चित मनवाला यह प्राणी निश्चय से दुष्ट स्वभाव-वाली संसाररूपी अटवी में प्रवेश करता है ॥१६५॥ इन तुच्छ विषयों के कारण अज्ञान-युक्त आत्मावाला विचारा यह प्राणी प्रायः करके जानता हुआ भी हठ से उसप्रकार मृत्यु नगरी में विहार करनेवाली आपत्तियों का स्थान होता है, जिसप्रकार जंगली हाथी मृत्यु-नगरी रूपी गज-बन्धनी (हाथी पकड़ने के लिए बनाया हुआ गड्ढा) में विहार करनेवाली आपत्तियों का स्थान होता है ॥१६६॥

---

१. यथासंख्याक्षेपालंकारः। २. रूपकालंकारः। ३. 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यमरः। ४. रूपकदृष्टान्तालंकारः।

(प्रकाशम् ।) नान्येषु पापं मनसा विचिन्त्यं साक्षात्कथं तत्क्रियते मयाद्य ।
त्वया श्रुता किं नु कथा न लोके सशालिसिक्थस्य वसोः प्रसिद्धा ॥१६७॥

पिबेद्विषं यद्यमृतं विचिन्त्य जिजीविषुः कोऽपि नरो वराकः । किं तस्य तन्नैव करोति मृत्युमिच्छाप्तयशान्नैव मनोरथानि ॥१६८॥
रजस्तमोभ्यां बहुलस्य पुंसः पापं सतां नैव निदर्शनाय । नाप्येनसामासजतामपेक्षा जातौ कुले वा रजसामिवास्ति ॥१६९॥
जातिर्जरामृत्युरपायमाद्या नृपेषु चान्येषु समं भवन्ति । पुण्यैर्जनेभ्योऽभ्यधिकाः क्षितीशा मनुष्यभावे त्वविशेष एव ॥१७०॥
यथा मम प्राणिवधे भवत्या महान्ति दुःखानि भवन्ति मातः । तथा परेषामपि जीवहानौ भवन्ति दुःखानि तदम्बिकानाम् ॥१७१॥
परस्य जीवेन यदि स्वरक्षा पूर्वे क्षितीशाः कुत एव मग्नाः । शास्त्रं तु सर्वत्र यदि प्रमाणं श्वकाकमांसेऽपि भवेत्प्रवृत्तिः ॥१७२॥
अवधप्रकृत्यावहितो हि लोकः क्वापि नैवं जगदेकमार्गम् । यद्धर्मबुद्ध्या विदधाति पापं तन्मे मनोऽतीव दुनोति मातः ॥१७३॥
लोके विनिन्द्यं परदारकर्म मात्रा सहैतत्किमु कोऽपि कुर्यात् । मांसं जिघत्सेद्यदि कोऽपि लोलः किमागमस्तत्र निदर्शनीयः ॥१७४॥

अब यशोधर महाराज ने अपनी माता (चन्द्रमति) से निम्नप्रकार स्पष्ट कहा—हे माता ! जो पाप दूसरे प्राणियों के प्रति मन से चिन्तवन करने योग्य नहीं है, वह पाप इस समय मेरे द्वारा प्रत्यक्ष से किस प्रकार किया जा सकता है ? हे माता ! तूने वसुराजा व शालिसिक्थ नाम के मच्छ की लोक प्रसिद्ध कथा क्या नहीं सुनी ? ॥१६७॥ यदि कोई भी बिचारा मानव जीने का इच्छुक होता हुआ जहर को अमृत समझकर पी लेवे तो क्या वह जहर उस मनुष्य की मृत्यु नहीं करता ? क्योंकि चाही हुई वस्तुएँ केवल मनोरथ से प्राप्त नहीं होतीं । अर्थात्—उसी प्रकार धर्म बुद्धि से पाप करता हुआ प्राणी क्या पुण्य प्राप्त कर सकता है ? ॥१६८॥ पाप और अज्ञान से अधिकता प्राप्त किये हुए पुरुषों (गौतम व विश्वामित्र-आदि) का पाप विद्वज्जनों के दृष्टान्त के लिए नहीं होता । अर्थात्—जिस प्रकार उन पापियों ने प्राणियों का मांस भक्षणरूप पाप किया उसप्रकार हेयोपादेय का ज्ञान रखनेवाले सज्जन पुरुष नहीं कर सकते । सम्बन्ध प्राप्त करते हुए पापों को उसप्रकार जाति (मातृपक्ष) व कुल विषयक वाञ्छा नहीं होती जिसप्रकार धूलियों को जाति व कुल विषयक अपेक्षा (इच्छा) नहीं होती । अर्थात्—जिसप्रकार उड़ती हुई धूलियाँ सभी के ऊपर गिरती हैं, किसी को नहीं छोड़तीं उसी प्रकार बँधने वाले पाप भी किसी को नहीं छोड़ते ॥१६९॥ जन्म, जरा, मृत्यु, और रोग वगैरह दुःख राजाओं व दूसरे प्राणियों में समानरूप से होते हैं । उनमें राजा लोग पुण्यों के कारण मनुष्यों से अधिक होते हैं, राजा लोगों व पुरुषों में मनुष्यता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है ॥१७०॥ हे माता ! जिसप्रकार मुझ प्राणी के वध होने पर आपको महान् दुःख होते हैं उसीप्रकार दूसरे प्राणियों के वध होनेपर भी उनकी माताओं को विशेष दुःख होते हैं ॥१७१॥ हे माता ! यदि दूसरे जीवों के जीव से अपनी रक्षा होती है तो पूर्व में उत्पन्न हुए राजा लोग क्यों मर गए ? यदि शास्त्र सर्वत्र प्रमाण है तो कुत्ता व कौए के मांस के भक्षण में भी प्रवृत्ति होनी चाहिए ॥१७२॥ हे माता ! [संसार में] मनुष्य-समूह पाप कर्म में सावधान होकर विद्यमान है । यह संसार किसी भी अवसर पर एकमत में आश्रित नहीं होता । निश्चय से मानवगण जिस कारण धर्म बुद्धि से पाप करता है उस कारण मेरा मन विशेषरूप से सन्तप्त होता है ॥१७३॥ जब परस्त्री-भोग संसार में विशेषरूप से निन्दनीय है तब यह परस्त्री-भोग क्या कोई भी माता के साथ करेगा ? अपि तु नहीं करेगा । इसीप्रकार यदि कोई भी पुरुष जिह्वालम्पट हुआ मांस भक्षण की इच्छा करता है तो उस मांस भक्षण के समर्थन में क्या वेद शास्त्र उदाहरण देने योग्य है ? ॥१७४॥ इन्द्रिय-लम्पट और लोगों की

---

१. आक्षेपालंकारः । २. आक्षेपालंकारः । ३. उपमालंकारः । ४. जातिः अतिशयालंकारश्च । ५. दृष्टान्तालंकारः । ६. जातिरलंकारः । ७. जातिरियम् । ८. आक्षेपालंकारः ।

लोलेन्द्रियैर्लोकमनोनुकूलैः स्वाजीवनायागम एष सृष्टः ।
स्वर्गो यदि स्यात्पशुहिंसकानां सूनाकृतां तर्हि भवत्स कामम् ॥१७५॥

मन्त्रेण शस्त्रैर्गलपीडनाद्वा वेद्यां बहिश्चापि वधः समानः ।
स्वर्गो यदि स्यान्मखहिंसितानां स्वबान्धवैर्यज्ञविधिर्न किं नु ॥१७६॥

मातः, आकर्णयात्रोपाख्यानम्, यन्मयापरेद्युरेव विद्यानवद्यनामकादुपासकादुपश्रुतम् । तथाहि—किलाखण्डलसभायां ब्राह्मणाचरणं प्रति विवदमानमनसौ द्वौ विबौकसावेतत्परीक्षार्थमेकश्छगलच्छलेनापरस्तदाजीवनव्याजेन पाटलिपुत्रपुरबाहिरिकायामवतेरतुः । तस्मिन्नेवावसरे सपञ्चाशतं पञ्चशतीं छात्राणामध्यापयन्नुपाध्यायः सकलवेदवेदाङ्गोपाङ्गोपदेशावधिः काङ्क्षायननामधेयः षष्टितमीकृत्वोऽध्वरं विधित्सुस्तत्रैवाजगाम । ईक्षाञ्चक्रे च पुरुषेणाधिष्ठितमतीव महावेहमजम् । 'अहो, साधु भवत्ययमजास्तनंधयः खलु यज्ञकर्मणे' इत्यनुध्याय तं गोधमेवमभ्यधात्—'अरे मनुष्य, समानीयतामित इतोऽयं छागस्तव चेदस्ति विक्रेतुमिच्छा' इति । पुरुषः—'भट्ट, विचिक्रीषुरेवं यदि भवानिदं मे प्रसादीकरोत्यङ्गुलीयकम् ।' उपाध्यायस्तथा विधायापवर्त्य च तं पुरुषमात्मदेशीयं शिष्यमादिशति—'अहो कुशिक वत्स, बलीयानयमजास्तनंधयः । तदतियत्नमुपसंव्यानेन बद्ध्वानीयतामुदवसितम् । अहमप्येष तवानुपदमेवागच्छामि ।' तथाचरति तच्छिष्ये स वसुधायां कुलिशकीलित इव निषण्णः संभूय सर्वैरपि तदन्तेवासिभिरुत्थापयितुमशक्यः 'प्रीयन्तामत्रैवास्य

चित्तवृत्ति के अनुकूल चलनेवाले पुरुषों ने अपने विषयों के पोषणार्थ यह वेद सिद्धान्त रचा है। यदि अश्वमेध-आदि यज्ञकर्म में पशु-बध करनेवालों को स्वर्ग प्राप्त होता है तो वह स्वर्ग कसाईयों को विशेषरूप से प्राप्त होना चाहिए[1] ॥१७५॥ अथर्वणमन्त्र व संहिता-वाक्य अथवा शस्त्र व कण्ठ-मरोड़ना इनसे यज्ञ-वेदी (आलम्भन कुण्ड) पर अथवा याग मण्डप के बाह्य स्थानपर जीव घात करना एक सरीखा पाप है। यदि यज्ञ में मन्त्रोच्चारण पूर्वक होमे गए पशुओं को स्वर्ग होता है? तो अपने पुत्र-आदि कुटुम्ब वर्गों से यज्ञ-विधि क्यों नहीं होती[2] ? ॥१७६॥ हे माता! इस जीव-घात संबंधी दृष्टान्त कथा सुनिए, जिसे मैंने परसों 'विद्यानवद्य' नाम के श्रावक से सुनी थी।

सौधर्मेन्द्र की सभा में ब्राह्मणों के आचरण के प्रति विवाद करते हुए दो देवता उनके आचार की परीक्षा के लिए एक बकरा के बहाने से (बकरा बनकर) और दूसरा बकरे की जीविका करनेवाले के बहाने से (बकरा ले जानेवाला शूद्र बनकर) पटना नगर के समीपवर्ती वन में अवतीर्ण हुए। उसी अवसर पर 'काङ्क्षायन' नाम का उपाध्याय (पाठक), जो कि साढ़े पाँच सौ छात्रों को अध्यापन करनेवाला था एवं जिसकी मर्यादा चारों वेद व छह वेदाङ्गों (शिक्षा व कल्प-आदि) व उपाङ्गों के उपदेश देने में है, तथा जो साठवीं वार यज्ञ करने का इच्छुक था, वहाँ आया। उसने महाशूद्र-सहित व विशाल कायवाले बैल-सरीखे बकरे को देखा। फिर यह विचारकर कि 'आश्चर्य है कि यह बकरी का बच्चा निश्चय से यज्ञ कर्म में अच्छा है' उस बोझा ढोनेवाले पुरुष से निम्न प्रकार कहा—अरे मनुष्य! उस स्थान से इस स्थान पर इस बकरे को लाओ यदि तुम्हारी इसे बेंचने की इच्छा है।' फिर बकरा ले जानेवाले मानव ने कहा—'भट्ट! मैं तो इस बकरे को बेंचने का इच्छुक हूँ यदि आप यह मुद्रिका मेरे लिए प्रसन्न होकर अर्पण करें।' फिर उपाध्याय ने मुद्रिका देकर उसे वापिस भेजा और शिष्य को आज्ञा दी। 'अहो 'कुशिक' नामवाले बच्चे! यह बकरी का बचचा विशेष बलिष्ठ है, अतः इसे विशेष यत्न पूर्वक दुपट्टे से बाँधकर मेरे गृहपर ले जाओ। मैं भी आपके पीछे ही आऊँगा।

---

१. आक्षेपालंकारः। २. उपमालंकारः।

छागस्य मांसेन विधिपूर्वकं देवाः पितरो ब्राह्मणाश्च' इत्यकाण्डकोपकलापमगर्भविषोन्मेषकलुषचक्षुषमाशु स्वयमेव वधायोद्धृतपर्वताकारपाषाणकर्कशं स छगलस्तमुपाध्यायं मनुष्यवदुवाच—'ननु भट्टस्य किमर्थो महानेष प्रयासः' इति । भट्टः सभयः सविस्मयश्च प्रत्याचष्टे—'महापुरुष, तव स्वर्गगमनाय' इति । छागः—'अन्ये खलु ते वराकतनवः पशवो ये मखमिषेण भवता भक्षिताः । अत्र तु प्रस्तरप्रतिमाकवलन इव केवलं दन्तभङ्गस्तव' इति विचिन्त्य किंचिद्विहस्य च स तं भट्टं पुनरेवमवोचत्—

'नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हन्तुं न युक्तं तव ।
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥१७७॥'

तदनु भो महाराज, सा मदीयाम्बिका ममोक्तिषु निरुत्तरा सती परमुपायान्तरमपश्यन्ती 'लब्धप्रतिष्ठातन्त्रेषु हि राजपुत्रेषु स्वभावेन स्वजने [illegible] निष्ठुराः [illegible] । तदेते कुशलमतिभिः शान्तिकर्मणैव कर्तव्याः कार्येष्वस्वतन्त्राः' इति, तथा 'महत्यपि हि पुत्रे जननीनां बालकाल इव चाटुकारस्नेहला एवालापाः श्लाघ्यन्ते, न पुनः कर्णकटुकाः' इति च विचिन्त्य, 'मातः, 'अलमलमनेन ममाश्रेयस्करेणोपचारेण' इति मया सबहुमानं निवार्यमाणापि

जब शिष्य वैसा ही कर रहा था अर्थात् जब वह बकरे को बाँधकर ले जा रहा था तब वह बकरा पृथिवीपर वज्र से कीलित हुआ सरीखा बैठ गया और प्रस्तुत उपाध्याय के साढ़े पाँच सौ शिष्य मिलकर भी उसे उठा न सके। 'इस बकरे के मांस द्वारा वेदोक्त विधि से शचिपति-आदि देवता, पिता-आदि पूर्वज एवं ब्राह्मण-आदि तृप्ति प्राप्त करें' इस प्रकार के भाषण से उत्कट क्रोध करनेवाले व जिसके नेत्र क्रोधरूप विष की उत्पत्ति से लाल हुए हैं एवं जो शीघ्र स्वयं ही वध करने के लिए उठाए हुए पर्वताकार सरीखे पाषाणों से कर्कश हो रहा था ऐसे उपाध्याय से वह बकरा मनुष्य-सरीखा (मनुष्य की वाणी से) निम्न प्रकार बोला—'भट्ट का यह महान् प्रयास किस कारण से हो रहा है ?' उपाध्याय भयभीत व आश्चर्यान्वित होता हुआ निम्न प्रकार बोला—'हे महापुरुष ! आपके स्वर्गगमन के लिए मेरा प्रयास है।' उक्त बात को सुनकर बकरे ने मन में विचार किया। 'दूसरे पशु, जो कि यज्ञ के बहाने से आपके द्वारा भक्षण किये गए हैं, वे अकिञ्चित्कर (अल्प) शरीरधारी थे, परन्तु विशाल शरीर-धारक मेरे विषय में चट्टान की मूर्ति को चबाने समान केवल तुम्हारे दाँत टूटेंगे।' फिर उस बकरे ने कुछ हँसकर उपाध्याय से कहा—'हे भट्ट ! मैं (बकरा) स्वर्ग के भोग नहीं चाहता। 'मुझे स्वर्ग पहुँचाओ' इसप्रकार मैंने तुमसे प्रार्थना नहीं की। मैं तो बेरी आदि के पत्तों को चबाने से ही निरन्तर सन्तुष्ट हूँ। श्रेष्ठ वर्णवाले तुम्हें कर्म चाण्डाल-सरीखे होकर मेरा वध करना उचित नहीं है। यदि तुम्हारे द्वारा यज्ञ में मारे हुए प्राणी निश्चय से स्वर्ग जाते हैं, तो तुम माता-पिताओं तथा अपने पुत्रों व बन्धुवर्गों से यज्ञ क्यों नहीं करते ?' ॥१७७॥

फिर हे मारिदत्त महाराज ! जब वह मेरी माता (चन्द्रमति), जो कि मेरे उक्तप्रकार के वचनों में उत्तरहीन है व जिसने दूसरा उपाय नहीं देखा और जो 'हे माता ! मेरे इन पैरों पर पड़ने रूप अकल्याणकारक विनय से पर्याप्त है' इसप्रकार विशेष मान-सहित मेरे द्वारा निवारण भी की जा रही है, मेरे पैरों पर विशेष प्रकट की हुई करुणापूर्वक व प्रकट हुई विशेष विनय सहित गिरी और उसने मुझसे निम्नप्रकार प्रार्थना की। मेरी माता ने क्या विचार कर ? मुझसे निम्नप्रकार प्रार्थना की ? 'निस्सन्देह समस्त संसार में सम्मान-समूह प्राप्त करनेवाले राजपुत्रों के कर्तव्य स्वभाव से कुटुम्बवर्ग के प्रति धृष्टता के कारण निर्दय होते हैं, अतः निपुणबुद्धिशाली पुरुषों को इन राजपुत्रों के लिए सामनीति से ही कर्तव्यों में अपने अधीन करना चाहिए।' और निश्चय से महान् पुत्र के प्रति माताओं के शिशुकालसरीखे मिथ्यास्तुतिवाले व स्नेहपूर्ण मीठे वचन ही प्रशंसनीय होते

सप्रणयमतिप्रकटितकरुणामयमाविर्भूतप्रश्रयं च पादयोर्निपत्य मामेवमभ्यर्थितवती—'पुत्र, अहमनाथेत्यनुकम्पया वा, मातेति वत्सलतया वा, मद्दर्शनायत्तजीवितेत्युपरोधेन वा, वृद्धेति दयालुतया वा, गुरुवचनमनुल्लङ्घनीयमित्याशयेन वा, भविष्यत्यवश्यमनेनाप्यर्थितभङ्गेन पूर्वमाचरितस्यापि सुकृतस्य हानिरिति परामर्शेन वा, किमपरः कोऽपि नास्ति तव पण्डितम्मन्यभावस्यास्पदं येन मयि जरत्यामेवमतीव विहितविचारचपलोऽसीत्युपालम्भनभयेन वा, युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानातीति मार्गानुसारणेन वा, न भवति शुभं चेदनुष्ठानमहमेव स्यामेनसां भागीति मनीषया वा, चिरमियं महीयसि पदे स्थिता मयापमानिता सती न जीविष्यतीति संभावनेन वा, पुरा हि तस्या एव मम प्रभवन्ति वचांसि कुतो नाद्येति स्नेहानुगमनेन वा, नो चेदात्मानमेव करिष्यामि देवतोपहाराय त्वमेव तावदनुभवाभयकुलविशुद्धः श्रियोऽस्याः फलमित्यपवादबीभत्सतया वा, यदि परलोकदोषाशङ्कनेनान्येन वा केनचित्कारणेन प्राणिघाते न व्याप्रियसे, मा प्रावर्तिष्ठाः । किं तु विनिवेदितदक्षिणोऽसर्ववेदविद्यावृद्धैः परिभावितसकलसत्त्वोपहारफलोत्कटेन पिष्टकुक्कुटेन कुलदेवतायै बलिमुपकल्प्य तदवशिष्टं पिष्टं मांसमिति च परिकल्प्य मया सहावश्यं प्राशनीयम्' इति ।

राजा—(स्वगतम् ।) 'अहो, महिलानां दुराग्रहनिरवग्रहाणि परोपघातग्रहाणि च भवन्ति प्रायेण चेष्टितानि । स्त्रियो हि नाम भवन्तु भर्तृषु शय्याविषये पुत्रेषु च प्रतिपालनसमये प्रकामं निसृष्टार्था निरङ्कुशाचरणसमर्थाश्च, न

हैं न कि कानों को कटु प्रतीत होनेवाले।' उसने मुझसे कैसी प्रार्थना की?—'हे पुत्र! यदि तुम दुर्गति-गमन की आशङ्का से अथवा किसी दूसरे कारण से जीववध में प्रवृत्त नहीं होते तो मत प्रवृत्त होओ, किन्तु आटे के मुर्गे से, जिसमें ऐसे ब्राह्मणों द्वारा, जिनके [illegible] निवेदन की हुई दक्षिणा के लिए है और जो सर्ववेदविद्या में निपुण हैं, समस्त प्राणियों की बलि का फल विविध ग्रन्थों के प्रमाणपूर्वक ज्ञापित किये जाने से महान् है, कुलदेवता के निमित्त बलि (पूजा) समर्पण करके तथा उससे बचे हुए आटे में मांस का संकल्प करके निम्न प्रकार कारणों से तुम्हें मेरे साथ अवश्य भक्षण करना चाहिए।

हे पुत्र! तुम्हें किन कारणों से उक्त कार्य करना चाहिए? 'हे पुत्र! मैं अनाथ हूँ, इसप्रकारकी दयालुता से अथवा 'यह मेरी माता है' ऐसी अनुरागता से, अथवा 'यह मेरे दर्शनाधीन जीवनवाली है' इसप्रकार के आग्रह से, अथवा, 'यह वृद्ध है' इसप्रकार की दयालुता से, अथवा 'माता-पिता-आदि गुरुजनों का वचन उल्लङ्घन करने लायक नहीं है' ऐसे नैतिक अभिप्राय से, अथवा 'इसका मनोरथ पूर्ण न होने से पूर्वकाल में विधिपूर्वक किये हुए पुण्य का नाश अवश्य ही होगा' इसप्रकार के विचार से अथवा हे पुत्र! तुम्हारी मूर्खता का स्थान क्या कोई दूसरा गुण या स्वभाव नहीं है? जिससे तुम मुझ वृद्धा के विषय में भी उक्तप्रकार किये हुए विचार से विशेष अस्थिर प्रकृतिवाले हो रहे हो' इसप्रकार की उलाहना के भय से, अथवा 'योग्य-अयोग्य को माता पिता ही जानते हैं' इसप्रकार के मार्ग का अनुसरण (स्वीकार) करने से, अथवा 'यदि यह शुभ अनुष्ठान नहीं है तो मैं ही पाप-भागिनी होऊँगी' ऐसी बुद्धि से अथवा 'विशेष पूज्य स्थान पर अधिष्ठित हुई भी, मेरे द्वारा तिरस्कृत होने के कारण यह चिरकाल तक जीवित नहीं रहेगी' इसप्रकार के विचार से अथवा 'जब इसके परोक्षकाल (पीठ पीछे) में ही मेरे वचन उसको आज्ञापालन में समर्थ होते हैं तब इससमय उसके समक्ष क्यों नहीं आज्ञापालन में समर्थ होंगे?' इसप्रकार के प्रेमका अनुसरण करने से अथवा 'यदि मेरा वचन स्वीकार नहीं करते तो मैं ही अपने को देवता की बलि निमित्त कर दूँगी, फिर मातृ-पितृवंश में शुद्ध हुए तुमही इस राज्य की लक्ष्मी का फल भोगो' इसप्रकार के अपवाद के भय से।

उक्त बात को सुनकर यशोधर महराज ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया 'आश्चर्य है कि स्त्रियों के कार्य, बहुलता से दुराग्रह से रुकावट-हीन और दूसरों का बध करने में दृढ़प्रतिज्ञा-युक्त होते हैं। क्योंकि

पुनः पौरुषेयेषु कर्मसु । यस्मात्कमलिनीदलेषु जलकणानीव नारीणां मनांस्यत्यन्तचञ्चलत्वादतीव निःसारत्वाच्च । पुरुषोऽपि गृहकार्यादन्यत्र स्त्रियं प्रमाणयन्नदीप्रवाहपतितः पादप इव न चिरं नन्दति । स्त्री तु पुरुषमुष्टिस्थिता खड्गयष्टिरिव साधयत्यभिमतमर्थम् । अभिनिवेशं च पुनः पापपुण्यक्रियासु प्रधानं निधानमामनन्ति मनीषिणः । बाह्यानीन्द्रियाणि तपनतेजांसीव शुभेष्वशुभेषु च वस्तुषु समं विनिपतन्ति । न चैतावता भवति तदधिष्ठातुः कुशलेन पातकेन संबन्धः । संकल्पोपपन्नप्रतिष्ठानि च देवसायुज्यभाञ्जि शिलाशकलानि किमत्यासादयन् पुरुषो न भवति लोके महापञ्चपातकी । सकृदेव चाशुभसंकल्पमलिने मनसि दुरपवादकलुषिते सत्पुरुषचेतसीव दुर्लभाः खलु पुनस्तत्प्रसन्नतायामुपायाः । चिरेणापि च कालेन कृतः कल्याणकर्मणां प्रचयः प्रमादवशेन सकृदपि संजातविधिदुरभिसंधिः पावकनिक्षेपात्प्रासाद इव क्षणेन विनश्यत्यामूलतः । संकल्पेन च भवन्ति गृहमेधिनोऽपि मुनयः । यथा—उत्तरमथुरायां निशाप्रतिमास्थितस्त्रिदिवसृजित-कलत्रपुत्रमित्रोपद्रवोऽप्येकत्वभावनमानसोऽर्हद्दासः । मुनयश्च गृहस्थाः । यथा—कुसुमपुरे चिराचार्कणितसुतसमर-स्थितिरातापनयोगयुतोऽपि पुरुहूतदेवर्षिः ।

स्त्रियां, पति के साथ सुरत (मैथुन—भोग) समय में और पुत्रों के पालनपोषण के अवसर पर यथेष्ट गृह कार्यों में छोड़ी हुई व सासु-आदि से निर्भय—स्वाधीनता पूर्वक—कार्यसम्पादन में समर्थ होवें न कि पुरुषों द्वारा किये जानेवाले कार्यों में । क्योंकि स्त्रियों का मन कमलिनी-पत्तों पर पड़े हुए जलबिन्दुसरीखा विशेष चञ्चल व अत्यन्त निर्बल होता है । पुरुष भी गृहकार्य (भोजन बनाना आदि) को छोड़कर दूसरे कार्यों में स्त्री को प्रमाण मानता हुआ नदीप्रवाह में पड़े हुए वृक्ष-सरीखा चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता एवं स्त्री तो पुरुष की मुट्ठी में स्थित हुई—पुरुष से परतन्त्र हुई—उसप्रकार अभिलषित प्रयोजन सिद्ध करती है जिसप्रकार उत्तम खड्गयष्टि (तलवार) योग्य पुरुष की मुष्टि में स्थित हुई अभिलषित प्रयोजन (विजयश्री) सिद्ध करती है । विद्वान् लोग चित्त की आसक्ति को ही पाप-पुण्य क्रियाओं का मुख्य स्थान कहते है । क्योंकि यद्यपि चक्षु-आदि इन्द्रियाँ पुण्यजनक व पापजनक कार्यों में सूर्य-प्रकाश-सरीखों एककाल में ही प्रवृत्त होती हैं, परन्तु इतने मात्र से—केवल दर्शनमात्र से ही—दर्शन व स्पर्शन करनेवाले मानव को पुण्य व पाप से संबंध नहीं होता । उदाहरणार्थ—मानसिक संकल्प द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले व देव (ईश्वर) की समानता को प्राप्त हुए पाषाण-खण्डों (पाषाणमयी देवमूर्तियों) की आसादना (तिरस्कार) करता हुआ मानव क्या लोक में महापञ्च पातकी[1] (स्वामी-द्रोह व स्त्री-वध-आदि का करनेवाला) नहीं होता ? जब मन एकबार भी पापपरिणाम से दूषित (मलिन) हो जाता है तब निश्चय से उसे निर्मल करने के उपाय वैसे दुर्लभ होते हैं जैसे निन्दा से मलिन हुए सत्पुरुष के चित्त को निर्मल बनाने के उपाय दुर्लभ होते हैं । जैसे अग्नि डालने से गृह नष्ट—भस्म हो जाता है वैसे ही चिरकाल से संचय किया हुआ पुण्यकर्म-समूह भी, जिसमें असावधानी से एक बार भी नष्ट अभिप्राय उत्पन्न हुआ है, क्षणभर में समूल नष्ट हो जाता है । पुण्यपरिणाम से गृहस्थ भी मुनि-सरीखे मान्यता प्राप्त करते हैं । जैसे उत्तर मथुरा में रात्रि में ध्यानस्थ हुआ अर्हद्दासनामका सेठ, देवविशेष द्वारा किया गया है स्त्री, पुत्र व मित्र का उपद्रव जिसका, ऐसा होनेपर भी एकत्वभावना के चिन्तवन में मग्नचित्त हुआ मुनिसदृश मान्यता को प्राप्त हुआ ।[2] एवं मुनि भी पापपरिणाम से गृहस्थसरीखे हो जाते हैं । उदाहरणार्थ—जिसप्रकार

---

१. उक्तं च—'स्वामिद्रोहः स्त्रीवधो बालहिंसा विश्वस्तानां घातनं लिङ्गभेदः । प्रायेणैतत्पञ्चकं पातकानां कुर्यात्सद्यः प्राणिनः प्राप्तदुःखान् ॥ १ ॥'

२. अर्हद्दास की कथा—उत्तर मथुरा में जब अर्हद्दास नाम का सेठ चतुर्दशी का उपवास किये हुए रात्रि में श्मशान भूमिपर ध्यानस्थ होकर एकत्व भावना में लीन था तब उसके व्रत को नष्ट करने में तत्पर हुए वनदेवताओं ने अनेक उपद्रव किये, तथापि उसे जरा भी मानसिक क्षोभ नहीं हुआ, जिससे उसे मुनिसदृश मान्यता प्राप्त हुई ।

अस्ति च जगत्प्रसिद्धमिदमुदाहरणम्—एकस्मिन्नेव किल कामिनीकलेवरे मुनिकामिकुणपाशिनामभिनिवेश-निमित्तो विविधनिर्बन्धः कर्मविपाक इति । किं च ।

नरेषु संकल्पवशेन मन्मथो यथा प्रवर्तेत पयश्च धेनुषु ।
तथैव कर्माण्युभयानि मानसाद्भवन्ति दोषाधिपतिविजृम्भितात् ॥१७८॥

इयमियं च मे मोहविह्वला कालरात्रिरिव दुष्परिहारा जातुभञ्जिनीव मे गतिभङ्गाय प्रत्यवस्थिता । तदत्राहम् 'इतस्तटमितो व्याघ्रः केनास्तु प्राणिनो गतिः' इतीमं न्यायमापतितो यद्यवगणयेयमस्याः प्रतिश्रुतम्, तदेत एव समीपवर्तिनो 'देव, वृद्धेः फलमनाग्रहः' इत्युपविशन्तो भविष्यन्त्युपाध्यायाः । सकलजनसमक्षं परमपमानिता चेयं जरती न जाने किं करिष्यति । स्वस्य च मनसि चोक्तापि क्रियोत्प्रेक्षा सा न भवति पुंसः श्रेयस्करी, या न रञ्जयति परेषां चेतांसि ।

पटना नगर में 'पुरुहूत' नामका देवर्षि (दिगम्बर मुनि), आतपन योग में स्थित हुआ भी, जिसने गुप्तचर द्वारा अपने पुत्र की युद्धस्थिति सुनी थी गृहस्थसरीखा हो गया[1] । सर्वलोक में विख्यात निम्नप्रकार दृष्टान्त वचन है—केवल मरी हुई वेश्या के शरीर को देखकर दिगम्बर मुनि व वेश्यासक्त विट् तथा कुत्ते के अभिप्राय में कारण नानाप्रकार के आस्रववाला कर्मविपाक (उदय) है ।[3]

जैसे कामवासना के अभिप्राय से मनुष्य में काम (मैथुनेच्छा) उत्पन्न होता है और जैसे मरे हुए बछड़े का करङ्क (ढाँचा) देखने से गायों के थनों से दूध झरता है वैसे ही यह जीव मानसिक शुभ-अशुभ अभिप्राय से क्रमशः पुण्य-पाप कर्मों का बंध करता है ॥ १७८ ॥

मोह (अज्ञान) से विह्वल—व्याकलित हुई मेरी माता (चन्द्रमति) और मोह (प्राणि-हिंसा) से विह्वल (भयानक) यह यज्ञ, वैसा मेरे लिए दुःख से भी त्यागने के लिए अशक्य है जैसे मोह (मूर्छा) से विह्वल—व्याकुलित करनेवाली—कालरात्रि दुःख से भी त्यागने के लिए अशक्य होती है । एवं जैसे यन्त्र विशेष गतिभङ्ग (गमन-रोकने) के लिए स्थित होता है वैसे यह मेरी माता व यज्ञ गतिभङ्ग (ज्ञान नष्ट करने) के लिए स्थित है । उससे मैं यहाँपर 'इस ओर जाने से नदी का तट है और उस ओर जाने से व्याघ्र

---

१. 'यथा कुसुमपुरे कृतोदन्ताल्लेखवाहकादाकर्णितसुतसमरस्थितिरातपनयोगयुतः पुरुहूतो देवर्षिः' नागौर की ह० लि० (क) से समुद्धृत पाठान्तर—

नोट:—यद्यपि इसका अर्थ भी उपर्युक्त सरीखा है तथापि यह पाठ मु० प्रति के पाठ की अपेक्षा विशेष उत्तम है ।

२. पुरुहूत देवर्षि की कथा—पाटलिपुत्र नगर के 'पुरुहूत' नाम के राजा ने पुत्र के लिए राज्यभार समर्पण करके जिन-दीक्षा धारण कर 'देवर्षि' नाम प्राप्त किया । एवं पर्वत-मेखलापर आतपन योग में स्थित हुआ । उसने पत्रवाहक गुप्तचर से, जिसने प्रस्तुत विद्याधर की उपासना के लिए आए हुए श्रावक के साथ बातचीत की थी, शत्रुओं के साथ अपने पुत्र का युद्ध सुना । फिर कुपित हुए उसने युद्ध करने का उद्यम किया और पहाड़ी से गिरे हुए सरीखा हो गया । बाद में अवधिज्ञानी चारणऋद्धिधारी मुनि ने उसे समझाया—कि ऐसे त्रिलोक पूज्य दिगम्बर वेष को धारण करके इसप्रकार चिन्तवन करना योग्य नहीं है ।

३. श्मशान भूमि पर पड़ी हुई मृत वेश्या को देखकर दिगम्बर मुनि ने विचार किया—इसने तपश्चरण क्यों नहीं किया ? वृथा ही मर गई । जिससे मुनि को स्वर्ग का कारण पुण्य बन्ध हुआ । फिर इसे देखकर वेश्यासक्त विट् ने विचार किया कि यदि यह जीवित रहती तो मैं इसके साथ भोग करता अतः उसे पाप का कारण दुर्गति का बन्ध हुआ । कुत्ते ने उसे देखकर उसके मांस-भक्षण की इच्छा की, इससे उसे पाप का कारण नरक बन्ध हुआ ।

तथा च लौकिकी श्रुतिः—किल बृहस्पतिः सद्वृत्तोऽपि चुचुङ्कारनगरे लोचनाञ्जनहरेण कितवेन मिथ्यापवाददूषितः शतक्रतुसभायां प्रवेशं न लेभे। अलब्धाशनांशेन तु धजकनाम्ना वाग्जीवनेन 'अयं भिक्षाभ्रमणव्याजेनार्भकान्भक्षयति' इत्युपहतश्चक्रपाणिः परिव्राड्वाराणस्याम्। मधुपेषु मध्ये पीतपयाश्च मार्कण्डनामा तापसाश्रमेषु। ज्ञानं च प्रतिकूलदैवोपनिपातमौषधमिव न भवति विहितोपयोगमप्यर्थक्रियाकारि। किं नु खलु जडो द्वैपायनो येन स तादृशं कर्म समाचचार। पौलस्त्यो नीतिशास्त्रेषु नाधीतोद्दाण्डक्योपाख्यानम्, येन स परदारानपाहरत्। नहुषेण न सम्यगुपासितं गुरुकुलं येन सप्तर्षीन्सयुग्यानकार्षीत्। प्रजापतिर्जड एव एडो वा, येनात्मदुहितरि मनश्चकार। वररुचिश्च वृषलीनिमित्तमासवमिपोढूहनमिति।

(प्रकाशम्।) अम्ब, न बालकेलिष्वपि मे कदाचित्प्रतिलोमतां गतासि। न वेद्मि कथमद्यैव ते चन्द्रमतेरप्यस्थाने दुराग्रहमलीमसा मतिः समजनीति। तदपर्याप्तमत्रालापपरम्परया। भवतु। भवत्येवात्र प्रमाणम्। उत्तिष्ठ। ननु सर्वत्र पूर्यन्तामत्र कामितानि। आहूय त्वमेवादिश कृकवाकुविनिर्माणे शिल्पिनः। साधु समाज्ञापय त्वमेव भगवतीभवनशोभारम्भाय देवभोगिनम्। अनुशाधि त्वमेव यशोमतिकुमारस्य राज्याभिषेकदिवसगणनाय मौहूर्तिकान्।

है, अतः किस मार्ग से प्राणी का गमन हो ?' इसप्रकार की चिन्ता में पड़ा हुआ मैं यदि इस माता द्वारा प्रतिज्ञा की हुई बात (आटे के मुर्गे की बलि) तिरस्कृत करता हूँ तो ये समीपवर्ती लोग 'हे राजन् ! युद्ध का फल आग्रह न करना है' इसप्रकार उपदेश देते हुए मेरे उपाध्याय हो जाँयगे एवं समस्त पुरुषों के समक्ष तिरस्कृत की हुई यह वृद्ध माता न मालूम क्या करेगी ? अपने मन में वर्तमान शुद्ध भी कर्तव्य करने की इच्छा यदि दूसरों के चित्त को प्रमुदित नहीं करती तो वह पुरुष को कल्याण करनेवाली नहीं होती। उक्त बात की समर्थक लौकिक कथाएँ—निस्सन्देह 'बृहस्पति' सदाचारी होनेपर भी जब चुचुङ्कार नाम के नगर में 'लोचनाञ्जनहर' नामक जुआरी द्वारा मिथ्या-अपवाद से दूषित हुआ तब इन्द्र-सभा में प्रविष्ट न हो सका। दूसरी कथा—'चक्रपाणि' नामका सन्यासी 'धजक' नाम के स्तुतिपाठक से, जिसे प्रस्तुत संन्यासी से भोजन का भाग नहीं मिला था, 'यह भिक्षार्थ घूमने के बहाने से बच्चों को खाता है' ऐसी निन्दा से दूषित होने के कारण काशीनगर में प्रवेश न कर सका। 'मार्कण्ड' नामका तपस्वी, जिसने शराबियों के बीच में उनके स्नेह से केवल दूध ही पिया था, 'इसने शराब पी ली' इसप्रकार की लोक-निन्दा के कारण तपस्वियों के आश्रम में प्रवेश न कर सका। प्रतिकूल भाग्य के उदय से व्याप्त हुआ ज्ञान, उपयोग किया हुआ भी सेवन की हुई औषधि की तरह सफल नहीं होता।

निस्सन्देह क्या 'द्वैपायन' नाम के मुनि मूर्ख थे, जिससे उन्होंने द्वारिका नगरी को भस्म किया। क्या लङ्काधिपति रावण ने नीतिशास्त्रों में 'दाण्डक्य' राजा का उदाहरण नहीं सुना था ? जिससे उसने परस्त्री (सती सीता) का अपहरण किया। क्या 'नहुष' राजा ने भली प्रकार गुरुकुल की उपासना नहीं की ? जिससे उसने सप्तर्षियों को बैलों-सरीखे वाहन बनाए। क्या ब्रह्मा विवेक-हीन या बहिरे थे ? जिससे उन्होंने अपनी पुत्री के भोगने की इच्छा की। कात्यायन नाम के तपस्वी ने दासी के निमित्त शराब से भरा हुआ घड़ा उठाया।

अब यशोधर महाराज ने स्पष्ट कहा—हे माता ! जब बाल-क्रीड़ाओं में भी किसी भी अवसरपर तुमने मेरी प्रतिकूलता प्राप्त नहीं की, अर्थात्—सदा मेरे अनुकूल रहीं—तब न जाने आज चन्द्रमति (निर्मल बुद्धि-युक्त) तेरी बुद्धि अयोग्य आचरण में दुष्ट आग्रह से विशेष मलिन किस प्रकार हुई ? अतः इस कार्य में विशेष वार्तालाप करने से कोई प्रयोजन नहीं। अस्तु इस कार्य (आटे के मुर्गे का मारण व उसको मांस समझकर भक्षणरूप कार्य) में आप ही प्रमाण हैं। हे माता ! उठो। निस्सन्देह प्रस्तुत कार्य में आपके ही मनोरथ पूर्ण हों। तुम्हीं शिल्पियों को बुलाकर मुर्गा बनाने की आज्ञा दो व तुम्हीं कुलदेवता-गृह की शोभा करने के

एवमन्यान्यपि विधापय त्वमेव देवद्विजपरिजनपूजापुरःसराणि गृहकार्याणि। अहो वैरिकुलकमलाकरनीहार प्रतीहार, विसृज्य- तामयमशेषोऽपि यथायथमनुजीविनिवहः। अहमप्येष चिरप्रवृत्तवार्तासंजातश्रमो मनागप्यस्माद्वसुमतीतिलकास्सभामण्ड- पाददूरदेशवर्तिनि तस्मिन्मदनविलासनामनिवासभवने स्वैरविहाराय गच्छामि। सदनु तस्मिन्नपि शय्यातलमलंकृतवत्यहो विक्रमालंकार, सा मदीयामृतमतिमहादेवी दिवसादीयमादातुमागत्य गतात्कुसुमशेखरकात्पुस्पवटोर्मदनदमयन्तिकायाः प्रसाधिकाया दुहितुर्विनोदकलहंसिकायाश्च सख्याः संजातसकलसेवावसरायां संसदि प्रवृत्तमुदन्तमाकर्ण्य, 'न खलु मे यामिनीसमाचरितसाहसावस्य वसुमतीपतेरपरमेवं विधकूटकपटानुष्ठानमस्ति। मन्ये च दुष्करमेवमस्यास्थिरचित्तस्य चिरकालभावीनि भविष्यन्त्यायूंषि। कुलवधूनां ह्ययमन्यश्च देवद्विजाग्निसमक्षं मातापितृवितीर्णस्य कायस्यैव भवतीश्वरः, न मनसः। तस्य पुनः स एव स्वामी यत्रायमसाधारणः प्रवर्तते परं विश्रम्भविश्रमाश्रयः प्रणयः। तथाहि—

पुरापि किं न रेमे गङ्गा सह महेश्वरेण, राधा नारायणेन, बृहस्पतिपत्नी द्विजराजेन, तारा च वालिना। महासत्त्वेषु हि जगति न किंचिद्दुष्करमस्ति। अन्यत्र विरक्ते चेतसि रागप्रत्यानयनात्। को हि नामायःपिण्ड इव तप्तातप्ते मनसी संधातुमर्हति। किं च परमकुहन इव पुरंध्रीषु बुद्धिमानवाप्नोति स्वश्रेयसम्। अन्यथा कृत्याराधक इव ध्रुवं पश्चजनः

लिए देवता-पूजक पुजारी ब्राह्मण को भली प्रकार आज्ञा दो। एवं यशोमति कुमार के राज्याभिषेक करने की लग्न के शोधन के लिए तुम्हीं ज्योतिषियों को आदेश दो। देवपूजा, द्विजपूजा व परिजन (कुटुम्ब) पूजा-आदि दूसरे भी गृहकार्य तुम्हीं कराओ। शत्रु समूहरूपी कमल वन के शोषण के लिए हिम-सरीखे हे द्वारपाल! तुम इस समस्त किंकर-समूह को भी उपयुक्त स्थानपर भेज दो एवं यह मैं भी, जिसे लम्बी वेला पर्यन्त उत्पन्न हुए वार्तालाप से खेद उत्पन्न हुआ है, इस 'वसुमतीतिलक' नाम के सभा मण्डप से कुछ निकटवर्ती उस 'मदन-विलास' नाम के निवास भवन में स्वच्छन्द विहार-निमित्त जाता हूँ। इसके बाद जब मैं प्रस्तुत 'मदनविलास' नाम के निवास भवन में स्थित हुए पलँग को अलङ्कृत कर चुका था तब अहो! पराक्रम-पञ्चानन मारिदत्त महाराज! उस मेरी अमृतमति महादेवी ने दिन सम्बन्धी भोजन-ग्रहण करने के निमित्त आकर वापस गये हुए 'कुसुम शेखर' नाम के विद्यार्थी से एवं 'विनोद कलहंसिका' नाम की सखी से, जो कि 'मदनदमयन्तिका' नाम की शृङ्गार कारिणी की पुत्री थी, सभा में, जिसमें समस्त पुरुषों की सेवा का अवसर उत्पन्न हुआ है, उत्पन्न हुए वृत्तान्त को सुनकर निम्न प्रकार विचार किया—'इस राजा के ऐसे कूट कपट का कारण निश्चय से मेरे द्वारा रात्रि में किये हुए दुर्विलास को छोड़कर दूसरा नहीं है। ऐसे अस्थिर चित्तवाले इस यशोधर महाराज की आयु (जीवन) दीर्घ होगी, इसे मैं असम्भव मानती हूँ। अर्थात्—यह निकट मृत्यु है। निश्चय से यह यशोधर अथवा इससे भिन्न दूसरा कोई भी मानव देव, ब्राह्मण व अग्नि के समक्ष माता-पिता द्वारा दिये गए कुलवधुओं के शरीर का ही स्वामी होता है, न कि उनके चित्त का। उन कुलवधुओं के चित्त का वही स्वामी होता है, जिस पुरुष में ऐसा प्रेम पाया जाता है, जो कि अनोखा और विश्वास एवं दुःख-निवारण का स्थान होता है। अब अमृतमति उक्त बात को दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन करती है—

पूर्वकाल में भी शन्तनु राजा की पत्नी गङ्गा ने क्या महेश्वर के साथ रतिविलास नहीं किया? राधा नाम की गोपी ने क्या श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) के साथ रतिविलास नहीं किया? और बृहस्पति की पत्नी ने क्या चन्द्रमा के साथ रमण नहीं किया? एवं सुग्रीव की पत्नी तारा ने बालि के साथ क्या रतिविलास नहीं किया? निश्चय से महासाहसियों को संसार में कोई भी कार्य असम्भव नहीं है, परन्तु विरक्तचित्त को अनुरक्त बनाना शक्य नहीं। निश्चय से कौन पुरुष लोहे के गोलों-सरीखे तप्त और अतप्त चित्तों को जोड़ने में समर्थ होता है? विशेषता यह है कि केवल स्त्रियों से ईर्ष्या न करनेवाला बुद्धिमान पुरुष ही अपना कल्याण प्राप्त करता है,

पञ्चतामञ्चेत् । भवेद्वावश्यमक्षिगतः । तदेव यावन्न मयि रोषविषं वर्षति तावदहमेवास्य तद्वर्षामि । यथा चेयं ममात्मजस्य राज्याभिषेकवार्ता प्रतिस्वप्नविधि किंवदन्ती च वाढमुच्छलिता । सा यदि दैवात्तथैव परमार्थसती तदाचिरात्प्रकामं मे मनोरथाः फलिताः । सिद्धं च मे समीहितम् । न चैतदाश्चर्यम् । अनुकूलं हि दैवं करोति कुरङ्गमपि कण्ठीरवातिवर्तनम् । अचलानपि च विदारयति नलदण्डेन । केवलमत्रौत्सुक्यस्यं परिहर्तव्यम् । उत्तापकस्य हि पुरुषस्य हस्तायातमपि कार्यं निधानमिव न सुखेन जीर्यति । भवति च जीवितव्यसंदेहाय । किं च न खलु बुभुक्षितवशादुदुम्बराणि पच्यन्ते । नाप्युद्धुक्षकल्पयते पातुम्[1] इति च वितर्क्य, तथा—

अनुनयत वदत मधुरं यत्कार्यं तदपि मानसे कुरुत । रौति कलं हि मयूरः सविषं च भुजङ्गमं ग्रसति ॥ १७९ ॥

मूर्ध्ना वहति लोकोऽयं यथा वर्धुमिहेन्धनम् । अनुशील्य नयं नेयस्तथारातिर्महात्मना ॥ १८० ॥

पुंसामसारसत्त्वानां किं कुर्याद्विक्रमक्रमः । भस्मीभवन्ति काष्ठानि तेजसानुगतान्यपि ॥ १८१ ॥

ज्ञानवानपि कार्येषु जनः प्रायेण मुह्यति । हस्तन्यस्तप्रदीपस्य किं न स्खलति शेमुषी ॥ १८२ ॥

प्रायः सरलचित्तानां जायते विपदागमः । ऋजुर्याति यथा छेदं न वक्रः पादपस्तथा ॥ १८३ ॥

अर्थात् ईर्ष्यालु तो मर जाता है। अन्यथा—स्त्रियों से ईर्ष्या करनेवाला पुरुष निश्चय से वैसा मरण प्राप्त करता है जैसे कृत्या (देवी विशेष) की आराधना करनेवाला पुरुष मरण प्राप्त करता है। अथवा यह निश्चय से स्त्रियों से द्वेष करने योग्य होता है! अतः यह राजा जब तक मेरे ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण नहीं करता तब तक मैं ही इसके ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण करती हूँ। जिसप्रकार से यह मेरे पुत्र (यशोमतिकुमार) की राज्याभिषेक-वार्ता, दुष्ट स्वप्न का शमन-विधान और राजा के दीक्षा-ग्रहण की लोक-वार्ता विशेषरूप से उठी है, वह दीक्षाग्रहण-वार्ता यदि पुण्ययोग से वास्तविक सत्य होगी तब तो इस समय ही मेरे मनोरथ विशेष रूप से पूर्ण हुए! मेरा मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा ही। यह मनोरथ-सिद्धि लक्षणवाला कार्य आश्चर्य-जनक नहीं है। क्योंकि निश्चय से जब दैव अनुकूल होता है तब वह (हितकारक पुण्य) हिरण को भी सिंह का घातक कर देता है और पर्वत को भी नलदण्ड से विदीर्ण कर देता है, परन्तु इस कार्य में उत्सुकता—अस्थिरता छोड़ देनी चाहिए। क्योंकि अस्थिर चित्तवाले पुरुषका हस्त में आया हुआ भी कार्य निधि-सरीखा अनायास से परिणमन नहीं करता—सिद्ध नहीं होता एवं अस्थिर चित्तता जीवन को संदिग्ध कर देती है। अर्थात्—अस्थिरता में मरण भी उत्पन्न हो जाता है। निश्चय से भूँखे पुरुष की इच्छामात्र से उदुम्बर फल नहीं पकते किन्तु प्रयत्न द्वारा पकाये जाते हैं। इसीप्रकार उबलता हुआ जलादि पीने के लिए शक्य नहीं होता।

'तुम लोग मनुष्यों का सन्मान करो व कानों को अमृत सरीखे मिष्ट वचन बोलो तथा जो कर्त्तव्य चित्तमें वर्तमान है, उसे करो। जैसे मयूर मधुर शब्द करता हुआ विषैले साँप को खा लेता है'[1] ॥१७९॥ जैसे यह लोक ईंधन को जलाने के लिए मस्तक पर धारण करता है वैसे नीतिशास्त्र में प्रवीण पुरुष को भी शत्रु को शान्त करके क्षय करना चाहिए'[2] ॥१८०॥ स्वाभाविक शक्तिहीन पुरुषों की पराक्रम-परिपाटी क्या कर सकती है? जैसे ईंधन अग्नि से सहित होते हुए भी भस्म हो जाते हैं[3] ॥१८१॥ ज्ञानवान् पुरुष भी प्रायः करके कर्त्तव्यों में अज्ञान-युक्त हो जाता है। जैसे अपने हाथ पर दीपक स्थापित करनेवाले पुरुष की बुद्धि क्या स्खलित नहीं होती?[4] ॥१८२॥ सरल (निष्कपट) चित्तशाली पुरुषों का प्रायः करके मरण होता है। जैसे सरल—सीधा-वृक्ष काटा जाता है वैसे वक्र (टेढ़ा) वृक्ष नहीं काटा जाता। अभिप्राय यह है कि इससे मनुष्य को कुटिल ही होना

१-२. दृष्टान्तालंकारः। ३. दृष्टान्तालंकारः। ४. आक्षेपालंकारः।

रक्तभावं समस्तानां प्रदर्श्योदेति यः पुमान् । आविरस्थवस्त किं न स्यात्पादाक्रान्तजगत्त्रयः ॥ १८४ ॥

बहिर्मृदुर्लघूत्थानः पूर्वं यः स्यात्प्ररोहवत् । किमसौ न भिनत्त्येव प्राप्य कालं महीभृतः ॥ १८५ ॥

शूरोऽपि सत्त्वयुक्तोऽपि नीतिं वेत्ति न यो नरः । तत्र संनिहिता नित्यमापदः शरभोपमे ॥ १८६ ॥

अपि च ।

धूर्तेषु मायाविषु दुर्जनेषु स्वार्थैकनिष्ठेषु विमानितेषु । वर्तेत यः साधुतया स लोके प्रतार्यते मुग्धमतिर्न केन ॥ १८७ ॥

इति च विमृश्य, शठप्रतिशठन्यायेन किमपि निःशलाके शिक्षयित्वा कुमारवयस्येनालकभञ्जनेनाधिष्ठितं गविष्ठिरममात्यं प्रहितवती । स तथैवागत्य प्रविश्य च निवेदितावसरो मामुन्मूलितमगमिवातीव परिम्लानम्, आलिख्यपरामृष्टं चित्रमिव मलिनच्छायम्, अग्निरलङ्कृतं रत्नमिव नष्टतेजसम्, उत्पाटितपक्षं तार्क्ष्यमिव गलितप्रभावमवलोक्य 'महान्खल्वस्य महीपतेर्नवग्रहस्येव गजस्य दौर्मनस्याभिनिवेशः । कुतोऽन्यथार्थवायं नीलिकोपदेहदूषितदेहस्त्रिपथगाप्रवाह इव नितरां मलीमसच्छविः समपादि' इति परामर्शविस्मितान्तरङ्गः कृतागमनपर्यनुयोगश्चैवं मां व्यजिज्ञपत्—'देव, देवी

चाहिए' ॥१८३॥ जो पुरुष समस्त प्राणियों में रक्तभाव (अनुराग) प्रदर्शित करके उदित होता है, वह, क्या वैसा पादाक्रान्तजगत्त्रय—चरणों द्वारा तीन लोक को व्याप्त करनेवाला (तीन लोक का स्वामी) नहीं होता ? जैसे सूर्य, पूर्व में रक्तभाव (अरुणता-लालिमा) प्रदर्शित करके उदित होता हुआ बाद में पादाकान्त जगत्त्रय (किरणों द्वारा तीन लोक को व्याप्त करनेवाला) होता है[1] ॥१८४॥ जो पुरुष पीपल के अङ्कुर सरीखा पूर्व में बाह्य में मृदु (कोमल) होता हुआ लघु रूप से उत्पत्ति-युक्त होता है, वह समय पाकर क्या वैसा महीभृतों (राजाओं) को विदीर्ण नहीं करता ? जैसे पीपल का अङ्कुर समय पाकर महीभृतों (पर्वतों) को विदीर्ण करता है[2] ॥१८५॥ जो पुरुष बहादुर व शक्तिशाली होता हुआ भी नीतिशास्त्र को नहीं जानता, अष्टापद-सरीखे उस पुरुष के पास सदा आपत्तियाँ (मृत्युएँ) निकटवर्ती होती हैं। अर्थात्—जिसप्रकार अष्टापद मेघ की गर्जना से ही मर जाता है[4] ॥१८६॥ तथा जो पुरुष, धोखेबाजों, कपटियों, शत्रुओं, स्वार्थ-साधन में तत्पर रहनेवालों एवं मानभङ्ग में प्राप्त कराये गए पुरुषों के साथ हितरूप से प्रवृत्ति करता है, वह विवेकहीन पुरुष संसार में किस पुरुष द्वारा नहीं ठगाया जाता ?[5] ॥१८७॥

हे मारिदत्त महाराज ! उस अमृतमति देवी ने उक्त विचार करने के बाद शठ-प्रतिशठ न्याय (तोते के पंखों का लुञ्चन व स्त्री के शिर का मूडना रूप प्रकार) से कुछ भी (सत्य-असत्य) एकान्त में शिक्षा देकर 'अलकभञ्जन' नाम के कुमारकाल के मित्र से युक्त 'गविष्ठिर' नाम का अपना मन्त्री मेरे पास भेजा। उसने उसी तरह से आकर द्वारपाल द्वारा सूचित अवसर-वाला होकर मेरे 'तिलक-भवन बिलास' नाम के महल में प्रविष्ट होकर मुझे निम्न प्रकार का देखा। जैसे उखाड़ा हुआ वृक्ष कान्तिहीन होता है वैसे मैं भी विशेष कान्तिहीन था। जैसे लिखकर मिटाया हुआ चित्र मलिन कान्ति-वाला होता है वैसे मैं भी मलिन कान्ति-युक्त था। जिसप्रकार अग्नि से व्याप्त हुआ माणिक्य कान्ति-हीन होता है उसी प्रकार मैं भी कान्ति-हीन था और जिस तरह खींचे हुए पंखोंवाला गरुड़ पक्षी नष्ट हुए माहात्म्यवाला होता है उसी प्रकार मैं भी नष्ट हुए माहात्म्यवाला था। फिर उस मन्त्री ने 'निश्चय से तत्काल में पकड़े हुए हाथी-सरीखे इस राजा की उद्विग्न-उदास चित्तता का अभिप्राय अत्यधिक है, अन्यथा—यदि यह उदास चित्त नहीं है—तो इस समय ही यह वैसा विशेष मलिनता से दूषित कान्तियुक्त कैसे हुआ ? जैसे गुलिका-मिश्रण से दूषित देहवाला गङ्गा नदी का

१. दृष्टान्तालंकारः । २. श्लेष व दृष्टान्तालंकारः । ३. आक्षेपालंकारः । ४. उपमालंकारः । ५. आक्षेपालंकारः ।

न्मुखेनैवमाह—यदुत देवः किलाद्य दुःस्वप्नोपशमनार्थं भगवत्याः कात्यायन्याः पिष्टकुक्कुटेन बलिमुपहर्तुमादृत इति कर्णपरम्परया श्रुतम्, तदपि सत्यं तदास्तामसौ तावत्प्रभूतस्तावत् । अहमेवात्मना परिकल्पिततदुपहारकर्मना परितोषयामि भगवतीम् । प्रशाम्यन्तु देवस्य सर्वेऽपि प्रत्यूहव्यूहाः । प्रवर्धतां च देवस्येदमाचन्द्रार्कमसमश्रीप्राज्यं राज्यम् । न च मया विना भवति देवस्य कोऽप्यूनः प्रदेशः । मद्विधानां हि देवस्य किंकरीणामतीव सुलभत्वात् । नीतिरपि तथास्ति—

'आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।' इति ।

अथ मर्मवंविधे प्रेषणावरोधे देवो न करोति करुणां तदा मिथुनचरस्य पक्षिणश्चक्रवाकीव देवस्याहं सहचर्यत एव रात्रौ वियुक्तासि, सरसः कमलिनीवात एव जडरतासि, जलनिधेर्वेलेवात एव चपलासि, नभसः शशिप्रतिमेवातएव सकलङ्कासि, विटपिनश्छायेवात एवान्योपभोग्यासि, कुलशैलस्य मेखलेवात एव भुजङ्गाधिष्ठितासि, तपनस्य प्रभेवात एव संतापिकासि,

पूर विशेष मलिनता से दूषित कान्ति-युक्त होता है।' इस प्रकार के विचार से जिसका मन आश्चर्यान्वित हुआ है और जिससे आने का प्रश्न (आप किस प्रयोजन से आए हैं ?) किया गया है, मुझ से निम्न प्रकार विज्ञापन किया—

हे राजन् ! अमृतमति महादेवी मेरे मुख से निम्न प्रकार कहती है—'जो कि राजा सा० निश्चय से आज दिन दुष्ट स्वप्न की शान्ति के लिए परमेश्वरी कात्यायनी कुल देवता की आटे के मुर्गे से बलि (पूजा) देने के लिए आदरयुक्त हैं' यह बात मैंने कर्ण-परम्परा से सुनी है। यदि वह बलिदान सत्य है तो यह आटे का मुर्गा तब तक एक ओर रहे, मैं ही स्वयं अपने आप किये हुए उसके पूजा-मार्ग से परमेश्वरी चण्डिका को प्रसन्न करती हूँ। ऐसा करने पर मेरे स्वामी के समस्त विघ्नसमूह शान्त हो जायेंगे। मेरे स्वामी का अनोखी लक्ष्मी से प्रचुरता-प्राप्त हुआ राज्य चन्द्र सूर्य पर्यन्त वृद्धिगत होवे। मेरे प्राणवल्लभ को कोई भी स्थान मेरे बिना न्यून नहीं है, क्योंकि निश्चय से मुझ सरीखी दासियाँ मेरे स्वामी को विशेष सुलभ हैं। नीतिशास्त्र का मार्ग भी वैसा है—'मनुष्य को स्त्रियों से व धनों से अपनी रक्षा निरन्तर करनी चाहिए'। यदि मेरे इस प्रकार के बलिविधान लक्षणवाले कार्यकारण के योग्य कर्त्तव्य में मेरे स्वामी दया नहीं करते। अर्थात्—मेरा मरण नहीं चाहते हैं तो मैं मेरे प्राणवल्लभ की वैसी सहचरी होऊँगी जैसी चकवी, चकवा पक्षी की सहचरी होती है. उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज चिन्तवन करते हैं, 'इसी कारण तू रात्रि में वियुक्त (वियोग-प्राप्त) हुई है। अर्थात्—जैसे चकवी रात्रि में चकवा से वियुक्त रहती है वैसे तू भी उस मूर्ख कुबड़े में अनुरक्त होने के कारण मुझसे रात्रि में वियुक्त रही। मैं मेरे स्वामी की वैसी सहचरी होती हूँ जैसे कमलिनी तालाब की सहचरी होती है। उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज मन में विचार करते हैं 'इसी कारण तू वैसी जड़रत (उस मूर्ख कुबड़े में अनुरक्त) है जैसे कमलिनी जड़रत (डकार लकार का श्लेषालङ्कार में अभेद होने के कारण जलरत—पानी में लीन) होती है।

मैं अपने स्वामी की वैसी सहचरी होती हूँ जैसे समुद्र की लहर उसकी सहचरी होती है, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू समुद्र-लहर-सी चञ्चल है। मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे चन्द्रमूर्ति आकाश की सहचरी होती है। यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू वैसी कलङ्क-सहित (व्यभिचार-दूषित) है जैसे चन्द्रमूर्ति कलङ्क-सहित (श्यामलाञ्छन से व्याप्त) होती है। मैं आपकी वृक्ष की छाया-सरीखी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू छाया-सरीखी अन्य-उपभोग्या (जार द्वारा भोगने योग्य व पक्षान्तर में दूसरे पुरुषों द्वारा सेवन करने योग्य) है। मैं आपकी कुलाचल की तटी-सी सहचरी होऊँगी,

रथस्य मार्गभूमिरिवात एव पांशुलासि, प्रदीपस्य शिखेवात एव मलिनोद्गारासि, वसन्तस्य वनलक्ष्मीरिवात एव मन्मथ-कथासमाथासि, मलयाचलस्य चन्दनलतेवात एव कटुस्वभावासि, गजस्य मदलेखेवात एव कामचारप्रवर्तनासि, हिमगिरेर्गङ्गेवात एव नीचानुगतासि, रत्नस्य रागनर्तिरिवात एव परभागघटितासि। एवमन्यदपि ममाम्यर्थोपकल्पनविषयम-भिधाय तद्देवस्य सर्वदा राज्यसुखं दायभागिनीव समांशसमानुभूयेदानीमेकाकिनं परमार्हतोपस्थितप्रत्यवायवचनममीषया वा देवः प्रव्रजति। अहं तु पुत्रस्य श्रियमनुभवन्ती गृह एव तिष्ठामि। इत्यतीवासंगतमुभयकुलानुचितं शिष्टजनविगर्हितं च। न चैवमावयोरनुष्ठानाधिष्ठितयोः कोऽप्यागमविरोधो जनापवादानुबन्धो वा। तथा चोक्तम्—

'संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु दारान्निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥ १८८॥

यशोधर चिन्तवन करता है कि इसी कारण तू तटी-सरीखी क्षुद्र-अधिष्ठित है। अर्थात्-हीन कुबड़े से सहित व पक्षान्तर में क्षुद्र—व्याघ्रादि—सहित है। मैं आपकी सूर्य की कान्ति-सी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है कि इसीलिए तू सन्ताप (दुःख व पक्षान्तर में गर्मी) देनेवाली है। मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे रथ की मार्गभूमि उसकी सहचरी होती है, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू मार्गभूमि-सरीखी पांसुला (कुलटा व पक्षान्तर में धूलि-सहित) है। मैं आपकी दीपक-ज्वाला-सी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू दीपक-लौ-सरीखी मलिनोद्गारा (कपट-पूर्ण वचनों को प्रकट करनेवाली व पक्षान्तर में धुएँ का वमन करनेवाली) है। मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे वनलक्ष्मी वसन्त की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है—इसी कारण तू वनलक्ष्मी-सी कामकथा-संयुक्त है। मैं आपकी वैसी सहचरी होती हूँ जैसे चन्दन वृक्ष की लता मलयाचल की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है इसी कारण तू चन्दनलता-सी कटुस्वभाववाली है। मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे मदलेखा हाथी की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू यथेष्ट पर्यटन करनेवाली है। मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे गंगा नदी हिमालय पर्वत की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है—इसी कारण तू नीचानुगता (निकृष्ट कुब्जक के साथ अनुराग करनेवाली व पक्षान्तर में नीचे बहनेवाली) है। एवं मैं आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे रत्न की तेजोवर्ति उसकी सहचरी होती है।

यशोधर सोचता है—इसी कारण तू परभागघटिता (विट् के भाग्य के लिए रची हुई व पक्षान्तर में शोभा से घटित) है। हे मारिदत्त महाराज! इसप्रकार गविष्ठिर मन्त्री ने मुझ से अमृतमति महादेवी के दूसरे भी ऐसे वचन कहे, जो कि काकु व वक्रोक्ति अलङ्कार से अलङ्कृत थे। फिर उसने निम्न प्रकार वचन कहे उस कारण मैंने अपने प्राणवल्लभ के राज्य सुख की सर्वदा दाय-भागिनी-सरीखी होकर समान भागरूप से भोगा, परन्तु इस समय मेरे प्राणनाथ अकेले ही मोक्ष सुख के इच्छुक होने के कारण अथवा उपस्थित हुए दोषों का निराकरण न होने की बुद्धि से दीक्षा धारण कर रहे हैं और मैं पुत्र यशोमतिकुमार की लक्ष्मी भोगती हुई गृह में ही रहूँ, यह बात अनुचित व दोनों कुलों (ससुर व पिता का वंश) के अयोग्य एवं शिष्ट पुरुषों से निन्दित है। परन्तु यदि हम दोनों (राजा व रानी) चरित्रपालन में तत्पर हों तो इसमें कोई आगम (शास्त्र) से विरोध नहीं है और न लोकनिन्दा का ही संबंध है। 'मैं अपने स्वामी की सहचरी होऊँगी इसका शास्त्रप्रमाण द्वारा समर्थन करती है—

मोक्षाभिलाषी मानव को सर्वलोक साधारण भोजन छोड़ कर अर्थात्—धान्य व फलों एवं पत्तों में प्रवृत्ति करके—समस्त परिवार को छोड़कर एवं स्त्रियों को पुत्रों के लिए समर्पण करके तपश्चर्या के लिए वन में जाना चाहिए अथवा स्त्रियों के साथ वन में जाना चाहिए॥१८८॥ स्त्रियों के लिए भिन्न कोई यज्ञ

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् । पतिं शुश्रूषयेद्येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १८९ ॥'

किं च—

'विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः । उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १९० ॥' इति ।

तथा च श्रुतिः—किल वनप्रस्थानावसरेऽपि रामस्य सीता सधर्मचारिण्यासीत् । द्रौपदी धनंजयस्य, सुदक्षिणा दिलीपस्य, लोपामुद्रागस्त्यस्य, अरुन्धती वशिष्ठस्य, रेणुका च जमदग्नेरिति । पतिविरहे ह्येकेनाप्यङ्गुष्ठेन तपस्यन्त्यः स्त्रियो भवन्त्यवश्यं धिक्कारगोचराः । यथा प्रयागे प्रायोपवेशनस्थितापि ब्रह्मबन्धू ब्राह्मणी गोविन्देन परिव्राजा सह किल परीवादभागिनी बभूवेति । तपोग्रहणदिवसे चन्द्रमत्या देव्या सह मदीये निलये प्रग्रहणं कर्तव्यमिति याचयित्वा विरते तस्मिन्नहमिदमवादिषम्—'अहो सत्ययुधिष्ठिर यविष्ठिर, यदि नर्मकर्मणापि कदाचिन्महादेव्याः प्रतिकूलमाचरितवानस्मि तदा त्वमेवात्र साक्षी । तदेवं निवेदय देव्याः—यदाह भवती तत्सर्वं देवेन प्रतिपन्नम् । अन्यत्र पूर्वमुत्थापितात्पक्षात् । इति निवेदितेतिकर्तव्ये सबहुमानं विसर्जिते च तस्मिन्नमात्ये मया चिन्तितम्—'अहो महादेव्यामतीव खलु संवीणताबहिःस्थायाम् । किं च—

राज्यस्थितं मामपहाय यैषा कुब्जेन सार्धं रतिमातनोति । सा मे वनस्थस्य मुमुक्षुवृत्तेर्भवेत्सदाचारमतिः किलेति ॥ १९१ ॥

नहीं है और न व्रत है एवं न उपवास भी है । तो फिर क्या है ? जिस कारण उसे पति की सेवा शुश्रूषा करनी चाहिए, जिससे स्त्री स्वर्ग में पूजी जाती है ॥१८९॥ विशेष यह है—पतिव्रता स्त्री द्वारा पति, चाहे वह शील-रहित है, अथवा स्वेच्छाचारी है, अथवा गुणहीन है, निरन्तर ब्रह्मा, विष्णु व महेश आदि देवताओं-सरीखा सेवा करने योग्य है ॥१९०॥ वेद में भी कहा है—वन प्रस्थान के अवसर पर भी सीता (जनक पुत्री) श्रीरामचन्द्र की सधर्मचारिणी (साथ गमन करनेवाली) हुई । द्रौपदी वन प्रस्थान के अवसर पर अर्जुन की सधर्मचारिणी हुई एवं सुदक्षिणा दिलीप राजा की सहगामिनी हुई तथा लोपामुद्रा नाम की अगस्त्य-पत्नी अगस्त्य की सहचारिणी हुई एवं अरुन्धती नाम की वशिष्ठ-पत्नी वशिष्ठ की सहचारिणी हुई इसीप्रकार रेणुका नाम की कन्या अपने पिता परशुराम की सहचारिणी (साथ जानेवाली) हुई ।

पति के वियोग में निश्चय से एक पैर के अँगूठे पर भी स्थित होकर तपश्चर्या करती हुई स्त्रियाँ निश्चय से निन्दा-योग्य होती हैं । उदाहरणार्थ—प्रयाग तीर्थ पर प्रायोपवेशनव्रत में स्थित हुई भी 'ब्रह्मबन्धू' नाम की ब्राह्मणी गोविन्द नाम के तपस्वी के साथ निन्दा को प्राप्त हुई । 'दीक्षा-ग्रहण के दिन चन्द्रमति माता के साथ मेरे गृह पर आपको गणभोजन करना चाहिए' ऐसी याचना करके जब यविष्ठिर नाम का मन्त्री चुप हो गया तब मैंने उससे ऐसा कहा—युधिष्ठिर महाराज-सरीखे सत्यवक्ता हे यविष्ठिर ! यदि मैंने मनोरञ्जन या हँसी मजाक में भी किसी अवसर पर भी अमृतमति महादेवी का अहित किया है तो उस अवसर पर आपही साक्षी हो । उस कारण मेरी प्रियतमा से ऐसा कहो—कि जो कुछ भी आपने कहा है वह सब यशोधर महाराज ने अमृतमती महादेवी के शरीर का बलिदान कार्य को छोड़कर, स्वीकार कर लिया है । इस प्रकार जब महादेवी का मन्त्री, जिसने निश्चित कार्य निवेदन किया है, विशेष सन्मान के साथ भेज दिया गया तब मैंने (यशोधर ने) निम्न प्रकार विचार किया—आश्चर्य है कि अमृतमति महादेवी में आकार-गुप्ति की प्रवीणता अवश्य ही विशेष रूप से वर्तमान है ।

जो यह महादेवी राज्य में स्थित हुए मुझे छोड़कर कुबड़े के साथ रतिविलास करती है, वह क्या वन में स्थित हुए व मोक्षाभिलाषी मेरे साथ सदाचारिणी होगी ?[1] ॥१९१॥ स्त्रीजनों की चित्तवृत्ति, जो कि

---

१. आक्षेपालंकारः ।

देवैर्मनुष्यैरथ राक्षसैर्वा निसर्गतो गूढतरप्रचारा। ईदृक्तया ज्ञातुमियत्तया वा न शक्यते स्त्रीजनचित्तवृत्तिः ॥ १९२ ॥

इहैव वात्स्यायनगोत्रजस्य पुत्री भृगोः काञ्चनिकेतिनाम्नी।
पतिं च पुत्रं च विटं च हत्वा भर्त्रा तु सार्धं दहनं विवेश ॥ १९३ ॥

अथवैतदप्यस्यामसंभाव्यम्। रभसिको लोकः प्रायेणान्धयष्टिरिव परामर्शमकृत्वा शुभायाशुभाय वा कर्मणे तोलयत्यात्मानम्। इयं पुनः प्रकृत्यैव विषजातिरिव दुष्टस्वभावा, मकरदंष्ट्रेव वक्रशीलिनी, कर्णीसुतकथेव बहुकूटकपटवेष्टिता, कुमारविद्येवानेककुहकवेदिनी, खड्गीव जिह्वयापि स्पृशन्ती दारयत्यङ्गानि। छलयति च नियतिरिव बुद्ध्या बृहस्पतिमपि पुरुषम्। मदीयं तु विलसितं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव मे संजातम्। अस्याश्च खल्वबिल्वसंयोगसमम्।

कालश्च सकृदभ्येति यं नरं कालकाङ्क्षिणम्। दुर्लभः स पुनः कालस्तस्य कर्म चिकीर्षतः ॥ १९४ ॥

एतदेवार्थशास्त्रस्य नित्यमध्ययने फलम्। यत्परानभिसंधत्ते नाभिसंधीयते परैः ॥ १९५ ॥

इति मां च नीतिमसौ बहुधा पठति। स्वभावसुभगाङ्गेऽपि च शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु शस्त्रीष्विव पयोलवः परं परोपघातायैव प्रभवति। किं च।

स्वभाव से विशेष गहन होती है, इन्द्र-आदि देवताओं से, पुरुषों से, अथवा राक्षसों से इस रूप से अथवा इतनी रूप से जानने के लिए शक्य नहीं होती[१] ॥१९२॥ उदाहरणार्थ—इसी भरतक्षेत्र की उज्जयिनी नगरी में वात्स्यायन ऋषि के कुल में उत्पन्न हुए 'भृगु' नामक ब्राह्मण की 'काञ्चनिका' नामवाली पुत्री ने पति, पुत्र व विट् को मारकर पति के साथ अग्नि में प्रवेश किया[२] ॥१९३॥ अथवा यह बात भी इस महादेवी (अमृतमति) में असम्भव है। अर्थात्—यह मरेगी यह कदापि सम्भव नहीं, प्रत्युत मुझे मारेगी। क्योंकि निश्चय से बिना विचारे उतावली में आकर कार्य करनेवाला जन-समूह अन्धे की लकड़ी-सरीखा होता है। अर्थात्—जैसे अन्धे पुरुष की लकड़ी अविचार पूर्वक यहाँ-वहाँ पड़ती है वैसे ही लोक भी बिना विचारे कार्य करता है, इसलिए लोक तो शुभ अथवा अशुभ कर्म करने के लिए अपनी आत्मा को संशय में डालता है। अर्थात्—बिना विचारे उतावली पूर्वक कार्य करनेवाला लोक मरता है, परन्तु यह तो कदापि नहीं मरेगी। फिर यह महादेवी तो प्रकृति से विषजाति-सरीखी दुष्ट स्वभाववाली है। यह मगर की दाढ़-सरीखी वक्र स्वभाव-युक्त एवं मूलदेव के चरित्रसरीखी बहुत से कूट कपटों से वेष्टित है तथा धूर्तशास्त्र-रचयिता की विद्या-सरीखी बहुत से मायाचारों को जाननेवाली है। जैसे तलवार जिह्वा से छूती हुई अङ्ग विदीर्ण करती है वैसे यह भी मुझे स्पर्श करती हुई मेरे अङ्ग विदीर्ण करती है। यह देवी बुद्धि से बृहस्पति-सरीखे विद्वान् पुरुष को भी वैसा धोखा देती है जैसे नियति (भाग्य) बृहस्पति-सरीखे विद्वान् पुरुष को धोखा देती है। मेरा कार्य तो अपने हाथ से अङ्गार-खींचने-सरीखा (दुःखदायक) हुआ।

एवं इसका कार्य खल्वबिल्व के संयोग सरीखा घातक हुआ। अर्थात्—जिस तरह गञ्जे पुरुष के मस्तक पर बेलफल का गिरना घातक होता है उसी तरह इसके कार्य भी मेरे घातक हैं। अवसर एक बार मिलता है। अवसर चाहनेवाले पुरुष को व अवसर के अनुकूल कार्य करने के इच्छुक पुरुष को अवसर दुर्लभ होता है। अभिप्राय यह है कि यह जानती है कि यशोधर की मृत्यु करने का यही अवसर है, वह बाद में नहीं मिलेगा[३] ॥१९४॥ नीतिशास्त्र के सदा काल पढ़ने का यही फल है कि नीतिवेत्ता मानव शत्रुओं को धोखा देता है और स्वयं शत्रुओं से धोखा नहीं खाता[४] ॥१९५॥ यह महादेवी मेरे सामने ऐसी नीति को अनेक बार

---

१. अतिशयालंकारः। २. आक्षेपालंकारः। ३. जात्यलंकारः। ४. जातिरलंकारः।

इच्छन्गृहस्यात्मन एव शान्तिं स्त्रियं विदग्धां खलु कः करोति ।
दुग्धेन यः पोषयते भुजङ्गीं पुंसः कुतस्तस्य शुभङ्कलानि ॥ १९६ ॥

इति बुधैरुपदिश्यमानमिदं पूर्वमेव नाचरितम् । तदहमेवमाकलयेयम्—मत्तपःप्रत्यवायपरः सकलजनरञ्जनकरश्चाय-मस्याः सर्वोऽपि मृदुनोपायेन कार्योपक्रमः । श्रूयते ह्यात्मनः किल स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषदूषितमद्यगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु निजतनुजराज्यार्थमजराजं राजानं जघान, विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः सूरसेनेषु सुरतविलासम्, विषोपलिप्तेन मेखलामणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवम्, निशितनेमिना मुकुरेण मदिराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदम्, कबरीनिगूढेनासिपत्रेण चण्डरसा पाण्ड्येषु मुण्डीरम्, इति ।

यथोच्छिन्नशिखण्डा मण्डूक्यो लोकविप्लवहेतवः । तथा स्त्रियः स्वभावेन भर्तृव्यसनतत्पराः ॥ १९७ ॥

सांप्रतं च मे समस्तापि कार्यपरिणतिः 'शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्नः' इतीमं न्यायमनुसरति । न चास्ति मत्तः परोऽतीव-प्रमादी । यस्मात्

अन्तःपुरे भूमिपतिर्मदान्धः करोति यः संगतिमङ्गनाभिः । तस्य ध्रुवं स्यादचिरेण मृत्युर्बिलप्रवेशादिव दर्दुरस्य ॥ १९८ ॥

पढ़ता है । शास्त्रोपदेश, जो कि स्वभावतः दूसरों को प्रतिजनक अभिप्रायवाला भी है, स्त्रियों के लिए दिया हुआ केवल वैसा दूसरों के घात करने में समर्थ होता है जैसे छुरी पर रखा हुआ पानी केवल दूसरों के घात करने में ही समर्थ होता है । अपने गृह व आत्मा की शान्ति का इच्छुक कौन पुरुष निश्चय से स्त्री को चतुर करता है ? उदाहरणार्थ—जो पुरुष सर्पिणी को दूध पिला कर पुष्ट करता है, उसे उत्तम सुख कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?[1] ॥१९६॥ विद्वानों द्वारा उपदेश दिये जानेवाले इस शास्त्रोपदेश को मैं पहिले से ही व्यवहार में नहीं लाया । उससे मैं ऐसा जानता हूँ कि इस महादेवी का सभी कार्य प्रारम्भ, मेरी दीक्षा में विघ्न उपस्थित करने में तत्पर व समस्त लोगों को अनुरक्त करनेवाला एवं कोमल उपाय से किया हुआ है । उदाहरणों में सुना जाता है—म्लेच्छ देशों में 'मणिकुण्डला' नाम की महादेवी ने अपना स्वेच्छाचार चाह कर अपने पुत्र को राज्य देने के लिए विषमिली हुई शराब के कुरले से 'अजराज' नाम के राजा को मार डाला । 'शूरसेन' नाम के देश में 'वसन्तमति' नाम की महादेवी ने विष-मिश्रित लाक्षारस से लिप्त हुए अधर (ओष्ठ) से 'सुरतविलास' नाम के राजा का वध किया । 'दशार्ण' नामके देश में 'वृकोदरी' नाम की महादेवी ने विष से लिप्त हुए करधोनी के रत्न से 'मदनार्णव' नामक राजा की हत्या की एवं मगध नाम के देश में 'मदिराक्षी' नाम की महादेवी ने तीक्ष्ण धारवाले दर्पण से 'मन्मथविनोद' नाम के राजा का घात किया तथा पाण्डु नामक देश में 'चण्डरसा' नाम की महादेवी ने केशपाश के मध्य में छिपाई हुई तलवार की धार से मुण्डीर नाम के राजा का घात किया । जैसे शिखा-रहित छोटे मेंढक वर्षा ऋतु में लोगों के उत्पात के कारण होते हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी स्वभाव से भर्ता (पति व पक्षान्तर में राजा) को दुःख देने में तत्पर होती हैं[2] ॥१९७॥ इस समय मेरा समस्त कर्तव्य का उदय 'शिर-मुण्डन कराकर शुभ नक्षत्रों (पुष्य व पुनर्वसु-आदि) का पूँछना' इस न्याय का अनुसरण करता है । अर्थात्—जैसे बाल बनवा कर शुभ-अशुभ नक्षत्र पूँछना निरर्थक है, वैसे ही अवसर निकल जाने के बाद कर्तव्य करने का विचार भी निरर्थक है । मुझसे दूसरा कोई विशेष आलसी नहीं है । जो राजा मदान्ध हुआ अन्तःपुर में स्त्रियों से संगम करता है उसकी निस्सन्देह वैसी शीघ्र मृत्यु होती है जैसी सर्प के बिल में प्रवेश करने से मेंढक की मृत्यु होती है[3] ॥१९८॥ [हे मारिदत्त महाराज !] मैं उक्त नीति को निरन्तर पढ़ता

---

१. दृष्टान्तालंकारः । २. दृष्टान्तालंकारः । ३. दृष्टान्तालंकारः ।

इति प्रत्यहमधीयानोऽपि तस्या दुष्कर्मणः सद्मनि संवासपरः समभवम् । अपि च ।

अज्ञानभावादथवा प्रमादादुपेक्षणाद्वात्ययभाजि कार्ये । पुंसः प्रयासो विफलः समस्तो गतोदके कः खलु सेतुबन्धः ॥१९९॥

विहाय शास्त्राण्यवमत्य मन्त्रिणो मित्राण्यपास्य विरुद्ध्य बान्धवान् ।
भवन्ति ये दुर्नयलीलया नृपाश्चिराय तिष्ठन्ति न तेषु संपदः ॥२००॥

न चापि मे सन्ति विनीतचेतसस्तुलासमाः कार्यविचारकर्मणि ।
अ[illegible] कृता [illegible] परं ते भवयन्त्युपाकृताः ॥२०१॥

अपि च ।

प्रशास्ति यः श्रोतृवशेन धर्मं नृपेच्छया यो निगृणाति कार्यम् । अकल्पकामोपचयेन वैद्यस्त्रयस्त एते कलिकालपादाः ॥२०२॥

एकैकमेषां गुणमाकलय्य मया ध्रुवमी मन्त्रिपदे नियुक्ताः ।
सिंहेषु दृष्टं यदि नाम शौर्यं क्षेमोऽस्ति किं तैः सह संगतस्य ॥२०३॥

प्रवर्तते यो नृपतिः खलानां प्रमाणयन्नात्महिताय वाचः । नूनं स कल्याणमतिर्न किं स्यादाशीविषैः केलिकरो यथैव ॥२०४॥

हुआ भी उस दुष्टात्मा अमृतमति महादेवी के महल में उसके साथ सहवास करने में तत्पर हुआ। तथा च—जब कर्तव्य, अज्ञानता से अथवा असावधानता से अथवा अनादर के कारण अवसर चूँकनेवाला हो जाता है तब उसको सिद्ध करने के लिए किया हुआ मनुष्य का समस्त श्रम निरर्थक है। क्योंकि जैसे जल के निकल जानेपर उसको रोकने के लिए पुल बाँधना निरर्थक है[1] ॥ १९९ ॥ जो राजालोग नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों को छोड़कर मन्त्रियों का तिरस्कार करके व मित्रों का तिरस्कार करके एवं बन्धुजनों का अनादर करके दुष्ट नीति का अनुसरण करनेवाले होते हैं, उनके पास चिरकाल तक धनादि लक्ष्मियाँ नहीं ठहरतीं[2] ॥ २०० ॥

मेरे मन्त्री-आदि राजकर्मचारी विनयशील नहीं हैं और कर्तव्य का विचार-कर्म करने में तराजू के दण्डसरीखे कर्तव्य विचारक व न्यायवान नहीं हैं। जो ये सदा मेरे निकटवर्ती हैं, स्वीकार किये हुए वे लोग चित्त को मद-युक्त करते हैं, अर्थात्-नीतिशास्त्र से पराङ्मुख हैं[3] ॥ २०१ ॥ जो वक्ता श्रोता की अधीनता से धर्म—आचार का निरूपण करता है। अर्थात् श्रोता जिस धर्म में लीन है, वक्ता भी उसी धर्म का उपदेश करता है। एवं जो मन्त्री राजाकी इच्छानुसार मन्त्र (कर्तव्य-विचार) करता है और जो वैद्य ज्वरादिरोग-पीडित पुरुष की बढ़ी हुई इच्छा (अपथ्य सेवन की रुचि) के अनुकूल उपदेश देता है। अर्थात् जो वैद्य, रोगी को जैसा रुचता है उसी के अनुसार औषधि का उपदेश करता है। पूर्वोक्त ये तीनों लोग (धर्मवक्ता, मन्त्री व वैद्य) कलिकाल के तीन पैर हैं। अर्थात् कलिकाल विशेष पापी है, जो कि पूर्वोक्त तीन पैरों से प्रवृत्ति करता है, यदि इसके चार पैर होवें तो लोक में समस्त अधर्म—पाप-ही प्रवृत्त हो जाय[4] ॥ २०२ ॥ मन्त्री पदपर नियुक्त हुए इनका एक-एक गुण (दयालुता-आदि) निश्चय करके मैंने इन्हें अवश्य मन्त्री पद पर नियुक्त किये हैं। अभिप्राय यह है कि केवल एक एक गुणसे अलङ्कृत हुए ये लोग कार्यसिद्ध करनेवाले नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ—यदि सिंहों में शूरता देखी गई तो क्या उनके साथ संगम करनेवाले मानव का कल्याण हो सकता है ? उसीप्रकार दयालुता-आदि एक-एक गुण से युक्त मन्त्री भी राज्य-संचालन कार्य करनेवाला नहीं हो सकता[5] ॥२०३॥ जो राजा दुष्टों के वचनोंको अपने सुखके लिए प्रमाण मानता हुआ प्रवृत्ति करता है क्या वह निश्चय-

---

१. आक्षेपालंकारः । २. जात्यलंकारः । ३. उपमालंकारः । ४. रूपकालंकारः । ५. आक्षेपालंकारः ।

प्रतिक्षणं संशयितायुषो ये न येष्वपेक्षास्ति च कार्यवादे। त एव मन्त्रेऽधिकृता नृपाणां न ये जलौकासमवृत्तयश्च ॥२०५॥
किं च।

प्रजाविलोपी नृपतीच्छया स्यात्प्रजेच्छया चाचरिते स्वनाशः। न मन्त्रिणां पर्शुविषाणिनीवत्सुखं सदैवोभयतः समस्ति ॥२०६॥
तथाप्यमीभिः कुशलोपदेशैर्भाव्यं नृपे दुर्नयचेष्टितेऽपि। अन्धः स्खलेद्यद्यपि चात्मदोषात्तदाकर्षकं तत्र शपन्ति लोकाः ॥२०७॥

यतो यथार्थं वदतां नराणामात्मक्षयः स्यात्परमेक एव।
राष्ट्रस्य राज्ञो ध्रुवमात्मनश्च मिथ्योपदेशस्तु करोति नाशम् ॥२०८॥

तदेतदित्थं मम दुर्नयेन दुर्मन्त्रिणां संश्रयणेन चैव। यथायथं कार्यमिदं प्रयातं देवोऽपि शक्तो घटनाय नास्य ॥२०९॥
गविष्ठिरस्यापि मया पुरस्तात्किंचित्प्रतिज्ञाविषयीकृतं च। सत्यच्युतानां किमु जीवितेन राज्येन वा लोकविगर्हितेन ॥२१०॥

से वैसा कल्याण करनेवाली बुद्धि से युक्त हो सकता है? जैसे सर्पों के साथ क्रीड़ा करनेवाला पुरुष क्या कल्याण करनेवाली बुद्धि से युक्त होता है[1]? ॥२०४॥ जो मन्त्री, प्रत्येक क्षणमें अपने जीवन को संशय में डालनेवाले होते हैं! अर्थात्—'यह राजा हमको मार डालेगा' इसप्रकार भयभीत चित्तवाले होते हैं, एवं जिनके मन्त्रोपदेश में धन-ग्रहणकी लालसा नहीं पाई जाती तथा जो जोंच-सरीखी चेष्टावाले नहीं हैं। अर्थात्—जैसे जोंक स्तनपर लगाई हुई रक्त पीती है किन्तु दूध नहीं पीती वैसे ही जो मन्त्री दोषों को ही ग्रहण करते हैं और गुणों का उपदेश नहीं देते, ऐसे गुणोंको छोड़कर केवल दोष-ग्रहण करनेवाले जो नहीं हैं। वे ही मन्त्री, राजाओं के मन्त्र में अधिकारी हैं[2] ॥ २०५ ॥ जब मन्त्रीलोग राजाकी इच्छानुसार राजकार्य करते हैं तब प्रजाका नाश होता है। अर्थात् अधिक टेक्स-आदि द्वारा प्रजा पीड़ित होती है। जब मंत्रीलोग प्रजा की इच्छानुसार राजकार्य करते हैं तो धन का क्षय होता है, क्योंकि प्रजा राजा के लिए धन देना नहीं चाहती, इससे राजकोश खाली हो जाता है। इस कारण दोनों प्रकार से—राजा की इच्छानुसार व प्रजा की इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेवाले मन्त्रियों को सदैव वैसा सुख नहीं है जैसे कुल्हाड़ी या घण्टा मस्तक पर धारण की हुई चट्टन से दुःखी करती है और मुख पर स्थापित की हुई मुखभङ्ग करती है[3] ॥ २०६ ॥ तो भी अन्याय करनेवाले राजा के प्रति इन मन्त्रियों को कल्याण कारक उपदेश देनेवाले होने चाहिए। जैसे—अन्धा पुरुष यद्यपि अपने नेत्र-दोष से गिरता है तो भी लोग उसके खींचनेवाले मनुष्य को ही दोषी कहते हुए चिल्लाते हैं, अर्थात् वैसे ही जब राजा अन्याय करता है तब प्रजा मन्त्री को ही दूषित करती है[4] ॥ २०७ ॥ क्योंकि जब मन्त्रीगण सत्यवादी होते हैं तब उनके मध्य केवल मन्त्री ही मरता है, परन्तु झूठा मन्त्र (कर्तव्य-विचार) तो देश, राजा व मंत्री का निस्सन्देह विध्वंस कर देता है। भावार्थ—मन्त्रियों का कर्तव्य है कि वे राजा को ठीक परामर्श दें, चाहे इससे राजा उनसे कुपित ही क्यों न हो जाय; क्योंकि राजा के कुपित होने से एक मंत्री की ही मृत्यु की सम्भावना है परन्तु मृत्यु-भय से झूठा मंत्र देने पर तो राजा, राष्ट्र और मंत्री सभी का नाश हो जाता है। अभिप्राय यह है कि मंत्रियों को सदैव उचित परामर्श देना चाहिए[5] ॥ २०८ ॥ उस कारण पूर्वोक्त यह कार्य अपनी इच्छा से मेरी दुर्नीति के कारण व दुष्ट मन्त्रियों के आश्रय से नष्ट हो गया, अब इसे प्रयत्नपूर्वक सफल बनाने के लिए देवता भी समर्थ नहीं हैं[6] ॥ २०९ ॥

मैंने 'गविष्ठिर' नाम के मन्त्री के सामने कुछ वचनों (महादेवी के गृह पर जाना व भोजन करना)

---

१. काकु वक्रोक्त्यलंकारः। २. उपमालंकारः। ३. उपमालंकारः। ४. दृष्टान्तालंकारः। ५. समुच्चयालंकारः।
६. समुच्चयालंकारः।

दैवे तु पुंसः प्रतिकूलवृत्तौ विवेकिता नैव भवद् गुणाय । किं लक्ष्मणस्यासित रणेषु भङ्गः सीतामसौ येन मुमोच रामः ॥२११॥
तदत्र दैवमेव शरणम् ।' इति विचिन्त्य किंचिन्निद्रासुखमनुभूय प्रबुध्य च

'कुर्वन्भूपतिमन्दिरेषु करिणामानन्दलीलारसं नासाप्रस्फुरितेन केलिरभसं वाजिव्रजानां वहन् ।
क्रीडाशैलनिकुञ्जकन्दरभुवां नृत्तं दधत् केकिनामद्यायं किमकाण्ड एष नगरे तूर्यध्वनिः श्रूयते ॥२१२॥'[1]

इति बुधप्रबोधं सन्धिविग्रहिणमापृच्छमाने, वातायनोपान्तवर्तिनी निवर्त्य च नेत्रे

'नृत्यैः समं वारविलासिनीनां संगीतकस्यापि महाप्रबन्धः । गृहेषु सर्वेषु च पूर्णकुम्भाः पुण्याक्षतव्याकुल एष लोकः ॥२१३॥'

इत्यस्य च हेतुविमर्शजातचेतसि मयि, 'देव, परिकल्पितनिखिलनमसितोपचारा चन्द्रमतिमहादेवी सपरिवारा चण्डिका-चरणार्चनायोच्चलिता प्राप्ता च पुरवीथीमध्यम्, यतोऽयमाकर्ण्यते महानातोद्यध्वनिः । तदर्थं चैष नगरे पौराणामुत्सवोद्यमः । तत्र देवः कालविलम्बनमकृत्वा सज्जीभवतु मज्जनादिषु क्रियासु ।' इत्यागत्य वैकुण्ठमतिना वरिष्ठकेन विज्ञप्ते सद्यस्तद्वचनं सफलीकृत्य,

---

के पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है। उसे यदि नहीं करता हूँ। अर्थात्—महादेवी के महल पर नहीं जाता हूँ, और भोजन नहीं करता हूँ, तो सत्य से च्युत हुए पुरुषों को लोकनिन्दित जीवन से व लोक-निन्दित राज्य से क्या लाभ है'[1] ?॥ २१०॥ जब पुरुष का भाग्य पराङ्‌मुख होता है तब उस मनुष्य की चतुरता गुणकारिणी नहीं होती। जैसे—क्या युद्ध भूमि पर लक्ष्मण की पराजय हो रही थी? जिससे यह श्रीरामचन्द्र श्रीसीता को वन में अकेली छोड़कर लक्ष्मण की सहायता के लिए गए थे[2] ॥ २११ ॥ अतः इस चण्डिका देवी के मन्दिर में गमन करना-आदि कार्य में दैव (भाग्य) ही शरण (रक्षक) है, ऐसा विचार कर कुछ निद्रा के सुख को भोगकर फिर जाग्रत होकर मैंने अपने दोनों नेत्र गवाक्ष (झरोखे) के निकटवर्ती किये। फिर जब मैं 'बुधप्रबोध' नाम-के महादूत से निम्नप्रकार पूँछ रहा था—'[हे दूत!] आज बिना अवसर ही नगर में मेरे द्वारा यह बाजों की ध्वनि क्यों सुनी जारही है? जो कि राजमहल के हाथियों में आनन्दलीला के रस को उत्पन्न कर रही है। जो घोणा (नथने) के स्फुरण से घोड़ों की श्रेणी में क्रीड़ा करने की उत्कण्ठा उत्पन्न कर रही है और जो क्रीडापर्वतों के लता-आच्छादित प्रदेशों में व कन्दराओं में रहनेवाले मयूरों का नृत्य धारण कर रही है[3] ॥ २१२ ॥' 'वेश्याओं के नृत्य के साथ गीत, नृत्य व वादित्र का भी महान् प्रघट्टक (जमाव) वर्तमान है एवं समस्त गृहों पर पूर्ण मङ्गल कलश स्थित हैं और यह लोक पुष्पाक्षतों के ग्रहण करने में व्याकुल हुआ दिखाई दे रहा है[4] ॥ २१३ ॥' जब मैं उक्त घटनाओं के कारण-विचार में अपना मन संलग्न कर रहा था तब 'वैकुण्ठ-मति' नामके क्षेत्रपाल ने आकर मुझे निम्न प्रकार सूचित किया—'हे राजन्! चन्द्रमति महादेवी, जिसने समस्त प्रार्थना किये हुए पूर्वजों व देवताओं के निमित्त नैवेद्य का व्यवहार उत्पन्न किया है एवं जो परिवार-सहित है, चण्डिका देवी की चरण-पूजा के लिए गई है और नगर के मार्ग के मध्य में प्राप्त हुई है, जिससे यह महान् बाजों की ध्वनि सुनाई दे रही है। उसी निमित्त से यह नगर में नागरिकों का महोत्सव संबंधी उत्साह है। उस देवी की चरणपूजा में राजाधिराज (यशोधर महाराज) काल-विलम्ब न करके स्नानादि क्रियाओं में उद्यत होवें।' फिर मैंने प्रस्तुत 'वैकुण्ठमति' क्षेत्रपाल के वचन स्नानादि क्रिया द्वारा सफल किये व निम्न-प्रकार चिन्तवन करके 'ऐरावण-पत्नी' नामकी हथिनी पर सवार होकर चण्डिका देवी के मन्दिर के प्रति चन्द्र-मति माता के पीछे प्रस्थान किया।

---

१. आक्षेपालंकारः । २. दृष्टान्ताक्षेपौ । ३. जात्यलंकारः । ४. समुच्चयालंकारः ।

न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा । व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥२१४॥

इत्यनुस्मृत्य, विहितचण्डिकाराधनोचिताचारे समासन्नाचार्यपुरोहितसखे भैरवीभवनं प्रति गन्तुमुद्यते च 'हंहो विवेकबृहस्पते, स्वभावत एव महासत्त्वसत्ते कण्ठगतेष्वपि प्राणेषु किमनुचितेनाचरितेनात्मनः प्रियं कर्तुं युक्तम्' इति मतिकयेव प्रतिलोमतया बृंहितमिङ्गितं च मतङ्गजगणिकया, 'कथमयं विद्वानप्यहितोपदेशाद्दुःखमकराकरवति भवोदन्वति निमङ्क्तुमुद्यतः' इति कृपयेव कम्पितमवन्या, 'अये दुर्वासनावश, विशामीश, कथमीदृग्विधदुरभिसंधेरेष्यत्कल्मषनिबन्धमातङ्कं भवान्सहिष्यते' इति सूचयतेव धूमधूसरतामुपगतमाशाचक्रेण, 'अपि मध्यमलोकपाल, त्वज्जन्मजनितपुष्पवर्षेण दुरेनसोऽस्माद्दशमीयुषश्च भवतः कथं मया सोढव्या भविष्यन्ति चिताचित्रभानोः कलुषितानिमिषमुखाः शिखालेखाः' इति शोकानलोल्बणेनेवोल्काज्वालाभिराडम्बरितमम्बरेण, 'अयि प्रतिपन्नोत्पथकथ पृथ्वीनाथ, तेषु तेषूत्सवेषु संपादितानन्ददुन्दुभिनादया पुनरनायतिशर्मणः कर्मणस्त्वयि कथाशेषे सति कथं नु मया नाम कर्णकटुप्रभावस्त्वद्बान्धवहारावः श्रोतव्यो भविता' इति शोचनादिव प्रवृत्तबाष्पस्यन्दया दुर्दिनीभूतं दिवा, 'त्वमेवमवश्यमहो राजन्, जानीहि । न खलु भवत्ययमायतिषु हिताय क्रियोपायः । तदलमत्राग्रहेण । निवृत्य गम्यतां हर्म्यम्' इत्याचरितदाक्षिण्येन सुहृदेव प्रतिभातं

'कानों में शङ्ख के कुण्डलों का धारण करना अथवा शाकमात्र का भक्षण व दुग्धपान, जलपान, कन्द भक्षण व भिक्षासमूह का भोजन व्रत नहीं है किन्तु स्वीकार किये हुए पदार्थ का निर्वाह करना ही उन्नत बुद्धिशाली महानुभावों का व्रत है ॥ २१४ ॥' इसके पूर्व में, जिसने चण्डिका देवी की पूजा संबंधी योग्य क्रिया की है एवं जिसके समीपवर्ती आचार्य व पुरोहित हैं, जब चण्डिकादेवी के मन्दिर की ओर प्रस्थान करने उद्यत हुआ तब निम्नप्रकार अपशकुन हुए और दूसरे भी शकुनशास्त्र प्रसिद्ध अपशकुन हुए, जिनकी सङ्गति दुष्टस्वभाव वाले फलों को देनेवाली है। 'बुद्धि में बृहस्पति-सरीखे व स्वभाव से ही महान् धर्मपरिणाम के निवासस्थान ऐसे अहो यशोधर महाराज ! प्राणों के कण्ठगत होनेपर भी आपको अनुचित आचरण द्वारा अपनी आत्मा का प्रिय करना क्या उचित है ? अपि तु नहीं है' इसप्रकार की बुद्धि से ही मानों—ऐरावण-पत्नी नाम की हथिनी ने उल्टी चिंघाड़ने की ध्वनि को व चेष्टा की। 'यह यशोधर महाराज विद्वान् होकर के भी पापोपदेश से, दुःखरूपी मकर-समूह से व्याप्त हुए संसार समुद्र में डूबने के लिये किसप्रकार उद्यत हुआ ?' इसप्रकार की कृपा से ही मानो भूमि कम्पित हुई। 'अये दुर्वासना के अधीन राजन् ! इसप्रकार के मानसिक अभिप्राय से उत्पन्न हुए दुःखसन्ताप को, जिसमें भविष्य में समूहरूप से आनेवाला पापबंध वर्तमान है, आप कैसे सहन करोगे ?' इस प्रकार के अभिप्राय को सूचित करता हुआ ही मानों—दिशासमूह धुएँ से धूसरता को प्राप्त हुआ।

'हे मध्यमलोकपाल यशोधर महाराज ! इस दुष्ट पाप से मरे हुए आपकी चिताग्नि की ज्वालाओं के अग्रभाग, जो कि देवों के मुख मलिन करनेवाले हैं, आपके जन्मावसर पर पुष्पवृष्टि करनेवाले मुझसे कैसे सहन करने योग्य होंगे ?' ऐसी पश्चातापरूपी अग्नि से व्याप्त हुआ ही मानो—आकाश उल्का (बिजली) ज्वालाओं से आच्छादित हुआ। 'उन्मार्ग की वार्ता स्वीकार करनेवाले हे राजन् ! मुर्गे के वधरूप पाप से, जिसमें उत्तरकाल में सुख नहीं है, तुम्हारे मरनेपर, मेरे द्वारा, जिसमें उन उन प्रसिद्ध उत्सवों (राज्याभिषेक-आदि) के अवसर पर आनन्द दुन्दुभिवाजों की ध्वनि उत्पन्न कराई गई है, आपके बन्धुवर्गों की कर्णशूल प्राय रोदनध्वनि कैसे श्रवण करने योग्य होगी ?' ऐसे शोक से ही मानो—अश्रुपतन उत्पन्न करनेवाला भूमि-समीपवर्ती आकाश मेघाच्छादित (जलबिन्दुओं से व्याप्त) हुआ। धूलि-चिह्न वाली वायु सन्मुख प्राप्त हुई, जो ऐसी मालूम पड़ती थी मानो—निम्नप्रकार सन्मान करनेवाला अभीष्ट मित्र ही है—

पांशुलक्षणेन, 'खरकिरणकरनिवारण एवाहं प्रभवामि, न पुनरापातचण्डे यमदण्डे' इति धियेव भुवि निपतितमातपत्रेण, 'न भवतीयं सा परागसंततिर्यास्माभिः शक्यते निवारयितुम् । एषा त्वपरैव यन्निवारणे न कुशलः प्रलयकालानिलोऽपि' इति चिन्तयेव विनिकीर्णं विलासिनीकरेभ्यश्चामरनिवहेन, 'महापुरुष, एवमशुभाभिनिवेशेषु युष्मादृशेषु न चिरमस्मादृशैः कल्याण-परम्पराचिह्नविनिवेशैः सह समागमः' इति प्रकटितसाक्षिव्येनेव कुटिलितं पताकासंतानेन, 'सर्वथा महोत्सवपुरश्चारिणामस्माकं किमेवमसदृशधर्मणि कर्मणि विनियोगो युक्तः' इति स्वदुःखनिवेदनादिव घर्घरितमातोद्यवाद्येन, 'यद्यपि देवः कामक्रोधाभ्यामज्ञानेन वाद्यान्यथाभावः संजातः, तथापि न खलु भवत्प्रसादान्निरन्तरश्रीविलासप्रकाशानामस्मादृशानामुपेक्षितुमुचितम्' इति बुद्ध्येव निपत्य पुरस्तिर्यग्भूतं तोरणेन, 'क्षितिप, अद्यापि न किंचिद्विनश्यति । तदावासमनुसृत्यापरमेव किंचिदिहामुत्र च शिवकरप्रतिष्ठानमनुष्ठानमाचरितव्यम्' इत्युपदिशतेव पृष्ठतः शब्दितं दधिमुखेन, 'हे महीपाल, किं कोऽपि परोपरोधादात्मन्यश्रेयांसि कुर्वन्नवलोकितोऽस्ति, येनैवमकल्पने पथि प्रस्थितोऽसि' इत्युपहसतेवापाचीनतया वासितमाविल्वभुजेन, एवमन्यैरपि सद्योदुरन्तफलप्रदायिभिर्दुर्लक्षणैस्तैस्तैर्लिङ्गैरभावि, तथापि 'नियतिः केन लङ्घ्यते' इति सत्यता नयन्निव त्रिशूलिनीनिलयमनुजगाम ।

'हे पृथिवीपति यशोधर महाराज ! आप इसप्रकार निश्चय से जानो कि यह कर्तव्य (मुर्गे का वध) का उपाय निश्चय से उत्तरकाल में सुख के लिए नहीं है, अतः इस कर्तव्य के उपाय में आग्रह करना निरर्थक है; अतः लौटकर गृह पर जाइए ।' छत्र पृथिवी पर गिरा । इससे जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—'मैं (छत्र), सूर्य-किरणों के रोकने में ही समर्थ हूँ, न कि दुःख से भी निवारण के लिए अशक्य मरणकाल के रोकने में समर्थ हूँ' इसप्रकार की बुद्धि से ही मानों—वह पृथिवी पर गिरा एवं वेश्याओं के करकमलों से चमर-समूह नानाप्रकार से यहाँ वहाँ गिरे । इससे ऐसा मालूम पड़ता था मानों—निम्नप्रकार की चिन्ता से ही वे यहाँ वहाँ गिरे हैं—'यह वह रेणुमण्डली नहीं है, जो कि हमारे (चमरों) द्वारा रोकने के लिए शक्य है, यह योगी महापुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष की हुई दूसरी ही (पापरूपी) रेणुमण्डली है, जिसे रोकने में कल्पान्त (प्रलय) काल का वायुमण्डल भी समर्थ नहीं है ।' ध्वजा-समूह कुटिल हो गया । जो ऐसा मालूम पड़ता था मानों—जिसने निम्नप्रकार मन्त्रित्व प्रकट किया है—

'हे राजन् ! इसप्रकार का पाप करने यदि जाते हो तो तुम्हीं जाओ हम नहीं जाते । क्योंकि ऐसा जीववधसंबंधी पापकर्म का अभिप्राय वाले आप-सरीखे पुरुषों का हमसरीखे पुरुषों के साथ समागम, जिनका स्थापन बहुत से कल्याणों (पुत्रजन्म-आदि महोत्सवों) के चिह्न के लिए है, चिरकाल तक नहीं होता ।'

'हे राजन् ! ऐसे विपरीत स्वभाव-वाले जीववधरूप पापकर्म में, पुत्र-जन्म-आदि महोत्सवों में अग्रेसर रहनेवाले हमलोगों का अधिकार क्या युक्त है ? अपितु नहीं है ।' ऐसा दुःख-निवेदन करने से ही मानों—बाजों की ध्वनि कुत्सित शब्द करती हुई । 'यद्यपि राजा राग, द्वेष अथवा अज्ञान से इससमय विपरीत परिणाम-वाला हो गया है तो भी हमको, जिनके लिए आपके प्रसाद से निरन्तर लक्ष्मियों के भोग उत्पन्न होते हैं, निश्चय से आपके विषय में अनादर करना योग्य नहीं है । अर्थात्—हम राजा को महल के मध्य में ही रोकना चाहते हैं, जाना नहीं देना चाहते ।' ऐसी बुद्धि से ही मानों—तोरण, आगे गिरकर तिरछा हो गया । फिर गधे ने रेंकना शुरू किया । इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह निम्नप्रकार उपदेश दे रहा है—

'हे राजन् ! अब भी कुछ अशोभन नहीं है, उससे राजमहल में जाकर आपको ऐसा कोई दूसरा ही कर्तव्य आचरण करना चाहिए, जिसका मूल इस लोक व परलोक में कल्याणकारक है ।' एवं कौए ने प्रतिकूलता से कर्णकटु शब्द किया । इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह निम्नप्रकार उपहास कर रहा है—

तत्र च तद्विद्या प्रोक्षितदक्षिणानां च ब्राह्मणानां वचनात्

सर्वेषु सत्त्वेषु हतेषु यन्मे भवेत्फलं देवि तदत्र भूयात् । इत्याशयेन स्वयमेव देव्याः पुरः शिरस्तस्य चकर्त शस्त्र्या[1] ॥२१५॥
विज्ञानिनां शिल्पविशेषभावात्सर्ववधात्मेऽभिनिवेशतश्च । स हन्यमानो हि न कामवस्थां सचेतनादप्यधिकां चकार ॥२१६॥
पिष्टं च मांसं परिकल्प्य तस्य महानसे प्रेषितवांस्ततश्च । अन्येद्युरम्बासहितस्य देवी सा मे व्यधाद्भोजनमादरेण ॥२१७॥
तया सुतेन स्नुषया च मात्रा सार्धं मुदैकत्र कृताशनस्य । सा दुष्टधीर्मे जननीयुतस्य संचारयामास विषामिषाणि ॥२१८॥
वैद्याय दूताः प्रहिता हि यावद्यावद्गृहेऽप्यौषधमीक्ष्यते च । जातं नृपे दृष्टिविषं जनानामिति स्म तावद्विससर्ज लोकम् ॥२१९॥
एकान्तमालोक्य विकीर्य केशान्हा नाथ नाथेति गिरं गिरन्ती । निपत्य मे वक्षसि दुःखितेव ररोध कण्ठं यमपाशिकेव ॥२२०॥
अन्येऽपि ये स्त्रीष्वनुरक्तचित्ता विश्वासमायान्ति नराः प्रमत्ताः । प्रायो दशेयं ननु तेष्ववश्यं नदीतटस्थेष्विव पादपेषु ॥२२१॥

आकल्पं परिपूर्णकामितफलाः कामं भवन्तु प्रजाः क्षोणीशाः प्रतिपालयन्तु वसुधां धर्मानुबद्धोत्सवाः ।

'हे राजन् ! क्या कोई भी दूसरों के आग्रह से पापकर्म करता हुआ देखा गया है ? जिससे तुम ऐसे निन्द्य मार्ग में प्रवृत्त हुए हो।' उक्त अपशकुन होने के अनन्तर मैं, चण्डिकादेवी के मन्दिर में माता के पीछे गया। इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—'नियति (भवितव्यता) किसके द्वारा उल्लङ्घन की जा सकती है ? इस वचन को सत्यता में प्राप्त करा रहा हूँ। उस चण्डिकादेवी के मन्दिर में प्रोक्षित करने के कारण दान प्राप्त करनेवाले ब्राह्मणों के वचन से—

हे चण्डिकादेवी ! 'समस्त प्राणियों के मार देने पर जो कुछ फल होता है, वह फल यहाँपर मेरे लिए प्राप्त होवे।' ऐसे अभिप्राय से मैंने स्वयं चण्डिकादेवी के सामने छुरी से उस मुर्गे का मस्तक काट दिया[2] ॥ २१५ ॥ विज्ञानियों की शिल्पकला के अतिशय से और सर्वजीव-वध के संकल्परूप मेरे अभिप्राय से मेरे द्वारा घात किये जानेवाले उस आटे के मुर्गे ने जीवित मुर्गे से भी अधिक कौनसी अवस्था नहीं की ?[3] ॥२१६॥ मैंने उस मुर्गे के चूर्ण में 'मांस' ऐसा संकल्प करके रसोई घर में भेज दिया, फिर उस दिन से दूसरे दिन अमृतमतिदेवी ने माता-सहित मेरे लिए आदरपूर्वक भोजन बनाया[4] ॥ २१७ ॥ उस पापिनी अमृतमति ने, माता के साथ व कुसुमावली नाम की पुत्रवधू तथा यशोमतिकुमार के साथ हर्षपूर्वक भोजन करनेवाले माता-सहित मेरे भोजनों में विषभोजन प्रवेश कर दिया। अर्थात्—उसने मेरे लिए व मेरी माता के लिए विषभोजन दे दिया। अर्थात्—यशोमतिकुमार व कुसुमावली का भोजन-पात्र एक था और चन्द्रमति एवं यशोधर का भोजन-पात्र एक था[5] ॥ २१८ ॥ जब तक वैद्य बुलाने के लिए दूत भेजे गए और जब तक गृह में जहर उतारने की औषधि देखी जाती है तब तक उसने लोगों को इसलिए भेज दिया कि राजा में लोगों का दृष्टि-विष उत्पन्न हुआ है[6] ॥ २१९ ॥ एकान्त देखकर व केश बिखराकर 'हा नाथ हा नाथ' इसप्रकार वाणी बोलती हुई वह दुःखित-सरीखी होकर मेरे वक्षःस्थल पर गिरी। फिर यमराज की जाली-सरीखी उसने मेरा कण्ठ बाँध लिया[7] ॥ २२० ॥ यशोधर के सिवाय दूसरे भी जो पुरुष स्त्रियों में अनुरक्त होने से असावधान होते हुए विश्वास प्राप्त करते हैं, निश्चय से उनकी भी प्रायः करके यही दशा होती है, जैसे नदी के तटवर्ती वृक्षों की होती है[8] ॥ २२१ ॥ प्रजा के लोग प्रलयकाल पर्यन्त अभिलषित फल परिपूर्ण करनेवाले यथेष्ट होवें। धर्मों

---

१. 'शस्त्रात्' इति पाठान्तरं । २. अतिशयालंकारः । ३. व्यतिरेकालंकारः । ४. रूपकालंकारः ।
५. सहोक्त्यलंकारः । ६. जात्यलंकारः । ७. उपमालंकारः । ८. उपमालंकारः ।

सन्तः सन्तु सरस्वतीप्रणयिनः सार्धं श्रियः संगमं भूयादेष जिनोक्तिमौक्तिकलतारामस्त्रिलोकीमुदे ॥२२२॥
मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे। कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥२२३॥

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ति-
शिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते
यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्येऽमृतमतिमहादेवीदुर्विलसनो नाम चतुर्थ आश्वासः ॥

(पूजा व दानादि) में आनन्द प्राप्त करनेवाले राजालोग पृथिवी की रक्षा करें। विद्वान् पुरुष लक्ष्मियों के साथ सरस्वती (जिन-वचन) से स्नेह करनेवाले हों एवं यह जिनवचनरूपी मोतियों की लता का बगीचा तीन लोक के आनन्द के लिए होवे[1] ॥ २२२ ॥ जब मुझ सोमदेव ने शब्दसंस्कार व शब्दार्थसंस्कार-सहित शास्त्ररूप अमृतरस का आस्वादन कर लिया तब दूसरे कविलोग निश्चय से उच्छिष्ट भोजी होंगे[2] ॥ २२३ ॥ इसप्रकार समस्त तार्किक-(षड् दर्शनवेत्ता) चक्रवर्तियों के चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य नेमिदेव के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्यपद्य विद्याधरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलक महाकाव्य' है, 'अमृतमति महादेवी दुर्विलसन' नामका चतुर्थ आश्वास पूर्ण हुआ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादासजी शास्त्री व श्रीमत्पूज्यपाद आध्यात्मिक सन्त
श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधानशिष्य, जैनन्यायतीर्थ,
प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेद-विशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक
उपाधिविभूषित सागरनिवासी श्रीमत्सुन्दरलाल जी शास्त्री द्वारा रची
हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य' की
'यशस्तिलकदीपिका' नामकी भाषाटीका में अमृतमति-
महादेवी-दुर्विलसन नामका चतुर्थ आश्वास पूर्ण हुआ।

---

१. अतिशयालंकारः। २. रूपकोपमालंकारः।

पञ्चम आश्वासः

श्रीमानशेषभुवनाधिपतिर्जिनेन्द्रश्चन्द्रप्रभस्तव तनोतु मनीषितानि ।
यद्वीक्षणादपि मनःकुमुदाकरः स्याल्लोकस्य लोचनदलामृतपूरसारः ॥१॥

त्वं सर्वस्य सदागतिर्जिनपते त्वं नाथ कर्मान्तभूस्त्वं दाता वरदस्त्वमद्भुतरुचो लोकेश ते ज्योतिषी ।
त्वन्नामामृतमत्र योगिविषयं त्वं देव तेजः परं त्वं चानङ्ग सर्वगोऽपि नियतः पायाः तमस्तो जगत् ॥२॥

तदन्वहो सकलदिक्सीमन्तिनीसीमन्तसंतानितप्रतापसिन्दूर दुरितविदूर, तस्माद्दुरन्तव्यसनव्यालव्यालसङ्गपाशाद्दुरभिनिवेशात्

ऐसे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र आपके कल्याणों को वृद्धिगत करें। जो कि अन्तरङ्ग लक्ष्मी (अनन्तदर्शनादि) व बहिरङ्गलक्ष्मी (समवसरण-आदि विभूति) से विराजमान होते हुए समस्त तीन लोकों के स्वामी हैं। जिनके दर्शनमात्र से भी चित्तरूपी कुमुद-(चन्द्रविकासी कमल) वन, भव्यजीव-समूह के नेत्ररूप-पत्तों को अमृतधारा के प्रवाह से विशेष कृतार्थ हो जाता है[1] ॥ १ ॥ हे जिनेन्द्र ! आप समस्त प्राणी-समूह को सदाशरण (दुःख-नाश करने में समर्थ) हो। हे तीन लोक के स्वामी ! आप कर्मों (ज्ञानावरण-आदि) की विनाशभूमि हैं।

हे भगवन् ! आप स्वर्ग व मोक्षसुख के देनेवाले व अभिलषित वर देनेवाले हैं। हे तीनलोक के स्वामी ! आपके ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले दोनों नेत्र, आश्चर्यजनक लोक व अलोक को प्रकाश करनेवाली दीप्ति से युक्त हैं। हे भगवन् ! आपका नामरूपी अमृत (मोक्ष-सुख का कारण होने से) इस संसार में गौतमगण धरादि योगीपुरुषों द्वारा जानने योग्य है। हे परम आराधना-योग्य प्रभो ! आप कर्ममल कलङ्क को भस्म करनेवाले होने से उत्कृष्ट अग्निरूप हैं। हे स्त्री-रहित प्रभो ! आप केवलज्ञान से लोकाकाश व अलोकाकाश में व्यापक (सर्वत्र व्याप्त) होते हुए भी चरमशरीरप्रमाण होने से मर्यादीभूत हैं, अतः आप संसार में स्थित प्राणी-समूह की अज्ञान से रक्षा कीजिये। अभिप्राय यह है—कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यजमान, आकाश, चन्द्र व सूर्य ये शंभु की आठ मूर्तियाँ हैं, उसके निराकरणार्थ आचार्यश्री ने चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर को उक्त आठ मूर्तियुक्त निर्देश किया है। यथा 'सदागतिः' पद से वायुमूर्ति व 'कर्मान्तभूः' पद से पृथ्वी मूर्ति सूचित किये गए। 'कर्मान्तभूः' पद का यह अर्थ है कि कर्मक्षय की पृथ्वीरूप गणधरादिसमूह या भव्यसमूह की रक्षा करनेवाले। इसीप्रकार 'दाता' पद से यजमानमूर्ति, 'ज्योतिषी' पद से 'चन्द्रमूर्ति' व 'सूर्यमूर्ति' कथन किये गए एवं 'त्वन्नामामृतम्' पद से जलमूर्ति, परमतेजः पद से 'अग्निमूर्ति' और 'सर्वगोऽपि' तथा 'अनङ्गन' इस संबोधनपद से आकाशमूर्ति निरूपण की हुई समझनी चाहिए[2] ॥ २ ॥ उसके बाद समस्त दिशारूपी स्त्रियों के शिर के केशमार्गों पर प्रतापरूपी सिन्दूर को विस्तारित करनेवाले व पाप से दूरवर्ती ऐसे हे मारिदत्त महाराज ! उस मुर्गे के वधरूपी पाप-युक्त अभिप्राय से, जिसमें दुष्ट स्वभाववाले दुःख-रूपी दुष्टगज अथवा कालसर्प का संगमरूपी पाश (बन्धन) वर्तमान है, देवी-समूह द्वारा सेवन किये हुए मध्य भागवाले 'सुवेल' नामक पर्वत के ईशानकोण की समीपवर्ती स्वभावतः प्रचुर जलवाली भूमि में वर्तमान वृक्ष पर मैं (यशोधर), मयूरकुलमें जन्म लेनेवाला हुआ। अर्थात्—उस सुवेल पर्वत के समीपवर्ती नदी तट पर वर्तमान वृक्ष पर मैं (यशोधर) मोरकुल में मोर हुआ। सुवेल पर्वतका निरूपण—

---

१. उपमालंकारः। २. रूपकः श्लेषालंकारश्च।

हिमालयाद्दक्षिणदिक्कपोलः शैलः सुवेलोऽस्ति लताविलोलः । चकार यः कान्ततयामरीणां वीतस्पृहं नाम नगेषु चेतः ॥३॥
नभः परिच्छेत्तुमिवोच्छ्रितस्य द्रष्टुं दिगन्तानिव विस्तृतस्य । ऊर्ध्वं च तिर्यक्च महत्त्वमुच्चैर्न शक्यते यस्य जनेन मातुम् ॥४॥
नमेरुसंतानकपारिजातमाकन्दमन्दारमनोहरासु । यस्यामराः केलिकृतः स्थलीषु स्मरन्ति नो नन्दनकाननस्य ॥५॥
फलैस्तरूणाममृतानुकूलैर्मणिप्रकाशैश्च दरीनिवेशैः । दिवौकसां सद्मसुखानि यत्र लोकः स्थितः प्रार्थयते न जातु ॥६॥
यत्तुङ्गशृङ्गाग्रविलम्बिबिम्बः पर्यन्तनक्षत्रमणिप्रचुम्बः । आभाति राकातुहिनांशुमाली प्रसाधितं छत्रमिवाम्बरस्य ॥७॥
यश्चित्रमेघाम्बरमण्डिताङ्गः समन्ततश्चामरचारुसङ्गः । पूषातपत्रो द्विजगीतकीर्तिरिन्द्रोत्सवस्येव बिभर्ति लक्ष्मीम् ॥८॥

यस्य च क्वचित्किरिकिटिकटकदंष्ट्रोत्पाटितार्द्रनिपुटकिनीकन्दबन्धुरदरवदनविन्यासः साट्टहास इव, क्वचिन्निकटतटतटाकोदर-दरदीर्णकौलेयकपालसंकुलमेखलः प्रतिपन्नकपालिकुल इव, क्वचिन्निखिलतरूपनीतानेकनेत्रसंततिः शतधृतिरिव, क्वचिद्भ्रान्त-प्रसूतापगाप्रवाहविषमवलनः पवनाशन इव, क्वचित्केसरिकिशोरखरनखरोत्खातकरिकुम्भस्थलोच्छलन्मुक्ताफलजालजटिल-

हिमालय पर्वत की दक्षिण दिशारूपी स्त्री के गालों-सरीखा शोभायमान 'सुवेल' नाम का पर्वत है, जिसमें मन्द-मन्द वायु द्वारा कम्पित होती हुई लताएँ वर्तमान हैं एवं जिसने मनोहरता के कारण देवियों के हृदय को दूसरे पर्वतों में इच्छा-रहित किया था[1] ॥३॥ जिस सुवेल पर्वत की ऊँचाई व दीर्घता का महत्व अतिशय रूप से मनुष्यों द्वारा मापने या जानने के लिए अशक्य है। जो विशेष ऊँचा होने से ऐसा प्रतीत होता था—मानों—आकाश को विदीर्ण करने के लिए ऊपर गया है और विस्तृत होने के कारण—मानों—दिशाओं का अन्त देखने के लिए दीर्घता को प्राप्त हुआ है[2] ॥४॥ जिस पर्वत के उन्नत प्रदेशों पर, जो कि नमेरु, सन्तानक, पारिजात (देववृक्ष), आमवृक्ष और मन्दार वृक्षों से हृदय को अनुरञ्जित करनेवाले हैं, क्रीडा करनेवाले देवता लोग नन्दन-वन का स्मरण नहीं करते[3] ॥५॥ जिस 'सुवेल' पर्वत पर स्थित हुआ जन-समूह वृक्षों के अमृततुल्य स्वादिष्ट फलों व रत्नकान्ति-युक्त गुफास्थानों के कारण देवविमान संबंधी सुखों की कभी प्रार्थना नहीं करते[4] ॥६॥ जिस सुवेल पर्वत की ऊँची शिखर के उपरितन भाग पर जिसका मण्डल ठहरा हुआ है और जो पर्यन्त भाग पर स्थित हुए नक्षत्ररूपी मणियों को चुम्बन करनेवाला है, ऐसा पूर्णिमा-चन्द्र आकाश के सजाये हुए छत्र-सरीखा शोभायमान हो रहा है[5] ॥७॥ जो प्रस्तुत पर्वत इन्द्रोत्सव की लक्ष्मी धारण करता हुआ-सा शोभायमान हो रहा है। जिसका शरीर नानावर्ण-वाले मेघरूपी वस्त्रों से मण्डित है और इन्द्रोत्सव भी नाना वर्णवाले मेघों का आवास है। जो, चारों ओर से चामरों (चमरी-मृगों के समूह) से चारुसङ्ग (सुन्दर सङ्गम-वाला) है और इन्द्रोत्सव भी च-अमरों (देवताओं) के सुन्दर संगम से युक्त होता है। सूर्य ही है छत्र जिसका, और इन्द्रोत्सव भी सूर्य-सरीखे तेज से विराजित होता है। इसीप्रकार जिसकी कीर्ति द्विजों (पक्षियों) द्वारा गान की गई है और पक्षान्तर में जिसकी कीर्ति द्विजों (ब्राह्मणों) द्वारा गान की गई है, ऐसा होता है[6] ॥८॥ जिस 'सुवेल' पर्वत की गुफाओं का वदन विन्यास, किसी स्थान पर, शूकर-समूह की दाढ़ों द्वारा उखाड़े हुए तरल कमलिनियों के मूलों से उन्नत दन्तशाली है। इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—अट्टहास ही कर रहा है। किसी स्थान पर जिसकी मेखला (पर्वत-नितम्ब), तट के निकटवर्ती सरोवरों के मध्य भाग में विदीर्यमाण शरीरवाले कछुओं के पृष्ठ भागों से व्याप्त है। इससे मानों—रुद्र-समूह को अङ्गीकार करनेवाला ही है। किसी स्थान पर जिसके द्वारा अनेक नेत्रों (वृक्ष-मूलों

१. रूपकातिशयालंकारः। २. उत्प्रेक्षालंकारः। ३. समुच्चयातिशयालंकारः। ४. हेतूपमातिशयालंकारः। ५. उपमालंकारः। ६. श्लेषोपमालंकारः।

वल्लरीप्रतानः कामिनीकुन्तलसंतान इव, क्वचिच्छबरसहचरीचरणनखनक्षत्रपवित्रोपत्यकानिचयः सुरशिलोच्चय इव, क्वचिन्निर्झरजलजर्जरितशिलान्तः कृतकुञ्जरतटाघातः सामन्त इव, नाकलोक इव कुशिकसुतावलोकः, शरदागम इव कृतकमलसमागमः, सरस्वतीसभावेश इव पुण्डरीकावकाशोपदेशः, समीक्षासिद्धान्त इव कपिलकुलकान्तः, शुद्धान्त इव सकञ्चुकिवृत्तान्तः, पवनमार्ग इव सदन्तोत्सर्गः, सरोऽवकाश इव पारापतनिवेशः, कात्यायनीनिलय इव विहितहेरम्बप्रणयः, पिङ्गलेक्षणावास इव शाक्वरनिवासः, कल्याणापघन इव समदनः, अनात्मवानपि सचेतकः, अबीभत्सुरपि कपिध्वजचिह्नः, अमेरुकारासनोऽपि सवर्गः, अमनसिजरसोऽपि संजातभोगिनीसङ्गः, अरेवतीपतिरपि ताललाञ्छनः, अवैयधिकोऽपि विहङ्गिकाध्यासितस्कन्धः, अकुसुमायुधोऽपि सपुष्पबाणः,

---

व मृग-विशेषों) का समूह समस्त वृक्षों के समीप लाया गया है। इससे मानों—इन्द्र ही है अर्थात्—जैसे इन्द्र अनेक नेत्रों (चक्षुओं) से अलङ्कृत होता है। किसी स्थान पर बहती हुई नदियों के प्रवाहों का जहाँपर वक्र वलन (घुमाव-फिराव) हो रहा है। इससे मानों—सर्प ही है अर्थात्—जैसे सर्प, वक्र वलन-(संचार) युक्त होता है। किसी स्थान पर जहाँपर लता-समूह, ऐसे मोतियों के समूह से शिथिल हो रहे हैं, जो कि तरुणसिंहों के कठिन नखों द्वारा विदारण किये गए हाथियों के कुम्भस्थलों से उछलकर गिर रहे थे। इससे मानों—कमनीय कामिनियों का केश-पाश ही है। अर्थात् जैसे कामिनियों के केश-पाश मोतियों की मालाओं से अलङ्कृत होते हैं। किसी स्थान पर जिसका उपत्यका-(तलहटी) समूह, भीलों की स्त्रियों के चरण-नखरूपी नक्षत्रों से पवित्र हो रहा है, इससे मानों—सुमेरु पर्वत ही है। अर्थात्—जैसे सुमेरु पर्वत नक्षत्रों से मण्डित होता है। किसी स्थान पर जिसने झरनों के जलद्वारा शिलाओं का प्रान्त भाग जर्जरित किया है, इससे मानों—हाथी के पार्श्व भागों पर निष्ठुर प्रहार करनेवाला राजा ही है। कुशिकसुतों (उल्लुओं) के लिए अवलोक (नेत्रकान्ति) देनेवाला वह ऐसा प्रतीत होता था—मानों—कुशिकसुत (इन्द्र) के अवलोक (दर्शन) वाला स्वर्गलोक ही है। कमलों (मृगों) का सम्मुख आगमन करनेवाला जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कमलों का समागम किया हुआ शरद ऋतु का आगमन ही है। जो, पुण्डरीक-अवकाश-उप-देश है। अर्थात्—जहाँपर व्याघ्रों के स्थान (गुफा-आदि) के समीप प्रदेश वर्तमान है। इससे मानों—पुण्डरीक-अवकाश उपदेश वाला सरस्वती का सभादेश ही है। अर्थात्—जैसे सरस्वती का सभास्थान, जिसमें श्वेत कमल के अवकाश के चारों ओर व्याख्यान वर्तमान है। जो कपिलकुल-कान्त है। अर्थात्—जो कपिलकुलों (वानर-समूहों) से मनोज्ञ है अथवा वानर-समूहों के लिए अभीष्ट है। इससे मानों—सांख्य दर्शन ही है। अर्थात्—जैसे सांख्यशास्त्र कपिल-कुल-कान्त (कपिलमुनि के शिष्य वर्ग को अभीष्ट) होता है। जो सकञ्चुकि वृत्तान्त है। अर्थात्—जिसका मध्य भाग कञ्चुकी (सर्पों) द्वारा कुण्डलाकार किया गया है। इससे मानों—अन्तःपुर ही है। अर्थात्—जैसे अन्तःपुर कञ्चुकियों (रक्षकों) के वृत्तान्त-सहित होता है। जो सत्-दन्त-उत्सर्ग है। अर्थात्—जिसके तटों की उत्कृष्ट रचना समीचीन है। इससे मानों—आकाश ही है। अर्थात्—जैसे आकाश, सत्-अन्तोत्सर्ग (चारों ओर नक्षत्रों-सहित) होता है। जो पारापत-निवेश (कबूतरों की स्थिति वाला) है। इससे मानों—तालाब का स्थान ही है। अर्थात्—जैसे तालाब का स्थान कबूतरों के स्थान-सहित होता है। जो विहित हेरम्बप्रणय है। अर्थात्—जो हेरम्बों (भैंसाओं) के साथ स्नेह करनेवाला है; इससे—मानों—पार्वती-मन्दिर ही है। अर्थात्—जैसे पार्वती-मन्दिर हेरम्ब (श्रीगणेश) के साथ किये हुए स्नेह-युक्त होता है। जो शाक्वरों (गायों) का निवास है, इससे मानों—रुद्रावास ही है, अर्थात्—जैसे (रुद्रावास शाक्वरों (वृषभों) का निवास होता है। जो समदन (राजवृक्षों से सहित) है, इससे मानों—विवाह-दिन का शरीर ही है। अर्थात्—जैसे विवाह दिन का शरीर, समदन (कामदेव को जाग्रत करनेवाला) होता

किं च ।

पाताले यस्य मूलोपलविलसदहिव्यूहफूत्कारकान्तस्तिर्यक्प्रारम्भारभागाश्रयशबरवधूबन्धुराधित्यकान्तः ।
ऊर्ध्वं गन्धर्वरामारतिरभसभरोल्लोलचूलाकरालस्त्रैलोक्यालोक्यलक्ष्मीर्जयति गिरिरयं मेरुलीलासरालः ॥९१॥

तस्य सुरसुन्दरीसमाजसेवितसकलमेखलस्याचलस्यैशान्यां दिशि निसर्गादुदकवत्यामुपत्यकायामस्ति भो भुवनत्रयीख्यमहाराज्ञितागण्यपुण्यस्य, पुण्यजनानन्दनाशयः पादपः । यः खल्वनेकविविकिरकुलकामिनीनिशितशिखोल्लेखनखमुख-

---

है। जो अनात्मवान् हो करके भी सचेतक है, अर्थात्—जो जितेन्द्रिय न होकर के भी आत्मज्ञानी है। यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो जितेन्द्रिय नहीं है, वह आत्मज्ञानी कैसे हो सकता है? उसका समाधान यह है कि जो अनात्मवान् (अचेतन—जड़) है और सचेतक (हरीतकी-वृक्ष-सहित) है। जो 'अवीभत्सु' होकर के भी कपिध्वजाचिह्न है। अर्थात्—जो अर्जुन न होकर के भी वानर के चिह्नवाली ध्वजा से सहित है। यहाँपर विरोध मालूम होता है क्योंकि जो अर्जुन नहीं है, वह वानर के चिह्न वाली ध्वजा से युक्त कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अवीभत्सु (अक्रूर) है एवं जिसके चिह्न कपि (वानर) व ध्वजा (वृक्ष) हैं।

जो अमेरुधरासन (रुद्र-रहित) होकर के भी सदुर्ग (पार्वती-सहित) है यहाँपर विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि जो रुद्र-रहित होगा, वह पार्वती परमेश्वरी से सहित कैसे हो सकता है? उसका परिहार यह है कि जहाँपर अमेरु (नमेरु वृक्ष), धर (बाणतृण), असन (सर्जक वृक्ष व प्रियाल वृक्ष) वर्तमान हैं और जो निश्चय से सदुर्ग (विषम—ऊबड़-खाबड़ प्रदेश-सहित) है। जो अमनसिजरस (काम-राग रहित) होकर के भी संजातभोगिनीसङ्ग (जिसको भोगने योग्य स्त्रियों के साथ संग उत्पन्न हुआ है) है। यहाँपर भी विरोध मालूम पड़ता है; क्योंकि कामवासना से शून्य पुरुष स्त्री-संगम नहीं कर सकता। उसका समाधान यह है, कि पर्वत के कामवासना नहीं होती, क्योंकि वह जड़ है। अत: जो काम-राग-रहित है एवं निश्चय से संजातभोगिनी सङ्ग (जिसको सर्पिणी का सङ्गम उत्पन्न हुआ है) है। जो अरेवतीपति होकर के भी ताल-लाञ्छन है। अर्थात्—जो बलभद्र न होकर के भी ताडवृक्ष के चिह्नवाली ध्वजा से व्याप्त है। यहाँपर विरोध प्रतीत होता है क्योंकि जो बलभद्र नहीं है, उसके तालवृक्ष के चिह्नवाली ध्वजा कैसे हो सकती है? उसका समाधान यह है कि जो रेवती के एवं उपलक्षण से दूसरों के क्षेत्रों (खेतों) से रहित है; क्योंकि 'शिलायां सस्यं न भवति' अर्थात्—चट्टानों पर धान्य उत्पन्न नहीं होती एवं निश्चय से तालवृक्षों से सहित है।

जो अवैवधिक होकर के भी विहङ्गिका—अध्यासित स्कन्ध है। अर्थात्—जो वैवधिक (कावड़ी—बहँगीधारक) न होकर के भी विहङ्गिका (बँहगी) से समाश्रित स्कन्ध वाला है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है—कि जो बँहगीधारक नहीं है, वह बँहगी से आश्रित स्कन्ध वाला कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है जिसमें वैवधिक (ताराओं का समूह) नहीं है और निश्चय से जिसका तट प्रदेश विहङ्गिकाओं—पक्षिणियों—से आश्रित है। और जो अकुसुमायुध हो करके भी सपुष्पबाण है। अर्थात्—जो कामदेव न हो करके भी पुष्पों के बाण वाला (कामदेव) है। यहाँ पर भी विरोध है क्योंकि जो कामदेव नहीं है, वह कुसुमशर—कामदेव—कैसे हो सकता है? उसका समाधान यह है कि जो 'अकुः—सुमः—आ-युधः' है। अर्थात्—जो अकुः (भूमि-रहित), व सुमः (उत्तम शोभा-युक्त) एवं जिसमें चारों ओर से सिंह व हाथियों का युद्ध वर्तमान है और निश्चय से जिसमें पुष्पों से व्याप्त हुए बाण वृक्ष वर्तमान हैं।

विशेषता यह है—सुमेरुपर्वत की शोभावाला यह सुमेरु-सा सर्वोत्कर्ष रूप से वर्तमान है। जो अधो-

विलिख्यमानशाखाभुजशिखरः, शिखरशिखाडम्बरितनिबिडनीडक्रीडदण्डजडिम्भतुण्डखण्ड्यमानकुम्पलपर्यन्तः, कुम्पलपर्यन्त संचरच्चारणप्रपूविमानमणिकिङ्किणीजालविलुण्ठितविटपाग्रपल्लवपुटपटलः, पल्लवपुटपटलान्तरालखेलत्प्रवालकीरकुटुम्बिनी-कृतकितवालापविस्मापितपथिकसार्थः, पथिकसार्थकथारथायातमिलितानेकदेशिकोचितविचित्रवार्ताकर्णनोदीर्णवचनवनदेवतो-रलतरहस्ताहूयमानसहचरीनिचयः, सहचरीनिचयकरकिसलयसंवाहनसुखसुप्तागन्तुकलोकोपसेव्यमानबहलशीतलच्छाया-च्छन्नतलदेशः, छायाच्छन्नतलदेशाश्रयमूर्धवर्धिष्णुबाध्यागच्छदविच्छिन्नखिन्नाध्वन्यसंबाधकलहाकुलितपुरःप्रयातपान्थ-संदर्भः, पान्थसंदर्भपरिभ्रमश्रमविश्राम्यत्तापसमार्भकदर्भगर्भितस्कन्धाभोगपरिसरः, स्कन्धाभोगपरिसरोपरचितशबरनिवास-निषण्णविड्गाध्वगमिथुनरतधृष्टताकुलितशकुन्तप्रजः, प्रजापतिरिव प्रदर्शितानेकवर्णप्रसूतिः, निखिलभुवनविनिर्माणप्रवेश

भाग में पादमूल के पाषाणों पर क्रीडा करते हुए सर्प-समूहों के कुण्डलाकार किये हुए शरीररूपी पर्वत से मनोहर है और मेरुपर्वत भी 'अहिव्यूहवृत्तान्तकान्तः' अर्थात् नागदेव की कथा से मनोहर है। जिसकी ऊर्ध्वभूमि का अन्त तिरछे विस्तृत प्रदेशों पर आश्रय करनेवाली किरात-कामिनियों से व्याप्त है और सुमेरुपर्वत भी जिसकी ऊर्ध्वभूमि का प्रान्तभाग वरवाली देवियों व विद्याधरियों से व्याप्त है। जो ऊर्ध्व प्रदेशों पर गवैयों की कामिनियों के संभोग क्रीडा सम्बन्धी वेगातिशय से चञ्चल हुए अग्रभाग से उन्नत है। एवं मेरु भी गन्धर्व-कामिनियों की रति से व्याप्त है एवं जिसकी लक्ष्मी (शोभा) तीनों लोकों (ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक) से निरीक्षण करने योग्य है[1] ॥ ९ ॥

जिसका असंख्य गुणरूपी पण्य (बेंचने योग्य वस्तु) तीन लोक के व्यवहार में आचरण किया गया है ऐसे हेमारिदत्त महाराज! कैसा है वह वृक्ष? जिस पर मैं (यशोधर) मोरों के कुल में मोर हुआ? जो (वृक्ष), यक्षों के आनन्द की क्यारी है। जिसकी लताओं के बाहु-शिखर अनेक पक्षी-समूह की कामिनियों (पक्षिणियों) की तीखी शिखा के अग्रभागों से व्याप्त हुए नखों व चोंचों द्वारा चुम्बन किये जा रहे हैं। जिसकी कोपलों के अग्रभाग वृक्ष-शिखर के अग्रभागों पर वर्तमान विस्तृत व घने घोंसलों पर क्रीडा करते हुए पक्षियों के शावकों को चोंचों से छेदन किये जा रहे हैं। जिसकी शाखाओं के अग्रभागों के पल्लव पुट-पटल (समूह) कोपलों के अग्रभागों पर संचार करते हुए देवविशेषों की सेना के विमानों की रत्नजड़ित सुवर्णमयी क्षुद्रघण्टिकाओं की श्रेणी से तोड़े गये हैं। जहाँ पर, संयुक्त प्रवाल-(कोमल पत्ते) समूहों के मध्य भागों पर क्रीडा करती हुई व विशेष शब्द करने वाली शुक-कामिनियों (मैनाओं) से किये हुए धूर्तता-युक्त एकान्त भाषणों द्वारा पथिक-समूह आश्चर्यान्वित कराये गये हैं। जिस पर ऐसे वन देवताओं के, जो कि पथिक-समूह की कथारूपी जिह्वारथों से आकर मिली हुई, अनेक देशों के योग्य तथा चमत्कार करनेवाली किम्वदन्तियों के सुनने से विशेष वाणी बोलने वाले हैं, विशेष चञ्चल करकमलों द्वारा वन-देवताओं का कामिनी-समूह बुलाया जा रहा है। जिसका अधःप्रदेश, ऐसी छाया से आच्छादित है, जो कि स्त्री-समूह के हस्तपल्लवों से किये हुए पाद-मर्दन से उत्पन्न हुए सुख से सोए हुए पथिकजनों द्वारा स्वीकार की जा रही है एवं जो घनी व शीतल है। जहाँ पर ऐसे पथिकों के, जो कि छाया से आच्छादित हुए अधःप्रदेश के आश्रय के लिए बढ़ती हुई प्रचुर अभिलाषा से आ रहे थे एवं जो घने व श्रान्त (थकित) थे, संघटन से उत्पन्न हुई कलह के कारण पहिले से आया हुआ पथिक-समूह व्याकुलित हुआ है। जिसके विस्तृत स्कन्ध का समीपवर्ती स्थान पथिक-समूह के साथ पर्यटन करने से उत्पन्न हुए श्रम के कारण विश्राम करते हुए तपस्वी-बालकों के कुशों से आच्छादित हुआ है। विस्तृत स्कन्ध की आगे की भूमि पर निर्माण कराये हुए किरात भवनों में स्थित हुए विट (कामुक) पथिकों के स्त्री-पुरुषों के जोड़ों के मैथुन की

१. हेतूपमालंकारः।

इव दलबहुलः, काकुत्स्थकथावतार इव कपिकुलविलुप्यमानपलाशप्रसरः, सत्रमण्डप इव द्विजराजविराजितः, पर्जन्यागम इव श्यामलिताखिलदिग्वलयः, छन्दःप्रस्तार इव पादप्रबन्धावरुद्धवसुधः, क्षितिपजययात्राकाल इव सुच्छायपत्त्रः, काननश्रीप्रसाधितातपत्त्राभोग इव सुवृत्तमण्डलः, पुण्योदयदिवस इव संपादितफलपरम्परः, शरणागतसंभावनादिव दूरतरमभ्युत्थितः, प्राघूर्णकपरिरम्भसंभ्रमादिव प्रसारितशाखासहस्रभुजः, स्वविभवसंविभागविनयादिव संयुक्तकुसुमकलिकाञ्जलिः, सिद्धालय इवानेकशस्त्रिदशवनितोपयाचितपिष्टपञ्चाङ्गुलावरुद्धबुध्नः, कुबेरपुरनिवास इव प्ररोहदोलाविलासदक्षयक्षकुलकुमारः, पशुपतिरिव गामधिष्ठितः समीपतरविनायकश्च, नारायण इव वनमालाविभूषणः परिकल्पितभुजगशयनश्च, पितामह इव वयःपरिगतः

निर्लज्जता के कारण जहाँ पर पक्षियों के बच्चे व्याकुलित हो रहे हैं। जिसने अनेक वर्णों (श्वेत व पीत-आदि) की उत्पत्ति वैसी प्रकट की है जैसी ब्रह्मा अनेक वर्णों (ब्राह्मणादि) की उत्पत्ति प्रकट करता है। जो वैसा दल-बहुल (पत्तों से प्रचुर) है जैसे समस्त लोक की रचना का स्थान दलबहुल (कारण सामग्री की अधिकता-युक्त) होता है।

जो वैसा कपिकुलविलुप्यमानपलाशप्रसर है। अर्थात्-जिसके पलाशों (पत्तों) का विस्तार या समूह कपिकुलों (वानर-समूहों) से तोड़ा जा रहा है, जैसे रामायण का प्रवेश कपिकुलविलुप्यमान पलाशप्रसर होता है। अर्थात्—जिसमें कपिकुलों (सुग्रीव-आदि वानरवंशजों) से पलाशप्रसार (राक्षस-व्यापार) मारने-योग्य होता है। जो वैसा द्विजराजों (मुख्य पक्षियों) से सुशोभित है जैसे दानशाला द्विजराजों (मुख्य ब्राह्मणों) से सुशोभित होती है। जो वैसा समस्त दिशा-समूह को नीलवर्ण-युक्त करनेवाला है जैसे वर्षाकाल समस्त दिशा-समूह को श्यामवर्णशाली करता है। जो वैसा पादप्रबन्धों (जड़-समूहों) द्वारा पातालभूमि को व्याप्त करनेवाला है जैसे छन्दप्रस्तार पादप्रबन्धों (अक्षरसंघात-समूहों) द्वारा पृथिवी को व्याप्त करता है। जो वैसा सुच्छायपत्र (शोभनकान्तियुक्त पत्तोंवाला) है जैसे राजाओं की दिग्विजय की यात्रा का अवसर सुच्छायपत्र (तेजस्वी अश्व-आदि वाहनों से युक्त) होता है। जो वैसा सुवृत्तमण्डल (जिसका मण्डल—वर्तुलता अच्छी तरह निष्पन्न) है, जैसे वनलक्ष्मीका मण्डित छत्रविस्तार सुवृत्तमण्डल (निष्पन्न वर्तुलाकार वाला) होता है। जो वैसा संपादितफलपरम्पर (अनार-आदि फलसमूह को उत्पन्न करनेवाला अथवा भेंटरूप से उपस्थित करनेवाला) है जैसे पुण्योदय का दिन सम्पादितफलपरम्पर, (अभिलषित सुखरूपी फल-समूह को उत्पन्न करनेवाला) होता है। दूर से पथिकों के सन्मुख आया हुआ जो ऐसा प्रतीत होता था मानों—शरणागत पथिक-आदि को प्रसन्न करने के कारण से ही दूर से उनके सन्मुख आया है। मानों—अतिथियों के आलिङ्गन के आदर से ही जिसने अपनी शाखारूपी हजारों भुजाएँ (बाहू) फैलाईं हैं। मानों—अपनी सम्पत्ति को दान करने के विनय से ही जिसने संयुक्त पुष्प-कलियों की नमस्कार-अञ्जलि बाँधी है। जिसका मूलप्रदेश वैसा देवियों के अनेकबार की हुई प्रार्थनाओं एवं पिष्टपञ्चाङ्गुलों (टूटे हुए एरण्ड-वृक्षों ?) से घिरा हुआ है जैसे देवमन्दिर देवियों के नमस्कारों व पिष्टपञ्चाङ्गुलों (चूर्ण के हाथाओं) से घिरे हुए बुध्न (नीचे का भाग) से व्याप्त होता है। जहाँपर शाखाओं पर बँधे हुए झूलाओं से झूलने में यक्ष-समूह के कुमार दक्ष (निपुण) हो रहे हैं, अतः जो अलका नगरी के मन्दिर-सरीखा है। अर्थात्—जैसे अलकानगरी का मन्दिर जहाँपर बँधे हुए झूलाओं के झूलने में यक्ष समूहों के कुमार प्रवीण होते हैं। जो वैसा गो-अधिष्ठित (पृथिवी पर स्थित) व समीपतर वि-नायक (जिसके समीप पक्षियों के नायक—गरुड़-आदि) हैं जैसे रुद्र गो-अधिष्ठित (वृषभ-अधिष्ठित) व समीपतर विनायक (जिसके समीप श्री गणेशजी वर्तमान हैं) होता है। जो नारायण-सरीखा वनमाला विभूषण (वन-श्रेणी को अलंकृत करनेवाला) व परिकल्पित भुजगशयन (जिस पर सर्पों द्वारा स्थिति की गई है) है।

अर्थात्—जैसे श्री नारायण वनमाला-विभूषण (जालन्धर दैत्यभार्या-सहित) और परिकल्पित भुजग-

शुचिच्छदपरिच्छदः, स्कन्द इव मयूरासनः सुरवाहिनीसंगमश्च, तापस इव विहितवल्कलपरिग्रहः कृतजटाबन्धश्च, समुद्र इव महासत्त्वसंश्रयः प्रवालपाटलितकटनिश्च, सत्पुरुष इव प्रियालोकनः परार्थघटनानिघ्नश्च,

यस्यानवरतमखिलजनोपसेव्यमानसर्वस्वः पवनवशविकासाधरेण पल्लवाधरेणोपहसतीव प्रतिवेशितरूनस्मिन्दुः- संचारे कान्तारे दैवाद्वाप्यमानसमागमनस्यार्थिजनस्याविधाय कमप्युपकारमरे खदिर, किं तवान्तःसारतया। सरल, वृथैवं सरलत्वम्। संपाक, मुधेयं राजवृक्षता। शाल्मले, निष्कारणं कण्टकितं वपुः। अर्जुन, आत्मखेदाय फलभारपरि- ग्रहः। तृणराज, निजफलविभवगोपनाय नितान्तं वृद्धिः। पूतीक, अर्थिजनाशाभङ्गाय मार्गावस्थितिः,
किं च।

पान्थैः पल्लवलुण्टनं करटिभिः स्कन्धस्य संघट्टनं संबाधो हरिभिः शकुन्तनिकरैः क्षोदस्तु किं वर्ण्यते।
किं चान्यत्तव देवदेहसदृशस्त्रैलोक्यमान्यस्थितेरात्मीया इव यस्य याचकजनैः स्वच्छन्दसेव्याः श्रियः ॥१०॥

शयन (नागशय्या पर शयन करनेवाले) होते हैं। जो वैसा वयःपरिणत (पक्षियों से चारों ओर नम्रीभूत) और शुचि-च्छद-परिच्छद (पवित्र पत्तों से वेष्टित या आच्छादित) है जैसे श्री ब्रह्मा वयःपरिणत (वृद्ध) व शुचिच्छद-परिच्छद (हंस-वाहनवाला) होता है। जो वैसा मयूर-आसन (जिसपर मोरों की श्रेणी वर्तमान है) व सुरवाहिनीसंगम (देव-सेना के संगमवाला) है जैसे कार्तिकेय मयूरासन (मयूर-वाहन वाला) व सुरवाहिनीसंगम (गङ्गा नदी का संगम करनेवाला) होता है। जो वैसा विहितवल्कलपरिग्रह (वृक्ष की छाल को धारण करनेवाला) व कृतजटाबुबन्ध (शाखाओं का बन्धन करनेवाला) है जैसे तपस्वी विहितवल्कलपरिग्रह (वृक्ष की छाल का धारक) और कृतजटाबुबन्ध (मोरपंखों की पीछी का धारक) होता है। जो वैसा महा-सत्वसंश्रय (विशेष बल का आश्रय) व प्रवालपाटलितकटनि (जिसने तट को छोटी छोटी कोंपलों से पाटलित किया है) है जैसे समुद्र महासत्वसंश्रय (मकर-आदि जलजन्तुओं का आश्रय) व प्रवालपाटलितकटनि (जिसने तट को मूँगारत्नों से पाटलित-रक्तवर्णशाली-किया है) होता है। एवं जो वैसा प्रियालोकन (प्रिय दर्शनवाला) व परार्थघटनानिघ्न (दूसरे लोगों व पक्षियों के प्रयोजन की घटना में तत्पर) है जैसे सत्पुरुष प्रिया-अलोकन (परस्त्रियों को न देखनेवाला) व परार्थघटनानिघ्न (परोपकार करने में तत्पर) होता है।

जो वृक्ष, जिसकी पुष्प व फलादि सर्व विभूति समस्त प्राणियों द्वारा निरन्तर जीविका-योग्य की जा रही है। जो वायु से विकसित हुए पल्लव रूपी ओठों से निकटवर्ती वृक्षों का निम्नप्रकार उपहास हो कर रहा है।

'अरे! कत्थे के वृक्ष! याचक मानव का, जिसका समागमन इस दुःख से भी संचार करने के लिए अशक्य वन में दैवयोग से प्राप्त किया जारहा है, जब तूने कुछ भी उपकार नहीं किया तब तेरी अन्तःसारता से क्या लाभ है? हे देवदारु! जब तू कुछ भी उपकार नहीं करता तो तेरी सरलता वृथा है। हे संपाक (वृक्ष-विशेष)! अनुपकारी तेरी यह राजवृक्षता निरर्थक है। हे सेमर वृक्ष! अनुपकारी तेरा यह शरीर निष्कारण काँटों से व्याप्त है। हे अर्जुन! अनुपकारी तेरा यह फलों का बोझारूपी परिग्रह स्वयं के खेद के लिए हैं; क्योंकि तेरे फल अखाद्य हैं। हे ताड़ वृक्ष! अनुपकारी तेरी अतिशय ऊँचाई अपनी फलसंपत्ति की रक्षा के लिए है। अरे करञ्जवृक्ष! उपकार न करते हुए तेरी मार्ग पर स्थिति याचकों की आशा को भङ्ग करने वाली है।

पान्थों (बटोहियों) से पल्लवों का चुम्बन किया जाता है व हाथी तेरा तना रगड़ते हैं और बन्दर तुझे पीड़ित करते हैं एवं पक्षी-समूह से तेरे खोदने के विषय में क्या कहा जावे? विशेष यह है कि देवता-

समहो महाराज, विटपिनमधिवसति, तैस्तैः स्वैरविहारचरितैरनेकरत्नरचिता इव गिरिदरीर्विरचयति, विचित्रोद्गमस्तम्ब-गुच्छाडम्बरा इव शाखिशिखाः कुर्वाणे, पुरन्दरचापचापलाविला इव दिशो दर्शयति, चारुचित्रोल्लेखा इव मेदिनीर्दधाने, विविधमणिमेचकिता इव सरसीः सज्जयति, वनदेवताचामरचतुरा इव लतागृहावनीर्विनिर्माणे, केशपाशपेशला इवोपवन-श्रियः संपादयति, शबरशिबिरशिखण्डमण्डनोचितकलापे, पुलिन्दसुन्दरीवतंसोचितचन्द्रके, वनेचरवनिताहितबर्हवलयविनोदे, नरेश्वरश्रीलाञ्छनपिच्छवृद्धिनि, महामुनिसंयमोपधिनिबन्धनाङ्गरुहसंकुले, प्रचलाकिनां कुलेऽहमवाप्तजन्मा । कदा-चिल्लघुसरस्तीरनिःश्वासावसानानिलप्रेरिततनुतरङ्गम्, अतिजरठशिखण्डमण्डलोत्गतिस्खलितकलुषप्रसरम्, किमपि खेदसमप्रसरत्तरुणतरशिखिनिकरनिरुध्यमानमार्गोदयः, वेशन्तोपान्तालोमभावायासंजातकलापोच्चयोऽप्यागामिसम्पं-त्तिवशात्प्रवृत्तप्रतीचीनचरणप्रचारः, सच्चरित्रविरक्तस्य दुराचारविचक्षणस्य पक्कणपतेः मतङ्गजकस्यात्मजेन गजशल्यक-

---

समान शरीरवाले व तीनलोक के प्राणियों द्वारा माननीय आचारवान् तेरी फलादि सम्पत्तियाँ याचक जनों से अपनी-सरीखी समझकर यथेष्ट भोगने-योग्य होती हैं[1] ॥ १० ॥

हे मारिदत्त महाराज ! मैंने कैसे मयूर-कुल में जन्म-धारण किया ? जो (मयूर-कुल), उस वृक्ष पर निवास कर रहा था । जो उन उन प्रसिद्ध इच्छानुसार की हुई पर्यटन की चेष्टाओं से पर्वत की गुफाओं को अनेक रत्नों से रची हुई-सरीखी रच रहा था । जो वृक्षों की शिखरों को विचित्र उत्पन्न हुए गुच्छों के समूह की रचना-वाला कर रहा था । जो दिशाओं को इन्द्रधनुष की चञ्चलता से व्याप्त हुई सरीखी दिखा रहा था । जो, पृथिवियों को मनोज्ञ चित्रों से सहित हुई-सी धारण कर रहा था । जो महासरोवरों को नाना माणिक्यों से रंगबिरंगे-से कर रहा था । जो लतामण्डप की भूमियों को वनदेवताओं के चमरों से शोभित हुई-सरीखी रच रहा था । जो उपवन की लक्ष्मियों को केशपाशों से मनोज्ञ-सी उत्पन्न कर रहा था । जिसका पिच्छ-समूह भील-समूह के मस्तकों के भूषण-योग्य है । जिसके पिच्छों के अग्रभाग भीलों की सुन्दरियों द्वारा मुकुट किये गए हैं अथवा कर्णपूर किये गये हैं । जिसकी पिच्छरूपी कङ्कण-क्रीड़ा भीलों की स्त्रियों के लिए गुणकारिणी है । जो राजलक्ष्मी के योग्य चिन्ह रूपी पिच्छों से वृद्धि प्राप्त कर रहा था एवं जो महामुनियों के चारित्रोपकरण (पीछी) के कारणीभूत पिच्छों से व्याप्त है । इसके बाद हे मारिदत्त महाराज ! किसी अवसर पर मुझे सदाचार के पालन में आलसी व पापाचार में आसक्त 'मतङ्गजक' नाम के भीलों के गृहस्वामी के पुत्र 'गजशल्यक' नाम वाले ने देखा । कैसे मुझ को ? गजशल्यक ने देखा ?

जिसने लघु सरोवर के तट से ऐसा जल पिया था, जिसकी छोटी-छोटी तरङ्ग-श्रेणियाँ अपनी निःश्वास सम्बन्धी अवसान वायु से प्रेरित की गई हैं एवं जिसकी कलुषता की व्याप्ति विशेष वृद्धिगत मोर की चोटी-श्रेणी के हिलाने से वृद्धिगत हुई है, फिर नहीं उत्पन्न हुए पिच्छकलाप-समूह वाला होने पर भी भविष्य में प्रकट होनेवाली पिच्छ-कलाप-समूह की संपत्ति के कारण जिसका चरण-प्रचार (पैरों की प्रवृत्ति) भय से विपरीत (पीछे गमन-युक्त) हुआ था । जिसके मार्ग का अग्रभाग कुछ अनिर्वचनीय विशेष खेदपूर्वक आगे जाने-वाले प्रौढ यौवनवाली मोर-समूहों से रोका जा रहा है ।

हे मारिदत्त महाराज ! कैसे 'गजशल्यक' ने मुझे देखा ? जो कि उसी लघु सरोवर के समीप पक्षियों व वायु-सरीखे तेज दौड़नेवाले मृगों को मारने के लिए आया हुआ था । जो नेत्रों की किरणों से, जिनकी कान्ति मदोन्मत्त हाथी के रुधिर से अव्यक्त लालिमावाले सिंह-कण्ठ के केशों-सरीखी थी, दिशाओं में बन्धन श्रेणियों[2] का विस्तार (फैलाव) करता हुआ-सरीखा शोभायमान हो रहा था । जो, मोरों के नेत्रान्त-सरीखे शुभ्र व विस्तृत

---

१. समासोक्त्युपमालंकारः । २. उक्तं च—'वीतं शस्त्रोपकरणं बन्धने मृगपक्षिणाम् ।'
सं० टी० पृ० १९७ से संकलित—सम्पादक

मान्ना तत्रैव शकुन्तवातप्रमोसमुत्सुपहत्तुमागतेन, सिन्दुरकसिराजणहरिकण्ठकेशकान्तिभिर्दृष्टिवीथितिभिर्वीतंसजालानीव दिक्षु प्रतन्वता, मयूरापाङ्गपाण्डुरैर्दशनदीप्तिप्रसरैराशामुखेषु मृगबन्धानिव प्रसारयता, भाविभवान्धकारपल्लवैरिव लता-प्रतानवर्लैस्तिरोहितलनुना, शनिनेव मषीमाषाङ्गारकालकायेन, पलिशदेशाश्रयिणा तेनान्तकेनेवावलोकितः। पक्षाणाम-द्यापि पक्षतिप्रदेश एवासादितोदयत्वादतिदीनरयत्वाच्च रोदस्योरन्यतरस्मिन्नपि विषये विहर्तुमसमर्थः, परिगृह्य पञ्जरे कृतकारागारक्रियः, प्रकटप्रचलाकप्रचयश्च, तज्जनकेन पौराङ्गनापाङ्गपताकितशालायां विशालायां पुरि यशोमतिमहा-राजायोपायनीकृतः, समवलोक्य च तां संसारसारावनीं तन्निसर्गादिव सुन्दरं मन्दिरं च दैवादाविर्भूतभवसंभावनः,

सैवेयं नगरी, तदेव भवनं, ता एव केलीधराः, सैवेषा वनभूः, स एव सरसीसारे विलासाचलः।

सैवासौ वनिता, स एव तनयस्ते चैव मे बान्धवाः किन्त्वेकमेक एव हि त्वहं जातोऽहमन्याकृतिः ॥११॥

इति क्षणमुपजाताम्बर्वाष्पोदन्तः, पुनरन्तःपुरकुशोदरीणां निवासतरुस्कन्धावरोहावकाशैरिवोत्सङ्गदेशैर्गिरिशिखरैरिव पयो-धरैः प्रमदवनवल्लरीगहनैरिव बाहूपगूहनैः सरोजसरःप्रार्णैरिव मुखाघ्राणैः शयनकुञ्जकैलिचूलैरिव कुन्तलजालैर्विनोद्यमानः, पुत्र इव प्रियोपचारेषु सहचर इव विहारकर्मसु वीर्योत्सवादी गृहमिव पर्यप्रासाद इव मण्डनविधिषु शिष्य इव नर्तनक्रियासु

दन्तकान्ति से दिशाओं के अग्रभागों पर मृग-बन्धनों का आरोपण करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। जिसका शरीर, लताश्रेणी के पत्रों से, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—भविष्य जन्म-सम्बन्धी अज्ञानान्धकार के समूह ही हैं, आच्छादित था। जिसका शरीर कज्जल, उड़द के कण व कोयला-सरीखा काला था एवं जो पलिश[1] देश (जहाँ पर स्थित होकर हिरण मारे जाते हैं) का आश्रय करनेवाला था, अतः मानों—यमराज ही है। फिर मुझे (मोर पर्याय के धारक यशोधर को), जिसके पिच्छ अभी भी पिच्छों के मूल-प्रदेश में ही उदित हुए थे एवं जिसका वेग अति दीन था, इसीलिए आकाश व पृथिवी में से किसी भी स्थान पर पर्यटन करने के लिए असमर्थ था। उस गजशल्यक ने पकड़कर पिञ्जरे में बन्दीकृत किया। अर्थात्—जेलखाने में प्रविष्ट किया। इसके बाद उत्पन्न हुए पिच्छसमूह से अलंकृत हुए मुझ को उक्त 'गजशल्यक' के पिता 'मतङ्गज' ने उज्जयिनी नगरी में, जिसके गृह-नगर की कामिनियों के कटाक्ष प्रान्तों द्वारा ध्वजाओं से संयुक्त किये गए हैं, यशोमति महाराज के लिए भेंट कर दिया। सांसारिक सार वस्तुओं की भूमि उस उज्जयिनी को और स्वभावतः मनोज्ञ राजमहल को देखकर मुझे भाग्योदय से जाति स्मरण प्रकट हुआ। फिर मुझे निम्नप्रकार जातिस्मरण के साथ क्षण भर में नेत्रों के मध्य आँसुओं के पतन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

वही यह उज्जयिनी नगरी है। वही यह 'त्रिभुवन तिलक' नाम का राजमहल है। वे ही क्रीड़ा भूमियाँ हैं। वही यह वनभूमि है। वही सरोवर के समीपवर्ती क्रीडापर्वत है। वही यह अमृतमति महादेवी पत्नी है और वही यह यशोमति नाम का पुत्र है एवं वे ही मेरे कुटुम्ब वर्ग हैं, परन्तु आश्चर्य है कि केवल अकेला मैं ही (यशोधर ही) अन्यादृश (विलक्षण—मोर की पर्यायधारक) हो गया हूँ[2] ॥११॥

फिर मैं अन्तःपुर की स्त्रियों व मत्त कामिनियों के उत्सङ्ग देशों (गोदियों) से, जो कि निवास वृक्ष के तना से उतरने के स्थानों की तरह थे, क्रीड़ा किया जा रहा था और उनके पर्वत-शिखर सरीखे कुचकलशों से क्रीड़ा किया जा रहा था। उनकी भुजाओं के आलिङ्गनों से, जो कि उनकी क्रीड़ा-योग्य उपवन-सम्बन्धी

१. 'यत्र स्थित्वा मृगा हन्यन्ते स प्रदेशः पलिश उच्यते'

सं० टी० पृ० १८० से संकलित—सम्पादक

२. समुच्चयोपमालंकारः।

पण्यस्थानमिवापरास्वपि क्रीडासु वरारोहाणां च स्वयं नखनिस्तुषितमण्डलैः कलमतन्डुलैः प्रतिनिकायमुपचार्यमाणः, क्षितिपतिना च तेन जेमनावसरेषु स्वहस्तवर्तितकायैः प्रथमकवलैः संभाव्यमानः, तत्र लक्ष्मीविलासाकुले राजकुले सभा-स्तार इव प्रगल्भप्रचारः सुखेनाहमासांचक्रे ।

इतश्चास्ति खलु विन्ध्याद्दक्षिणस्यां दिशि त्रिदशदेशाश्रयश्रीनिकटः करहाटो नाम जनपदः । यत्र

सस्यसंपत्तिसंक्षिप्तसीमाभुवः, प्रचुरपथिकस्त्रियापणितपथिवस्तवः ।
सत्प्रवापीप्रपारामरम्योद्गमाः, पद्मिनीखण्डताण्डविततोयाशयाः ॥१२॥
श्रीविलासोत्सवस्खलितसुरसमितयः, फुल्लफलपल्लवोल्लासिवनवृत्तयः ।
पिकवधूकलमनोहारिसर्वर्तवः, सकलसंसारसुखसेवितागन्तवः ॥१३॥
समरभरभागिभटभावदावोत्कटाः, खेलदुन्मदवृषोत्खाततटिनीतटाः ।
त्यागभोगप्रभावाद्भुतख्यातयः, शुद्धवर्णाश्रमाचरितविगतेतयः ॥१४॥

लतावन-सरीखे थे तथा कमलों से अलंकृत हुए सरोवर के जीवन-सरीखे मुख-चुम्बनों से एवं शय्यावृक्ष के क्रीडापिच्छों (मोरपंखों) सरीखे केश पाशों से क्रीड़ा किया जा रहा था। मैं मत्त कामिनियों के स्वयं दिये हुए धान्य-तण्डुलों से, जिनका समूह नखों द्वारा भूसी-रहित किया गया है, प्रत्येक गृह में वैसा प्रतिपालन किया जा रहा था, जैसे हित करने के विषय में पुत्र प्रतिपालन किया जाता है, जैसे पर्यटन क्रियाओं में मित्र सेवन किया जाता है, जैसे दीपोत्सव-आदि में गृह सेवन किया जाता है (सजाया जाता है), जैसे भूषाविधानों से अमावस्या-आदि पर्वों के समय राजमहल सेवा किया जाता है (सुसज्जित किया जाता है) और जैसे नृत्य-शिक्षाओं से शिष्य सेवन किया जाता है—कला-प्रवीण किया जाता है एवं जैसे दूसरी रमण क्रियाओं से प्रेमपात्र सेवन किया जाता है। यशोमति राजा द्वारा भोजनावसरों में अपने करकमलों से रचे हुए प्रथम ग्रासों से सन्तुष्ट किया हुआ मैं उस लक्ष्मी के भोग से परिपूर्ण राजमहल में सभ्य-सरीखा प्रौढ़ प्रवेशवाला होकर सुखपूर्वक स्थित हुआ।

हे मारिदत्त महाराज ! एक पार्श्वभाग में निश्चय से 'विन्ध्याचल' नामके पर्वत से दक्षिण दिशा में स्वर्ग लक्ष्मी के समीपवर्ती 'करहाट' नाम का देश है। जिसमें ऐसे ग्राम-विन्यास (समूह) हैं। जिनमें धान्य-सम्पत्तियों से व्याप्त हुई सीमाभूमियाँ (खेत) वर्तमान हैं। जिनमें बहुत सी पथिक-कामिनियों द्वारा मार्ग में वस्तुएँ खरीदी गई हैं। जिनकी उत्पत्तियाँ या उन्नतियाँ उपवनों, बावड़ियों, प्याऊओं एवं बगीचों से मनोहर हैं एवं जिनमें कमलिनी-वनों से तड़ाग नचाए गए हैं ॥ १२ ॥ जिन्होंने लक्ष्मीभोग-महोत्सवों से देव-समूह तिरस्कृत किये हैं। जहाँपर उद्यान-वृत्तियाँ, फैले हुए फलों व पल्लवों से शोभायमान हैं। जहाँपर समस्त ऋतुएँ (हिम व शिशिर-आदि) कोकिलाओं के मञ्जुल गानों से मन को हरण करनेवाली हैं एवं जहाँपर पथिकलोग समस्त सांसारिक सुखों से सेवा किये गए हैं ॥१३॥ जो संग्राम-भार को सेवन करनेवाले योद्धाओं के अभिप्राय से उत्पन्न हुए युद्ध से उत्कट हैं। जहाँपर नदियों के तट क्रीड़ा करनेवाले व हर्षित हुए बैलों द्वारा गिराए गए हैं। जिनकी प्रसिद्धि लक्ष्मियों के दान व उपभोग के माहात्म्य से आश्चर्य कारिणी है। एवं जहाँपर शुद्ध (संकरता-रहित) वर्णों (ब्राह्मणादि) व आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) के आचरणों से ईतियाँ (अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि उपद्रव) नष्ट हुई हैं ॥ १४ ॥ जिनमें सरल शरणागतों की रक्षा करने में कुलपरम्परा से चली आई कीर्ति पाई जाती है। जहाँपर धर्म, अर्थ व काम इन तीनों पुरुषार्थों के अनुष्ठान में समाननीति रखनेवाले मानव पाये जाते हैं। अर्थात्—जहाँपर लोग धर्म नष्ट करके धनोपार्जन नहीं करते एवं धन को अन्याय पूर्वक नष्ट करके

प्रवणशरणागतोद्धरणकुलकीर्तयः, सन्ति धर्मार्थकामेषु समनीतयः।
सुकृतफलभूमयो ग्रामविनिवेशिकाः, काम्तितावाप्तिविजितामरोद्देशकाः ॥१५॥

अपि च यत्र

सोत्सेधसौधशिखराश्रयशातकुम्भकुम्भप्रभाभिरभितः नभः प्रविभाव्य भूयः।
संध्यागमाविव दिवापि रहन्ति कान्ताः कोकाः सरःसु कृतकूजितकण्ठपीठाः ॥१६॥

तत्र भवत इव सकलगोमण्डलाधिपतेर्गोधनाभिधानवसतेरस्ति खलु गोकुलविशालं श्रीशालं नाम धनधान्यधामारामनेदिष्ठं गोष्ठम्। यत्क्वचिदुन्मुक्तगलमण्डलबालाकुलितबस्तबर्करकम्, क्वचिद्गोपालपोतपरिप्लवोपद्रूयमानवृद्धवृष्णिकम्, क्वचिद्वत्सेक्षणक्षरत्स्तनधेनुदुग्धधाराक्षाल्यमानधरापीठम्, क्वचित्कालशेयकलशराशिवितरणप्रीणितातिथिपीठम्, क्वचिद्वनविनिवृत्तनिचिकीनिटिलनिकटनिक्षिप्यमाणदधिदर्भदूर्वाक्षतप्रसवम्, क्वचिद्दलितदामबालेरकार्भकभ्रान्तिशङ्कितशकृत्करिखुरक्षुद्यमानाधनिवेशपल्लवम्, क्वचित्तरुणतराभीरोद्घूर्णघनदुघणघोरघातघूर्ण्यमानरणरभसक्षोभसंक्षुभितरक्ताक्षकक्षम्, क्वचिदुन्मादनायहरिसूययुद्धबाध्यमानप्रष्ठौहीपक्षम्, क्वचिद्बष्कयणीक्षीरप्रक्षाल्यमाणगृहगृहावग्रहणीगृहदेवताकुलम्, क्वचिद्गोमिथुनपरिणयोत्फुल्लपल्लवस्ववासिनीजनोच्चार्यमाणमङ्गलम्, क्वचिद्विमन्थमन्थानध्वनिविनर्त्यमानभवनबर्हिणम्, क्वचिन्मा-

भोग नहीं भोगते एवं भोग नष्ट करके धर्म व धन का संचय नहीं करते। एवं जो पुण्य के फलों (सुखों) के स्थान हैं तथा जिन्होंने अभिलषित फलों की प्राप्ति से स्वर्गलोक जीते हैं[1] ॥ १५ ॥

जिस करहाट देश में—मञ्जुल शब्द करनेवाले कण्ठपीठों से व्याप्त हुए चकवा विपुल आकाश को ऊँचे महलों की शिखरों पर आश्रय करनेवाले सुवर्ण की शोभायमान कान्ति से सर्वत्र व्याप्त हुआ देखकर शब्दायमान कण्ठोंवाली चकवियों को, दिन में भी तालाबों पर वैसे छोड़ देते हैं, जैसे संध्या के आगमन काल में छोड़ देते हैं[2] ॥ १६ ॥

हे मारिदत्त महाराज! उस करहाट देश में 'गोधन' नामके गोविन्द का, जो कि वैसा समस्त गोमण्डल (गायों के समूह) का स्वामी है जैसे आप समस्त गोमण्डल (पृथिवी मण्डल) के स्वामी हैं, गायों के समूह से बहुल, धन एवं धान्यों का स्थान तथा बगीचों के निकटवर्ती 'श्रीशाल' नामका गोकुल (गोशाला) है। जो (गोकुल), किसी स्थान पर बन्धन-रहित (छूटे हुए) कुत्तों के बच्चों से जहाँ पर बकरियों के बच्चे व्याकुलित किये गये हैं। जो कहींपर ग्वाल-बालकों की मैथुन क्रिया से जहाँपर वृद्ध मेढे दुःखित किये जारहे हैं। किसी स्थान पर बछड़े के देखने से थनों से झर रहे गो-दुग्ध की धाराओं से पृथ्वीतल प्रक्षालित किया जारहा है। कहींपर मट्ठा के घड़ों की राशि-वितरण करने से जहाँपर अतिथि-समूह सन्तुष्ट किया जारहा है। कहीं पर वन से लौटी हुई उत्तम गायों के ललाट-परिभागों पर दही, कुश, दूर्वा व अक्षत पुष्प स्थापित किये जा रहे हैं। कहींपर टूटे हुए बन्धनवाले (छूटे हुए) ऊँट-बालकों के पर्यटन से भयभीत हुए बछड़ों के खुरों से जहाँ पर घास चरने की नांदों के पत्ते, कुचले या रौंदे जारहे हैं। कहींपर प्रौढ़ यौवनवाले अहीरों से घुमाये हुए प्रचुर मुद्गरों के निष्ठुर प्रहारों द्वारा जहाँपर युद्ध-वेग के संचलन से क्रुद्ध हुआ भैंसाओं का झुण्ड मूच्छित हो रहा है। कहीं पर विशेष बलिष्ठ अथवा उन्मत्त साड़ों के झुण्ड की लड़ाई से जहाँपर बालगर्भिणी गायों का झुण्ड भूमि पर लोट-पोट किया जा रहा है। कहीं पर प्रौढ़ बछड़ों वाली गायों के दूध से गृह-देहली के गृह देवताओं का समूह पूजा जारहा है। कहींपर गाय-बैल के विवाह के अवसर पर विकसित पुष्प-पल्लवों से युक्त हुई सुहा-

१. संकरालंकारः। २. हेतूपमालंकारः भ्रान्तिमानलंकारश्च।

हैयंगीनदोहध्वानाहूयमानपयःपानपरपथिकगणम्, क्वचित्संदानवाम्निनीच्युतचपलतरतर्णकशोवर्दविलयानकवीयमानजरतीरक्षा-विधानम्, सुरसुरभिनिधानमिवंबमपराभिरपि गणसिपिभिर्गृष्टिभिः पुगतिपिभिः परेष्टुकाभिः सकृत्प्रसूतिभिः समांसमीनाभिः बहुतिथिभिः सुव्रताभिः संख्यातीताभिः पांल्वनीरभिः विगतवेहद्वसावतोकासंधिनीभृष्टिभिरश्वाभिर्वाजिवेसरवालेयकारेयजाति-भिश्च प्रभूतम्, दधिदुग्धघृतोदधीनामिव समवायभूतम्। तत्र तस्य विक्रमालसरालस्य व्रजपालस्य सद्मनि मृगवंशवंशे सा मदीया चन्द्रमतिमाता अवस्थानरूपातिरेकैरतिशयितसकलशालावृकलोकः कौलेयको बभूव जातयुवभावश्च। योग्यस्वभावः खल्वयं श्वेतपिङ्गलपराक्रमो निसर्गान्मार्गायुकक्रमश्च विश्वकरवसूनीन्द्राणां मृगयाविनोदस्येत्यनुध्याय तेन व्रजपतिना तस्या-मेव मालवीमुखेन्दुमण्डनरजन्यामुज्जयिन्यां यशोमतिमहाराजाय दैवात्सोऽपि प्राभृतमानायि। राजा तं नित्यजागरूकश्रुतम-वलोक्य स्वगतम्—

'निर्मांसास्यः कपिलनयनः स्वल्पतीक्ष्णाग्रकर्णः कुक्षिक्षामः पृथुलजघनः पूर्णवक्षःप्रदेशः।
दुग्धस्निग्धप्रतनुवसनः सारमेयो महीशामाखेटाय प्रजवचरणः किंचिदाभुग्नवालः॥१७॥

मन्ये चानेन शरमाश्रुतेनाकुरङ्गमिव हरिणलाञ्छनम्, अरक्षासमिव महिषवाहनम्, अवंष्ट्रायुधमिवादिवराहचरितम्, अहर्य-क्षामिव सिंहवाहिनीम्, असत्त्वसंचाराश्च वनावनीधरधराः। मृगयामनोरथाश्चाद्य मे फलिष्यन्ति कामितकथाः।'

प्रकाशम्—'मद्विनोदानन्दनमते पशुपते, इत इतः समानीयतामयं पक्षपुरुषः।' पशुपतिः—'यथाज्ञापयति देवः।' राजा प्राप्तमेनं श्वानं सम्यं हस्ताभ्यां परामृश्य प्रलोभ्य तत्प्रियैस्तैस्तैर्वस्तुभिर्निष्ठीव्य च तदानने 'यत्राहं क्वचिदवतिष्ठे तत्रायं वराहवैरी संयमनीयः' इत्युक्त्वा वाम्लाक्षगणिमुख्यायाकाण्डमृत्यवे समर्पयामास।

गिनी स्त्री समूह द्वारा जहाँपर मङ्गल-गान गाया जारहा है। कहीं पर दही के मथने से उत्पन्न हुई मथन-ध्वनि से जहाँपर गृह के मयूर विशेष रूप से नचाए जारहे हैं। कहींपर गायों की दोहन-ध्वनि से दूध पीने में तत्पर हुआ पथिक समूह बुलाया जा रहा है। कहींपर बन्धन की खूँटी से छूटे हुए चञ्चल बछड़े के रोंदने से होनेवाले बच्चे का रक्षा-विधान वृद्ध स्त्रियों के लिए सौंपा जा रहा है।

इसीप्रकार जो (गोकुल-गोशाला) दूसरी भी बहुत सीं एकबार ब्याई हुई गायों से प्रचुर हुआ काम-धेनुओं के स्थान-सरीखा सुशोभित हो रहा था। फिर कौन २ सीं गायों से वह प्रचुर था? जो बहुत सीं प्रचुर-प्रसूतिवाली (अनेकवार ब्याई हुईं) गायों से एवं बहुत सीं समांसमीना[1] (प्रतिवर्ष प्रसव करनेवाली) गायों से प्रचुर था। जो बहुत सीं सुखपूर्वक दुही जानेवाली गायों से व बहुत सीं अल्प दिनों के गर्भवाली गायों से प्रचुर था। जो ऐसी दूषित गायों से रहित था। जिनमें गिरे हुए गर्भवाली, वन्ध्या, सींगों से रहित (मुण्डी) व गर्भिणी होकर बैल द्वारा मैथुन की गई, दूषित गाएँ हैं, इसीप्रकार जो घोड़े, खच्चरगधे, गधे, और मेंढ़ों की जातियों से प्रचुर था एवं जो दधिसागर, क्षीरसागर व घृतसागरों का समुच्चय-सरीखा शोभायमान था।

उक्त गोकुल में उस पूर्वोक्त विशेष पराक्रमी गोधन नाम के गोकुल पति के गृह पर कुत्तों के कुल में वह मेरी चन्द्रमति माता कुत्ता हुई। जो कि वेग, बल व रूप की अधिकता से समस्त गोकुल संबंधी कुत्तों के मध्य अतिशयवान् व युवावस्था प्राप्त करनेवाला हुआ। 'सिंह-सरीखा पराक्रमी यह कुत्ता, जिसके चारों पैर स्वभावतः शिकार करने में कुशल हैं, निश्चय से राजाओं की शिकार क्रीड़ा में योग्य स्वभाव वाला है' ऐसा चिन्तवन करके उस गोधन नामके गोकुल-स्वामी द्वारा उसी उज्जयिनी नगरी में, जो कि मालवा देश की

---

१. 'समांसमीना तु या वा प्रतिवर्षं प्रजायते' इत्यभिधानचिन्तामणिः।
सं. टी. पृ. १८६ से संकलित—सम्पादक

एवं स्वाचरितोपचितप्रयोगाद्विधिनियोगाद्द्वयोरप्यावयोस्तत्र पूर्वभवानुभूतभूमिभ्यासे नृपनिवासे सह संवसतोरेकदा निशान्तनिवासाशयानामन्तःपुरपुरंध्रिकालंकारविकृतकायानां शम्फलीनाममृतमतिमहादेवीवशंवदासु प्रकाशितरतिकेलीनां गमनाभिनिवेशवशरसप्रसनामुक्तमणिकिङ्किणीजालकलकोलाहलेन सजलजलधरध्वनिनेव नूपुररवेण विनोद्यमानमानसः शुभपर्कवर्णाभिधस्य सौधस्याधिरोहणाध्वना सप्तमं तलमध्यारूढोऽस्मि ।

तत्र च क्षणमात्रमिव स्थित्वा प्रतिनिवृत्तासु तासु प्रतीपदर्शिनीष्वहं भूतभवानुभूतभवनभूमिसंभावनाविर्भूतान्तःकरणतया मनाग्विलम्बमानस्ताममृतमतिमहादेवीं तेन कुब्जेन सह विहितमोहनामवलोक्य प्रवृद्धानलपिशोषविधुरधीलोचनः कोपाटोपमुदस्तोटिघटकोल्काजालवर्षं विघ्यग्वलैस्तुण्डतण्डनैः, निबिडावेशवशविशीर्यमाणवर्होविहिताकालकेतूद्गतिभिः पक्षप्रहृतिभिः, कीकसावसानविश्रान्तनखमुखमार्गोद्गलद्रुधिरधाराकाण्डताण्डवितसंध्यारागसंततिभिः कृकाहतिभिश्च तयोराचरितसुरतसुखान्तरायः, संवाधविरिभाव्यानसविवशरीरिकया कयाचित्परिवारदारिकया मुप्रतिष्ठेन कयाचिद्वेत्रलतया कयाचित्तालवृन्तेन कयाचित्प्रकीर्णकयष्टिकया कयाचिदङ्गुलीजालेन कयाचिदनुपर्वाणया, तथापराभिरपि समुत्साहितसौविदल्लसदःशरीराभिरवरोधविलासिनीभिश्च तेन तैर्मोपकरणकलापेनातिनिर्दयहृदयं प्राणप्रयाणपर्यन्तजर्जरितकायः,

---

स्त्रियों के मुखरूपी चन्द्रों को कान्तियुक्त करने में पूर्णिमा की रात्रि है, भाग्य से यशोमति महाराज के लिए भेंट कर दिया गया।

यशोमति महाराज ने उस कुत्ते को देखकर अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—'ऐसा कुत्ता राजाओं की शिकार के लिए होता है। जो दुर्बल मुख वाला व पीत-रक्त नेत्रोंवाला है। जिसके दोनों कान, कुछ तीक्ष्ण प्रान्त भागवाले हैं। जो दुर्बल उदर वाला, विस्तीर्ण कमर के अग्रभाग से युक्त एवं स्थूल हृदयशाली है, जिसके सूक्ष्म दांत दूध जैसे सचिक्कण हैं। जो वेगशाली (तेज) पैरों से युक्त होता हुआ कुछ टेढ़ी पूँछवाला है'[1] ॥ १८ ॥

मैं इस कुत्ते के कारण चन्द्र को मृग-रहित-सा मानता हूँ। अर्थात्—मानों—यह कुत्ता चन्द्र के मृग को मार डालेगा। मानों—इससे महिष-वाहन वाले यम को महिष-रहित सरीखा मानता हूँ। अर्थात्—यह यम-वाहन महिष (भैंसा) को भी नष्ट कर देगा। इसके कारण आदिवराह-चरित्र को वराह-शून्य-सा मानता हूँ। इससे सिंह-वाहन-शालिनी पार्वती को सिंह-रहित मानता हूँ। अर्थात्—यह भवानी-वाहन सिंह का भी वध कर देगा। इससे अटवी, पर्वत व पृथिवी को प्राणियों (मृग, व्याघ्र व वराह-आदि) के प्रवेश से रहित हुई मानता हूँ। अर्थात्—यह, अटवी, पर्वत, व पृथिवी के (मृग-आदि) को मार डालेगा। आज मेरे शिकार के मनोरथ अभिलाषित फल वाले होकर फलेंगे (पूर्ण होंगे)।' 'इसके बाद यशोमति महाराज ने निम्नप्रकार स्पष्ट कहा—'मेरी क्रीड़ा को वृद्धिंगत करनेवाली बुद्धि से अलंकृत हे पशुपति (कुत्तों के रक्षक) इस कुत्ते को इस स्थान से इस स्थान पर लाओ। पशुपति—स्वामी की जैसी आज्ञा है उसके अनुसार करता हूँ। फिर—यशोमति महाराज ने प्राप्त हुए इस कुत्ते को साथ-साथ दोनों करकमलों से छुआ और उसको प्रिय लगनेवाली वस्तुओं (दूध-जलेबी-आदि) का प्रलोभन देकर उसके मुख का चुम्बन किया। 'हे अकाण्ड मृत्यु ! 'जहाँ कहीं-पर मैं ठहरूँ वहाँपर तुम्हें इस कुत्ते को बांधना चाहिए' ऐसा कहकर प्रस्तुत राजा ने उसे कुत्तों के प्रतिपालकों में मुख्य 'अकाण्ड मृत्यु' के लिए दे दिया। इसप्रकार स्वयं उपार्जन किये हुए कर्म से वृद्धिंगत व्यापार वाले कर्म की अधीनता से अब हम दोनों भी (मोर व कुत्ते का जीव, जो कि पूर्व भव में क्रमशः यशोधर व चन्द्रमती था) पूर्वभव (यशोधर व चन्द्रमति की पूर्व पर्याय) में भोगे हुए विस्तृत भूमिवाले त्रिभुवन तिलक नाम

---

१. रूपकजातिसमुच्चयालंकारः ।

केकिनमेनमपापिनममृतमतिमहादेवीद्रोहं मरत बध्नीताहत मारयतेति परिदेवनमुखरमुखीभिः सोपानमार्गेण निर्लोठितः, शुनीसूनुना च तेन ममायमेतन्मयूरमारणे प्रेरणोपक्रम इति मन्यमानेनाधस्तादवसन्नशरीरतया समागतः समवर्तिवशां दशामहमानिन्ये ।

क्षितिपतिना च तेन समीपसंपादितद्यूतेन मुञ्च मुञ्चेमं चित्रपिङ्गलमतीवचरगालं गिरता सारकेलिसपहाया-कर्षेण शीर्षदेशे वृकवत्प्रहारकलः सोऽपि भणितलस्तामेव विवशकरामजाक्ष्यवस्थामवस्थामनुससार ।

राजा गलनिर्गतप्राणयोरावयोरकाण्डकृतामुपसंपन्नतामवेत्य शोकातङ्कसंकुलकायः

प्रासादमण्डनमणौ रमणीविनोदे क्रीडावनीधरशिलातलचित्रलेखे ।

को नाम केलिकरतालविधिं वधूनां नृत्तानुगं त्वयि करिष्यति कीर्तिशेषे ॥१८॥

के राजमहल में साथ-साथ निवास कर रहे थे तब एक समय मैं (यशोधर का जीव जो मोर हुआ हूँ) ऐसी अन्तःपुर में निवास करनेवाली दासियों के नूपुरों की मञ्जुल ध्वनि से, जिसमें गमनाभिप्राय की अधीनता से शब्द करते हुए कमर की करधोनी में बँधे हुए मणिकिङ्किणी-समूह की मधुर ध्वनि पाई जाती है एवं जिसकी ध्वनि जलसे भरे हुए मेघों की ध्वनि-सरीखी है, आनन्दित किये जा रहे मनवाला होकर सुभगकन्दर्प' नामक राजमहल की सीढ़ियों से सातवें तल्ले पर चढ़ गया। वे दासियां ? जिनका शरीर अन्तःपुर की कुटुम्बिनी स्त्रियों के अलंकारों से विकृत होरहा है एवं जिन्होंने अमृतमति महादेवी से मिलने के लिए अपनी गमनक्रीड़ा शीघ्र प्रकट की है।

फिर—भूतकाल संबंधी यशोधर पर्यायान्तर में भोगे हुए राजमहल की भूमि के स्मरण से प्रकट हुई चित्तवृत्ति के कारण मैं (यशोधर का जीव मोर) उस 'सुभग कन्दर्प' नामक महल के सातवें तल्ले पर कुछ विलम्ब करता हुआ उस महल में अल्पकाल पर्यन्त स्थित हुआ और जब वे (अमृतमति महादेवी के दर्शनार्थ आई' हुई स्त्रियाँ) वापिस चली गईं तब उस अमृतमति महादेवी को उस कुबड़े के साथ मैथुन क्रीड़ा करनेवाली देखकर मेरे बुद्धिरूपी नेत्र बढ़े हुए अमर्यादीभूत क्रोध से विकल (अन्ध) हुए। फिर मैंने निम्न प्रकार उपायों से उस कुबड़े व अमृतमति महादेवी के संभोग-सुख में विघ्न उपस्थित किया। ऐसी चोंचों के प्रहारों से, जिनमें विस्तृत क्रोध से टूटती हुई चोंच के टुकड़ेरूपी उल्काजाल (बिजली-समूह) की वृष्टि से टुकड़े पाये जाते हैं और बाएँ व दाहिने पंखों के प्रहारों से, जिन्होंने गाढ़ क्रोध से नष्ट होते हुए पिच्छों द्वारा अकस्मात् केतुग्रह का उदय उत्पन्न किया है, एवं सिर के गले के प्रहारों से, जिन्होंने हड्डियों के अखीर में लगे हुए नख व मुख के मार्गों से ऊपर उछलती हुई रुधिर की छटाओं से असमय में संध्याकालीन लालिमा की श्रेणियाँ विस्तारित की हैं। फिर ऐसा करने से मुझे किसी कुटुम्बदासी ने जिसका शरीर, युद्धरूपी ब्रह्मा की मानसिक एकाग्रता के समीप है, ताम्बूलादि के पात्र के संपुटक से अत्यन्त निर्दयपन पूर्वक प्राण निकलने पर्यन्त जर्जरित शरीरवाला किया। किसी कुटुम्बदासी ने बेंतलता से, किसी दूसरी कुटुम्ब दासी ने पंखे से किसी दासी ने विस्तृत लाठी से तथा किसी ने सुपारी-वगैरह फल-समूह से एवं किसी ने जूते से मुझे जर्जरित शरीरवाला किया। इसीतरह दूसरी अन्तःपुर की स्त्रियों ने भी, जिन्होंने कञ्चुकी-समूह के शरीर अच्छी तरह उत्साहित किये हैं, एवं 'अमृतमति महादेवी के साथ द्रोह करनेवाले इस मयूर को तुम लोग पकड़ो, बाँधो, ताड़ित करो व जान से मारो' इसप्रकार रोने व विलाप करने में जिनके मुख वाचाल हैं, उन प्रसिद्ध उपकरण-समूह (कपूर का पिटारा व हँसिया आदि साधन) से मुझे अत्यन्त निर्दय हृदय पूर्वक प्राण निकलने पर्यन्त जर्जरित शरीरवाला किया। उक्त स्त्रियों से सीढ़ियों के मार्ग से भेजे हुए मुझे (मोर को), जो कि आखिरी शरीर के

सिंहः सुखं निवसताचलोपकण्ठे सोत्कण्ठमेणनिचयश्चरतात् स्थलीषु ।
सत्त्वाः परेऽपि विपिने विलसन्त्वशङ्कं नाकं गतोऽयमधुना ननु विश्वकद्रुः ॥१९॥

इति संशोच्य 'हंहो स्वपरजनपरीक्षणमायाकार मायाकार, क्रियन्तामनयोर्भूदेवसंदोहसाक्षिणीः पितृलोकसब्रह्मचारिणीः पावकप्रदानवैहायिकान्वाहार्यपुरःसरसमयाः क्रियाः । प्रवर्त्यन्तामनयोर्नाम्ना जननीजनकयोरिव सर्वत्र सत्त्रसभामण्डपाधिपाः प्रपाः' इत्यन्वतिष्ठत् ।

समस्तसत्त्वसदयहृदय, पुण्यधामोदय, पुनरस्ति खलु खेचरीसंगीतकमुखरचूलिकाचक्रवालात्सुवेलशैलादपरदिग्देवताविनोदायतनं शिखण्डिताण्डवमण्डनं नाम वनम् । यदेवं वेदिनो वर्णनविषयतां नयन्ति ।

तथाहि—दुर्जनहृदयमिव दुष्प्रवेशम्, प्रलयकालमिव भयानकम्, गणितागममिव गहनावसानम्, अध्यात्ममिवा-

कारण कुत्ते के समीप आया था, उस कुत्ते ने (जो कि पूर्वभव में चन्द्रमति का जीव था), जो इस प्रकार मान रहा था कि इस मोर के घात करने में मेरा यह प्रेरणा का उपक्रम (जानकर आरम्भ करना) है, यमराज की अधीन अवस्था में ला दिया (मार डाला)। फिर वह कुत्ता भी निकटतर जुआ खेलनेवाले व 'इस मोर को छोड़ो-छोड़ो' इस प्रकार से विशेषरूप से वेग-वाले गले के शब्द पूर्वक चिल्लाते हुए राजा द्वारा शतरंज-क्रीड़ा छोड़कर फलक से जिसको मस्तक पर प्रहार की निष्ठुर अवस्था दी गयी है, मरणावस्था को प्राप्त करता हुआ। अथानन्तर यशोमति महाराज ने गले से निकले हुए प्राणवाले इन दोनों मोर व कुत्ते की विना इच्छा से उत्पन्न हुई मृत्यु जान कर शोकरूपी रोग से व्याप्त हुए शरीरवाला होकर निम्नप्रकार शोक प्रकट किया—हे मयूर ! जब तुम, जो कि राजमहल को अलंकृत करने में चिन्तारत्न सरीखे हो व रमणियों का मनोरञ्जन करनेवाले हो एवं जिससे क्रीड़ा भूमि पर स्थित पर्वत की शिलातल पर चित्ररचना होती है, मर चुके तब स्त्रियों की क्रीड़ा से उत्पन्न हुए हस्तताड़न-विधान को, जो कि नृत्य का अनुसरण करनेवाला है, कौन करेगा ?[1] ॥ १८ ॥ यह शिकारी कुत्ता निस्सन्देह स्वर्ग चला गया, अतः अब सिंह पर्वत के समीप सुखपूर्वक निवास करे एवं मृग-समूह उत्कण्ठापूर्वक वनस्थलियों में यथेष्ट विहार करे तथा दूसरे प्राणी भी वन में निःशङ्कतापूर्वक विशेषरूप से क्रीड़ा करें[2] ॥ १९ ॥ फिर यशोमति महाराज ने इस प्रकार किया—अपने व दूसरे लोगों की परीक्षा करने में श्रीनारायण-सरीखे परीक्षक हे द्वारपाल ! इस मयूर व कुत्ते के निमित्त से तुम्हारे द्वारा ऐसी क्रियाएं कराई जावें, जो कि ब्राह्मण समूह के प्रत्यक्ष विषयीभूत हों एवं पितृलोक-सरीखी (यशोर्घ व यशोधर-आदि पूर्वजों-जैसी) हैं। तथा अग्नि-संस्कार, वैहायिक व मृत की मासिक क्रिया और षाण्मासिक आदि काल जिनमें वर्तमान है। इसीप्रकार चन्द्र-मति व यशोधर महाराज सरीखे इनके उद्देश्य से सर्वत्र विशेषरूप से ऐसी प्याऊ दान कराई जावें, जिनमें भोजनशाला, गोष्ठीशाला व छत्रादि स्थान, इनके अधिकारी वर्तमान हों।

समस्त प्राणियों में करुणा से व्याप्त मनवाले व पुण्यरूपी तेज के उत्पत्तिस्थान ऐसे हे मारिदत्त महाराज ! इसके पश्चात्—मोर-पर्याय व कुत्ते की पर्याय के अनन्तर—दूसरा भव वर्णन किया जाता है। विद्याधरियों के संगीत से शब्दायमान शिखर-मण्डलवाले सुवेल पर्वत से पश्चिम दिशारूपी देवता का क्रीड़ा-मन्दिर 'शिखण्डिताण्डवमण्डन' नाम का वन है। विद्वान् लोग जिसका निम्नप्रकार वर्णन करते हैं—जो दुष्ट-हृदय-सरीखा दुष्प्रवेश (दुःख से भी प्रवेश करने के लिए अशक्य) है। जो प्रलयकाल-जैसा भयानक है। जो गणित-शास्त्र-सा अवसान (अखीर) में गहन (प्रवेश करने के लिए अशक्य व पक्षान्तर में क्लिष्टता से जानने-योग्य) है। जो आत्मज्ञान-सरीखा अलब्धमध्य संचार है (जिसके मध्यभाग में पर्यटन प्राप्त करने के लिए अशक्य

१. रूपकाक्षेपालंकारः।　　२. हेत्वलंकारः।

लक्ष्यमध्यसंचारम्, राजकुलमिव क्षुद्रलोकाधिष्ठितम्, वामेक्षणाचरितमिव स्वभावविषमम्, निःस्वामिकमिवामर्यादव्यवस्थम्, छत्रभङ्गमिव बहुकण्टकोपद्रवम्, खलोपदेशमिव दुरन्तम्, नृपतिचित्तमिव दुःखोपसेव्यम्, समराङ्गणमिव सखड्गसंघट्टम्, वेतालकुलमिव महादेहभीषणम्, कलिङ्गवनमिव दन्तिदुर्गमम्, स्वर्धुनीप्रवाहमिव कृताष्टापदावतारम्, नाटेरमिव सचित्रकम्, वर्षारात्रिमिव घनमेघरावम्, रघुवंशमिव मागधीप्रभवम्, चन्द्रमिवामृतास्पदम्, गिरिसुताचरितमिव विजयाविस्तृतम्, जलनिधिमिव जम्बुकाध्युषितम्, रथचरणपाणिमिव सुदर्शनाधारम्, युधिष्ठिरमिव मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवानुगम्, सुभटानीकमिवाभीरुप्रतिष्ठितम्, दुग्धोदधिमथनमिव लक्ष्मीसनाथम्, छन्दःशास्त्रमिव जातबृहतीकम्, आश्रमस्थान-

---

है व पक्षान्तर में जिसके मध्यभाग का ज्ञान अशक्य) है। जो वैसा क्षुद्रलोकों (व्याघ्रादि दुष्ट जीवों) से व्याप्त है जैसे राजकुल क्षुद्रलोकों (असहिष्णु लोगों) से व्याप्त होता है। जो स्त्रियों के चरित्र-सरीखा स्वभाव से विषम (ऊबड़-खाबड़ व पक्षान्तर में कुटिल) है। जो वैसा अमर्याद व्यवस्थित (बेमर्याद स्थितिवाला) है जैसे राजा-रहित नगरादि अमर्याद व्यवस्थित (सदाचार नियम से विचलित) होता है। जो वैसा बहु कण्टकोपद्रव (सूक्ष्म तीक्ष्ण काँटों के उपद्रव वाला) है जैसे छत्रभङ्ग (राज्य-नाश अथवा राजसिंहासन से राजा का च्युत होना) बहुकण्टकोपद्रव (दुष्ट शत्रुओं के उपद्रवों से व्याप्त) होता है। जो दुष्ट-शास्त्र-सरीखा दुरन्त (अन्त-रहित व पक्षान्तर में दुष्ट-स्वभाव वाला) है। जो वैसा दुःखोपसेव्य (दुःख से आश्रय के योग्य) है जैसे राजा का चित्त दुःखोपसेव्य (आराधना करने को अशक्य) होता है। जो वैसा सखड्ग-संघट्ट (गण्डकों-गेंडों के युद्ध से व्याप्त) है जैसे संग्राम-भूमि सखड्ग-संघट्ट-खड्गों (तलवारों) की टक्करों से सहित होती है। जो वैसा महादेह-भीषण (विस्तृत होने के कारण भयानक) है जैसे वेतालों (व्यन्तरादिदेवों) का समूह महादेह-भीषण (महान् शरीर के कारण भयानक) होता है। जो कलिङ्ग देश के वन-सरीखा दन्तियों (पर्वतों) व पक्षान्तर में हाथियों-से दुर्गम है।

जो कि गङ्गा के प्रवाह-सरीखा कृत-अष्टापद-अवतार (शरभ जीवों से किये हुए प्रवेशवाला व पक्षान्तर में कैलाश पर्वत से अवतरण करने वाला) है। जो नट-सरीखा सचित्रक (चित्रकों-व्याघ्र विशेषों-से व्याप्त व पक्षान्तर में आश्चर्यजनक) है। जो वर्षाकाल-सा घन-मेघराव (बहुत सी मोरों से व्याप्त व पक्षान्तर में प्रचुर मेघों की गर्जनावाला) है। जो वैसा मागधी प्रभव (पीपलों की उत्पत्तिवाला) है जैसे रघुवंश मागधीप्रभव (सुदक्षिणा नाम की दिलीप राजा की पत्नी के वर्णनवाला) होता है। जो चन्द्र-सरीखा अमृत-आस्पद (गुडूची का स्थान व पक्षान्तर में अमृत का स्थान) है। जो वैसा विजया-विस्तृत (हरीतकियों-हरड़ों से विस्तृत) है जैसे पार्वती का चरित्र विजया (विजया नाम की अपनी सखी) से विस्तृत होता है। जो वैसा जम्बुक-अध्युषित (शृगालों से सेवन किया हुआ) है जैसे समुद्र जम्बुक-अध्युषित (वरुण दिक्पाल से सेवन किया हुआ) होता है। जो वैसा सुदर्शन-आधार (सुदर्शन नाम की औषधि विशेषों का स्थान) है जैसे श्रीनारायण सुदर्शन-आधार (सुदर्शन नाम के चक्र से अधिष्ठित) होते हैं। जो वैसा मरुद्भव-अर्जुन-नकुल, सहदेवा-अनुग (वायु की उत्पत्ति, मोर या वृक्षविशेष, नेवला, बला (खरहंटी) से व्याप्त है जैसे युधिष्ठिर महाराज जिसके अनुगामी भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव नामके पाण्डुपुत्र हैं ऐसे हैं। जो (सुभटों की सैन्य-सरीखा) अभीरु (शतावरी-सहित व पक्षान्तर में अकातर—वीर पुरुषों-से सहित) है। जो क्षीरसागर के मन्थन-सा लक्ष्मी-सनाथ (ऋद्धि व वृद्धि नाम की औषधियों से सहित व पक्षान्तर में लक्ष्मी-सहित) है। जो वैसा जातबृहतीक क्षुद्रवार्ताकी (रान कटेहली की उत्पत्तिवाला) है जैसे छन्दशास्त्र जातबृहतीक (दो अक्षरवाली छन्दजाति से व्याप्त) होता है। जो वैसा तपस्विनी-प्रचुर (जटामांसी व शुभ्रकमलों से प्रचुर) है जैसे आश्रमस्थान तपस्विनियों-संन्यासिनियों-से प्रचुर होता है। जो श्रीमहादेव की जटा-बन्ध-सरीखा चन्द्रलेखा-

मिव तपस्विनीप्रचुरम्, धूर्जटिजटाजूटमिव चन्द्रलेखाध्यासितम्, युगत्रयावसानमिव कलिपरिगृहीतम्, दिवसमिव सार्कमण्डलम्, अनन्वरिथमप्यरिमेदःस्फारम्, अमाहेश्वरमपि जातशिवप्रियम्, अवेदवचनमपि गायत्रीसारम्, अकविलोकगणनमपि सकालिदासम्, अप्रथमाश्रममपि ब्रह्मचारिबहुलम्, अस्याद्वादसमयमपि सवर्धमानम्,

---

अध्यासित (बाकुचियों से आश्रित) व पक्षान्तर में चन्द्रकला से सहित) है। जो वैसा कलिपरिगृहीत (विभीतक तरु-बहेड़े के वृक्ष से सहित) है जैसे कृतयुग, त्रेता व द्वापर इन तीन युगों का पर्यन्त भाग कलि-परिगृहीत (दुःखमकाल-सहित) होता है। जो वैसा सार्कमण्डल (अकौआ वृक्षों के वन से व्याप्त) है जैसे दिन सार्कमण्डल (श्रीसूर्यमण्डल-सहित) होता है[1]।

जो अनन्वरिथ (युद्ध-रहित) होकर के भी अरि-मेद-स्फार (शत्रुओं की मेदधातु से प्रचुर) है। यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो युद्ध-रहित होगा, वह शत्रुओं की मेदधातु से प्रचुर कैसे हो सकता है? उसका परिहार यह है कि जो अनन्वरिथ (नृप-रहित) है और निश्चय से अरिमेद (विट् खदिर वृक्षों) से प्रचुर है। जो अमाहेश्वर (रुद्र-रहित) होकर के भी जातशिवप्रिय (उत्पन्न हुई पार्वती प्रिया वाला) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो रुद्र-रहित होगा, वह पार्वती प्रिया-शाली कैसे हो सकता है? उसका परिहार यह है कि जो अमा-हि-ईश्वर (निश्चय से लक्ष्मी व स्वामी से रहित) है और निश्चय से जातशिवप्रिय (उत्पन्न हुए तरुविशेष से व्याप्त) है[2]। अथवा—जो अमाहेश्वर (महेश्वर देवता की आराधना न करनेवाला) होकर के भी जात शिवप्रिय (शिवजी से प्यार करनेवाला) है। यह भी विरुद्ध है क्योंकि जो महेश्वर (शिव) देवता का आराधक नहीं है वह शिव से प्यार करनेवाला कैसे हो सकता है? अब परिहार करते हैं जो, अ + मा + हि ईश्वर अर्थात्—प्रायः करके वन स्वामी-हीन होता है, अतः जिसमें लक्ष्मी व स्वामी नहीं है और निश्चय से जो, जात शिव प्रिय (धतूरों की उत्पत्ति वाला) है। जो अवेदवचन (वेद-वचन से रहित) होकर के भी गायत्रीसार (साठ छन्द-जातियों से सार) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो वेदवचन नहीं है, वह साठ प्रकार की छन्दजातियों से सार कैसे हो सकता है? उसका परिहार यह है कि जिसमें अवेदों (स्त्रीवेद, पुंवेद व नपुंसक वेद-रहित मुनियों) के वचन पाये जाते हैं, क्योंकि मुनिलोग वनवासी होते हैं। एवं निश्चय से जो गायत्रीसार (खदिर वृक्षों से मनोहर) है।

जो अकविलोकगणन (कवि-समूह की गणना से रहित) होकर के भी सकालिदास (कालिदासकवि-सहित) है। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो कविलोक की गणन से रहित होगा, वह कालिदास महाकवि-से सहित कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अक-विलोक-गणन है (जिसमें कष्ट के देखने की गणना है) और जो निश्चय से सकालिदास (आम्रतरु-सहित) है। जो अप्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम से रहित) होकर के भी ब्रह्मचारी-बहुल है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो ब्रह्मचर्याश्रम-रहित होगा, वह ब्रह्मचारियों से बहुल कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अप्रथमान-आ—श्रम है, अर्थात्—जिसमें चारों ओर से कष्ट विस्तृत नहीं होरहा है और जो निश्चय से ब्रह्मचारी-बहुल है (पलाश वृक्षों से प्रचुर है)। जो अस्याद्वाद समय (एकान्त समय) हो करके भी सवर्धमान (महावीर तीर्थङ्कर-सहित) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो एकान्तदर्शन होगा; वह चरमतीर्थङ्कर-सहित कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अस्याद्वादसमय (शून्य वन होने के कारण जो शब्दावसर-रहित) है और निश्चय से जो सवर्धमान (एरण्डवृक्ष-सहित) है।

---

१. श्लिष्टमालोपमालंकारः।

२. उक्तं च—'शिवमल्ली पाशुपत एकाष्ठीलो बुको वसुः।' सं० टी० पृ० १९५ से संकलित—सम्पादक

अदिग्गजकुलमपि सवामनम्, अराकाननमपि ससोमम्, अराक्षसक्षेत्रमपि सपूतनम्, अमहानवमीदिनमपि समातृनन्दनम्, असौधतलमपि सनिःश्रेणीकम्, अराजसदनमपि सलेखपत्त्रम्, अत्र्यम्बकमपि सत्रिनेत्रम्, असंभलीपाटकमपि सलम्बस्तनीकम्, असमनीकरसिकमपि सकवचम्, अक्षयकालदिनमपि नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शनम् ।

जो अदिग्गजकुल (दिग्गजेन्द्रों के समूह से रहित) हो करके भी सवामन (यम-दिग्गज-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो दिग्गजेन्द्रों के समूह से रहित होगा वह यमदिग्गज-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अ-दिग्गजकुल (जिसमें शब्द-समूह विद्यमान नहीं है, ऐसा है) और निश्चय से जो सवामन (खाये हुए को वमन करानेवाले मदनवृक्ष से सहित) है। जो अराकानन (पूर्णिमा का आनन न) होकर के भी ससोम (चन्द्र-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो पूर्णिमा का आनन नहीं है, वह चन्द्र-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अ-राकानना (देखी हुई रजःस्वला कन्या से रहित) है और जो निश्चय से ससोम (हरीतकी वृक्ष-सहित) है। जो अराक्षस क्षेत्र (राक्षस-भूमि न) हो करके भी सपूतन (पूतना-नाम की राक्षसी-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो राक्षसों की भूमि नहीं है वह पूतना राक्षसी-सहित कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि जो अर-अक्षस-क्षेत्र है। अर्थात्—जो पहिए की नाभि व नेमि के बीच की लकड़ी एवं धुरी का स्थान नहीं है और निश्चय से सपूतन (हरीतकी-वृक्ष-सहित) है। जो अमहानवमी दिन (महानवमी दिन न) हो करके भी समातृनन्दन (देवियों को आनन्ददायक) है। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो महानवमी का दिन नहीं है वह चामुण्डा-आदि माताओं को आनन्द-दायक कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अम-हा-नवमी दिन (रोग व हाहाकार शब्द से व्याप्त अष्टांगों का नवमाँ रोग) है और निश्चय से जो समातृनन्दन (करञ्ज-वृक्ष-सहित) है। जो असौधतल (राजमहल का उपरि भाग न) हो करके भी सनिःश्रेणीक (सीढ़ियों से सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो राजसदन का उपरिभाग नहीं है, वह सीढ़ियों-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो असौध-तल (निर्जल-प्रदेश) है और निश्चय से जो सनिःश्रेणीक (खजूर-वृक्षों से सहित) है। जो अराजसदन (राजमहल न) हो करके भी सलेखपत्र (दूतों के लेखपत्र-सहित) है। यह भी विरुद्ध है क्योंकि जो राजमहल नहीं है, वह दूतादिकों के लेख पत्र से सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अराजसदन (राजाओं के समीचीन जीवन से रहित) है और जो निश्चय से सलेखपत्र (ताड़वृक्षों से सहित) है। जो अत्र्यम्बक (रुद्र-रहित) हो करके भी सत्रिनेत्र (त्रिलोचन—रुद्र-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो रुद्र-रहित होगा वह तीन नेत्रों वाला रुद्र कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो अत्र्यम्बक (अत्रि ऋषि वगैरह का गमनशील स्थान) नहीं है और निश्चय से जो सत्रिनेत्र (नारियल के वृक्षों से व्याप्त) है। जो असंभलीपाटक (कुट्टिनियों का समूह न) होकर के भी सलम्बस्तनीक (वृद्ध स्त्रियों से सहित) है। यह भी विरुद्ध है क्योंकि जो कुट्टिनियों का समूह नहीं है, वह वृद्ध स्त्रियों से सहित कैसे हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि जो असंभलीपाटक (समीचीन पटलों या तख्तों का चीरने वाला) नहीं है और निश्चय से सलम्बस्तनीक (चिञ्चा वृक्ष-सहित) है। जो असमनीकरसिक (संग्राम में अनुरक्त न) होकर के भी सकवच (बख्तर-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो संग्राम में अनुरक्त नहीं है, वह बख्तर-धारक कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो असमा-नौका-रसिक (वक्र (टेढ़ी) क्षुद्र नदियों के जल वाला) है और निश्चय से जो सकवच (पर्पटक वृक्ष-सहित) है। जो अक्षयकालदिन (प्रलय काल का दिन न) होकर के भी नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शन (जिसममें दिशा, सूर्य व चन्द्र का दर्शन नहीं देखा गया है) ऐसा है। यह भी विरुद्ध है क्योंकि जो प्रलय काल का दिन नहीं है, वह दिशा, सूर्य व चन्द्रादि के न दिखाई

अपि च । क्वचिद्रक्ततुण्डकुटुम्बिनीलपनचापलच्युतोच्चितदाडिमावचयरक्षणसंरम्भव्याधयुद्धमध्यागतसहचरीप्रणीत-फूत्कारकोलाहलकुलितकुञ्जकुहरम्, क्वचित्पृथुलम्बाप्रलम्बस्तम्बविलम्बमानजानकीलत्रासितहरिणप्रयाणभरभीतभल्लूकनिक-रम्, क्वचिदनेकनाकुनिर्गतनिर्मोकालोकनकुपितकलापिनीपोतखरनखरमुखाग्रविलिख्यमानमेदिनीवदनम्, क्वचिदनवरतमृगमार्ग-मार्गणश्रमश्रान्तविलातवेल्लितलुञ्चितसरीसारिवीक्षणातुरतरशुनकविलंघ्यमाननिम्नगापुलिनम्, क्वचित्तस्करिकनिकाय-सायकविद्धवृद्धवराहविरसविरसितस्रवत्कुरङ्गीगर्भनिर्भरम्, क्वचिदुन्मदमहिषमण्डलारब्धरणविषाणसंघट्टोच्छलत्स्फु-लिङ्गसङ्गशीर्यमाणागमाग्रपल्लवभरम्, क्वचिद्द्विपसपत्नपादपाटितेभकुम्भस्थलोत्थवाहवहल्लोहितविधीयमानवियच्छत्रारुण-मणिदण्डडम्बरम्, क्वचिदविच्छिन्नविहारवानरनिकरविकीर्यमाणनीडक्रोडोड्डीनाण्डजच्छदच्छन्नाम्बरम्, क्वचिदंभ्रंकषानोक-हप्रकाण्डमण्डलीक्रीडोड्डामरडाकिनीकरालितोत्सर्गम्, क्वचिद्घनघूकघोरघूत्कारघूर्ण्यमानपुराणविटपिकोटरप्रसूतवायसीवर्गम्, क्वचिद्बलवद्बलालोन्मूलितद्रुमलाकुलकलभप्रचारम्, क्वचिच्छल्लीचयनिकुञ्जकुञ्जरभज्यमानकुञ्जराजिकूजितजरत्सञ्च-ममनस्कारम्, क्वचिच्चित्रककुलाघ्रातपृषतखुरखण्डधमानकदलीप्रवालान्तरङ्गम्, क्वचिदनन्यसामान्योदन्यातुरतरवनकुक्कु-

---

देने वाले दर्शनवाला कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो अ-क्षयकालदिन (जिसमें जरा भी कहीं पर क्षय करनेवाले सिंह, व्याघ्रादिकों का अवसर नहीं है और निश्चय से नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शन) सघन होने के कारण जिसमें पूर्वादि दिशाएँ नहीं जानी जातीं एवं चन्द्र-सूर्यादि भी दिखाई नहीं देते, ऐसा है ।[1]

तथा च—किसी स्थान पर जिस पर्वत की लताओं से आच्छादित प्रदेश वाली गुफा का मध्यभाग ऐसी व्याध-कामिनियों से किये हुए फूत्कार से अव्यक्त वाचालित है, जो कि तोतों की प्राणवल्लभाओं (मैनाओं) के मुख की चपलता से नीचे गिरे हुए दाडिम फलों की रक्षा के ग्रहण में प्रारम्भ किये हुए व्याध-युद्ध के मध्य युद्धनिवारण के लिए प्रविष्ट हुई थीं। किसी स्थान पर जहाँ पर शृगाल-समूह विस्तृत लताओं की झाड़ियों में विलम्ब करते हुए जंगली बैलों अथवा वानरों द्वारा भयभीत कराये गये मृगों के पलायन (भागने) के अतिशय से भयभीत किया गया है। जहाँ पर पृथिवी का अग्रभाग बहुत सी बामियों से निकली हुई साँपों की काँचलियों के दर्शन से कुपित हुए मयूरी के बच्चों के अग्रयुक्त नखों व चोंचों द्वारा विदीर्ण किया जा रहा है।[2] किसी स्थान पर, जहाँपर निरन्तर मृगों के मार्ग की खोज करने से उत्पन्न हुए कष्ट से दुःखित हुए भील-बालकों से चुण्टन की गई रेत की बावड़ियों के जल को देखने से व्याकुल हुए जंगली कुत्तों के द्वारा पर्वत की नदियों का बालुकाद्वीप प्रविष्ट करने के लिये अशक्य है। किसी स्थान पर जो चौर-समूह के बाणों द्वारा ताड़ित हुए वृद्ध शूकरों के कर्कश शब्दों से गिरते हुए हिरणियों के गर्भों से व्याप्त है।

किसी स्थान पर, जहाँ पर मदोन्मत्त भैंसा-समूह से किये हुए युद्ध में सींगों के प्रहार द्वारा उछलते हुए अग्नि-कणों के संगम से वृक्षों का उपरितन प्रवाल-समूह विध्वंस किया जा रहा है। किसी स्थल पर सिंह के चरणों (पञ्जों) द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथी के गण्डस्थल से ऊर्ध्व प्रवाह रूप से उछलते हुए रुधिर से, जहाँ पर आकाशरूपी छत्र के लाल रत्नमयी दण्ड का विस्तार किया जा रहा है। किसी स्थान पर, निरन्तर पर्यटन करने वाली वानर-श्रेणी द्वारा निकाले जारहे या उड़ाये जा रहे घोंसलों के मध्यभाग से उड़े हुए पक्षियों के पंखों से जहाँ पर आकाश व्याप्त हो रहा है। किसी स्थान पर विशेष ऊँचे वृक्ष-समूहों की श्रेणी पर क्रीड़ा से भयानक डाकिनियों से जहाँ पर सृष्टि भयङ्कर की गई है। किसी स्थान पर प्रचुर उल्लुओं के शब्द-विशेषों द्वारा घूर्ण्यमान (हिलाये जानेवाले) जीर्ण वृक्षों की कोटरों में काकिनियों का समूह, जहाँ पर प्रसूति

---

१. विरोधाभासालंकारः । २. भ्रान्तिमानलंकारः ।

जिह्वावलिह्यमानमृगतृष्णिकातरङ्गम्, क्वचित्प्रचण्डगण्डकवदनविदार्यमाणरुरुरुधिरदुरीक्षवृक्षालीकम्, क्वचिन्निःशल्यशल्लक-शलाकाजालकील्यमानरल्लकलोकलोकम्, एवमपरैरपि सत्त्वैरनायकावकाशदेशमिव बाध्यमानपरस्परजीवितम् ।

अत्र च वल्लयोऽपि मृगादनीप्रायाः, वीरुधोऽपि व्याघ्रीसमदर्शनाः, तरवोऽपि निस्त्रिंशपत्त्रसमालोकाः, तृणान्यपि विषाणीव घ्राणादेव मनोमोहनकराणि । किं च ।

यद्विमर्दोद्गमस्थूलस्तबकाभोगसंगमम् । सिंहशावकुलाकीर्णं महानीलनगोपमम् ॥२०॥
धत्ते पत्त्रिकिराकीर्णकुड्मलाविलभूतलम् । करिवैरिप्रभिन्नेभकुम्भमुक्ताफलश्रियम् ॥२१॥

प्राप्त कर रहा है। किसी स्थान पर प्रचण्ड वायु से उखाड़े हुए वृक्ष समूह द्वारा व्याकुलित हुए हाथियों के बच्चों का, जहाँ पर पर्यटन पाया जाता है। किसी स्थान पर, पर्वतों के लताओं से आच्छादित प्रदेशों पर हाथियों द्वारा तोड़ी जानेवाली वृक्षश्रेणी पर वर्तमान पक्षियों की ध्वनि से जहाँ पर जरा-जीर्ण खञ्जरीटों के चित्त का विस्तार हो रहा है।

किसी स्थल पर व्याघ्रविशेषों के समूह द्वारा दाँतों से पकड़े हुए मृगों के खुरों से, जहाँ पर कदलियों (मृगविशेषों) के प्रवालों (प्रकृष्ट बच्चों) का मन, अथवा लघु वृक्षों के पल्लवों का मध्य भाग खण्डित (चूर-चूर) किया जा रहा है। किसी स्थान पर विशेष प्यास से पीड़ित होने के कारण दौड़ते हुए मृगों की जिह्वाओं से जहाँ पर मृगतृष्णा की तरङ्गें चाटीं जा रहीं हैं। किसी स्थान पर विशेष शक्तिशाली गेंडों के मुखों से विदीर्ण किये जा रहे मृगों के रुधिरों से जहाँ पर वृक्ष-समूह दुःख से भी देखने के लिये अशक्य है। किसी स्थान पर निर्भय सेंहियों की शलाका-श्रेणियों द्वारा जहाँ पर मृगविशेषों के विश्वलोक (समूह) घायल किये जा रहे हैं।

इसी प्रकार दूसरे हिंसक प्राणियों द्वारा जहाँ पर परस्पर का जीवन, वैसा घात किया जा रहा है जैसे राजा से शून्य देश में प्राणियों द्वारा परस्पर का जीवन घात किया जाता है। जहाँ पर लताएँ भी मृगादनीप्रायाः (लताविशेषों की प्रचुरता से युक्त) हैं। एवं दूसरा अर्थ—जहाँ पर मृगादनी (मृगों का भक्षण करने वाली बहेलियों की स्त्रियाँ) बहुलता से पाई जाती हैं। जहाँ पर लताएँ भी व्याघ्री-समदर्शन (बृहती—भटकटैया (कटेहली) सरीखी दर्शनवाली) हैं। अथवा व्याघ्रीसमदर्शन (चीते की मादा-सरीखे दर्शनवाली) हैं। जहाँ पर वृक्ष भी निस्त्रिंशपत्त्रसमालोक (सेहुण्ड वृक्षों के दर्शन वाले) हैं अथवा निस्त्रिंशपत्त्रसमालोक (निर्दयवाहन जीवों—सिंह व शूकर-आदि के दर्शनवाले) हैं। एवं जहाँ पर तृण (घास) भी विष-सरीखे गन्ध-ग्रहण करने मात्र से चित्त में अचेतनता उत्पन्न करते हैं। अब उक्त वन का विशेष वर्णन करते हैं—

जो मुख्य और विशाल पुष्पों के गुच्छों की परिपूर्णता का संगम वाला है एवं जो सिंहों के बालक-समूह से व्याप्त है तथा जो महानील पर्वत-सरीखा है[1] ॥२०॥ जो (वन) पक्षियों से गिरी हुई पुष्प-कलियों से व्याप्त हुए भूमिभाग को धारण करता है और सिंहों द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथियों के गण्डस्थलों की मोतियों की श्रेणी की शोभा को धारण करता है ॥२१॥

विशेष वर्णन—जो समस्त अटवी ब्रह्माजिह्मितमण्डला (ब्रह्मा से अवक्र प्रदेश वाली) होकर के भी सव्याधा (बहेलियों-सहित) है। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है। क्योंकि जो श्री ब्रह्मा द्वारा अवक्रप्रदेश वाली होगी, वह बहेलियों से व्याप्त कैसे हो सकती है? इसका परिहार यह है कि जो ब्रह्मा-आ-जिह्मितमण्डला

---

१. उपमालंकारः ।

अपि च । ब्रह्माजिह्मितमण्डला हरिकुलव्यालोलशैलस्थली स्थाणुस्थानविसंस्थुलापि समभूच्चित्रं तथापीदृशी ।
सव्याधा समधूत्सवा समदनोत्सर्गा च सर्वाटवी को नामैवमिहाखलः सह खलैर्वासो यदेषामपि ॥२२॥

तत्र चिल्लचिकिलाक्षर्ककलोचनायां बाढमवगाढमध्यमावस्थानायामेणान्वेषणधिषणनिषादपरिधल्लंघावप्रभाव-रस्खलनखरसैबलस्त्वचिखिलखुरायामनेकमृगशृङ्गसंघट्टोन्मृष्टरोमतया निःशितनिशातशाणाकारायामिव पश्चतरतनुपृषत्यां तथाविधेनैव पृषतेन गर्भावासविषयतां नीतः, पुनरकाण्डचण्डतडिद्दण्डसंघट्टभयप्रभावादपरिपूर्णविषय एव प्रसवसमये स्वशरीरलाभमात्रः, स्वविश्राः शून्यस्तन्यस्तनतयानुपशान्ताशनाशयः, शष्पाङ्कुरेषु च तृप्तिमलभमानः, पवनाशनाशनाभिप्राय-शयतया शर्कशिरःप्रदेशान्विषाणमण्डलेनोच्चिक्षणिषुः,

---

(पलाश वृक्षों से चारों ओर विषम प्रदेश वाली) है एवं जो निश्चय से सव्याधा (बहेलियों से व्याप्त) है। जो हरिकुलव्यालोलशैलस्थली (यादववंश से मनोज्ञ रैवत पर्वतस्थली) होकर के भी समधूत्सवा (मधुदैत्य के उत्सव-सहित) है। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो यादववंश से मनोज्ञ रैवतपर्वत-स्थली होगी, वह मधुदैत्य के उत्सव से व्याप्त कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि जो हरिकुलव्यालोलशैलस्थली (सिंह-समूहों से चञ्चल पर्वत स्थल-शालिनी) है और निश्चय से जो समधूत्सवा (मधु (शहद या वसन्त) के उत्सव वाली है। जो स्थाणुस्थानविसंस्थुला (श्री महादेव के निवास से शिथिल) हो करके भी समदनोत्सर्गा (कामदेव की सृष्टि-सहित) है, यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो श्री महादेव की स्थिति से शिथिल होगी वह कन्दर्प की सृष्टि-सहित कैसे हो सकती है ? क्योंकि कन्दर्प (कामदेव) तो श्रीमहादेव जी द्वारा पूर्व में भस्म कर दिया गया था, इसका समाधान यह है कि जो स्थाणुस्थानविसंस्थुला (स्थाणुओं—ठूँठ वृक्षों की स्थिति से व्याप्त) है और निश्चय से जो समदनोत्सर्गा (आट वृक्षों की सृष्टि-सहित) है। अब उक्त बात को 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार से पुष्ट करते हैं। इस संसार में इसप्रकार कौन पुरुष खललोक (दुष्टलोक) से रहित है ? क्योंकि जब इन ब्रह्मा, विष्णु व महेश्वर का भी दुष्टों (बहेलियों-आदि) के साथ निवास वर्तमान है[1] ॥२२॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज ! उस पूर्वोक्त वन में मैं (यशोधर का जीव) मयूरपर्याय के बाद विशेष कठिन शरीरवाली सेही (सेही की स्त्री) के गर्भावास में वैसा ही कठिन शरीरवाला, लँगड़ा व रगड़े हुए रुएँ वाला सेही रूप से आया। मैं, कैसी सेहिनी के गर्भावास में आया ? जो दूषित व निन्द्य केवल एक ही नेत्रवाली (कानी) थी। जो विशेष संकीर्ण उदरस्थान प्राप्त करने वाली थी। मृगों की अन्वेषण बुद्धि से निकट दौड़नेवाले बहेलियों के समूह से गमन-भङ्ग के कारण उत्पन्न हुए विशेष कष्ट से जिसके चारों खुर लँगड़े हो गए हैं। अनेक मृग-शृङ्गों की टक्कर से रगड़े गए केशों के कारण जिसकी आकृति खड्ग को तीक्ष्ण करनेवाले शाण-सरीखी (कर्कश शरीर वाली) थी। हे राजन् ! फिर मयूर-मरण के बाद उत्पन्न हुआ मैं (यशोधर का जीव—सेही) बिना अवसर के (वर्षाकाल के बिना भी) विशेष शक्तिशाली बिजली दंड की टक्कर से उत्पन्न हुए भय के प्रभाव से थोड़े ही महीनों में उत्पन्न हुए प्रसवकाल में केवल अपना शरीरलाभ ही कर सका। अर्थात्—एक दिन में ही मर गया क्योंकि मेरी माता सेहिनी का स्तन दुग्ध-शून्य होने से मेरी भोजन की इच्छा शान्त नहीं होती थी (मैं भूखा ही रहता था)। छोटी-छोटी हरी घास से तृप्त न होकर मैं सर्पों के भक्षण के चित्त का अभिप्राय वाला होने से दन्तश्रेणी से बाँमी के शिखर-

---

१. यथासंख्यार्थान्तरन्यासालंकारः ।

नोट—उक्त काव्य में विरोधाभास अलंकार भी है। —सम्पादक

अन्यत्र कुरुते जन्तुर्यत्सुखं दुःखमेव वा । तदुप्तबीजवत्क्षेत्रे भूयः फलवदात्मनि ॥२३॥

इति न्यायाद्यथाहं पुरा जन्मनि शिखावलपर्यायस्तेनाशितजन्मना स्वकीयदंष्ट्राक्रकचकचर्च्यमानतां नीतस्तथैनमपि कृष्णत्वं शनैरिव, कुटिलतां स्त्रीभ्यः, क्रौर्यं कृतान्तात्, वृषविध्वंसबुद्धिमसुरेभ्यः, विषाश्रयत्वं जलधेः, पिशितप्रियत्वं यातुधानेभ्यः, परोपद्रवं च दुर्जनेभ्यः समादायासादितसरीसृपाकारं वामलूरविवरप्रविष्टार्धशरीरं बलादाकृष्य पुरीतत्प्रतानमिव मेदिनीकुरङ्गिकायाः, लाङ्गूलमिव महीसिंहिकायाः, मूलमिवानन्तलतायाः, मृणालमिव भूमिकमलिन्याः, वेणिदण्डमिव क्षमाराक्षस्याः, पौनःपुन्यप्रवृत्तोत्फणप्रहारजर्जरितवदनमुत्कृत्यमानमिवासृग्धरायाम्, उच्छलन्तमिव क्षतजेषु, स्फुरन्तमिव तरसेषु, त्रुटन्तमिव सिरासु, स्फुटन्तमिवास्थिषु, विवर्तमानमिवान्त्रेषु, समीपतरकदम्बस्तम्बशायिना प्रबलाजगलकवला-विलगलगुहाघोरघुरघुरारवप्रतिबोधितेन गतमेव श्लोकं तत्रैव जन्मनि सफलयता तरक्षुणा भक्ष्यमाणस्तेन पृथ्वाकुना सम-कालमेवाहं परासुरभवम् ।

प्रदेशों को खोदने का इच्छुक था। 'वह जीव, दूसरे प्राणी में जो कुछ भी सुख अथवा दुःख उत्पन्न करता है, वह सुख व दुःख अपने जीव में वैसा प्रचुर फल देनेवाला (अधिक सुख-दुःख देनेवाला) होता है जैसे खेत में बोया हुआ बीज प्रचुर फल देनेवाला होता है' ॥२३॥

इस न्याय से जैसे पूर्वजन्म (मोर की पर्याय) में मयूर-पर्याय के धारक मुझे उस चन्द्रमति के जीव कुत्ते ने अपनी दाढ़रूपी आरा से मार डाला था वैसे ही मैंने (यशोधर के जीव सेही ने) इस चन्द्रमति के जीव सर्प को भी अपनी दाढ़रूपी आरा से मृत्यु में प्राप्त किया (मार डाला)। कैसे चन्द्रमति के जीव सर्प को मैंने मारा ? जिसने मानों—शनि नामक ग्रह से कृष्णता (कालापन), स्त्रियों से कुटिलता (वक्रता) व यम से क्रूरता प्राप्त करके सर्प की आकृति प्राप्त की थी। जिसने असुरों से वृष-विध्वंसबुद्धि (मूषिक-विनाश-बुद्धि पक्षान्तर में धर्म-नष्ट करने की बुद्धि) को ग्रहण करके सर्पाकार प्राप्त किया था। जिसने समुद्र से विषाश्रयत्व (मुख में जहर को सुरक्षित करना पक्षान्तर में विष का स्थान) प्राप्त करके सर्पाकार प्राप्त किया था। जिसने राक्षसों से मांसप्रियता और दुर्जनों से परोपद्रव (दूसरों को दुःख उत्पन्न करना) प्राप्त करके सर्प की आकृति प्राप्त की थी। जिसका अर्धशरीर बाँमी के मध्य में प्रविष्ट हुआ था। जो मानों—पृथिवीरूपी हिरणी की नसों की श्रेणी ही है। अथवा लोकभक्षक होने से मानों—पृथिवीरूपी सिंहनी की पूँछ ही है। अथवा—मानों—पृथिवीरूपी लता का मूल ही है। अथवा मानों—पृथिवीरूपी कमलिनी का मृणाल ही है। अथवा मानों—पृथिवीरूपी राक्षसी की गुँथी हुई केशयष्टि ही है। ऐसे साँप को मैंने (यशोधर के जीव सेही ने) बाँमी से जबर्दस्ती खींच कर मार डाला। जिसका मुख बार-बार उत्पन्न हुए उन्नत फणों के आघातों से जर्जरित (क्षीण) हो गया है। जो अपनी त्वचा के विषय में फाड़ा जा रहा सरीखा एवं खूनों के विषय में ऊपर उछलता हुआ-सा, माँस के विषय में चमत्कार करता हुआ-सा तथा सिराओं के विषय में टूटता हुआ-जैसा, तथा हड्डियों के बारे में कट-कट शब्द के समान आचरण करता हुआ-सा व आँतों के विषय में भीतरी शरीर को बाहिर प्रकट करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। इसके बाद मुझे (यशोधर के जीव सेही को) प्रस्तुत साँप ने, जो कि पूर्व-कथित श्लोक को उसी जन्म में सत्यता में प्राप्त कर रहा था। जो बाँमी के विशेष समीप में वर्तमान कदम्ब वृक्ष के तने पर शयन कर रहा था एवं जो उत्तम सर्प-मांस के ग्रास से भरी हुई गलेरूपी गुफा के भयानक घुर्घुर (अव्यक्त) शब्द द्वारा जगाया गया था, भक्षण कर लिया। उसी साँप के साथ में (सेही) एक समय में ही काल-कवलित हुआ। अर्थात्—हम दोनों (यशोधर का जीव-सेही व चन्द्रमती का जीव साँप) काल-कवलित हुए। अर्थात्—मैंने साँप को खाया और साँप ने मुझे खाया।

पुनरहो कविलोकपङ्कजविकासभास्कर, सौजन्यरत्नाकर, अस्ति खलु तेष्वेव त्रिदिवनिवासोचितकिंवदन्तीषु अवन्तीषु इन्दुमणिमेखलेव पद्मावतीविलासिन्याः, जलकेलिदीर्घिकेव मालवावनीपालविलासिनीनाम्, नित्योत्सवपताकेव भुजङ्गमलोकस्य, वरणमालेव मार्गमहीधराणाम्, मुक्तावलीव मेदिनीदेवतायाः, कीर्तिवैजयन्तीव प्रभवभूधरस्य, सेकसारणिरिव सिन्धुरत्नाङ्कुराणाम्, शरसृष्टिरिव च जगत्प्रसाधनमतीनां प्रजापतीनाम्, भोगवतीव पद्माधिष्ठिता भुजङ्गलोकोचिता च, राज्यलक्ष्मीरिव कुवलयोपगता द्विजभोगभूता च, काननश्रीरिव संवरप्रचुरा मुनिजनगोचरा च, सीतेव लक्ष्मणानुगता रामानन्दिता च, भारतकथेव धृतराष्ट्रावसाना जातव्यासाधिष्ठाना च, आस्फूर्जितमूर्तिरिव कान्तावलोकना प्रसाधितबलिसंताना च, सुधासृष्टिरिव कुमुदावहा विहितदेवमहा च, विपणिवीथिरिव सौगन्धिकावसथा ग्राहकमठपतिसनाथा च, सकमलकल्लोलकलशाभिषेकतोषितोपान्तस्थमाधवशिप्रा सिप्रा नाम नदी।

इसके बाद (सेही व सर्प-भव के वर्णन के बाद) कवि-समूह रूपी कमलों को विकसित करने के लिए श्री-सूर्य-सरीखे एवं परोपकाररूपी अमूल्य माणिक्य की खानि ऐसे हे मारिदत्त महाराज! देवों के योग्य वृत्तान्त वाले उन पूर्वोक्त अवन्ति देशों में ऐसी 'सिप्रा' नाम की नदी है। जो ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—उज्जयिनी नगरीरूपी कमनीय कामिनी की चन्द्रकान्त मणि की मेखला (करधोनी) ही है। मानों—मालवदेश संबंधी राजाओं की रानियों की जलक्रीड़ा करने की बावड़ी ही है। मानों—पाताललोक संबंधी नित्य महोत्सवों की पताका ही है। मानों—मार्गपर्वतों की वरमाला ही है। मानों—पृथिवीरूपी देवता की मोतियों की माला ही है। मानों—इसको (सिप्रा को) उत्पन्न करनेवाले पर्वत की कीर्तिपताका ही है। जो मानों—समुद्र संबंधी रत्नाङ्कुरों को सिञ्चन करने वाली कृत्रिम नदी ही है। मानों—पृथिवीमण्डल की व्यवस्था करने की बुद्धिवाले राजाओं की बाण-सृष्टि ही है। जो वैसी पद्माधिष्ठित (कमल-मण्डित) व भुजङ्गलोकोचित (कामी पुरुष-समूह के योग्य) है जैसे अहिपुरी (नागलोक) पद्माधिष्ठित (पद्म नाम की नागदेवता से युक्त) व भुजङ्गलोकोचित (सर्प-समूह के योग्य) होती है। जो वैसी कुवलयोपगता (चन्द्रविकासी कमलों से मण्डित) एवं द्विजभोगभूता (पक्षियों के भोगने योग्य) है जैसे राज्यलक्ष्मी कुवलयोपगता (पृथिवीमण्डल-मण्डित) एवं द्विजभोगभूता (ब्राह्मणों की भोगभूत) होती है। जो वैसी संवर-प्रचुर (जल-बहुल) व मुनिजनगोचर (तापसपक्षी-युक्त) है जैसे वनलक्ष्मी संवरप्रचुर (शृंगतक-सहित मृग-आदि चतुष्पद जीवों से बहुल अथवा आस्रव-निरोध-सहित) तथा मुनिजनगोचर (दिगम्बर साधुओं के गोचर) होती है। जो वैसी लक्ष्मणानुगत (सारस पंक्ति-सहित) व रामानन्दित (स्त्रियों को आनन्दित करने वाली) है जैसे सीता (जनक राजा की पुत्री), लक्ष्मणानुगत (लक्ष्मण से अनुगत) व रामानन्दित (श्रीरामचन्द्र से आल्हादित) होती है। जो वैसी धृतराष्ट्रावसाना (दोनों तटों पर हंसों वाली) एवं जातव्यासाधिष्ठाना (विस्तार के मूल को उत्पन्न करने वाली) है जैसी भारतकथा (महाभारत शास्त्र) धृतराष्ट्रावसाना (धृतराष्ट्र के मरण वाली) एवं जातव्यासाधिष्ठाना (व्यास से उत्पन्न हुए पीठबन्धवाली) होती है। जो वैसी कान्तावलोकना (मनोहर दर्शनवाली) व प्रसाधितबलिसंतान (पूर्ण किये हुए पूजासमूह वाली) है जैसी चन्द्र-मूर्ति कान्तावलोकन (सुन्दरियों के दर्शन-सहित) और प्रसाधितबलिसंतान (बलि नाम के दानवविशेष को वश में करनेवाली) होती है। जो वैसी कुमुदावहा (श्वेत कमलधारिणी) व विहिता देवमहा (वि-हिता-पक्षियों के लिए हित करनेवाली) और देवमहा, (राजाओं के उत्सववाली) है जैसी अमृतसृष्टि कु-मुदावहा (पृथिवी में हर्ष उत्पन्न करनेवाली) व विहितदेवमहा (जिसमें देवों की पूजा उत्पन्न की गई है) होती है। जो वैसी सौगन्धिकावसथा (लालकमलों व कल्हारों (कमलों) के निवास-युक्त) है एवं ग्राहकमठ-पति-सनाथा (ग्राह (मकर-आदि), कमठ (कछुओं) .एवं पक्षियों से सहित) है जैसी दुकानों की श्रेणी सौगन्धिकावसथा (सुगन्धि वस्तु बेंचनेवालों के स्थान-वाली) व ग्राहक-

यत्र मदोन्मुखमरालकुलकामिनीचरणचारचलद्विकचकञ्जकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरतरङ्गम्, अखर्वगर्वसार्वपर्यटनलुठ्यमानपुटकिनीपुटपटलाभ्यन्तरम्, उत्तरलतरतरकारण्डोच्चण्डतुण्डकाण्डखण्डयमानकरण्डदलोल्लसत्कल्लोलम्, अनेकमल्लिकाकुटुम्बिनीकदम्बचुम्ब्यमानजम्बालजालजटिलजलदेवतालोलम्, अनवरतरतिकलहमोदमेदुरमिथुनचरपतत्त्रपक्षचापलोच्छलच्छीकरासारसिच्यमानतीरतरुनिकरम्, अन्योन्यापघनघनाघट्टकुपितकुम्भीरभयभाज्यत्कुक्कुटहुङ्कारमुखरम्, अवाचाटबकोटचेष्टितचकितकमलमूलनिलीयमानपोताधानम्, अम्बुरुहकुहरविहरद्व्यालविघ्नितवैखानसकुसुमोञ्छनविधानम्, उदीर्णदर्पदर्वीविततुमुलकलिकोलाहलावलोकमूकमूककलोकम्, उग्रमदमकरकरास्फालनोत्तालनहरिकोत्तालितारविन्दकन्दरद्रवन्मकरन्दबिन्दुचन्द्रकाचयचटुलचञ्चरीकमेचकवीचिकानीकम्, उद्दामोदकद्विपदशनदश्यमानमृणालिनीसकलतारप्रसरम्, अतुच्छकच्छपाच्छोटमूर्छत्पाठीनपृष्ठपीठीलुठद्बुद्बुदपिण्डखण्डिततटिनीनिकटकर्करम्, उपान्तसैकतोल्लोलवालीविहारवाचालवारलम्, अदूरजकुञ्जकुञ्जकुलायकोटकुररकूजितबहुलम्, अमृतस्रोत इव सुखस्पर्शबहलम्,

---

मठपति-सनाथा (सुगन्धिवस्तु खरीदनेवाले गृहस्थों से सहित) होती है और जिसके द्वारा पुष्प-सहित तरङ्गरूपी कलशों के अभिषेक से नदी के समीपवर्ती गृहों में आश्रित हुए ब्राह्मण हर्षित किये गये हैं।

प्रसङ्गानुवाद—जिस सिप्रा नदी में जलक्रीडा के अवसरों पर नगर की स्त्री-समूह से मोतियों के चूर्ण-समूह सरीखा स्वच्छ जल वैसा उत्कलिकाओं (तरङ्गों) से अनच्छ (मलिन) किया जाता है जैसे विरहिणी-स्त्री का हृदय उत्कलिकाओं (उत्कण्ठाओं) से अनच्छ (व्याकुलित) होता है। कैसा जल मलिन किया जाता है ?

जिसकी तरङ्गें मदको प्राप्त हुई हंसिनियों के चरण-संचारों से हिलते हुए विकसित कमलों की केसर श्रेणी से पीत-रक्त हुई हैं। जिसमें ऐसी कमलिनियों के पुटसमूहों का मध्य वर्तमान है, जो कि दीर्घतर गर्व करनेवाली सारस-श्रेणी के पर्यटन (संचरण) से हिलाई डुलाई जा रहीं थीं। विशेष चञ्चल व तैरते हुए चकवा पक्षियों की चोंचोंरूपी बाणों द्वारा खंड-खंड किये जानेवाले कमल-पत्तों के साथ जहाँपर तरङ्गें उछलती हुई शोभायमान होरही हैं। जहाँपर जलदेवताओं के झूले बहुत से हंसविशेषों की कामिनियों के समूह द्वारा चोंचों से छुए जा रहे शैवाल-समूहों से कर्बुरित (रंग-बिरङ्गे) हो रहे हैं। निरन्तर रतियुद्ध से उत्पन्न हुए हर्ष से स्नेह-सहित चकवा-चकवी पक्षियों के पङ्खों की चपलता से ऊपर उछलते हुए जलबिन्दुओं की श्रेणी द्वारा जहाँपर तटवर्ती वृक्ष-समूह सींचे जा रहे हैं। जो परस्पर शरीरों की टक्कर से कुपित हुए मकरों के भय से भयभीत किये जानेवाले वालकुर्कुटों के अव्यक्त शब्दों (बाँग देने) से वाचालित हो रहा है। जहाँपर कमल-मूलों में प्रवेश करनेवाली क्षुद्र मछलियों का समूह मौनी बगुलो के व्यापारों से भयभीत हुआ है। कमलों के मध्य पर पर्यटन करनेवाले जलव्यालों (ग्राहों) से जहाँपर तपस्वियों की कमल-लुण्टन-विधि विघ्न-युक्त की गई है। उत्कट मद करनेवाले जलसर्पों के रौद्रयुद्ध संबंधी कोलाहल के देखने से जहाँपर मेंडकों का समूह मूक हो गया है। जिसमें तरङ्ग-श्रेणी ऐसे भौंरों द्वारा श्यामलित हुई है, जो कि विशेष मद को प्राप्त हुए जलहाथियों के शुण्डादण्डों के संचालन से विशेष वेग वाली तरङ्गों से कम्पित हुए कमल-कोशों से झरते हुए मकरन्द-(पुष्परस) बिन्दुओं के चन्द्राकार-मण्डल के संचय करने में चञ्चल हो रहे थे। जिसमें कमलिनियों के समस्त विस्तृत कन्द शक्तिशाली जलहाथियों के दाँतों से चाबे जा रहे हैं। (चट्टान-सरीखे) महान् कछुओं के फड़फड़ाने से कुपित होनेवाले महामच्छों की प्रशस्त पीठों पर लोट-पोट करती हुई प्रचण्ड फेनराशियों से जिसने नदियों के दोनों तट के समीपवर्ती पर्वत-शिखर मुकुट वाले किये हैं। निकटवर्ती वालुकामय प्रदेशों पर वर्तमान चञ्चल तरङ्गों पर पर्यटन करने से जहाँपर हँसिनियाँ वाचालित हो रही हैं। जो निकटवर्ती वृक्षों के लतापिहित प्रदेशों

आमलकशिलातलमिव स्वच्छकलम्, इन्दुमणिनिःस्यन्दनमिव सुभगावलोकनम्, शाव्यमं ज्योतिरिव जनितजगत्प्रणयम्, अलकवल्लरीतरङ्गभङ्गिभिर्वदनारविन्दामोदवुभिर्भुजलतावानीरसंततिभिः कुचकोकमिथुनमनोहरैर्वलिवल्लीविलासिभिर्नाभिमण्डलावर्तावासंनितम्बपुलिनस्थलश्लाघिभिरूरुकरिमकरकराभोगहृदयंगमैः पादनखमयूखफेनस्फीतैः प्रतिनदीप्रवाहैरिव नगराङ्गनानिवहैर्जलक्रीडावसरेषु विरहिणीहृदयमिवोत्कलिकाविलोदयं क्रियते मुक्ताफलद्युतिचयः पयः । अपि च ।

करिमकरमुखोद्गीर्णं यस्याम्भः पुनः पतज्ज्वाति । सुरमिथुनकलहविगलितमुक्ताफलभूषणभ्रान्ति ॥२४॥
जलदेवीकरयन्त्रैरुपरिष्टाद्यत्र वारि विक्षिप्तम् । दुर्वर्णदण्डशोभिं वहति वियद्वासपत्रस्य ॥२५॥
षट्चरणचलितजलरुहमकरन्दस्यन्दबिन्दुकन्दलितम् । यस्याः पायः श्लथयति घुसृणमतिं पौरलोकस्य ॥२६॥
चपलकलहंसबालकपरिप्लुतः षट्पदोऽम्बुजे भाति । यस्यां धर्मभयादिव पलायमानोऽघसंघातः ॥२७॥
मधुमधुलुब्धमधुकरकुलमाप्तं पुण्डरीकमुद्गत्वम् । हरति हरिन्मणिकलशां सितातपत्रश्रियं यत्र ॥२८॥
उद्गतमकरन्दरजः सिताम्बुजं यत्र मोदमन्थरितम् । उपरिचलधूलिधूसरधवलच्छत्रचर्चां कुर्वति ॥२९॥

में स्थित हुए घोंसलों में क्रीड़ा करनेवाले उत्क्रोश पक्षियों से प्रचुर है। जो अमृतप्रवाह-सरीखा सुखोत्पादक स्पर्श से उज्ज्वल है। जो आमलक—स्फटिक-शिलातल-सा स्वच्छ शरीरवाला है। जिसका दर्शन चन्द्रकान्तमणि की तरलता-सा प्रीतिजनक है। जो केवलज्ञान-सरीखा समस्त लोक की प्रीति-जनक है।

कैसे नागरिक स्त्री-समूह द्वारा प्रस्तुत सिप्रा नदी का जल मलिन किया जाता है? जो (नागरिकस्त्री-समूह) दूसरी नदी के पूरों-सरीखे हैं। जिनमें केशलतारूपी तरङ्ग-रचना पाई जाती है। जो मुखरूपी कमलों की सुगन्धि से व्याप्त हैं। जिनमें बाहुलतारूपी बेंतवृक्षों की श्रेणियाँ हैं। जो कुच (स्तन) रूपी चकवा-चकवी के जोड़ों से मनोहर है। जो त्रिवली (उदररेखाएँ) रूपी लताविशेषों से उल्लसनशील है। जो नाभि-मण्डलरूपी आवर्तों (कूपों) से मनोहर हैं। जिनमें नितम्ब (स्त्रियों की कमर के पृष्ठभाग) रूपी प्रशस्त पुलिन-स्थलों की प्रशंसा वर्तमान है। जो ऊरु (जंघा) रूपी जलहाथी व जलग्राहों के शुण्डादण्डों के विस्तारों से रमणीक हैं एवं जो चरणों के नख-किरणरूपी फेनपुञ्जों से प्रचुर हैं।

जिस सिप्रा नदी में वर्तमान जल, जो कि जलहाथियों व मकरों के मुखों से उड़ेला हुआ व फिर भी आकाश से नीचे गिरता हुआ ऐसा सुशोभित होता है, जिसमें देवों के स्त्री-पुरुषों के जोड़ों (देव-देवियों) की मैथुनकलह से नीचे गिरे हुए मोतियों के आभूषणों की सदृशता वर्तमान है[1] ॥ २४ ॥ जिस सिप्रा नदी में जल-देवी के हस्तरूपी यन्त्रों से आकाश में फेंका हुआ जल आकाशरूपी छत्र के चाँदी के दण्ड की शोभा को धारण करता है[2] ॥ २५ ॥ भ्रमरों से कम्पित हुए कमलों की पुष्परस संबंधी क्षरण-बिन्दुओं से व्याप्त हुआ जिस सिप्रानदी का जल नागरिक लोगों की तरल कुङ्कुम के स्वीकार करने की अभिलाषा को शिथिल करता है[3] ॥ २६ ॥ जिस सिप्रा नदी में कमल में स्थित हुआ और चञ्चल कलहंस शिशु के मुख से उछला हुआ भ्रमर धर्म के भय से भागता हुआ पाप-समूह सरीखा शोभायमान होता है[4] ॥ २७ ॥ जिस सिप्रा नदी में पुष्परस में लम्पट हुए भ्रमर-समूह का आधार व जल से बाहिर निकला हुआ श्वेतकमल ऐसी उज्ज्वल छत्र की शोभा को, जिसमें श्याम रत्नमयी कलश वर्तमान है, तिरस्कृत करता है। अर्थात्—कृष्णरत्नों के कलशवाली उज्ज्वल छत्र की शोभा को तिरस्कृत कर रहा है[5] ॥ २८ ॥ जिस सिप्रा नदी में वर्तमान श्वेतकमल, जो कि ऊपर स्थित हुए

१. उपमालंकारः।　२. रूपकोपमालंकारः।　३. हेत्वलंकारः।　४. प्रतिवस्तूपमालंकारः।
५. उपमालंकारः।

संपन्नपुरच्छायं तलदेशे यत्र राजते वारि । उन्मीलितभुजगजगत्सुरलोकालोकदर्पणद्युति च ॥३०॥

ईशानशीर्षोचितविभ्रमाणि वैखानसावासनिरन्तराणि । नीराणि यस्याः सुरशेखराणि सरिद्वरावारिमनोहराणि ॥३१॥

देवार्चनासङ्गविधौ जनानां यस्यां प्रसूनाञ्जलिगन्धलुब्धः । विनिर्गलत्पूर्वभवाघसङ्घः समन्ततो भाति मधुव्रतौघः ॥३२॥

यस्याः प्रवाहः सरितः प्रकामं बलिप्रसूनप्रकराभिरामः । रत्नोत्करापूरितसद्मवृत्तेर्महाध्वजस्येव तनोति कान्तिम् ॥३३॥

चिलीचिमनिरीक्षणा सितसरोजहासोल्बणा [illegible] ।

उपान्तपुलिनाननोच्छलितवीचिनादानुगा मनः पुरजनस्य या हरति कामिनीवापगा ॥३४॥

तस्याः प्रमदमालवीजनकेलिसरस्याः सरितो जलक्रीडोल्लासजलदेवताहस्तोत्क्षिप्तसलिलासारधारासहस्रसंपादितानेकगगनतल-शतह्रदे महाह्रदे व्यतिक्रम्य तं पृषतपर्यायोदन्तमसरालशयालुप्रमाणदेहः पुनरहमहो महाराज, रोहिताक्षनामा पृथुरोमा समभूवम् । यस्मिञ्जलक्रीडारते

कूलंकषा मानतनी मयि स्यादुन्मग्नकाये प्रतनुप्रवाहा । स्थिते तिरश्चीनतया च सिन्धुः सा सेतुबन्धश्रियमादधाति ॥३५॥

पुष्परस से व्याप्त पराग वाला है और जो सुगन्धि के भार से नम्रीभूत है, उपरितन भाग पर स्थित हुई चञ्चल धूलि से धूसरित (ईषत्पाण्डुर) उज्ज्वल छत्र की शोभा को स्पर्श करता है[1] ॥ २९ ॥ जिस सिप्रा नदी में अधः प्रदेश में स्थित हुआ जल उज्जयिनी नगरी के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होने से ऐसा शोभायमान होता है, जो प्रकट हुए नागलोक-सा है और जो स्वर्ग नगर के दर्शन के लिए दर्पण-सरीखा है[2] ॥ ३० ॥ जिस सिप्रा नदी के जल, जो कि गङ्गा नदी के जल-सरीखे मनोहर हैं। श्री महादेव के मस्तक पर स्थित होने से जिनकी योग्य शोभा है। जो तपस्वियों के निवास-स्थानों (गृहों) से अविच्छिन्न हैं और जो देवताओं के मुकुट हैं। अर्थात्—देवों से मस्तकों पर धारण करने योग्य हैं[3] ॥ ३१ ॥

जिस सिप्रा नदी में देवपूजा के अवसर पर मनुष्यों की पुष्पाञ्जलि की सुगन्धि में लम्पट हुआ भ्रमर-समूह दूसरे जन्मों का निकलता हुआ पाप-समूह-सा सर्वत्र शोभायमान होता है[4] ॥३२॥ पूजा-निमित्त [लाए हुए] पुष्प-समूहों से मनोहर जिस सिप्रा नदी का प्रवाह, गृहवृत्ति (गृह के चारों ओर का स्थान) को रत्न श्रेणियों से भरनेवाली इन्द्रध्वज पूजा की कान्ति को विशेषरूप से विस्तारित करता है[5] ॥ ३३ ॥ जो सिप्रा नदी कमनीय कामिनी-सरीखी नगरवासी लोगों का चित्त चुराती है। जो मछलीरूपी नेत्रोंवाली है और कामिनी भी मनोज्ञ नेत्रों से सुशोभित होती है। जो श्वेतकमलरूपी हास्य से उल्बण (अधिक) है और कामिनी भी हास्य-युक्त होती है। जो मधुर शब्द करनेवाली हंसनियों की सुशोभित श्रेणी रूपी कटिमेखला (करधोनी) वाली है एवं कामिनी भी करधोनी से अलङ्कृत होती है। जो समीपवर्ती पुलिन (जल-मध्यवर्ती बालुका द्वीप) रूपी मुख पर उछली हुई लहरियों के शब्द से अनुगमन करती है और कामिनी भी प्रियतम को प्रमुदित करने के लिए मञ्जुल गीत गाती है[6] ॥ ३४ ॥

अहो मारिदत्त महाराज ! मैं (यशोधर का जीव सेही) उस पूर्वोक्त सेही की पर्याय व्यतीत करके आलस्य से व्याप्त हुई मालव देश की कामिनियों की जलक्रीड़ा के लिए सरसी-(महासरोवर) सी उस सिप्रा नदी के अगाध जलाशय में, जिसमें जलक्रीड़ा में उत्कट जलदेवताओं के हस्तों से ऊपर फेंके हुए जल-समूह की

---

१. हेतूपमालंकारः । २. हेतूपमालंकारः । ३. उपमालंकारः ।
४. उपमालंकारः । ५. दृष्टान्तालंकारः । ६. स्रग्विणीछन्दः उपमालंकारः ।

सापि मदीयाम्बा कृतकृष्णपन्नगसंन्यासात्तत्रैव शिशुमारतया जन्मासादयामास। एकदा तु तस्यामेव सीकरासारतारकित-सकलहरिति सरिति निदाघदाहदारुणरसेषु शुचिसमाश्रयादिवसेषु

> भ्रश्यत्कर्णावतंसकाः सरलितप्रान्तप्रलम्बालकाः धौतोत्कज्जललोचनाः परिगलद्गण्डस्थलीचन्दनाः।
> उत्कम्पस्तनमण्डलाः प्रचलितस्त्रीलाब्जबाहाकुलाः क्रीडन्ति स्म पुराङ्गनाः प्रियतमैरासेव्यमाना इव ॥३६॥

तत्रावसरेऽमन्दक्षीणाक्षोभव्यामनिद्रो दैवेनातुच्छपुच्छाच्छोटनोच्छलदविच्छिन्नच्छटस्वच्छसलिलकल्लोलकल्पितजल-देवतानिकेतकेतुमालेन निजनिरवधिप्रधावप्रारम्भैर्मथ्यमानपयस्यां कलशीमिव फेनाविलावर्तमण्डलां कूलवतीं कुर्वता प्रतिक्षणसंक्षुभ्यमाणक्षुधाशुशुक्षणिक्षपितकुक्षिकक्षेण नीरचरव्यक्षपक्षभक्षणाक्षिप्तक्षणेनेव शूलाक्षपतिना तेन चुलुकीसूनुना

हजारों धाराओं से जहाँपर गगन तल में अनेक बिजलियाँ उत्पन्न की गई हैं, महान् अजगर-सरीखी देहवाला 'रोहिताक्ष' नामका मच्छ हुआ। रोहिताक्ष नाम के मच्छ के जलक्रीड़ा में रत होनेपर जब मैं (रोहिताक्षमच्छ) सिप्रा नदी में अपना शरीर डुबोता था तब वह सिप्रा नदी अपना तट भेदन-करनेवाली होती थी और जब मेरा (रोहिताक्ष का) शरीर सिप्रा नदी से बाहिर उछलता था तब वह सिप्रा नदी अल्पपूरवाली हो जाती थी, एवं जब मैं उसमें तिरछे रूप से स्थित होता था तब वह पुल-बन्ध की शोभा को आचरण करने लगती है[1] ॥ ३५ ॥

हे मारिदत्त महाराज! उस मेरी माता चन्द्रमति ने भी धारण की हुई काले साँप की पर्याय छोड़कर उसी सिप्रा नदी के अगाध जलाशय में 'शिशुमार' नाम के भयानक जलजन्तु (मकर-विशेष) का जन्म धारण किया। पुनः एक समय उछले हुए जलकण समूहों से समस्त दिशाओं को ताराओं से व्याप्त करनेवाली उसी सिप्रा नदी में ज्येष्ठ मास के दिनों में, जिसमें धूप के सन्ताप से भयानक रस पाया जाता है, ऐसी स्त्रियाँ क्रीड़ा करती थीं। जिनके कर्णपूर जलवेग से नीचे गिर रहे हैं। जिनके [मस्तक के] प्रान्तभागों पर वर्तमान लम्बे केश सरल हुए हैं। जो ऐसे नेत्रों वाली हैं, जिनका कज्जल जलवेग से गल रहा है। जिनके सुन्दर गालों की विलेपन रचना चारों ओर से गल रही है। जिनके स्तनमण्डल (कुच-भार) कान्तियुक्त या आनन्द-प्रद हैं। जो शोभायमान लीलावाली कमल-सरीखी भुजाओं से अस्थिर हैं और जो अपने पतियों से सुख क्रीड़ा में भोगी जा-रहीं कामिनियों-सी शोभायमान हो रही हैं। अर्थात्—जिसप्रकार प्रियतमों द्वारा सुखक्रीड़ा में भोगी जा रहीं कमनीय कमिनियाँ उक्त गुणों से युक्त होती हैं। अर्थात्—जिनके कानों के कर्णपूर, कामक्रीड़ा से नीचे गिर रहे हैं, और जो सरल केश युक्त, कामक्रीड़ा से निकलते हुए कज्जलों से युक्त नेत्रवाली, सुन्दर गालों पर की हुई चन्दनादि की चित्ररचना से हीन, चञ्चल स्तनमण्डलों से सुशोभित एवं नृत्य करती हुई भुजाओं से व्यास होती हैं[2] ॥ ३६ ॥

उस नागरिक स्त्रियों की जलक्रीड़ा के अवसर पर उस मकरी-पुत्र मकर ने, जिसकी निद्रा की अविकलता मच्छों के क्षोभ (विशेष चलने) से क्षीण हो गई है। प्रचुर पूँछ के ताड़न से ऊपर उछलते हुए अखण्ड धारा वाले निर्मल जल की तरङ्गों से जिसने जल की अधिष्ठात्री देवताओं के गृहों में उज्वल ध्वजाओं की श्रेणी रची है। जो प्रस्तुत सिप्रा नदी को वैसी फेनों से व्याप्त हुए आवर्तमण्डल (भ्रमण-श्रेणी) वाली कर रहा है जैसे दधिमन्थिनी कलशी (जिसमें दही मन्थन किया जाता है, ऐसा अल्प घट) जिसका दही अपने वेमर्यादीभूत वेग-युक्त गति के वेगों से विलोड़न किया जा रहा है, फेनों से व्याप्त हुए आवर्तमण्डलवाली

---

१. दीपकालंकारः अतिशयालंकारश्च। २. उपमालंकारः।

मां ग्रहीतुं प्रत्यावृत्तेन तासु जलकेलिसक्तस्वान्तासु मध्ये यशोमतिमहाराजमहादेव्याः कञ्चुलिका मदनमञ्जरिका नामाग्राहि ।

ततस्तद्वृत्तान्ताकर्णनकुपितमतिः स महीपतिराहूयादिदेश सकलजलव्यालविलोपनाय वैवस्वतसैन्यसन्निभं सत्वरं संचरद्धीवरनिकरम् । ते च कैवर्तास्तदादेशादुत्तरलतरोत्तालकरास्फालितप्रेङ्खोलिताः सत्वरं लगुडगलजालग्रहप्रणय-[1]स्तरीतर्णतुम्बरतरण्डवेडिकोडुपसंपन्नपरिकरास्तां तरङ्गिणीमवतेरुः ।

उड्डीनाण्डजडिम्भमाकुलभवन्नालीकिनीकाननं कूलोत्तालबिलान्तरालचलनग्लानाहिगर्भार्भकम् ।
प्रायः पङ्किलगर्तगर्भरमिलद्धौलेयबालं मुहुस्तत्स्रोतः कलुषीबभूव विवशग्राहं विगाहत्तरः ।।३७।।

पुनरहमहमिकया तत्सरित्स्रोतसि तेषु विहितसकलजलचरग्रहणोपायेषु तस्य चौलूकेयस्य यमदंष्ट्राकोटिकुटिलः पपात गलनाले गलः । तत्संगमान्मम चोपरि भ्रमदकालचक्रकरालं जालम् । पुनरस्मद्ग्रहणानन्दितमनोभिस्तैर्मत्स्यबन्धिभिरा-

---

होती है । जिसका उदररूपी वन क्षण-क्षण में संदीप्त होती हुई बुभुक्षारूपी अग्नि से दीपित है एवं जिसने वैसा मच्छों के समस्त पक्ष (पिता, माता व पुत्रादि कुटुम्ब) के भक्षण करने में अवसर प्रारम्भ किया है जैसे यमराज जीवों के समस्त पक्ष के भक्षण करने में अवसर प्राप्त करता है और जो, मुझ रोहिताक्ष नामके मच्छ को पकड़कर खाने के निमित्त लौटा हुआ था, ऐसी 'मदनमञ्जरिका' नाम की स्त्री को पकड़ लिया, जो कि जल-क्रीड़ा में आसक्त चित्तवालीं उन नगर की स्त्रियों के मध्य यशोमतिमहाराज की कुसुमावली नाम की महादेवी की दासी थी ।

इसके बाद 'मदनमञ्जरिका' नामकी दासी के पकड़ने का समाचार सुनने से कुपित बुद्धिवाले यशोमति महाराज ने यमराज की सेना-सरीखे शीघ्र सम्मुख आते हुए मछुआरों के समूह को बुलाकर समस्त जलचर दुष्ट जन्तुओं के विनाश के लिए आदेश दिया । फिर वे सन्मुख आये हुए मल्लाह यशोमति महाराज की आज्ञा से ऐसे होकर उस प्रसिद्ध सिप्रा नदी में उतरे । जिन्होंने विशेष वेगशाली व ऊँचे किये हुए हस्ततलों से आस्फोटित (क्रीड़ाएँ या विहार) किये हैं और जिनके हस्त लकुट, गल (मच्छों को वेधन करनेवाला लोहे का काँटा) व जालों के ग्रहण करने में व्यापार-युक्त हैं तथा जिनका परिवार नौका, तृणमयघोटक, तुवरतरङ्ग (तुम्बी), फलक, क्षुद्रनौका व परिहार नौका इनसे परिपूर्ण है । फिर विलोडित हुआ सिप्रा नदी का पूर बारम्बार कलुषित हुआ, जिसमें पक्षियों के बच्चे उड़ गए हैं । जिसमें कमलिनी-वन कम्पित हो रहा है । जिसमें जलसर्पों के बच्चे दोनों तटों में उत्कण्ठित हैं एवं बिलों के मध्य में चलने से ग्लान (नष्ट उद्यमशील) हैं एवं जहाँपर कछुओं के बच्चे बहुलता से कीचड़-सहित गड्ढे के मध्य में स्थित हुए भैंसाओं के साथ एकत्रित हो रहे हैं, एवं जिसमें मकरादि जलजन्तु पराधीन हुए हैं[2] ।। ३७ ।। तदनन्तर (सिप्रा नदी के प्रवाह में अवगाहन करने के बाद) जब वे मल्लाह परस्पर के अहङ्कार-से उस सिप्रा-नदी के प्रवाह में समस्त जलचर जन्तुओं (मकर-आदि) के पकड़ने का उपाय करनेवाले हुए तब उस शिशुमार (चन्द्रमति का जीव-मकर-विशेष) की कण्ठरूपी नाल में यमराज की दाँढ के अग्रभाग-सरीखा वक्र लोहे का काँटा गिरा और उस शिशुमार के संगम से मेरे (यशोधर का जीव-रोहिताक्ष महामच्छ के) ऊपर भी ऐसा जाल पड़ा, जो कि भ्रमण करता हुआ व असमय में प्राप्त हुआ यमराज के चक्र के समान रौद्र (भयानक) था । तत्पश्चात् उस यशोमति महाराज ने हमारे पकड़ने से हर्षित चित्तवाले उन मछुआरों से लाये हुए मुझे (रोहि-

---

१. 'तरीवर्णतुम्बतरण्डवेडिकोडुपसम्पन्नपरिकराः' ह. लि. प्रति ग । २. अतिशयालंकारः ।

धीलं मां तं च स महीपतिरवलोक्य पितृसंतर्पणार्थं द्विजसमाजसत्त्ररसवतीकाराय समर्पयामास। तत्र च तदुपयोगमात्रतया प्रत्यहमुत्कृत्यमानकायैकदेशः

अहं पिता पूर्वभवेऽस्य राज्ञः पितामही चाम्बुचरोऽयमासीत्।
इयं व्यवस्था ननु साम्प्रतमावयोर्द्विजार्थं च विधिः किलैषः ॥३८॥

इति विचिन्तयन्स चाहं च कथंकथमपि जीवितमत्यजाव।

पुनरहो धर्मधनंजय, तामेव समस्ताद्भुतजननीमुज्जयिनीं निकषा तमसाजिनजेणाजीवनोटजाकुले बब्बूलबदरीकरीरप्रायक्षुपाक्षिप्तपर्यन्तस्थले कक्षाहिनामके ग्रामधामके स जलव्यालो मेहरपुरक्षसंदर्भे छगली बभूव। अहं च तत्रैव छगलः। पुनरावयोर्व्यतिक्रान्ते बर्करभाववृत्तान्ते जातस्मरस्मयस्तामेवाहमजामासिकामन्यकिलोरणक्षोभक्षुभितचित्तेनाविकटाधिपतिना-

---

ताक्ष को) और उसे (शिशुमार को) देखकर पितरों के सन्तर्पण के लिए ब्राह्मण-समूह की सदावर्तशाला के रसोइए के लिए समर्पण कर दिया। उन ब्राह्मणों को सदावर्तशाला में ब्राह्मणमात्र का भोजन होने से मेरे शरीर का एक भाग प्रत्येक दिन काटा जा रहा था। और निम्नप्रकार विचार करके मैं (रोहिताक्ष मत्स्य) और वह शिशुमार दोनों महान् कष्टपूर्वक कालकवलित हुए। पूर्वजन्म में मैं इस यशोमति महाराज का पिता (यशोधर) था और यह शिशुमार (मकर) पिता की माता थी। निश्चय से इस समय हम दोनों की ऐसी [कष्टप्रद] व्यवस्था है। यह विधि (कर्त्तव्यता) ब्राह्मणों के भोजन से हमारे सन्तुष्ट कराने के निमित्त है[1] ॥ ३८ ॥

तदनन्तर अहो धर्मधनञ्जय (धनुर्विद्या में अर्जुन सरीखे अथवा धर्मरूपी धन से उत्कृष्ट अथवा धर्मरूपी धन का उपार्जन करनेवाले) हे राजन्! वह पूर्वोक्त चन्द्रमति का जीव शिशुमार (मकर-विशेष), अनेक आश्चर्यों की उत्पत्ति भूमि उस उज्जयिनी नगरी के समीपवर्ती 'कक्षाहि' नामवाले ग्रामस्थान में, जो कि ऊन का बिछौना या चादर एवं चर्ममयी पलान इन दोनों का उदरपूरण व्यवसाय करनेवालों के गृहों से व्याप्त है एवं जिसका समीपवर्ती स्थल, बबूल, बेरी, व करीर इन वृक्षों की बहुलतावाले छोटे वृक्षों के अग्रभागों से वेष्टित है, मेढ़ों के झुण्ड के मध्य बड़ी बकरी हुआ। मैं (यशोधर का जीव रोहिताक्षमच्छ) उसी कक्षाहि नामके ग्राम में मेढ़ों के समूह के मध्य बकरा हुआ। जब हम दोनों (बकरी व बकरा) का शैशवकाल का वृत्तान्त व्यतीत हुआ। अर्थात्—शिशुमार के जीव बकरी के उदर से उत्पन्न होकर जब मेरा शैशवकाल व्यतीत हुआ तब मैं, जिसको कामदेव का दर्प (मद) उत्पन्न हुआ है, अर्थात् जवान हुआ और जब उसी चन्द्रमति के जीव बकरी के साथ काम सेवन कर रहा था तब ऐसे मेढ़ों के समूह के स्वामी ने, जिसका चित्त, समस्त मेढ़ों के क्षोभ से कुपित हुआ है, विशेष तीक्ष्ण सींगों से जिसके मर्म (जीव) स्थानों में निष्ठुर प्रहार किया गया है, ऐसा हुआ मैं वीर्यधातु के क्षरणानन्तर ही वैसे अपने को अपने द्वारा उत्पन्न करता हुआ जैसे श्री ब्रह्मा, अपने को अपने द्वारा उत्पन्न करता है। अर्थात्—मैं (यशोधर का जीव बकरा) दूसरी बार भी उसी पूर्वोक्त बकरी के गर्भ में बकरा रूप से स्थित हुआ। तदनन्तर कुछ महीनों के व्यतीत हो जाने पर मैंने जन्मावसर प्राप्त किया।

इसी अवसर पर (मेरी जन्म प्राप्ति के समय) वह यशोमति कुमार निम्नप्रकार पढ़े हुए नीतिशास्त्र का भी अनादर करके शिकार के लिए निकला। कैसा है वह यशोमति कुमार? जिसके चित्त का विस्तार

---

१. जात्यलंकारः।

तीव्रतीक्ष्णविषाणविनिर्मितमर्मप्रहारः सौम्यवायुगत्तामन्तरमेव प्रेतभावमनुसरन्स्वयंभूरिवात्मनात्मानमुत्पादयामास । अभूवं चातिक्रान्तेषु कतिचिद्दिवसेषु प्राप्तप्रसवावसरः ।

अथान्तरे स यशोमतिकुमारः पापर्द्धिप्रवृद्धमनस्कारस्तत्फलमिहैव जन्मनि दर्शयन्निव विदूरितनिखिलराजलक्ष्मीचिह्नः कूटशाल्मलितरुलम्बनबन्धनैरिव लताप्रतानैर्गाढोद्ग्रन्थितमौलिर्नरकान्धकारकालकार्दमिकांशुकाधिकृतकायपरिकरः श्वभ्राटवीप्रवेशवर्त्मकसकाण्डकोदण्डोच्चण्डदोर्दण्डमण्डलः कीनाशपाशाकारवागुरोल्लसितांसः प्रादुर्भवद्दुरन्तपातकपातपिशुनैरिव श्वगणिभिः समाचरितपुरःप्रचारः कृतान्तानीकभीकरैरनणुकोणोत्कूणितपाणिभिः किरातैः परिवृतः पदातिरिव सकलसत्त्वसंबाधसाधितमतिः

'स्तेनद्विषद्विषव्यालश्वापदप्रभवं भयम् । शर्मधर्मविरामश्च मृगयायां महीपतेः' ॥३९॥

इति नीतिमप्रीतामध्यवमत्य मृगयार्थं निश्चक्राम । प्रविवेश च वनदेवताविनिवेदिततदागमनमिव प्रशान्तसमस्तसत्त्वसंचारं कान्तारम् ।

शिकार-क्रीड़ा में विशेष वृद्धिगत हुआ है। जिसने राज्य लक्ष्मी के चिह्न (छत्र, चमर व ध्वजा-आदि) छोड़ दिये हैं, इससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जो इसी जन्म में लोगों को शिकार खेलने का फल प्रदर्शित कर रहा है। अर्थात्—शिकार खेलनेवाला मानव अगले जन्म में राज्य लक्ष्मी के चिह्नों (छत्र-आदि) से न्यून होता है, इस घटना को इसी भव में लोगों को दिखाता हुआ ही मानों—वह राज्यलक्ष्मी के चिह्नों का त्यागनेवाला हुआ। जिसने अपना मस्तक, लताश्रेणियों से विशेष रूप से ऊपर बाँधा है, जो (लताएँ) ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—कूटशाल्मलि तरु (नरक में दण्ड देने का वृक्ष विशेष) पर लटकने वाले बन्धन ही हैं। जिसका शारीरिक वेष नरक के अन्धकार सरीखे काले व कृष्ण वर्ण वाले वस्त्र से बँधा हुआ है। जिसका विशेष प्रचण्ड (बलिष्ठ या भयानक) बाहुरूपीदण्ड मण्डल नरकरूपी अटवी में प्रवेश करने के लिए क्षुद्रमार्ग सरीखे बाण-सहित धनुष पर वर्तमान है। जिसके दोनों कन्धे यमराज के जाल सरीखे मृगबन्धनों से मुकुट-युक्त हैं। कुत्तों के स्वामियों ने जिसकी अग्रेसरता प्राप्त की है। जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—प्रकट होते हुए दुष्टस्वभाव-वाले पाप के आगमन के सूचक ही हैं। जो यमराज के सैन्य-सरीखे भयङ्कर व महान् दण्ड से संकुचित हस्त-वाले किरातों (म्लेच्छों) से वेष्टित है। पैदल चलनेवाले सैनिक सरीखे जिसने समस्त प्राणियों को कष्ट देने में या भय उत्पन्न करने में अपनी बुद्धि स्वीकार की है। किसप्रकार के नीतिशास्त्र का अनादर करके वह शिकार-निमित्त निकला? राजा को शिकार खेलने में चोरों, शत्रुओं, विष, सर्पों व सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं से उत्पन्न होनेवाला भय होता है एवं शिकार खेलने से उनके सुख व धर्मका नाश होता है और 'च' शब्द से शील-भङ्ग व प्रजा की क्षति आदि दोष उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात्—वह ऐसे वन में प्रविष्ट हुआ, जहाँपर समस्त मृग-आदि जीवों का प्रवेश शान्त होगया है। अर्थात्—उसके आने पर समस्त मृग-आदि जीव भाग गए। अतः समस्त प्राणियों के प्रवेश से शून्य हुआ वह ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसमें वनदेवताओं ने उसका आगमन कह दिया है। वहाँ पर उसे शिकार नहीं मिली; क्योंकि यमराज के पेशकारों (जीवधारियों के पुण्य-पाप का लेखा-जोखा करने वालों) ने पृथिवीतल पर संचार करनेवाले (मृगादि), बिलों में विहार करनेवाले (सर्पादि) व जल में विहार करनेवाले (मछली-आदि) एवं अन्तराल-(आकाश) विहारी (कबूतर-आदि) जीवों को वर्तमान-काल में भी शस्त्रादि से नष्ट होनेवाली आयु से रहित कहा है। अतः वह क्रोध से रक्तमध्य भागवाले नेत्रों के प्रान्तभागों के विस्तारों से मानों—अपने क्रोधरूपी देवता की रुधिर-पूजा को बखेरता हुआ-सा प्रतीत हो

स्थलविषमजलान्तरालविहारिणां प्राणिनामथापि विशपुप्तेनापरिस्पृष्टमांसस्वादनासादितहिंसः कोपाकृष्टान्तरङ्गप्रसरः स्वामर्षदेवतायाः शोणितोपहारमिव विकिरंस्तस्य छगलाविकैलकसनाथस्य यूथस्य मध्येन प्रत्यावर्तमानस्तिर्यग्गतिमार्गोल्लेखेन कपोलस्थलीचुम्बनोन्मुखपुङ्खेनायोमुखेन शरव्यीकृतबस्तबृन्दारकस्तं मदीयां मातरं च निबिभेद । तावता चापर्याप्तपरितोषः स्वयमेव तदुदरमवदारयत् । ददर्श च मामनलावलग्नशकलमिव विवर्तमानवपुषम् । आयुषः शेषत्वादविहितप्रमीतभावमवाप्तसमस्तसूपशास्त्राधिगमपाटवाय पौरोगवाय पोषणार्थमर्पयत् । तत्राहं गेह एव पोष्यमाणतनूनां छागलधेनूनां शून्यस्तनावलेहलालोपलिप्तशरीरः रसवतीगृहे [illegible] करादिक्रियाविवेकेषु पाचकलोकेषु पिशितपाकोपदेशदानदुर्ललितहृदयामात्मदुष्कर्मविपाकात्तत्रैव भवे संपन्नसितश्वित्रगात्रीमनवरतविदार्यमाणदेहप्रवाहास्वादवासीदन्मक्षिकाक्षेपक्षोभपात्रीमतिपूतिपूयपिहितनासिकपरिसरपरिवारां स्वकीयेन दारिकाजनेन 'इयं खलु हले, पापकर्मा सकलदुराचारागारा अमृतमतिमहादेवी तं निखिलभुवनमाननीयमनङ्गावतारं यशोधरमहाराजं गरलप्रयोगाद्दृष्टान्तकीर्ति विधाय तत्फलेन संप्रति संजाता सकलकुष्ठाधिष्ठानम्' इति द्वन्द्वमितस्ततो मन्त्रयमाणेन राजपरिजनलज्जिकासमाजेन च कृतधिक्कारपरम्परां कथमपि विदित्वा, कथं नाम

रहा था। उसने बकरियों, मेढा-समूह व गारड़-समूह से सहित उक्त बकरा-समूह को मध्य में करके वापिस लौटते हुए ऐसे लोहे की नोंक के तीर से, जो तिरछी गति के मार्ग का उल्लेख करनेवाला है एवं जिसका पुङ्ख (पत्राग्र) प्रशस्त कपोलस्थली के चुम्बन (मुख-स्पर्श) से सन्मुखीभूत है, बकरों में से मुख्य बकरे को बाण का निशाना बनाया। जिससे उसने मेरी माता बकरी को विदीर्ण कर दिया। उतने मात्र से उसे पर्याप्त सन्तोष नहीं हुआ, अतः परिपूर्ण संतोष-प्राप्त करने के लिये उसने स्वयं बकरी का पेट फाड़ डाला, जिससे कम्पायमान शरीरवाले एवं अङ्गारपुञ्ज के ऊपर धारण किये हुए मांस-सरीखे मुझे (यशोधर के जीव गर्भस्थित बकरे को) देखा। फिर मेरी आयु शेष होने से उसने मुझे नहीं मारा और समस्त पाकशास्त्र की पटुता प्राप्त करनेवाले रसोइए के लिए प्रतिपालन-निमित्त दे दिया। तत्पश्चात् पुष्ट शरीरवाली बकरियों के दुग्ध-शून्य थनों के आस्वादन करने से लार से शरीर को लिप्त करनेवाले मैंने किसी प्रकार से भी ऐसी अमृतमती महादेवी को जाना, जिसका हृदय उसी रसोईघर में समस्त रसों (मधुर व आम्ल-आदि) की प्रसाधन-विधि के संबंध में विशेष निपुण रसोइयों के समूहों के मध्य मांस पकाने की शिक्षा देने में आसक्त है। अपने पापकर्म के उदय से उसी भव में जिसके शरीर में श्वेत कुष्ठ उत्पन्न हुआ है। जो निरन्तर विदारण किये जानेवाले शरीर की पीप-वगैरह के आस्वादन के लिए बैठती हुई (आती हुई) प्रचुर मक्खियों के फेंकने अथवा चूर्ण करने में उत्पन्न हुए क्षोभ (शरीर मोड़ना) की पात्री (भाजन) हैं एवं अत्यन्त दुर्गन्धि पीप के बहने से नाक बन्द करनेवाला परिवार जिसके समीप प्रवेश कर रहा है तथा जिसकी निम्नप्रकार तिरस्कार-श्रेणी अमृतमति की दासी समूह से व ऐसी राजपरिवार की दासी समूह से, जो कि यहाँ वहाँ स्त्री पुरुषों के जोड़े को बुला रही है एवं दूसरे लोगों द्वारा की गई है। 'हे सखी! यह अमृतमति महादेवी विशेष पापिनी व समस्त दुराचारों की गृहप्राय है, क्योंकि इसने उस समस्त जगत् के पूज्य व कामस्वरूप यशोधर महाराज को विष प्रयोग से मार डाला, उस पाप के फल से यह समस्त अठारह प्रकार के कुष्ठ-समूह का गृह हुई।'

प्रसङ्गानुवाद—तदनन्तर मैंने (यशोधर के जीव बकरे ने) निम्नप्रकार चिन्तवन करते हुए राजमहल की उसी भोजनशाला में कुछ महीने व्यतीत किये। अमृतमति महादेवी का यह केशकलाप मकड़ियों के तन्तुसमूह-सरीखा विरूपक—कुछ शुभ्र क्यों हुआ? और यह भौहों का जोड़ा शतखण्ड किये हुए शरीर वाले पिंजड़ा-सरीखा क्यों हो गया? एवं इसके नेत्रयुगल दावानल अग्नि से दग्ध हुई-सी कान्ति-हीनता धारण करता हुआ दिखाई दे रहा है तथा इसका यह शरीर घुणों (कीड़ों) द्वारा किये हुए छिद्र-समूह से नीचे गिरते

अलिकुलमिदं लूतातन्तुप्रतानविधूसरं भजति जठरं जीर्णस्तनुस्थितिपञ्जरम् ।
कुहरभुजगं धत्ते देहं कथं निरतोऽधुना घुणचरभरभ्रस्यत्स्तम्भप्रभावमभूदयम् ॥४०॥

अथवा न चैतदाश्चर्यम् । यतः ।

स्वामिद्रोहः, स्त्रीवधो, बालहिंसा, विश्वस्तानां घातनं, लिङ्गभेदः, ।
प्रायेणैतत्पञ्चकं पातकानां कुर्यात्सद्यः प्राणिनः प्राप्तदुःखान् ॥४१॥

इति विचिन्तयन् कतिचिच्छशग्रासानतिवाहयामास । इतश्च कलिङ्गविषयेषु महति महिषीसमुदये अहो स्वकीययशःकुसुमसौरभोन्मादितबुधमधुपसमाज महाराज,

रक्तप्रान्तविलोललोचनयुगः प्रोथप्रतिष्ठाननः प्रोत्तुङ्गाग्रविषाणभीषणवपुर्नीलाञ्जनाद्रिप्रभः ।

उत्कर्णः पृथुकन्धरो गुरुखुरः स्थूलत्रिकोरःस्थलः स मृत्वा कमनीयवालधिरभूच्छागी पुनः कासरः ॥४२॥

पुनरसावशेषमहिषपरिषदतिशायिशरीरसंनिवेशः सार्थपार्थिवस्वीकारवशात्

सुखदुःखानुभवार्थं निजकर्मगलग्रहात्सुदूरोऽपि । आलानवसतिमिव जन्तुर्यमसमयमायाति ॥४३॥
यत्र सुखं वा दुःखं लिखितं निटिले यथास्य दैवेन । तत्रायाति प्राणी पाशाकृष्टः पतत्रीव ॥४४॥

हुए स्तम्भ-(खम्भा) सरीखी शोभावाला क्यों हो गया ? ॥ ४० ॥ अथवा ऐसा होना उचित ही है, यह आश्चर्यजनक नहीं है । क्योंकि—ये पाँच महापाप प्रायः करके प्राणियों को तत्काल (उसी जन्म में) दुःखों को प्राप्त करनेवाले कर देते हैं । राजहत्या, स्त्रीहत्या, बच्चों का वध, अभयदान दिये हुए का घात और जननेन्द्रिय का छेदन करना ॥ ४१ ॥ अथानन्तर अपने यशरूपी पुष्पों की सुगन्धि से विद्वज्जनरूपी भ्रमर-समूह को हर्षित करनेवाले हे महाराजाधिराज ! इस प्रस्ताव में कलिङ्ग देशों (दन्तपुर से व्याप्त कोटिशिला देशों) में महान् भैंसों की श्रेणी के मध्य में वह चन्द्रमति का जीव बकरी प्राण से भेदी जाने से मरकर फिर ऐसा भैंसा हुई । जिसके दोनों नेत्र रक्त प्रान्त वाले व चञ्चल हैं । जिसका मुख नासिका के समीपवर्ती है । जिसका शरीर तीक्ष्ण अग्रभाग वाले सींगों से भयानक है । जिसकी कान्ति नीलपर्वत व अस्ताचल पर्वत-सरीखी (कृष्ण) है । जो ऊँचे कानों वाला व विस्तीर्ण गर्दनशाली एवं महान् खुरों वाला है । जिसका त्रिक (पीठ का नीचा प्रदेश—पीठ के नीचे जहाँ तीन हाड़ मिले हैं उस जोड़ का नाम) और उरःस्थल (आगे का भाग—वक्षःस्थल) मांसल-विशेष पुष्ट है एवं जो मनोहर पूँछवाला है[1] ॥ ४२ ॥

फिर भी यह प्रस्तुत भैंसा (चन्द्रमति का जीव), जिसकी शरीर-रचना समस्त भैंसाओं के झुण्ड से विशेषता लिये हुए है, सौदागरों के स्वामी द्वारा खरीदने के अधीन होने से, (किसी ने बेंचा और सौदागरों के स्वामी से खरीदा जाने के कारण) उसी उज्जयिनी नगरी में, जो कामिनियों के भोगरूपी हंसों के अवतरण के लिए महासरोवर-सरीखी है, मानों—निम्नप्रकार के सुभाषित श्लोकों को सत्यार्थता में प्राप्त कराता हुआ ही प्राप्त हुआ । यह जीव विशेष दूरवर्ती होकर के भी अपने पुण्य-पाप कर्मों को गले में स्वीकार करने से अथवा अपने-अपने कर्मरूपी लोहे के काँटे को ग्रहण करने से, सुख-दुःख भोगने के निमित्त मृत्यु की अधीनता में वैसा आता है जैसे जाल में फँसी हुई मछली, मृत्यु की अधीनता में आती है[2] ॥ ४३ ॥ यह जीव जाल से खींचे हुए पक्षी-सरीखा उस स्थान पर आता है, जिस स्थान पर विधाता ने इस प्राणी के ललाट पर जिस प्रकार से

---

१. जात्युपमालंकारः । २. गलः लोहकण्टकः सं० टी० पृ० ३१७ से संकलित—सम्पादक ३. उपमालंकारः ।

इति सत्यतां नयन्निव तां विलासिनीविलासहंसावतारसरसीमेकानसीमनुप्राप्य तस्यामेवोभयतीरावतीर्णतमालतरुपतित-प्रसूनपरागपरवशवेगायामापगायां प्रतिपन्नपयोवगाहविहरणः, अहिनकुलवज्जातिजनितामर्षोत्कर्षान्धान्तःकरणः, यशोमति-महाराजवाजिसंजनितदौर्जन्यप्रकरणः, तन्नृपतिनिदिष्टनैकटिकानीककरकीलितचतुश्चरणः, प्रस्फोटनस्फारमारुतस्फुरत्खदि-राङ्गारनिकरपूरितकरणः, समन्तादभीक्ष्णाशुशुक्षणिक्षतक्षिप्यमाणक्षारवारिवर्षणः, कर्णकटुघोरारवत्रसनशल्यितपुरदेवता-धिषणः, ऊषणकषायोल्बणलवणकोदकावानविनिरुद्धनिखिलगोर्वरणः, नरकदुःखवेदनाप्यसह्यव्यथावेगमातङ्कसङ्गमनु-भवन्निरंमदशाहदूषितविटपः पादप इव कथाशेषतामवाप, तथाहमपि तया जाङ्गलभक्षणाक्षिप्तचित्तयामृतमतिमहादेव्या प्रत्यहं धगद्धगितवृथीविधानमध्यभटित्रीकृतैकचरणत्वरमाधिकरणां दशामशिश्रियम् ।

पुनरहो धर्मधौरेय, अस्ति खल्विहैव रत्नाकरमेखलिन्यमरलोकोत्तम्भनस्तम्भेनेव मेरुणालंकृतनाभिमण्डले जम्बूलक्ष्मणि द्वीपे विजयार्धो नाम पर्वतः । यः

गन्धर्वाविर्भवपर्यानकनिनदनदत्कंदराभोगरम्यः स्वर्गस्त्रीगीतकान्ताटनिरमरसहस्ताध्यशालाश्रितपस्तिः ।
गङ्गासिन्धूत्तरङ्गोच्छलवनशुकशालारहारामिरामः प्रोत्तालानर्तकीतिनेद इव विजयार्धावनीध्रश्चकास्ति ॥४५॥

सुख-दुःख भोगना लिपि-बद्ध किया है[1] ॥ ४४ ॥ तदनन्तर पूर्वोक्त चन्द्रमती के जीव भैंसा ने जब उसी सिप्रा नदी में (जिसमें वह पूर्व में शिशुमार मकर हुआ था), जिसका बहाव दोनों तटों के नीचे की ओर स्थित हुए तमाखू के वृक्षों से गिरी हुई पुष्प-पराग के पराधीन है, जल-विलोडन के लिए प्रवेश किया तब सर्प-नौले-सरीखे जातिस्वभाव से उत्पन्न हुई क्रोध की तीव्रता से विवेक-शून्य मनवाले उस भैंसे ने यशोमति महाराज के घोड़े का मृत्यु-प्रस्ताव भली प्रकार उत्पन्न किया (प्रस्तुत घोड़े का बध कर दिया)। जिससे यशोमति महाराज द्वारा आज्ञापित किये हुए किंकर-समूह के हाथों से उस भैंसे के चारों पैर कीलित (कीले व सांकलों द्वारा निश्चल) किये गये। जिसके शारीरिक अवयव सूपों की प्रचुर वायुओं से प्रदीप्त किये जानेवाले खदिर वृक्षों के अङ्गार-समूहों से आच्छादित किये गए हैं। जिसके ऊपर सभी ओर से निरन्तर अग्नि के स्फुटित प्रहारों (घावों) पर नमक के जल की वृष्टि की जा रही है एवं जिसने कर्ण-कटु भयानक शब्दों के आरटन से पुर देवताओं की बुद्धि दुःखित की है तथा तृषा से सोंट, मिर्च व पीपल के चूर्ण के काढ़े से उत्कट हुए मृत्तिका-कुण्ड में भरे हुए जल-ग्रहण से जिसके पश्चिम द्वार से समस्त गोबर-श्रेणी निकली है, ऐसा वह भैंसा ऐसी दुःखसंगति को भोगता हुआ, जिसका दुःख-वेग नरक की दुःख वेदना से भी असह्य है। अतः वह ऐसे वृक्ष-सरीखा होकर, जिसकी शाखाओं का विस्तार वज्राग्नि की दाह से भस्म किया गया है, मृत्यु को प्राप्त हुआ।

हे राजन् ! उसी प्रकार मैंने (यशोधर के जीव बकरे ने), जिसका खुर-सहित एक पैर मांस-भक्षण में आसक्त चित्तवाली उस अमृत मति महादेवी द्वारा निरन्तर जाज्वल्यमान प्रदीप्त चूले के मध्य पकाया गया है ऐसा हो कर मरणावस्था प्राप्त की। फिर भी—भैंसे व बकरे की पर्याय-कथन के बाद—हे धर्मप्रवर्तक मारिदत्त महाराज ! जामुन के वृक्ष से उपलक्षित एवं लवण समुद्ररूपी मेखलावाले इसी जम्बूद्वीप में, जिसका नाभि-मण्डल (मध्यवर्ती विस्तृत प्रदेश) स्वर्गलोक को थामने के लिये स्तम्भ-सरीखे सुमेरुपर्वत से सुशोभित है, ऐसा विजयार्ध नाम का पर्वत है।

जो नट-सरीखा शोभायमान हो रहा है। जो ऐसे गुफाओं के परिपूर्ण विस्तारों से मनोज्ञ है, जो कि देवगायकों के महान् उत्सव-नगाड़ों की ध्वनियों से प्रतिध्वनि कर रहे हैं। जैसे जहाँ पर नट नृत्य करता

---

१. उपमालंकारः ।

किं च ।

पादान्तलक्ष्मीरपरः पयोधिः पूर्वोऽम्बुधिर्यस्य शिरस्यवश्रीः । शय्यावकाशा च वसुंधरेयं जातामरस्त्रीजनसेवितस्य ॥४६॥

उल्लोलकल्लोलकरप्रचारात्पूर्वापरौ स्वप्तुमिव स्थितस्य । सीमन्तसंवाहनयोरिवाब्धी जातोद्यमौ यस्य गिरेश्चकास्तः ॥४७॥

यत्राम्बुधिः पुष्करवत्स्थिताङ्गो तरङ्गहस्ताहतकंदरास्यः । शक्रप्रचेतःपुरकामिनीनां नृत्ताय वृत्तः कुतपीव भाति ॥४८॥

तत्र विद्याधरसुन्दरीविलासमणिदर्पणदृषदि चारणश्रमणचरणाङ्कितमेखले सततस्यन्दमुदिनदरीसरत्समीरसीकरासारिणि सुरतश्रमखिन्नखचरसहचरीसेव्यमानसंतानकच्छाये सुरानोकहकुहरविहरमाणमधुकरीकुलकलहगलत्प्रसूनमकरन्दामोदिन्य- भ्रंलिहशिखरोत्सङ्गसंगतगगनगणिकोपवीणनमनोहरे मधुमिथुनसंगीतकानन्दिनि निर्वरंकवेशमध्यास्य किल चरमदेहधारी भगवान्सरस्वतीसरिज्जलकेलिकुञ्जरो मन्मथमथनाभिधानावसरश्चारणमहर्षिः

है, वहाँपर नगाड़ों की ध्वनि होती है। जिसका कटिनीतट स्वर्ग-कामिनियों (देवियों) के गीतों से मनोहर है। जहाँपर नट नृत्य करता है, वहाँ पर स्त्रियाँ गाने गाती हैं। जिसकी लतारूपी भुजाएँ कल्पवृक्ष से प्रशंसनीय हैं। जैसे नट भी भुजाओं से नृत्य करता है। जो गङ्गा की ऊँची उत्कृष्ट तरङ्गों से आकाश में उछलते हुए स्थूल जलबिन्दुओं के समूहरूपी हार (मोतियों की माला) से मनोज्ञ है। जैसे नट भी हार से अलङ्कृत होता है। एवं जिसकी आनर्त-(घुमाव) नीति प्रोत्ताल (उत्सुक) है। जैसे नट भी उत्ताल नृत्य-कारक होता है[1] ॥ ४५ ॥ विशेषता यह है—पश्चिम समुद्र ही जिसकी चरणपंक्ति की शोभा है। एवं पूर्वसमुद्र ही जिसके मस्तक का उच्छीर्ष (तकिया) है तथा यह पृथिवी ही जिसकी शय्या (पलङ्ग) है। यहाँ पर शङ्का होती है कि जब पलङ्ग के ऊपर कामिनीजन देखा जाता है तो इसका स्त्रीजन कौन है? उसका समाधान करते हैं; जो कि देवों की स्त्रीजनों (देवियों) से भोगा गया है[2] ॥ ४६ ॥ जिस विजयार्ध पर्वत के पूर्व व पश्चिम समुद्र चञ्चल व विशाल तरङ्गरूपी हस्तों के संचालन से ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—निद्रा लेने के व्यापार-युक्त हुए-सरीखे उस विजयार्ध के मस्तक-संमार्जन (प्रक्षालन) व पादमर्दन करने में जिनको क्रमशः उद्यम उत्पन्न हुआ है, ऐसे सुशोभित हो रहे हैं[3] ॥ ४७ ॥ मृदङ्गमुख-सरीखे व्यापार-युक्त शरीरवाले जिस विजयार्ध पर्वत पर ऐसा समुद्र, जिसने तरङ्गोंरूपी हस्तों द्वारा गुफा-मुख ताडित किये हैं, मृदङ्ग-बजानेवाले सरीखा शोभायमान हो रहा है। यहाँ पर शङ्का होती है—कि मृदङ्ग-आदि वादित्रों का वादन (बजाना), नृत्य के लिए होता है, अतः यहाँ पर नृत्य क्या है? इसलिए नृत्य-कारण से गर्भित हुए -समुद्र-विशेषण का निरूपण करते हैं—कैसा है समुद्र? जो इन्द्र (पूर्वदिग्पाल) व वरुण (पश्चिम दिग्पाल) के दोनों नगरों की कामिनियों (देवियों) के नृत्य के लिए प्रवृत्त हुआ है[4] ॥ ४८ ॥

ऐसे उस विजयार्ध पर्वत पर, जिसमें विद्याधरों की कमनीय कामिनियों के नेत्र-विभ्रम के दर्शन-निमित्त मणिमय दर्पणसरीखे पाषाण-शिलातल वर्तमान हैं। जिसकी मेखला (पर्वत का मध्यभाग) आकाश-गामी मुनियों के चरणों से चिह्नित है। जहाँपर निरन्तर जल-स्रवण के कारण मेघों से आच्छादित हुई गुफाओं में संचार करनेवाली वायु से जल-कण-समूह वर्तमान है। जहाँ पर मैथुन-खेद से खिन्न हुईं विद्याधरों की कामिनियों से कल्पवृक्षों की छाया का आश्रय किया जा रहा है। जहाँपर ऐसे पुष्पों के मकरन्द (पुष्परस) की सुगन्धि विद्यमान है, जो कि कल्पवृक्षों के कुहरों (छिद्रों) में विहार करती हुई भँवरियों के समूह के कलह के कारण नीचे गिर रहे हैं। जो विशेष ऊँचे शिखरों के उपरितन भागों पर एकत्रित हुईं विद्याधरों की वेश्याओं

---

१. पूर्णा श्लेषोपमा। २. रूपकहेत्वलंकारः। ३. यथासंख्योत्प्रेक्षालंकारः। ४. रूपकोपमालंकारः।

मन्दस्पन्दीभवति हृदये बाह्यचिन्ताविदूरव्यापारेऽस्मिन्करणनगरे योगमग्ने च पुंसि।
यत्रावृत्ति न भजति कुलिशं वज्रिणापि प्रयुक्तं पुष्पास्त्राणां कुसुमधनुषस्तत्र का नाम वृत्तिः ॥४९॥

इति विचिन्त्य निश्चलयोगिलोकोदाहरणतपश्चर्यः सूर्यप्रतिमागतो बभूव। तस्यैवं स्थितस्य महर्षेरलोकाकाशवत्स्वभावादेव सकलैरपि जन्तुभिरनुल्लङ्घनीयमाहात्म्यस्य हिमवन्महीधरोपत्यकाकाननानि [illegible] अवलोकयितुमुच्चलितः कन्दलविलासो नाम विद्याधरः कंदर्पदर्पणायाः प्रियतमायाः समक्षं मदनविनोदं नाम विमानं स्खलितगमनमवेक्ष्य जातवैलक्ष्यस्तत्साधुसमाधिविध्वंसनधिया बहुरूपिणीं विद्यामनुध्याय विधाय च तडिद्दण्डसंघट्टस्फुटद्ब्रह्माण्डखण्डैरिव घोरघोषप्रचण्डैः, प्रलयकालप्रसूतिदिवसैरिव जनितसमस्तसत्त्वसाध्वसैः, क्षयक्षपान्धकारैरिव भीषणाकारैः, उरिक्षप्तकृतान्तदृष्टिपातैरिवोल्काजालकरालद्योतैः, यमायुधनिर्देरिव मुशलप्रमाणवारिधारावर्षिभिः, स्फुटिताम्बरलोकशैलशिखरैरिवापतत्पृथीयःपाषाणैः,

के वीणा-वादन के कारण मनोज्ञ है और जहाँपर किन्नरों के जोड़ों (देव-देवियों) के संगीत से हर्ष पाया जाता है, 'मन्मथमथन' नामकी योग्यतावाले, आकाशगामी, चरमदेहधारी मुनि, इन्द्रादि द्वारा आराधना के योग्य व सरस्वती (द्वादशाङ्ग-वाणी) रूपी नदी में जल (शब्दलक्षण वाला जल) की अनुभवन-क्रीड़ा के गजेन्द्र हैं व जिसकी तपश्चर्या, धर्मध्यान व शुक्लध्यान का पूर्ण अभ्यास किये हुए ध्यानियों के समूहों को उदाहरण (दृष्टान्त-वचनरूप) है, निर्भय स्थान पर स्थित होकर निम्नप्रकार चिन्तवन करके कायोत्सर्ग में स्थित हुए। [प्रस्तुत ऋषि का ध्यान—]

'जब मन किञ्चित् भी चलायमान नहीं होता (स्थिरीभूत—निश्चल हो जाता है) और जब इन्द्रिय लक्षणवाला नगर बाह्यस्पर्श से शून्य हो जाता है। अर्थात्—जब इन्द्रियरूपी नगर शब्द, वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श इन पाँचों इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा से दूरवर्ती व्यापार वाला हो जाता है एवं जब आत्मा धर्मध्यान व शुक्लध्यान में मग्न हो जाती है, अर्थात्—एकलोलीभाव प्राप्त कर लेती है तब जिस कायोत्सर्ग में इन्द्र-द्वारा प्रेरित किया हुआ वज्र भी प्रवृत्ति प्राप्त नहीं करता, उस कायोत्सर्ग में कामदेव के पुष्परूपी अस्त्रों की क्या प्रवृत्ति हो सकती है ? अपि तु नहीं हो सकती' ॥ ४९ ॥'

इस प्रकार कायोत्सर्ग में स्थित हुए और जिसकी महिमा अलोकाकाश-सरीखी स्वभाव से ही समस्त प्राणियों द्वारा उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है ऐसे मन्मथमथन नाम के महर्षि के ऊपर, कन्दल-विलास नाम के विद्याधर ने, जो हिमवत् पर्वत के ऊपर स्थित हुए वनों को देखने निमित्त विमान से आकाश में ऊपर प्रस्थान कर रहा था। जिसने 'कन्दर्पदर्पणा' नाम की अपनी प्रिया के समक्ष अपने मदनविनोद' नाम के विमान को रुका हुआ देखकर जिसे ऋषि के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ है, जिससे उसने प्रस्तुत 'मन्मथमथन' नामक मुनि के ध्यान में विघ्न करने की बुद्धि से बहुरूपिणी विद्या का चिन्तवन करके निम्न प्रकार उपसर्ग किये। प्रसङ्गानुवाद—बाद में प्रस्तुत (मन्मथमथन) ऋषि की सेवार्थ आये हुए 'रत्नशिखण्ड' नामके विद्याधर-चक्रवर्ती ने उग्र कर्म करनेवाले इस विद्याधर को देखा और ऐसा करने से उसके प्रति विशेष क्रोध प्रकट किया। [प्रस्तुत ऋषि के ऊपर उपसर्ग करने के लिए] उसने पूर्व में ऐसे मेघों से आकाश को आच्छादित किया। जो (मेघ) भयानक गरजने की ध्वनियों से विशेष शक्तिशाली हुए ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—जिनमें बिजलीदण्डों के संघट्ट से त्रैलोक्य-खण्डों के सैकड़ों टुकड़े हो रहे हैं। समस्त प्राणियों को भयभीत करनेवाले जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—प्रलयकाल संबंधी उत्पत्ति-दिन ही हैं। जो भयानक मूर्तिवाले होने के कारण ऐसे मालूम पड़ते थे—

१. आक्षेपालंकारोऽतिशयालंकारश्च। मन्दाक्रान्ता छन्दः।

असितशिलाधिष्ठानबन्धैरिव ज्योतिर्वसतीनाम्, असमयतमिस्रासमागमैरिव भुवनवलयस्य, अकाण्डकपाटघटनैरिव दक्ष-कन्यानाम्, असमयसंहारवासरैरिव नेत्रवृत्तीनाम्, अकालकालायसचूर्णोपहारैरिव क्षितेः, घनाघनैरावृतं गगनमाभरणभुजङ्ग-मासीलैर्वेतालैराकम्पिताखिलभूगोलैर्वातालैश्च दुर्दशा दिशः प्रसाध्य स्वयं च समाचरितमातङ्गवेषधर्मकर्माचरन्नेनं योगिन-मुपासितुमागतेन रत्नशिखण्डिनाम्ना विद्याधरचक्रवर्तिना ध्यलोकि चुकुपे च ।

पुनः 'अरे कदाचाराचार दराचदुरात्मन् खलपुरोभागिन् विद्याधराधम खेचरखेट विहायोगमवाप्य विधचर-खेल हेठ नरकनिवास पापाचार बहुकुमतिभृतचित्त गुणमटह् निहीन गन्धर्वलोकापसद मातरिपुरुष सकलसत्त्वानन्दनीयतपसि त्रिभुवनमान्ययशसि भगवति परं ब्रह्मासनमुपगतवति किमेवमाचरितुमुचितम् । न चेह महामुनिसंनिधाने शास्त्राणामिवा-स्त्राणां व्यापारस्यावसरः । तदन्यथापि ते व्यपनयामि समुन्नद्धभावम्' इति वदन्दुर्जनाविनयसमवर्ती स नभश्चरचक्र-वर्ती तस्य समस्ता अपि विद्याधरलोकलक्ष्मीलाञ्छनानिचिच्छेद विद्याः । शशाप च 'भविष्यस्यनेन दुश्चेष्टितेनावन्तिषु राजधान्यां मातङ्गसमवृत्तिश्चण्डकर्मनामको दण्डपाशिकः' । स खेचरः स्वयंकृतानर्थवशात्स्वशापेन भूगोचरतां प्रतिपद्य-

---

मानों—प्रलयकाल की रात्रि के अन्धकार ही हैं। उल्काजालों (तारों के टूटने की श्रेणियाँ) के भयानक प्रकाश वाले जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—ऊपर फेंके हुए यमराज के दृष्टिपात ही हैं। मूसलप्रमाण (विशेष स्थूल) जलधारा की वृष्टि करने के स्वभाव वाले जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानों—जिनमें यमराज के दण्ड से छेद किया गया है। जिनसे विस्तीर्ण पाषाण गिर रहे हैं, अतः जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—विदीर्ण हुए स्वर्ग-पर्वतों के शिखर ही हैं। इसी प्रकार जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानों—चन्द्र, सूर्य, ग्रह व ताराग्रहों की कृष्ण-वर्ण वाली शिलाओं के अधिष्ठान-बन्ध (आवास स्थानसमूह) ही हैं। अथवा मानों—पृथिवीमण्डल के अकाल काल रात्रिसंबंधी समागम ही हैं। अथवा मानों—जिन्होंने दक्षकन्याओं (तारकों) को असमय में किवाड़ों की रचना की है। अथवा मानों—नेत्र व्यापारों के असमय संबंधी प्रलयकाल के दिन ही हैं और जो मानों—पृथिवी के असमय में होने वाले लोह के चूर्ण प्रकार ही हैं। इसी प्रकार उसने स्वयं चाण्डाल-वेष धारण करते हुए आभरण संबंधी सर्पों से भयानक वेतालों (भूत विशेषों) से और समस्त पृथिवी-मण्डल को कम्पित करने वाली प्रचण्ड वायुओं से दिशाओं को दुष्ट अवस्था वाली कीं।

अथानन्तर प्रसङ्गानुवाद—दुष्टों की उद्दण्डता को नष्ट करने के लिए यमराज-सरीखे उक्त 'रत्नशिखण्डी' नाम के विद्याधर-चक्रवर्ती ने प्रस्तुत 'कन्दलविलास' नाम के विद्याधर के प्रति निम्नप्रकार कोप-युक्त वचन कहते हुए उसकी समस्त विद्याएँ भी, जो कि विद्याधर-समूह की लक्ष्मी के चिह्न हैं, छेद दीं (नष्ट कर दीं)। उक्त विद्याधर चक्रवर्ती के कोप-पूर्ण वचन—'अरे ! निन्द्य आचार वाले ! अरे बध से दुष्ट आत्मा वाले ! अरे दुष्टों में अग्रेसर व विद्याधरों में निकृष्ट ! अरे विद्याधरों में कुत्सित अथवा विद्याधरों को विशेष भय उत्पन्न करने वाले व विद्याधरों द्वारा निंदनीय एवं विद्याधरों के मध्य में निंदनीय ! अरे बाधा उत्पन्न करने वाले व नरक में निवास करने वाले अथवा नरक (गूथ—मल) के निवास एवं पाप को ही आचार मानने वाले ! तथा प्रचुर मायाचार से परिपूर्ण चित्तवाले ! अरे गुणों से लघु, नीच और विद्याधर लोक में जाति से बहिष्कृत ! अरे मातृमैथुन ! तुझे ऐसे भगवान् (गुणों से इन्द्रादि द्वारा पूज्य) ऋषि के ऊपर, जिसकी तपश्चर्या समस्त प्राणियों को आनन्द देनेवाली है तथा जिसका पवित्र गुण कीर्तन त्रैलोक्य पूज्य है, एवं जो उत्कृष्ट धर्मध्यान में लीन है, क्या इस प्रकार का उपसर्ग करना उचित है ? इस महामुनि के समीप जैसे शास्त्रों की प्रवृत्ति का अवसर है वैसे शस्त्रों की प्रवृत्ति का अवसर नहीं है। अतः मैं शस्त्रों के बिना भी तेरा मद चूर-चूर करता हूँ।

अथानन्तर प्रस्तुत 'रत्नशिखण्ड' नाम के विद्याधर चक्रवर्ती ने उक्त कन्दल विलास नामक विद्याधर की केवल विद्याएँ ही नहीं छेदी अपितु उसने उसे निम्नप्रकार शाप भी दिया—'इस कुकृत्य से तू अवन्ति देश

मानसं भगवद्विघ्नकर्तनं चक्रवर्तिनमुपसृत्यावनतमुखाब्जः सन्नेवमवादीत्—'नाथ, भवतु नामैवम्। कथमन्यथैतस्मकीयं दुष्कर्म विफलोदयं स्यात्। स एष निसर्गजन्मभावः सरसामिव स्वामिनाम्, यः खलु युक्तायुक्तकारिषु सेवकेषु स्वच्छकलुषभावो नाम। तदलम्भयतामिदमेकं स्खलितमपुण्यभाजोऽस्य जनस्य। अनुगृह्यतां च शापावसानमनीषया पुनर्विद्याधरलोकावाप्तिकरेण वरेण' इत्यभिधाय तत्पादयोरुपरि निपपात। स महामुनिगुणवर्णनोदीर्णकीर्तिनर्तो विद्याधरचक्रवर्ती।

दण्ड एव हि नीचानां विनयाय न सत्क्रिया। ऋजुत्वे शिखिकाष्ठस्य नाग्नेरस्ति परो विधिः ॥५०॥

यः कोपः सापराधेषु यः प्रसादोऽनुवर्तिषु। स्वामिसत्त्वेन लोकोऽयं गुणकार्यपरायणः ॥५१॥

इति परामृश्य, उपयुज्य च तस्य भगवतः पर्युपासनविशेषाल्लब्धमवधिमुपजातानुक्रोशः 'खचर, मा ताम्य। उत्तिष्ठ।

की राजधानी उज्जयिनी नगरी में चाण्डाल-सरीखी जीविका वाला व 'चण्डकर्मा' ऐसे कुत्सित नामवाला कोट्टपाल होगा।' अथानन्तर उस 'कन्दलविलास' नाम के विद्याधर ने स्वयं किये हुए अनर्थ से उक्त रत्नशिखण्ड के शाप से भूमि-गोचरीपन स्वीकार किया और गुरु के उपसर्ग को छेदन करने वाले उस 'रत्नशिखण्ड' नामक विद्याधर चक्रवर्ती के समीप जाकर उसके चरणों में पड़कर नम्रीभूत मुख कमल वाला होकर उसने इस प्रकार कहा—'हे स्वामिन्! ऐसा हो, अर्थात्—मैं कोट्टपाल होऊँगा। अन्यथा—यदि [मैं भूमिगोचरी नहीं होऊँगा तो मेरा यह पापकर्म विफलोदय (विषम फल के उदय वाला) कैसे होगा? हे स्वामिन्! सरोवरसरीखे स्वामियों का यह जगत्प्रसिद्ध एवं प्रत्यक्षीभूत स्वाभाविक परिणाम होता है, निश्चय से जो (स्वाभाविक परिणाम), युक्त-अयुक्त करने वाले सेवकों के विषय में क्रमशः स्वच्छता व कलुषता उत्पन्न करता है। अर्थात्—जैसे तालाबों में स्नान करने वाले जब योग्य जल का उपयोग करते हैं तब तालाबों में स्वच्छता (निर्मलता) होती है और जब अयुक्त (बहुतर) स्नानादि करते हैं तब तालाबों में कलुषता (मलिनता) हो जाती है वैसे ही स्वामियों के सेवक जब युक्त (उचित) कर्तव्य में प्रवृत्त होते हैं तब स्वामियों में स्वच्छता (प्रसन्नता) उत्पन्न होती है और जब सेवक अधिकता से प्रवृत्ति करते हैं (अनुचित कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं) तब स्वामियों में उनके प्रति कलुषता (सकोपता) उत्पन्न होती है। उस कारण से इस मुझ पापी सेवक का एक अपराध क्षमा किया जाय और केवल मेरा अपराध क्षमा ही न किया जाय अपितु आप शाप को अन्त करनेवाली बुद्धि से फिर ही विद्याधर-लोक की प्राप्ति करनेवाले वरदान से इस सेवक का अनुग्रह कीजिए।

इस प्रकार कह कर उसके चरणों में गिर गया। तत्पश्चात् उस विद्याधर-चक्रवर्ती (रत्नशिखण्ड) ने, जो कि दिगम्बर महामुनियों के गुण-वर्णन से उत्पन्न हुई कीर्ति से नृत्य करनेवाला है और जिसे प्रस्तुत विद्याधर के ऊपर दयालुता उत्पन्न हुई है, चित्त में निम्नप्रकार विचार किया—'जैसे टेढ़ी लकड़ी को सरल करने में उसमें अग्नि लगाने को छोड़कर दूसरा कर्तव्य नहीं है वैसे ही निश्चय से नीच पुरुषों को शिक्षा देने के लिए (नम्र बनाने के लिए) दण्डनीति ही उपाय है। न कि उनका सत्कार उनको नम्र बनाने में कारण है[1] ॥ ५० ॥ राजा का अपराधियों पर जो क्रोध होता है और उसका अनुकूल प्रवृत्ति करवाले शिष्ट पुरुषों में प्रसाद (दानादि द्वारा सन्मान) होता है, उस कोप व प्रसाद से यह लोक गुण व कर्तव्य पालन में तत्पर होता है ॥ ५१ ॥'

तत्पश्चात् उसने उस पूज्य मन्मथमथन नामक ऋषि की भक्ति विशेष से प्राप्त हुए अवधिज्ञान से जानकर कहा—हे विद्याधर! खेद मत कर। उठो। देवताओं सरीखे राजाओं की आज्ञा सेवकों के प्रति

---

१. दृष्टान्तालंकारः।

न खलु प्रभूणां देवानामिव तोषरोषयोः सेवकेषु शुभमशुभं वा फलमसंपाद्य तदैव प्रत्यावर्तते शासनम् । तदाकर्णयान्यदेव तव तल्लोकावाप्तेः कारणम् ।

तथाहि—अस्ति खलु सकलसांसारिकसुखोपकरणरत्नाकरावनिसङ्गेषु कलिङ्गेषु द्विरदमदामोदमन्दकन्दरोदर-परिसरत्पवनपानपरमधुकरावलीनीलमणिमेखलाङ्कितनितम्बवसुंधरस्य महेन्द्रमहीधरस्याधिपतिः संजातमेदिनीरतिचित्तोऽपि द्विजातिस्तूयमानवृत्तः अकारणरोषप्रमत्तोऽपि निःशेषशिष्टाचारप्रवृत्तः सुदत्तो नाम राजा ।

यस्य विभवाभिवृद्धिस्तर्कुकलोकसंतर्पणाय, विद्यावैशारद्यं विद्वज्जनोपचरणाय, शौर्यपर्यायः शरणागतरक्षणाय, राज्यार्जनपरिग्रहः प्रजापरित्राणाय, प्रभुत्वावलम्बनं समाश्रितभरणाय, क्षात्रचरित्रवृत्तिः परार्थकरणाय, देवताप्रसादनं सत्पुरुषवरवितरणाय, साहसोत्साहानुष्ठानं महामुनिप्रत्यूहनिबर्हणाय, वीरविक्रमः साधकसाध्वसापहरणाय, सात्त्विकत्वमाश्रितप्रियधृतधर्मनिर्वहणाय ।

संतुष्ट होने पर शुभफल व रुष्ट होने पर अशुभ फल उत्पन्न किये बिना, तत्काल में ही—शाप देने के अवसर में ही नहीं लौटती । अर्थात्—जैसे देवता भक्तों पर सन्तुष्ट हुए शुभ फल देते हैं व रुष्ट हुए अशुभ फल देते हैं वैसे ही राजा लोग भी सेवकों पर सन्तुष्ट हुए शुभ फल व रुष्ट हुए अशुभ फल देते हैं । अतः जो मैं रुष्ट हुआ तुझे शाप दे चुका हूँ उसके अनुसार तुझे अशुभ फल अवश्य भोगना पड़ेगा । अतः तू सुन, पुनः विद्याधर-लोक की प्राप्ति का कारण दूसरा ही तुझे कहता हूँ, उसी बात का निरूपण करता है—

समस्त सांसारिक सुखों की आधार-भूत रत्न-खानियों की भूमि के संगम वाले कलिङ्ग देशों में 'महेन्द्र' नाम के पर्वत का, स्वामी ऐसा सुदत्त नाम का राजा है । जिसकी नितम्बभूमि ऐसी भ्रमर श्रेणीरूपी नीलमणिमयी मेखला (कटिनी) से चिह्नित है, जो कि हस्तियों के मद (दानजल) की सुगन्धि से आर्द्र हुई गुफाओं के मध्य भागों पर चारों ओर संचार करती हुई वायु के आस्वाद में लम्पट है । जो संजातमेदिनीरतिचित्त (म्लेच्छ स्त्रियों के साथ भोगविलास के मनवाला) हो करके भी द्विजातिस्तूयमान वृत्त (ब्राह्मणों से स्तुत्य आचार वाला) है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो म्लेच्छ-भार्याओं में अनुरक्तचित्त होगा, वह ब्राह्मणों से स्तुत्य आचार वाला कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि 'जो मेदिनीरतिचित्त (आसमुद्रान्त पृथिवी के पालने के मनवाला) है और अपि (निश्चय से) जो द्विजातियों (तपस्वी ब्राह्मणों से प्रशंसनीय चरित्रवाला) है और जो अकारणरोषप्रमत्त (निष्कारण क्रोध करनेवाला) होकर के भी निःशेष-शिष्टाचार प्रवृत्त (समस्त शिष्टाचारों में प्रवृत्त) है यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो निष्कारण क्रोध करनेवाला होगा, वह समस्त शिष्टाचारों में प्रवृत्त हुआ कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अक-आ-रणरोष-प्र-मत्त है । अर्थात्—जो अकुत्सित व चारों ओर से किये हुए संग्राम-कोप के कारण प्रकर्षरूप से हर्ष को प्राप्त हुआ है, जिससे जो समस्त शिष्टाचारों में प्रवृत्त है ।'[1]

जिस सुदत्त राजा की धनवृद्धि याचकजनों को भली प्रकार संतुष्ट करने के लिए है । जिसकी शास्त्र-चतुरता विद्वज्जनों की पूजा-निमित्त है । जिसकी शूरता का अनुक्रम शरणागतों के प्रतिपालन-निमित्त है । जिसका राज्य का उपार्जन स्वीकार प्रजालोक की रक्षा के लिए है । जिसके सामर्थ्य (शक्ति) का आश्रयण सेवक लोगों के पोषण के लिए है । जिसका क्षतत्राण लक्षण-वाला क्षात्र (क्षत्रियधर्म) एवं उसके आचार की प्रवृत्ति दूसरों के प्रयोजनों के पोषण के लिए है । जिसका देवों का प्रसन्न करना सत्पुरुषों के लिए वर (अभि-

---

१. विरोधाभासालंकारः ।

यस्य च जनन्यः परकलत्राण्येव, बन्धुवर्गः समाश्रितलोक एव, कुटुम्बकं सप्तसमुद्रावधि वसुधैव, जीवितं सत्यप्रतिपालनमेव, महाव्यसनं परोपकारनिघ्नतैव, व्रताचरणं क्षितिरक्षणमेव, योग्योद्योगः प्रजाकार्यानुशासनमेव, दक्षिणादक्षत्वं जगत्त्रयव्यवहारव्यवस्थापनमेव; अवभृथस्नानं परत्रेह च हितवृत्तिप्रवृत्तिषु स्वातन्त्र्यमेव, वीरत्वमरिषड्वर्गविजय एव, असिधाराव्रतमन्यायखण्डनमेव, ऐश्वर्यमाज्ञानुल्लङ्घनमेव ।

यस्य चासंतोषः श्रुतेषु, तर्षः सत्पुरुषसंग्रहेषु, मूकभावः स्वकीयगुणस्तवनेषु, बधिरत्वं दुर्जनोपदेशेषु, दर्शनपरावृत्तिरनर्थसंगमेषु, कामः पुण्यार्जनेषु, अक्षमा परोपतापेषु, विद्वेषो व्यसनेषु, असंतृप्तिः सुभाषितश्रवणेषु, आसक्तिः पुनः सद्गोष्ठीषु ।

यस्य च परिमितत्वं वाचि, कालहरणं कलासु, आशादर्शनं दिग्विजययात्रायाम्, श्रवणगतत्वं पूर्वपुरुषचरितेषु, अवधीरणमात्मसुखानाम्, अनवसरः कलिकालविजृम्भितस्य, महासात्त्विकं सकलजगदभ्युद्धरणेषु, ऐश्वर्यं विश्वम्भरतायाम्, न पुनरमीषां द्वन्द्वानि तस्य वदान्यतायां प्रत्युपकृतिषु मान्यजनसंभावनायां स्वच्छन्दवृत्तिषु च विषयभावमाजग्मुः ।

लषित वस्तु) देने के निमित्त है। जिसका अद्भुत कर्म संबंधी उद्यम विधान मुनियों के उपसर्ग-निवारणार्थ है। जिसका जयकुमार-आदि वीरों सरीखा पराक्रम साधकों (विद्या देवता को वश करनेवाले महात्माओं) के भय को नष्ट करने के लिए है और जिसका प्रसाद (प्रसन्नता) भगवान् ऋषभदेव से धारण किये हुए धर्म के निर्वाहनिमित्त है। दूसरों की स्त्रियाँ ही जिसकी माताएँ हैं। सेवकजन ही जिसका भ्रातृवर्ग है। सातसमुद्र पर्यन्त पृथिवी पर स्थित हुआ लोक ही जिसका परिवार वर्ग है। सत्यधर्म का प्रतिपालन ही जिसका जीवन है। परोपकार करने की अधीनता ही जिसका महाव्यसन है। पृथिवी का परिपालन ही जिसका व्रताचरण है। प्रजाजनों के कर्तव्य की शिक्षा देना ही जिसका उचित उद्यम है। पृथिवी मंडल पर स्थित हुए तीन लोक की सदाचार प्रवृत्ति को निश्चल करना ही जिसका दानचातुर्य है। परलोक व इस लोक में सुख उत्पन्न करनेवाले पुण्य कर्मों की प्रवृत्तियों में स्वाधीनता ही जिसका यज्ञान्त स्नान है। अरिषड्वर्गों (काम, क्रोधादि छह शत्रु-समूहों) पर विजयश्री प्राप्त करना ही जिसकी वीरता है। अन्याय का खण्डन करना ही जिसका असिधारा-व्रत (तलवार की धार सरीखा कठोर नियम) है एवं आदेश का प्रतिपालन ही जिसका ऐश्वर्य है।

जिसे तृष्णा शास्त्रों के अभ्यास में है व लोभ महापुरुषों के स्वीकार में है। और जो अपने गुणों की प्रशंसा करने में मौन रखता है। जो चुगलखोरों के वचनों के श्रवण करने में बहिरा है। अलाभ-संगतियों में जो नेत्र बन्द करता है। जो पुण्य-संचयों में अभिलाषा करता है। जिसका क्रोध परोपतापों के अवसर पर होता है। अर्थात्—दूसरों से सन्ताप दिये जानेपर जो क्षमा नहीं करता है। जिसे अप्रीति जुआ खेलना-आदि सातव्यसनों में है एवं असन्तोष सुभाषितों के श्रवण में है तथा आसक्ति विद्वानों की गोष्ठी में है। जो वचन में परिमित (अल्पभाषी) है किन्तु दान करने में परिमित (थोड़ा देनेवाला) नहीं है। जो समय-यापन लेखन व पठन-आदि कलाओं में करता है परन्तु दान करने में समय-यापन (विलम्ब) नहीं करता, अर्थात्—तत्काल देता है। जिसका आशादर्शन (दिशाओं का देखना) दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने में है परन्तु दान में जो आशादर्शन (याचकों की आकाङ्क्षा का यापन) नहीं करता, (तत्काल देता है)। जो पुराणपुरुषों की कथाओं के श्रवण में श्रुतिदान (ध्यान पूर्वक सुनना) करता है परन्तु प्रजाजनों की प्रार्थनाओं में श्रुतिदान—श्रवण-खण्डन (नहीं सुनना) नहीं करता। अर्थात् उनकी प्रार्थनाएँ अवश्य सुनता है। जो अपने सुखों का अनादर करता है परन्तु याचकों का अवधीरण—अनादर नहीं करता। जिसको दुष्ट कलिकाल के प्रसार का अनवसर (अप्रस्ताव) है, परन्तु जिसे याचकजनों के लिए अनवसर नहीं है। अर्थात्—जिसे दान करने का सदा अवसर है। जो समस्त लोक की रक्षा करने में प्रसन्न है एवं जिसका ऐश्वर्य सकल लोक के भरण-पोषण में है। इनके

यस्य चात्मसंधानविनीतवृत्तयः परविग्रहप्रशमनकुशलाः स्वभावगुणप्रणयिनः परिप्राप्तश्रवणा बाणा एवासाध्यसाधनोत्सवाः सचिवाः, परे तु केवलं सभाशोभार्थमस्थावराण्यलंकरणानि। स्वपरप्रजानां संपदापत्सिकरमसहायं साहसमेव पुरोहितः, परस्तु पर्वदिवसेषु वसुवितरणस्थानम्। अशेषशात्रवबलस्खलनहेतुरध्यामवर्यं शौर्यमेव सेनापतिः, परस्तु भृत्यभरणीयसमयसूचनं चेतनमुपकरणम्। अखिलसमुद्रावधिवसुधातले दुर्वारप्रसरपर्यमैश्वर्यमेव द्विषद्दण्डधरः प्रतीहारः, परस्तु सेवकानामुपासनावसरनिवेदनस्तीर्थपुरुषः। समराङ्गणेषु परहृदयंगमप्रवणानि शस्त्रसंप्रेषणान्येव दूतप्रणिधयः, परे तु राजनीतिप्रपञ्चाः। त्रिदशैरप्यप्रतिहताटोपाः प्रतापा एव दुर्गभूमयः, परास्तु विभवविनियोगद्वाराणि। वेषसाध्य-

---

जोड़े अर्थात्-परिमितत्व (थोड़ा दान करना) व कालहरण (दान में विलम्ब करना) यह पहला जोड़ा। आशादर्शन (याचकों की आकांक्षा का भङ्ग करना) श्रवणगलत्व (प्रार्थनाओं का न सुनना) यह दूसरा जोड़ा। अवधीरण (याचकों का तिरस्कार) व अनवसर (मौका न होना) यह तीसरा जोड़ा और महासात्विकत्व (प्रसन्न रहना) व ऐश्वर्य यह चौथा जोड़ा। उक्त चारों जोड़े क्रमशः जिसकी प्रेमपूर्वक त्यागशीलता में और प्रत्युपकारों के करने में एवं पूज्य पुरुषों के सत्कार करने में तथा स्वेच्छाचारों (अनैतिक प्रवृत्तियों) में विषय भाव को प्राप्त नहीं हुए। अर्थात्—जिसकी प्रेमपूर्वक की हुई दानशीलता में थोड़ा दान करना व विलम्ब से दान करना नहीं है। जो प्रत्युपकारों के करने में याचकों की आकाङ्क्षाओं का भङ्ग न करता हुआ तत्काल दान देता है तथा उनकी प्रार्थनाओं को सुनता है। एवं जो पूज्य पुरुषों के सत्कार करने के अवसर पर उनका तिरस्कार नहीं करता एवं अवसर नहीं चूकता। अर्थात्—आज मेरा कुटुम्बीजन मर गया है; अतः अभी दान देने का अवसर नहीं है इत्यादि नहीं करता। जो अपनी प्रसन्नता व ऐश्वर्य का उपयोग स्वेच्छाचारों में नहीं करता।[1]

जिसके ऐसे बाण ही मन्त्री हैं, जो कि अपने सन्धान (योजन) में नम्रवृत्ति-युक्त हैं और मंत्री भी सन्धि कार्य करते हैं। जो, शत्रुओं के युद्ध को शान्त करने में दक्ष हैं और मन्त्री भी युद्ध को शान्त करते हैं। जो स्वभावगुणप्रणयी (प्रकृति से धनुष की डोरी पर स्थायी) हैं और मन्त्री भी स्वभावगुणप्रणयी (सन्धि व विग्रह-आदि में स्नेह करनेवाले) होते हैं तथा जो परिप्राप्तश्रवण (आकर्षण-वेला में खींचनेवाले के श्रवण (कान) प्राप्त करनेवाले) हैं और मन्त्री भी परिप्राप्त श्रवण (गुप्तमन्त्र के कथन के लिए कानों के समीप जानेवाले) होते हैं एवं जो असाध्य साधनोत्सव (शत्रु को मृत्यु-प्रापण में उद्यम करने वाले) हैं और मन्त्री भी असाध्य कार्य को सिद्ध करते हैं दूसरे मंत्री तो केवल राजसभा की शोभा के लिए जङ्गम आभरण मात्र हैं। अपनी प्रजाओं में लक्ष्मी उत्पन्न करने वाला और शत्रुओं की प्रजाओं में आपत्ति उत्पन्न करने वाला अद्वितीय साहस (अद्भुत कर्म) ही जिसका पुरोहित (राजगुरु) है दूसरा पुरोहित तो अमावस्या-आदि पर्वदिनों में धन देने का स्थानमात्र है। समस्त शत्रु समूह की शक्ति को नष्ट करने में कारणीभूत व स्वभाव से मुख्य जिसकी वीरता ही सेनापति है, दूसरा सेनापति तो सेवकों के भरणपोषण संबंधी समय का कथन करने वाला सजीव उपकरण है। चार समुद्रों की मर्यादावाले पृथिवीमण्डल पर दुःख से भी निवारण करने के लिए अशक्य प्रवृत्ति वाला जिसका ऐश्वर्य (प्रभुत्व) ही शत्रुओं के ऊपर दण्ड-निपातन करने वाला प्रतीहार (द्वारपाल) है, दूसरा द्वारपाल तो सेवकों को सेवा का अवसर निवेदन करनेवाला पात्रभूत पुरुषमात्र है। युद्धाङ्गणों पर शत्रुओं के हृदय विदीर्ण करने में चतुर जिसके शस्त्र-मोचन ही दूत (राजा का संदेश व शासन (लेख) को ले जानेवाले) व प्रणिधि (गुप्तचर) हैं, दूसरे दूत व गुप्तचर तो अर्थशास्त्र के विस्तारमात्र हैं। देवों द्वारा भी नष्ट करने के लिए अशक्य विस्तारवाले जिसके प्रताप ही दुर्गभूमियाँ (जलदुर्ग, वनदुर्ग व वायुदुर्ग-भूमियाँ)

---

१. यथासंख्यालंकारः।

तुलितं बाहुबलविजृम्भितमेव वप्रः, परस्तु विनोदवारणानामपाश्रयभूमिः। वनमृगैरप्यनुल्लङ्घनीयप्रभावाज्ञैव प्राकारः, परस्तु पुरस्य पांसुस्पर्शनिवारणपरिच्छदः। सकलसपत्नव्यापितकदर्थनसमर्थनावतारः सव्येतरः कर एव परिघः, परे तु दौवारिकाणां विश्रामविष्टराणि। दुर्वृत्तारातिकुलनिमज्जनजलाधारा खड्गधारैव परिखा, परास्तु नगराङ्गनानां जलक्रीडाविकरणानि। समस्तक्षितिरक्षणक्षमः पराक्रम एव परिवारः परस्तु श्रीविलासाडम्बरः। निजकीर्तिसुधाधवलितापघनं[1] त्रिभुवनमेव विहारहर्म्याणि, पराणि तु राज्यलक्ष्मीचिह्नानि। चतुरुदधिमेखला वनमनोहरा वसुंधरैव प्रियकलत्राणि, पराणि तु वंशाभिवृद्धिनिबन्धनानि धर्मक्षेत्राणि।

यस्य चाहवाङ्गणरङ्गेष्वनवरतमुक्तशरासारवर्षविकर्तरितमुखमण्डलानामहितकबन्धानां नर्तनक्रियासु परमैकान्तरसिकता, न पुनरितरास्वर्थदूषणपरासु। अद्भुतसमरावसरेष्वाश्चर्यशौर्यपरितोषितानाममरवृन्दारकाणामानन्दातोद्यवादनेषु प्रकर्षतृष्णालुता, न पुनरितरेषु शरीरायासकरेषु। त्रिविष्टपकुटीकोटरविहारिणा नरनिलिम्पाम्बरचरलोकेन निजविजयनामाङ्कमुद्भगस्य गीतस्य गायने नितरां स्पृहयालुता, न पुनरितरस्य हृदयहरिणहरस्य। कदनमेदिनीषु दुर्वार-

---

हैं। दूसरी जलदुर्गादि भूमियाँ तो केवल लक्ष्मियों के विशेष रूप से अधिकार द्वार हैं। जिसकी भुजाओं का सामर्थ्य-प्रसार ही, जिसकी तुलना श्रीब्रह्मा के साथ भी नहीं की जा सकती, वप्र (दुर्ग की-आधारभूत भित्ति) है और दूसरा वप्र तो क्रीड़ागजों का आश्रयस्थान मात्र है। जंगली मृगों द्वारा भी उल्लंघन करने के अयोग्य माहात्म्य वाली जिसकी आज्ञा ही प्राकार (कोट) है, दूसरा दुर्ग तो नगर संबंधी धूलियों के स्पर्श-निवारण के लिये उपकरणमात्र है। जिसका दक्षिण हस्त ही जिसका समस्त शत्रुओं के विस्तार को नष्ट करने के निश्चय वाला है, अर्गला (वेंड़ा) है और इसके सिवाय दूसरी अर्गलाएँ तो द्वारपालों के खेद को दूर करने के आसनमात्र हैं। दुराचारी शत्रु-वंशों के डूबने में जल की आधारभूत जिसकी खड्गधारा ही परिखा (खाई) है दूसरी परिखाएँ तो केवल नागरिक कामिनियों की जलक्रीड़ा के स्थानमात्र हैं। जिसका समस्त पृथिवी के परिपालन करने में समर्थ पराक्रम ही परिवार (कुटुम्ब) है और दूसरा परिवार तो लक्ष्मी के विलास का विस्तारमात्र है। अपनी कीर्तिरूपी सुधा से उज्वलीकृत शरीरवाला तीन लोक ही जिसका क्रीडागृह है। और दूसरे क्रीडागृह तो राज्यलक्ष्मी के चिह्नमात्र हैं। जिसकी चार समुद्ररूपी मेखला (करधोनी) वाली व वनोंसे मनोज्ञ ऐसी पृथिवी ही प्यारी स्त्रियाँ हैं और दूसरी प्यारी स्त्रियाँ तो वंश (कुल व पक्षान्तर में बांस) की चारों ओर से वृद्धि में कारणीभूत धर्मक्षेत्र (दान आदि पुण्य कर्मों का स्थान) हैं, अर्थात्—जैसे खेतों में वंशों—बांसों की वृद्धि होती है।

जो सुदत्त महाराज शत्रु-कबन्धों (शिर-रहित शरीर-धड़ों) की, जिनके मुखमण्डल संग्रामाङ्गणरूपी नाट्यशालाओं में निरन्तर फैंके हुए बाणों की मूसलधार वेगशाली वृष्टि से विशेषरूप से खण्डित किये गये हैं, नृत्यचेष्टाओं में ही केवल विशेषरूप से रसिक (अनुरक्त हृदय) हैं और दूसरी कामिनियों की नृत्यक्रियाओं में, जो कि धन संबंधी दोष (विनाश) उत्पन्न करने में तत्पर हैं, रसिक—आसक्त नहीं हैं। जो विषम संग्रामकालों में आश्चर्यजनक वीरता से आनन्दित किये गए देवों के मध्य प्रधान देवों के आनन्दजनक बाजों की ध्वनि के सुनने में विशेषरूप से तृष्णालु हैं किन्तु शरीर को कष्ट करनेवाले दूसरे तत, वितत, धन व सुषिररूप बाजों के बादन में तृष्णाशील नहीं हैं। जो सुदत्त महाराज तीन लोकरूपी गृह के मध्य विहार करनेवाले भूमिगोचरी मानव, देवता व विद्याधरों के समूह से अपनी विजयश्री के कारण जीते हुए राजाओं के नामाङ्कन से प्रीति-

---

१. 'निजकीर्तिसुधाधवलितं त्रिभुवनमेव' इति (क) प्रतौ पाठः।

वैरिकरिशिरोविदारणेषु महती मृगयाव्यसनपरवशता, न पुनरितरेषु निरपराधेषु वनमृगेषु । नृपयशाजिराष्टापदभूमिकायां चरगमगतिबन्धैररातिचतुरङ्गेषु प्रकामं द्यूतदुर्ललितता, न पुनरितरेषु नरपालकुलकलङ्कभरेषु । सकलरत्नाकरमणिमेखलायां वसुमतीयोषायां नितान्तं सक्तता, न पुनरितरेषु स्वशरीरधर्मधनविध्वंसनेषु विलासिनीजनेषु । अनन्यसामान्यसंग्रामाजितजयानिलविजृम्भितेन सुभटकुटजाटवीविलुण्ठनपटुनावलेपानलेन दुर्धर्षाणां द्विषामशेषयशःपानेष्वतीवशौण्डता, न पुनरितरेष्वैहिकामुत्रिकफलविलोपनोद्धतेष्वासवेषु । अकाण्डजगदुपद्रवदानवेषु मानवेषु दण्डपारुष्ये बाढं मनोमनीषितानि, न पुनर्भ्रूलतोल्लासवशावर्तनेषु परिजनेषु । रणकेलिकण्डूलानामरीणामायोधनवसुधायामभिमुखीभावकरणेषु वचःकार्कश्यव्यवहारे परमं नैपुण्यम्, न पुनरवलोकनमात्रविनयपरिष्वजासु प्रजासु । अखण्डब्रह्माण्डडिम्बडमरकरालैः प्रतिपक्षव्यालैः संचितस्य कीर्तिकुलधनस्यापहारे गाढं गृध्नुता, न पुनरात्माभ्युदयप्रणयिभिरुपार्जितस्य द्रविणोर्जितस्य, संपरायपरावारेषु शत्रुशल्लकीवनभङ्गप्रलोभनेन गजग्रहणेषु महान्ति कुतूहलानि, न पुनरितरेण चौरचारपाशादिनोपायव्यतिकरेण ।

आसंसारमवैमनस्यसंमुरभिषु यशश्चन्दनवनेषु साभिलाषं मनः, न पुनरितरेषु क्षणमात्रपरिमलमनोहरानुबन्धेषु गन्धेषु ।

जनक हुए गीत के गाने में विशेष उत्कण्ठित है, न कि मनरूप मृग के मोहक दूसरे शृङ्गार-आदि गीतों के गाने में उत्कण्ठित है। जो सुदत्त महाराज युद्ध भूमियों में दुःख से भी जीतने के लिए अशक्य शत्रु संबंधी हाथियों के गण्डस्थलों के छेदने में विशेषरूप से शिकार व्यसन के पराधीन है किन्तु दूसरे निरपराधी जंगली मृगों की शिकार करने रूपी व्यसन के पराधीन नहीं है। जो सुदत्त महाराज युद्धाङ्गणरूपी (शतरञ्ज खेलने की भूमि) पर चरगम (गुप्तचरों का भेजना), व गतिबन्धों (शत्रु-शिविर के चारों ओर घेरा डालना) से शत्रुओं की चतुरङ्ग सेनाओं (हाथी व घोड़े-आदि) के विषय में विशेषरूप से द्यूत-दुर्ललित (विजयश्री प्राप्त करने की इच्छा के कारण विचार-हीन) है परन्तु राजवंश को कलङ्कित करनेवाले दूसरे चतुरङ्गों (शतरञ्ज व पांसों की क्रीड़ाओं) में चर (दूसरे स्थानों में घोड़े आदि का प्रवेश) व गम (दूसरे स्थान में घुसना एवं गतिबन्ध (दूसरे शतरञ्ज संबंधी घोड़े आदि को चारों ओर से घेरना) से विशेषरूप से द्यूतदुर्ललित (जुआ खेलने का अनिवारक) नहीं है (जुआ खेलने का त्यागी) है। जो सुदत्त महाराज चार समुद्ररूपी मणिमेखला-शालिनी पृथिवी रूपी स्त्री में विशेषरूप से आसक्त हैं परन्तु दूसरी वेश्याओं में, जो कि शरीर धर्म व धन को नष्ट करनेवाली हैं, आसक्त नहीं हैं।

जो सुदत्त महाराज ऐसी गर्वरूपी अग्नि से भयङ्कर शत्रुओं के, जो कि अनोखे संग्राम में स्वीकार की हुई विजयरूपी वायु से वृद्धिगत हुई है और जो वीर योद्धारूपी कुटजों (शक्रतरुओं) के वन को भस्म करने में दक्ष है, समस्त यशों के पान करने में ही मद्यपी (नशेबाज) हैं परन्तु इसलोक व परलोक संबंधी सुख को नष्ट करने में गरिष्ठ दूसरे मद्यों—शराबों—से मद्यपी नहीं हैं। जिस सुदत्त महाराज के सहसा जगत के ऊपर उपद्रव करने में दैत्यप्राय मनुष्यों के लिए कठोर दण्ड देने के चित्त-मनोरथ विशेषरूप से है, परन्तु भ्रुकुटिलता के क्षेपमात्र से अपने अधीन हुए सेवकों के लिए कठोर दण्ड देने के चित्त-मनोरथ नहीं है। जो संग्राम-क्रीड़ा में विशेष उत्कण्ठित हुए शत्रुओं के प्रति संग्राम के लिए युद्धभूमि पर आने के अवसरों पर अति कठोर भाषण करने में विशेष निपुण है परन्तु सामने देखने मात्र से विनययुक्त हुई प्रजाओं के प्रति अति कठोर भाषण करने के व्यवहार में निपुण नहीं है। जिसे समस्त पृथ्वीमण्डल का विनाश करने से उत्पन्न हुए भय से भयङ्कर शत्रुरूपी कालसर्पों से रक्षा किये हुए कीर्तिरूपी कुलधन के अपहार की विशेष लुब्धता है, परन्तु अपनी उन्नति में स्नेह करनेवाले हितैषियों से संचय किये हुए प्रशस्त धन का अपहरण करने में लुब्धता नहीं है। युद्धभूमि, हाथियों के पकड़ने की भूमि व हाथियों के पकड़ने की खाई, इनमें शत्रुरूप शल्लकी वृक्षों के भङ्ग का लोभ दिखाकर, जिस सुदत्त महाराज

अपरजनासाधारणेषु गुणमणिविभूषणेषु महानाग्रहः, न पुनरितरेषु देहखेदावहेषूपलशकलनिवहेषु । निखिलजगन्मङ्गलविधानाङ्गेषु[1] [2]सच्चरितेष्वभीक्ष्णं रक्षणप्रयत्नः, न पुनः सर्वजनसाधारणेषु[3] प्राणेषु ।

यस्य च सप्तसमुद्रमेखलावनिविलोकनजातकौतुकस्याभूदभिमुखीभावः शत्रूणां प्राभृतेषु, न शस्त्राणाम् । विग्रहः[4] प्रणतिषु, नापकारमनीषायाम् । द्विधाभावः[5] सेवाकर्पटेषु[6], नोपचारकार्याणाम् । पतनं भृत्यभावेषु, न चामराणाम् । प्रसारणं सर्वस्वार्पणेषु, नातपत्राणाम् । प्रबन्धः[7] कण्ठकुठारेषु, न मदविजृम्भितानाम् । [8]प्रतापावलम्बनमसहायसाहसावेशविधिषु, नैश्वर्यसंभावनायाम् । आरोपणं शिरसि प्रणामाञ्जलिषु, न धनुषि मौर्वीणाम् ।[9]

के हाथियों के पकड़ने के महान् कौतूहल हैं, परन्तु चौर, गुप्तचर, पाश-समूह हैं आदि में जिसके ऐसे दूसरे उपाय प्रघट्टक द्वारा जिसे हाथियों के पकड़ने से महान् कौतूहल नहीं है।

जिस सुदत्त महाराज का चित्त संसार पर्यन्त स्थिरतारूपी सुगन्धिवाले यशरूपी चन्दन के विलेपनों में अभिलाषा-युक्त है किन्तु विनश्वर सुगन्धि से मनोज्ञ संबंधवाले दूसरे सुगन्धि पदार्थों (चन्दनादि) में अभिलाषा-युक्त नहीं है। दूसरे मनुष्यों में न पाये जानेवाले ज्ञानादि गुणरूपी मणियों के आभूषणों में जिसे प्रगाढ़ अनुराग है किन्तु शरीर में खेद-जनक दूसरे पाषाण-खण्डों (रत्नादि) के समूहों में प्रगाढ़ अनुराग नहीं है। समस्त लोक को आनन्दित करने के पात्र सदाचारों की निरन्तर रक्षा के लिए जिसकी चेष्टा है किन्तु समस्त प्राणियों में साधारण रूप से पाये जानेवाले प्राणों की रक्षार्थ जिसकी निरन्तर चेष्टा नहीं है। सातसमुद्र रूपी करधोनी वाली पृथिवी को देखने के उत्पन्न हुए कुतूहलवाले जिस सुदत्त महाराज की शत्रुभूत राजाओं के उपहारों के ग्रहण करने में सन्मुखता थी, न कि शस्त्रों के ग्रहण करने में। जो नमस्कारों के करने में विग्रह (अभिमुखीभूत) था, परन्तु अपकार करने की बुद्धि का विग्रह (विस्तार) नहीं करता था। जो सेवा करने में कुटिल शत्रुओं के साथ द्विधाभाव (शत्रुता) करता था, परन्तु उपचार (प्रजापालन-आदि व्यवहार) कार्यों में द्विधाभाव (चित्तवृत्ति के दो खण्ड करना—अस्थिरता) नहीं करता था अथवा उपचार (सेवनीय) शरणागतों का द्विधाभाव (विनाश) नहीं करता था। जिसके यहाँपर भृत्यभावों (भृत्यरूपी पदार्थों—सेवकों) में पतन (नम्रता) था परन्तु चमरों का पतन (विनाश) नहीं होता था। अर्थात्—निरन्तर चँवर ढोरे जाते थे। जिसका प्रसारण (विस्तार गुण) समस्त धनादि के अर्पण में था परन्तु जिसके छत्रों का प्रसारण (निर्गमन—हटना) नहीं था अर्थात्—सदा छत्रधारी था। जो अभिमानी शत्रुओं के गलों पर [उनका मद चूर-चूर करने के लिए] कुठार का प्रबन्ध (प्रकृष्ट बन्धन) करता था परन्तु अहङ्कार के विस्तारों का प्रबन्ध (संबंध) नहीं करता

---

१. 'निखिलजगन्मङ्गलविधायिषु' इति ह. लि. (क) प्रतौ पाठः।
२. अमत्राणि भाजनानि इति पञ्जिकाकारः।
३. 'सर्वजनसाधारणेषु' इति ह. लि. (क) प्रतौ पाठः।
४. विग्रहोऽभिमुखीभूतः 'विग्रहो युधि विस्तारे प्रविभागशरीरयोः'।
५. शत्रूणामिति भावः पक्षे द्विखण्डकरणं।
६. सेवायां कुटिलेषु। उपचारस्तु लञ्चायां व्यवहारोपचर्ययोः।
७. प्रकृष्टबन्धनं शत्रूणां मानत्यजने गले कुठारस्य नाहंकारस्य बंधनं।
८. असमर्थानां साहाय्यकरणे।
९. परिसंख्यालंकारः। अस्य लक्षणं तु एकत्र निषिध्यान्यत्र वस्तुस्थापनं परिसंख्या।

यस्य च निजप्रतापसंपादितोत्सवभरायां विश्वंभरायामनन्यसामान्यमात्मैश्वर्यमवलोकमानस्य रथचमूचक्रचर्या-चूर्णितनिःशेषशैलमूलेषु हयानीकोद्रेकखरखुरोद्भूतधूलीपटलपूरितसकलपातालमूलेषु करटिघटाकराटोपविलुण्ठितसमस्त-महाटवीगहनेषु सुभटसैन्यदोर्दण्डस्खलितनिखिलसालवलनेषु द्विषद्विषयेषु परं कात्यायनीप्रतिमास्वेव दुर्गत्वमवतस्थे ।

एवं तस्य कलिङ्गाधिपतेः सप्तपाथोराशिरत्नालंकारपात्रं कुलकलत्रमिवावनिवलयं निहालयतः[1] स्वभावादेव दयार्द्रहृदयस्य धर्मामृतरसास्वाददोहदविदूरितसंसारसुखोदयस्य 'समलकलश इवायं कायो बहिष्कृतयत्ननिर्णेजनोऽपि न जहाति निजां प्रकृतिम्, अत्याधानकाष्ठमिव देहिनां भवदुःखपरशुपाताय विषयोपसेवनमाधुर्यमिति विदन्तोऽपि कथमनया बहिःप्रदर्शितापातसुन्दराडम्बरयावसानविरसया पांसुलयेव श्रिया प्रतार्यन्ते मुग्धबुद्धयः क्षोणीश्वरा.'

इति परामर्शशल्यसाम्राज्यमहाभिनिवेशस्य पूतिपुष्पमिव केवलं त्वचि मनोहरं कामिनीजनम् वितर्कयतः 'को नु खलु विश्वंभरे

था। जो असमर्थों की साहसादेशविधि (सहायता करने) में प्रताप (सैनिक व कोशशक्ति) का अवलम्बन (आश्रय-सहारा) करता था, परन्तु अपने ऐश्वर्य (राज्य विभूति) की संभावना (प्रसिद्धि) में प्रताप (प्रकृष्ट सन्ताप का प्रकाशन) नहीं करता था। अर्थात्—किसी को सन्तापित नहीं करता था। जो मस्तक पर नमस्कार अञ्जलियों को आरोपण (धारण) करता था परन्तु धनुष पर डोरियों का आरोपण—स्थापन (चढ़ाना) नहीं करता था। जिस सुदत्त महाराज के, जो कि अपने प्रताप से प्राप्त किये हुए उत्सवों की अधिकतावाली पृथिवी पर अपनी अनोखी राज्यविभूति को देख रहा था, ऐसे शत्रुदेशों में, केवल कात्यायनी (पार्वती—दुर्गा) की मूर्तियों में ही दुर्गत्व (दुर्गापन-पार्वतीपन) स्थित था, परन्तु शत्रुदेशों में दुर्ग (किले) नहीं थे।

जिनमें (शत्रुदेशों में) रथ-सेना के पहियों के संचार से समस्त पर्वतों के मूल (नीचे के भाग) चूर-चूर किये गए हैं। जिनमें घोड़ों की सेनाओं की अत्यन्त तीक्ष्ण टापों से उड़ी हुई धूली-समूह द्वारा समस्त पातालमूल (अधोलोक के नीचे भाग) पूरित (व्याप्त) किये गए हैं। जिनमें हाथियों के समूह की सूँडों के विस्तार से समस्त विशाल अटवियों के वृक्ष-समूह उखाड़े गए हैं और जिनमें वीर सैनिकों के भुजारूपी दण्डों से समस्त प्राकारों (कोटों) के घुमाव तोड़े गए हैं। प्रसङ्गानुवाद—अथानन्तर 'रत्नशिखण्ड' ने कहा—हे नवीन अपराधों के पात्र 'कन्दलविलास' विद्याधर! एक समय राजदरबार में स्थित हुए उस ऐसे कलिङ्ग देशाधिपति सुदत्त महाराज के समक्ष, जो सात समुद्ररूपी रत्नमयी करधोनी के पात्र पृथिवीमण्डल का वैसा प्रतिपालन कर रहा था जैसे रत्नाभरण-विभूषित कुलवधू प्रतिपालन की जाती है। स्वाभाविक दया से सरस हृदयवाले जिसने धर्मरूपी अमृत के रसास्वादन की उत्कट अभिलाषा के कारण सांसारिक सुखों का उदय दूर कर दिया है। जिसका साम्राज्यरूपी महाभिनिवेश (भूतपिशाच की लीनता) निम्नप्रकार के उत्कृष्ट विचार से शिथिल हो गया है। 'यह शरीर मूत्र (मल) से भरे हुए घटसरीखा है, जो कि बाह्य स्नानादि प्रयत्नों द्वारा प्रक्षालन किया हुआ भी, अपना स्वभाव (अपवित्रता) नहीं छोड़ता। विषयों के भोग की मधुरता प्राणियों के ऊपर वैसी सांसारिक दुःखरूपी परशु के पातन (गिराने) के निमित्त है जैसे अधस्तनकाष्ठ (लकड़ी के ऊपर रखी हुई लकड़ी) परशु के पातन के निमित्त होता है। इस प्रकार जानते हुए भी मुग्धबुद्धिवाले राजा लोग व्यभिचारिणी स्त्री-सरीखी इस राज्यलक्ष्मी द्वारा, जिसने अनुभव काल में बाह्य मनोज्ञ आडम्बर प्रकट किये हैं और जो परिणाम (उत्तरकाल) में विरस (दुःख देनेवाली) है, किस प्रकार ठगाए जाते हैं?

इसी प्रकार जो 'स्त्रीजन को सड़े हुए कूष्माण्डफल-सरीखा केवल त्वचा से मनोज्ञ प्रतीत होनेवाला' विचार रहा है एवं निम्नप्रकार के निर्दोष उपदेश से जिसका मोहरूपी जाल छिन्न भिन्न किया जा रहा है—'समस्त विश्व का भरण-पोषण करनेवाले राजाओं में निश्चय से कौन ऐसा राजा है? जो यमराज के नगर में

१. विह्वलगिति लिबंबति ? मत्स्यादयः कर्षकाः छेदयन्ति तान् राजा प्रयुङ्क्ते—'प्रतिपालयतः' इत्यर्थः।

प्रवरेषु विशांपतिषु न विवेश कीनाशनगरम्, यं चेयं निसर्गचपला न तत्याज लक्ष्मीः, येन समं जगामेयं भूमिः, यस्मै न दुद्रोह प्रयत्नपरिपालितोऽपि स्त्रीलोकः, यस्मादवचकहे न जन्मजरामरणवर्गेण, यस्य न बभूवुराधिराक्षस्यः, यस्मिन्न लेभिरे गोचरतां संसारारणिसमुत्थानोल्लोलाः प्रायेण दुःखानलज्वालाः' इत्यनात्मीनबोधदेशविशीर्यमाणमोहपाशस्य विततमप्यात्मनो विभवं परलोकावलोकनप्रतिसरमिवाकलयतः 'हंहो सरसापराधगोचरखेचर, एकदा प्रणामोन्मुखलेखवैखानसीमुखमण्डन-घनघुसृणरसलोहितकरे विकचनिचुलमञ्जरीजालपिञ्जरितशैलशिरोदृषदि सिन्दूरपरागपिञ्ज[1]रितसुरवारणकुम्भस्थले हरि-रोहिणा[2]रुणितगगनगमनाङ्गनाकपोलशालिनि प्रवालाङ्कुरोत्करनिकीर्णदिक्चक्रवाले रविकान्तशिलासंचारितवहनवर्ति[3]नि तमिस्ररजस्वलतया पुरस्तादपसरन्तीषु नक्षत्रपङ्क्तिषु रक्ताम्बरशोभामिव बिभ्राणे अनवरतखचरसहचरीकरविकीर्यमाण-रक्तचन्दनद्रवद्विगुणशोणिम्नि सति सवितृबिम्बे, नृपतिमनोवाहरणकथास्विव विशालतां गतासु दिक्षु, निर्मुक्तनीलनिचोलेष्विव

प्रविष्ट नहीं हुआ ? कौन ऐसा नरेश है ? जिसे इस स्वभाव-चञ्चला लक्ष्मी ने नहीं छोड़ा ? कौन ऐसा पृथिवीपति है ? जिसके साथ इस पृथिवी ने प्रस्थान किया ? कौन ऐसा राजा है ? जिससे प्रयत्नपूर्वक भरण पोषण किये हुए भी स्त्री-समूह ने द्रोह नहीं किया ? कौन ऐसा नरेश्वर है ? जिससे जन्म, वृद्धावस्था व मरण लक्षणवाला दुःख-समूह उत्तीर्ण हो गया (दूर हो गया) ? कौन ऐसा भूमिपति है ? जिसकी मानसिक व्यथाएँ रूपी राक्षसियाँ उत्पन्न नहीं हुईं ? कौन ऐसा भूपति है ? जिसके ऊपर प्रायः करके दुःखरूपी अग्नि की ज्वालाओं ने, जो कि संसाररूपी अरणि (शमी काष्ठ) से उत्पत्ति के कारण विशेष लपटोंवाली हैं, अधिकार नहीं जमाया ? जो अपनी विस्तृत राज्य सम्पत्ति को भी परलोक (स्वर्गादि) दर्शन के लिए यवनिका (नाटक का परदा) सरीखी निश्चय कर रहा है', कोट्टपाल ने प्रविष्ट होकर एक चोर को, जिसने नगर के नाई के प्राण लेकर उसका समस्त धन अपहरण किया था, लाकर दिखाया।

किस वेला में कोट्टपाल ने चोर दिखाया ? एक समय जब प्रभात-वेला में सूर्यबिम्ब निम्नप्रकार का हो रहा था। जिसकी किरणें नमस्कार करने में उद्यत हुईं देव-तापसियों (अरुन्धती-आदि) के मुखों को (अलङ्कृत—सुशोभित) करनेवाले घने कुङ्कुमरस-सरीखीं लालिमायुक्त हैं। जिसने पर्वत संबंधी शिखर के विस्तृत पाषाण विकसित कदम्बमञ्जरी के रक्त पुष्प-समूह-सरीखे मुकुट-युक्त किये हैं। जिसने ऐरावत हाथी के गण्डस्थल सिन्दूर के चूर्ण-सरीखे पिञ्जरित (पीतरक्त) किये हैं। जो हरिरोहिण[2] (लालचन्दन) से लाल किये हुए विद्याधरियों के गालोंसरीखा शोभायमान हो रहा है। जिसने दिशा-समूह, प्रवाल की अङ्कुर-श्रेणियों से व्याप्त किये हैं। जिसके द्वारा सूर्यकान्तमणियों की शिलाओं पर अग्नि-वर्ति[3] (बत्ती) संचारित की गई है। जब नक्षत्र-श्रेणियाँ (जिनमें अलङ्कार से स्त्रियों का आरोप किया गया है) अन्धकार से रजस्वला (अन्धकाररूपी धूलि-युक्त व पक्षान्तर में पुष्पवती) होने से सामने से भाग रही थीं—अस्त हो रहीं थीं तब जो (सूर्यबिम्ब) उनकी रक्ताम्बर (लाल आकाश व पक्षान्तर में लाल साड़ी) सरीखी कान्ति धारण कर रहा है। जिसकी लालिमा निरन्तर विद्याधरियों के हस्तों द्वारा फेंके हुए तरल रक्तचन्दन से दुगुनी हो गई है। इसी प्रकार जब दिशाएँ वैसी विशालता (मृग, पक्षी, या वृक्ष विशेषों से युक्तता) को प्राप्त हो रहीं थीं जैसे राजाओं की यशोगान कथाएँ विशाल (विस्तृत या प्रसिद्ध) होती हैं। जब प्रकट आकारवाले महलों के शिखर ऐसे मालूम पड़ते थे, मानों—उनका अन्धकाररूपी अँगरखा हट गया है।

---

१. 'पिञ्जरस्तु पीतरक्तेऽश्वभिद्यपि पिञ्जरं शातकुम्भे।'

२. 'हरिरोहण' इति ह. लि. (क) प्रतौ पाठः। 'हरिचन्दनं'।

३. वर्तिर्गात्रानुलेपिन्यां दशायां दीपकस्य च। अपि भैषजनिर्माणनयनाञ्जनलेखयोः ॥ १ ॥

प्रकटाकृतिषु प्रासादशिखरेषु, सितेतरेष्विव राजहंसोपसेव्यमानकोशेषु पौष्करेयकाननेषु, प्रफुल्लकमलकाननमधुपानमत्त इव मन्दमन्दसंचारिणि प्रवाति वैभातिके मरुति, प्रत्यावृत्तेषु च दत्तदक्षिणेषु द्विजेष्विव राजकुलानां सेवावसरेषु कृतास्थानस्य प्रविश्य तलवरः परिमुषितनगरनायितप्राणद्रविणसर्वस्वमेकमैकागारिकमानीयादर्शयत् । स राजा तमवलोक्य धर्मस्थीयानां मुखानि व्यलोकिष्ट । धर्मस्थीयाः—देव, अनेन मलिनात्मना मलिम्लुचेनाद्वितीयं साहसमनुष्ठितमेकं तावद्रात्रिर्मुषितान्यच्च सुषुप्तमनुष्यहिंसा कृता । तदस्य पाटच्चरस्य चक्रीवदारोहणोच्छिष्टशरावशिरोराजिबन्धविडम्बनपूर्वकश्चित्रो वधः कर्तव्यो यथायं च नक्षत्रवाणिज्यो दशभिर्द्वादशभिर्वा दिवसैरसून्विसृजति' ।

राजा स्वगतम् 'अहो कष्टं खलु प्राणिनां क्षत्रवंशेष्वयमाविर्भावः, यतो यदि न्यायनिष्ठुरतया क्षोणीश्वराः क्षितिरक्षासु वर्तन्ते तदावश्यं पापोपनिपातः परलोकक्षतिसंपातश्च । तदुक्तम्—'नरकान्तं राज्यं बन्धनान्तो नियोगः' इति ।

अथ न वर्तन्ते वर्णाश्रमव्यवस्थाविलोपः कापुरुषतोल्लापश्च ।

तथाहि । क्षीयेतायं क्षणाल्लोकः क्षतरक्षः क्षितीश्वरैः । लक्ष्मीक्षयः क्षये तस्य किं राजत्वं च जायते ॥५२॥

जब कमल-वन वैसे हंस पक्षियों द्वारा सेवन किये जा रहे कोश (मध्य भाग) वाले थे जैसे राजालोग राजहंसों (सामन्तराजाओं) द्वारा सेवन किये जा रहे कोश (धन-संपत्ति या राजखजाना) वाले होते हैं और जब प्रातः कालीन वायु मन्द मन्द संचार कर रही थी, इससे ऐसी प्रतीत होती थी—मानों—प्रफुल्लित कमलवनों का मधुपान (पुष्परस या मद्यपान) करने से मत्त—उन्मत्त हुई है। जब समस्त राज-समूह की सेवाओं के अवसर वैसे प्रत्यावृत्त (व्यतीत) हो रहे थे जैसे जिन्हें दक्षिणा (दान) दी गई है, ऐसे ब्राह्मण [सन्तुष्ट हुए] प्रत्यावृत्त (वापिस जानेवाले) होते हैं। तदनन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने उस चोर को देखकर [समुचित न्याय करने के हेतु] धर्मस्थीयों[1] (अपराधानुकूल दंडव्यवस्था करनेवाले धर्माधिकारियों) के मुखों की ओर दृष्टिपात किया। तब धर्माधिकारियों ने कहा—हे राजन् ! इस पापी चोर ने अनोखा या बेजोड़ साहस (लूटमार, हत्या व बलात्कार-आदि कुकृत्य) किया है। क्योंकि एक तो इसने रात्रि भर चोरी की और दूसरे सोये हुए मनुष्य की हत्या कर डाली। अतः इस पाटच्चर[2] (चोर) का गधे पर चढ़ाना व जूँठे सकोरों की श्रेणी बाँधने की विडम्बना (दुःख) पूर्वक ऐसा चित्र वध करना चाहिए, जिससे यह, दश या बारह दिनों में प्राण-त्याग कर देवे।

अथानन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार करते हुए निश्चय किया। 'आश्चर्य है निस्सन्देह प्राणियों की क्षत्रियवंशों में यह उत्पत्ति कष्टप्रद है' क्योंकि यदि राजालोग न्याय की उग्रता से पृथिवी की रक्षार्थ हिंसा करते हैं तो निश्चय से उन्हें पाप का आगमन व परलोक (स्वर्गादि) की हानि का प्रसङ्ग होता है। क्योंकि नीतिकारों ने कहा है—'राज्य अन्त में नरक का कष्ट देता है और राज्याधिकार अन्त में बन्धन का कष्ट देता है।' और यदि राजा लोग न्याय की उग्रता से पृथिवी की रक्षार्थ हिंसा नहीं करते (अन्यायियों को दण्डित नहीं करते) तो वर्णों (ब्राह्मण-आदि) व आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) की मर्यादा (सदाचार) नष्ट होती है। एवं उनके ऊपर कायरता का आक्षेप होता है। उक्त बात को कहते हैं—यह लोक (पृथ्वीमण्डल) राजाओं द्वारा की हुई रक्षा से रहित होने से क्षण भर में नष्ट हो जाता है और लोक के नष्ट हो जाने पर सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर राजापन कैसे रह सकता है ? ॥ ५२ ॥

---

१. तदुक्तं—सर्ववर्णाश्रमाचारविचारोचितचेतसः ।
दण्डवाचो यथा दोषं धर्मस्थीयाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

२. एकागारिक-मलिम्लुच-पाटच्चर-नक्षत्रवाणिजकाः चौरपर्यायाः—

तदसाध्यव्याधिपरिगृहीतदेहवदस्य राज्यस्य परित्याग एव स्वास्थ्यं नान्यथा[1] इत्यवधार्य ।

एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते तद्बन्धनान्यास्रवैस्ते क्रोधादिवशाः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्त्वव्रतात् ।
मिथ्यात्वोपचितात्ततोऽस्मि सततं सम्यक्त्ववान्संयमी दक्षः क्षीणकषाययोगतपसां कर्तेति मुक्तो यतिः ॥५३॥

इति च सुभाषितमात्मवनिते निधाय, गतेषु कतिपयेषु गणरात्रेष्वनुजस्य राज्यश्रियं समर्प्य, प्रतिपन्नजिनरूपोचिताचरण-श्चतुर्थमाश्रममशिश्रियत् ।

अस्तीदानीं तस्यामेवैकानस्यामसरमिथुनमान्यमानमणिमयकूटं सहस्रकूटं नाम निजमहिमावघोरितामरावती-वसतिर्वसतिः, या नयनीतिरिव नवभूमिका, योगस्थितिरिव विहितवृषभेश्वरावतारा, सांख्यजनतेव कपिलतालयशालिनी,

अतः इस राज्य का त्याग ही वैसा श्रेयस्कर है जैसे असाध्य व्याधियों से चारों ओर से ग्रहण किये गये शरीर का त्याग श्रेयस्कर होता है। अन्यथा (यदि राज्यश्री का त्याग नहीं किया जाता) तो यथार्थ सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

तदनन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने अपने मन में निम्न प्रकार का सुभाषित श्लोक धारण किया। कर्म (ज्ञानावरण-आदि) मेरा आत्मिक सुख नष्ट करते हैं और कर्मबन्धन आस्रवों (कषायादि कर्मों के आगमन द्वारों) के कारण होते हैं। एवं आस्रव, क्रोध, मान, माया व लोभरूप कषायों के अधीन हैं, और क्रोधादि कषाय, प्रमादों से उत्पन्न होते हैं तथा प्रमादों द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादि, मिथ्यात्व से वृद्धिगत हुए अव्रत (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह) से होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ मैं [उन कर्मबन्धनों के नष्ट करने के लिये] सम्यग्दृष्टि, संयमी, प्रमादरहित, कषायों का क्षय करनेवाला, धर्मध्यान व तपश्चर्या करनेवाला एवं मोक्षमार्गी ऐसा दिगम्बर तपस्वी होता हूँ ॥५३॥

तत्पश्चात् उसने कुछ रात्रि-समूह के व्यतीत हो जाने पर अपने छोटे भाई के लिए राज्यलक्ष्मी समर्पण करके दिगम्बर मुद्रा के योग्य आचरण स्वीकार करते हुए मुनि-आश्रम में प्रवेश किया। [हे 'कन्दल-विलास' नाम के विद्याधर !]

उसी उज्जयिनी नगरी में देव-देवियों द्वारा पूजने योग्य मणियों के शिखरों वाली और अपनी महिमा से अमरावती (स्वर्गपुरी) के प्रासादों को तिरस्कृत करनेवाली सहस्रकूट नाम की वसति (प्रासाद या जिनमन्दिर) है। जो वैसी नवभूमिका या पाठान्तर में नवभूका[1] (नवीन भूमि वाली) है जैसे नयों की नीति नवभूमिका[2] या नवभूका (नौ भेद वाली) होती है। जो वैसी विहित वृषभेश्वरावतारा[3] (वृषभ जिन के अवतरण वाली) है जैसे योगस्थिति[4] (नैयायिक व वैशेषिक के दर्शन) विहित वृषभेश्वरावतारा (शंभु के अवतार वाली) होती है। जो वैसी कपि-लतालय-शालिनी[5] (बन्दरों व लतागृहों से सुशोभित) है, जैसे

१. 'नवभूका' इति ह. लि. सटि. (ख) प्रतौ पाठः ।
२. नयनीतिर्नवविधा—नैगमस्त्रिविधो द्रव्यपर्यायोभयभेदेन, संग्रहव्यवहारादयश्च षड्भेदाः ।
ह. लि. स. टि. प्रति (घ) से संकलित—
३. वृषभेश्वरः शंभुरादितीर्थंकरश्च ।
४. नैयायिक वैशेषिकप्रयोगाः ।
५. कपिलदेवतालयेन शालते इत्येवं शीला, पक्षे मर्कटैः लतागृहैः शालिनी शोभमाना ।

अमरगुरुभारतीव निवारितपरलोकदर्शना, मीमांसेव निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा, पिटकत्रयपद्धतिरिव योगाचारगोचरा, महापुरुषमैत्रीव स्थिराधिष्ठाना, सत्सचिवप्रयुक्तिरिव सुघटितसन्धिः, अभिनवविलासिनीव सुकुतूहलविलोकना, कुचुमारविद्येव बहुविस्मयावहा, विजयसेनेव बाहुबलिविदिता, क्षपणनिकेव सुपार्श्वगता, कुबेरपुरीव यक्षमिथुनसनाथा, नन्दनवनलक्ष्मीरिवाशोकरोहिणीपेशला, शंभुसमाधिविध्वंसवेलेव प्रकटरतिमीवितेशा, सुकविकृतिरिव चित्रबहुला, मुनि-

---

सांख्यजनता कपिलता-लय-शालिनी (कपिल मुनि में लय से होने वाली स्वरूप प्राप्ति से सुशोभित) होती है। जो वैसी निवारित परलोकदर्शना[1] (मिथ्यादृष्टियों के मतों को निवारण करने वाली) है जैसे अमरगुरुभारती (बृहस्पति का दर्शन) निवारितपरलोकदर्शना (परलोक (स्वर्गादि) की मान्यता की निराकरण करने वाली) होती है। जो वैसी निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा (नियोग—चरणानुयोगादिप्रश्न व दर्शन-विशुद्धि-आदि षोडश कारण भावनाओं के विस्तार को निरूपण करने वाली) है, जैसे मीमांसा[2] (मीमांसक-दर्शन), निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा (नियोग व भावनारूप वाक्यार्थ के विस्तार को निरूपण करने वाली) होती है। जो वैसी योग-आचार-गोचरा[3] (योग (आप्त, आगम व पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से व्याप्त हलन-चलनरूप आत्मप्रदेश) व आचार (संचित कर्मों के क्षय का कारण व भविष्यत् कर्मों के आगमन को रोकने में कारण संयमधर्म) की पद्धति है, अथवा योग (धर्मध्यान व शुक्लध्यान) तथा आचार (सम्यक्चारित्र की पद्धति है। अर्थात्—जो धर्मध्यानी, शुक्लध्यानी व चारित्रनिष्ठ महर्षियों से व्याप्त है, जैसे पिटकत्रय[4]-पद्धति (धर्म, संघ या संज्ञा तथा ज्ञान ये बौद्ध-दर्शन में पिटकत्रय हैं) योगाचार गोचरा (ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों से माननीय) होती है। जो वैसी स्थिर-अधिष्ठाना (निश्चल आचार वाली या स्थान वाली) है, जैसे महापुरुषों की मित्रता स्थिराधिष्ठाना (चिरस्थायिनी) होती है। जो वैसी सुघटितसन्धि[5] (अच्छी तरह रची हुई मिलापवाली) है, जैसे प्रशस्त सचिव[6] (मन्त्री) की सन्धि-प्रयुक्ति (सामनीति का उपयोग) सुघटित सन्धि (अच्छी तरह से तैयार किये हुए मैत्री के विधानवाली) होती है। जो वैसी सुकुतूहल विलोकना (कौतुक-जनक दर्शनवाली) है जैसे नवीन वेश्या सुकुतूहलविलोकना (उत्तम नेत्रोंवाली या कामी पुरुषों के लिए श्लाघनीय दर्शनवाली) होती है। जो वैसी बहुविस्मयावहा (विशेष आश्चर्य जनक पदार्थों (चित्रादि) को धारण करनेवाली) है, जैसे कुचुमार[7] विद्या (इन्द्रजालिया की कला) बहुविस्मयावहा (दर्शकों के चित्त में विशेष आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली) होती है।

जो वैसी बाहुबलिविदिता[8] (जहाँ पर बाहुबलिस्वामी केवली चित्र-लिखित) हैं, जैसे विजयसेना

---

१. बृहस्पति मते परलोको नास्ति, पक्षे परेषां मिथ्यादृष्टीनां मतानि यत्र वार्यन्ते।

२. मीमांसकमते नियोगभावनावाक्यार्थः, स्वपक्षे चरणानुयोगादिप्रश्नः दर्शनविशुद्ध्यादिकाः भावनाः।

३. योगः आप्तागमपदार्थयाथात्म्यज्ञानानुविद्धसपरिस्पन्दात्मप्रदेशः, उपात्तागामिककर्मक्षयप्रतिबन्धहेतुराचारः।
अथवा—योगे ध्याने द्वे, आचारः तयोः पद्धतिः, पक्षान्तरे तु योगाचारः ज्ञानाद्वैतवादी।

४. धर्मः संघः ज्ञानमिति पिटकत्रयं। अथवा धर्म संज्ञाज्ञानानि इति पिटकत्रयं।

५. सन्धिर्योनौ सुरंगायां नद्यांगे श्लेषभेदयोः। 'सन्धिश्लेषे' 'सन्धिर्नाविग्रहो यानमित्यमरः'।

६. तदुक्तं—संपत्तौ स्वामिनः स्वस्य विपत्तौ तदरातिषु यः साधयति बुद्ध्यैव तं विदुः सचिवं बुधाः॥ १॥

७. कुचुमारः अथवा पाठान्तर में कचुमारः कुहकविद्योपाध्यायः। ह० लि० सटिप्पण प्रतियों से संकलित—सम्पादक

८. बाहुबलीश्वरः केवली च।

९. विजयो जये पार्थे विमाने विजयोमातृसख्योरितयावपि।

मतगतिरिव चरणकरणानन्दिनी, भरतपदवीव विविधलयनाट्याडम्बरा, पुरंदरपुरीव संनिहितैरावता, हरपरिषदिवासीनसौरभेया, शिशिरगिरिदरीव निलीनोपकण्ठकण्ठीरवा, मन्दाकिनीपुलिनतटीव रसोपशोभिता, मकरध्वजसंस्थेव प्रलम्बितकुसुमशरा, सुरशैलतटीनिरिव सविर्विधुश्चन्द्रमण्डला, पाण्डवमुद्रेव शकुलियुगलाङ्किता, सत्यकुमसंपत्तिरिव पूर्णकुम्भाभिरामा, कंठभारातितनुरिव कमलाकरसेविता, समवसरणसभेव प्रसाधितसिंहासना, अजडाशयानुगतापि जडनिधिमती,

(गौरी-पार्वती की सेना) बाहुवलिविदिता (श्रीमहादेव ईश्वर से अधिष्ठित) होती है। जो वैसी सुपार्श्वगिता[1] (पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर से सुशोभित) है, जैसी रूपगुणांनका[1] (चित्रकर्म) सुपार्श्वगता (समीप में वृत्तविशेष वाली या चित्रलिखित चन्द्रसूर्य बिम्बवाली) होती है। जो वैसी यक्षमिथुनसनाथा (चित्र-लिखित कुबेरों के जोड़ों से सहित) है जैसी कुबेरपुरी यक्षमिथुनसनाथा (यक्षजाति के देवों के जोड़ों (यक्ष-यक्षिणियों) से सहित) होती है। जो वैसी अशोकरोहिणी[3] पेशला (चित्र-लिखित अशोक राजा व रोहिणी रानी से मनोज्ञ) है, जैसे नन्दनवन-लक्ष्मी अशोक रोहिणी पेशला (अशोक वृक्ष व रोहिणी वृक्षों से मनोज्ञ) होती है। जो वैसी प्रकटरतिजीवितेशा[4] (जहाँपर प्रद्युम्नस्वामी चित्र-लिखित हैं) है जैसे [5]शंभुसमाधिविध्वंसवेला (रुद्र के ध्यान को विध्वंस करने का समय) प्रकटरतिजीवितेशा (कामदेव को प्रकट करने वाली) होती है। जो वैसी चित्रबहुला[6] (चित्र-सृष्टिवाली) है, जैसे उत्तम कवि की काव्य-रचना चित्रबहुला (छत्र, मुरजबन्धादि की बहुलता-युक्त) होती है। जो वैसी चरणकरणानन्दिनी[7] (चरणानुयोग व करणानुयोग संबंधी शास्त्रों से आनन्द देनेवाली) है जैसे मुनिमतगति (नास्तिक-मत व कामसूत्र) चरण-करण-आनन्दिनी (चरण (भक्षण) व कर्ण (उत्फुल्ल विजृम्भादि) से आनन्ददायिनी) होती है। जो वैसी विविधलय-नाट्याडम्बरा (नाना भाँति के संगीत-लय के साथ नृत्य के विस्तार वाली) है, जैसे भरतमुनिपदवी (भरतमुनि का नाट्यशास्त्र) विविधलयनाट्याडम्बरा नानाप्रकार की लयों के साथ नृत्य का विस्तार वर्णन करनेवाली) होती है।

अब शास्त्रकार पुरन्दर[9] इत्यादि विशेषणों से प्रस्तुत वसतिका की चित्रलिखित स्वप्नावलि (१६ स्वप्नों) का वर्णन करते हैं—जो वैसी सन्निहितैरावत्ता (चित्र-लिखित ऐरावत हाथीवाली) है जैसे इन्द्र-नगरी सन्निहितैरावता (निकटवर्ती ऐरावत हाथी-युक्त) होती है। जो वैसी आसीन सौरभेया (चित्र-लिखित शुभ्र वृषभ वाली) है जैसे हरपरिषद (श्री शिव की सभा) आसीन सौरभेया[10] (वृषभ-नदिया की) स्थिति वाली होती है। जो वैसी निलीनोपकण्ठकण्ठीरवा (समीप में चित्रलिखित सिंहवाली) है जैसे हिमालय की गुफा निलीनोपकण्ठ-

१. पार्श्वगतं चित्रकर्मणि वृत्तविशेषाः, तीर्थङ्करविशेषागतं च।
२. चित्रकर्मणि समीपे चन्द्रसूर्यबिम्बादिचित्रलिखिताः।
३. अशोकतरुः, रोहिणीवृक्षः पक्षे अशोकरोहिणी यत्र चित्ररूपं।
,, अशोकवृक्षः, राजा च रोहिणीवृक्षः राज्ञी च।
४. प्रकटः कामो यत्र, पक्षे प्रद्युम्नस्वामी चित्रलिखितो यत्र।
५. रुद्रः।
६. चित्रसर्गः, पक्षे छत्रमुरजबन्धादिः।
७. चरणं भक्षणं करणं उत्फुल्लविजृम्भादिकं, चरणकरणे आगमविशेषौ।
८. चार्वाकमतं कामशास्त्रं वा।
९. पुरन्दर इत्यादिना चित्रलिखितां स्वप्नावलीं वर्णयति।
१०. वृषभः।

उन्मीलिताहिलोकापि सकलजनोपभोग्या, अहोमशालापि प्रत्यक्षहुतहुताशना, निःस्पृहोपभोग्यापि समणिनिचया, विहित-मर्त्यावतारापि प्रदर्शितदेवालया।

कण्ठीरवा (समीपवर्ती सिंहवाली) होती है। जो वैसी [1]रमोपशोभिता (चित्रलिखित लक्ष्मी से सुशोभित) है जैसे सुमेरु पर्वत की तटी[2] रमोपशोभिता (स्त्रियों से मण्डित) होती है। जो वैसी प्रलम्बितकुसुमशरा (चित्र-लिखित लटकी हुई पुष्पमालाओं वाली) है जैसे स्रक्पण्यसंस्था (फूलमालाओं के बेचने का स्थान) प्रलम्बित कुसुमशरा (लटकी हुई फूल-मालाओं से युक्त) होती है। जो वैसी सविधविधुब्रध्नमण्डला (समीप में चित्र-लिखित चन्द्र व सूर्य मण्डलवाली) है जैसे सुमेरुपर्वत की तटी सविधविधुब्रध्नमण्डला (समीपवर्ती चन्द्र व सूर्य मण्डलवाली) होती है। जो वैसी शकुलियुगल-अङ्किता (चित्र-लिखित मछलियों के जोड़ वाली) है जैसे पाण्डुराजा की मुद्रिका (अँगूठी) शकुलियुगल-अङ्किता[3] (मत्स्य चिह्नवाली) होती है। जैसे प्रशस्त शकुन-सम्पत्ति (लक्ष्मी) जल-पूर्ण घट के दर्शन से मनोज्ञ होती है वैसे ही जो चित्र-लिखित जल-पूर्ण घट के दर्शन से मनोज्ञ है। जैसे श्री विष्णु की शरीर-सम्पत्ति [4]कमलाकर-सेविता (लक्ष्मी के करकमलों से सेवा की हुई) होती है वैसे जो कमलाकर-सेविता (चित्र-लिखित सरोवर वाली) है। जैसे समवसरणसभा प्रसाधित सिंहासना (सिंहासन से अलङ्कृत) होती है वैसे जो प्रसाधित सिंहासना (चित्र-लिखित सिंहासन से मण्डित) है[5]।

अब विरोधाभास अलङ्कार से शेष स्वप्नावली का निरूपण करते हैं—जो अजडाशय-अनुगता[6] (चतुर अभिप्रायवाली) होकर के भी जड़ निधिमती (मूर्खता की निधि) है। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो चतुर अभिप्राय से युक्त होगी, वह मूर्खता की निधि कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि श्लेषालंकार में ड और ल एक समझे जाते हैं, अतः जो अजलाशय-अनुगता (तालाबरूप नहीं) है और अपि (निश्चय से) जलनिधिमती (चित्र-लिखित समुद्र-युक्त) है। जो उन्मीलिताहिलोका[7] (प्रकट हुए सर्प-समूहवाली) होकर के भी सकलजनोपभोग्या (समस्तजनों द्वारा सेवन करने योग्य) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जहाँ पर साँपों का समूह प्रकट होगा वहाँ पर समस्त जन कैसे निवास कर सकते हैं? इसका परिहार यह है कि जो उन्मीलित अहिलोका (प्रकट हुए चित्र-लिखित नागेन्द्र-भवन वाली) है एवं जो निश्चय से समस्त मानवों द्वारा सेवन करने योग्य है। जो अहोमशाला (होमशाला न) होकर के भी प्रत्यक्षहुत[8] हुताशना (जहाँ पर प्रत्यक्ष में अग्नि में हवन किया गया है, ऐसी) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो होमशाला नहीं है, वहाँ पर प्रत्यक्ष में अग्नि में हवन करना कैसे संभव हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जो सहस्रकूट मन्दिर होने के कारण होमशाला नहीं है एवं निश्चय से जो प्रत्यक्ष हुतहुताशना (प्रत्यक्ष प्रतीत हुई चित्र-लिखित अग्नि-ज्वाला वाली) है। जो निःस्पृह-उपभोग्या (कामना-शून्य या सांसारिक बन्धन-मुक्त साधु-पुरुषों द्वारा सेवन करने योग्य) होकर के भी समणिनिचया[9] (रत्नराशियों से युक्त) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो निःस्पृह साधुपुरुषों द्वारा सेवन योग्य होगी, वह रत्नराशि से युक्त कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि जो

---

१. रमा लक्ष्मीः स्त्री च। २. तटी—कटणी।
३. पाण्डुराजः मुद्रिकायां मत्स्यचिह्नं भवति।
४. लक्ष्मीहस्त, पक्षे सरोवरं चित्रे लिखितं।
५. श्लेषोपमालंकारः।
६. दक्षाशयप्राप्ता। समुद्र।
७. प्रकटितनागालया। ८. दृष्टा लिखिता अग्निज्वाला।
९. लिखितरत्नसमूहा—रत्नराशिः लिखिता।

यत्र चाभिषेकसलिलेषु कलुषता, मलयजेषु जडघर्षणम्, अक्षतेषु मुशलाभिघातः, स्रक्पुष्पेषु गुणविमुखता, चरुषु रससंकरः, प्रदीपेषु मलिनोद्‌गारः, धूपधूमेष्ववसानवैरस्यम्, फलस्तबकेषु पलाशोपरोधः, कुसुमाञ्जलिषु विनिपातः, स्तुतिषु परलोकप्रार्थनम्, जपेषु गूढमन्त्रप्रयोगः, प्रसंख्यानेषु वैहसत्ता, अगुरुदहनशालाजिरेषु मलीमसमुखत्वम्, मुनिषु धर्मगुणविजृम्भणम्,

---

निःस्पृहों (कामना-शून्य महापुरुषों) द्वारा सेवनीय है और निश्चय से जो समणिभिचया (चित्र-लिखित रत्न-राशि-युक्त) है और जो विहित-मर्त्य-अवतारा (मनुष्यों के आगमन वाली) होकर के भी प्रदर्शित देवालया (देवों का स्थान प्रदर्शित करनेवाली) है। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो मनुष्यों का आगमन स्थान होगा वह देवों का स्थान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो विहितमर्त्यावतारा (मनुष्यों के आगमन वाली) है और निश्चय से जो प्रदर्शितदेवालया[1] (चित्र-लिखित स्वर्ग-विमान को प्रदर्शित करनेवाली) है[2]।'

जहाँ पर कलुषता[3] (कर्पूर-आदि की मिश्रता) अभिषेक संबंधी जलों में थी परन्तु मनुष्यों के हृदयों में कलुषता (राग) नहीं थी। जहाँ पर मलयागिर चन्दनों में जडघर्षण (श्लेष में ड और ल का अभेद है; अतः जल-घर्षण—जल में पीसना) था परन्तु मनुष्यों में जड-घर्षण (जड़ता—मूर्खता से कूटे जाने का कष्ट) नहीं था। जहाँपर मुशलाभिघात (मूसलों से कूटना) चाँवलों में था परन्तु मनुष्यों में मुशलाभिघात (अनैतिक प्रवृत्ति से मूसलों द्वारा दण्डित किया जाना) नहीं था। जहाँ पर पुष्पमाला के पुष्पों में गुणविमुखता (तन्तु-गुम्फिता) थी परन्तु मनुष्यों में गुण-विमुखता (ज्ञानादि गुणों से विमुखता—पराङ्मुखता) नहीं थी। जहाँ पर रससंकरता[4] (माधुर्य-आदि रसों की मिश्रता) चरुद्रव्यों (मोदकादि नैवेद्य पदार्थों) में थी परन्तु मनुष्यों के हृदयों में रससंकरता (राग) नहीं थी। जहाँ पर मलिनोद्‌गार[5] (कृष्ण कज्जल का वमन) दीपकों में था, परन्तु मनुष्यों के हृदयों में मलिनोद्‌गार (दोषों का उदय) नहीं था। जहाँ पर अवसान वैरस्य (अन्त में विरसता) धूप के धूमों में था परन्तु मानवों में अवसान वैरस्य (मृत्यु के अवसर पर पीड़ा) नहीं था अथवा अकाल मृत्यु का कष्ट नहीं था। जहाँपर [6]पलाशोपरोध (पलाशों—पल्लवों से सहित) फलों के गुच्छों में था। अर्थात्—जहाँपर फलों के गुच्छे कोमल पत्रों से मण्डित थे एवं जहाँपर मानवों में भी पलाशोपरोध (राक्षसों का निवारण) था। अर्थात्—जहाँ पर मनुष्यों में कोई भी मांसभक्षी नहीं था।

जहाँ पर विनिपात[7] (अवपात—नीचे भूमि पर गिरना) पुष्पाञ्जलियों में था परन्तु मनुष्यों में विनिपात (दैवत-व्यसन—कुभाग्योदय से उत्पन्न होनेवाला आकस्मिक कष्ट) नहीं था। जहाँ पर परलोक-प्रार्थन (स्वर्गलोक की इच्छा) स्तुतियों में था परन्तु मनुष्यों के हृदयों में परलोक-प्रार्थन (शत्रुता की भावना) नहीं था। जहाँ पर गूढमन्त्र[8]-प्रयोग (एकान्त में मन्त्रों का उच्चारण) जपों में था परन्तु मनुष्यों

---

१. स्वर्गविमाना।

२. विरोधाभासालंकारः—ह० लि० सटि० (ख) प्रति से संकलित—सम्पादक

३. कर्पूरादिमिश्रितत्वात् मिश्रता, न तु हृदयेषु रागः।

४. मिश्रता, न तु हृदयेषु रागः।

५. 'मलिनं कृष्णदोषयोर्मलिनो रजःस्वलायाम्'।

६. राक्षसनिवारणं, मांसभक्षी कश्चिन्नास्ति पक्षे पत्रसहिताः फलगुच्छाः वर्तन्ते। ह० लि० (ख) प्रति से संकलित—

,, 'पलाशो राक्षसः पल्लवश्च' यश०-पञ्जिका से—संकलित

७. विनिपातस्तु दैवतं व्यसनमवपातश्च।

८. गूढं रहः संवृतयोः देवादिसाधने वदांगे गुप्तवादे च।

प्रसूनोपहारेषु शिलीमुखसंपातः, पटहेषु कराहतिः, नमसितेषु पदबन्धः, रङ्गवल्लिषु परभागकल्पनम्, यतिचरित्रेषु विग्रहदण्डश्रुतिः, सोपानेषु विषमता, देहलीषु लङ्घनापराधः, पुस्तकेषु करग्रहणम्, अररेषु द्विधाभावः, शास्त्रेषु परदूषणोपश्रवणम्, उपन्यासयोग्यासु विगृह्यवादः, पर्वक्रियासु वर्णसंकीर्णता, विनेयविनयनेषु भ्रुकुटिकरणम्, वातायनेषु बहुमार्गता, केतुकाण्डेषु स्वभावस्तब्धत्वम्, वैजयन्तीषु परप्रणेयता, मणिवितानेषु गुणनिगूहनम्, रजनिमुखेषु गलग्रहोपवेशः, शकुनावासेषु बिलयविलसितम्, लिपिकरेषु वाञ्छनोपार्जनम्।

में गूढ़मन्त्र प्रयोग[1] (गुप्तमन्त्रों से प्रयोग—उच्चाटन-आदि कर्म करना) नहीं था। जहाँ पर धर्मस्थानों में देह-सन्नता (शारीरिक कष्ट) थी परन्तु मनुष्यों में देहसन्नता[2] (शारीरिक पीड़ा) नहीं थी। जहाँ पर मलीमसमुखता (कृष्णता—मलिनता) अगर, अग्नि व गृहाङ्गणों में थी परन्तु मानवों के हृदयों में मलीमसमुखता (दुष्टता) नहीं थी। जहाँ पर धर्मगुण-विजृम्भण[3] (धर्म—प्राणिरक्षा-आदि व गुण-विजृम्भण—ज्ञानादि प्रशस्त गुणों का विस्तार) मुनियों में था परन्तु योद्धाओं में धर्मगुणविजृम्भण (धनुष पर डोरी का आरोपण) नहीं था। जहाँ पर शिलीमुखसंपात[4] (भौंरों का पतन) पुष्पोपहारों में था, परन्तु संग्राम में शिलीमुख-संपात (बाणों का प्रक्षेप) नहीं था। जहाँ पर कराहति (हस्तों से ताड़न) मृदङ्गों या नगाड़ों में थी, परन्तु मनुष्यों में कराहति (विशेष राज्य टेक्स से पीड़न) नहीं थी।

जहाँ पर पदबन्ध (श्लोकों के चरणों का गुम्फन) नमसितों[5] (नमस्कारों) में था परन्तु मनुष्यों में पदबन्ध (अन्याय करने से पैरों का बन्धन) नहीं था। जहाँ पर परभाग[6]कल्पन (शोभा करना) रङ्गवल्लियों (नाट्य-भूमियों या चित्र-रचनाओं) में था, परन्तु जहाँपर पर-भागकल्पन (शत्रुओं को धन की प्राप्ति या शत्रुओं का उदय) नहीं था। जहाँ पर विग्रहदण्डश्रुति (शारीरिक कष्ट-सहन की प्रतिज्ञा) मुनियों के चरित्र-पालन में थी परन्तु मानवों में विग्रहदण्डश्रुति (युद्ध और तीक्ष्ण दण्ड विधान का श्रवण) नहीं था। जहाँ पर विषमता (असमानता) सीढ़ियों में थी; परन्तु मनुष्यों में विषमता नहीं थी। जहाँ पर लङ्घनापराध (लाँघने का दोष) देहलियों में था परन्तु मनुष्यों में लङ्घनापराध (कड़ाका करने या तिरस्कार करने का दोष) नहीं था। जहाँ पर कर-ग्रहण (हाथों से उठाना व धरना) पुस्तकों में था परन्तु मनुष्यों में कर-ग्रहण (दान-ग्रहण) नहीं था। जहाँ पर द्विधाभाव (खोलना) अररों[7] (किवाड़ों) में था, परन्तु जनता में द्विधाभाव (वैमनस्य) नहीं था। जहाँ पर दूषणोपश्रवण (श्रुतिकटु व अश्लील-आदि काव्य दोषों) का श्रवण काव्य-शास्त्रों में था परन्तु मनुष्यों में परदूषणोपश्रवण (दूसरों की अपकीर्ति या अपवाद की प्रतिज्ञा) नहीं था। जहाँ पर विगृह्यवाद (समासपूर्वक कथन) उपन्यास-योग्या[8] में था। अर्थात्—नीतिशास्त्रों या वाक्यों का अभ्यास समास पूर्वक होता था परन्तु मनुष्यों में विगृह्यवाद—संग्रामवाद नहीं था। जहाँ पर वर्णसंकीर्णता[9] (स्तुतियों की मिश्रता) पर्वक्रियाओं (उत्सव-दिनों) में थी परन्तु मानवों में वर्णसंकरता नहीं थी। जहाँ पर भ्रुकुटि-करण (भौंहों का चढ़ाना) शिष्यों की शिक्षाओं में था परन्तु मनुष्यों में युद्ध-निमित्त भ्रुकुटि चढ़ाना

---

१. 'प्रयोगः कार्मणे पुंसि प्रयुक्तौ च निदर्शने' इति विश्वः। ,, 'गूढं रहसि गुप्ते च' इति विश्वः।
२. पीड़ा। ३. न तु सुभटेषु।
३. धर्मः स्यादस्त्रियां पुण्ये धर्मो न्यायस्वभावयोः। उपमायां यमाचारवेदान्तेऽपि धनुष्यपि ॥१॥ इति विश्वः।
गुणो रूपादिसत्त्वादिविद्यादिषु हरितादिषु। सूदेऽप्रधाने सन्ध्यादौ रज्जौ मौर्व्यां वृकोदरे इति विश्वः।
४. भ्रमरः न तु संग्रामे बाणाः। ५. नमस्कारेषु।
६. शोभा, न तु परेषां शत्रूणां द्रव्यभागः। ,, परभागः शोभा, परोदयं च। ७. कपाटेषु।
८. योग्यार्कयोषिति, अभ्यासे अभ्यासविषये समासपूर्ववादः न तु संग्रामवादः ,, योग्या अभ्यासः।
९. 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे' इत्यमरः।

यस्याश्च प्रतिदिवसं दिविजसभाजनैः पौरजनैरुपहितानि भगवतः स्वकीयपादमुद्रितजगत्त्रयपतेर्जिनपतेर्मज्जनमङ्गलानि विन्दमानायाः सकृत्प्रकान्ताभिषेकमहोत्सवलज्जित इव जातलघुतरभावः पुरो निवसति मन्दरः । अपि च ।

आर्याभिः—

यामेवं प्रादुष्यद्घनस्पर्शकल्पनो विनेयजनः । [दृष्ट्वा] दूरादभावादुत्प्रेक्षापक्षतां नयति ॥५४॥

श्रीरेषा स्वर्गसिन्धोः किमु पवनबलोल्लोलकल्लोलवारेः स्वर्णच्छायाप्रतानस्सवनु विसरति व्योम्नि कोऽयं प्रकारः ।
कुम्भद्योतावदाता दिशि दिशि च लताः कान्तयो भान्ति मध्ये स्थानेऽस्मिञ्जनसौधावलिरुपरिलसत्केतुसौवर्णकुम्भाः ॥५५॥

नहीं था। जहाँ पर बहुमार्गता (वायु-प्रवेश व उसके निस्सरण-हेतु अनेक मार्ग) वातायनों (खिड़कियों-आदि) में थी परन्तु वहाँ पर बहुमार्गता (अनेक मार्गाश्रय—अगहन मार्गों—की स्थिति) नहीं थी। जहाँ पर स्वभावस्तब्धत्व[1] (स्वाभाविक कठिनता) केतुकाण्डों (ध्वजादंडों) में था परन्तु मनुष्यों में स्वभावस्तब्धत्व (स्वाभाविक निर्दयता) नहीं था। जहाँ पर परप्रणेयता[2] (दूसरों के द्वारा ले जाना) वैजयन्तियों[3]—ध्वजाओं—में थी परन्तु वैजयन्ती—सेना—में प्रेरणता नहीं थी। जहाँ पर गुणनिगूहन[4] (तन्तुओं का प्रेरण) मणिवितानों—चँदेवों—में था परन्तु वहाँ की जनता में गुणनिगूहन (दूसरों के ज्ञानादि गुणों का आच्छादन) नहीं था। जहाँ पर गलग्रहोपदेश[5] (गाय-वगैरह पशुओं का बन्धन) रजनीमुख (संध्या) में था परन्तु मनुष्यों में गलग्रहोपदेश—अप्रत्युपकार (कृतघ्नता अथवा आकस्मिक कष्ट) नहीं था।

जहाँ पर वि-लय विलसित[6] (पक्षियों के निवास का विलास) शकुनावासों[7] (घोंसलों) में था, परन्तु मनुष्यों में विलय-विलसित (विनाश का विस्तार-अपमृत्यु) नहीं था। जहाँ पर [8]अञ्जनोपार्जन (अञ्जन—स्याही द्वारा धनोपार्जन) लिपिकरों[9] (लेखकों) में था। परन्तु मनुष्यों में अञ्जनोपार्जन (कलङ्क का उपार्जन) नहीं था[10]।

जिस वसतिका के सामने, जो कि प्रत्येक दिन देवों-सरीखे नागरिक मनुष्यों से किये गए ऐसे भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक मङ्गल प्राप्त कर रही है, जो कि अपने चरण कमलों द्वारा तीनलोकके स्वामियों (इन्द्र-आदि) को अधःकृत करने वाले हैं, शोभा के लिए कृत्रिम सुमेरु पर्वत स्थित है। जो ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—अभिषेक मेरु [देवों से] केवल एक बार किये हुए मनोज्ञ अभिषेक महोत्सव से लज्जित हुआ ही लघु हो गया है।*

विशेषता यह है प्रचुर कल्पनाएँ प्रकट करने वाला शिष्यजन जिस वसतिका को दूर से देखकर उसे निम्न प्रकार की उत्प्रेक्षाओं के पक्ष में ले जाता है ॥ ५४ ॥

जो (वसतिका) ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—वायु की शक्ति से चञ्चल हुईं तरङ्गों के जलवाली स्वर्गगंगा की यह लक्ष्मी ही है। अथवा—मानों—कलश-सहित सुवर्ण की कान्ति का समूह ही है। अथवा—मानों—कोई यह प्राकार (कोट) ही आकाश में विस्तृत हो रहा है। अथवा उसकी प्रत्येक दिशा में विस्तृत

---

१. दंडेषु कठिनत्वं। २. प्रेरणता। ३. पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः।
४. गोपनं प्रेरणं आच्छादनं। ५. गवादीनां बन्धनं, न तु अप्रत्युपकारः।
६. वीनां लयः तस्य विलसितं पक्षे न पुनर्विनाशः। विलयो विनाशः पक्षिसंश्रयश्च।
,, लयस्तूर्यत्रयीसाम्ये संश्लेषणविनाशयोः। ७. शकुनः शकुनिश्च पक्षी।
८. अञ्जनेनार्थोपार्जनं, न तु कलङ्कः 'अञ्जनं मषी रसाञ्जने कज्जले सौवीरे'।
९. लेखकेषु। १०. परिसंख्यालंकारः। *. उत्प्रेक्षालंकारः।

किं च । मेरुस्पर्द्धिविवृद्धबन्धुरशिखरोल्लेखस्खलज्ज्योतिषो यस्या स्वस्खलदुच्चभित्तिविलसद्रत्नांशुमालम्बिताः ।
तुङ्गोत्सङ्गतमङ्गसङ्गविवशव्यापारसारादराः स्वर्गावासनिवासमानसरसाः संजज्ञिरे नामराः ॥५६॥

या च

किं पुण्यपुञ्जनिकरस्त्रिजगज्जनानां लोकेष्वमात्किमु यशः प्रथितं जिनानाम् ।
इत्थं वितर्कवसतिर्वसतिर्विभाति विश्वंभराम्बरदिशां प्रविभक्तमाषा ॥५७॥

ततो महामुनिजनाराधनविनीतवनदेवतावितीर्णप्रसूनोपहारपरिसरत्परिमलोद्याने तदुद्याने यदा तेन त्रिजगतोऽस्तूयमानवृत्तेन भगवता सुदत्तेन सह तव विवादाविरोधस्य धर्मावबोधो भविष्यति, तदा भवतो भविष्यन्ति प्रेषणानवद्याः पुनरपीमा विद्याः, भविष्यति च भवानम्बरचरप्रभुप्रभावः' इत्युक्त्वा तदनूचानचरणार्चनोपचितागण्यपुण्यतया समस्तमहाभागभुवन-चक्रवर्ती स विद्याधरचक्रवर्ती जगामाभिलषितं विषयम् । अम्बरचरोऽप्याजगामोज्जयिनीम् ।

इतश्च तस्यामेवोरगपुरोस्पर्धिन्यामुज्जयिन्यामदूरदेशवर्तिनि भाविभवदुरितकन्दैरिवास्थिखण्डैरपाण्डुरितबाहिरिके, मूर्तिमद्भिः पापैरिव चर्मभिः किर्मीरितोपान्तसीमपर्यन्ते, पुरोजन्मदुःखानलज्वालाभिरिव बल्लूरमालाभिः पाटलोदञ्च-

---

हुई कान्तियाँ, जिनमें ऊपर शोभायमान होतीं हुईं ध्वजाएँ व सुवर्णकलश वर्तमान हैं, ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—इस स्थान पर दुग्ध कान्ति-सी शुभ्र जिन मन्दिरों की श्रेणी ही शोभायमान हो रही है[1] ॥ ५५ ॥

जिस वसतिका की, जिसकी सुमेरु के साथ स्पर्धा करने वाली वृद्धि में सफल हुईं (विशेष ऊँची) शिखरों की रगड़ से नक्षत्र मण्डल पतित हो रहे हैं और जो कि गिरते हुए समीपवर्ती भित्तियों के रत्नों की प्रचुर कान्तियों से शोभायमान हो रही है, ऊँची मध्यभागवाली उपरितन भूमि के सङ्गम से पराधीन व्यापार से उत्तम आदर वाले देवता लोग स्वर्ग भूमि पर निवास करने के अभिमान से सरस (रसिक—प्रमुदित) नहीं हुए ॥ ५६ ॥

पृथिवी, आकाश व दिशाओं का विभाग करनेवाली एवं इस प्रकार कल्पना की आधार रूप जो वसतिका शोभायमान होती हुई ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—क्या तीन लोक के प्राणियों की पुण्यपुञ्ज की श्रेणी ही है । अथवा क्या तीन लोक में अवकाश प्राप्त न करता हुआ (न समाता हुआ) जिनेन्द्रों का विस्तृत यश ही है[2] ॥ ५७ ॥

अथानन्तर उस वसतिका के उद्यान (बगीचे) में, जो कि प्रशस्त मुनिजनों की आराधना—सेवा—से नम्रीभूत वनदेवता द्वारा दिये हुए पुष्पोपहारों की फैलती हुई सुगन्धि से बहुल दीप्त है, जब तीन लोक द्वारा स्तुति किया जा रहे चरित्र वाले उस भगवान् (पूज्य) सुदत्ताचार्य के साथ, वाद-विवाद से विरोध-रहित हुए आपको (कन्दल विलास नाम के विद्याधर को) यथार्थ धर्म का ज्ञान होगा, तब आपको पुनः ये [विद्याधरोचित] विद्याएँ भी आकाश में भेजने में निर्दोष (समर्थ) होजायगीं और आप भी विद्याधर के समर्थ प्रभाव से युक्त होजाओगे ।' ऐसा कह कर उस अनूचान (साङ्गोपाङ्ग द्वादश श्रुत के अभ्यासी 'मन्मथमथन' नाम के ऋषि) की चरण-पूजा से संचित किये हुए अगण्य—असंख्यात पुण्य से समस्त भाग्यशाली धर्मात्मा लोक का चक्रवर्ती वह विद्याधरों का चक्रवर्ती ('रत्नशिखण्ड' नाम का) अभिलषित देश को प्रस्थान कर गया और 'कन्दल विलास' नामका विद्याधर भी उज्जयिनी नगरी में आगया ।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज ! इसी धरणेन्द्र नगरी से स्पर्धा करनेवाली उज्जयिनी नगरी के समीपवर्ती ऐसे चाण्डाल के निवास स्थान में, जिसकी बाह्यभूमि (बाह्यप्रदेश) ऐसी हड्डियों की श्रेणियों से

---

१. उत्प्रेक्षालंकारः । २. उत्प्रेक्षालंकारः ।

चक्रविधि, तमस्काण्डखण्डायमानैरिव कञ्चुकच्छदैर्धूसराङ्गणे, कृष्णलेश्यापटलैरिव करटकुलैः कलुषितगेहाग्रभागभुवि, निरयनिवासिभिरिव कुणपकलेवरेषु युद्धोद्धतान्धैर्दुर्बुक्कुरैः भयङ्करजनीयनिवेशे, अनंगमावासोद्देशे, तस्मादमृतमतिमहादेवीकृतपरापरप्रयोगाद्यशोमतिमहाराजवाजिविनाशोद्योगाच्च व्यतीत्य तं वस्तकालरासभावमहं सा च मदीयाम्बिका चरणायुधान्वये सहैव जन्म प्रत्यपद्यावहि। तदनन्तरमेव च वृषवंशदंष्ट्राक्रकचगोचरतयावयोर्लोकान्तरगिरि मातरि पुनः काकतालीयकन्यायेन कृतकोणिकोत्कलिका, मालबालिकातीव जरत्कुटीरनिकटोत्कुटकुलायकोटरे चिराववहिता सती कर्णाभ्यर्णवर्णनिर्णयेनावां निगृह्य परिगृह्य च तनूरुहनिर्विशेषं पोषयामास।

व्यतीतस्वभावे च बालभावे कदाचिदसावासन्नविद्याधरीजनकेलिशर्मा चण्डकर्मा समाचरितस्वैरविहारस्तत्र श्वपचपाटकोपकण्ठभूमिकायामावामेकस्यान्तावसायिसुतस्य हस्तगतौ समालोक्यास्मद्रूपसंपदालोकविस्मितमनस्कारस्तुष्टिप्रदानोत्पादितश्वपचनन्दनानन्दः समादायालोक्य च यशोमतिमहाराजायाबीभृशत्। राजाप्यावामवेक्ष्य जाताश्चर्यः

शुभ्र वर्णवाली है जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—भविष्य जन्म संबंधी पापों के अङ्कुर ही हैं। जिसकी गोपानसी[1] (गृहाच्छादन पटलैकदेश) का पर्यन्त भाग ऐसे चमड़ों से चित्रवर्ण-युक्त है, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—मूर्तिमान कर्म ही हैं। जिसका तृणकुटी-पटल ऐसी शुष्क मांस श्रेणियों से पाटल (श्वेत-रक्त) है, जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—पूर्वजन्म संबंधी दुःखरूपी अग्नि की ज्वालाएँ ही हैं। जिसका अङ्गण ऐसे जलकाक-पंखों से धूसर (धुमेले रंग का) है, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—गाढ़ अन्धकार के निकृष्ट खण्ड ही हैं। जिसके गृह की अग्रभागभूमि, ऐसी काक-श्रेणियों से उत्कलुषित (विशेष मलिन) है, जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—कृष्णलेश्याओं (रौद्रपरिणामों) की श्रेणियाँ ही हैं। जिसका निवेश (प्रवेश-द्वार) ऐसे कुत्तों से भयङ्कर है, जिनके चित्त दुर्गन्धित मुर्दा-शरीरों में युद्ध-गर्व से अन्धे हो रहे हैं, (अथवा पाठान्तर में जो दुर्गन्धित मुर्दा शरीरों में युद्ध करने में उद्यमशील होते हुए ऊपर उछलने का प्रयत्न कर रहे हैं) जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—नरकों में निवास करनेवाले नारकी ही हैं, उस अमृतमति महादेवी द्वारा किये हुए द्वितीयवार मारण के प्रयोग से एवं यशोमति महाराज संबंधी घोड़े के विनाश के उद्योग से उस बकरे की व भैंसे की पर्याय व्यतीत करके [उपर्युक्त चाण्डाल के निवास स्थान में] मैंने (यशोधर के जीव ने) और मेरी माता (चन्द्रमति के जीव) ने मुर्गों के वंश में साथ-साथ ही जन्म धारण किया। पश्चात् हम दोनों की माता मुर्गी बिलाव की दाढ़रूपी आरे का विषय होने से काल-कवलित हुई। पश्चात्—काकतालीय न्याय (अचानक संयोग) से क्रीड़ा करने में उत्कण्ठा करनेवाली चाण्डाली ने, जो कि अत्यन्त जर्जरित झोंपड़ी के निकटवर्ती मुर्गा पक्षी के घोंसले के निकट चिरकाल तक एकाग्र स्थित हो रही थी, श्रोत्र समीपवर्ती शब्द के निश्चय से हम दोनों को निश्चय करके ग्रहण किया और पुत्र-सरीखा पालन किया।

अथानन्तर जब हमारी बाल्यावस्था व्यतीत हुई तब किसी अवसर पर स्वच्छन्द पर्यटन करनेवाले इस चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने, जिसको विद्याधरीजनों के साथ क्रीड़ा करने का सुख समीपवर्ती है, उस क्षुद्र चाण्डाल-की समीपवर्ती भूमि पर हम दोनों (मुर्गा-मुर्गी) को एक चाण्डाल-पुत्र के हस्तगत देखा। फिर हम दोनों की लावण्य सम्पत्ति के दर्शन से आश्चर्य-युक्त चित्त के विस्तार वाले उसने, सन्तोष (पारितोषिक) प्रदान से प्रस्तुत चाण्डाल-पुत्र को आनन्द उत्पन्न करके हम दोनों को ग्रहण किया और लाकर यशोमति महाराज के लिए दिखाया। फिर राजा ने भी हम दोनों को देखकर आश्चर्यान्वित होते हुए निम्नप्रकार विचार करके चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल से कहा—'अहो आश्चर्य है 'इन पक्षियों की शारीरिक रचना (लावण्य संपत्ति) समस्त मुर्गों की श्रेणी में श्रेष्ठतम व दूसरी (कहने के लिए अशक्य) व अनोखी ही है' हे चण्डकर्मा कोट्टपाल।

१. गोपानसी-गृहाच्छादनपटलैकदेशः यश० पं० से संकलित—सम्पादक।

'अहो, अपर एव कोऽप्यनयोः शकुनयोः सकलताम्रचूडकुलातिशायी शरीरसंनिवेशः' इति विमृश्य 'चण्डकर्मन्, तिष्ठतु तावदेतत्तवैव हस्ते पत्रत्रयमिथुनम्। अहमिदानीमेवेमं पुष्परथं समारोपितकर्णीरथाक्रान्तविलासिनीजनपरिवृतः सहान्तःपुरेण पीठमर्दविटविदूषकनायकसामाजिकलोकानुगतः सहस्रकूटचैत्यालयोपवने मकरध्वजपूजार्थं प्रविश्यामि। तत्र पुनर्युद्धविनोदायैवं प्रदर्शयितव्यम्'। चण्डकर्मा 'यथाज्ञापयति देवः' इत्यभिधाय निश्चक्राम। आजगाम च गैरिकरसारुणितपटकुटीप्रभाजालविराजमानकुजराजीकमनेकोपकार्यापर्या*यपरिगतपर्यन्तावनीकं तदुद्यानम्। तत्र च शकुनसर्वज्ञेन सूरिणा भागवतेन, नक्षत्रपाठकेन धूमध्वजेन द्विजातिना खन्यवादविदा हरप्रबोधेन जटिना खरपटोपदेशबुधेन सुगतकीर्तिना शाक्येन सह मुधा संबन्धसार्धुकस्कन्धावलम्बितपतत्रपञ्जरः स चण्डकर्मा

मदनशरश्रियाकान्तैर्वनदेवीपाणिपेशलप्रान्तैः। अधरदलरागपटलश्लाघ्यैरिव काननश्रीणाम् ॥५८॥

'यह पक्षियों (मुर्गों) का जोड़ा तब तक तुम्हारे ही हस्तगत रहे' क्योंकि मैं इस पुष्परथ (आम्र विनोद) में बैठ करके इस कर्णीरथ[1] (दोनों पार्श्वस्कन्धों से ले जाने योग्य पालकी विशेष) पर आरूढ़ हुई विलासिनीजनों (कामिनियों) से वेष्टित हुआ अन्तःपुर की रानियों के साथ पीठमर्द[2] (कामशास्त्र के अध्ययन से मनोज्ञ बुद्धि-वाला पुरुष), विट (विकृत वेषधारक), विदूषक (मसखरा), नायक (विट-आदि वेषों का अधिकारी प्रधान पुरुष) व सामाजिक (संगीत-प्रवीण पुरुष) लोक से अनुगत हुआ सहस्रकूट चैत्यालय के उपवन में कामदेव की पूजा-निमित्त जाऊँगा। पुनः तुम्हें वहाँ पर युद्धक्रीड़ा के लिए इस पक्षी जोड़े को दिखाना चाहिए।' चण्डकर्मा कोट्टपाल ने कहा—'जैसी राजा सा० की आज्ञा है।' ऐसा कहकर वहाँ से निकला और उक्त उपवन में, जहाँ पर वृक्ष-श्रेणी गेरू के रस से रञ्जित हुई तम्बुओं की कान्ति-श्रेणी से शोभायमान हैं एवं जिसकी समीपवर्ती भूमि अनेक उपकार्या[3] (मठमन्दिर-आदि राजसदन) की रचना से व्याप्त है, आया। वहाँ पर उस चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने, जो कि शकुनसर्वज्ञ (शकुन शास्त्रवेत्ता) नाम के विष्णुभक्त विद्वान् के साथ व 'धूमध्वज' नाम के ज्योतिषशास्त्र वेत्ता ब्राह्मण विद्वान् के साथ एवं पृथिवी के मध्य गड़े हुए धन को जाननेवाले हरप्रबोध नाम के जटाधारी तपस्वी के साथ तथा ठक्शास्त्र वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगतकीर्ति नाम के विद्वान् के साथ वर्तमान है और जिसने व्यर्थ के संबन्धवाले सार्धुक[4] (साढूभाई) के स्कन्ध पर पक्षियों का पिंजरा स्थापन किया है, ऐसे अशोक वृक्ष के मूल में निवास करने वाले भगवान् (पूज्य) श्री सुदत्ताचार्य को देख कर मन में निम्न प्रकार विचार किया।

मनोज्ञ अशोक वृक्ष को देखिये, जो कि ऐसे पल्लवों से मनोज्ञ है, जो काम-बाणों-सरीखे चित्र व मनोज्ञ

१. 'कर्णीरथः प्रवहणं डयनं च समं त्रयम्' इत्यमरः ,, कर्णिषु स्कन्धेषु रथः कर्णीरथः दीर्घोभयपार्श्वस्कन्धेनोह्यमानो रथः विमानाख्यः।

२. तथाहि—पीठमर्दः स विज्ञेयो यः कामागमवारधीः। स्त्रीप्रसादविनोदज्ञो विटो विकृतवेषभाक् ॥ १ ॥
उपप्लवस्य यः पात्रं स विदूषक उच्यते। यो गोष्ठ्या विटवेषाणामधिकर्ता स नायकः ॥ २ ॥
यो गीतवाद्यनृत्यज्ञो नैपथ्यविधिकोविदः। सामाजिकः स बोद्धव्यो मदन्त दशः कलागमे ॥ ३ ॥
ह० लि० सटि० (ख) प्रति से संकलित—सम्पादक

३. उपकार्योपकारिका मठमन्दिरादि राजसदनं।

*. 'पर्यायोऽवसरक्रमे निर्माणे द्रव्यधर्मे च'।

४. सार्धुकः—निजभार्याभगिनीपतिः।

तरुणीचरणास्फालनसंक्रान्तालक्तकद्रवोद्रेकम् । विकिरद्भिरिव पलाशैरशोकमालोकयत कान्तम् ॥५९॥

तन्मूलनिवासवन्तं सुदत्तभगवन्तं च । स्वगतम्—'अहो कथमनेन भगवता परलोकलाभलङ्घनकरावकाशः कमनीयतां नीतः शरीरसंभवाभिनिवेशः क्लेशः । यतः ।

काश्यं क्षुत्प्रभवं कदन्नमशनं शीतोष्णयोः पात्रता पारुष्यं च शिरोरुहेषु शयनं मह्यास्तले केवले ।
एतान्येव गृहे वहन्त्यवनतिं यान्त्युन्नतिं कानने । दोषा एव गुणीभवन्ति मुनिभिर्योग्ये पदे योजिताः ॥६०॥

तदलमत्र विकल्पपरम्परया । संभाषामहे तावदेनं संयमिनम् । न खलु रत्नाकरकल्लोला इव प्रायेण भवन्ति मुनयः शून्यशीलाः ।' ततः समुपसृत्य निषद्य च तत्र विवादाध्येषणोत्कर्षकलुषधिषणः कितवमाह सूरिः—

'अहो विवेकशून्यानामात्मानर्थाश्रयाः क्रियाः । न ह्यङ्गखेदगतो मुक्तिर्नृणां मरुकुरङ्गवत् ॥६१॥

यस्मादेव खलु

अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अमूर्तश्चेतनो भोक्ता पुमान्कपिलशासने ॥६२॥

हैं एवं जिनके प्रान्तभाग वनदेवी के कर-कमलों-जैसे कोमल हैं। अतः जो ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—वन-लक्ष्मियों की ओष्ठदलसंबंधी लाली की श्रेणी से ही प्रशंसनीय हुए हैं एवं जो ऐसे प्रतीत होते हैं—मानों—युवती स्त्रियों के पादताडन से संक्रमण को प्राप्त हुए तरल लाक्षारस की प्रचुरता को ही फैंक रहे हैं*, ॥५८-५९॥

अहो आश्चर्य है कि कैसे इस पूज्य ने शरीरजनित अभिप्रायवाला व स्वर्गलोक के प्रतीक अवसर-वाला शारीरिक कष्ट प्रशंसनीयता में प्राप्त किया है। क्योंकि—भूख से उत्पन्न होने वाली शारीरिक दुर्बलता, कुत्सित या स्वल्प अन्न वाला भोजन, शीत व उष्ण के सहन करने की योग्यता, केशों में कठोरता एवं केवल पृथिवी तल पर शयन करना, ये ही वस्तुएँ गृह पर अवनति को धारण करती हैं, अर्थात्—मानव की दरिद्रता की प्रतीक हैं परन्तु वन में उन्नति को धारण करती हैं, अर्थात्—वन में उक्त कष्टों को सहन करनेवाले साधु की महत्ता सूचित करती हैं, क्योंकि साधु पुरुषों द्वारा योग्य स्थान (धर्म ध्यानादि) में योजना किये हुए दोष ही गुण हो जाते हैं ॥६०॥ अतः इस विषय में सन्देह-समूह करने से पर्याप्त है। इसी चरित्रधारक साधु से हमलोग वार्तालाप करें। निस्सन्देह मुनिलोग प्रायः करके समुद्रतरङ्गों-सरीखे शून्य स्वभाववाले (निरर्थक प्रयास करनेवाले) नहीं होते।' फिर श्री सुदत्ताचार्य के समीप जाकर व स्थित होकर उनमें से सूरि (शकुन सर्वज्ञ नामक विष्णुभक्त विद्वान) ने, जो कि विवाद संबंधी अध्येषण[1] (सत्कारपूर्वक व्यापार) की वृद्धि से कलुषित बुद्धिवाला है, इस प्रकार कहा—'अहो! ज्ञान-हीन पुरुषों की क्रियाएं (कर्तव्य) आत्मा को विपत्तियों का सङ्गम करानेवाली होती हैं, क्योंकि निश्चय से जैसे मृगतृष्णा में वर्तमान मृगों को शारीरिक कष्टों (निरर्थक दौड़ने) से सुख प्राप्त नहीं होता (उनकी प्यास शान्त नहीं होती) वैसे ही विवेक-शून्य पुरुषों को भी शारीरिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती[2] ॥ ६१ ॥

क्योंकि निश्चय से यह आत्मा निम्नप्रकार है—सांख्यदर्शन में यह आत्मा अकर्ता (पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध न करने वाला), निर्गुण (सत्व, रज व तम-आदि प्रकृति के गुणों से रहित), शुद्ध (कमल पत्र सरीखी निर्लेप), नित्य (सकलकालकलाव्यापी—शाश्वत रहने वाली अविनाशी), सर्वगत (व्यापक—समस्त मूर्तिमान पदार्थों के साथ संयोग करने वाला), निष्क्रिय (एक देश से दूसरे देश को गमन करना रूप क्रिया से शून्य), अमूर्तिक (प्रकृति के रूप, रस, गन्ध व स्पर्श तथा शब्द गुणों से शून्य), चेतन (शान्त चैतन्य-युक्त) और भोक्ता (पुण्य-पाप कर्मों के सुख दुःख रूप फलों का भोगने वाला) है ॥ ६२ ॥

---

*. उत्प्रेक्षालंकारः । १. 'सत्कारपूर्वो व्यापारोऽध्येषणः' सटिप्पण प्रति से संकलित— २. उपमालंकारः ।

स यदा दुःखत्रयोपतप्तचेतास्तद्विघातःकहेतुजिज्ञासोत्सेकितविवेकस्रोता: स्फटिकाश्मामिवानन्दात्मानमप्यात्मानं सुखदुःख-मोहावहपरिवर्तमहदहंकारादिविवर्तैः [illegible] सनातनव्यापिगुणाधिकृतेः प्रकृतेः स्वरूपमवगच्छति, तदायोमयगोलकानलतुल्यवर्गस्य बोधवद्बहुधानकसंसर्गस्य सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसंबन्ध-शून्यं कैवल्यमवलम्बते । 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति वचनात् । ततश्च—

अनुभवत पिबत खादत विलसत मानयत कामितं लोकाः । आत्मव्यक्तिविवेकान्मुक्तिर्ननु किं वृथा तपत ॥६३॥'

धूमध्वजः—

'घृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नैति जातुचित् । विशुद्ध्यति कुतश्चित्तं निसर्गमलिनं तथा ॥६४॥

न चापरमिवास्ताविषः समर्थोऽस्ति यदर्थोऽयं तपःप्रयासः सफलायासः स्यात् । यतः ।

द्वादशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थितिः पुरुषः । प्रीतिः परा परस्परमनयोः स्वर्गः स्मृतः सद्भिः ॥६५॥

वह आत्मा, जिसका चित्त तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों) से सन्तप्त है, अथवा पाठान्तर में उपलुप्त है और जिसका विवेक (सम्यग्ज्ञान) रूपी जलप्रवाह समस्त दुःखों को ध्वंस करने के कारणों के जानने की इच्छा से वृद्धिगत हो रहा है, अथवा पाठान्तर में जिसका विवेकरूपी जलप्रवाह उक्त दुःखों के ध्वंस करने के कारणों की जिज्ञासा व उत्कण्ठा से अङ्कित चिह्नित है, जब ऐसी प्रकृति का स्वरूप जानता है, जो कि स्फटिक मणि-सरीखी शुद्ध व आनन्द स्वरूप वाली आत्मा को महान्[1] (बुद्धि), अहंकार व १६ गण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्शनादि व पाँच कर्मेन्द्रिय (पायु, उपस्थ, वचन, पाणि व पाद एवं मन तथा रूप, रस, गंध, स्वर व स्पर्शतन्मात्रा) आदि विकारों से, जिनमें सुख, दुःख व मोह (अज्ञान) को धारण करनेवाले परिवर्तन पाये जाते हैं, कलुषित (मलिन—पापिष्ठ) कर रही है एवं जो सत्व, रज व तम गुणों की समतारूप दूसरे नाम वाली है और जो, शाश्वत व्यापी गुणों पर अपना अधिकार किए हुए हैं तब यह आत्मा ज्ञान के संसर्ग-सरीखे प्रकृति के संसर्ग का त्याग करती है, जो कि लोहे के गोले और अग्नि के संयोग सरीखा है, (अर्थात्—जैसे गरम लोहे में लोहा और अग्नि का संयोग संबंध है वैसे ही प्रकृति व पुरुष का संयोग संबंध है) ऐसे कैवल्य (चैतन्य रूप) को धारण करता है, जो कि समस्त ज्ञान व ज्ञेय (पदार्थ) के संबंध से शून्य है, तब आत्मा का अपने चैतन्य स्वरूप में अवस्थान (स्थिति) हो जाता है उसे मुक्ति कहते हैं। अतः जब आत्मा और प्रकृति के भेद ज्ञान से ही मुक्ति होती है तब हे सज्जनो ! इच्छित वस्तु भोगो, पिओ, खाओ, मनचाही वस्तु के साथ विलास करो एवं इच्छित वस्तु का सम्मान करो, क्योंकि जब निश्चय से प्रकृति व आत्मा के भेद ज्ञान से मुक्ति होती है, तब क्यों निरर्थक तपश्चर्या करते हुए कष्ट उठाते हो ? ॥ ६३ ॥'

अथानन्तर 'धूमध्वज' नाम के ज्योतिःशास्त्र वेत्ता ब्राह्मण विद्वान् ने कहा—'जैसे घर्षण किया जाने-वाला अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता—शुभ्रता-को प्राप्त नहीं करता वैसे ही स्वभाव से मलिन चित्त भी किन कारणों से विशुद्ध हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता ॥ ६४ ॥ परलोक स्वरूप वाला ताविष[2] (स्वर्ग) प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है (अथवा पाठान्तर में दूसरा लोक विशेष स्वर्ग प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं है, जिसके लिये यह तपश्चर्या का खेद सफल खेदवाला हो सके। क्योंकि—बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष की योग्य आयु वाला

१. महानित्युक्ते सांख्यमते बुद्धिर्लभ्यते, तस्मादेवाहंकारो जायते, अहंकाराच्च षोडश प्रकृतयस्तद्यथाहि—स्पर्शनादि पंच बुद्धीन्द्रियाणि, पायूपस्थवचः पाणिपादाः मनश्चेति षट् कर्मेन्द्रियाणि, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रं, स्वरतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं चेति पंचतन्मात्राणि । ह० लि० सटि० (ख) प्रति के आधार से संकलित—सम्पादक

२. ताविषः स्वर्गः ।

ततश्च—

विहाय देहस्य सुखानि येषां दुःखेन सौख्येषु मनीषितानि । ते कोरके कर्षणकारशीलाः शालीन्पुनर्नूनमुदाहरन्ति ॥६६॥'

हरप्रबोधः—

'अन्यथा लोकपाण्डित्यं वेदपाण्डित्यमन्यथा । अन्यथा तत्पदं शान्तं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ॥६७॥

भगवतो हि भर्गस्य सकलजगदनुग्रहसर्गो द्विधागमस्य मार्गो दक्षिणो वामश्च । तत्र लोकसंचारणार्थं दक्षिणो मार्गः । तदाह—

प्रपञ्चरहितं शास्त्रं प्रपञ्चरहितो गुरुः । प्रपञ्चरहितं ज्ञानं प्रपञ्चरहितः शिवः ॥६८॥

शिवं शक्तिविनाशेन ये वाञ्छन्ति नराधमाः । ते भूमिरहिताद्बीजात्सस्यं नूनं फलोत्तमाः ॥६९॥

भुक्तिमुक्तिप्रदस्तु वाममार्गः परमार्थतः । तदाह—

अग्निवत्सर्वभक्षोऽपि भवभक्तिपरायणः । भुक्तिं जीवन्नवाप्नोति मुक्तिं तु लभते मृतः ॥७०॥

इममेव च मार्गमाश्रित्याभाषि भासेन महाकविना—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं ग्राह्यः स्वभावललितोऽविकृतश्च वेषः ।

पुरुष इन दोनों की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति को सज्जनों ने स्वर्ग कहा है ॥ ६५ ॥ अतः जिनके मनोरथ, शारीरिक सुख त्याग कर कष्ट सहन द्वारा सुख-प्राप्ति करने के हैं, वे धान्यकणों पर हल चलाने की प्रकृति वाले होते हुए निस्सन्देह खेत से धान्य उखाड़ते हैं। भावार्थ—जैसे हरी धान्य के पुष्पों पर हल चलाते हुए या उनको जोतते हुए, मानवों के लिए उपजाऊ भूमि के बिना खेत से धान्य उखाड़ना असम्भव है, वैसे ही शारीरिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर तपश्चर्या का कष्ट करते हुए मानवों को निस्सन्देह सुख प्राप्त होना असम्भव है[1] ॥ ६६ ॥' फिर गड़े हुए धन को बताने वाले शास्त्र के वेत्ता 'हरप्रबोध' नामक तपस्वी ने कहा—

'लोकपटुता (व्यवहार-चातुर्य) दूसरी वस्तु है और वेदों की विद्वत्ता दूसरी चीज है एवं शान्ति-युक्त मोक्षपद दूसरी असाधारण वस्तु है और मनुष्य समूह उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे प्रकार से कष्ट उठाते हैं। अभिप्राय यह है कि लोक में ऐसा देखा जाता है कि विद्वान् पुरुष व्यवहार-शून्य होता है और व्यवहारी विद्वत्ता-शून्य होता है, इसी प्रकार परम शान्ति-स्थान मुक्ति भिन्न है और उससे अशान्त उपाय भिन्न है ॥ ६७ ॥ भगवान् ब्रह्मा या श्री शिव के आगम (वेद) का मार्ग, जिसकी सृष्टि समस्त संसार के अनुग्रह निमित्त हुई है, निश्चय से दो प्रकार का है। दक्षिण मार्ग और वाममार्ग। उनमें से दक्षिण मार्ग लोक व्यवहार-संचालन के लिए है, उसके विषय में कहा है—शास्त्र (वेद व स्मृतिशास्त्र) प्रपञ्च-रहित (भ्रम-शून्य) है और गुरु प्रपञ्च-रहित (मायाजाल-शून्य) है एवं ज्ञान प्रपञ्च-रहित (संदेह, मिथ्या व विपर्यस्त-रहित) है तथा शिव प्रपञ्च-रहित (संसार के माया-आदि से मुक्त) है ॥ ६८ ॥ जो मनुष्यों में क्षुद्र मनुष्य शक्ति-विनाश[2] से (माया के विना—कमनीय कामिनी के विना) शिव (सदाशिव) की प्राप्ति चाहते हैं वे, निश्चय से खेत के विना ही केवल धान्यादि के बीज से धान्य-फलों के प्राप्त करने में उत्तम हों। अर्थात्—जैसे भूमि के विना केवल धान्य-बीज से धान्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वैसे स्त्री के विना भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥ निश्चय से वाममार्ग विषय-भोग और मुक्ति देनेवाला है। उसके विषय में कहा है—जो मानव अग्नि के समान समस्त (खाद्य-अखाद्य) वस्तुओं का भक्षण करता हुआ भी केवल श्री शिव की भक्ति में तत्पर है, वह जीवित अवस्था में विषय-भोग प्राप्त करता है और मरने पर मुक्ति प्राप्त करता है ॥ ७० ॥ इसी वाम-मार्ग का आश्रय लेकर महाकवि भास ने कहा है—मद्य पीना चाहिए और प्रियतमा (विशेष प्यारी स्त्री) का

---

१. निदर्शनालंकारः । २. द्वितयं विना ।

येनैवमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान्स पिनाकपाणिः ॥७१॥'

सुगतकीर्तिः—'आत्मग्रह एव प्राणिनां तावन्महामोहावन्ध्यान्ध्यम् ।

यतः—यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति शाश्वतः स्नेहः । स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥७२॥

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ । अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥७३॥

विगलिताग्रहे चात्मग्रहे निराश्रयचित्तोत्पत्तिलक्षणो निरोधापरनामपक्षो मोक्षः स्वलक्षणोऽक्षिणामपूर्णः स्वलक्षणं ।

तदाह— यथा स्नेहक्षयाद्दीपः प्रशाम्यति निरन्वयः । तथा क्लेशक्षयाज्जन्तुः प्रशाम्यति निरन्वयः ॥७४॥

एवं च सति केशोल्लुञ्चनतप्तशिलारोहणकेशदर्शनाशनविनाशब्रह्मचर्यादयः केवलमात्मोपघातायैव । तदुक्तम्—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः ।
संतापारम्भः क्लेशनाशाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये ॥७५॥

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्यालापि नीलपटेन—

पयोधरभरालसाः स्मरविघूर्णिताक्षिप्रभाः क्वचित्सलयपञ्चमोच्चरितगीतझङ्कारिणीः ।

मुख देखना चाहिए एवं स्वाभाविक सुन्दर विकार-शून्य वेष धारण करना चाहिए। वह भगवान शिव चिरञ्जीवी हों, जिसने ऐसा मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया ॥ ७१ ॥' तदनन्तर तर्कशास्त्र वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगतकीर्ति नाम के विद्वान् ने कहा—'सबसे प्रथम आत्म ग्रह (आत्म द्रव्य का आग्रह—हठ) ही प्राणियों की महान् मोह की सफल अन्धता है।

क्योंकि—जो आत्मा को जानता है, उसका आत्मा में निरन्तर स्नेह (राग) होता है और स्नेह होने से पंचेन्द्रियों के सुखों की तृष्णा करता है एवं सुखों की तृष्णा दोषों को स्वीकार करती है। आत्मा के होने पर दूसरी जीव संज्ञा होती है और जिससे स्व और पर के विभाग से परिग्रह व द्वेष उत्पन्न होते हैं और इससे परिग्रह दोषों में अच्छी तरह बँधे हुए समस्त दोष उत्पन्न होते हैं ॥ ७२-७३ ॥ जब आत्मद्रव्य का आग्रह (हठ) दूर (नष्ट) हो जाता है तब सन्तान-(द्रव्य) रहित चित्त की उत्पत्ति लक्षणवाला व निरोध नामक दूसरे नाम वाला ऐसा मोक्ष स्वलक्षण[1] (ऐसा क्षणिक निरंश परमाणुमात्र, जो कि स्वजातीय व विजातीय परमाणु से व्यावृत्त (निवृत्त) है) प्राणियों का परिपूर्ण होता है। उसके विषय में कहा है—जैसे तेल के नष्ट हो जाने से दीपक अन्वय-(संतान) रहित हुआ शान्त हो जाता है (बुझ जाता है) वैसे ही यह जीव समस्त क्लेशों के क्षय हो जाने से अन्वय (सन्तान) रहित हुआ शान्त (नष्ट) हो जाता है ॥७४॥ ऐसा निश्चय होने पर केशों का उखाड़ना, तपी हुई शिला (चट्टान) पर चढ़ना, केश के दिखाई देने पर भोजन का त्याग और ब्रह्मचर्य-आदि केवल आत्मा के उपघात के लिए है। कहा है—

ऋग्वेद-आदि वेदों को प्रमाण मानना, किसी का कर्तृवाद (ईश्वर को सृष्टि कर्ता की मान्यता) गङ्गा-आदि में स्नान करने में धर्म की अभिलाषा, ब्राह्मण-आदि जाति का गर्व करना और शरीर को कष्ट देना इस प्रकार नष्ट बुद्धिवालों की जड़ता के सूचक पाँच चिन्ह हैं ॥ ७५ ॥ नीलपट नामके कवि ने इसी विषय को लेकर निम्नप्रकार कहा है—इन ऐसी रमणियों (कमनीय कामिनियों) को छोड़कर, जो कि कुचकलशों के भार से मन्द हैं, जिन्होंने काम से आधे नेत्र चारों ओर संचालित किये हैं, और जिनमें किसी स्थान पर लयसहित पञ्चम स्वर से गाये हुए गीतों को कानों को सुख देनेवाली झङ्कार (मनोज्ञ ध्वनि) वर्तमान है, दूसरे मोक्ष सुख

---

१. स्वजातीयविजातीयव्यावृत्तक्षणिकनिरंशपरमाणुमात्रं ।

विहाय रमणीरमूरपरमोक्षसौख्यार्थिनामहो जडिमडिण्डिमो विफलमण्डपाखण्डिनाम् ॥७६॥

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं सर्वार्थसंपत्करीं ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं मुण्डीकृता लुञ्चिताः केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिनः कापालिकाश्चापरे ॥७७॥[1]

चण्डकर्मा—'साधूक्तं खलु सुगतकीर्तिना ।' यतः—

पश्यन्ति ये जन्म मृतस्य जन्तोः पश्यन्ति ये धर्ममदृष्टसाध्यम् ।
पश्यन्ति ये ऽन्यं पुरुषं शरीरात् पश्यन्ति ते नीलकपीतकानि ॥७८॥

ततश्च प्राणापानसमानोदानव्यानव्यतिकीर्णेभ्यः कायाकारपरिणतिसंकीर्णेभ्यो वनपवनावनिपवनसखेभ्यः पिष्टोदकगुडधातकी-प्रमुखेभ्य इव मदशक्तिः पर्णचूर्णक्रमुकेभ्य इव रागसंपत्तिस्तदात्मकार्यगुणस्वभावतया चैतन्यमुपजायते । तच्च गर्भादिमरण-

---

की अभिलाषा करने वाले निरर्थक चित्तमात्ररञ्जक पाखण्डियों की अहो ! यह (कायक्लेशादि) मूर्खता की घोषणा (चिह्न) है[1] ॥ ७६ ॥ जो मूढबुद्धि, झूठे स्वर्गादि फल का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञानवश काम-देव की सर्वश्रेष्ठ और समस्त प्रयोजन रूप संपत्ति सिद्ध करनेवाली स्त्री-मुद्रा का तिरस्कार करते हैं, वे मानों—उसी कामदेव द्वारा विशेष निर्दयता पूर्वक ताड़ित कर मुण्डन किये गए, अथवा केश उखाड़ने वाले कर दिये गए एवं मानो—पञ्चशिखा-युक्त (चोटीधारी) किए गए एवं कोई तपस्वी कापालिक किये गए[2] ॥ ७७ ॥ फिर चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने कहा—कि बुद्धधर्मानुयायी सुगत कीर्ति विद्वान् ने निस्सन्देह अच्छा कहा—क्योंकि—

जो मरे हुए प्राणी का जन्म (पुनर्जन्म) देखते हैं और जो ऐसे धर्म को देखते हैं, जिसका फल प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है एवं जो शरीर से पृथक् आत्मा को देखते हैं वे (मूढ़ बुद्धि) भ्रमवश नीलक (नीलवर्ण-वाली वस्तु) को पीतक (पीतवर्णवाली) समझते हैं और पीतवर्णवाली वस्तु को नील वर्ण वाली समझते हैं। अर्थात्—जैसे, नील को पीत व पीत को नील समझना भ्रम है वैसे ही पुनर्जन्म, धर्म तथा शरीर से भिन्न आत्म-द्रव्य की मान्यता भी भ्रम है ॥ ७८ ॥

अतः जल, वायु, पृथिवी व अग्नि इन ऐसे चार पदार्थों से, जो कि शरीराकार परिणति (दूसरी पर्याय—अवस्था) से मिश्रित हैं और प्राण[3] (हृदय में स्थित हुई वायु), अपान (गुदा में स्थित हुई वायु), समान (नाभि में वर्तमान वायु), उदान (कण्ठ देश में स्थित वायु) और व्यान वायु (समस्त शरीर में वर्तमान वायु) द्वारा क्षिप्त (फैंके गये) हैं, वैसा चैतन्य (आत्मद्रव्य) उत्पन्न होता है, जैसे चूर्ण किये हुए जलमिश्रित गुड व धातकी पुष्प (धाय-फूल) आदि पदार्थों से मद शक्ति (मद्य) उत्पन्न होती है। अथवा जैसे पान, चूना व सुपारी से रागसम्पत्ति (लालिमा रूपी लक्ष्मी) उत्पन्न होती है। क्योंकि यह चैतन्यशक्ति (ज्ञानशक्ति) देहात्मिका[4] (शरीर रूप) देहकार्या, (शरीर से उत्पन्न हुई कार्यरूप) व देहगुण (शरीर का गुण) है। वह चैतन्य (आत्मा), गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त रचना-युक्त है, इसलिए नष्ट हुआ वह (चैतन्य) वैसा पुनः उत्पन्न नहीं होता जैसे वृक्ष से गिरा हुआ पत्र पुनः उत्पन्न नहीं होता। इसलिए परलोक (पुनर्जन्म) का अभाव सिद्ध होने पर और जब जल के बबूलों सरीखे क्षणिक जीवों में मदशक्ति-सरीखी चैतन्य शक्ति सिद्ध

---

१. काव्यलिङ्गालंकारः । २. व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालंकारः ।

३. 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः । उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीरगः' ॥ १ ॥ इत्यमरः ।

४. 'देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः । मतत्रयमिहाश्रित्य नास्त्यन्यस्य संभवः ॥ १ ॥' इति

ह० लि० सटि (ग) प्रति से संकलित०—

पर्यन्तपर्यायमतीतं सत्, पादपात्पतितं पत्रमिव न पुनः प्ररोहति । तथा च परलोकाभावे जलबुद्बुदस्वभावेषु जीवेषु भव-शक्तिप्रतिज्ञाने किमर्थोऽयं ननु लोकस्यात्मसपत्नः प्रयत्नः । तदपहायामीषां जीवन्मृतमनीषाणां मनीषितमेतत् कुशलाशयैरा-श्रेयम् ।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥७९॥

भगवान्— रितस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषावपश्यतः । विलक्ष्या बत केनामी सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥८०॥

किं च । असमाधिकरो वादस्तस्याख्यानं विरुद्धबोधानाम् । भवति हि कोपाय परं शिक्षा व्यालेष्विव गजेषु ॥८१॥

अपि च व्याक्रोशी व्यापहासी वा विपर्यस्तैः सहोदिते । स्वस्य मौन्यमुपेक्षायामहो कष्टा विदग्धता ॥८२॥

स्तौतु निन्दतु वा लोको विविधेच्छाप्रभुः । तथापि [illegible] यथातत्त्वोपदेशनैः ॥८३॥

इत्यनुध्याय दशनांशुर्दिशः कुर्वन्नसपुण्याङ्कुरिता इव । सूरिः सूनृतवागेवं बभाषे स्वरितस्वरः ॥८४॥

बन्धमोक्षौ सुखं दुःखं प्रवर्तननिवर्तने । यद्येष प्रकृतेर्धर्मः किं स्यात्पुंसः प्रकल्पनम् ॥८५॥

होगई तब लोक का यह आत्मा के साथ शत्रुता करने वाला तपश्चर्या रूप प्रयत्न किस प्रयोजन से है ? अर्थात्— निरर्थक है । अतः जीते हुए भी मुरदे शरीखी बुद्धि रखने वाले इन मुनियों के सिद्धान्त (पुनर्जन्म आदि की मान्यता) को छोड़कर कुशल अभिप्राय वालों को निम्नप्रकार की नास्तिक दर्शन की मान्यता स्वीकार करनी चाहिए। जब तक जिओ तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो, क्योंकि [संसार में] कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है, अर्थात्—सभी कालकवलित होते हैं। भस्म रूप हुई शान्त देह का पुनरागमन कैसे हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता ॥ ७९ ॥ (इति पूर्वपक्षः समाप्तः) ।

तदनन्तर इन्द्रादि द्वारा पूज्य श्री सुदत्ताचार्य ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—'खेद है कि जन्म-काल में मिथ्याज्ञान से रहित और गुण व दोष न देखते हुए इस जीव में ये सिद्धान्तरूपी भीषण ग्रह किसने अर्पण कर दिये ? ॥८०॥ विशेष यह है कि मिथ्यादृष्टियों के साथ वादविवाद करना, उनका समाधान करने-वाला नहीं होता एवं उनके लिए दी हुई यथार्थ शिक्षा निस्सन्देह वैसी उनके केवल क्रोध-निमित्त होती है जैसे दुष्ट हाथियों के लिए दी हुई शिक्षा केवल उनके क्रोध निमित्त होती है ॥८१॥ विशेष यह है कि जब मिथ्यादृष्टि वादियों के साथ कुछ कहा जाता है तो वे वक्ता को गाली देनेवाला और उपहास करनेवाला—निन्दा करनेवाला कहते हैं और जब वक्ता उनके प्रति माध्यस्थ्यभाव धारण करता है (कुछ भी नहीं कहता) तो उन्हें वक्ता की मूर्खता प्रतीत होती है। अहो आश्चर्य है कि इसप्रकार विद्वत्ता भी कष्टप्रद है ।।८२।। यह लोक अनेक प्रकार की इच्छाओं का स्वामी है, अतः यह वक्ता की स्तुति करे या निन्दा करे, तथापि सज्जनों को यथार्थ तत्व का उपदेश-देनेवाले होना चाहिए ॥ ८३ ॥'

फिर सत्यवक्ता श्री सुदत्ताचार्य ने मध्यम ध्वनि वाले होते हुए व दन्तकिरणों से दिशाओं को पुण्यरूपी अङ्कुरों से व्याप्त करते हुए-से होकर निम्नप्रकार कहा[1] ॥ ८४ ॥ ['शकुनसर्वज्ञ' नाम के विष्णुभक्त विद्वान् द्वारा कहे हुए सांख्यमत का खंडन] यदि बन्ध मोक्ष, सुख, दुःख, प्रवृत्ति, व निवृत्ति यह प्रकृति का धर्म है तो आत्मतत्व की मान्यता का क्या प्रयोजन होगा ? अर्थात्—जब आपने पुरुषतत्त्व (आत्मा) को माना है तो जाना जाता है कि प्रकृति अचेतन (जड़) है और आत्मा चेतन है, अतः बंध व मोक्ष-आदि आत्मा के ही धर्म मानने चाहिए न कि जड़ प्रकृति के ॥ ८५ ॥ 'जब आप 'प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किन्तु चेतनः'

---

१. उपमालंकारः ।

अकर्तापि पुमान्भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता । नित्योऽपि जातसंसर्गः सर्वगोऽपि वियोगभाक् ॥८६॥
शुद्धोऽपि देहसंबद्धो निर्गुणोऽपि समुच्यते[1] । इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वचः ॥८७॥
किं च । विश्वव्यापी भवेदात्मा यदि व्योमवदञ्जसा । सुखदुःखादिसद्भावः प्रतीयेताङ्गवद्बहिः ॥८८॥
नित्येऽमूर्ते सदा पुंसि कर्मभिः स्वफलैरिमैः । कुतो घटेत संबन्धो यथाकाशस्य रज्जुभिः ॥८९॥
धूप्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्धयभावे कथमिदमुदाहारि कुमारिलेन—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे । श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥९०॥

कथं चेदं वचनमजरम्—

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं समस्तानि वस्तूनि यन्न स्पृशन्ति ।
वियद्वत्सदा शुद्धिमच्छस्वरूपं स सिद्धोपलब्धिः स नित्योऽहमात्मा ॥९१॥

कथं चेयं श्रुतिः समगंस्त—

अर्थात्—प्रकृति को करनेवाली मानते हो और आत्मा को कमल पत्र की तरह निर्लेप व अकर्ता किन्तु चेतन मानते हो तब यदि आत्मा कर्ता नहीं है तो वह भोक्ता (भुजि क्रिया का कर्ता—भोगनेवाला) कैसे हो सकता है? जब आत्मा निष्क्रिय (क्रिया-रहित) है तो वह उदासिता (उदासीनता-युक्त) कैसे हो सकता है? क्योंकि क्या उदासीनता क्रिया नहीं है? इसीप्रकार जब आत्मा नित्य (अविकारी नित्य) है तब वह प्रकृति के साथ संबंध-वाला कैसे हो सकता है? एवं जब आत्मा व्यापक (समस्त मूर्तिमान् पदार्थों के साथ सदा संयोग रखनेवाला) है तब शरीरादि प्रकृति के साथ वियोग रखनेवाला कैसे हो सकता है? जब आत्मा शुद्ध है तब शरीर के साथ संबंधवाला कैसे हो सकता है? और जब वह गुण-हीन है तब सुख रूप कैसे हो सकता है? (अथवा पाठान्तर का अभिप्राय यह है कि जब आप आत्मा को शुद्ध व निर्गुण मानते हो तब वह शरीर के साथ संयोग संबंध रखनेवाला कैसे हो सकता है? इसप्रकार परस्पर विरुद्ध सांख्य दर्शन के वचन युक्ति-संगत नहीं हैं ॥ ८६-८७ ॥ यदि आत्मा वस्तुतः आकाश की तरह सर्व व्यापी है तो सुख दुःखादि का सद्भाव शरीर की तरह बाह्यप्रदेश में प्रतीत होना चाहिए। अर्थात्—जैसे शरीर में सुखादि मालूम पड़ते हैं वैसे ही बाह्यदेश में भी मालूम पड़ना चाहिए, परन्तु शरीर से बाह्यदेश में जब सुख-दुःखादि प्रतीत नहीं होते तब आत्मा सर्वव्यापी कैसे हो सकती है? ॥ ८८ ॥ जब आत्मा सदा नित्य व अमूर्तिक है तो उसका अपने सुख-दुःख रूप फलों को देनेवाले कर्मों के साथ संबंध वैसा कैसे घटित हो सकता है? जैसे नित्य व अमूर्तिक आकाश का रज्जुओं (रस्सियों) के साथ संबंध घटित नहीं हो सकता ॥ ८९ ॥

अब ज्योतिःशास्त्र वेत्ता धूमध्वज नामके ब्राह्मण विद्वान् की मान्यता का निराकरण करते हैं—जब आप धर्षण किये जानेवाले कोयले-सरीखे मन की विशुद्धि नहीं मानते तो कुमारिल विद्वान् ने निम्नप्रकार आत्म-विशुद्धि के विषय में कैसे कहा? 'उन चन्द्रकला-युक्त चन्द्रशेखर श्री शिवजी के लिए शाश्वत कल्याण की प्राप्ति-निमित्त नमस्कार हो, जो विशुद्ध ज्ञानरूपी शरीर वाले हैं व तीन वेदों का समूहरूपी दिव्य चक्षु वाले हैं ॥ ९० ॥ एवं निम्नप्रकार का वचन कैसे संगत होगा? 'जो समस्त पदार्थों में व्याप्त हुआ एक है, जिसे समस्त वस्तुएँ स्पर्श नहीं करतीं, जिसका स्वरूप आकाश सरीखा सदा शुद्ध है, वह सिद्ध उपलब्धि वाला नित्य आत्मा मैं हूँ' ॥ ९१ ॥ एवं निम्नप्रकार के वैदिक वचन कैसे युक्ति-संगत होंगे? यह स्पष्ट है कि शरीर-सहित आत्मा के पुण्य-पाप कर्मों का विनाश नहीं होता (पुण्य-पाप कर्मों का संबंध बना रहता है) और शरीर-शून्य (परम सिद्ध) रहनेवाले आत्मा को पुण्य-पाप कर्म स्पर्श नहीं करते, (नष्ट हो जाते हैं) ॥९२॥ अतः अब आत्मशुद्धि समर्थक युक्तियों

---

१. 'समुच्यते' इति ह. लि. (क) प्रतौ पाठः ।

न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ॥९२॥

इति । ततश्च ।

मलकलुषतापातं[1] रत्नं विशुद्ध्यति यत्नतो भवति कनकं तत्पाषाणो यथा च कृतक्रियः ।
कुशलमतिभिः कैश्चिद्द्रव्यैस्तथाप्तनयाश्रितैरयमपि गलत्क्लेशाभोगः क्रियेत परः पुमान् ॥९३॥

रागाद्युपहतः शंभुरशरीरः सदाशिवः । अप्रामाण्यादनुत्पत्तेः कथं तत्रागमोत्सवः ॥९४॥

तदुक्तम्—वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्द्वित्वावपरं श्रुतोदमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।
शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वानसंबन्धतः संबन्धोऽपि न जायटीति भवतां शास्त्रं निरालम्बनम् ॥९५॥

एवं च सतीदं न संगच्छते—

अवृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् । नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥९६॥

रागादिभिरुपप्लुतस्यापि रुद्रस्याप्ततायां 'क्लेशकर्मविपाककषायैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर' इति

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव ॥९७॥

का निरूपण करते हैं—जैसे मल (कीट) से कलुषित (मलिन) माणिक्य-आदि रत्न यत्नों (शाणोल्लेखन-आदि उपायों) से विशुद्ध हो जाता है और जैसे सुवर्ण-पाषाण, जिसकी क्रियाएँ (अग्नितापन व छेदन-आदि) की गई हैं, सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही कुशल-बुद्धि-शाली व आप्त (वीतराग सर्वज्ञ) तथा उसके स्याद्वाद का आश्रय प्राप्त किये हुए किन्हीं धन्यपुरुषों द्वारा आत्म-शुद्धि के उपायों (सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र-आदि) से यह मिथ्यात्वादि से मलिन आत्मा भी क्लेशों के विस्तार को नष्ट करनेवाला ऐसा उत्कृष्ट—शुद्ध किया जाता है ॥ ९३ ॥

अब हरप्रबोध तपस्वी द्वारा निरूपण की हुई वैदिक मान्यता (वाममार्ग) का निरास करते हैं—शंभु (पार्वती-कान्त) राग व द्वेषादि विकारों से पीड़ित होने से अप्रमाण है और सदाशिव से आगम (वेद) की उत्पत्ति कदापि हो नहीं सकती; क्योंकि वह शरीररहित है, अतः उसके द्वारा आगम की उत्पत्ति रूप माङ्गलिक कार्य कैसे हो सकता है ? भावार्थ—शंभु जब रागादि दोष से दूषित है तब वह वैसा प्रमाण नहीं है जैसे रथ्यापुरुष (मार्ग में जानेवाला मानव) प्रमाण नहीं है, अतः अप्रमाणभूत उसका कहा हुआ आगम (वेद) प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता एवं सदाशिव अशरीरी होने से उसके द्वारा वेद की उत्पत्ति वैसी नहीं हो सकती जैसे शरीर-रहित आकाश से वेदोत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ ९४ ॥ कहा भी है—

सदाशिव वेदों का वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह शरीर या इन्द्रियों से रहित है । एवं उससे दूसरा पार्वती-कान्त (श्री शिव) वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह सरागी है । यदि आप कहोगे कि उन दोनों से भिन्न तीसरा कोई वक्ता है, उस विषय में प्रश्न यह है कि (उसका उत्पादक कारण कौन है ?) यदि आप कहोगे कि कोई ऐसी शक्ति है, जिससे वह उत्पन्न हुआ है, तब बताइए कि जब वह शक्ति उससे भिन्न है तो भिन्न शक्ति से वह शक्तिमान् कैसे हो सकता है ? क्योंकि दूसरी शक्ति के साथ उसका संगम नहीं है । यदि आप कहोगे कि उस भिन्न शक्ति का उसके साथ समवाय संबंध है, तब युक्ति-युक्त विचार करने पर वह संबंध भी विशेष रूप से घटित नहीं होता अतः आपका नादरूप शास्त्र (वेद) वक्ता रूप आलम्बन से शून्य हो गया ॥९५॥ ऐसा होने पर निम्न प्रकार का वचन युक्ति-संगत घटित नहीं होता 'शरीर-रहित, शान्त व उत्कृष्ट कारण रूप शिव से नादरूप विशेष दुर्लभ शास्त्र (वेद) उत्पन्न हुआ ॥९६॥' यदि आप रागादि से पीड़ित रुद्र (श्रीशिव) को ईश्वर मानोगे तो 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' अर्थात्—ऐसा पुरुष विशेष, जो कि समस्त दुःखों

---

१. मलकलुषतां जातं ।

इति च विरुध्यते । अन्यथाभूतस्याप्ततायाम्

आस्तां तवाग्न्यदपि तावदतुल्यकक्षमैश्वर्यमीश्वरपदस्य निमित्तभूतम् ।
त्वच्छेफसोऽपि भगवन्न गतोऽवसानं विष्णुः पितामहयुतः किमुतापरस्य ॥९८॥ इति,
रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधिर्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥९९॥

इति च महिम्नभाषितम् । तथेदमपि न प्राग्रहरम् ।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥१००॥ इति,

भोग्यामाहुः प्रकृतिमृषयश्चेतनाशक्तिशून्यां भोक्ता नैनां परिणमयितुं बन्धवर्ती समर्थः ।
भोग्येऽप्यस्मिन्भवति मिथुने पुष्कलस्तत्र हेतुर्नीलग्रीवस्त्वमसि भुवनस्थापनासूत्रधारः ॥१०१॥ इति च,

आकाशकल्पस्य सदाशिवस्य परं प्रति प्रेरकता न युक्ता । स्वयं पराप्रेषित एव शंभुर्भवेत्परप्रेरयितेति चिन्त्यम् ॥

व पुण्य-पाप कर्मों तथा उनके सुख दुःखरूप फलों से रहित है, ईश्वर है।' यह कथन तथा निम्नप्रकार कथन विरुद्ध प्रतीत होता है—'नष्ट न होनेवाला ऐश्वर्य, स्वाभाविक वीतरागता, स्वाभाविक तृप्ति (सन्तोष), जितेन्द्रियता, अत्यन्त—अनन्तसुख, आवरण-शून्य शक्ति और समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान, ये समस्त गुण हे भगवन् ! तेरे में ही हैं ॥९७॥' यदि आप वीतरागी सदाशिव को आप्त (ईश्वर) मानोगे तो आपका निम्न प्रकार का कथन (शिव—रुद्र-स्तुति) विरुद्ध पड़ता है—'हे भगवन् ! तुम्हारा दूसरा अनोखा व ईश्वर पद का निमित्तभूत ऐश्वर्य भी एक जगह रहे परन्तु ब्रह्मा सहित विष्णु ने भी जब आपके शेफ[1] (रोमवृन्द-परिवेष्टित जननेन्द्रिय या टि० से अभिप्राय के साधन) का भी अन्त नहीं पाया तब दूसरे की क्या कथा ?

भावार्थ—यहाँपर यह बात विचारणीय है कि जब वीतरागी सदाशिव के शरीर ही नहीं है तब उसमें शेफ (जननेन्द्रिय) कैसे घटित हो सकता है ? अतः उक्त श्लोक में शेफ का कथन भी विरुद्ध है ॥९८॥' इसी प्रकार निम्नप्रकार ग्रहिल के वचन भी विरुद्ध हैं—'जहाँपर पृथिवी ही रथ है, इन्द्र अथवा ब्रह्मा ही सारथि है, सुमेरुपर्वत ही धनुष है और चन्द्र व सूर्य ही पहिये हैं एवं चक्रपाणि (श्रीनारायण) ही बाण हैं। इस प्रकार से त्रिपुररूप तृण को दग्ध करने के इच्छुक हुए तुम्हारी यह आडम्बर-विधि क्या है ? क्योंकि प्रभु की बुद्धियाँ निश्चय से पराधीन नहीं होतीं परन्तु आज्ञाकारियों के साथ क्रीड़ा करती हुई होती हैं। अभिप्राय यह है—तब विष्णु-प्रभृति को उक्त कार्य करने निमित्त क्यों एकत्रित किये ?[2] ॥९९॥' इसी प्रकार निम्न प्रकार का कथन भी श्रेष्ठ नहीं है—'यह अज्ञानी प्राणी अपने सुख-दुःखों की उत्पत्ति में असमर्थ है, अतः ईश्वर के द्वारा प्रेरित हुआ स्वर्ग अथवा नरक जाता है ॥१००॥' इसी प्रकार निम्न प्रकार कथन भी विरुद्ध है—

'ऋषियों ने प्रकृति को चेतना (ज्ञान) शक्ति से शून्य व भोगने योग्य कहा है और बन्ध-सहित यह भोक्ता (जीव) प्रकृति को परिणमन कराने में समर्थ नहीं है और जब भोगने-योग्य स्त्री पुरुष का जोड़ा वर्तमान है, तब उसकी उत्पत्ति में प्रचुर या समर्थ कारण होना चाहिए, अतः हे शिव ! तुम ही लोक की स्थापना करने के लिए सूत्रधार (संसार रूपी नाटचशाला के व्यवस्थापक या प्रधान कारण) हो ॥१०१॥ आकाश सरीखे शरीर-रहित व व्यापक सदाशिव को दूसरे को प्रेरणा करनेवाला होना युक्तिसंगत नहीं है। यदि आप कहेंगे

---

१. मेहनस्य—रोमवृन्दपरिवेष्टितलिङ्गस्य 'शेफो मेहनशेफसी' इत्यमरः ।
तथा च विरागस्य सदाशिवस्य शरीराभावे शेफः कथं घटते इति विरुद्धं ।
,,शेफसः साधनस्य ।　　२. रूपकालंकारः ।　　ह. लि. सटि. प्रति (ख) से समुद्धृत—

जगत्कर्तृत्वावसरे पूर्वमेव चिन्तितः। तथाहि—

कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसङ्गः।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यैराहृत्य चेत् त्रिभुवनं पुरुषः करोति ॥१०२॥

कर्मपर्यायत्वे चेश्वरस्य सिद्धसाध्यता। तथाह—

विधिर्विधाता नियतिः स्वभावः कालो ग्रहश्चेश्वरदैवकर्म।
पुण्यानि भाग्यानि तथा कृतान्तः पर्यायनामानि पुराकृतस्य ॥१०३॥

कथमचेतनं कर्म परोपभोगार्थं प्रवर्तत इति चेत् तन्न।

रत्नायस्कान्तवातादे[1]रचितोऽपि परं प्रति। यथा क्रियानिमित्तत्वं कर्मणोऽपि तथा भवेत् ॥१०४॥

तदुक्तं रत्नपरीक्षायाम्—

न केवलं तच्छुभकृन्नृपस्य मन्ये प्रजानामपि तद्विभूत्यै। यद्योजनानां परतः शतादपि सर्वाननर्थान्विमुखीकरोति ॥१०५॥

शिबिकाकर्मकरादीनां चेतनानां सचेतनात्। दृष्टा चेष्टा विशेषेण जगत्स्रष्टरि सास्तु वः ॥१०६॥

कि दूसरे के द्वारा अप्रेरित हुआ (अथवा पाठान्तर में प्रेरित हुआ) भी शिव स्वयं दूसरे को प्रेरणा करने वाला है यह बात भी विचारणीय है। ईश्वर को जगत्स्रष्टा की मान्यता विषय पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं।

विशेष यह कि इस संसार में कोई भी (ईश्वर) ज्ञानशक्ति व इच्छा शक्ति द्वारा जगत का कर्ता नहीं देखा गया। तथापि यदि कोई कर्ता मानोगे तो उसे चटाई-आदि-कार्य का भी कर्ता मानना पड़ेगा। यदि ईश्वर परमाणुओं को एकत्रित करके हठ से तीन लोक की सृष्टि (रचना) करता है तो लोक में गृहादि कार्यों के निर्माण में बढ़ई वगैरह से क्या प्रयोजन रहेगा? क्योंकि ईश्वर ही सबकी सृष्टि कर देगा ॥ १०२ ॥ यदि आप जगत्स्रष्टा ईश्वर को कर्म का पर्यायवाची मानकर उसे (कर्म को) जगत् का स्रष्टा मानते हैं तो सिद्ध साध्यता है। अर्थात्—हमारे द्वारा सिद्ध की हुई वस्तु को ही आप सिद्ध कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि इसमें हमें (स्याद्वादियों को) कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि कर्म के निम्न प्रकार नामान्तर हैं—

कर्म के निम्न प्रकार पर्यायवाची शब्द (नाम) हैं—विधि, विधाता, नियति, स्वभाव, काल, ग्रह, ईश्वर, दैव, कर्म, पुण्य, भाग्य व कृतान्त ॥ १०३ ॥ शङ्का—जब कर्म अचेतन (जड़) हैं तब वे दूसरों के उपभोग के लिए कैसे प्रवृत्त होते हैं? यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि इसका समाधान निम्न प्रकार है—जैसे रत्न (नर-मादा मोती-आदि), चुम्बक पत्थर व वायु वगैरह (अथवा पाठान्तर में नौका वगैरह) पदार्थ, जो कि अचेतन (जड़) होते हुए भी पर के प्रति क्रिया-निमित्त हैं वैसे ही अचेतन कर्म भी परोपभोगार्थ क्रिया-निमित्त (प्रवृत्ति में हेतु) हैं। भावार्थ—जैसे मोती के पास दूसरा मोती आजाता है और चुम्बक पत्थर लोहे को खींचता है एवं वायु पत्ता-आदि को उड़ाती है, यद्यपि ये जड़ हैं, वैसे ही कर्म भी अचेतन होकर दूसरों के उपभोग निमित्त प्रवृत्त होते हैं[2] ॥ १०४ ॥ रत्नपरीक्षा ग्रंथ में कहा है—मेरी ऐसी मान्यता है कि वह पुण्य कर्म राजा का ही कल्याण कारक नहीं है अपितु प्रजाजनों की विभूति-निमित्त भी है, जो कि निश्चय से सैकड़ों योजनों से भी आगे (हजारों व लाखों योजन) दूरवर्ती प्राणी को समस्त आपत्तियों से छुड़ा देता है ॥ १०५ ॥ यदि आप ऐसा कहते हैं कि जैसे पालकी ले जानेवाले व नौकरी लेकर काम करने वाले (मजदूर-आदि) सचेतन (ज्ञानवान) होते हुए भी (सचेतन स्वामी द्वारा प्रेरित होकर) चेष्टा (प्रयत्न—उद्योग) करते हैं वैसे ही सचेतन ईश्वर भी सचेतन संसारी प्राणियों द्वारा प्रेरित हुआ चेष्टा करता है, ऐसा मानने से तो यह आपत्ति

---

१. 'नावादे' इति ह० लि० (क) प्रती पाठः। २. दृष्टान्तालंकारः।

तस्मादिदं सुभाषितद्वयमवसरवत् ।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते । स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१०७॥

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मान्तफलदः ।
फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः किं च विधिना नमः सत्कर्मभ्यः प्रभवति न येभ्यो विधिरपि ॥१०८॥

सोऽहं तदेव पात्रं तान्येतानि च गृहाणि दातृणाम् । इति निश्चं विबुधोऽपि च दुराग्रहः कोऽस्य नैरात्म्ये ॥१०९॥

संतानो न निरन्वये विसदृशे सादृश्यमेतन्न हि प्रत्यासत्तिहते कुतः समुदयः का वासना स्थास्निवे ।
तस्मै वाचि समस्तमानरहिते ताथागते सांप्रतं धर्माधर्मनिबन्धनो विधिरयं कौतस्कुतो वर्तताम् ॥११०॥

(दोष) आती है कि जैसे आज्ञाकारी सेवकों में जो चेष्टा देखी गई है, वह आपके जगत्स्रष्टा ईश्वर में हो। अभिप्राय यह है कि फिर तो आपका माना हुआ स्रष्टा वृथा ही है, क्योंकि वह तो सबका दास ही हुआ ॥१०६॥ अतः निम्न प्रकार ये दो सुभाषित अवसर वाले हैं—यह आत्मा (जीव) स्वयं पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध करती है और स्वयं ही उनके सुख-दुःख रूप फल भोगती है एवं स्वयं ही संसार में भ्रमण करती है तथा स्वयं ही संसार से छुटकारा पाकर मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्राप्त कर लेती है ॥ १०७ ॥ किन्हीं विद्वानों ने कहा है, कि हम देवों को नमस्कार करेंगे परन्तु निस्सन्देह वे भी तो दुष्ट विधि (भाग्य) के अधीन हैं [अतः देवों को छोड़कर] हमसे विधि (भाग्य) ही नमस्कार-योग्य है परन्तु वह भी प्रतिनियत (निश्चित) पुण्य-पाप कर्मों के अनुसार सुख दुःख रूप फल देने वाला है। (विधि भी कर्माधीन है)। और यदि फल कर्माधीन है तो देवताओं और विधि से क्या प्रयोजन है ? अतः उन पुण्य कर्मों को ही नमस्कार हो, जिनके लिए विधि भी समर्थ नहीं है। अर्थात्—जिन पुण्य-कर्मों का सुख रूप फल देने में विधि भी नहीं रोक सकता ॥ १०८ ॥ अब ठक-शास्त्र के वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगतकीर्ति विद्वान् द्वारा निरूपित बौद्ध दर्शन का निराकरण करते हैं—'वही मैं हूँ' 'वही (पूर्वदृष्ट) पात्र है' 'वे ही दाताओं के गृह हैं' इस प्रकार के सदा ज्ञानवाले बौद्ध की आत्मा की शून्यता में कौन सा दुराग्रह है ? अपितु नहीं होना चाहिए ॥ १०९ ॥ [यदि बुद्ध की यह मान्यता है कि आत्मद्रव्य नष्ट हो जाती है परन्तु जैसे बहुत से वस्त्रों के मध्य में रक्खी हुई कस्तूरी-आदि (सुगंधि पदार्थ) यद्यपि नष्ट हो जाती है, परन्तु वस्त्रों में उसकी संतति या वासना बनी रहती है वैसे ही क्षणिक आत्मा की भी संतति या वासना आदि बनी रहेगी, जिससे उसे उक्त प्रकार का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है, उसका निराकरण करते हैं—] आत्मद्रव्य को अन्वय-शून्य मानने पर अर्थात्—पूर्व व पर पर्यायों में व्यापक रूप से रहने वाले आत्मद्रव्य संबंधी अन्वय के बिना सर्वथा क्षणिक आत्मा को स्वीकार करने में, सन्तान[1] (संतति) नहीं बन सकती। भावार्थ—जैसे सर्वथा नष्ट हुए मयूर से केकावाणी (मयूरध्वनि) नहीं निकल सकती वैसे ही अन्वय-शून्य (सर्वथा नष्ट हुई) आत्मा में सन्तान नहीं बन सकती और क्षण-क्षण में अनोखी क्षणिक आत्मा को स्वीकार करने से सादृश्य भी घटित नहीं होता। एवं आत्मद्रव्य को निरन्वय विनाश-वाली व क्षणविनश्वर मानने से सजातीय उत्पत्ति भी कैसे बन सकती है ? यदि कहोगे कि इन्द्रियादिक की वासना बनी रहेगी तो आत्मा को क्षण-विनश्वर मानने से वासना भी घटित नहीं होती; अतः तुम बौद्ध के यहाँ, जिसके तात्त्विक वचन समस्त प्रमाणों (प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाणों) द्वारा बाधित हैं, धर्म (दान-पुण्यादि) व अधर्म (हिंसादि) निमित्तक विधान कैसे घटित होंगे ? अपितु नहीं घटित हो सकते। अर्थात्—आत्मद्रव्य को सर्वथा क्षणिक मानने से दान पुण्यादि कर्ता के सर्वथा नष्ट हो जाने से उसका फल (स्वर्ग) दूसरा भोगेगा। इसी प्रकार हिंसक के सर्वथा नष्ट हो जाने से राजदण्डादि लौकिक कष्ट व नरकगति संबंधी भीषणतम यातनाएँ दूसरे को भोगनी होंगी ॥ ११० ॥

१. सन्तानोऽपत्यगोत्रयोः संततौ देववृक्षयोः ।

दृष्टात्ययात्तत्वमदृष्टमेव प्रसाधयेच्चेद्बकतासरालः । तदा खरोक्ष्णोः श्रुतितो विषाणे [1]विधानिषेधं च जयी कुलालः ॥१११॥

किं च । नाहं नैष परो न कर्मभिरिह प्रायेण बन्धः क्वचिद्भोक्ता प्रेत्य न तत्फलस्य च भवेदित्थं स बौद्धो यदि ।
कस्मादेष तपःसमुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दते किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमयं धूर्तैर्जडो वञ्चितः ॥११२॥

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः । भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥११३॥
पृथिव्यादिवदस्माद्यमनाद्यनिधनात्मकः । मध्ये सत्त्वात्कुतस्तत्त्वमन्यथा तव सिद्ध्यति ॥११४॥
कायाकारेषु भूतेषु चित्तं व्यक्तिमवाप्नुवत् । आत्मवद्गुणकार्यत्वैः [illegible] ॥११५॥

यदि यह बकवादी बौद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण के लोप वाले (प्रत्यक्ष से विरुद्ध) आत्मविनाश से अदृष्टतत्व (प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेवाला तत्व—सन्तानादि) सिद्ध करेगा तब तो केवल वचनमात्र से गधे में सींगों का विधान करनेवाला और बैल में सींगों का निषेध करने वाला कुँभार क्या जयशील हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता ।[2] भावार्थ—जैसे कुँभार किसी के समक्ष कहता है कि मेरे गधे में दो सींग हैं और उस बैल में दो सींग नहीं हैं, तो जयशील नहीं होता वैसे ही प्रस्तुत बौद्ध भी, जो कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध आत्मा का विनाश मानता है व प्रत्यक्ष से प्रतीत न होनेवाले सन्तान-आदि तत्व का समर्थन करता है, जयशील नहीं हो सकता ॥ १११ ॥ 'मैं नहीं हूँ, न कोई दूसरा (शिष्य-आदि) है, इस लोक में कहीं पर प्रायः करके आत्मा के साथ पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध नहीं होता एवं यह जीव मरकर दूसरे जन्म में पुण्य-पाप कर्मों के सुख-दुःख रूप फल का भोक्ता भी नहीं है' ऐसा यदि बौद्ध कहता है तो हम पूँछते हैं, कि यह (बौद्ध) किस कारण से तपश्चर्या में उद्यत मन-वाला होकर चैत्य (मूर्ति) आदि को नमस्कार करता है ? अथवा वहाँ पर क्या तपश्चर्या है ? केवल यह मूर्ख धूर्तों से ठगाया गया मालूम पड़ता है ॥ ११२ ॥ अब चण्डकर्मा कोट्टपाल द्वारा निरूपण किये हुए चार्वाकदर्शन (नास्तिकमत) का निराकरण करते हैं—

प्रकृति (शरीर व इन्द्रिय-आदि) को जाननेवाला यह जीव (आत्मद्रव्य) सनातन (शाश्वत—सदा से चला आया) है, क्योंकि पूर्वजन्म संबंधी दुग्धपान के संस्कार से उसी दिन उत्पन्न हुए बच्चे की दुग्धपान में चेष्टा देखी जाती है, इस युक्ति से आत्मा का पूर्व जन्म सिद्ध होता है । इसी प्रकार कोई मरकर राक्षस होता हुआ देखा जाता है, इससे आत्मा का भविष्य जन्म भी है और किसी को पूर्व जन्म का स्मरण होता है, इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध होता है, क्योंकि इस जीव में पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चारों जड़रूप भूत पदार्थों का अन्वय नहीं है । भावार्थ—क्योंकि मौजूद होनेपर भी इसे उत्पन्न करनेवाली कारण सामग्री नहीं है, अतः यह शरीर व इन्द्रियादि से भिन्न चैतन्यरूप होता हुआ आकाश की तरह अनादि अनन्त है ॥११३॥ जैसे पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चार भूत द्रव्य अनादि व अनन्त हैं वैसे ही आत्मा भी अनादि अनन्त है, क्योंकि सत्त्वे सति अनादित्वात्, क्योंकि यह पृथिवी आदि की तरह मौजूद होकर के अनादि है । यदि आप कहोगे कि (मध्ये सत्त्वात्) यह आत्मा मौजूद होनेपर भी पृथिवी-आदि के मध्य पश्चात् उत्पन्न हुआ है, तो बतलाइए कि जो वस्तु पूर्व में अविद्यमान (गैरमौजूद) थी, वह पीछे कहाँ से आ गई ? [क्योंकि असत् (गैरमौजूद) वस्तु पैदा नहीं होती, अन्यथा—गधे का सींग आदि असत् पदार्थ भी उत्पन्न होना चाहिए] अन्यथा, अर्थात्—यदि सदा मौजूद होनेपर भी आत्मा अनादि अनन्त नहीं है तो आपका भूतचतुष्टय (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चार पदार्थ) अनादि अनन्त कैसे सिद्ध होगा ? ॥११४॥ यदि आप 'बुद्धि देहात्मक है व देह का कार्य है एवं देह का गुण है, ऐसी

---

१. विधन्-कुर्वन् विध् विधाने इत्यस्य रूपं (क) से संकलित ।

२. खरस्य उक्ष्णः च (बलीवर्दः) खरोक्ष्णोः तयोः, कुम्भकारो यथा कस्यचिदग्रे कथयति 'मम गर्दभस्य विषाणे द्वे वर्तेते, ते तदुक्ष्णः न स्तः' स किं जयी भवति ? तद्वदसौ बौद्धः इति भावः । सटि० (ख) प्रति से संकलित—

जलान्मुक्तानलः काष्ठाच्चन्द्रकान्तात्पयःप्लवः । भवन्व्यजनतो वायुस्तत्त्वसंख्यां विहापयेत् ॥११६॥
जलादिषु तिरोभूतादुर्वरादेस्तदुद्भवे । धरादिषु तिरोभूताच्चित्तत्त्वात्तत्समपीष्यताम् ॥११७॥
पुंसि तिष्ठति तिष्ठन्ति शरीरेन्द्रियधातवः[1] । यान्ति यातेऽन्यथैतासां सत्त्वे सत्त्वं प्रसज्यताम् ॥११८॥
विरुद्धगुणसंसर्गादात्मा भूतात्मको न हि । भूजलानलवातानामन्यथा न व्यवस्थितिः ॥११९॥

तीन मान्यताओं का आश्रय लेकर शरीराकार परिणमन को प्राप्त हुए पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार भूतों से यह बुद्धि या जीव प्रकट हुआ है अथवा उत्पन्न हुआ है, ऐसा मानोगे तो शरीराकार परिणत पृथिवी-आदि भूतों की तरह जीव भी प्रकट रूप से दृष्टिगोचर होना चाहिए परन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः वह पृथक् चेतन्य द्रव्य है ॥११५॥ यदि आप कहेंगे कि कार्यकारण विजातीय भी होता है जैसे जल से मोती (पृथिवीरूप) उत्पन्न होता है और काष्ठ से अग्नि पैदा होती है एवं चन्द्रकान्तमणि से जलप्रवाह प्रकट होता है तथा पंखे से वायु उत्पन्न होती है, ऐसा मानने से तो आपकी पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार तत्वों की संख्या विघटित हो जायगी। अर्थात्—जल से उत्पन्न हुआ पार्थिव मोती जलात्मक हो जायगा, जिससे पृथिवी तत्त्व का अभाव हुआ और काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठरूप हो जायगी, इससे अग्नि तत्त्व का अभाव हुआ और चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न हुआ जलप्रवाह चन्द्रकान्त मणिरूप—पार्थिव हो गया, अतः जल तत्त्व का अभाव हो गया। इसी प्रकार पंखे से उत्पन्न हुई वायु पंखेरूप हुई तब वायु तत्त्व का अभाव हुआ। अर्थात्—ऐसा मानने से (बुद्धि देहात्मक है व देह का कार्य है, आदि के कारण शरीरात्मक है) तो आपके उक्त प्रकार से पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चारों भूत पदार्थ विघटित हो जाते हैं ॥११६॥ यदि आप कहेंगे कि उक्त मोती-आदि के दृष्टान्त इस प्रकार संघटित होते हैं कि जल-आदि में तिरोहित (अप्रकट रूप से स्थित) पृथिवी-आदि से मोती-आदि उत्पन्न होते हैं। अर्थात्—जल में तिरोहित (अप्रकटरूप से स्थित) पृथिवी से मोती हुआ और काष्ठ में तिरोहित हुई अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुई एवं चन्द्रकान्तमणि में तिरोहित जल से जल पैदा हुआ तथा पंखे में तिरोहित वायु से वायु उत्पन्न हुई तब हमारे पृथिवी-आदि चारों तत्त्वों की संख्या कैसे विघटित होगी ? तब हम कहते हैं कि पृथिवी-आदि में तिरोहित हुए (स्वतंत्र रूप से पृथक् चैतन्य की सत्ता लिए हुए) जीव से जीव को अभिव्यक्ति मान लो ॥११७॥ जीव के जीवित रहते शरीर, इन्द्रिय व बुद्धियां स्थिर रहती हैं और जीव के चले जाने पर नष्ट हो जाती हैं, अतः चैतन्य रूप जीव स्वतंत्र पदार्थ है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो मृत शरीर में इन शरीर व इन्द्रिय-आदि की सत्ता में जीव की सत्ता का प्रसङ्ग होगा। अर्थात्—आत्मा चेतन है और पृथिवी-आदि भूत अचेतन हैं। पृथिवी-आदि भूतों में चेतन की सत्ता नहीं है उस अपेक्षा से भूतों को अचेतन समझना चाहिए ॥११८॥

निश्चय से जीव भूतात्मक (पृथिवी-आदि रूप—जड़) नहीं है, क्योंकि इसमें अचेतन (जड़) पृथिवी-आदि भूतों की अपेक्षा विरुद्ध गुण (चैतन्य—बुद्धि) का संसर्ग पाया जाता है। अन्यथा—यदि भूतात्मक मानोगे तो पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार तत्त्वों की सिद्धि नहीं होगी, अर्थात्—आत्मा के नष्ट हो जाने पर भूत भी नष्ट हो जायगे परन्तु सत का नाश नहीं होता। अथवा—अन्यथा—विरुद्ध गुण (चेतन गुण) के संसर्ग होने पर भी जीव को भूतात्मक (जड़) मानोगे तो आपके पृथिवी-आदि चारों तत्त्वों की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि ये (पृथिवी-आदि) भी भिन्न-भिन्न धारण, ईरण व दाहादि गुणों के कारण पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता-युक्त हैं ॥११९॥ क्योंकि यह जीव विज्ञान, सुख व दुःखादि गुणों से पहचाना जाता है, अर्थात्—इसकी स्वतंत्र सिद्धि में उक्त गुण प्रतीक हैं जब कि पृथिवी, वायु, अग्नि व जल क्रमशः धारण, ईरण, दाह

---

१. 'बुद्धयः' इति ह. लि. (ग) प्रतौ पाठः।

विज्ञानसुखदुःखादिगुणलिङ्गः पुमानयम् । धारणेरणदाहादिधर्माधारा धरादयः ॥१२०॥

अथ मतम्—पित्तप्रकृतिर्धीमान्मेधावी कोपनोऽल्पकामश्च । प्रस्वेद्यकालपलितो भवति नरो नात्र सन्देहः ॥१२१॥

तन्न प्रवर्हम् । वृद्धिहानी यथाग्नेः स्तामेधोत्कर्षापकर्षतः । पित्ताधिक्योनभावाभ्यां बुद्धेः संप्राप्नुतस्तथा ॥१२२॥

गुरूपासनमभ्यासो विशेषः शास्त्रनिश्चये । इति दृष्टस्य हानिः स्यात्तथा च तव दर्शने ॥१२३॥

कुतश्चित्पित्तनाशेऽपि बुद्धेरतिशयेक्षणात् । कुतः प्रसवभावोऽत्र स्याद्बीजाङ्कुरयोरिव ॥१२४॥

बुद्धिं प्रति यदीष्येत पित्तस्य सहकारिता । का नो हानिर्भवत्येवं नालवृद्धौ यथाम्भसः ॥१२५॥

एवं च सतीदं न किंचित् ।

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः । मतत्रयमिहाश्रित्य नास्त्यभ्यासस्य संभवः ॥१२६॥

व शैत्य गुण के आधार हैं। अर्थात्—पृथिवी का गुण धारण, वायु का ईरण व अग्नि का दाह तथा जल का शैत्य गुण है। निष्कर्ष—इस प्रकार यह जीव इसीलिए भूतात्मक नहीं है, क्योंकि इसमें पृथिवी-आदि जड़ भूतों की अपेक्षा विरुद्ध गुणों (ज्ञान, सुख व दुःखादि) का संसर्ग है ॥१२०॥

यदि आपकी ऐसी निम्न प्रकार मान्यता है—'निस्सन्देह पित्त प्रकृतिवाला मानव बुद्धिमान्, धारणशक्ति-युक्त, क्रोधी, अल्प मैथुन करने वाला, पसीनायुक्त और असमय में सफेद बालोंवाला होता है' ॥१२१॥ उक्त मत शोभन नहीं है, क्योंकि जैसे ईंधन की वृद्धि व हानि (न्यूनता—कमी) से अग्नि की वृद्धि व हानि होती है वैसे ही पित्त-वृद्धि से बुद्धि की वृद्धि व पित्त की न्यूनता से बुद्धि की हानि प्राप्त हो जायगी ॥१२२॥ यदि आपके मत में सर्वथा पित्त प्रकृतिवाला पुरुष बुद्धिमान्-आदि होता है तब तो [बुद्धि की प्राप्ति के लिए] गुरुजनों की उपासना, शास्त्रों का अभ्यास व शास्त्र-निश्चय संबंधी विशेषता-इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीत हुई कारण सामग्री का अभाव हो जायगा। अर्थात्—फिर तो बुद्धि की प्राप्ति के लिए गुरुजनों की उपासना-आदि निरर्थक सिद्ध होंगे ॥१२३॥ [आपकी उक्त मान्यता में विशेष आपत्ति (दोष) यह है] कि किसी मानव में पित्त का नाश (हीनता) होने पर भी बुद्धि की अधिकता का दर्शन होता है, अतः इनमें (पित्त प्रकृति व बुद्धि में) बीज व अङ्कुर सरीखा कार्यकारण भाव कैसे घटित हो सकता है? अर्थात्—पित्तप्रकृति बीज (उपादान कारण) है और बुद्धि अङ्कुर (कार्य) है, ऐसा कार्यकारणभाव नहीं घटित होता ॥१२४॥ यदि आप बुद्धि के प्रति पित्त को सहकारी कारण मानते हैं तो हमारी कोई हानि नहीं है। अर्थात्—हम भी बुद्धि के प्रति पित्त को वैसा सहकारी कारण मानते हैं जैसे कमल-नाल की वृद्धि में जल सहकारी कारण होता है। अर्थात्—कन्द-सरीखा जीव है और नाल-सरीखी बुद्धि है, उसमें पित्तरूपी जल सहकारी है ॥१२५॥ जब उक्त बात सिद्ध हो चुकी अर्थात्—जब चेतनाशक्ति-सम्पन्न आत्मद्रव्य पृथिवी-आदि चार भूतों से भिन्न व अनादि अनन्त विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया तब आपकी निम्न प्रकार की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है—

'बुद्धि देहात्मिका (शरीर रूप), देह का कार्य व देह का गुण है, ऐसी तीन मान्यताओं का आश्रय करने से बुद्धि की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अभ्यास-आदि संघटित नहीं होंगे ॥१२६॥

इति नास्तिक मतनिरासः ।

केवल तत्त्वज्ञान चारित्र के बिना वैसा सांसारिक तृष्णा (वाञ्छा) की शान्ति का कारण नहीं होता जैसे जलादि का ज्ञान कर्तव्य-पालन (जलपान) के बिना तृष्णा (पिपासा—प्यास) की शान्ति का कारण नहीं होता। अर्थात्—जैसे किसी प्यासे मनुष्य को सरोवर का ज्ञान हुआ परन्तु यदि वह वहाँ जाकर जलपान नहीं करता तो उसे प्यास की शान्ति रूप सुख कैसे हो सकता है? वैसे ही मुमुक्षु मानव का केवल तत्त्वज्ञान भी सदाचाररूप कर्तव्य पालन के बिना उसकी सांसारिक तृष्णा की शान्तिरूप सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

तत्त्वज्ञानं च जलादिज्ञानमिवाविहितानुष्ठानं न भवति संसारतृष्णोपशान्तिकारणम्। असंजातसर्वक्रियारम्भः समधिगतेतिकर्तव्योऽपि कृषीवल इव न संयुज्यते फलैः। अनायास्य कायं सेवक इवात्मवानपि न लभते परां पदवीम्। ततश्च—

तत्त्वं गुरोः समधिगम्य यथार्थरूपं तद्रूपभावनमनोरथनिर्भृतात्मा।
आयास्य कायमनवद्यतपोभिर्जन्तुः परं पदमुपैति यथा क्षितीशः ॥१२७॥'

सविधविद्याधरविनोदकर्मा चण्डकर्मा—'भगवन्, विदूरदुरागमवासनामनसां को नु खलूपायः सुमेधसामभ्युदयनिःश्रेयसाधिगमाय।' 'धर्मः।' 'को नामायं धर्मः।' 'अहिंसापूर्वकाग्रहस्तत्त्वपरिग्रह एव।' 'ननु हिंसास्माकं कुलधर्मः। सा कथं त्यजनीया।' 'अहो महापुरुष, एवमेवैतत्कुक्कुटमिथुनं पुरा जन्मनि हिंसां कुलधर्ममनुमन्यमाने महतीं दुःखपरम्परामनुबभूव।' चण्डकर्मा (सविस्मयः)—'भगवन्, किं पुनः पुरा जन्मनीदं किंचिद् दुष्कृतमकार्षीत्। कथं वा तदन्वभूत्।' 'भगवान्, समाकर्णय। अस्यामेवोज्जयिन्यामस्यैव यशोमतिमहाराजस्य वंशे।

आसीच्चन्द्रमतिर्यशोधरनृपस्तस्यास्तनूजोऽभवत्तौ चण्डयाः कृतपिष्टकुक्कुटबली क्ष्वेडप्रयोगान्मृतौ।
श्वा केकी पवनाशनश्च पृषतो ग्राहस्तिमिश्छागिका भर्ताऽस्यास्तनयश्च गर्भरपतिर्जातौ पुनः कुक्कुटौ ॥१२८॥

इसीतरह प्रशस्त कर्त्तव्य का ज्ञाता मानव, जिसने प्रशस्त प्रयोजन के लिए कर्त्तव्य का आरम्भ ही नहीं किया, अर्थात्—जो आलसी (श्रद्धा-हीन) है, तो वह भी वैसा सुखरूप फलों से संयुक्त नहीं होता जैसे आलसी किसान खेती करने के तरीकों का ज्ञान रखता हुआ भी धान्यरूपी फलों से संयुक्त नहीं होता। इसी तरह तपश्चर्या के बिना आत्मा को वश करनेवाला (जितेन्द्रिय) मानव भी वैसी उत्तम पदवी (मुक्तिस्थान) को प्राप्त नहीं होता, जैसे सेवक जितेन्द्रिय होनेपर भी शारीरिक कष्ट उठाए बिना उत्तम पदवी (स्थान) प्राप्त नहीं करता। अतः यह प्राणी (मुनि) गुरु से सत्यार्थ मोक्षोपयोगी तत्त्वों का निश्चय करके आत्मस्वरूप की भावना के मनोरथ से व्याप्त हुई आत्मा से युक्त हुआ (सम्यग्दृष्टि हुआ) निर्दोष तपश्चर्याओं के द्वारा शरीर को कष्ट देकर वैसा उत्तम पद (मोक्ष स्थान) प्राप्त करता है जैसे राजा उक्त प्रकार कर्त्तव्य पालन करता हुआ उत्तम पद (राज्यश्री का सुख) प्राप्त करता है। अर्थात्—जैसे राजा पिता के वचन सुनता है और उनपर श्रद्धा करता है एवं पश्चात् प्रजापालन रूप कर्तव्य-पालन में उद्यम करता है तब उत्तम पद (राज्य) प्राप्त करता है वैसे ही मुनि भी गुरु से तत्त्वज्ञान प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि हुआ निर्दोष तपश्चर्या करता है, जिससे मुक्तिश्री को प्राप्त करता है॥ १२७॥'

[अथानन्तर प्रस्तुत श्री सुदत्ताचार्य के अमृततुल्य व युक्ति-पूर्ण वचन सुनकर] चण्डकर्मा नामके कोट्टपाल ने, जिसके समीप विद्याधरों का क्रीडाकर्म या आमोद-प्रमोद है, कहा—'भगवन्! मिथ्याशास्त्रों की वासना (संस्कार) से रहित चित्तवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषों के लिए निश्चय से स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति का क्या उपाय है?'

आचार्यश्री—'धर्म ही उपाय है। चण्डकर्मा—'इस धर्म का क्या स्वरूप है?'

आचार्यश्री—'अहिंसा (प्राणिरक्षा) के साथ प्रगाढ़ अनुराग वाले तत्त्वनिश्चय को धर्म कहते हैं।' चण्डकर्मा—'निस्सन्देह प्राणियों की हिंसा करना हमारा कुल-धर्म है, उसे कैसे छोड़नी चाहिए? आचार्यश्री—'अहो महापुरुष! इस मुर्गा-मुर्गी के जोड़े ने, इस प्रकार ही पूर्व जन्म में हिंसा को कुलधर्म मानने से विशेष दुःख श्रेणी भोगी।' चण्डकर्मा ने आश्चर्यान्वित होते हुए पूँछा—'भगवन्! इस मुर्गा-मुर्गी के जोड़े ने पूर्वजन्म में कौन-सा पाप किया? और किस प्रकार से उसका फल (दुःख-समूह) भोगा?' प्रस्तुत आचार्य—'सुनिए। इसी उज्जयिनी नगरी में इसी यशोमति महाराज के वंश में [यशोर्धराजा की] चन्द्रमति नामकी रानी थी, उसका पुत्र यशोधर नाम का राजा था। उन दोनों ने चण्डमारी देवी के लिए आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई। फिर दोनों विषप्रयोग से कालकवलित हुए। अर्थात्—यशोधर की रानी अमृतमति द्वारा किये गये विष-प्रयोग

ततः प्रशान्तशापपाशेषमलजालास्ते पञ्चापि लोकपाला इव तं सुदत्तभगवन्तं प्रणम्य जगृहुः पाण्डुतनया इव सद्दर्शनपूर्वकाणि त्रिदशैरपि दुरापाणि श्रावकव्रतानि । प्रमुक्तलोकायतमतधर्मा अचिरसमासन्नखचरपदवाप्तिशर्मा चण्डकर्मापि धर्मावबोधात्परिपूर्णशापावधिः पूर्वविद्यासंदोहासादसंपादिताम्बरविहारः समाचरितसहचराश्चर्यव्यवहारः प्रतिचचार खेचरनिवेशं देशम् ।

तदनु चावामप्यहो मारदत्तमहाराज, सुदत्तभगवद्भाषितपुरावृत्तवृत्तान्तश्रवणेनातीवजातनिर्वेदोद्भूतपरिग्रहाच्चेदानीं खल्वावयोरग्निस्पृष्टबीजवन्नाविर्भावः कर्मणामित्यानन्दनघोषोदीर्णनिगरणावकुण्ठवपुषावपि दूष्याभ्यन्तरस्थितः स यशोमतिमहाराजः शय्योत्सङ्गमागतायाः कुसुमावलीमहादेव्याः शब्दवेधित्वकौशलं दर्शयितुं शयनासन्नशरकुरलीमध्यादलंकर्मीणकायमेकं सायकमादाय विव्याध । ततश्च विधातुः कल्मषशेषमनुविभावयिषोर्वशात्परित्यक्तकुक्कुटपर्यायपर्याययोरावयोः लालाहारे कृमिजालसमाकुले बभूव तदस्या अपर इव निरयनिलये गर्भे पुनरावयोर्जन्म । आवाभ्यामवाप्ताधाना च सा किल यशोमतिमहीपालप्रणयपादपप्रथमकन्दली कुसुमावली महादेवी रहसि

नेत्रे विलासविरले शरपाकपाण्डु गण्डद्वयं हरितरत्नरुची कुचाग्रे ।

से मरे । फिर कुत्ता व मोर हुए । अर्थात्—यशोधर का जीव मरकर मोर हुआ और उसकी माता चन्द्रमति का जीव मरकर कुत्ता हुई । इसके बाद सर्प व सेही हुए । अर्थात्—यशोधर का जीव (मोर) मरकर सेही हुआ और उसकी माता चन्द्रमति का जीव (कुत्ता) मरकर सर्प हुआ । फिर वे दोनों मरकर मकर व मच्छ हुए । अर्थात्—यशोधर का जीव सेही रोहिताक्ष नामका मच्छ हुआ और उसकी माता चन्द्रमति का जीव (सर्प) शिशुमार नाम का मकर हुआ । फिर वे दोनों बकरी व उसका पति बकरा हुए । अर्थात्—चन्द्रमति का जीव (शिशुमार नाम का मकर) मरकर बड़ी बकरी हुआ और यशोधर का जीव (रोहिताक्ष नाम का मच्छ) मरकर उसका पति बकरा हुआ। इसके बाद दोनों बकरा व भैंसा हुए । अर्थात्—यशोधर का जीव (बकरा) पुनः अपनी स्त्री (बकरी) से बकरा हुआ, और चन्द्रमति का जीव (बकरी) मरकर भैंसा हुई । फिर दोनों मरकर मुर्गा-मुर्गी हुए ॥ १२८ ॥'

अथानन्तर उक्त प्रवचन सुनने से उक्त पाँचों पुरुषों ने भी (चण्डकर्मा-आदि ने), जिनके हृदय से समस्त पापसमूह नष्ट हो गया है ऐसे होते हुए और जो दिक्पालों या राजाओं सरीखे हैं, पूज्य श्री सुदत्ताचार्य को नमस्कार करके पाण्डवों-सरीखे देवताओं की भी दुर्लभ श्रावकों के व्रत धारण किये । फिर नास्तिक मत के सिद्धान्त छोड़ने वाले चण्डकर्मा ने भी, जिसे शीघ्र हो विद्याधरों की पद-प्राप्ति का सुख प्राप्त हो रहा है, जैनधर्म का ज्ञान होने से जिसकी शाप की अवधि पूर्ण हो चुकी है । जिसने पूर्व की विद्याधर-विद्याओं की श्रेणी प्राप्त हो जाने से आकाश में विहार करना प्राप्त कर लिया है एवं जिसने साथियों के साथ आश्चर्यजनक व्यवहार प्रकट किया है, ऐसा होकर विद्याधरों के निवास वाले स्थान में [आकाश मार्ग से] प्रस्थान किया । तदनन्तर अहो मारिदत्त महाराज ! ऐसे हम दोनों (मुर्गा-मुर्गी) को भी, जो कि मानों—इसलिए आनन्द जनक शब्दों से उत्कट गलेवाले हुए थे कि श्री सुदत्त भगवान् द्वारा कहे हुए पूर्वजन्म संबंधी वृत्तान्त के सुनने से विशेष उत्पन्न हुए वैराग्य की उन्नत स्वीकारता से हम दोनों (मुर्गा-मुर्गी) में अब भी निश्चय से वैसी कर्मों की उत्पत्ति नहीं होगी जैसे अग्नि से छुआ हुआ बीज अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता और जिनका शरीर दूष्या (तम्बू) में भी नहीं था, (जो यशोमति महाराज के तम्बू से भी दूर थे), दूष्या (तम्बू अथवा पापप्रवृत्ति) के मध्य में स्थित हुए यशोमति महाराज ने शय्या के मध्य में प्राप्त हुई कुसुमावली महादेवी को शब्दवेधिता की कुशलता दिखाने के लिए शय्या के समीपवर्ती तूणीर (बाणों का भाता) के मध्य से भेदने में समर्थ एक बाण लेकर उससे हम दोनों को भेद दिया (विदीर्ण कर दिया) । पश्चात् मुर्गा-मुर्गी की पर्याय छोड़नेवाले हम दोनों का जन्म शेष पाप का भोग कराने के इच्छुक विधाता (भाग्य) के वश से कुसुमावली

मध्यो वलित्रयविलसत्तनुरोमावलीसमुल्लसितेव विकटा वनिता सुगर्भे ॥ १२९ ॥

जातस्वागताय तस्मै महीशाय निजदोहदान्येवमाशशंस—'देव, विधीयतां विश्वग्घुष्टेन सर्वेषामपि सत्त्वानामभयप्रदानम् । देव, निवार्यतां कल्यपालापणेषु मैरेयव्यवहारः । देव, प्रतिषिध्यतां महानसेषु क्रव्यागमः । देव, प्रस्तूयन्तामेवमपरा अपि तास्ताः क्रिया यत्र नोपयोगी मकारत्रितयस्य । देव, श्रवणकुतूहलानि महान्ति मे जीवदयागमेषु । देव, परमवलोकनाभिलाषः संयतोपास्तिषु । देव, परं मनोरथाः संयमपरायणीनां तापसीनां चरणाराधनेषु ।' राजा 'नूनमेवंविधप्रसादाद्देवीदोहदादस्मिन्गर्भेऽवतीर्णस्य कस्यचित्सुकृतिनो भविष्यति महती सत्त्वार्हती वासना । भवतु नामैवम् । तथाप्येतदभिलाषः पूरयितव्य एव । अन्यथा

गर्भिणीनां मनः खेदात्स्यादपत्येष्वकल्पता । लतानां फलसंपत्तिः कुतो मूलव्यथागमे ॥ १३० ॥'

इति चिन्तयित्वा, आहूय च यथाप्रसिद्धिप्रवृत्ताख्यानमात्यान्मुख्यांस्तथैवान्वशिक्षत् । सापि देवी व्यतिक्रम्य किल चिक्कसाकीर्णोदरपयोधरव्यवस्थामवस्थामवाप्य प्रावृषसमयमम्बुलाबममृतमयमवेलेव लक्ष्मीचन्द्रमसौ पुनरावयोः कृते

महादेवी के ऐसे गर्भ में हुआ, जो कि अपवित्र है, जिसमें लार का ही भोजन है और जो कीड़ों के समूह से व्याप्त है तथा जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—दूसरा नरक स्थान ही है।

हम दोनों को गर्भ में धारण करनेवाली उस कुसुमावली महादेवी ने, जो कि यशोमति राजा के प्रेमरूपी वृक्ष की कोमल शाखा है, उस राजा के लिए, जिसके प्रति विनय प्रकट की गई है, एकान्त में निम्न प्रकार अपने दोहद (दोहले) कहे। वह यशोमति महाराज की प्रिया—कुसुमावली महादेवी गर्भवती के अवसर पर ऐसी सुशोभित हो रही थी, जिसके दोनों नेत्र विलास[1] (हावभाव व लीला) से मन्द हैं। उसके दोनों गाल पके हुए सरकंडा-सरीखे पाण्डु हुए। जिसके कुचों (स्तनों) के अग्रभाग हरितमणि की कान्ति-सरीखे (नीले) थे। उसका उदर भग्नरेखा वाला हुआ एवं जिसकी रोमराजि विकट[2] (मनोज्ञ) थी एवं रोकथाम करती हुई-सी-मालूम पड़ती थी ॥ १२९ ॥

[कुसुमावली महादेवी के दोहद—] 'हे राजन्! सर्वत्र घोषणा द्वारा समस्त प्राणियों के लिए अभयदान कीजिए। हे स्वामिन्! कल्यपालों[3] (मद्य बेंचने वालों) की दुकानों पर मद्य बेंचने का व्यवहार रोकिए। हे देव! पाकशालाओं में मांस का आगमन रोकिए। हे राजन्! दूसरी भी उन-उन क्रियाओं का आरम्भ कीजिये, जिनमें मद्य, मांस व मधु का उपयोग न हो। हे स्वामिन्! मुझे जीव दया का निरूपण करने वाले शास्त्रों के श्रवण सम्बन्धी विशेष कौतूहल हो रहे हैं। देव! मुनिजनों की पूजाओं के दर्शन की मेरी उत्कट इच्छा है। राजन्! चरित्र पालन में तत्पर रहने वाली तपस्विनियों (आर्यिकाओं) के चरण कमलों की सेवाओं के मेरे उत्कट मनोरथ हैं।' [उक्त दोहलों को सुनकर] यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार विचार किया—'ऐसी प्रसन्नता वाले रानी के दोहले से, इस गर्भ में अवतीर्ण हुए किसी पुण्यवान् पुरुष की जैनधर्म सम्बन्धी महान् वासना (भावना—संस्कार) मालूम पड़ती है। अस्तु ऐसा हो, तथापि इसकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करनी चाहिए। अन्यथा—यदि गर्भवती प्रिया का दोहला पूर्ण नहीं किया जावे तो गर्भवती स्त्रियों के मानसिक खेद से उनके बच्चे रुग्ण होते हैं। क्योंकि जब लताओं की जड़ों में रोग प्राप्त होता है तब उनमें फल-सम्पत्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? ॥ १३० ॥ फिर यशोमति महाराज ने उन प्रमुख अधिकारी मनुष्यों को, जिनका नाम यथायोग्य प्रवृत्ति करने में प्रसिद्ध है (जो उक्त दोहलों की पूर्ति करने में समर्थ हैं), बुलाकर उन्हें वैसा ही स्थापित किया (उनसे उक्त कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा की)। इसके बाद—उस कुसुमावली रानी ने भी निस्सन्देह ऐसी

---

१. विलासो हावलीलयोरिति विश्वः।

२. 'विकट : कराले पृथुरम्ययोः' ह० लि० सटि० प्रति (ख) से संकलित—सम्पादक ३. कल्यपालाः मद्यसंधायिनः।

यशस्तिलक इति मदनमतीरिति च वंशोचिते मातृदोहृदाधिते चाभयरुचिरित्यभयमतिरिति च नामनी। व्यतिक्रान्तवति च शैशवे, जातवति च सकलकलाकमलिनीकुलावतारसरसि कुमारवयसि, तव सपत्नाननेष्विव समधिकमधिरूढवति कुन्तलेषु कृष्णत्वे, तव गुणेष्विव विशालतां प्रतिपन्नेषु लोचनेषु, तव यशसीव परिपूर्णवति वदनमण्डले, तव वैरिवर्ग इव क्षामतामाश्रितवति मध्यभागे, तव पराक्रमेष्विव प्रकटतां गतेषु समस्तेष्वपि निम्नोन्नतदेहप्रदेशेषु, अस्य खल्वभयरुचिकुमारस्य राजा करिष्यति भविष्यन्त्यां पक्षतौ युवराजकण्ठिकाबन्धमिमां चाभयमतिं राजपुत्रीं भर्तृदारिकां दास्यत्यहिच्छत्राधिपतये क्षत्रियायेत्यमात्यपरिवारवनिताध्वाविर्भवन्तीषु जनश्रुतिषु, स यशोमतिमहीपालः स्वयं करार्पितदंशेरश्रृङ्खलामालः सह श्वगणिभिर्गोष्ठिवणगुप्त्यालापोल्लासमतिरेकदा पापर्द्धिबुद्ध्या विपीतविषयमनुसरंस्तत्सहस्रकूटोद्यानप्रसूनपरिमलाघ्राणचलितलोचनालियुगलस्तं सुदत्तभगवन्तमवलुलोके। नर्मसचिवकुमारोऽजमारः 'क्षितिपते, कुष्करस्य मुनेरवलोकनादद्य न भविष्यति पापर्द्धिः सफलर्द्धिः। राजा मनागाविग्नमनाश्चुक्षोभ। अत्रावसरे सुदत्तभगवद्वन्दनार्थमागतेन प्रणयप्रश्रयाश्रयेण कल्याणमित्रनाम्ना वैदेहकेश्वरेण स क्षितिपतिरेवमूचे—'राजन्, किमकाण्डे मन्युमलिनमाननम्।' अजमारः—'राज-

---

अवस्था को, जिसमें पीन कुचकलशों की व्यवस्था तैलाक्त होती है, अर्थात्—जिसमें तैलाभ्यञ्जन व मर्दनादि सीमन्त स्नान होता है, व्यतीत करके एवं प्रसूति-व्यथा का अवसर प्राप्त करके हम दोनों को वैसा उत्पन्न किया जैसे अमृत-मथन की वेला लक्ष्मी व चन्द्रमा को उत्पन्न करती है। फिर हम दोनों (पुत्र-पुत्री) का 'यशस्तिलक' और 'मदनमति' ऐसा वंश के योग्य एवं 'अभयरुचि' और 'अभयमति' ऐसा माता के दोहला-धीन नाम संस्कार किया गया। अहो मारिदत्त महाराज ! जब हम दोनों का बाल्यकाल व्यतीत हो गया और जब समस्त कला-रूपी कमलिनी श्रेणी के अवतरण के लिए सरोवर-सा कुमारकाल प्राप्त हुआ उस समय जब हम दोनों के केशों में कृष्णता (श्यामता) वैसी विशेष रूप से अधिरूढ (प्राप्त) हुई जैसे आपके शत्रु-मुखों पर कृष्णता—(म्लानता) विशेष रूप से अधिरूढ होती है। जब हम दोनों के नेत्र वैसे विशालता (दीर्घता) प्राप्त किये हुए थे जैसे आपके गुण (प्रताप-आदि) विशालता (महत्ता) प्राप्त करते हैं। जब हमारा मुख-मण्डल वैसा परिपूर्ण हो गया जैसे आपका यश परिपूर्ण (समस्त पृथिवी मण्डल में व्याप्त) होता है। जब हमारा मध्यभाग (कमर) वैसी क्षामता (कृशता) प्राप्त कर चुका था जैसे आपका शत्रु-समूह क्षामता (विनाश) प्राप्त करता है और जब हमारे नीचे-ऊँचे स्थानवर्ती शारीरिक प्रदेश (हस्त-पाद-आदि अवयव) वैसे प्रकट हो चुके थे जैसे आपके पराक्रम प्रकट होते हैं एवं जब यशोमति महाराज अभयरुचि कुमार के [गले पर] आगामी प्रतिपदा की वेला में युवराजपद की कण्ठी बाँधेंगे और राजकुमारी अभयमति को अहिच्छत्र देश के स्वामी क्षत्रिय राजकुमार के लिए देंगे' मन्त्रियों के परिवार की स्त्रियों में ऐसी जन श्रुतियाँ (किम्वदन्तियाँ—अफवाहें) प्रकट हो रही थीं—सुनाई पड़ रही थीं तब एक समय शिकार खेलने की बुद्धि से यशोमति महाराज ने, जिसने स्वयं हस्त से शिकारी कुत्तों की जंजीर श्रेणी धारण की है, जिसकी बुद्धि सेवकजनों के साथ वार्तालाप करने से आनन्दित हो रही है एवं जो कुत्तों के रक्षक मनुष्यों के साथ जंगल के क्रीड़ावन की ओर प्रस्थान कर रहा है तथा जिसकी नेत्रपंक्ति का जोड़ा सहस्रकूट मन्दिर के बगीचे के पुष्पों की सुगन्धि के सूँघने से चञ्चल हुए हैं, श्री पूज्य सुदत्ताचार्य को देखा। उस समय 'अजमार' नाम के नर्मसचिव (विदूषक) कुमार ने कहा—'हे राजन् ! कष्टदायक इस मुनि के दर्शन हो जाने से आज शिकार सफल वृद्धि वाली नहीं होगी।' [उक्त बात को श्रवण कर] यशोमति महाराज कुछ उद्विग्न चित्त होते हुए मन में मुनि से क्षुब्ध-क्रुद्ध हुए। इसी अवसर पर श्रीसुदत्त भगवान् को वन्दना के लिए आये हुए और भक्ति व विनय के आश्रय 'कल्याणमित्र' नाम के वणिक् स्वामी ने यशोमति महाराज से ऐसा कहा—'हे राजन् ! बिना अवसर के आपका मुख शोक से म्लान (कान्ति-हीन) क्यों हो रहा है ?

श्रेष्ठिन्, एतस्यामङ्गलीभूतस्य नग्नस्यावलोकनात्।' कल्याणमित्रः—'राजन्, मैवमभिनिवेशं कृथाः। एष खलु भगवान्पुरा कलिङ्गाधिपतिस्तव पितुरन्वयसंबन्धादेव नितरां माननीयः सकलदिक्चक्रविक्रमाक्रान्तविनतसामन्तमुखमुकुरीकृतचरणनख-मण्डलोऽभिसारिकामिव स्वयमागतां श्रियं चपलाङ्गनामिवावमत्य निखिललोकमहनीये तपसि वर्तमानः परमेष्ठी कथं मामावेशिकलोकलोचनानन्देन त्वया मनसाप्यवमन्तव्यः। किं च।

सुखानुभवने नग्नो नग्नो जन्मसमागमे। बाल्ये नग्नः शिवो नग्नो नग्नश्छिन्नशिखो यतिः ॥१३१॥
नग्नत्वं सहजं लोके विकारो वस्त्रवेष्टनम्। नग्ना चेयं कथं वन्द्या सौरभेयी दिने दिने ॥१३२॥
पापिष्ठं पापहेतुर्वा यच्चानिष्टं विचेष्टनम्। अमङ्गलकरं वस्तु प्रार्थितार्थविघाति च ॥१३३॥
ज्ञानध्यानतपःपूताः सर्वसत्त्वहिते रताः। किमन्यन्मङ्गलं लोके मुनयो यद्यमङ्गलम् ॥१३४॥
भावः क्वापि भवेद्राज्ञां सर्वलिङ्गिक्रमः समः। किं व्योमापाश्रयः पूषा पक्षपातात्प्रकाशते ॥१३५॥
लोलेन्द्रिया दुराम्नायाः परेच्छावशवृत्तयः। अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रचक्रिरे ॥१३६॥
धर्मकर्मोद्यतोऽप्येष मुनिलोकस्त्वया यदा। नीयेतावमतिं देव तदा कास्य तपःक्रिया ॥१३७॥
वने वा नगरे वापि वपुःशेषा मुनीश्वराः। निर्विघ्नं यत्तपस्यन्ति तन्माहात्म्यं तव प्रभोः ॥१३८॥
अलं दुराग्रहेणाथ मान्यमेतं मुनिं प्रति। प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥१३९॥

विदूषक-पुत्र अजमार—'हे वणिक्-स्वामी इस अमङ्गलीभूत (अशुभ) नग्न के देखने से।'

कल्याण मित्र—'ऐसा अभिप्राय (विचार) मत करो। क्योंकि निश्चय से यह भगवान् पूर्व में कलिङ्ग देश के राजा थे, जो कि तुम्हारे पिता के वंश-संबंध से ही सदा माननीय (पूज्य) हैं, जिनके चरण-नखमण्डल समस्त दिशा समूह में रहने वाले व पराक्रम से पराजित होने से नम्रीभूत हुए सामन्तों (अधीनस्थ माण्डलिक राजाओं) के मुखों के लिए दर्पण किया गया है। जिसने व्यभिचारिणी स्त्री-सरीखी स्वयं आई हुई राज्यलक्ष्मी को चञ्चल स्त्री सरीखी समझकर तिरस्कृत किया और जो समस्तलोक से पूज्य तपश्चर्या में स्थित हो रहा है, ऐसा परमेष्ठी (मोक्षपद में स्थित) अतिथिजनों के नेत्रों को आनन्दित करने वाले आप से किस प्रकार मन से भी तिरस्कार करने योग्य है? विशेषता यह है—

यह मानव काम-सुख भोगने के अवसर पर नग्न होता है, जन्म-प्राप्ति में नग्न होता है, बाल्यावस्था में नग्न रहता है और शिवजी भी नग्न हैं तथा चोटी-रहित संन्यासी भी नग्न होता है ॥ १३१ ॥ लोक में नग्नता स्वाभाविक है। वस्त्र से आच्छादित होना यह तो विकार है। नग्न गौ प्रत्येक दिन किस प्रकार से पूजनीय होती है ॥ १३२ ॥ ऐसी वस्तु अमङ्गल (अशुभ) कही जाती है, जो पाप-युक्त अथवा पाप का कारण है, जो अनिष्ट (अप्रिय) है और विचेष्टन (ग्लानि-जनक) है तथा जो प्रार्थना किये हुए पदार्थ का विघात (नाश) करने वाली है ॥ १३३ ॥ ज्ञान, ध्यान व तपश्चर्या से पवित्र तथा समस्त प्राणियों के कल्याण करने में अनुरक्त हुए साधु लोग यदि अमङ्गलीक (अशुभ) हैं तब लोक में दूसरी कौन वस्तु मङ्गलीक होगी? ॥१३४॥ राजाओं के परिणाम यद्यपि किसी भी मत में होते हैं तथापि उन्हें समस्त मुनियों की विनय समान रूप से करनी चाहिए। आकाश व समुद्र के आश्रय रहने वाला सूर्य क्या पक्षपात से पदार्थों को प्रकाशित करता है? ॥१३५॥ ऐसे मानवों ने, जो चञ्चल इन्द्रियों वाले हैं, जो दुष्ट आम्नाय वाले हैं, व जिनकी प्रवृत्ति दूसरों की इच्छा के अधीन है एवं जो मुनिपद प्राप्त करने में असमर्थ हैं, उसकारण से मुनि-निन्दा की है ॥ १३६ ॥ देव! धार्मिक क्रियाओं के पालन करने में तत्पर हुआ भी यह मुनि-समूह जब तुमसे अनादर में प्राप्त कराया जाता है, तब इसकी तपश्चर्या क्या है? ॥ १३७ ॥ ऐसे मुनीश्वर जिनका शरीर ही शेष है (जो छत्र-आदि रक्षा के साधनों से रहित हैं), वन में अथवा नगर में भी जो निर्विघ्न तपश्चर्या करते हैं, वह आप स्वामी का ही माहात्म्य है ॥ १३८ ॥ हे स्वामिन्! पूजनीय इस मुनि के प्रति दुराग्रह करने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि

तत्पर्याप्तमनया दुर्मनस्याऽनया। वन्दावहे तपःप्रभावप्रणतनिखिलदिक्पालमौलिमणिवेदिकाधिदेवतायमानचरणमेनं परमेष्ठिनम्। अतस्तौ द्वावपि मेरुमिव सूर्याचन्द्रमसौ तं भगवन्तं प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामौ च पुरः प्रत्यक्षीभूतौ नयविनयाविवोपविविशतुः। भगवान्नरेश्वरमुररीकृत्योद्धृत्य च भविष्यल्लक्ष्मीलतोल्लासप्रथमपल्लवोल्लेखमिव पञ्चशाखम्

कामधेनुरखिलोत्सवसङ्गे श्रीसमागमनसूचनदूती। देवमानवमनोरथसिद्धिर्धर्मवृद्धिरियमस्तु सदा वः ॥१४०॥

अपि च। त्वं वीर वैरिवनितानयनेन्दुकान्तनिष्यन्दसंपदि मतोऽसि नरेश राजा।

आदित्य एव च भवान्महिलाङ्गनाङ्गनिस्तोकशोकतपनोपलदीपनेषु ॥१४१॥'

राजा 'क्वास्माकमेवंविधानि मनोदुर्विलसितानि। क्व चेयं भगवतामत्युद्गारकल्याणपरम्पराशंसनपरायणता। तदस्य दुश्चरितस्य निजशिरःकमलेन भगवच्चरणार्चनमेव प्रायश्चित्तं नान्यत्।' इति परमपराक्रमतया निःसीमसाहसतया च कृताभिनिवेशो मुनीशेन महीशः किलैवमादिदिशे—'विशांपते, मैवं मंस्थाः। चित्तानि हि देहिनां स्वभावचञ्चलतया-

---

निश्चय से पूजनीयों की पूजा का उल्लङ्घन कल्याण को रोकता है ॥ १३९ ॥ अतः इस दुष्ट विचार से कोई लाभ नहीं। आइए, ऐसे इस परमेष्ठी को नमस्कार करें, जिसके चरण तपश्चर्या के प्रभाव से झुके हुए समस्त दिक्पालों के मुकुटों की मणिरूपी वेदी पर अधिष्ठात्री देवता के समान आचरण कर रहे हैं। इस कारण उन दोनों (कल्याण मित्र नाम के वणिक् स्वामी व यशोमति महाराज) ने उस पूज्य श्री सुदत्ताचार्य की वैसी प्रदक्षिणा करके जैसे सूर्य व चन्द्रमा सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं प्रणाम किया। पश्चात् वे दोनों प्रत्यक्ष उत्पन्न हुए—नय (राजनीति) व विनय-सरीखे प्रस्तुत आचार्य श्री के समक्ष आसीन हुए। पूज्य सुदत्ताचार्य ने यशोमति महाराज को लक्ष्य करके ऐसा हाथ उठाकर कहा—जो कि ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—भविष्य में उत्पन्न होने वाली लक्ष्मीरूपी लता के उल्लास (विकास) के लिए उत्कृष्ट पल्लव की उत्पत्ति ही है।

आपके लिए सदा यह धर्मवृद्धि हो, जो कि समस्त आनन्दों के सङ्गम करने में कामधेनु है। अर्थात्—जैसे कामधेनु समस्त इच्छित सुखों का सङ्गम कराती है वैसे ही यह धर्मवृद्धि भी समस्त अभिलषित सुखों का सङ्गम कराती है। जो लक्ष्मी के भले प्रकार आगमन की सूचना देनेवाली दूती है, और जिससे देव व मनुष्यों के मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥ १४० ॥ विशेषता यह है कि हे वीर नरेश! तुम शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्ररूपी चन्द्रकान्तमणि की जलप्रवाह-शोभा में चन्द्र माने गए हो। अर्थात्—जैसे चन्द्र के उदय से चन्द्रकान्त-मणि से जलप्रवाह लक्ष्मी उत्पन्न होती है वैसे ही चन्द्र-सरीखे आपके उदय से शत्रु-स्त्रियों के नेत्र रूपी चन्द्रकान्तमणि से अश्रुप्रवाहलक्ष्मी (अश्रुजलप्रवाह-शोभा) उत्पन्न होती है। आप शत्रु-स्त्रियों के शरीर संबंधी प्रचुर शोकरूपी सूर्यकान्तमणि के उद्दीपन में सूर्य ही हैं। अर्थात्—जैसे सूर्योदय से सूर्यकान्तमणि से अग्नि उद्दीपित होती है वैसे ही शत्रु-स्त्रियों के प्रचुर शोकरूपी सूर्यकान्तमणि को उद्दीपित करने में आप सूर्य हैं ॥ १४१ ॥ फिर यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार विचार किया—'कहाँ तो हमारे ऐसे मानसिक दुर्विलसित (खोटे अभिप्राय) और कहाँ यह पूज्य श्री सुदत्ताचार्य की मानी हुई कल्याण श्रेणी के निरूपण की तत्परता? इसलिए यहाँ पर अपने शिर कमल से प्रस्तुत भगवान् के चरणों की पूजा करनी ही इस पाप का प्रायश्चित्त है, अन्य नहीं।' यशोमति महाराज ने विशेष पराक्रम व वेमर्याद किये जानेवाले साहस से उक्त प्रकार का अभिप्राय किया उसे जानकर प्रस्तुत मुनीश्वर ने निम्नप्रकार आदेश दिया—'हे राजन्! ऐसा मत करो। अर्थात्—इस प्रकार के विचार मन में मत लाओ। क्योंकि निश्चय से प्राणियों के चित्त स्वभाव से चञ्चलता के कारण समुद्र की तरङ्गों के जल सरीखे ऊँचे-नीचे विषयों में प्रवृत्ति करनेवाले (नाना प्रकार के) होते हैं, इसलिए दुरभिप्राय करने से कोई लाभ नहीं।' तदनन्तर यशोमति महाराज ने नमस्कार पूर्वक क्षणमात्र निम्न-प्रकार आश्चर्य करके भगवान् सुदत्त से पूँछा—'अहो भगवान् सुदत्त की बुद्धि, इन्द्रियों के अगोचर (अविषय)

कूपारकल्लोलकलातीतोऽप्यावयविषयवृत्तीनि भवन्ति । तदलं दुरभिनिवेशेन । यशोमतिमहाराजः सशिरःकम्पम्—'अहो, भगवतामतीन्द्रियेष्वपि पदार्थहृदयेषु सातिशया शेमुषी' इति क्षणमात्रं विस्मित्य भगवन्तमापृच्छे—'भगवन्, किं नाम मे मनो दुरभिनिवेशमध्यवसीत । भगवानस्येषाभिप्रायं तथाशयमुपाविशत् ।

कल्याणमित्रः—'काश्यपीपते, नैतदाश्चर्यम् । अयं हि भगवान्महर्द्धिसंपन्नतयाऽष्टाङ्गमहानिमित्तनिलयः सर्वावधिसमक्षसाक्षात्कृतसकलवस्तुविषयः करतलामलकमिव कालत्रयत्रिलोकोदरविवरवर्तिसमर्थमपि पदार्थसार्थं कलयति । तदन्यदेव किंचिदेतत्सभासभाजनकरं नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखजीवितमरणजन्मान्तरगोचरमापृष्टव्यं । क्षितिपतिः (सानुनयम्)—'भगवन्, मम पितामहो यशोर्घमहाराजस्तादृशं लोकोत्तरं चरित्रमाचर्येदानीं किं नु खलु लोकमध्यास्ते पितामही चन्द्रमतिः पिता यशोधरमहाराजोऽमृतमतिश्च माता ।' भगवान्—'समाकर्णय ।

राजन्यशोर्घनृपतिः पलितं विलोक्य निर्विद्य संसृतिसुखेषु मुनिर्बभूव ।
राज्ये यशोधरनृपं तनयं निवेश्य तत्याज निस्पृहतया तृणवद्विभूतिम् ॥१४२॥
जैनागमोचितमुपास्य तपश्चिराय प्रायोपवेशनविधानविमुक्तकायः ।
ब्रह्मोत्तरं त्रिदशवेशमवाप्य जातस्तत्कल्पलेखपतिरद्भुतमाससेतः ॥१४३॥

कुब्जपुत्रविधिना सह मात्रा तं यशोधरनृपं विनिपात्य । जातकुब्जरतिरक्तविरामारपञ्चमं निरयमाप तवाम्बा ॥१४४॥

पदार्थों के रहस्यों के जानने में विलक्षणता रखनेवाली (विशेष प्रवृत्त होनेवाली) है।' 'हे भगवन्! मेरी चित्तवृत्तिने कौन से दुरभिप्राय का आश्रय किया?'

भगवान् ने उसका अभिप्राय, जिसमें 'कहाँ तो हमारे इस प्रकार के मानसिक दुर्विलसित (खोटे अभिप्राय) और कहाँ यह पूज्य श्री की अभिलषित कल्याण श्रेणी के निरूपण की तत्परता? उस कारण इस अवसर पर अपने शिरकमल द्वारा प्रस्तुत भगवच्चरणों की पूजा करना ही इस पाप का प्रायश्चित्त है, अनन्य नहीं' इन वाक्यों की अर्थ संगति वर्तमान है, निरूपण कर दिया। तदनन्तर 'कल्याणमित्र' नाम के वणिक-स्वामी ने कहा—'हे राजन्! इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि यह भगवान् निश्चय से गुरुदेशना से नहीं किन्तु महान् ऋद्धियों की संपन्नता (युक्तता) के कारण अष्ट अङ्गों वाले महानिमित्तों के जानने का गृह (स्थान) हैं और जो सर्वावधि प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा समस्त वस्तु समूह का प्रत्यक्ष ज्ञाता है; अतः ये तीन काल व तीन लोक के मध्यवर्ती योग्य पदार्थसमूह को हस्ततल पर स्थित आँवले की भाँति जानते हैं, अतः इन पूज्य सुदत्ताचार्य से दूसरा ही विषय पूँछना चाहिए, जो कि नष्ट, चोरी, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन, मरण व पूर्वजन्म इन विषयों से संबंध रखता हो एवं सभाजनों को प्रीतिजनक हो।

अथानन्तर यशोमति महाराज ने विनयपूर्वक पूँछा—'भगवन्! मेरे पितामह (पिता के पिता) यशोर्घमहाराज वैसा अलौकिक चरित्र (मुनिधर्म) धारण करके इस समय निश्चय से किस लोक में निवास कर रहे हैं? एवं हमारी पितामही (पिता की माता) चन्द्रमति और मेरे पिता यशोधर महाराज तथा अमृत-मति माता ये सब किस लोक में निवास कर रहे हैं?

भगवान् सुदत्तश्री ने कहा—'सुनिए—हे राजन्! यशोर्घ राजा शिर पर सफेद केश देखकर सांसारिक सुखों से विरक्त होकर मुनि हुए। उन्होंने अपने पुत्र यशोधर राजा को राज्य में स्थापित करके निःस्पृहता के कारण तृणसमान राज्यविभूति का त्याग किया ॥ १४२ ॥ पश्चात्—उन्होंने चिरकाल तक जैनशास्त्र के योग्य तपश्चर्या करके सन्यास (समाधिमरण) संबंधी उपवास विधान द्वारा शरीर छोड़नेवाले होकर ब्रह्मोत्तर नाम के छठे स्वर्ग में प्राप्त होकर उस स्वर्ग के आश्चर्य जनक लक्ष्मी सहित इन्द्र हुए ॥ १४३ ॥ कुबड़े के साथ रतिविलास करने वाली तुम्हारी माता (अमृतमति) विष-

या च चन्द्रमतीस्तव पितामही यश्च यशोधरमहाराजस्तव पिता तौ द्वावपि द्विजातिभिराभाषितसकलसत्त्वोपहारफलस्य पिष्टताम्रचूलस्यालम्भनवल्भनाभ्याममृतमतिप्रयुक्तसौल्किकैयवशात्प्रेत्य निरवधीनि दुःखानि बहुषु भवान्तरेष्वनुभूय सांप्रतं तवैव यमलतयापत्यभावमाजग्मतुः।' राजा (स्वगतम्)—पिष्टकुक्कुटाघातोपयोगाभ्यामपि पिता पितामही चैतावतीमवस्थामवापत्। नाकलेयमधुना ममाजन्म स्वयं निहतजलस्थलाकाशचरप्राणिपिशितरसपुष्टवपुःसरसः पुरवंशाल इव सदैव हिंसाध्यवसायसक्तचेतसः के भविष्यन्ति लोकाः। तत्पर्याप्तं मम सांसारिकसुखाभिलाषेण। (प्रकाशम्) भगवन्, अयं जन्तुरमोघमघसंघातघनतया पातालतलमुपनिपतन्नुद्ध्रियतां दीक्षाप्रदानहस्तावलम्बनेन[1] इत्यभिधाय पपात भगवत्पादयोरुपरि। कृतपादपतनः परामर्श चैवम्।

महदपि पापं विदलति पुण्याप्तिमनोरथः सुतुच्छोऽपि। किं नाल्पो रविरेष त्रिभुवनमात्रं तमो हन्ति ॥१४५॥
अध ऊर्ध्वं वा प्राणी स्वयं कृतैरेष कर्मभिर्याति। कूपस्य यथा खनिता यथा च कर्ता निकेतस्य ॥१४६॥
ऊर्ध्वाधोगतिहेतुर्लघुगुरुकर्मप्रयोगतः स्वस्य। स्वयमेव भवति जन्तुस्तुलाग्रवत् किं विषादेन ॥१४७॥'

भट्टारकः—अहो धर्मधौरेय, प्रधानगुणगणनिधान, उत्तिष्ठ। श्रूयतां तावदिदमुभयलोकव्यवहारसर्वस्वम्।

प्रयोग से उस यशोमति महाराज को उसकी माता (चन्द्रमति) के साथ मारकर, अर्थात्—दोनों को मारकर, शरीर के अक्षीर होने पर पाँचवें नरक में प्राप्त हुई ॥ १४४ ॥ तुम्हारी पितामही (पिता की माता) चन्द्रमति और तुम्हारे पिता यशोधर महाराज ये दोनों भी ब्राह्मणों द्वारा सुनाये गये समस्त जीवों की वलि के फलवाले ऐसे आटे के मुर्गे के मारण (वलि) व भक्षण से अमृतमति द्वारा प्रयोग किये हुए विष के कारण मरकर बहुत से दूसरे जन्मों में निस्सीम (बेमर्याद) दुःखों को भोग कर इस समय तुम्हारे ही जोड़े रूप से सन्तानभाव (पुत्र-पुत्री) को प्राप्त हुए हैं।' [उक्त बात को सुनकर] यशोमति महाराज ने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—'जब मेरे पिता (यशोधर महाराज) व मेरी दादी (पिता की माता) चन्द्रमति ने आटे के मुर्गे के मारण व भक्षण से भी ऐसी भयानक अवस्था प्राप्त की तब इस समय जन्मपर्यन्त स्वयं मारे हुए जलचर (मछली-आदि), थलचर (मृगादि) व नभचर (कबूतर-आदि) जीवों के मांसरस से पुष्ट हुए शरीररूपी तड़ागवाले व बिलाव-सरीखे सदा हिंसा के अध्यवसाय (दृढ़ विचार) में आसक्त चित्तवाले मेरे परलोक (भविष्यजन्म) क्या होंगे ? अर्थात्—मेरे भविष्यजन्म महाभयङ्कर होंगे। अतः मेरी सांसारिक सुखों की अभिलाषा निरर्थक है।'

तदनन्तर प्रस्तुत यशोमति महाराज ने सुदत्ताचार्य से स्पष्ट कहा—'भगवन्! इस मुझ सरीखे प्राणी का, जो कि सफल पाप-समूह की प्रचुरता से पातालतल में गिर रहा है, दीक्षा-प्रदान रूपी हस्तावलम्बन (सहारा) से उद्धार कीजिये'। ऐसा कहकर भगवान् सुदत्ताचार्य के चरणों पर गिर पड़ा। आचार्यश्री के चरण कमलों पर गिरनेवाले यशोमति महाराज ने निम्नप्रकार विचार किया—थोड़ी सी भी पुण्य-प्राप्ति की अभिलाषा महान् पाप को भी नष्ट कर देती है। उदाहरणार्थ—क्या छोटा सा यह सूर्य तीन लोक में भरे हुए [विशाल—विस्तृत] अन्धकार को नष्ट नहीं करता ? ॥ १४५ ॥ यह जीव स्वयं किये हुए पुण्य-पाप कर्मों से क्रमशः वैसा ऊपर (स्वर्ग-आदि) व नीचे (नरक) जाता है, जैसे गृह की रचना करनेवाला मानव ऊपर जाता है और कुएँ का खोदनेवाला पुरुष नीचे जाता है ॥ १४६ ॥ यह प्राणी लघु (पुण्य व पक्षान्तर में कम वजनवाली वस्तु) व गुरु (पाप व पक्षान्तर में वजनदार वस्तु) कर्म के प्रयोग से स्वयं ही अपने को ऊर्ध्वगति (स्वर्ग-आदि व पक्षान्तर में ऊपर उठना) व अधोगति (नरकगति व पक्षान्तर में नीचे जाना) का कारण वैसा होता है जैसे तराजूदण्ड लघु गुरुकर्म (हल्की व वजनदार वस्तु) के प्रयोग से ऊर्ध्व व अधोगति (ऊपर व नीचे उठने) में हेतु होता है, अतः शोक करने से क्या लाभ है ? ॥ १४७ ॥'

इयं हि बहिःप्रदर्शितमनोरमागमा रमाऽसृग्धारेव विमुच्यमाना भवति जीवितव्यसंदेहाय देहिनाम्। चिरपरिचितालोकः काय इव परित्यज्यमानः करोति दूरे शरीरिणां प्राणान्। समभ्यस्तधर्मणि कर्मणि विनियुज्यमानः पुमान्वारीगतः करीवातीवान्तर्मनायते। सत्क्रियासु तात्कालिकावाप्तलब्धनुभूता स्वैरालाप इव सुलभः खल्वभिनिवेशो न निर्वाहेषु। दिव्यचक्षुःस्खलितावलम्बकमिव सहसा कृते कर्मणि शपन्ति लोकाः। पुरश्चारकं प्रतिश्रुत्य व्रतात्प्रणाशिनापद्यमानेषु महत्सु भवति च लोकद्वयविघातिनी कौलीनता। अपि च।

चित्तं स्वभावमृदु कोमलमेतदङ्गमाजन्मभोगसुभगानि तवेन्द्रियाणि।
एतत्तु चित्तवपुरिन्द्रियवृत्तिरोधाद्दुःखं तपस्तदलमत्र नृपाग्रहेण ॥१४८॥

कल्याणमित्रः—क्षितिपते, साध्वाह भगवान्।

राजा—कल्याणमित्र, सत्यमेवैतत्। किं तु।

मार्दवाधिकतरं कलधौतं तापताडनसहं च निसर्गात्। एवमेव वपुरुत्तमपुंसां संपदां च विपदां च सहिष्णु ॥१४९॥

ततस्तपश्चरणकरणपरिणतान्तःकरणः पुनरहो मारिदत्त, समाहूय सपरिवारावावां पूर्वभववृत्तान्तमकथयत्। तदाकर्णनाच्च संजातजातिस्मरणौ बन्धुवाष्पाम्बुभिः सह मूर्छाविशाद्भुवि निपतितकरणावनवरतजलार्द्रांशुकव्यजनशीकरासारशीतलानिलोप-

---

तदनन्तर भगवान् सुदत्तभट्टारक—'अहो धर्मभार का वहन करनेवाले व प्रशस्त ज्ञानादि गुणों के प्रकाशन के भण्डार राजन्! उठिए। दोनों लोकों के व्यवहार संबंधी इस सार वचन को सुनिए। बाह्य में मनोज्ञ प्राप्ति को दिखानेवाली यह लक्ष्मी निश्चय से जब त्याग की जाती है तब वैसी प्राणियों के जीवन का विनाश करने में निमित्त होती है जैसे मस्तक से प्रवाहित होनेवाली रक्तधारा प्राणियों के जीवन का विनाश करनेवाली होती है। चिरकाल से परिचित आलोक (चितवन या कान्ति) वाला प्रेमीजन (स्त्री-आदि) जब त्याग किया जाता है तब वैसा प्राणियों के प्राण नष्ट करता है जैसे छोड़ा जा रहा शरीर प्राणियों के प्राण नष्ट करता है। अभ्यास किये हुए धर्मवाले कर्तव्य में किसी के द्वारा प्रेरणा किया जानेवाला पुरुष वैसा चित्त में दुःखित होता है जैसे हाथी के बन्धन-गर्त (गड्ढा) में पड़ा हुआ हाथी मन में क्लेशित होता है। प्राणियों की प्रशस्त कर्तव्यों के पालन संबंधी तत्कालीन प्राप्तिवाली प्रतिज्ञा निश्चय से स्वच्छन्द वार्तालाप सरीखी सुलभ होती है परन्तु निर्वाहों (पूर्णता) में सुलभ नहीं होती। उतावली में आकर अविचार पूर्वक कार्य करनेवाले को लोग वैसा दोषी ठहराते हैं जैसे अन्धे के गिरने पर लोग उसके खींचनेवाले को धिक्कारते हैं। जब महापुरुष प्रधान नेता को अङ्गीकार करके धारण किये हुए व्रत से युद्ध की तरह भागते हैं तब उनकी दोनों लोकों को नष्ट करनेवाली निन्दा होती है।

विशेषता यह है कि—आपका मन स्वाभाविक कोमल है व यह शरीर भी मृदु (कोमल) है एवं आपकी चक्षुरादि इन्द्रियाँ जन्म पर्यन्त [किये हुए] भोगों से मनोज्ञ हैं परन्तु यह तपश्चर्या तो इसलिए दुःखरूप है; क्योंकि यह मन, शरीर और इन्द्रिय संबंधी वृत्तियों के निरोध (रोकने) से उत्पन्न होती है, अतः हे राजन्! आपको तपश्चर्या की हठ करना निरर्थक है ॥ १४८ ॥

फिर कल्याणमित्र नामके वणिक्-स्वामी ने उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा—'हे राजन्! पूज्य श्री ने उचित कहा'।

यशोमति महाराज—हे कल्याणमित्र! यह बात सत्य है किन्तु जैसे सुवर्ण स्वभाव से विशेष कोमल होनेपर भी अग्नि-ताप व ताड़न को सहन करने वाला होता है वैसे ही उत्तम पुरुषों का शरीर भी संपत्तियों (सुख-सामग्री) व विपत्तियों को सहन करने वाला होता है ॥ १४९ ॥ तदनन्तर अहो मारिदत्त महाराज! यशोमति महाराज ने अपनी चित्तवृत्ति तपश्चर्या करने में परिणत (झुकी हुई) की और सकुटुम्ब हम दोनों (यशस्तिलक या अभयरुचि व मदनमति या अभयमति) को बुलाकर पूर्वभव का वृत्तान्त कहा। उसके सुनने से हम दोनों

लालनशीलिभिः, मन्दचन्दनस्यन्दोपदेहसदयहृदयैः, आर्द्रकमलदलमृणालनिचयसंचारणपरपाणिभिः, अविरलशम्बालमञ्जरीजालपरिचर्यापादनपेशलाशयैः, सरसरम्भागर्भपरिरम्भसंभावनप्रणयिभिः, अपरिमितोशीरपरिसर्पपरिमलनकारणपरायणैः, घनघनसारपारोत्कारपानीयसेचनचतुरचेतोभिः एवमन्यासु च तासु तासु प्रत्युज्जीवनकरप्रक्रियासु क्रियासु महादरोदारैः परिवारैः कृताश्वासनानन्दमङ्गलैः सार्धमनतिचिरादेव कालादुत्थितावनवधिवेलं पुनश्चिरजीवनजलोचिताशीर्वादविहितसंबोधनैः 'तात, तावदत्र भवतामस्मत्कृतकर्मणो जन्मान्तरात्कर्मणश्च समाकर्णनादिदं मुहुर्लक्ष्मीपराङ्मुखं मनोऽभूत् । आवां पुनरद्यापि तदातङ्कपावकजृम्भितचित्ताविव भवन्तौ कथं नामास्यामासंजावः' इति विहिताग्रहावपि सकलकुलवृद्धसमक्षतया संताने विनिवेश्योचितमाचरत् ।

मायारामसमा रमा सुखमिदं दुःखावलेखोन्मुखं स्वप्नालोकनयः सुहृत्परिचयः कान्ता कृतान्तेहिता ।
उत्साहोऽपि च देहगेहविषयो यः सोऽप्यनित्योदयस्तत्त्वालोकविलुप्तचित्ततमसां पुंसां भवेन्नुत्सवः ॥१५०॥

इति चिन्तयतोर्गतेषु कतिपयेषु च दिवसेषु पुनर्नावयोर्मुनिजनमान्यप्रवृत्तेर्वृत्तेरन्यत्रासनाद्यभिनिवेश इति विहितसर्गावभिषिच्य राज्ये यशोधनाभिधानरत्नं सापत्नमनुजन्मानमङ्गुरस्य चाष्टवर्षदेशीयतयाऽर्हद्रूपायोग्यत्वादिमां देशयतिश्लाघ-

---

को जातिस्मरण उत्पन्न हुआ और हमारा शरीर मूर्च्छा से बन्धु जनों के अश्रुओं के साथ पृथिवी पर गिर गया। पश्चात् ऐसे कुटुम्बीजनों द्वारा किये गए आश्वासन से आनन्द मङ्गलों के साथ शीघ्र ही अल्प काल में पृथिवी पर से उठे। जो (कुटुम्बीजन) निरन्तर कमलों व वस्त्रों के पंखों की जलकणों से व्याप्त हुई शीतल वायु से उपलालन (उपचार) के स्वभाव वाले थे। जिनके हृदय प्रचुर चन्दन-द्रव के लेपन से दयालु हैं। जिनके हस्त विशेष आर्द्र (गीले) कमलपत्ते व कमलनाल-श्रेणी के संचारण (प्रेरण या स्थापन) में तत्पर हैं। जिनके हृदय घनी शैवालमञ्जरी (वल्लरी) श्रेणी की परिचर्या (सेवा) उपस्थित करने से कोमल हैं। जो, सरस (भीगे हुए) केलावृक्ष के मध्यभाग का आलिङ्गन कराने के विचार से स्नेह करने वाले हैं। जो बेमर्याद वीरणमूल या खस-कर्दम के मलने की प्रेरणा में तत्पर हैं एवं जिनके चित्त प्रचुर कर्पूर-कड़श के विशेष जल के सिञ्चन में प्रवीण हैं और जो पुनरुज्जीवित करने के उपाय वाले उन उन उपचारों में विशेष आदर करने से महान हैं। फिर हम दोनों बहुत समय तक हमारे सम्बोधन वाले कुलवृद्धों के आशीर्वादों से व्याप्त हुए। फिर हमारे पिता यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार आग्रह करने वाले हम दोनों को, 'हे पिता जी! हमारे द्वारा किये हुए पाप कर्म के सुनने से एवं पूर्वजन्म में उत्पन्न हुए दुःखदायक कर्मों के श्रवण करने से आप पूज्यों का यह मन बार-बार लक्ष्मी से विमुख होगया पुनः [जब] हम दोनों अब भी पूर्वोक्त दुःखरूपी अग्नि से छुए होने से दग्ध मनवाले सरीखे हो रहे हैं तब कैसे इस राज्य लक्ष्मी में आसक्ति करें?' समस्त कुलवृद्धों के समक्ष राज्यवंश में स्थापित करके—राज्य लक्ष्मी प्रदान करके उचित (जैनेश्वरी दीक्षा) धारण की। तदनन्तर जब हम दोनों निम्न प्रकार चिन्तवन कर रहे थे— 'लक्ष्मी इन्द्रजाल सरीखी है। सांसारिक सुख दुःख के अक्षर लेख में तत्पर (दुःखरूप) हैं। यह मित्र-परिचय स्वप्नदर्शन-सरीखी नीतिवाला है। स्त्री काल की अभिलाषा वाली (विनश्वर) है। जो शरीर व गृह संबंधी उद्यम है, वह भी अनित्यता के आगमन वाला (विनश्वर) है। अतः तत्त्वज्ञान रूपी प्रकाश से चित्त के अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले पुरुषों को सांसारिक विषयों में इच्छा का विस्तार नहीं होता ॥ १५० ॥' पश्चात् कुछ दिनों के व्यतीत होने पर हम दोनों ने ऐसा निश्चय करके कि 'हम दोनों का मुनिजनों द्वारा मान्य प्रवृत्ति वाले चारित्र को छोड़कर दूसरे राजसिंहासन-आदि की प्राप्ति का अभिप्राय नहीं है' सौतेले 'यशोधन' इस श्रेष्ठ नाम वाले लघु भ्राता को राज्य में अभिषिक्त करके राज्य लक्ष्मी का त्याग किया परन्तु आठ वर्ष की आयु (उम्र) होने से हमारा शरीर मुनिदीक्षा धारण के अयोग्य था, इसलिए क्षुल्लक-क्षुल्लिका को प्रशस्त अभिलाषा वाली दीक्षा धारण करके उस भगवान् सुदत्ताचार्य के साथ विहार करते हुए हम दोनों

नीयमानौ स्वामादिशय तेन भगवता सह विहरमाणावत्रागतौ समागतौ च भवद्भटानयनभरादेतत्सभान्तरम्। धर्मावधानप्रयत्नरत्नदीपदीप्तिविधुरितमतिमिथ्यात्वमहान्धकारवृत्तो मारिदत्तः प्रतिक्षणं शुभाशयामृतप्रवाहप्रविगलत्किल्बिषाञ्जनः सपौरपुरदेवतापरिजनः पुरा स्वयं दुर्वासनया च कृतेषु निरवधिषु बुधविप्रियेष्वतीवबीभत्सयान्तःशल्यित इव कृतशरीरविधूननस्तन्मुनिकुमारमिथुनकथाकर्णनादिदं समस्तमपि संसारसुखसंगमं स्वप्नेन्द्रजालसमं समाकर्णयन्करकमलमुकुलावचूलमौलिः सबहुमानमनःकेलिस्तं मुनिकुमारमेवमभाषत—'अहो विद्वज्जननाथ, निःसामान्यसुकृतसुलभदर्शनसनाथ, दुरन्तपातालपतज्जन्तुहस्तावलम्ब, निखिलभुवनमानसोल्लासन, शर्मधर्मामृतवर्षप्रतिबिम्ब, हिताहितविवेकदिङ्मूढविधुरबान्धव, लोकप्रीणनाचाराधारश्रीमाधव, खलीकृतसकलजगज्जयोद्गारमार, मुनिकुमार, निःशेषलोकाभ्युद्धरणजन्मना परमाप्तसमवर्त्मना दैवावाप्तालोकनेन तत्रभवतानुग्रहणीयः खल्वयं जनः स्वकीयाचारपात्रसमानभाजनतया। मुनिकुमारः—निसर्गतुङ्गिमानन्दमन्दर, करुणारसस्यन्दकन्दर, समाकर्णय। स्वभावभव्यस्य विदितवेदितव्यस्य हि भवतः सर्वमुप-

---

इस राजपुर के उद्यान में आए। पश्चात् आपके कोट्टपालों को लाने की विशेषता से इस सभा के मध्य (चण्डमारी देवी के मन्दिर में) प्राप्त हुए। तत्पश्चात् मारिदत्त महाराज ने धर्मतत्त्व के मनोयोग पूर्वक श्रवण करने के प्रयत्न रूपी रत्न की दीप्ति से अपनी बुद्धि का मिथ्यात्व रूपी गाढ़ व गृहीत अन्धकार नष्ट कर डाला। प्रत्येक क्षण में शुभ परिणाम रूपी अमृतप्रवाह से गल रहे समस्त पापरूपी अञ्जनवाले और नागरिक लोक, नगर देवता (चण्डमारी देवी) व सेवकों से सहित हुए मारिदत्त महाराज ने पूर्व में स्वयं दुर्वासना (दुष्ट अभिप्राय) से किये हुए बेमर्याद पापों से विशेष घृणा होने से भीतर चुभी हुई शल्य (कीला) से व्याप्त हुए-सरीखे होकर अपना शरीर कम्पित किया। जो उस क्षुल्लक जोड़े की कथा-श्रवण से इस समस्त सांसारिक सुख-सङ्गम को स्वप्न व इन्द्रजाल सरीखा निश्चय कर रहा है एवं जिसने हस्तरूपी कमल कलियों का अपने मस्तक पर मुकुट धारण किया है और जिसकी मानसिक क्रीड़ा [प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े का] अतिशय सम्मान करनेवाली है, ऐसे होते हुए प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े से निम्न प्रकार कहा—

अहो मुनिकुमार! आप विद्वानों के स्वामी हैं, असाधारण पुण्य से प्राप्त होने योग्य दर्शन से सम्पन्न हैं, दुष्ट फलवाले पातालतल में पड़ते हुए प्राणियों को हस्तावलम्बन (सहारा) देने वाले हैं, समस्त लोकों के चित्तों को उल्लासित (प्रमुदित) करने वाले हैं, सुख व धर्मरूपी अमृत वृष्टि की प्रतिच्छाया हैं एवं हित व अहित के विवेक में दिङ्मूढ़ हुए सन्तप्त प्राणियों के बन्धु हैं, विष्णु-सरीखे लोक को सन्तुष्ट करनेवाले चारित्र के आधार हैं और समस्त जगत को जीतनेवाले पुष्प या कामबाण (कामदेव) को जीतने वाले हैं। ऐसे हे मुनिकुमार! समस्त लोक के उद्धार-हेतु जन्मवाले, उत्कृष्ट माता-पिता सरीखे हितैषी मार्गवाले, भाग्य से प्राप्त हुए दर्शनवाले पूज्य आपके द्वारा यह प्राणी (मैं) अपने चारित्र सरीखी पात्रता से (मुनि या क्षुल्लक दीक्षा द्वारा) निश्चय से अनुग्रह करने योग्य है।'

मुनिकुमार—'स्वाभाविक तुङ्गिमा (महत्ता व पक्षान्तर में ऊँचाई) व आह्लाद के लिए सुमेरु सरीखे व करुणा रस के झरने के लिए कन्दरा (गुफा) सरीखे हे राजन्! सुनिए—

स्वाभाविक भव्य व जानने योग्य विषय के ज्ञाता आपको निश्चय से सब ज्ञात ही है किन्तु मैं ऐसे कार्य में (आप के लिए दीक्षा देने में) गुरु के द्वारा आज्ञा दिये हुए आचार्यपद वाला नहीं हूँ। अर्थात्—हम लोगों को तुम्हें दीक्षा देने में अभी तक गुरु का आदेश नहीं है। अतः आइए। हम दोनों शरणागत जनों के मनोरथों की अनुकूलता वाले उसके पादमूल में गमन करें। उक्त बात को सुनकर मारिदत्त राजा ने मन में निम्नप्रकार विचार किया—'अहो आश्चर्य है, क्योंकि—

मैं (मारिदत्त) प्रजाजनों का गुरु हूँ और मेरी गुरु यह देवता (चण्डमारी देवी) है एवं इन तीनों (प्रजा, मेरा व देवी का) गुरु यह क्षुल्लक है तथा इस क्षुल्लक के दूसरे (सुदत्ताचार्य) गुरु हैं। उस दूसरे

पथ्यमेतत् । किन्त्वहमेवंविधे कर्मण्यद्यापि गुरूणामनुज्ञातस्वभावतेनो न भवामि । तदेहि । गच्छावः शरणागतजनमनोरथानुकूलं तत्पादमूलम् । राजा—(स्वगतम् ।) अहो आश्चर्यम् । यतः ।

अहं प्रजानां मम देवतेयमेतत् प्रयस्यैव तथास्य चान्यः ।
गुरुस्तदर्थान्तरगा महत्ता वेश्येव दूरं समुपागतेयम् ॥१५१॥

(प्रकाशम् ।) मुनिकुमार, अलं विलम्बितेन । एतर्हि प्रतिष्ठावहे तं भगवन्तं भवन्तमुपासितुम् ।

यः स्याद्वाद्यपि सर्वयौक्तिकनयक्षोदक्षमैतिह्यधीर्नैष्किंचन्यभराशयोऽपि जगतः सर्वार्थसिद्धयाश्रयः ।
दृष्टादृष्टफलप्रसूतिचरितोऽप्याप्तश्च मध्यस्थतामात्मस्थोऽपि समस्तगः स भवतः श्रेयस्कृते स्ताज्जिनः ॥१५२॥
अरालकालव्यालेन ये लीढाः सांप्रतं तु ते । शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥१५३॥

पदार्थ (पूज्य सुदत्तश्री) में यह दूरवर्ती महत्ता (महत्त्व) वैसी एक स्थान (सुदत्तश्री) में स्थित हुई है जैसे वेश्या एक स्थान में स्थित होती है ॥ १५१ ॥' तदनन्तर मारिदत्त राजा ने स्पष्ट रीति से कहा—हे मुनि-कुमार ! विलम्ब करने से कोई लाभ नहीं है, अत: अब हम दोनों उस भगवान् तपस्वी सुदत्ताचार्य की उपासना करने के लिए प्रस्थान करें। ऐसा वह जिनेन्द्र आपके कल्याण की प्राप्ति के लिए होवे। जो स्याद्वादी ('स्यात्' इस अक्षर मात्र को कहनेवाला) हो करके भी जिसका आगम ज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयों की परीक्षा या अनुसन्धान करने में समर्थ है। यहाँ पर उक्त कथन विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि जो केवल 'स्यात्' इस अक्षर मात्र का कहने वाला होगा, उसका आगम ज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयों के अनुसन्धान करने में समर्थ कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो स्याद्वादी (अनेकान्त दर्शन का निरूपण करनेवाला) है और निश्चय से जिसका आगमज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयों के अनुसन्धान करने में समर्थ है। नैष्किचन्यभराशय (विशेष दरिद्रता-युक्त चित्तवाला) हो करके भी संसार को सर्वार्थसिद्धि का आश्रय (समस्त धन-प्राप्ति का सहारा) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो विशेष दरिद्र है वह लोगों की समस्त धनप्राप्ति का आश्रय कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो नैष्किचन्य भराशय (जिसका अभिप्राय परिग्रह-त्याग की विशेषताशाली) है और जो निश्चय से संसार को सर्वार्थसिद्धि का आश्रय (समस्त इष्ट प्रयोजनों (स्वर्गादि) की सिद्धि का आश्रय) है। जो दृष्टादृष्टफलप्रसूतिचरित (जिसका अभिप्राय या चित्त ऐहिक व पारलौकिक फलों (सुखों) के उत्पन्न करने में समर्थ) है, ऐसा होकर के भी जो मध्यस्थता (उदासीनता) को प्राप्त हुआ है। यह कथन भी विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि जो लौकिक व पारलौकिक सुखों को उत्पन्न करने में समर्थ चेष्टावाला होगा, वह उदासीन कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो लौकिक व पारलौकिक सुखों के उत्पन्न करने के अभिप्राय वाला है और निश्चय से मध्यस्थता (वीतरागता) को प्राप्त हुआ है। जो आत्मस्थ (शरीर परिमाण आत्मप्रदेशों वाला) होकर के भी समस्त पदार्थों में व्यापक है। यहाँ पर भी विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि जिसकी आत्मा के प्रदेश शरीर बराबर होंगे, वह आकाश की तरह व्यापक (सर्वत्र विद्यमान) कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो आत्मस्थ (आत्मस्वरूप में लीन) है और निश्चय से सर्वग (केवल ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने के कारण व्यापक) है ॥ १५२ ॥

जो शब्द कुटिल कलिकाल रूपी कृष्णसर्प से डँसे गए थे, वे मूच्छित (अप्रयुक्त) शब्द श्री सोमदेव सूरि द्वारा अथवा पक्षान्तर में अमृत वृष्टि करने वाले चन्द्र द्वारा उठाए जाते हैं—प्रयोग में लाए जाते हैं—पक्षान्तर में पुनरुज्जीवित किये जाते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ १५३ ॥ चिरकाल से शास्त्ररूपी समुद्र के

उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः ।
या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा वाग्देवता वहतु संप्रति तामनर्घ्याम् ॥१५४॥

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य । इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम् ॥१५५॥

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये भवभ्रमणवर्णनो नाम पञ्चम आश्वासः ।

तल में डूबे हुए शब्द रूपी रत्नों से, जो कि शास्त्ररूपी समुद्र से श्रीसोमदेव सूरि से निकाले गए हैं, अर्थात्—प्रकाश या प्रयोग में लाये गये हैं, इसलिए जो ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—प्रस्तुत आचार्य श्री द्वारा नए निर्माण किये गए हैं, सोमदेव सूरि ने जो आभूषण (यशस्तिलक रूपी रत्नों की हारयष्टि-माला) निर्मित किया है, उस अमूल्य आभूषण को वाग्देवता—सुकवि-वाणी की अधिष्ठात्री देवी—धारण करे ॥ १५४ ॥

मुझ सोमदेव सूरि ने इतने ग्रन्थ में (पाँच आश्वासों में) यशोधर महाराज का चरित्र कहा । इसके आगे (६ आश्वास से ८ आश्वास तक) द्वादशाङ्ग में उल्लिखित उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) कहूँगा ॥१५५॥

इसप्रकार समस्त तार्किक-(षड्दर्शन-वेत्ता) चक्रवर्तियों के चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य नेमिदेव के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरण कमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्य विद्याधरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलक महाकाव्य है', 'भवभ्रमण वर्णन' नाम का पञ्चम आश्वास पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास जी शास्त्री व श्रीमत्पूज्यपाद आध्यात्मिक
सन्त श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधान शिष्य,
'नीतिवाक्यामृत' के भाषाटीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक, जैनन्यायतीर्थ,
प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेद-विशारद एवं महोपदेशक—
आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागरनिवासी परवार जैन-
जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई
श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित 'यशस्तिलक चम्पू
महाकाव्य' की 'यशस्तिलकदीपिका' नाम
की भाषाटीका में यशोधर महाराज
का 'भवभ्रमण-वर्णन' नाम
का पञ्चम आश्वास
पूर्ण हुआ ।

षष्ठ आश्वासः

(उपासकाध्ययन)

श्रीमानत्रान्तरे सूरिः सुदत्तोऽवधिबोधतः । बुद्ध्वा तदागमं[१] तत्र ययौ संयमधीः[२] स्वयम् ॥ १ ॥
तदागमान्मुनेर्मान्यात्सभा चुक्षोभ भूभुजः । रत्नाकरस्य वेलेव पार्वणेन्दुसमागमात् ॥ २ ॥
विधाय विधिवत्सूरेः सपर्यां तत्र भूपतौ । आसीने सत्युवाचेदमसौ क्षुल्लकदारकः ॥ ३ ॥

भगवन्, अस्ति खलु [३]कन्दरान्तराल*खेलल्लेलिहानेशानकपर्द[४]चन्दनद्रुमालवालायमानमन्दाकिनीजलकेलिकलहंसेन सुरसुन्दरीलोचनचकोरकुलसंतर्प[५]णार्पितामृतासारसृष्टिना [६]सरस्वतीक्षरणतीर्थोपासनतापसेन [७]मनोजविजयार्जनार्जितजन्मना रजनिवल्लरीकुसुमस्तबकसुन्दरेण [८]त्रिदिवदीर्घिकार्जुनाम्बुजकुञ्जविजयिमूर्तिना [९]कौस्तुभैरावतपारिजातामृतेन्दिरा*सोदरेण

इसी अवसर पर श्रुतज्ञान-आदि अन्तरङ्ग व धर्म-सभा-आदि बहिरङ्ग लक्ष्मी से सुशोभित श्री 'सुदत्त' नाम के आचार्य ने अवधिज्ञान से उस चण्डमारी देवी के मन्दिर में उनका (अपने मुनि संघ का क्षुल्लक-जोड़ा-आदि का) आगमन जानकर वे प्राणिरक्षारूप चारित्र-पालन में तत्पर बुद्धिवाले अर्थात्—'इन मारिदत्त राजा-आदि के आने के कारण प्राणिवध न होने पावे' इस प्रकार की बुद्धि-युक्त होते हुए स्वयं वहाँ प्राप्त हुए ॥ १ ॥ जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के उदय से समुद्रतट ज्वारभाटा के आने से क्षुब्ध (चंचल) हो जाता है वैसे ही उस चण्डमारी देवी के मन्दिर में सुदत्त आचार्य के माननीय आगमन से मारिदत्त राजा की सभा क्षुब्ध (सन्तुष्ट) हो गई ॥२॥ जब वह मारिदत्त राजा उक्त आचार्य की यथाविधि पूजा करके स्थित हो गया तब 'अभयरुचि' नामके क्षुल्लक ने उक्त आचार्य से निम्नप्रकार कहा ॥ ३ ॥

भगवन् ! शत्रुओं के कीर्तिरूपी स्तम्भ को विदीर्ण करने के लिए घुण के कीड़े-सरीखे या टि० के अभिप्राय से वज्र-सरीखे यादवों का ऐसा वंश (यदुवंश) है, जो कि ऐसे चन्द्र से मुद्रित (उपलक्षित) है, जो यदुवंश पूर्व में सोम (चन्द्र) वंश था। अथवा मानों—जो यदुवंश विशेष उन्नत होने से चन्द्रपर्यन्त उपलक्षित (व्याप्त) है। मानों—वह वंश चन्द्र में लगा हुआ-सा दृष्टिगोचर हो रहा है।[1] जो (चन्द्र) ऐसा शोभायमान होता है—मानों—जिसकी मुण्डमाला में सर्प क्रीड़ा कर रहा है, ऐसे ईशानरुद्र को जटाजूटरूपी चन्दनवृक्ष की क्यारी के समान आचरण करने वाले गङ्गाजल में क्रीड़ा करने वाला राजहंस ही है।[2]

जिसने देव-सुन्दरियों के नेत्ररूपी चकोर पक्षियों के समूह को सन्तुष्ट करने के लिए अमृत की प्रचुर वृष्टि-रचना समर्पित की है।[3] जो मानों—सरस्वती नदी के क्षरणरूप तीर्थ में प्रतिबिम्बित होने से उसकी उपासना करने वाला तपस्वी ही है।[4] मानों—जिसने कामदेव की दिग्विजय-प्राप्ति के निमित्त अपना जन्म प्राप्त किया है।[5] जो रात्रिरूपी लता के फूलों के गुच्छों-सरीखा मनोज्ञ है।[6] जिसकी आकृति गङ्गानदी के श्वेत कमलों के वन को जीतने वाली है।[7] जो कौस्तुभमणि, ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष, अमृत व लक्ष्मी का सहोदर

---

१. मुनिकुमारकयुगल-पुरदेवता-पुरेश्वर-पौरजनागमनं । २. तेषां मारिदत्तादीनामागमने प्राणिवधो मा भूदिति बुद्धिः ।

३. मुण्डमालामध्ये क्रीडत्सर्पः ईदृश ईशानरुद्रः । * 'कंदलान्तराल' इति ख० । टिप्पणी शिरःशकलानि कपालानि वा ।

४. जटाजूट एव चन्दनवृक्षस्तस्य आलवालायमानं यन्मन्दाकिनीजलं तत्र या क्रीडा तत्र राजहंसेन चन्द्रेण मुद्रितः उपलक्षितः यदुवंशः ।

५. संतर्पणार्थम् । ६. नद्याः सुस्रवणं क्षरणमेव तीर्थं तत्र प्रतिबिम्बितत्वाच्चन्द्र एव तापसस्तेन ।

७. दिग्विजयनिमित्तं अर्जितं जन्म येन स तेन । ८. गङ्गानदीश्वेताब्जवन । ९. कौस्तुभादीनां भ्राता । * लक्ष्मीः ।

1. उपमालंकारः । 2. रूपकोपमाभ्यां परिपुष्ट उत्प्रेक्षालंकारः ।

3. रूपकमूलकः काव्यलिङ्गालंकारः । 4. काव्यलिङ्गोत्थापित उत्प्रेक्षालंकारः । 5. हेतूत्प्रेक्षालंकारः । 6. रूपक मूलक उपमालंकारः । 7. उपमालंकारः ।

मृगमदकर्दमालिखितललामलिपिविलोपिना[१] विकचस्थवीयस्तमालपिच्छगुच्छाविच्छिन्नच्छायाभृता[३] लाञ्छनेनालंकृतमूर्तिः क्षीरोदनन्दनस्य चन्द्रमसः [४]मुद्रितः [५]प्रतिपर्वसंपन्नफलपरम्परोऽप्युदितोदितविभूतिरहितकौलिसम्भवभिन्नो[७] यदूनां वंशः। [८]तत्रासीदखिलजगल्लोकचिन्तामणीयमानचरणो रणोत्सवतारसिकसपत्नाङ्गनालोचनचन्द्रकान्तमणिप्रणालजलप्रवाहिनी [१०]हारकिरणोदयो [११]दयोचिताचरणा[१२]नन्दितविनीतावनीपालदारको [१३]दारणोपतरकरवालविनिर्भिन्नारातिकुम्भस्थलोच्छलन्मुक्ताफलनिकरतारकितगगनतलो नतलोकपालचूडामणिमरीचिवलयालवालविलसत्क्रमाशोकपल्लवश्रीः श्रीवि[१४]रामसी-

---

है।[1] जो तरल कस्तूरी से चारों ओर लिखी हुई मनोज्ञ लिपि (तिलकरूपी लिपि) को तिरस्कृत करने वाले एवं विकसित पत्तोंवाले महान् तमाल पत्रों के गुच्छों की निरन्तर कान्ति का धारक पौधा-सरीखे लाञ्छन (श्याम चिह्न) से अलंकृत है तथा जो क्षीरसागर का पुत्र है।[2] अनोखे वंशवृक्ष-सरीखा जो (यदुवंश) प्रतिपर्व-सम्पन्नफलपरम्परा वाला (बाँसवृक्ष के पक्ष में—जो प्रत्येक पर्व (गाँठ) पर परिपूर्ण फल-समूह से व्याप्त हो करके भी उदितोदितविभूतिवाला (अत्यधिक विभूति को उत्पन्न करने वाला) है। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जब बाँस वृक्ष फलता है तब लोगों की लक्ष्मी-आदि नष्ट होती है। अर्थात्—वंश वृक्ष के फलशाली होने पर उत्पात होता है। अतः जो प्रत्येक पर्व—गाँठ—पर फलश्रेणी से व्याप्त होगा, उससे जनता को अत्यधिक विभूति कैसे मिल सकती है? उसका परिहार यह है कि यह यदुवंश फलशाली होकर के भी विभूति-युक्त है। अर्थात्—जो प्रतिपर्व-सम्पन्न फलपरम्परा वाला (जिसे प्रत्येक पर्व—महोत्सव में पुण्यकर्म की फल-परम्परा (सुख-श्रेणी) प्राप्त होती है और जो निश्चय से उदितोदित विभूति-युक्त (दिनोंदिन वृद्धिगत धनादि विभूति से व्याप्त) है।[3]

उस यदुवंश में ऐसा चण्डमहासेन नाम का राजा था। जिसके चरण समस्त याचक-लोक के लिए चिन्तामणि सरीखे आचरण करते हैं।[4] जो युद्ध के आनन्द में रसिक (रुचि रखनेवाले) शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्ररूपी चन्द्रकान्त-मणियों के प्रणालों से जल प्रवाहित करने वाले चन्द्र का उदय ही है।[5] जिसने जीवदया के योग्य आचरण से नम्रीभूत (सेवक) राजाओं की दाराएँ (पञ्जिकाकार के अभिप्राय से स्त्रियाँ व टिप्पणीकार के अभिप्राय से दारक—पुत्र) आनन्दित किये हैं।[6] जिसने विदारणशील विशेष तीक्ष्ण खड्ग से विदीर्ण किये हुए शत्रु-राजाओं के हाथियों के गण्डस्थलों से उछलते हुए मोतियों के समूह से आकाश तल को नक्षत्र-समूह से व्याप्त किया है।[7] जिसकी चरणरूपी अशोक वृक्ष की पल्लव-श्री (शोभा) नम्रीभूत राजाओं के चूडामणियों (शिरोरत्नों—मुकुटमणियों) की कान्ति समूहरूपी क्यारी में शोभायमान हो रही है[8] और जो ऐसे भुजारूपी

---

१. तिलकमेव लिपिः कस्तूरिकायास्तिलकं सरस्वतीललाटे घटते। २. विकसत्पत्रबहुलतमालपत्र टि० (ख)।

३. ह्रस्वशाखाशिफः क्षुपः इत्यमरः टि० (च)। ४. ईदृशेन लाञ्छनेन सहितेन। ५. मुद्रितः उपलक्षितः, यदूनां वंशश्चन्द्रमसा मुद्रितः आचन्द्रमुपलक्षितः उच्चैस्तरत्वात् वंशश्चन्द्रे लग्न इव दृश्यते पूर्वं यदूनां सोमवंश इत्यर्थः।

६. महोत्सवं प्रति परिपूर्णफलपरम्परः लोकानां दातृगुणेन, पक्षे यदा वंशः वेणुस्तस्य पर्वाणि यदा फलानि फलन्ति तदा उत्पात एव स्यात्, यदा वंशवृक्षः फलति तदा लोकानां द्रव्यादिकं विनश्यति, वंशे फलिते उत्पातः स्यादयं तु यदूनां वंशः फलितोऽपि विभूतिमानित्यर्थः। ७. निर्भेदने भक्ष्याणां टि० ख०। 'भिदुः घुणकीटाः' इति पञ्जिकाकारः।

८. यदुवंशे। ९. चण्डमहासेन राजाऽभवत्। १०. नीहारकिरणश्चन्द्रः। ११. जीवदया। १२. आनन्दिताः सेवकनृपपुत्राः येन सः। १३. विदारणशील। १४. विनाय।

1. उपमालंकारः। 2. उपमालंकारः। 3. विरोधाभास-अलंकारः।

4. उपमालंकारः। 5. रूपकालंकारः। 6. काव्यलिङ्गालंकारः। 7. उत्प्रेक्षालंकारः। 8. रूपकालंकारः।

[1]माश्रितं[2]शत्रुसंतानतरूत्पाटनपटुदोर्दण्डमण्डलप्रचण्डमहासेनो नाम नरपतिः । [3]तस्यायं[4] समस्तसाम्राज्यधुरोद्धारधौरेयः प्रजोपद्रवाशु[5]तक्षुद्र[6]काद्रवेय[7]वैनतेयः[8] साक्षात्कुसुमधन्वा[9] कुसुमावलीदेव्याः[10] सकलजगद्व्यवहारप्रवृत्तिदत्तस्कन्धा-त्संसारसंबन्धादनुजन्मा[11] सोदर्यः[12] । स एष[13] संप्रति स्वभावतो मृदुमानसरसप्रसरोऽपि [14]दुरुपदेशावसरस्ताम्र[15]पर्णी-पयःप्रवाह इव [16]संजातशुक्तिसंपुटकोदरावगाहः कठिनतानीतमतिरस्मत्[17]समागमनवेलाशलाकासादितसूत्रप्रवेशमार्गो निकामं संपद्यमानधर्मसंसर्गो भवितुमिच्छतीति ।

तदनु राजा सबहुमानं धर्मद्रुमप्रथमोत्पन्नपल्लवायमानेन[18] सकलसंसारव्यसनवनदावानलप्रभापटलकान्तिना नखमयूखप्रसरोत्सारित[19]श्रवणसमीपसरस्वतीप्रवाहेण सीमन्तप्रान्त[20]सरःसंजातजलेज[21]कुड्मलविडम्बिना [22]करयुगलेनो

दण्डमण्डल से विशेष तेजस्वी—प्रतापी है, जो कि लक्ष्मी के विनाश की मर्यादा को आश्रित हुए (अस्त होने वाली लक्ष्मी वाले) शत्रु-समूह रूपी वृक्षों के उन्मूलन में समर्थ है ।[1]

ये मारिदत्त महाराज उक्त राजा के समस्त साम्राज्य-भार के वहन करने में समर्थ पुत्र हैं और जो प्रजा पर उपद्रव करने में उत्सुक दुष्ट लोगरूपी सर्पों के विनाश करने में गरुड़ ही हैं[2] एवं मानों—साक्षात् कामदेव ही हैं ।[3] तथा सकल जगत की व्यवहार-प्रवृत्ति में स्कन्ध (सहायता) देनेवाले संसार-संबंध से (गृहस्थाश्रम की अपेक्षा) यह हमारी माता (कुसुमावली रानी) के लघुभ्राता (हमारे छोटे मामा) हैं । ये मारिदत्त महाराज इस समय स्वभाव से कोमल मानसिक रस के विस्तार वाले भी हैं परन्तु इन्हें दुष्ट लोगों के उपदेश का अवसर प्राप्त हुआ है, इससे ये वैसे कठिन बुद्धिवाले हो गये थे जैसे सीप-संपुट के मध्य में प्रवेश करनेवाला ताम्रपर्णी नाम की नदी का जल-प्रवाह कठिनता से ग्रहण करने के लिये अशक्य होता है । अर्थात्—जैसे सीप-संपुट का मध्यवर्ती जल मृदु होने पर भी संपुट के उद्घाटन बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता वैसे ये भी पूर्व में दुरुपदेश के प्राप्त होने से कठिन बुद्धि-वाले थे[4] । परन्तु अब मणि-सरीखे इन्होंने हमारी समागम वेला रूपी शलाका (सुई) से सूत्र (शास्त्र व पक्षान्तर में तन्तु) में प्रवेश-मार्ग प्राप्त कर लिया है इससे ये विशेषरूप से धर्म-संसर्ग प्राप्त करने के इच्छुक हैं ।[5] निष्कर्ष—अतः अब आपको पात्रता-प्राप्त किये हुए इनके लिए उपदेश शास्त्र कहना चाहिये । तदनन्तर ऐसे हस्त-युगल से मुकुटीकृत मस्तकवाले मारिदत्त राजा ने प्रस्तुत आचार्य के लिए विशेष सन्मान पूर्वक नमस्कार किया, जो (हस्त) धर्मरूपी वृक्ष का प्रथम उत्पन्न हुआ नवीन पल्लव-सरीखा है[6] । जिसकी कान्ति सांसारिक समस्त व्यसन (मद्यपान-आदि दुःख) रूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल के प्रभापटल-सी है[7] । मानों—जिसने विस्तृत नख-किरणों से कानों के समीप सरस्वती नदी का प्रवाह ही प्रसारित किया है[8] और जो केश-प्रान्त रूपी तड़ाग में उत्पन्न हुए कमलों की अध

१. मर्यादा । २. श्रिताः ये शत्रवः । ३. नृपस्य । ४. सूनुः पुत्रोऽयम् । ५ से ८. उत्सुका ये क्षुद्रास्त एव सर्पास्तेषां विनाशकरणे गरुड़ः । ९. कामदेवः । १०. मातुः । ११-१२. लघुभ्राता पश्चाज्जन्मपर्यायः, अर्थात्—गृहस्था-पेक्षयाऽयमस्मिल्लघुभ्रातेत्यर्थः । १३. अयं मारिदत्तः । १४. दुष्टलोकोपदेशानामवसरो यस्य सः । १५. काचिन्नदीनाम ।
१६. यथा शुक्त्युदरगतं पानीयं मृद्वपि संपुटोद्घाटनं विना गृहीतुं न शक्यते, तद्वदयं दुरुपदेशेन कठिनबुद्धिः पूर्वं ।
१७. इदानीं तु अस्मदागमनवेलेव शलाका तया आसादितसूत्रप्रवेशमार्गः । अर्थात्—अधुना श्रीमद्भिरुपदेशशास्त्रं कथनीय-मिति भावः । १८. ईदृशेन हस्तयुगलेन । १९. प्रसारितकर्णसमीप । २०. प्रान्त एव तडाग । २१. कमल ।
२२. हस्तयुग्मेन ।

1. रूपकालंकारः । 2. रूपकालंकारः । 3. रूपकालंकारः । 4. उपमालंकारः । 5. रूपक व उपमालंकारः ।
6. उपमालंकारः । 7. रूपक व उपमालंकारः । 8. उत्प्रेक्षालंकारः ।

संसितशिखण्डः[1] प्रणम्यानाकुलमनाः [2]प्रत्याक्षिप्तव्याक्षेपैनाः परलोकोपायपरामर्शपवित्रप्रकृतिः शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशपेशलमतिः[4] सुदत्तभगवन्तमभयरुचिविरचितावसरोचितमेवं किलाभाषत—

'भगवन्,

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः। किंरूपः किंभेदः किमुपायः किंफलश्च जायेत ॥४॥'

भगवानाह—'राजन्, समाकर्णय।

यस्मादभ्युदयः[5] पुंसां निःश्रेयस[6]फलाश्रयः। वदन्ति [7]विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥५॥
स[8] प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थे[9]तरगोचरः। प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात्[10] ॥६॥

राजाह—'किं पुनर्भगवन्मुक्तेः कारणम्, किं च संसारस्य, को वा गृहाश्रमिणां धर्मः, कश्च संयमिलोकस्य।'

खिली कलियों-सरीखा था। फिर निराकुल मनोवृत्तिवाले व चित्त-व्याकुलता एवं पाप-प्रवृत्ति निराकृत (त्यक्त) करनेवाले तथा पारलौकिक उपाय की विचारधारा से पवित्र प्रकृति वाले मारिदत्त महाराज ने, जिसकी बुद्धि, शुश्रूषा (शास्त्र व शिष्ट पुरुषों के हितकारक उपदेश को श्रवण करने की इच्छा), श्रवण (हितोपदेश का सुनना), ग्रहण (शास्त्र के विषय का उपादान), धारण (शास्त्र-आदि के विषय को न भूलना), विज्ञान (अनिश्चय, सन्देह (संशय) व विपरीत ज्ञान इन मिथ्याज्ञानों से रहित यथार्थज्ञान होना), ऊह (निश्चित धूम-आदि पदार्थों के आधार (ज्ञान) से दूसरे अग्नि-आदि पदार्थों का उसी प्रकार निश्चय करना), अपोह (महापुरुषों के उपदेश और प्रबल युक्तियों द्वारा प्रकृति, ऋतु व शिष्टाचार से विरुद्ध पदार्थों (अनिष्ट आहार, विहार एवं परस्त्री-सेवन-आदि विषयों) में अपनी हानि या नाश का निश्चय करके उनका त्याग करना) एवं तत्त्वाभिनिवेशः (उक्त विज्ञान, ऊह और अपोह-आदि के सम्बन्ध से विशुद्ध हुए 'यह ऐसा ही है अन्य प्रकार नहीं है' इस प्रकार का दृढ़ निश्चय) इन बुद्धि-गुणों से मनोज्ञ है, पूज्य सुदत्ताचार्य से, जिनके लिए अभयरुचि क्षुल्लक द्वारा अवसरानुकूल वृत्तान्त निरूपण कर दिया गया है, निश्चय से निम्न प्रकार प्रश्न किये (धर्मविषयक जिज्ञासा की)—

'भगवन्? निश्चय से यह प्राणी धर्म से संसार में सुखी होता है, उस धर्म का क्या स्वरूप है? और उसके कितने भेद हैं? एवं उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है? और उसका क्या फल है? ॥ ४ ॥'

आचार्य—'राजन्! श्रवण कीजिए। जिन सत्कर्तव्यों के अनुष्ठान से मनुष्यों को स्वर्ग (इष्ट शरीर, इन्द्रिय व विषयों की प्राप्ति लक्षणवाला) और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसे आगमवेत्ता धर्माचार्य 'धर्म' कहते हैं ॥ ५ ॥ उसका स्वरूप प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप है। अर्थात्—मोक्ष के कारणों (सम्यग्दर्शन-आदि) के पालन करने में प्रवृत्त होने को प्रवृत्ति और संसार के कारण (मिथ्यादर्शनादि) से बचने को निवृत्ति कहते हैं। वह धर्म गृहस्थधर्म और मुनिधर्म के भेद से दो प्रकार का है ॥ ६ ॥

राजा—'भगवन्! मोक्ष का कारण (मार्ग) क्या है? और संसार के कारण क्या हैं? गृहस्थ धर्म क्या है व मुनि धर्म क्या है?'

---

१. मुकुटीकृतमस्तकः। २. निराकृतचित्तव्याकुलत्वं पापं च। ३. विचारण। ४. अभिप्राय। ५. अभ्युदयः—इष्टशरीरेन्द्रियविषयप्राप्तिलक्षणः स्वर्गः। ६. निःश्रेयसं निखिलमलविलयलक्षणं। ७. आम्नायः आगमः। ८. सः धर्मः। ९. यति। १०. मिथ्यात्वादेर्निवृत्तिः सम्यक्त्वव्रतप्रवृत्तिरेव धर्मः।

भगवान्—सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणम् । संसारस्य च *मीमांस्यं मिथ्यात्वादि[1]चतुष्टयम् ॥७॥

सम्यक्त्वं भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु । मोह[2]सन्देह[3]विभ्रान्ति[4]वर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥८॥

कर्मादाननिमित्तायाः क्रियायाः परमं शमम् । चारित्रोचितचा[5]तुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥९॥

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रविपर्ययपरं मनः । मिथ्यात्वं त्रिषु[6] भाषन्ते सूरयः सर्ववेदिनः ॥१०॥

अत्र दुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसां प्रवर्तितप्राकृत[7]लोका[8]नोकुहोन्मूलनसमयस्रोतसां सदाचाराचरण-चातुरीचिदूरवर्तिनां परवादिनां मुक्त्युपाये स्वरूपे च बहुधा[9] खलु प्रवादाः । तथाहि—'सकलनि[10][11]ष्कलाप्तप्राप्तमन्त्रतन्त्रापेक्ष[12]दीक्षालक्षणाच्छ्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्षः' इति सैद्धान्तवैशेषिकाः,[13] *द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषा-

आचार्य—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की प्राप्ति मोक्ष का मार्ग है एवं मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय व योग संसार के कारण समझने चाहिए ॥ ७ ॥ युक्ति-सिद्ध पदार्थों (जीव-अजीव-आदि नव पदार्थों) में दृढ़ श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं और अज्ञान, सन्देह व भ्रान्ति से रहित हुए ज्ञान को 'सम्यग्ज्ञान' कहा जाता है ॥ ८ ॥ महामुनियों ने ज्ञानावरणादि कर्मबंध की कारण मनोयोग, वचन-योग व काययोग तथा कषायरूप पाप क्रियाओं के त्याग करने को सम्यक्चारित्र कहा है ॥ ९ ॥ सर्ववेत्ता आचार्य, ऐसी मानसिक प्रवृत्ति को, जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को विपरीत करने में तत्पर हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीन विषयक मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्या-चारित्र) कहते हैं ॥ १० ॥

मुक्ति के विषय में अनेक मान्यताएँ—मिथ्याशास्त्रों की वासनारूपी कामिनी से वासित चित्तवाले अन्य मतानुयायी वादियों की, जिनके सिद्धान्तरूपी जल-प्रवाह अज्ञानी मनुष्य-समूहरूपी वृक्षों के उखाड़ने में गतिशील हैं एवं जो सदाचार के पालन की चतुराई से दूरवर्ती हैं, मुक्ति के मार्ग में व स्वरूप में अनेक प्रकार की मान्यताएँ हैं।

१. जैसे—'सैद्धान्त वैशेषिक' (वेद को मुख्यता से प्रमाण मानने वाले कणाद ऋषि के अनुयायी) मानते हैं कि—ऐसी दीक्षालक्षण वाली श्रद्धामात्र के अनुसरण से मुक्ति होती है, जिसमें सगुण शिव (सशरीर—पार्वतीकान्त) व निर्गुण (परमशिव) परमगुरु या ईश्वर से प्राप्त हुए मन्त्रों (वैदिक-ऋचाओं या वैदिक मन्त्रों, जो कि निरुक्त के अनुसार तीन प्रकार के हैं, परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत व आध्यात्मिक अथवा वेदों का मन्त्र भाग जो ब्राह्मण से भिन्न है) व तन्त्रों (उपायों—यज्ञादि कर्मकाण्ड पद्धतियों) की अपेक्षा (वाञ्छा) वर्तमान है।'

२. तार्किक वैशेषिक मानते हैं कि 'द्रव्य (पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये ९ द्रव्य), गुण (रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व,

*. विचार्यं । १. मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः । २. मोहः अज्ञानं । ३. इदं तत्त्वमिदं वाऽतत्त्वमिति चलन्ती प्रतिपत्तिः संशयः सन्देहः । ४. अतत्त्वे तत्त्वाध्यवसायो भ्रान्तिः । ५. महामुनयः । ६. सम्यक्त्वज्ञानचारित्रेषु मिथ्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानं, मिथ्याचारित्रं चेत्यर्थः । ७. अज्ञानिजन । ८. लोका एव वृक्षाः । ९. स्वरूपे । १०. स्वभावाः । ११. पार्वतीपतिः परमशिवश्चैव गुरुस्तस्मात्प्राप्तः । १२. वाञ्छामन्त्रतन्त्रादिरुचिरेव । १३. मोक्षं मन्यन्ते ।

*. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' ॥—वैशे० द० १-४ ।

भावाभिधानानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्राज्ज्ञानमात्रात्' इति तार्किकवैशेषिकाः, 'त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्या[3] [4]गल्लुकप्रदानप्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनु[5]ष्ठानात्' इति पाशुपताः, 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्तवृत्तात्' इति कुलाचार्यकाः। तथा च [7]त्रिकमतोक्तिः— [8]'मदिरामोदमेदुर[9]वदनस्तर[10]सरसप्रसन्नहृदयः [11]सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्तिः[12] [13]शक्तिमुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणः [14]कृष्णया [15]पार्वतीश्वरमाराधयेदिति। 'प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकमतेः ख्यातेः' इति सांख्याः, 'नैरात्म्यादिनिवेदितसंभावनातो भावनातः' इति

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शब्द, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म ये २४ गुण), कर्म (उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण व गमन ये ५ कर्म), सामान्य (पर व अपर ये दो सामान्य), विशेष (नित्यद्रव्य-वृत्ति अनन्त विशेष पदार्थ), समवाय और अभाव (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव व अन्योन्याभाव ये ४ अभाव) इन सात पदार्थों के सदृशधर्म व वैधर्म्य मलक शास्त्र संबंधी तत्त्वज्ञानमात्र से मोक्ष होता है'।

३. पाशुपतों—शैवों—की मान्यता है कि 'प्रातः मध्याह्न व सायंकाल भस्म लगाना, शिवलिङ्ग की पूजा करना, गड्डुक-प्रदान (मुख के भीतर बकारी के शब्द का अनुकरण करना अथवा शिव लिङ्ग के सामने जल-पात्र को स्थापित करना), चारों ओर से शिव-लिङ्ग की प्रदक्षिणा करना एवं आत्म-विडम्बन (पंचाग्नि तपश्चर्या-आदि) आदि क्रियाकाण्ड मात्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है।'

४. कुलाचार्यकों (कौल मार्गानुयायियों) ने कहा है कि 'समस्त पीने योग्य, न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य पदार्थों के खाने पीने में निःशङ्क चित्तवृत्ति पूर्वक प्रवृत्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है' कौलमत (सांख्यमत) का कथन यह है कि 'ऐसा मानव मुक्ति प्राप्त करता है, जिसका मुख मद्य की सुगन्धि से सुगन्धित है, जिसका हृदय मांस-रस से प्रसन्न है, जिसने अपने वाम पार्श्वभाग में शक्ति (स्त्री-शक्ति) स्थापित की है, जो स्त्रीशक्ति, मुद्रा (योनि मुद्रा) व आसन का धारक है और जो स्वयं उमा (पार्वती परमेश्वरी) व महेश्वर-(श्री शिव) सरीखा आचरण कर रहा है, एवं जिसे मद्य-पान से उमा व श्रीशिव की आराधना करनी चाहिए।

५. सांख्यदर्शनकार की मान्यता है कि प्रकृति (महान् (बुद्धि) व अहंकार एवं इन्द्रिय-आदि तत्त्वों का उत्पादक अचेतन (प्रधान पदार्थ) और पुरुष (चैतन्यरूप आत्मा) के भेदज्ञान से मुक्ति होती है। भावार्थ—प्रस्तुत भेदज्ञान की प्राप्ति के लिए महान्, अहंकार व इन्द्रियादि तत्त्वों का, जो कि प्रकृति के परिणामभूत हैं, संकलन किया गया है। अन्यथा पुरुष (आत्मा) की उपाधिरूप बुद्धि, मन, प्राण व शरीर-आदि से आत्मा में भेद ज्ञान भली भाँति नहीं जाना जा सकता। अतः प्रकृति व पुरुष का अभेद ज्ञान ही संसार है और इन दोनों के भेद ज्ञान से मुक्ति-लाभ होता है।

६. बुद्ध के शिष्यों (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक भेद से चार प्रकार के बुद्धमतानुयायियों) ने कहा है, आत्मशून्यता-आदि तत्त्वों की शास्त्रनिरूपित अभ्यास वाली भावना से मुक्ति होती है। भावार्थ—बौद्ध सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति इस प्रकार भावना-

१. द्रव्य ९, गुण २४, कर्म ५, सामान्य २, समवाय १, असदृशः पदार्थः, पदार्थाभावश्च। २. भस्मगात्रलक्षण।
३. पूजा। ४. गाल्लवाल गाड़ टालनुवा ? ५. कर्तव्यात्। ६. कौलाः। ७. सांख्यः। ८. मद्येन। ९. सरस।
१०. मांसं। ११. वाम। १२. स्त्रीशक्तिः। १३. योनिमुद्रा। १४. मदिरया। १५. ईश्वरं।

दशबल[1]शिष्याः, 'अङ्गाराञ्जनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य *न कुतश्चिद्विशुद्धचित्तवृत्तिः' इति जैमिनीयाः, 'सति धर्मिणि[2] धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलो[3]किनोऽभावात्परलोकाभावे कस्यासौ मोक्षः' इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्याः बार्हस्पत्याः[4], 'परमब्रह्मदर्शनवशादशेषभेदसंवेदना [5]विद्याविनाशात्' इति वेदान्तवादिनः,

'नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमञ्जसा। विचा[6]रगोचरातीतेः शून्यता श्रेयसी ततः ॥ ११ ॥'

चतुष्टय से मुक्ति मानते हैं। अर्थात्—समस्त जगत् क्षणिक, दुःखरूप, स्वलक्षणात्मक व शून्यरूप है, इस प्रकार चार प्रकार की भावना से मुक्ति होती है।

७. जैमिनीय (मीमांसकविशेष) कहते हैं कि जैसे स्वभाव से विशेष मलिन कोयला व अञ्जन-आदि पदार्थ किन्हीं उपायों से विशुद्ध नहीं हो सकते वैसे ही स्वभाव से विशेष मलिन आत्मा की मनोवृत्ति भी किन्हीं उपायों (तपश्चर्या-आदि) से विशुद्ध नहीं हो सकती।

८. समस्त नास्तिकों का स्वामित्व प्राप्त किये हुए बृहस्पति के अनुयायियों (चार्वाक मतानुयायियों) ने कहा है कि 'जब धर्मी (आत्मा-आदि पदार्थ) स्वतन्त्ररूप से सिद्ध होता है तब उसके धर्मों (ज्ञानादिगुणों) का विचार किया जाता है परन्तु जब परलोक में गमन करने वाले आत्मद्रव्य का अभाव है तब परलोक का भी अभाव है तब मुक्ति किसे होगी? भावार्थ—प्रस्तुत दर्शनकार 'देह एवात्मा तदतिरिक्तस्यात्मनोऽदर्शनात्' अर्थात्—शरीर को ही आत्मा मानता है, क्योंकि उससे भिन्न आत्मद्रव्य की प्रत्यक्ष से प्रतीति नहीं होती। उसकी मान्यता है कि यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' ॥ १ ॥

अर्थात्—तपश्चर्या-आदि क्लेशपूर्वक जीने से भी मृत्यु अवश्यम्भावी है, अतः उसका कष्ट उठाना व्यर्थ है, इसलिए जीवनपर्यन्त सुख भोगो। शङ्का—जन्मान्तर में विशेष स्थायी सुख की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या का कष्ट-सहन उचित है। उत्तर—जब शरीर ही आत्मा है और वह मरणकाल में भस्मीभूत हो चुका है, उसका पुनरागमन कैसे हो सकता है? अर्थात्—न परलोकगमन है और न जन्मान्तर-प्राप्ति सिद्ध है तब निरर्थक तपश्चर्या का क्लेश सहन क्यों किया जाय? इत्यादि।

९. वेदान्तवादियों ने कहा है कि परब्रह्म के दर्शन होने से समस्त भेदज्ञान करानेवाली अविद्या (माया—अज्ञान) के विनाश से मुक्ति होती है। अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से 'विप्रचाण्डालादिवर्णावर्णसारनिःसारपदार्थपरिज्ञानं सा अविद्या' अर्थात्—ब्राह्मण व चाण्डाल-आदि उच्चवर्ण व नीचवर्ण के समस्त मानव-आदि पदार्थों में क्रमशः सार व निस्सार रूप भेदज्ञान प्रकट करना ही अविद्या है। उसके नाश से परब्रह्म का दर्शन होना ही मोक्ष है।

भावार्थ—'मूलाज्ञाननिवृत्तौ स्वस्वरूपाधिगमो मोक्षः', अर्थात्—सत्त्वरजस्तमोमय जगत की मूलकारण अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति होने पर ऐसे परब्रह्म के स्वरूप का बोध होने से मुक्ति होती है, जो कि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अर्थात्—जो सत्य, चिद्रूप व अनन्त है। शाङ्करभाष्य[7] में भी कहा है।

१. दशबलो बुद्धः। *. न 'कुतश्चिद्विशुद्धिरितिजैमिनीयाः' (क)। २. आत्मनि। ३. आत्मनः। ४. चार्वाकाः।
५. विप्रचाण्डालादिवर्णावर्णसारनिःसारपदार्थपरिज्ञानं सा अविद्या तस्या विनाशात्। ६. विचाररहितत्वात्।
७. तथा च शाङ्करभाष्ये—अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।
अर्थात्-अविद्या (अज्ञान-माया) की निवृत्ति मोक्ष है और अविद्या ही बन्ध है। सर्वदर्शन संग्रह पृ० ४०२ से संकलित—सम्पादक

इति पश्यतोहराः प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः शाक्यविशेषाः[1], तथा 'ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मुक्तिः' इति काणादाः। तदुक्तम्—

वहिः शरीराद्[2] यद्रूपमात्मनः[3] संप्रतीयते। उक्तं तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना ॥ १२ ॥'

'निराश्रय[4] चित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षणः' इति ताथागताः[5]। तदुक्तम्—

दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः[6] स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १३ ॥
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः[8] क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १४ ॥

प्रत्यक्ष-प्रतीत वस्तु का अपहरण करने वाले व सर्वथा शून्यतारूपी एकान्त अन्धकार को प्रकाशित करने वाले माध्यमिक बौद्धों ने कहा है—'इस लोक में निश्चय से न तो कोई अन्तरङ्गतत्व (आत्मा-आदि पदार्थ) है और न बाह्यतत्व (घट-पटादि) है, क्योंकि प्रस्तुत दोनों तत्व विचार-रहित हैं। अतः शून्यता ही कल्याण करने वाली है। अर्थात्—शून्यतत्व की भावना से ही मुक्ति होती है ॥ ११ ॥'

भावार्थ—यद्यपि बुद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध एक ही थे परन्तु उनके शिष्यों की बुद्धि के भेद से उनके चार भेद हो गये हैं। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक। और ये क्रमशः सर्वशून्यता, बाह्यार्थशून्यता, बाह्यार्थानुमेयत्व और बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद मानते हैं। जैसे 'गतोऽस्तमर्कः, (सूर्य अस्त हो चुका है) ऐसा कहने पर जैसे जार, चोर और अनूचान (वेदवेत्ता) क्रमशः अभिसरण, परद्रव्यापहरण एवं सदाचार-पालन का समय निर्णय करते हैं वैसे ही प्रस्तुत चारों (माध्यमिक-आदि) 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यं ,ऐसी भावना-चतुष्टय से मुक्ति मानते हैं।

उनमें माध्यमिक बौद्धों का कहना है कि जब समस्त जगत् क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण व शून्यरूप है तब उसमें स्थिरशीलता, सुख, अनुगतत्व (द्रव्यता) व सर्वसत्यता का अभाव सुतरां सिद्ध हो गया, ऐसा होने से आखिर में सर्व शून्यता ही सिद्ध होती है, अतः इसकी भावना से मुक्ति होती है।1 कणाद ऋषि के अनुयायियों की मान्यता है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म व संस्कार इन नौ आत्मिक गुणों का अत्यन्त उच्छेद (नाश) होना ही मुक्ति है।2

वैशेषिकदर्शन में कहा है—'आत्मा का शरीर से बाह्यप्रदेश (आकाश) में जो स्वरूप (निर्गुण—जड़-रूप) प्रतीत होता है। अर्थात्—जैसे शरीर-स्थित आत्मा में उक्त सुख-आदि गुण पाये जाते हैं, परन्तु शरीर से बाह्यप्रदेश (आकाश) में वर्त्तमान आत्मा में उक्त सुखादि गुण नहीं होते। अतः बाह्यप्रदेश में उसका स्वरूप उक्त गुणों से रहित (निर्गुण—जड़रूप) है वही स्वरूप कणाद मुनि ने मुक्त आत्मा का बतलाया है ॥ १२ ॥'

बौद्धों की मान्यता है कि 'निरन्वय (सन्तान-रहित) चित्तक्षण की उत्पत्ति लक्षणवाला मोक्षक्षण (पदार्थ) है'। कहा भी है—जैसे बुझता हुआ दीपक न किसी दिशा (पूर्व-आदि) को जाता है न किसी विदिशा (ऐशान-आदि), को जाता है और न पृथिवी व आकाश की ओर जाता है, किन्तु तैल के नष्ट हो

---

१. बौद्धास्तेऽपि चिप्रकाराः सन्ति। २. आत्मनां जडतारूपं। ३. आत्मनः। ४. निराश्रयं निरन्वयं। ५. ताथागताः बौद्धाः। ६. विनाशं। ७. प्राप्तः। ८. दीपवत् स्थानरहितः मोक्षावसरः। ९. अनित्यभावनया दुःखस्य विनाशो भवति।

1. देखिए सर्वदर्शन संग्रह पृ० १९, व पृ० २९। 2. देखिए सर्वदर्शन संग्रह—उपोद्घात प्रकरण पृ० ५३।

'बुद्धिमनोऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्[1]वा पुंसः[2] स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः' इति कापिलाः,[3] 'यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परब्रह्मणि लीयते' इति ब्रह्माद्वैतवादिनः।

अज्ञातपरमार्थानामेवमन्येऽपि दुर्नयाः। मिथ्यादृशां न गण्यन्ते जात्यन्धानामिव द्विपे ॥१५॥

(स्वगतम्।)

प्रायः संप्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम्। निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥१६॥
दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येयाः मतिस्तद्वशवर्तिनी। किं न कुर्युर्महीं धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥१७॥
दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुंसि करोतु किम्। कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ॥१८॥
इतं[4] युक्तिः यदेवात्र तदेव परमार्थसत्। भानुदीप्तिवत्तस्याः[5] पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥१९॥

जाने से केवल शान्ति प्राप्त करता है वैसे ही निर्वृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त हुआ आत्मा भी किसी दिशा, विदिशा, पृथिवी मण्डल और आकाश की ओर नहीं जाता किन्तु [पूर्वोक्त सर्वं क्षणिकं क्षणिकं-आदि चतुर्विध भावना से] समस्त दुःखों का क्षय करके केवल शान्ति-लाभ करता है ॥ १३–१४ ॥

कपिल ऋषि के अनुयायियों ने कहा है—'समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों को शान्त करने वाला बुद्धि, मन व अहंकार का विरह (संबंध-विच्छेद) हो जाने से पुरुष (आत्मा) की अपने चैतन्य स्वरूप में स्थिति होना ही मुक्ति है।' भावार्थ—सांख्यदर्शनकार पुरुषतत्व (आत्मा) को अकर्ता (पुण्य पाप-कर्मों का बन्ध न करनेवाला) व असङ्ग (कमलपत्र सरीखा निर्लेप) व कूटस्थनित्य मानते हैं।* जब यह प्रकृति-पुरुष के भेद-विज्ञान से प्रकृति का संसर्ग-त्याग कर अपने ऐसे शान्त चैतन्य स्वरूप में अवस्थान करता है, जो कि ज्ञातृ-ज्ञेयभाव से शून्य है। अर्थात्—उस समय किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता तब मुक्ति होती है।[1]

ब्रह्माद्वैतवादी मानते हैं कि—जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश (घट से रोका हुआ आकाश) आकाश में मिल जाता है वैसे ही शरीर के नष्ट हो जाने पर समस्त प्राणी परब्रह्म में लीन हो जाते हैं यही मुक्ति है।

[प्रस्तुत आचार्य ने मारिदत्त महाराज से कहा—हे राजन्!] जैसे जन्मान्ध मनुष्यों की हाथी के विषय में विचित्र कल्पनाएँ होती हैं वैसे ही परमार्थ को न जाननेवाले मिथ्यामतवादियों की मुक्ति के विषय में अन्य भी अनेक मान्यताएँ हैं, उनकी गणना करना भी कठिन है ॥ १५ ॥ [अब मोक्ष के विषय में अन्य मतों की मान्यताएँ बतलाकर आचार्य मन में निम्न प्रकार विचार करते हैं—] आजकल मिथ्यादृष्टियों के लिए सन्मार्ग का उपदेश प्रायः उनको वैसे कुपित करने के लिए होता है जैसे नकटे को स्वच्छ दर्पण दिखाना उसके कुपित करने के लिए होता है ॥ १६ ॥ [लोक में] असंख्यात दृष्टान्त हैं, उन्हें सुनकर मानवों की बुद्धि उनके अनुकूल हो जाती है, अतः धूर्त लोग उनकी सामर्थ्य से क्या इस पृथिवी तल के मनुष्यों को विवेक-शून्य नहीं करते? ॥ १७ ॥ जैसे मेघ जल-वृष्टि से काले पत्थर के टुकड़ों में कोमलता नहीं ला सकता वैसे ही विद्वान् पुरुष भी खोटी हठरूपी ग्रह से ग्रस्त हुए पुरुषों को सन्मार्ग पर लाने के लिए क्या कर सकता है? अपितु कुछ नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ फिर भी लोक में युक्ति जिस वस्तु को सिद्ध करने के लिए प्राप्त होती है वही सत्य है; क्योंकि सूर्य के प्रकाश की तरह युक्ति का किसी में पक्षपात नहीं होता ॥ १९ ॥

---

१. प्रवाहात्। २. आत्मनः। ३. सांख्याः। ४. गच्छति। ५. युक्तेः। *. देखिए यश० चं० आ० ५ का श्लोक नं० ९२।

1. सर्वदर्शन संग्रह उपोद्घात पृ० ५३ से संकलित।

(प्रकाशम् ।)

श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेयःसंश्रयाय न केवला । बुभुक्षितवशात्पाको जायते किमुदुम्बरे ॥२०॥
पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षयः । दृश्येत यदि को नाम कृती क्लिश्येत संयमैः ॥२१॥
दीक्षाक्षणात्परात्पूर्वं ये दोषा भवसंभवाः । ते पश्चादपि दृश्यन्ते तन्न सा मुक्तिकारणम् ॥२२॥
ज्ञानादवगमोऽर्थानां न तत्कार्य[1]समागमः । तर्षापकर्षयोगि स्याद्दृष्टमेवान्यथा[2] पयः ॥२३॥
ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम् । तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥२४॥

अथानन्तर प्रस्तुत आचार्य मारिदत्त महाराज के समक्ष पूर्वोक्त सैद्धान्त वैशेषिक-आदि दार्शनिकों की मुक्ति विषयक मान्यताओं की समीक्षा करते हुए निम्न तीन श्लोकों द्वारा सैद्धान्त वैशेषिकमत की मीमांसा करते हैं—मुमुक्षु प्राणियों को केवल तत्त्वार्थों की श्रद्धा मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ नहीं है। क्या भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर फल पक जाते हैं ? अपि तु नहीं पकते। अर्थात्—जैसे भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर नहीं पकते किन्तु प्रयत्न से पकते हैं वैसे ही तत्त्वार्थों की श्रद्धामात्र से मुक्ति नहीं होती किन्तु सम्यक्-चारित्ररूप प्रयत्न से साध्य है ॥ २० ॥ जैसे लोक में मारण व उच्चाटन-आदि मन्त्र पात्रावेश (मनुष्यादि पात्रों में प्रविष्ट होकर) कार्य-सिद्धि (मारण व उच्चाटन-आदि) करते हैं वैसे ही यदि केवल वैदिक मन्त्रों की आराधना मात्र से आत्मिक दोषों (मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम) के ध्वंस से मुक्ति होती हुई दृष्टिगोचर होवे तब तो लोक में कौन कुशल पुरुष दीक्षा धारण करके चारित्र-पालन द्वारा मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए कष्ट-सहन करेगा ? ॥ २१ ॥ जब दीक्षित पुरुषों में दीक्षा-धारण के अवसर से पूर्व में जो सांसारिक दोष (मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम-आदि) वर्तमान थे वे उनमें दीक्षा धारण के पश्चात् भी देखे जाते हैं, अतः केवल दीक्षा-ही मुक्ति का कारण नहीं है ॥ २२ ॥

भावार्थ—पूर्व में सैद्धान्त वैशेषिकों की मुक्ति-विषयक मान्यता का निरूपण करते हुए कहा है कि वे वैदिक मन्त्रों व तन्त्रों (यज्ञादि कर्मकाण्ड-पद्धतियों) की अपेक्षावाली दीक्षा धारण करने से और उन पर श्रद्धा-मात्र रखने से मोक्ष मानते हैं उनकी मीमांसा करते हुए आचार्य ने कहा है कि न केवल श्रद्धा से ही मोक्ष हो सकता है और न मन्त्र तन्त्र पूर्वक दीक्षाधारण करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जैसे प्रयत्न से ऊमर पकते हैं, न कि भूखे मनुष्य की इच्छामात्र से। वैसे ही तत्त्वार्थों की श्रद्धामात्र से मुक्ति नहीं होती किन्तु सम्यक्चारित्ररूप प्रयत्न से साध्य है। इसी तरह दीक्षाधारण कर लेने मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि दीक्षा धारण कर लेने पर भी यदि चारित्र धारण द्वारा सांसारिक दोषों के विनाश का प्रयत्न न किया गया तो वे दोष दीक्षा धारण के पूर्व की तरह बाद में भी बने रहेंगे तब मुक्ति कैसे होगी ? इसी कारण कुशल-पुरुष दीक्षा धारण करके संयम के पालन का कष्ट उठाते हैं। अतः केवल दीक्षा या श्रद्धा मोक्ष को कारण नहीं हो सकती ॥ २०-२२ ॥

२. अब आचार्य तार्किक वैशेषिकमत की समीक्षा करते हैं—

ज्ञान मात्र से पदार्थों का निश्चय हो जाता है परन्तु उससे अभिलषित वस्तु (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती, अन्यथा—यदि ज्ञान से अर्थ-प्राप्ति होती है, ऐसा कहेंगे—तब तो 'यह जल है' ऐसा ज्ञान मात्र होने पर प्यास को शान्ति होनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि यदि ज्ञानमात्र से पदार्थ-समागम होता है तो ज्ञातमात्र जल, पान किये विना भी तृषाच्छेदक (प्यास बुझाने वाला) होना चाहिए ॥ २३ ॥

---

१. अर्थ । २. चेत् ज्ञानमात्रेण पदार्थस्य समागमो भवति तर्हि दृष्टं ज्ञातमात्रं जलं पानं विनापि तृषाच्छेदकं भवति ।

ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् । ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥२५॥

उक्तं च—

हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया । धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥२६॥
निःशङ्कारम्भप्रवृत्तेः[1] स्याद्यदि मोक्षसमीक्षणम् । ठकसूनाकृतां[2] पूर्वं पश्चात्कौलेष्वसौ[3] भवेत् ॥२७॥
अव्यक्त[4]नरयो[5]र्नित्यं* नित्य[6]व्यापिस्वभावयोः । विवेकेन[7] कथं ख्यातिः[8] सांख्यमुख्याः प्रचक्षते ॥२८॥
सर्वं चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् । तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्तिः स्याद्विप्रलम्भिनाम्[9] ॥२९॥

३. पाशुपत (शैव) मत-मीमांसा (३ श्लोकों द्वारा)—ज्ञान-हीन पुरुष की क्रिया फल देनेवाली नहीं होती। अर्थात्—ज्ञान के बिना केवल चारित्र से मुक्ति नहीं होती, जैसे जन्म से अन्धा पुरुष अनार-आदि वृक्षों के नीचे पहुँच भी जावे तो क्या उसे छाया को छोड़कर अनार-आदि फलों की शोभा प्राप्त हो सकती है अपि तु नहीं हो सकती उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान के बिना केवल आचरण मात्र से मुक्ति-श्री की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २४ ॥ लँगड़े पुरुष को ज्ञान होने पर भी चारित्र (गमन) के बिना वह अभिलषित स्थान पर नहीं पहुँच सकता एवं अन्धा पुरुष ज्ञान के बिना केवल गमनादि रूप क्रिया करके भी अभिलषित स्थान में प्राप्त नहीं हो सकता और श्रद्धा-हीन पुरुष की क्रिया और ज्ञान निष्फल होते हैं। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मुक्ति के कारण है ॥ २५ ॥ शास्त्रकारों[10] ने भी कहा है—क्रिया (चारित्र—आचरण) से शून्य ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानी की क्रिया भी व्यर्थ है। जैसे देखिए एक जंगल में आग लगने पर अन्धा पुरुष दौड़ धूप करता हुआ भी नहीं बच सका क्योंकि वह देख नहीं सकता था। और लँगड़ा मनुष्य आग को देखते हुए भी न भाग सकने के कारण उसी में जल मरा ॥ २६ ॥

४. कौलमत समीक्षा—यदि भक्ष्य-अभक्ष्य-आदि में (मद्य-मांस आदि में) निडर होकर प्रवृत्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है तब तो ठगों (चोरों) व वधकों (कसाई-आदि हत्यारों) को पहिले मुक्ति होनी चाहिए और बाद में कौलमार्ग के अनुयायियों को मुक्ति होनी चाहिए। क्योंकि ठग व वधिक लोग कुलाचार्यों की अपेक्षा पाप प्रवृत्ति में विशेष निडर होते हैं ॥ २७ ॥

५. सांख्य-मत-समीक्षा—जब सांख्यदर्शनकार प्रकृति व पुरुष (आत्मा) इन दोनों पदार्थों को सदा नित्य (सकलकालकलाव्यापि—शाश्वत रहने वाले) और व्यापक (समस्त मूर्तिमान पदार्थों के साथ संयोग रखनेवाले) मानते हैं तब उन दोनों की भेदबुद्धि वाली ख्याति (मुक्ति) कैसे कहते हैं? क्योंकि उक्त बात युक्ति संगत न होने से आश्चर्यजनक है।

अभिप्राय यह है जब आपके मत में प्रकृति व पुरुष दोनों नित्य हैं, अतः वे किसी काल में पृथक् नहीं हो सकते एवं दोनों व्यापक होने से किसी देश में भी पृथक् नहीं हो सकते तब आपको भेद बुद्धिवाली मुक्ति कैसे युक्ति संगत कही जा सकती है? ॥ २८ ॥

६. नैरात्म्य भावना से मुक्ति मानने वाले बौद्धों की समीक्षा—भावना से सभी शुभ-अशुभ वस्तु

१. भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयादिषु। २. वधक। ३. मोक्षः। ४. अव्यक्तं प्रधानं। ५. प्रकृतिजीवयोः। *. 'अव्यक्तेतरयोर्नित्यं' इति (क)। ६. अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थनित्यमिति नित्यस्य लक्षणं। ७. भेदेन। ८. मुक्तिः। ९. वियोगीनां वंचकानां। १०. तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० १४।

तदुक्तम्—

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये । मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन्नं व्यक्तम् ॥३०॥
स्वभावान्तरसंभूतिर्यत्र तत्र मलक्षय: । कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥३१॥
तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः । भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥३२॥

चित्त में स्पष्टरूप से झलकने लगती है। यदि भावनामात्र से या स्पष्ट अवलोकन मात्र से मुक्ति प्राप्त होती है तब तो वञ्चकों अथवा वियोगियों को भी मुक्ति होनी चाहिये। [क्योंकि वे भी भावना से कमनीय कामिनी-आदि इष्ट पदार्थों का स्पष्ट चिन्तन कर लेते हैं ॥ २९ ॥ कहा भी है—सब ओर से बन्द जेलखाने में सुई की नोंक द्वारा भेदने के लिए अशक्य—अत्यन्त गाढ़—अन्धकार के होते हुए और मेरे नेत्र बन्द कर लेने पर भी मुझे (चोर या जार को) अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई दिया।

भावार्थ—भावना से वस्तु का चिन्तनमात्र होता है, किन्तु प्राप्ति नहीं होती। अतः नैरात्म्य भावना से मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं हो सकती। अन्यथा वियोगियों या वंचकों को भी मुक्ति का प्रसङ्ग हो जायगा ॥ ३० ॥

७. अब जैमिनीय (मीमांसक) मत की मीमांसा करते हैं—जिस वस्तु (भव्यात्मा) में स्वभावान्तर (वैभाविक परिणति-मिथ्यात्व व अज्ञानादि) का सद्भाव है उसके मल (दोष—अज्ञानादि व आवरण—ज्ञानावरणादि) का क्षय उसके विध्वंसक कारणों (सम्यग्दर्शन-आदि उपायों) से वैसा किया जाना शक्य है जैसे खानि से निकले हुए मणि व मोती-आदि पदार्थों की मलिनता का क्षय उसके विध्वंसक कारणों (शाणोल्लेखन आदि उपायों) द्वारा किया जाता है। अर्थात्—योग्यतावाले अशुद्ध पदार्थ भी मणि-आदि की तरह उसके शुद्धि-साधनों से शुद्ध किये जा सकते हैं। भावार्थ—जैमिनी दर्शनकार ने जो घृष्यमाण अङ्गार का दृष्टान्त दिया था, वह असम्बद्ध है, क्योंकि लोक में किसी का मन शुद्ध और किसी का अशुद्ध देखा जाता है। अतः युक्ति-संगत यही है, जो भव्यात्मा आदि पदार्थ मलिन हैं उनकी शुद्धि मलिनता नष्ट करने वाले उपायों (सम्यग्दर्शन-आदि साधनों) से वैसी शक्य है जैसे खानि से निकले हुए सुवर्ण की किट्टकालिमा छेदन, भेदन अग्निपुट-पाक-आदि उपायों से दूर की जाती है। अथवा जैसे मणि व मोती-आदि वस्तुओं की मलिनता उसके विध्वंसक उपायों से दूर की जाती है। इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है ॥३१॥

अब आचार्य बृहस्पति (चार्वाक) मत की मीमांसा करते हैं—प्रकृति (शरीर व इन्द्रियादि) का ज्ञाता यह जीव (आत्मद्रव्य) सनातन (शाश्वत—अनादि अनन्त) है; क्योंकि 'तदहर्जस्तनेहातः'—उसी दिन उत्पन्न हुआ बच्चा [पूर्वजन्मसंबंधी संस्कार से] माता के स्तनों के दूध को पीने में प्रवृत्ति करता है।

भावार्थ—यह प्राणी पूर्व शरीर को छोड़ कर जब नवीन शरीर धारण करता है उस समय (उत्पन्न हुए बच्चे की अवस्था में) क्षुधा से पीड़ित हुआ पूर्वजन्म में अनेक बार किये हुए अभ्यस्त आहार को ग्रहण करके ही दुग्ध पानादि में प्रवृत्ति करता है। क्योंकि इसकी दुग्ध-पान में प्रवृत्ति और इच्छा, बिना पूर्वजन्म-संबंधी अभ्यस्त आहार के स्मरण के कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि वर्तमान समय में जब यह प्राणी क्षुधा से पीड़ित होकर भोजन में प्रवृत्ति करता है, उसमें पूर्व दिन में किये हुए आहारसंबंधी संस्कार से उत्पन्न हुआ स्मरण ही कारण है।[1] निष्कर्ष—इस युक्ति से आत्मा का पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

१. तथा च गौतमः—प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१॥ गौतमसूत्र अ. ३ आ० १ सूत्र २२वाँ।

भेदोऽयं यद्यविद्या स्याद्वैचित्र्यं जगतः कुतः । जन्ममृत्युसुखप्रायैर्विवर्तैर्मानिवर्तिभिः ॥३३॥
शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः । इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥३४॥

इसी प्रकार 'रक्षोदृष्टेः'—कोई मरकर राक्षस होता हुआ देखा जाता है। अर्थात्—ऐसा सुना जाता है कि 'अमुक का पिता-वगैरह मरकर श्मशान भूमि पर राक्षस हो गया'। फिर भला गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीवको माना जावे तो वह मरकर राक्षस—व्यन्तर कैसे हुआ? **निष्कर्ष**—इस युक्ति से आत्मा का भविष्य जन्म सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—'भवस्मृतेः'—किसी को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है। **अर्थात्**—यदि गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीव माना जावे तब जन्म से स्मृति-वाला मानव क्यों ऐसा कहता है? कि मैं पूर्वजन्म में अमुक नगर में अमुक कुटुम्ब में इस प्रकार था? **निष्कर्ष**—प्रस्तुत युक्ति से भी जीव का पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

शङ्का—जब यह जीव शरीराकार परिणत पृथिवी-आदि चार तत्वों से उत्पन्न हुआ है तब उसे गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त शरीर रूप ही मानना उचित है] इसका समाधान—'भूतानन्वयनात्'—यह जीव उक्त अचेतन पृथिवी-आदि तत्त्वों से उत्पन्न हुआ नहीं है, क्योंकि इसमें पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन अचेतन (जड़) पदार्थों का अन्वय (सत्ता मौजूदगी) नहीं पाया जाता।

भावार्थ—ऐसा नियम है कि उपादान कारण का अन्वय कार्य में पाया जाता है। जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट में मिट्टी का और तन्तुओं से उत्पन्न हुए वस्त्र में तन्तुओं का अन्वय (सत्ता) पाया जाता है। वैसे ही यदि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन अचेतन पदार्थों से जीव की उत्पत्ति हुई है तब तो पृथिवी-आदि की अचेतनता—जड़ता—का अन्वय जीवद्रव्य में भी पाया जाना चाहिए। परन्तु उसमें ऐसा नहीं है। अर्थात्—जीवद्रव्य में अचेतन पृथिवी-आदि भूतचतुष्टय का अन्वय नहीं पाया जाता। अतः जीवद्रव्य की पृथिवी आदि से उत्पत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इनके स्वरूप (अचेतनता) से जीवद्रव्य का स्वरूप (विज्ञान व सुख-आदि युक्तत्व) बिलकुल पृथक् है। अतः स्वरूप भेद से जीवद्रव्य स्वतन्त्र चेतन पदार्थ है और इसी तरह जन्म पत्रिका में लिखा जाता है कि 'इस जीव ने पूर्वजन्म में जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, ज्योतिष शास्त्र[1] उसके उदय को वैसा प्रकट करता है जैसे अन्धकार में वर्तमान घट-पटादि पदार्थों को दीपक प्रकाशित करता है।

निष्कर्ष—ज्योतिषशास्त्र द्वारा भी जीव का पूर्वजन्म सिद्ध होता है एवं प्रस्तुत श्लोक की वह युक्ति जीवद्रव्य को पृथिवी-आदि से भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करती है ॥३२॥

अब वेदान्तवादियों के मत की समीक्षा करते हैं—यदि आप ब्राह्मण व चाण्डालादि वर्णावर्ण भेद को अथवा जगत-भेद को अविद्याजन्य (अज्ञान-जनित) मानते हैं तब प्रमाणसिद्ध जन्म, मृत्यु व सुखप्राय पर्यायों से जगत् में विचित्रता (भेद) कहाँ से हुई? अर्थात्—अमुक का जन्म हुआ, अमुक की मृत्यु हुई, अमुक सुखी है और अमुक दुःखी है; इन प्रमाण-प्रसिद्ध पर्यायों से जब सांसारिक प्राणियों में भेद प्रमाण प्रसिद्ध है तब उसे अविद्या मानना भ्रम है ॥३३॥

१०. अब आचार्य शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत की समीक्षा करते हैं—जब आपने ऐसी प्रतिज्ञा

---

१. यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम् । व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥ १ ॥
यश० सं० उत्त० आ० ४ पृ० ९३ ।

बोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः[1] । सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्क्षतिरीक्ष्यते ॥३५॥

व्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे[2] मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम्[3] । न ह्यग्ना[4]वग्न्युष्णत्वाल्लक्ष्मलक्ष्यं विचक्षणैः ॥३६॥

किं च, सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता, मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम् ।

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव ॥३७॥

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत ।

अनेकजन्मसंततेर्यावद्याक्षय.[5] पुमान् । यस्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुतः क्षीयेत हेतुतः ॥३८॥

की कि 'मैं वादी (माध्यमिक बौद्ध) प्रमाण से शून्य तत्त्व को सिद्ध करता हूँ' तब आपका सर्वशून्यत्ववाद विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि प्रमाण तत्त्व के सिद्ध होजाने से शून्यतावाद कहाँ रहा ? ॥ ३४ ॥

११. [अब आचार्य मुक्ति में आत्मा के विशेष गुणों का विनाश मानने वाले वैशेषिक दर्शनकार कणाद ऋषि के मत की मीमांसा करते हैं] यदि मुक्ति-अवस्था में सांसारिक चक्षुरादि इन्द्रिय-जनित क्षायोपशमिक ज्ञान व सुख नहीं है तो मुक्ति संबंधी आत्मिक बोध (क्षायिक केवलज्ञान) व क्षायिक सुख है ही, ऐसी मुक्ति से तो हमें (आर्हतों-जैनों को) सिद्धसाध्यता हुई । अर्थात्—ऐसी मुक्ति हमें भी इष्ट है । तब हमारी कोई हानि नहीं देखी जाती ॥ ३५ ॥ समस्त पदार्थों के अवलोकन (ज्ञान) के विनाशलक्षणवाला मोक्ष मानने पर तो मुक्त आत्मा का लक्षण ही क्या होगा ? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तु के विशेष गुणों को ही वस्तु का लक्षण मानते हैं जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता है । यदि अग्नि की उष्णता नष्ट हो जाय तो फिर उसका लक्षण क्या होगा ? अर्थात्—उष्णता को छोड़ कर अग्नि का दूसरा लक्षण नहीं है, वैसे ही ज्ञान को छोड़कर जीव का दूसरा लक्षण नहीं है । अतः मुक्त जीव में ज्ञानादि का सद्भाव मानना युक्ति-संगत है । अन्यथा विशेष गुणों के बिना मुक्ति अवस्था में आत्मा का भी अभाव हो जायगा ॥ ३६ ॥

तथा आपके 'सदाशिव व ईश्वर-आदि संसारी हैं या मुक्त ? यदि संसारी हैं तो वे आप्त नहीं हो सकते ? यदि मुक्त हैं तो पतञ्जलि का यह कथन घटित नहीं होता 'ऐसा पुरुष-विशेष ईश्वर है, जो कि समस्त दुःखों* (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश), कर्मों (विहित व प्रतिषिद्ध या पुण्य-पाप), व विपाकों (कर्मफलों—जन्म, आयु—जीवनकाल व भोग) व आशयों (धर्म, अधर्म व संस्कार) से संस्पृष्ट नहीं है, ऐसे परम विशुद्ध वीतराग होने में उसकी अनोखी सर्वज्ञता बीज (कारण) है' । इसी प्रकार अवधूत विद्वान् का निम्न कथन भी संघटित नहीं होता । 'नित्य ऐश्वर्य, स्वाभाविक वीतरागता, नैसर्गिक तृप्ति, जितेन्द्रियता, आत्यन्तिक (अनंतसुख) और आवरण-शून्य शक्ति और समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान (सर्वज्ञता) ये प्रशस्त गुण हे भगवन् ! तेरे में ही हैं' ॥ ३७ ॥

१२. बौद्धमत-समीक्षा—जब कि इस जीव ने पूर्व में अनेक जन्म धारण किये तथापि अभी तक

---

१. चेत्—संसारसंबंधी बोधः सुखं च नास्ति तर्हि मुक्तिसंबंधी बोधः सुखं च भवत्येव तथा ईदृश्या मुक्त्याऽस्माकं सिद्धसाध्य सजातं न काचिद्धानिः । २. व्यक्षाः समस्ताः । समस्तपदार्थविलोकनविनाशलक्षणे ।

३. मोक्षी मुक्तः । मोक्षणः आत्मनः । ४. ज्ञानं विना जीवस्य लक्षणं न भवतीत्यर्थः ।

*. तथा च पातञ्जल योगसूत्रम्—क्लेशाः—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः' पात० यो० सू० २।३ ।

५. चेत्—पूर्वं बहूनि जन्मानि जीवेन गृहीतानि अद्यापि क्षिमाशी न संजातः तर्हि मोक्षगमने सति सः 'दिशं न कांचिद्' इत्यादि, कस्मात् कारणात् क्षीयेत—क्षयं याति ? । टि० (ख) (घ) (च) ।

बाह्ये ग्राह्ये [1]मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानमनन्तकम्[2] ॥३९॥

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽस्यैव सुप्रसिद्धत्वात् ।

तथाहि— यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम् । सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्धते ॥४०॥

यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि । तन्न युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥४१॥

जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि प्रकृष्येत[3] मतिर्यदि । परकाष्ठा[4] प्यतस्तस्याः[5] क्वचित्खे परिमाणवत् ॥४२॥

तुच्छोऽ*भावो न कस्या[6]पि हानि[7]र्दीपतमोऽन्वयो[8] । धरादिषु[9] धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४३॥

इसका विनाश नहीं हुआ तब मुक्ति प्राप्त होने पर यह किस कारण से आपके 'दिशं न कांचित्' इत्यादि कहे अनुसार नष्ट हो जाता है ? ह. लि. (क) प्रति के पाठान्तर का अर्थ यह है कि इस जीव ने पूर्व में अनन्त जन्मों में संक्रमण किया तथापि इसका क्षय नहीं हुआ तब मुक्ति में किस कारण से इसका क्षय होता है ? ॥३८॥

१३. अब आचार्य सांख्यदर्शन की आलोचना करते हैं—ज्ञानावरण-आदि घातिया कर्मों के क्षय हो जाने से उत्पन्न हुए केवलज्ञान से आत्मा जब समस्त बाह्य पदार्थों को वैसा जान लेता है जैसे वात व पित्त-आदि के प्रकोप न होने पर सत्य स्वप्न को जानता है तब आत्मा की अपने स्वरूप में अनन्तज्ञानवाली स्थिति हो जाती है। यह भी अर्थ है कि मुक्त होने पर आत्मा केवल अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थों को नहीं जानता सांख्य का यह कथन अप्रमाण है ॥ ३९ ॥

हमारा सच्चा स्वप्न उदाहरण अप्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वप्नाध्याय में विशेषरूप से प्रसिद्ध है 'जो मानव पिछली रात्रि में राजा, हाथी, अश्व, सुवर्ण, बैल व गाय को देखता है उसका कुटुम्ब वृद्धिगत होता है ॥ ४० ॥ जिसमें नेत्रादि नहीं हैं उसमें स्वप्नबुद्धि नहीं होती, (वह स्वप्न नहीं देखता) अतः आपका सत्य स्वप्न-दर्शन उदाहरण असिद्ध है। ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है। क्योंकि अन्धा पुरुष भी स्वप्न देखता है। अतः हमारा उदाहरण निर्दोष है ॥ ४१ ॥ अब आचार्य सर्वज्ञ न मानने वाले मीमांसकों की समालोचना करते हैं—यदि आप जैमिनि-आदि आप्त पुरुषों में प्रकृष्ट बुद्धि मानते हैं तब किसी सर्वोत्तम महापुरुष (ईश्वर) में उस बुद्धि का परम प्रकर्ष (विकास की चरम सीमा) मानना भी वैसी युक्ति-संगत है जैसे आकाश में परिमाण की पराकाष्ठा (चरम सीमा—महापरिमाण) युक्ति-सिद्ध है। अर्थात्—किसी आत्मा में कर्म-क्षय होने पर बुद्धि के प्रकर्ष की चरम सीमा होती है।

भावार्थ—जैसे अणुपरिमाण परमाणु में और मध्यम परिमाण घटादि में पाया जाता है एवं उस परिमाण की चरमसीमा (व्यापक परिमाण) आकाश में पाई जाती है वैसे ही जब आप हम लोगों में साधारण बुद्धि और जैमिनि वगैरह विद्वानों में विशिष्ट बुद्धि मानते हैं तब उस बुद्धि के प्रकर्ष की पराकाष्ठा भी किसी महापुरुष में माननी पड़ेगी—वही सर्वज्ञ है, इसमें किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती ॥ ४२ ॥ यदि आप कहेंगे कि ऐसे तो किसी में बुद्धि का सर्वथा अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तु का तुच्छाभाव नहीं होता—वह वस्तु एकदम नष्ट (शून्यरूप) हो जाय—ऐसा नहीं होता। जैसे दीपक बुझता है तो प्रकाश अन्धकार रूप में बदल जाता है। इसी तरह पृथिवी-आदि में बुद्धि की अत्यन्त हानि देखी जाती

* 'अनेकशास्त्रावलोकितार्थिद्' १. कर्ममलापगमे केवलज्ञानेन बाह्यपदार्थे ग्राह्ये अवलोकिते सति द्रष्टुः आत्मनः स्वरूपे अवस्थानं स्थितिर्भवति। २. मानरहितं अनंतज्ञानं स्यादित्यर्थः। ३. प्रकृष्टा भवति। ४. परमप्रकर्षो भवति। ५. अतः। * शून्यरूपो न। ६. वस्तुनः। ७. हानिः—अन्यत्वं नाशो वा ८. 'हानिर्दीपे तमोमयो' इति ह० लि० (क०) प्रती पाठः। ९. पृथिव्यप्तेजोवायुषु सत्सु बुद्धेर्हानौ सत्यां—बुद्धिविनाशे सति यदा धरादीनां विश्लेषो भवति तदा मोक्षो भवति तद्वत् कर्मसंश्लेषे सति केवलज्ञानं नोत्पद्यते, कर्मविश्लेषे तु केवलज्ञानं भवत्येव।

तथा[1]वृतिहतौ तस्य तपनस्येव दीधितिः । कथं न शेमुषी सर्वं प्रकाशयति वस्तु सत् ॥४४॥
ब्रह्मै[2]कं यदि सिद्धं स्यान्नि[3]स्तरङ्गं कुतस्तु न । घटाकाशमिवाकाशे [4]तत्रैव लीयेत[5] जगत् ॥४५॥

अथ मतम्—

एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः । एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४६॥

तदयुक्तम् ।

एकः सोऽनेकधाप्यत्र यथेन्दुर्वर्तते जनैः । न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदभेदभाक् ॥४७॥

अलमतिविस्तरेण ।

आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता । एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥४८॥
ज्वालोरुबूकबीजादेः[6] स्वभावादूर्ध्वगामिता । नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥४९॥
तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि । स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यादलं लोकान्तरेण[7] ते ॥५०॥

है, क्योंकि जब तक पृथिवी कायिक-आदि जीव पृथिवी-आदि रूप पुद्गलों को अपने शरीर रूप से ग्रहण करता है तब तक उनमें बुद्धि रहती है, परन्तु मरण होने पर उन्हें छोड़ देता है, अतः जीव के वियुक्त हो जाने पर उन पृथिवी-आदि रूप पुद्गलों में बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥ ४३ ॥ बुद्धि के ऊपर से कर्मों का आवरण हट जाने पर आत्मा की उत्पन्न हुई केवलज्ञान-शक्ति क्या समस्त वस्तुओं को वैसी प्रकाशित नहीं कर सकती ? जैसे सूर्य अपने ऊपर का आवरण (मेघपटल) हट जाने पर अपनी रोशनी से क्या समस्त पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर देता ? ॥ ४४ ॥

१४. अब ब्रह्माद्वैतमत की मीमांसा करते हैं—यदि आप केवल एक ब्रह्म ही मानते हैं तो वह निस्तरङ्ग—निर्विकल्प (भेद-रहित) क्यों नहीं है ? अर्थात्—यह लोक उससे भिन्न रूप क्यों प्रत्यक्ष प्रतीत होता है ? और उसी ब्रह्म में यह जगत् क्यों वैसा लीन नहीं होता जैसे घट के फूट जाने पर घट के द्वारा छेका हुआ आकाश आकाश में लीन हो जाता है ॥ ४५ ॥ ब्रह्माद्वैतवादियों का पूर्वपक्ष—वास्तव में ब्रह्म एक ही है परन्तु भिन्न-भिन्न प्राणियों के शरीरों में पाया जाने से वैसा अनेक रूप मालूम पड़ता है जैसे चन्द्र एक होकर के भी जल में प्रतिबिम्बित होने पर पात्र-भेद से अनेक प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥ उक्त मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि आपका जलचन्द्र का दृष्टान्त विषम है, क्योंकि जैसे आकाश में वर्तमान चन्द्रमा मनुष्यों से एकरूप और जलादि में वर्तमान अनेक रूप भी प्रत्यक्ष देखा जाता है वैसे ही प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अनेक पदार्थों से स्वतन्त्र एक रूप ब्रह्म प्रत्यक्ष-आदि प्रमाण द्वारा प्रतीत नहीं होता ॥ ४७ ॥ अस्तु अब इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त करते हैं ।

मोक्षस्वरूप—जहाँ पर अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व-आदि गुण पाये जाते हैं, उसे मोक्ष कहा गया है ॥ ४८ ॥ जैसे अग्नि की ज्वाला और एरण्ड-बीज-आदि पदार्थों का ऊर्ध्वगमन निश्चित देखा गया है वैसे ही समस्त कर्म-बन्धनों के क्षय हो जाने पर मुक्तात्मा का भी स्वभावतः ऊर्ध्वगमन निश्चित किया गया है ॥ ४९ ॥ यदि यही माना जावे कि मुक्त होने पर आत्मा यहीं रह जाता है, कहीं जाता

---

१. तद्वत् कर्मसंश्लेषे सति केवलज्ञानं नोत्पद्यते कर्मविश्लेषे तु केवलज्ञानं भवत्येव । २. यदि एकं ब्रह्म अस्ति तर्हि अयं लोकः पृथक् किं दृश्यते ? ३. निर्विकल्पं । ४. तत्रैव ब्रह्मणि कथं न लीयते ? ५. 'लीयते' इति ह० लि० क० प्रतौ पाठः । ६. 'ज्वालालावुकबीजादेः' इति ह० लि० च० प्रतौ पाठः । ७. ते तव मते यदि पुण्यवतां स्वर्गो न पापवतां च नरको न भवति तर्हि मोक्षः कथं भवति ।

इत्युपासकाध्ययने समस्तसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते, सम्यक्त्वं हि नाम नराणां महती खलु गृहदेवता[1] । (यस्मात्सकृत्[2] एकमेव[3] यथोक्तगुणप्रगुणतया संजातमशेषकल्मषकलुष[4] बिभ्रणतया नरकादिषु गतिषु, [5]पूर्वबद्धायुषामपि मनुष्याणां षट्सु तलपातालेषु[6], अष्टविधेषु व्यन्तरेषु[7], दशविधेषु भवनवासिषु[8] पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु,[9] त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वीपयःपावकपवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संभूतिहेतुः[10] ।) [11]सावधि विदधात्यपावर्जवीभावं, नियमेन संपादयति [12]कंचित्कालम् उपलभ्यासमसमर्थाम्[13] चारित्रे, [14]साधुसंपादनसारः संस्कार इव बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्[15] सिद्ध[16]चिन्तामणिरिव च फलत्यसीमं कामितानि, व्रतानि[17] पुनरौषधय इव फलपाकावसानानि पाथेय[18]-

नहीं है तो पुण्यवानों को स्वर्ग व पापियों को भी नरक-गमन नहीं होगा फिर आपके यहाँ मोक्ष कैसे संघटित होगा ? अतः मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन मानना चाहिए ॥ ५० ॥ इसका विशेष विस्तार करने से पर्याप्त है। इसप्रकार उपासकाध्ययन में समस्त मतों के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने वाला प्रथम कल्प समाप्त हुआ।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

[श्री सुदत्ताचार्य मारिदत्त महाराज से कहते हैं] धर्म की आराधना में अद्वितीय बुद्धिशाली हे राजन् ! निश्चय से सम्यग्दर्शन मनुष्यों के संरक्षण के लिए गृहदेवता या कुलदेवता-सरीखा अधिष्ठाता है। क्योंकि (तीनों सम्यग्दर्शनों में से एक भी सम्यग्दर्शन एकबार भी अपने गुणों को वृद्धिगत करता हुआ प्राप्त हो जाता है तो पूर्व में समस्त पाप-बुद्धि से नरक-आदि दुर्गतियों में नहीं जाता। यदि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पूर्व में जिन पुरुषों ने नरक-आदि आयु बाँध ली है, उनकी नीचे के शर्कराप्रभा-आदि छह नरकों में, आठ प्रकार के व्यन्तरों (किन्नर व किंपुरुष-आदि) में, दस प्रकार के भवनवासियों (असुर व नाग-आदि) में, पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवों (सूर्य व चन्द्र-आदि) में, तीन प्रकार की स्त्रियों में, विकलेन्द्रियों में, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक व वनस्पतिकायिक इन पाँच प्रकार के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों में उत्पत्ति नहीं होती।) अर्थात्—उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व इन गतियों में उत्पत्ति का कारण नहीं होता। यह संसार को सान्त कर देता है। यह चरित्र-पालन में अपूर्व बुद्धि उत्पन्न करता है। अर्थात्—कुछ समय के बाद उस आत्मा के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते हैं। जैसे बीजों में अच्छी तरह से किया गया संस्कार बीजों को वृक्षरूप पर्यायान्तर होने पर भी वर्तमान रहता है वैसे ही सम्यक्त्व जन्मान्तर में भी आत्मा का अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है। यह प्राप्त हुए चिन्तामणि-सरीखा असीम मनोरथ पूर्ण करता है। व्रत (चारित्र) तो आत्मा को वैसा फल देकर समाप्त होने वाले (स्वर्ग में भोग-आदि देकर पश्चात् वहाँ से पतन करानेवाले) होते हैं जैसे औषधि वृक्ष फलों के पकने के बाद नष्ट होने वाले होते हैं और जैसे कलेवा

१. नरस्य रक्षणे अधिष्ठाता, गृहदेवता व कुलदेवतावच्च । २. एकवारं । ३. एकमेव सम्यक्त्वमुत्पन्नं सत् एतासु गतिषु उत्पत्तिकारणं न स्यादित्यर्थः (च०) । उपशमादित्रयाणां मध्ये वेदकमप्युत्पन्नं परन्तु तदावरणे गतिमङ्गाणीनां समीचीनतया यः स्थितः स दुर्गतिषु न जायते (स) । ४. पूर्वं पापबुद्धितया । ५. बद्धायुषामपि नराणां । ६. शर्कराप्रभादिषु उत्पत्तिर्न भवति । ७. किन्नरकिंपुरुषादिषु । ८. असुरनागादिषु । ९. चन्द्रार्कादिषु । १०. सम्यक्त्वमुत्पन्नं सत् एतासु गतिषूत्पत्तिकारणं न स्यादित्यर्थः । ११. मर्यादासहितं करोति संसारं । १२. सम्यक्त्वमेतत्कालं प्राप्य ।
१३. अपूर्वां मतिं सम्पादयति सम्यक्त्वं कर्तृ । १४ बीजस्य प्रक्षालनं दुग्धगुडादिमिश्रितजलेन संस्करणं । १५. सहगमनं । १६ प्राप्तः । १७. व्रतानि । १८. पाथेयवत्रियतवृत्तीनि संबलवत् समयादिवृत्तीनि-स्वर्गे भोगादिकं दत्वा-पश्चात् सम्पूर्णे सति च्यवनं कारयन्ति तेन सम्यक्त्वस्याधिको महिमा मोक्षं च दत्ते ।

वन्नियतफलानीति च । न च निसर्गसंवेद्यसंबन्धे[1]उषर्बुधसंनिधानमात्रजन्मनि[2]जाम्बूनद इवात्र[3] यथार्थयाथात्म्य-समवगामन्मनोमननमात्रतन्त्रे निःशेषश्रुतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशान्तर-मनुसरणीयम्, नापि काल-क्षेप[4]कुक्षिरपे[5]क्षितव्यः । तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसंपदः, प्राणित-मिव[6] भोगा[7]यतनोपचारस्य, [8]मूलबलमिव विजयप्राप्तेः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते-रखिलस्यापि [9]परलोकोपाहरणस्य सम्यक्त्वमेव[10] ननु प्रथमं कारणं [11]गृणन्ति गरीयांसः[12] । तस्य चेदं लक्षणम्—

> आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारण[13]द्वयात् । मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥५१॥
> सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् । सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः[14] ॥५२॥
> ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्त[15]प्रतिपत्तये । अज्ञोपदेशकरणे [16]विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥५३॥

सीमित होता है वैसे ही व्रत भी सीमित होते हैं। किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है। इससे मुक्ति श्री की प्राप्ति होती है। निसर्गज सम्यग्दर्शन के लिए, जो कि मोक्षोपयोगी तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से और उनमें विशुद्ध चित्त वृत्ति को लगाने मात्र से वैसा उत्पन्न होता है जैसे शुद्ध पारे व अग्नि के सन्निधान मात्र से सुवर्ण-उत्पन्न होता है, न तो समस्त श्रुत के श्रवण संबन्धी परिश्रम का आश्रय लेना चाहिए एवं न [व्रतादि पालन द्वारा] शरीर क्लेशित करना चाहिये, न देशान्तर में भटकना चाहिए और न काल के मध्य गिरना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इसी काल में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, इसका विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि समस्त काल में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। महामुनि सम्यग्दर्शन को ही निश्चय से मुक्ति का वैसा प्रधान कारण कहते हैं जैसे नींव को महल का, सौभाग्य को रूपसम्पदा का, जीवन को शरीर-सुख का, राजा की सैनिक शक्ति को उसकी विजय प्राप्ति का, विनयशीलता को कुलीनता का और राजनीति का अनुष्ठान राज्य-स्थिति का प्रधान कारण कहते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शन का लक्षण—आप्त (सर्वज्ञ वीतराग देव), आगम (आचाराङ्ग-आदि शास्त्र) और मोक्षोपयोगी मात्र तत्त्वों का तीन मूढ़ता-रहित और निःशङ्कित-आदि अष्ट अङ्गों-सहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, जो कि प्रशम (क्रोध-आदि कषायों की मन्दता), संवेग (संसार से भयभीत होना), अनुकम्पा (समस्त प्राणियों में दया करना) और आस्तिक्य (सत्यार्थ ईश्वर व पूर्वजन्म-अपरजन्म-आदि में श्रद्धा रखना) इन विशुद्ध परिणाम रूप चिन्हों—कार्यों—से अनुमान किया जाता है एवं जो निसर्ग (स्वभाव) से और अधिगम (परोपदेश) इन दो कारणों से उत्पन्न होता है, इसलिए जिसके निसर्गज और अधिगमज ये ये दो भेद हैं ॥ ५१ ॥

आप्त का स्वरूप—जो सर्वज्ञ (त्रिकालदर्शी) है, सर्वलोक का स्वामी है और क्षुधा और तृषा-आदि १८ दोषों से रहित (वीतरागी) है एवं समस्त प्राणियों का हित करने वाला है, उसे आप्तस्वरूप के ज्ञाता महामुनि आप्त कहते हैं ॥ ५२ ॥ क्योंकि मूर्ख के वचनों को प्रमाण मानने पर ठगाए जाने की आशङ्का करने वाले शिष्ट पुरुष सर्वज्ञ के वचनों को अङ्गीकार करने के लिए किसी ज्ञानी वक्ता की खोज करते हैं ॥५३॥

---

१. उषर्बुधः अग्निः । २. जाम्बूनदं सुवर्णं । ३. सम्यक्त्वे । ४–५. कालस्य मध्ये न पतितव्यं, अस्मिन्नेव काले सम्यक्त्वमुत्पद्यते एवं न चिन्तनीयं किन्तु सर्वस्मिन्नेव काले सम्यक्त्वमुत्पद्यते । ६. जीवितं । ७. शरीरं ।
८. राज्ञः शरीररक्षित, अत्र मूल्यशब्देन नृपो ज्ञेयः । ९. मोक्षस्य । १०. सम्यक्त्वमेव मोक्षकारणं । ११. कथयन्ति ।
१२. गरिष्ठाः महामुनयः । १३. तन्निसर्गोऽधिगमाद्वा । १४. आप्तश्रुतोचिताः (क०) १५. सर्वज्ञवचनाङ्गीकारनिमित्तं ।
१६. अन्यथा मूर्खवचनप्रमाणकरणे विप्रलम्भः उपालम्भो भवति ।

यस्तत्त्वदेशनाद्दुःखवार्धेरुद्धरते जगत् । कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥५४॥
क्षुत्पिपासाभयद्वेषचिन्त[1]नं [2]मूढतागमः । रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥५५॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः । त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५६॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः । स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥५७॥
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥५८॥
उच्चावच[3]प्रसूतीनां सत्त्वानां सदृशाकृतिः । य आदर्श इवा[4]भाति स एव जगतां पतिः ॥५९॥
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चारित्रे मुक्तिकारणे । एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः सोऽनुमतः सताम् ॥६०॥
अध्यक्षे[5]ऽप्यागमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते । वनान्तमध्यवृत्तीनां ध्वने[6]रिव नगौकसाम्[7] ॥६१॥
स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति स्वदोषैर्निन्द्यतां जनः । रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसो[8]रिव ॥६२॥
द्रुहिणा[9]धोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः । यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तेषा[10]प्तता भवेत् ॥६३॥
रागादिदोषसंभूतिर्जायमानेषु तदा[11]गमात् । अतः परबोधस्य गृहीतौ[12] पातकं महत् ॥६४॥

जो तीर्थङ्कर प्रभु मोक्षोपयोगी तत्त्वदेशना से संसार के प्राणियों का दुःख समुद्र से उद्धार करते हैं, इसलिए जिनके चरणकमलों में तीन लोक के प्राणी नम्रीभूत हो गये हैं, वे सर्वलोक के स्वामी क्यों नहीं हैं ? ॥ ५४ ॥ भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष तीन लोक के समस्त प्राणियों में समान रीति से पाये जाते हैं, अतः जो इन अठारह दोषों से रहित है, वही निरञ्जन (पापकर्मों की कालिमा से रहित—विशुद्ध) और केवलज्ञानरूप नेत्र से युक्त (सर्वज्ञ) तीर्थङ्कर ही आप्त हो सकता है, एवं वही द्वादशांग शास्त्र की सूक्तियों (प्रामाणिक वचनों) का वक्ता हो सकता है ॥ ५५-५७ ॥

क्योंकि राग या द्वेष से अथवा मोह (अज्ञान) से मिथ्या भाषण किया जाता है। परन्तु जिस विशुद्ध आत्मा में उक्त तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ वचन बोलने का कोई कारण नहीं है ॥५८॥ अनेक प्रकार की उत्पत्ति वाले प्राणियों की शकल सूरत सरीखा होकर भी जो उनमें दर्पण-सरीखा मोक्षोपयोगी तत्त्वों को प्रकाशित करता है वही तीन लोक का स्वामी है ॥५९॥ जिसकी आत्मा में, आगम में, तत्त्वों में, सामायिक-आदि चारित्र में और मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र में पूर्वापर के विरोध से रहित वचन-प्रवृत्ति है, उसे ही गणधरों ने आप्त माना है ॥६०॥ यहाँ पर प्रश्न यह है कि जब आप्त पुरुष मोक्ष चले गए तब उनकी विशिष्टता कैसे जानें ? उसका उत्तर देते हैं—परोक्ष मानव की भी विशेषता (सर्वज्ञता-आदि) उसके द्वारा उपदिष्ट आगम से वैसी जानी जाती है जैसे बगीचे में रहने वाले पक्षियों (कोकिला-आदि) के शब्द सुनने से उनकी विशिष्टता जानी जाती है।

भावार्थ—जैसे पक्षियों के बिना देखे भी उनकी आवाज से उनकी पहिचान हो जाती है वैसे ही आप्त पुरुषों को बिना देखे भी उनके शास्त्रों से उनकी भी आप्तता का पता चल जाता है ॥६१॥ मानव अपने ही गुणों से लोक में प्रशंसा प्राप्त करता है और अपने दोषों से निन्दा प्राप्त करता है, अतः सुवर्ण व लोहे-सरीखे उन सज्जन व दुर्जन पुरुषों के विषय में तोष (राग) व रोष (द्वेष) करना व्यर्थ है ॥६२॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध व सूर्य-आदि देवता, यदि रागादि दोषों से युक्त हैं तो वे आप्त कैसे हो सकते हैं ? ॥६३॥ इन ब्रह्मा

---

१. चिन्ता। २. मोहः। ३. उच्चावचं नैकभेदमित्यमरः। ४. प्रकाशमते। ५. परोक्षेऽपि नरे। ६-७. यथा पक्षिणां शब्दात् परोक्षेऽपि विशिष्टत्वं ज्ञायते। ८. सुवर्णलोहयोरिव। ९. ब्रह्म, हरि, हर, बुद्ध, सूर्यादयः। १०. तेषु ब्रह्मादिषु। ११. तस्य शास्त्रात्। १२. गृहणे सति।

अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः । अर्धनारीश्वरः शंभुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥ ६५ ॥
वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः । स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवतयापि सः ॥ ६६ ॥
त्रैलोक्यं जठरे यस्य [illegible] । [illegible]विपत्ती स्तः । [2]अत्र विचार्येति चिन्त्यताम्[1] ॥ ६७ ॥
कपर्दी दोषवानेष निःशरीरः सदाशिवः । अप्रमा[3] व्यावशक्तेश्च कथं तस्यागमागमः ॥ ६८ ॥
परस्परविरुद्धार्थमीश्वरः [4]पञ्च[5]भिर्मुखैः । शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चयः ॥ ६९ ॥
सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे । कथं स्वरूपभेदः[5] स्यात्काञ्चनस्य कला[6]स्विव ॥ ७० ॥
भैक्ष[7]नर्तननग्नत्वं पुरत्रयविलोपनम् । ब्रह्महत्याकपालित्वं[8] सेताः क्रीडाः किलेश्वरे ॥ ७१ ॥

व विष्णु-आदि देवताओं में रागादि दोषों का सद्भाव (मौजूदगी) उन्हीं के शास्त्रों से ही जान लेना चाहिए। क्योंकि दूसरों के गैरमौजूद दोष प्रकट करने में महान् पाप है ॥६४॥ देखिये—ब्रह्मा अपनी तिलोत्तमा नाम की अप्सरा में आसक्त हैं और विष्णु (श्रीकृष्ण) अपनी लक्ष्मी प्रिया में लम्पट हैं एवं महेश अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध ही हैं। आश्चर्य है फिर भी इन्हें आप्त माना जाता है ॥६५॥ विष्णु (श्रीकृष्ण) के पिता वसुदेव थे और माता देवकी थी एवं स्वयं राजधर्म का पालन करते थे, आश्चर्य है फिर भी तो वे देव माने जाते हैं ॥६६॥ यहाँ पर विचार करने की बात है, कि जिस विष्णु के उदर में तीन लोक बसते हैं और जो सर्वव्यापी है उसका मथुरा में जन्म और वन में मृत्यु कैसे हो सकती है? क्योंकि तीन लोक में व्यापक रहने वाले के जन्म-मरण घटित नहीं होते ॥६७॥ संसारी शिव रागादि दोष-युक्त होने से अप्रामाणिक है, अतः उसके द्वारा किया हुआ आगम (वेद) भी प्रमाण नहीं हो सकता। इसीप्रकार सदाशिव आगम-रचना करने में समर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि वह शरीर-रहित होने के कारण जिह्वा व कण्ठ-आदि उपकरणों से शून्य है। जैसे हस्तादि-शून्य कुम्भकार घट-रचना करने में समर्थ नहीं होता अतः उक्त दोनों से आगम की उत्पत्ति कैसे घटित हो सकती है? ॥६८॥ जब श्रीशिव पांच मुखों से परस्पर विरुद्ध अभिप्राय वाले आगम का उपदेश देता है, तब उनमें से किसी एक अर्थ का निश्चय करना कैसे सम्भव है? अर्थात्—उनमें से कौन-सा अर्थ सही जानना चाहिए ॥६९॥ यदि प्रत्येक युग (कृत-त्रेता व द्वापर-आदि) में श्रीशिव (रुद्र) में सदाशिव की कला (अंश) अवतरित होती है तो सदाशिव व रुद्र में स्वरूप-भेद क्यों है? अर्थात्—सदाशिव वीतराग और शिव सरागी क्यों है? क्योंकि समवायिकारण-सरीखा कार्य होता है, जैसे सुवर्ण-खण्ड सुवर्ण ही होता है।

भावार्थ—जब कार्य उपादान-कारण के सदृश होता है, जैसे सुवर्ण-खण्ड सुवर्ण ही होगा है तब श्री शिव भी सदाशिव की कला होने से सदाशिव का कार्य है, अतः सदाशिव-सरीखा वीतराग व अशरीरी क्यों नहीं है? इसमें स्वरूप भेद क्यों है? अर्थात्—यह सरागी व सशरीरी क्यों है? ॥७०॥ भिक्षा मांगना, ताण्डव नृत्य करना, नग्न रहना, त्रिपुर को भस्म करना, ब्रह्मा का मुख काटना, तथा हाथ में खप्पर रखना ये शिव की क्रीड़ाएँ हैं। तथापि उसे आप्त मानना आश्चर्यजनक है ॥७१॥ शैवदर्शन विचित्र है, क्योंकि उसमें तत्व और आप्त का स्वरूप सिद्धान्त रूप में कुछ अन्य कहा गया है और दर्शनशास्त्र में कुछ अन्य है एवं काव्य शास्त्र में अन्य प्रकार है तथा व्यवहार में भिन्न प्रकार है।

१. कदाचिदपि। २. अत्र विचारः कर्तव्यः, तेन दशावतारा: गृहीता इत्यसंबद्धम्। ३. यो रागादिदोषवान् संसारी शिवः स तावदप्रमाणं तत्कृतागमोऽपि प्रमाणं न भवति। यस्तु सदाशिवः स आगमं कर्तुमशक्तः जिह्वाकण्ठाद्युपकरणाभावात्, हस्तादिरहितः कुंभकारो यथा घटं कर्तुमशक्तः। ४. रुद्रस्य पंचमुखानि वर्तन्ते। ५. असौ रागी, स विरागः इति भेदः कथं स्यादिति पक्षः, कारणसदृशं कार्यं भवतीति हेतोः। ६. काञ्चनस्य खंडं कांचनमेव भवतीति दृष्टान्तः। ७. भिक्षा। ८. कपालेन भिक्षार्थं गच्छति।

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यत्काव्येऽन्यदन्यदीहिते । तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥ ७२ ॥
एकान्तः[1] शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे । सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥ ७३ ॥
तापच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया । तापच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥ ७४ ॥
यद्दृष्टम[2]नुमानं च प्रतीति लौकिकीं भजेत् । तदाहुः सुधियस्तत्त्वं शेषः[3] कुहकवर्जितम् ॥ ७५ ॥

विशेषार्थ—जैसे 'शैवदर्शन'[4] में तीन पदार्थ माने हैं—ईश्वर (श्री शिव), जीव और संसारबन्धन। उनमें से परमेश्वर, जो कि अनादि, सर्वज्ञ व अशरीरी तथा प्राणियों द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा सृष्टिकर्ता है, परन्तु जब ईश्वर को अशरीरी मानने पर सृष्टिकर्तृत्व में निम्नप्रकार बाधा उपस्थित हुई—शङ्काकार—'ईश्वर स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता हो, परन्तु यह अशरीरी होने से सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि लोक में शरीरी कुम्भकार घटादि कार्य करता है और ईश्वर को शरीरी मानने पर वह हम लोगों की तरह क्लेश-युक्त, असर्वज्ञ और परिमित शक्तिवाला हो जायगा।' उक्त बाधा दूर करने के लिए दर्शनकार[5] ने उसमें शाक्त (मन्त्र-जन्य) शरीर स्वीकार किया। इस दर्शन की मान्यता है कि मलादि न होने के कारण श्रीशिव का शरीर हम लोगों के शरीर-सदृश नहीं है किन्तु शाक्त-मन्त्र-जन्य है। इसीप्रकार इसमें पाश पदार्थ (संसार-बन्धन) के पूर्व में चार भेद माने हैं।[6] पश्चात् पाँच भेद मान लिए[7]। अर्थात्—पाशपदार्थ के चार भेद हैं। मल (आत्माश्रित दुष्टभाव—मिथ्याज्ञानादि), कर्म (धर्म व अधर्म), माया (समस्त का मूल कारण अविद्या-प्रकृति), और रोध शक्ति (मलगत दुष्क्रिया शक्ति की आवरण सामर्थ्य)। पश्चात् दर्शनकारों ने पञ्चम पाश (शिवतत्त्व-वाच्य मायात्मा-बिन्दु) रूप स्वीकार किया। अभिप्राय यह है कि शैवदर्शन पूर्वापर विरुद्ध होने से विचित्र है; क्योंकि उसमें मोक्षोपयोगी तत्त्वों व शिवतत्त्व का स्वरूप सिद्धान्त में भिन्न और दर्शन में भिन्न है। इसीप्रकार काव्य में श्रीशिव का पार्वती परमेश्वरी के साथ विवाह का निरूपण है और प्रवृत्ति में भी भिन्न-भिन्न है ॥७२॥ तत्त्व को स्वीकार करने में एकान्त (पक्ष) और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं; क्योंकि सज्जन पुरुष दूसरों पर विश्वास करने मात्र से तत्त्व स्वीकार करने के इच्छुक नहीं होते। तपाने, काटने और कसौटी पर घिसने से जो सोना खरा निकलता है, उसके लिए कसम खाने से क्या लाभ? तथा तपाने, काटने और कसौटी पर घिसने से जो सोना अशुद्ध ठहरता है उसके लिए कसम खाना बेकार है ॥ ७३-७४ ॥ विद्वान् पुरुष उसी को यथार्थ तत्त्व कहते हैं, जो कि प्रत्यक्ष, अनुमान व लौकिक अनुभव से ठीक प्रमाणित

---

१. पक्षेण शपथेन च सन्तः तत्त्वं नेच्छन्ति । २. प्रत्यक्षं । ३. एकान्तकुहितवर्जितम् ।
४. तदुक्तं शैवदर्शने—पतिपशुपाशभेदात् त्रयः पदार्था इति । पतिरीश्वरः । पशुर्जीवः । पाशः संसारबन्धनम् । तत्र पति-पदार्थः शिवोऽभिमतः । सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १७४ से संकलित—सम्पादक
प्राणिकृतकर्मापेक्षया परमेश्वरस्य कर्तृत्वोपपत्तेः । सर्व० पृ० १७६
तथा चोक्तं—सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात् साधनाङ्गफलैः सह । यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम् ॥ १ ॥ सर्व. पृ. १७८ से संकलित—सम्पादक
५. तथा च शैवदर्शने—तथा चोक्तं परमेश्वरस्य हि मलकर्मादिपाशजालासंभवेन प्राकृतं शरीरं न भवति किन्तु शाक्तम् । मलाद्यसंभवाच्छाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः । प्रभोर्वपुः शाक्तं न त्वेतादृशं मलाद्यसंभवात् । एतादृशमस्मदादिशरीरसदृशं । सर्वदर्शन संग्रह पृ० १७८-१७९ ।
६. पाशश्चतुर्विधः मलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्
७. अर्थपञ्चकं पाशाः । सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १८३ से संकलित—सम्पादक

निर्बीजतेव[1] तन्त्रेण यदि स्यान्मुक्तताङ्गिनि[2] । बीज[3]वत्पावक[4]स्पर्शः प्रणेयो[5] मोक्षकाङ्क्षिणि[6] ॥ ७६ ॥

विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्क्षयश्चेदिह कर्मणः । तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्युर्दोषा भवोद्भवाः ॥ ७७ ॥

ग्रहगोत्रगतोऽप्येष पूषा पूज्यो न चन्द्रमाः । अविचारितरम्यस्य जन्तोर्वृत्तिर्निरङ्कुशा ॥ ७८ ॥

[7]द्वैताद्वैता[8]श्रयः शाक्यः[9] शंकरानुकृतागमः । कथं मनीषिभिर्मान्यस्तरसासवशक्तधीः ॥ ७९ ॥

अथैवं प्रत्यवतिष्ठा[10]सवो, 'भवतां समये किल मनुजः सन्नाप्तो भवति तस्य चाप्ततातीव दुर्घटा संप्रति संजात-जनवद्बद्धवत्सु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषिततत्त्वावबोधः स्वतः परतो वा ? न स्वत[11]स्तथादर्शनाभावात्[12] । परतश्चेत्[13]

होता है तथा जो सर्वथा एकान्त (सर्वथा नित्य-आदि एक धर्म का पक्ष) से रहित तथा कुत्सितपने से रहित है ॥ ७५ ॥

शून्याद्वैत व तन्त्र-मन्त्र से मुक्ति मानने वालों की आलोचना—जैसे अग्नि से जल जाने के कारण बीज निर्बीज हो जाता है, उसमें अंकुरों को उत्पादन करने की शक्ति नहीं रहती वैसे ही यदि तन्त्र के प्रयोग (वैदिक कर्मकाण्ड-यज्ञादि) से प्राणी की मुक्ति होती है तो मुक्ति चाहने वाले मनुष्य को भी आग का स्पर्श करा देना चाहिए, जिससे बीज की तरह वह भी जन्म-मरण के चक्र से छूट जावे । टिप्पणीकार के अभिप्राय से यदि निर्बीजता—जीव के सर्वथा अभाव से जीव की मुक्ति होती है तो हम यह कहेंगे जब आप जीव को शून्य मानते हो तो जीव के बिना मोक्ष किसको होगा ? ॥ ७६ ॥

'जैसे मन्त्र द्वारा विष की मारण शक्ति नष्ट कर दी जाती है वैसे ही मन्त्रों की आराधना मात्र से कर्मों का क्षय (मुक्ति) होता है' यदि ऐसा मानते हैं तो जिसको मन्त्र मान्य है, उसमें सांसारिक दोष नहीं पाये जाने चाहिए । अर्थात्—मन्त्र से विष-क्षय हो सकता है न कि कर्म-क्षय ॥ ७७ ॥

सूर्य-पूजा की आलोचना—ग्रहों के कुल का होने पर भी यह सूर्य तो पूज्य है और चन्द्रमा पूज्य नहीं है । वास्तव में तत्त्वविचार न करने वाले प्राणी की वृत्ति निरङ्कुश (बेमर्याद) होती है ॥ ७८ ॥ बौद्ध मत की आलोचना—शङ्कराचार्य से अनुसरण किये हुए आगम वाला बौद्ध मत एक ओर तो द्वैतवादी (सेवन करने योग्य पदार्थों में प्रवृत्ति और सेवन करने के अयोग्य पदार्थों से निवृत्ति का विचार करता है, तप, संयम व भक्ष्याभक्ष्य-आदि की बुद्धि वाला) है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, (सब कुछ सेवन करने की छूट देता है) ऐसा मांस और मद्य में आसक्त बुद्धि वाला मत बुद्धिमानों द्वारा मान्य कैसे हो सकता है ? ॥ ७९ ॥

दूसरे मतानुयायियों का पूर्वपक्ष—पूर्वपक्ष करने के इच्छुक आप लोग यदि ऐसा कहेंगे कि आप जैनों के आगम में मनुष्य को आप्त माना है तो उसका आप्तपना वैसा संघटित नहीं होता जैसे वर्तमान में उत्पन्न हुए मानवों में आप्तपना घटित नहीं होता । अस्तु—यदि आपके कहने से मनुष्य को आप्त मान भी लिया जाय तो उसे इष्ट तत्त्व का ज्ञान स्वयं तो हो नहीं सकता; क्योंकि वैसा देखा नहीं जाता । अर्थात्—गुरु के उपदेश बिना शास्त्रज्ञता नहीं होती । दूसरे से ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है ? तीर्थङ्कर है ? या अन्य कोई गृहस्थ है ? यदि तीर्थङ्कर है ? तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है । यदि तीर्थङ्कर को इष्ट तत्त्व का ज्ञान

---

१. जीवो नास्ति चेत्तर्हि जीवं विना मोक्षः कस्य भवति ? २. जीवे । ३. बीजे इव बीजवत् । ४. अग्निदग्धबीजवत् । ५. अमीष्टः । ६. 'मोक्षा-काङ्क्षिणः' इति ह. लि. का० प्रतौ पाठः । ७. सम्यागम्ययोः प्रवृत्तिपरिहारबुद्धिर्द्वैतम् । ८. सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्वमद्वैतम् । ९. बौद्धः । १०. पूर्वं पूर्वपक्षं चिकीर्षवः । ११. स्वयं न भवति । १२. गुरूपदेशं विना शास्त्रज्ञत्वाभावात् । १३. चेत्तीर्थंकरस्य परः कश्चिद्गुरुरस्ति तर्हि तीर्थंकरः गृहस्थो वा गुरुश्चेत्तीर्थंकरस्तर्हि तत्रापि प्रश्ने तस्य को गुरुः ? एवं परस्परतयाऽनुबन्धे सति अनवस्थानिरोधो न, तेन तदभावं गुरोरभावं आप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिरीश्वरः आगमनीयः इति भावः ।

कोऽसौ परः ? तीर्थंकरोऽन्यो वा ? तीर्थंकरश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगे प्रकृतमनुबन्धे, तस्मादनवस्था, तदभावमाप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिः सदाशिवः शिवा[1] पतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिपत्तव्यः[2] । तथाह पतञ्जलिः—'स[3] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।' तथाहि ।

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् । नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥८०॥

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम् । ह्याप्तानामितरप्राणिवद्गणः समस्ति, संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः[4] कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलसनं च परेषाम्[5] । यतः[6] ।

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्द्वैविध्यादपरं तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।

शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वान्[7] संबन्धतः संबन्धोऽपि न जाघटीति भवतो शास्त्रं निरालम्बनम् ॥८१॥

'संबन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भिन्नस्य संयोगः[8] शक्तेर[9]द्रव्यत्वाद्द्रव्य[10]'द्वयोरेव संयोगः' इति योग-सिद्धान्तः । 'समवायलक्षणोऽपि न संबन्धः शक्तेः पृथक्सिद्धत्वादयुतसिद्धानां[11] गुण[12]गुण्यादीनां समवायसंबन्धः' इति वैशेषिकमैतिह्यम् ।

किसी तीसरे के द्वारा होता है तो उस तीसरे को इष्ट तत्त्व का ज्ञान चौथे के द्वारा होगा और चौथे को इष्ट तत्त्व का ज्ञान पांचवें के द्वारा होगा । तो इस तरह अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना रूप अनवस्था दोष का निरोध (रुकना) नहीं होगा । अर्थात् उक्त दोष की आपत्ति होगी । अतः उक्त दोष से बचने के इच्छुक और आप्त-सद्भाव के इच्छुक जैनों द्वारा तत्त्व के उपदेष्टा सदाशिव या पार्वतीकान्त (शिव) ही अङ्गीकार करने योग्य हैं । जैसा कि पतञ्जलि ऋषि ने कहा है—'वह सदाशिव पूर्वों का गुरु है; क्योंकि उसका काल से नाश नहीं होता ।'

जैसा कहा है—'अशरीरी, शान्त व वेदोत्पत्ति का उत्कृष्टकारण रूप सदाशिव से नादरूप (शब्दात्मक) विशेष दुर्लभ शास्त्र (वेद) उत्पन्न हुआ ॥ ८० ॥ तथा आप्त एक ही होना चाहिए । क्योंकि जैसे दूसरे प्राणियों का समूह होता है वैसा आप्तों का समूह नहीं होता । और यदि हो भी तो चौबीस संख्या का नियम कहाँ से आया ? इस प्रकार दूसरे मत वालों का उक्त कथन वन्ध्या-पुत्र के धैर्य-निरूपण सरीखा (असत्) है और वृद्धिगत मोह (अज्ञान) रूपी समुद्र का विलास है । क्योंकि सदाशिव वक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि वह शरीर व इन्द्रियों से रहित है । एवं उससे दूसरा पार्वती-कान्त (शिव) वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह सरागी है । यदि आप कहोगे कि उन दोनों से भिन्न तीसरा कोई वक्ता है, उस विषय में प्रश्न यह है कि वह तीसरा किस कारण से उत्पन्न हुआ है ? यदि कहोगे कि शक्ति से हुआ तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्ति से वह शक्तिमान कैसे हो सकता है ? क्योंकि उन दोनों का कोई संबंध नहीं है । यदि संबंध मानोगे तो विचार करने पर उनका कोई संबंध भी नहीं बनता । अतः आपका नादरूप शास्त्र (वेद) निराधार ठहरता है, क्योंकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नहीं होता ॥ ८१ ॥ शक्ति से सर्वथा भिन्न सदा शिव का शक्ति के साथ संयोग संबंध घटित नहीं होता, क्योंकि शक्ति द्रव्य नहीं है; 'संयोग संबंध दो द्रव्यों का ही होता है' ऐसा योगों (वैशेषिकों) का सिद्धान्त है । तथा समवाय संबंध भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'जो पृथक् सिद्ध नहीं हैं, ऐसे गुण-गुणी, आदि का समवाय संबंध होता है' यह वैशेषिक सिद्धान्त है, जब कि शक्ति तो शिव से पृथक् सिद्ध भावरूप वस्तु है । अब मनुष्य को आप्त मानने में जो आपत्ति की गई है उसका निराकरण करते हैं—तीर्थङ्कर के पूर्वजन्म

---

१. गौरी । २. अङ्गीकर्तव्यः । ३. सदाशिवः । ४. वक्तृत्वः कथं न । ५. सदाशिवादन्येषां मोहो वर्तत एव । ६. जैनः प्राह । ७. शक्तिमान् । ८. संबंधशब्दस्य पर्याय एव संयोग एक एवेत्यर्थः । ९. द्रव्यत्वाभावात् शक्तिर्भिन्नया तेन हेतुना न संयोगः । १०. द्वयोरेव द्रव्ययोः । ११. अपृथक् सिद्धानां पदार्थानां । १२. गुणाः ज्ञानादयः गुणी आत्मा ।

तत्त्वभावनयोद्भूतं जन्मान्तरसमुत्थया । हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥८२॥
दृष्टादृष्टमवैत्यर्थं रूपवन्तमथावधेः । श्रुते श्रुतिसमाश्रेयं क्वासौ[1] परमपेक्षताम् ॥८३॥

न चैतदसार्वत्रिकम् ।[2] कथमन्यथा स्वत एव संजातषट्पदार्थाव[3]सायप्रसरे कणचरे[4] वाराणस्यां महेश्वरस्योलूकसायु-[5]ज्येश्वर[6]स्येदं वचः संगच्छेत—'ब्रह्म[7]तुलानामिदं दिवौक[8]सां दिव्यमद्भुतं ज्ञानं प्रादुर्भूतमिह त्वयि [9]तद्गुत्तं वितरस्व[10] विप्रेभ्यः ।

उपाये सत्युपेय[11]स्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धिता । पातालस्थं जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यतः ॥८४॥
अश्मा[12] हेम जलं मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षितिर्मणिः । तत्तद्धेतुतया भावा[13] भवन्त्यद्भुतसंपदः ॥८५॥
स[14]र्गावस्थितिसंहारग्रीष्मवर्षातुषारवत् । अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्त[15]श्रुतसमाश्रयः ॥८६॥
नियतं न बहुत्वं चेत्कथमेते[16] [17]तथाविधाः । तिथितारग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मताः ॥८७॥

में उत्पन्न हुई तत्त्वभावना (दर्शनविशुद्धि-आदि) से हिताहित के विवेक के लिए जन्म से ही स्वतः उत्कृष्ट तीन प्रकार के सम्यग्ज्ञान (मति, श्रुत व अवधि) उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा वे दृष्ट (प्रत्यक्ष) व अदृष्ट(परोक्ष) पदार्थ जानते हैं और अवधिज्ञान से रूपी पदार्थ प्रत्यक्ष जानते हैं एवं श्रुतज्ञान शास्त्र में उल्लिखित तत्त्व जानता है, तब ये इष्ट तत्त्व को जानने के लिये दूसरे तीर्थङ्कर की कहाँ पर अपेक्षा करेंगे ॥ ८२-८३ ॥

यह बात कि तीर्थङ्कर स्वयं ही इष्ट तत्त्व को जान लेते हैं, ऐसा नहीं है जिसे सब न मानते हों। यदि ऐसा नहीं है तो जिसमें छह पदार्थों के निश्चय का विस्तार स्वयं उत्पन्न हुआ है, ऐसे कणाद ऋषि के प्रति वाराणसी में कणाद ऋषि का साम्य प्राप्त करने वाले उनके पुत्र महेश्वर नाम कवीश्वर का यह स्तुति-वचन कैसे संघटित होगा ?

[ऋषिराज !] 'आप में यहाँ पर देवताओं का दिव्य, अनोखा व अद्भुत तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ है, जो कि जगत् के तौलने (परिज्ञान) में तराजू-सरीखा है, उसे ब्राह्मणों के लिए वितरण कीजिए।'

अब मनुष्य को आप्त होने में कोई विरोध नहीं है इसे कहते हैं—क्योंकि जब कार्यसिद्धि करनेवाली कारण सामग्री विद्यमान है तब कार्योत्पत्ति में रुकावट कैसे हो सकती है ? क्योंकि पाताल में स्थित जल यन्त्र (मशीन) से हस्ततल पर स्थित कर दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि संसारी मानव को भी जब ईश्वरत्व साधक कारणसामग्री प्राप्त होती है तब उसे भी आप्त होने में रुकावट नहीं हो सकती ॥ ८४ ॥ सुवर्ण पाषाण से सुवर्ण पैदा होता है। जल से मोती बनता है। वृक्ष से अग्नि उत्पन्न होती है तथा पृथिवी से मणि प्रकट होता है। इस तरह पदार्थ अपने अपने कारणों से अद्भुत सम्पदा-शाली हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

जिस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की परम्परा अनादि अनन्त है, या ग्रीष्मऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतु की परम्परा अनादि अनन्त है उसी प्रकार आप्त और श्रुत की परम्परा भी प्रवाह रूप से चली आती है न उसका आदि है न अन्त है। आप्त (तीर्थङ्कर) से श्रुत (द्वादशाङ्ग-शास्त्र) उत्पन्न होता है और श्रुत से आप्त बनता है ॥ ८६ ॥ तीर्थङ्कर-संख्या का समाधान—यदि वस्तुओं की बहुत्व संख्या नियत नहीं है तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र और पहाड़ वगैरह नियत संख्या वाले क्यों माने गये हैं ? अर्थात् जैसे ये बहुत हैं तथापि

१. तीर्थङ्करः परं गुरुं क्व अपेक्षताम् । २. किन्तु सर्वत्र वर्तते स्वयं तत्त्वपरिज्ञानं । ३. ज्ञान । ४ कणादे ऋषौ अक्षपादे महेश्वरकविः स्तुतिं चकार । ५. सायुज्यं साम्यं । ६. ऋषेः पुत्रस्य महेश्वरकवेः स्तुतिवचनं वाक्यं संगच्छेत । ७. जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्रायं तव कणचरस्य ज्ञानं । ८. देवानामपि दिव्यं । ९. यत्त्वं । १०. कुरु । ११. कार्यस्य । १२. पाषाणो हेम भवति जलं मुक्ता स्यादित्यादि । १३. पदार्थाः । १४ उत्पादव्ययध्रौव्य । १५. तथा आप्तात् श्रुतं, श्रुतादाप्तः । १६. तीर्थंकराः चतुर्विंशतिः भवन्ति । १७. बहवः कथं तिथ्यादयः तथाऽर्हन्तोऽपि ।

अनयैव दिशा[1] चिन्त्यं सांख्यशाक्यादिशासनम्। तत्त्वागमाप्तरूपाणां नानात्वस्याविशेषतः ॥८८॥
जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ। मार्गौ समाश्रिताः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमाः[2] ॥८९॥
वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रेतर[3]समाश्रयः। [4]कर्मज्ञानगतो ज्ञेयः शैवशाक्यद्विजागमः ॥९०॥

यच्चैतत्—

श्रुतिं वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता। ते[5] सर्वार्थेष्वमीमांस्ये[6] ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥९१॥
ते[7] तु यस्त्ववमन्येत[8] हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः। स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥९२॥

तदपि न साधुः। यतः।

इनकी संख्या नियत है, अर्थात्—जैसे तिथियाँ पन्द्रह हैं ग्रह नव हैं, समुद्र चार हैं और कुलाचल छह हैं वैसे ही तीर्थङ्कर चौबीस ही होते हैं ॥ ८७ ॥

इसी रीति से सांख्य व बौद्ध-आदि के दर्शन भी विचारणीय हैं; क्योंकि उनमें भी तत्व, आगम और आप्त के स्वरूपों में भेद (बहुत्व) प्रतिनियत रूप से पाया जाता है। जैसे सांख्यदर्शन में प्रकृति, महान् व अहङ्कार-आदि पच्चीस तत्व माने हैं एवं बौद्ध (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक) दर्शनकार क्रमशः सर्वशून्यता, बाह्यार्थशून्यता, बाह्यार्थानुमेयत्व व बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद मानकर 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यं, ऐसी भावना-चतुष्टय से मुक्ति मानते हैं, इत्यादि। अर्थात्—जैसे उक्त दर्शनकार तत्व-आदि में बहुत्व-संख्या को प्रतिनियत मानते हैं, वैसे ही स्याद्वादी (जैन दार्शनिक) भी तीर्थङ्करों की बहुत्व संख्या प्रतिनियत मानते हैं ॥ ८८ ॥

एक जैन-मत को छोड़कर शेष सभी (सांख्य-बौद्ध-आदि) मतवालों ने, जिनके सिद्धान्तों का पक्ष सभी ने स्वीकार किया है, या तो द्वैतमत का आश्रय किया है, अर्थात्—सेवन करने योग्य पदार्थों में प्रवृत्ति-बुद्धि और सेवन करने के अयोग्य पदार्थों से निवृत्तिबुद्धि रूप संयम का विचार किया है, या अद्वैत मत का आश्रय किया है, अर्थात्—सभी भक्ष्य, अभक्ष्य, पेय, अपेय एवं भोगने के योग्य व भोगने के अयोग्य पदार्थों में निरङ्कुश प्रवृत्ति रूप वाममार्ग का आश्रय किया है ॥ ८९ ॥

वाममार्ग बृहस्पति ने और दक्षिणमार्ग शुक्राचार्य ने चलाया है। शैवमत, बौद्धमत और ब्राह्मण-मत ये वाममार्गी और दक्षिणमार्गी हैं तथा ये मन्त्र-तन्त्र को प्रधानता से मानने वाले हैं और मन्त्र-तन्त्र को न मानने वाले भी हैं। शैवमत वैदिक क्रियाकाण्डी (यज्ञादि का निरूपक) है तथा बौद्ध व ब्राह्मण मत ज्ञान-काण्डी है।

भावार्थ—शैवमत, ब्राह्मणमत और बौद्धमत उत्तरकाल में वाममार्गी हो गए थे। उसमें मन्त्र, तन्त्र व वैदिक यज्ञादि क्रियाकाण्ड की प्रधानता थी। परन्तु दक्षिणमार्ग इसके विपरीत था, अर्थात्—न तो उसमें मन्त्र तन्त्र को प्रधानता थी और न क्रियाकाण्ड की। शैवमत का वाममार्ग प्रसिद्ध ही है। बौद्धमत की महायान शाखा तान्त्रिक वाममार्गी थी। इसी प्रकार वैदिक ब्राह्मणमत, जो कि पूर्व मीमांसा व उत्तर मीमांसा के भेद से दो प्रकार है, उसमें पूर्वमीमांसा वैदिक यज्ञादि क्रियाकाण्डी और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) ज्ञानकाण्डी है ॥ ९० ॥

[अब शास्त्रकार मनुस्मृति के दो पद्य देकर उसकी आलोचना करते हैं]

(मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०-११ में) जो कहा गया है—'श्रुति को वेद कहते हैं और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं। इन दोनों से धर्मतत्व प्रकट हुआ है, इसलिए वे दोनों (श्रुति व स्मृति,

---

१. अवस्थया रीत्या। २. सर्वपक्षसिद्धान्ताः। ३. बृहस्पति शुक्रः सर्वान् मन्त्रेण वशीकरोति शैवः। ४. जीवहोमादि क्रिया, ज्ञानप्राप्तः विप्रः, मांसमाश्रयति बौद्धः। ५. ते द्वे। ६. न विचार्ये। ७. वेदस्मृती। ८. अवगणयेत्।

समस्तयुक्तिनिर्मुक्तः[1] केवलागमलोचनः ।[2] तत्त्व[3]मिच्छन्न कस्येह भवद्वादी जयावहः ॥९३॥
सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु । पादेन क्षिप्यते ग्रावा[4] रत्नं मौलौ निधीयते ॥९४॥
श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः । यतेः श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिकं परम् ॥९५॥
गेहिना समवृत्तस्य[5] यतेर[6]प्यधरस्थितेः । यदि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥९६॥

इत्युपासकाध्ययने आप्तस्वरूपमीमांसनो नाम द्वितीयः कल्पः ।

देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम् । ततश्च तदनुष्ठानं कुर्यात्तत्र[7] मतिं ततः ॥९७॥
येऽविचार्य पुनर्देवं रुचिं तत्रापि कुर्वते । तेऽन्धास्त[8]स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥९८॥
पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते । तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥९९॥
वाग्विशुद्धापि[9] दुष्टा स्याद्दुष्टिवत्पात्रदोषतः । वन्द्यं वचस्तदेवोच्चैस्तोय[10]वत्तीर्थसंश्रयम् ॥१००॥
दृष्टेऽर्थे वचसो[11]ऽध्यक्षाद[12]नुमेये तु मानतः । पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥१०१॥
पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्त्या च बाध्यते । मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥१०२॥

समस्त विषयों (कर्म व ज्ञानमार्ग) में प्रतिकूल तर्कों द्वारा विचारणीय (खंडनीय) नहीं हैं। जो ब्राह्मण तर्क व शास्त्र का आश्रय लेकर श्रुति व स्मृति का अनादर करता है, वह शिष्ट पुरुषों द्वारा बहिष्कार करने लायक है और वेदनिन्दक होने से नास्तिक है ॥ ९१-९२ ॥' उक्त मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि—जो मतावलम्बी समस्त युक्तियों को छोड़कर केवल आगम मात्र नेत्रवाला होकर तत्त्व सिद्धि का इच्छुक है, वह वादी लोक में किसी को नहीं जीत सकता ॥ ९३ ॥ सज्जन पुरुष गुणों से सन्तुष्ट होते हैं न कि निर्विचारित वस्तुओं से। उदाहरणार्थ—पत्थर पैर से ठुकराया जाता है और रत्न को मुकुट में स्थापित किया जाता है ॥ ९४ ॥ अतः जो गुणों से श्रेष्ठ है, वह गृहस्थ है और गृहस्थ से श्रेष्ठ यति है और यति से श्रेष्ठ देव है किन्तु देव से श्रेष्ठ कोई नहीं है ॥ ९५ ॥ यदि गृहस्थ-सरीखे आचरण वाला और साधु से भी हीन आचरण वाले देवता को देव माना जाता है तब तो देवत्व दुर्लभ नहीं रहता ॥ ९६ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में आप्त के स्वरूप की मीमांसा करनेवाला दूसरा कल्प समाप्त हुआ।

[अब आचार्य आगम और तत्त्व की मीमांसा करते हैं—] सबसे प्रथम देव (आप्त) की परीक्षा करनी चाहिए। पीछे उसके आगम की परीक्षा करनी चाहिए। फिर आगम में कहे हुए चारित्र की परीक्षा करके आप्त में श्रद्धा-बुद्धि करनी चाहिए ॥ ९७ ॥ जो मानव देव की परीक्षा किये बिना उसके वचनों में श्रद्धा करते हैं, वे अन्धे हैं, दूसरे अन्धे के कन्धों पर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ९८ ॥ जैसे लोक में माता-पिता की शुद्धि (पिंडशुद्धि) होने पर उनके पुत्र-पुत्री में शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्त के विशुद्ध (वीतराग व सर्वज्ञ) होने पर ही उसके आगम में विशुद्धता (प्रामाणिकता) हो सकती है ॥ ९९ ॥ क्योंकि विशुद्ध वचन भी पात्र के दोष (रागादि) से वैसा दुष्ट हो जाता है जैसे वर्षा का पानी दुष्ट पात्र (समुद्र व सर्प-आदि) से दुष्ट (खारा या विष) हो जाता है, परन्तु जब वह महान् तीर्थ (सर्वज्ञ तीर्थङ्कर-आदि वक्ता) का आश्रय प्राप्त करता है (उनके द्वारा कहा जाता है) तब वैसा पूज्य होता है जैसे तीर्थ का आश्रय लेनेवाला जल पूज्य होता है ॥ १०० ॥

१. वेदस्मृतिविचाररहितः। २-३. एकः आगमः एव लोचनं यस्य स पुमान् तत्त्वं वाञ्छति स सर्वेषां जयकारी स्यादित्यर्थः। ४. पाषाणः। ५-६. गृहस्थसदृशस्य देवस्य यतेरपि हीनस्य चेदीदृशस्यापि देवत्वं घटते। ७. देवे। ८. तस्य अन्धस्य। ९. 'वाग्विशिष्टाऽपि' इति ह० लि० (क०)। १०. जलं यथा। ११. वचनस्य। १२ प्रत्यक्षात्।

हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्। कालत्रयगतानर्थान् गमयन्ना[1]गमः स्मृतः ॥१०३॥
आत्मानात्मस्थिति[2]र्लोको बन्धमोक्षौ सहेतुकौ। आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभिः ॥१०४॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः सर्वे[3] स्वभावतः। नय[4]द्वयाश्रयादेते[5] तरङ्गा इव तोयधेः ॥१०५॥
क्षयः[6]क्षयैकपक्षत्वे बन्ध[7]मोक्षक्षयागमः। तात्त्विकैकत्वसद्भावे[8] स्वभावान्तरहानितः[9] ॥१०६॥

प्रत्यक्ष से देखे हुए पदार्थ में प्रवृत्त हुए वचन की प्रमाणता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो जाती है। जो वचन ऐसे पदार्थ को कहता है, जिसे अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है, उस वचन की प्रमाणता अनुमान प्रमाण से निश्चित होती है और जो वचन बिलकुल परोक्ष वस्तु को कहता है, जिसे न प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है और न अनुमान से; उस वचन की प्रमाणता पूर्वापर में कोई विरोध न होने से ही सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि द्वादशाङ्ग में निरूपित पदार्थ प्रत्यक्ष व युक्ति द्वारा प्रमाणित होते हैं, परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष व युक्ति नहीं टिकती वहाँ पर पूर्वापर विरोधी बातें न होने से प्रमाण मानना चाहिए॥ १०१ ॥ जो आगम परस्पर विरोधी बातों का कथन करने वाला है व युक्ति (तर्कप्रमाण) से बाधित है, शराबी या पागल की बकवाद-सरीखा वह आगम कैसे प्रमाण माना जा सकता है ?[10] ॥ १०२ ॥

आगम का स्वरूप और विषय—जो धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के आश्रयवाले त्रिकालवर्ती पदार्थों का हेय (छोड़ने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने-योग्य) रूप से यथार्थ ज्ञान कराता है, वह आगम कहा गया है॥ १०३ ॥ तत्ववेत्ता महामुनियों ने आगम में निरूपण किये जाने वाले निम्नप्रकार पदार्थ कहे हैं—जीव, अजीव (पुद्गल-आदि), लोक तथा अपने२ कारणों के साथ बन्ध और मोक्ष।
भावार्थ—जिसमें उक्त चारों पुरुषार्थों का वर्णन करते हुए कहा है कि हेय, उपादेय क्या है, वही यथार्थ आगम है, उसमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्वों का निरूपण है॥ १०४ ॥ पदार्थ-स्वरूप—ये सभी पदार्थ (उक्त जीवादि) द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा स्वभाव से वैसे उत्पाद, विनाश व स्थिरशील हैं जैसे समुद्र की तरङ्गें उक्त नयों की अपेक्षा स्वभावतः उत्पाद, विनाश व स्थिरशील हैं। भावार्थ—जैनदर्शन में प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मात्मक माना गया है; अतः वह द्रव्यदृष्टि से सदा नित्य है; क्योंकि कभी वह अपनी द्रव्यता—नित्यता नहीं छोड़ता और इसीलिए उसकी सभी अवस्थाओं में यह वही है इस प्रकार की एकत्व प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ पर्यायदृष्टि से अनित्य—उत्पाद-विनाश-युक्त है। जैसे—समुद्र में अनेक प्रकार की तरङ्गें उत्पन्न व विलीन होती हुई प्रत्यक्ष प्रतीत होती हैं॥ १०५ ॥

यदि [बौद्धदर्शनकार] समस्त वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील मानते हैं और यदि [सांख्यदर्शन] समस्त वस्तु को सर्वथा नित्य मानते हैं तो बंध व मोक्ष का अभाव प्राप्त होगा। अर्थात्—न तो बन्ध घटित होगा और न मोक्ष घटित होगा; क्योंकि सर्वथा एक रूप मानने पर उसमें भिन्न स्वभाव घटित नहीं होगा [अतः प्रत्येक वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य व पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानना युक्तिसंगत है]।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि से वस्तु ध्रुव है और पर्याय दृष्टि से उत्पाद विनाशशील है। यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही माना जायगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षण में समूल नष्ट हो जायगी। ऐसी अवस्था में जो आत्मा बंधा है, वह तो नष्ट हो जायगा तब मुक्ति किसको होगी ? इसी प्रकार यदि वस्तु को सर्वथा नित्य माना

---

१. ज्ञापयन्। २. पुद्गलः। ३. समस्ताः पदार्थाः। ४. निश्चय व्यवहार। ५. पदार्थाः। ६ से ९. यदि क्षय एव अनित्यं क्षणिकं सर्वं मन्यते, अथ अक्षयं अविनश्वरं मन्यते तर्हि स्याद्भवेत् कोऽसौ बन्धमोक्षक्षयागमः न बन्धो घटते न मोक्षो घटते कुतः स्वभावान्तरहानितः। क्व सति तात्त्विकैकत्वसद्भावे नित्यत्वे इत्यर्थः।
१०. देखिए—वेद व स्मृति शास्त्रों में पूर्वापर विरोध, यश०, आ० ४ श्लोक नं० १२० से १२८ तक।

ज्ञाता द्रष्टा महान्सूक्ष्मः कृतिभु[1] क्तयोः स्वयं प्रभुः । भोगायतनमात्रो[2] ऽयं स्वभावादूर्ध्वगः पुमान्[3] ॥१०७॥
[4] ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेदः स्यादचेतनात् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वेऽनेकधीश्चित्रमित्रवत् ॥१०८॥
प्रेर्यंते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्येत कर्मणा । एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०९॥
मन्त्रवन्नियतो[5] ऽप्येषोऽचिन्त्यशक्तिः स्वभावतः । अतः शरीरतोऽन्यत्र न भा[6] वोऽस्य प्रमाणितः ॥११०॥
त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रयाः । जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चधर्मा गतिमाश्रिताः ॥१११॥
धर्माधर्मौ नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चमः । अजीवशब्दवाच्याः स्युरेते विविधपर्ययाः ॥११२॥
[7] गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् । चत्वारः सर्ववस्तूनां रूपाद्यात्मा च पुद्गलः ॥११३॥
अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्धः [illegible] । [illegible] कालिक[illegible]रिव ॥११४॥
प्रकृ[8] तिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रविभागतः । चतुर्धा भिद्यते बन्धः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥११५॥

जायगा तो वस्तु में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा, और परिवर्तन न होने से जो जिस रूप में है, वह उसी रूप में बनी रहेगी, अतः बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बँधेगा ही नहीं। अतः प्रत्येक वस्तु को द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य मानना चाहिए ॥ १०६ ॥

आत्मा का स्वरूप—आत्मा ज्ञाता, दृष्टा, महान् व सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है। अपने शरीर के बराबर है तथा स्वभाव से ऊपर को गमन करने वाला है। यदि आत्मा को ज्ञानदर्शन से रहित माना जायगा तो अचेतन—जड़पदार्थ से उसमें कोई भेद नहीं रहेगा, अर्थात्—जड़ और चेतन दोनों एक हो जांयगे। और यदि ज्ञानमात्र को जीव माना जायगा तो चित्रमित्र की तरह उसमें अनेक बुद्धि कैसे संघटित होगी? अर्थात्—जैसे चित्रमित्र नामका कोई पुरुष, किसी का शत्रु है और किसी का मित्र है, अतः उसमें शत्रुता व मित्रता-आदि अनेक धर्म से अनेक बुद्धि संघटित होती है, परन्तु जब सिर्फ ज्ञान-मात्र को जीव माना जायगा तो उसमें केवल एक धर्म (ज्ञान-मात्र) होने से एक बुद्धि ही संघटित होगी। अनेक बुद्धि नहीं बनेगी ॥ १०७-१०८ ॥

जीव से कर्म प्रेरित (बन्ध) किये जाते हैं और कर्मों से जीव प्रेरित किया जाता है। अर्थात्—अपने इष्ट अनिष्ट फलोपभोग-के लिए गर्भवास में ले जाया जाता है। इन दोनों का संबंध नौका और नाविक—खेवटिया-सरीखा है। और कोई तीसरा इन दोनों का प्रेरक नहीं है। भावार्थ—जैसे खेवटिया से नौका खेई जाती है और नौका से खेवटिया नदी पर पहुँचाया जाता है वैसे ही जीव कर्म परस्पर प्रेरक है और कोई तीसरा इनका प्रेरक नहीं है ॥ १०९ ॥ जैसे मन्त्र नियत-अक्षरों वाला होने पर भी अचिन्त्य शक्ति वाला होता है वैसे ही जीव शरीर परिमाण होकर भी अचिन्त्य शक्तिशाली है। अतः शरीर से पृथक् इसका सद्भाव प्रमाण-सिद्ध नहीं है ॥ ११० ॥

१. कर्ता भोक्ता च। २. आत्मा शरीरप्रमाणः। ३. आत्मा। ४. पूर्वार्ध—ज्ञानदर्शनाभ्यां यत् शून्यं वस्तु तस्य वस्तुनः अचेतनात् को भेदो? न कोऽपि। अथवा च ज्ञानमात्रं सत् कथमनेकधीः? यथा कोऽपि 'चित्रमित्रो' नाम पुमान् स कस्यापि शत्रुः कस्यापि मित्रं। ५. मन्त्रो यथा अक्षरैः कृत्वा समर्यादः एवोऽप्यात्मा कायमात्रः।
६. न सद्भावः अस्तित्वं, शरीरात् पृथक् न भवतीत्यर्थः। ७. गतिस्थित्यादि—सर्वत्र वस्तूनां गतिनिबंधनं धर्मः। स्थितिनिबंधनमधर्मः। अप्रतीघातनिबन्धनं नभः। परिणामनिबंधनः कालः। ८. प्रकृत्यादि:—
प्रकृतिः स्यात् स्वभावोऽत्र स्वभावादच्युतिः स्थितिः। तद्रसोऽप्यनुभागः स्यात्प्रदेशः स्यादियत्तत्वं ॥ १ ॥

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥११६॥
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्या[1]त्वासंयमादिकम् । रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं संप्रकीर्तितम् ॥११७॥
आप्तागमपदार्थानामश्रद्धानं विपर्ययः । संशयश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलिनात्मनाम् ॥११८॥

अथवा—

एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यास[2]विनयाश्रयम् । भव[3]पक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्वं पञ्चधा स्मृतम् ॥११९॥
अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता । इन्द्रियेच्छानुवर्ति[4]त्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥१२०॥

जीव के भेद—जीवों के दो भेद हैं, संसारी और मुक्त। चारों गतियों (नरकगति-आदि) में वर्तमान संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं एवं जिन्होंने कर्मक्षय करके सिद्ध गति प्राप्त की है, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं ॥ १११ ॥ अजीव द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव द्रव्य है। इनकी अनेक पर्यायें होती हैं ॥ ११२ ॥ धर्मद्रव्य जीव व पुद्गलों की गति में निमित्त कारण है। अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति में निमित्त कारण है। आकाश समस्त वस्तुओं को अवकाश देने में निमित्त कारण है एवं काल समस्त वस्तुओं के परिणमन में निमित्त है तथा जिसमें रूप, रस, गंध व स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल कहते हैं ॥ ११३ ॥

बंध का लक्षण—सुवर्णपाषाण की किट्टकालिमा और सुवर्ण सरीखे जीव कर्मों के अन्योन्यानुप्रवेश-रूप—आत्मा व कर्म के प्रदेशों का परस्पर बन्ध माना है, जो कि अनादि (जिसकी शुरुआत नहीं है) और सान्त (नष्ट होनेवाला) है। भावार्थ—जैसे सुवर्ण-पाषाण की किट्टकालिमा अनादि होने पर भी अग्निपुट-पाक-आदि कारण-सामग्री से नष्ट हो जाती है वैसे ही जीव और कर्मों का संबंध अनादि होने पर भी सान्त है—उसका अन्त हो जाता है ॥ ११४ ॥

बन्ध के भेद—वह बन्ध चार प्रकार का है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध। यह चारों प्रकार का बंध सभी शरीरधारी जीवों के होता है। भावार्थ—कर्मों में ज्ञानादि के घातने के स्वभाव को प्रकृति-बन्ध कहते हैं। अपने उक्त स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थितिबन्ध है। तीव्र व मन्द-आदि फल देने की शक्ति अनुभाग बन्ध है और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का जीव के साथ संबंध होने को प्रदेश बंध कहते हैं। इनमें से प्रकृति व प्रदेशबन्ध योग से होते हैं और स्थिति व अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं ॥ ११५ ॥ मोक्ष का स्वरूप—राग-द्वेषादिरूप आभ्यन्तर मल के क्षय हो जाने से जीव के आत्म-स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। अतः न तो आत्म-शून्यता मुक्ति है और न आत्मा की अचेतन अवस्था मुक्ति हो सकती है एवं न निरर्थक (ज्ञानरूप अर्थ क्रिया से शून्य) चैतन्य-प्राप्ति रूप मुक्ति हो सकती है। भावार्थ—बौद्ध दीपक के बुझनेसरीखी आत्मशून्यता को मुक्ति मानते हैं।

वैशेषिक आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुणों के अभाव को मोक्ष मानते हैं। इसी तरह सांख्य ज्ञानादि से रहित केवल चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति को मुक्ति मानते हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने मुक्ति का स्वरूप बतलाया है ॥११६॥

---

१. मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवो भवन्ति। ह० लि० सटि० (क०) (ख०) (ग०) (घ०) (च०) से संकलित—
२. व्यत्यासो विपर्ययः। ३. संसारस्याप्रतिकूलत्वात् संसारस्य हितकर्तृत्वादित्यर्थः। ४. 'इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं' इति मु० व (क०) प्रतौ पाठः।

कषायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतु[1]र्विधाः । संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥१२१॥
मनोवाक्काय[2]कर्माणि शुभाशुभविभेदतः । भवन्ति पुण्यपापानां बन्धकारणमात्मनि ॥१२२॥
निराधारो निरालम्बः पवमान[3]समाश्रयः । नभोमध्यस्थितो लोकः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥१२३॥

अथ मतम्[4]—

नैव लग्नं जगत्क्वापि भूभृद्[5]भोगिभिर्भरम् । धातारश्च न गृध्यन्ते मत्स्यकूर्माहि[6]पोत्रिणः[7] ॥१२४॥

बन्ध व मोक्ष के कारण—मिथ्यात्व, असंयम (अविरति) प्रमाद, कषाय व योग ये बंध के कारण कहे गये हैं और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहा है ॥११७॥

मिथ्यात्व के भेद—मिथ्यादृष्टियों के मिथ्यात्व के तीन भेद हैं—आप्त (तीर्थङ्कर अर्हन्त), द्वादशाङ्ग शास्त्र, व मोक्षोपयोगी जीवादि तत्वों का यथार्थ श्रद्धान न करना, और विपर्यय तथा संशय । अथवा मिथ्यात्व के, जोकि संसार के प्रतिकूल नहीं है, अर्थात्—संसार का कारण है, पांच भेद हैं—एकान्त, संशय, अज्ञान, विपर्यय और विनय मिथ्यात्व ।

भावार्थ—मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन का घातक है, क्योंकि उसके रहते हुए आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं हो सकता । उसके पांच भेद हैं । अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक धर्म रूप से मानना एकान्त मिथ्यात्व है, जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है या नहीं इस प्रकार के संदेह को संशय मिथ्यात्व कहते हैं । देव, शास्त्र-आदि के स्वरूप को न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थों को सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों और उनके प्रवर्तकों को समान मानना विनय मिथ्यात्व है ॥११८-११९॥ असंयम का स्वरूप—अहिंसा-आदि व्रतों का पालन न करना, कुशल क्रियाओं में आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असंतुष्ट रहना और इन्द्रियों को इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने को सज्जन पुरुषों ने असंयम कहा है ॥१२०॥

कषाय के भेद—क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की कही हैं । उनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं । अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन क्रोध मान, माया लोभ । ये सभी कषाय प्राणियों को संसार समुद्र में गिराने की कारण मानी गई हैं ।

भावार्थ—प्राणियों को संसार समुद्र में पतन कराने वाली कषायों के उक्त प्रकार१६ भेद हैं । अनन्तानुबन्धि जो मिथ्यात्व के साथ रहती हुई आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र का व सम्यक्त्व का घात करती है । अप्रत्याख्यानावरण—जिसके उदय से देशचारित्र न हो सके । प्रत्याख्यानावरण—जो सकलचारित्र का घात करती है और संज्वलन—जिसके उदय से यथाख्यात चारित्र न हो सके ॥१२१॥ योग—मनोयोग, वचनयोग व काययोग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के होते हैं । इनमें से शुभ मनोयोग-आदि आत्मा के पुण्यबंध का कारण हैं और अशुभ मनोयोग-आदि पापबंध के कारण हैं ।

भावार्थ—हिंसा, चोरी व मैथुन करना-आदि अशुभ काययोग है । मिथ्याभाषण, परनिन्दा व आत्मप्रशंसा-आदि अशुभ वचन योग है । किसी का अनिष्ट चिन्तवन करना व ईर्ष्या करना-आदि अशुभ मनोयोग है । ये अशुभ क्रियाएँ पापबन्ध को कारण हैं और इनसे बचकर अहिंसा सत्यभाषण करना एवं परोपकार-आदि शुभ क्रियाएँ पुण्यबंध की कारण हैं ॥ १२२ ॥

---

१. अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदेन । २. योगास्त्रयः । ३. वायुः । ४. किल जैनाः वदन्ति ।
५. भूभ्रा: पर्वताः । ६. अहिः सर्पः । ७. पोत्री शूकरः ।

एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे । कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहसं महत् ॥१२५॥
यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्ठकाष्ठादिधारणे । त्रैलोक्यस्य कथं स स्याद्धारणावसरक्षमः ॥१२६॥
तदसत् ।
ये प्लावयन्ति पानीयैर्विष्टपं[1] सचराचरम् । मेघास्ते वातसामर्थ्यात्किं न व्योम्नि समासते ॥१२७॥
[2]आप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यतः[3] ।
अमज्जन[4]मनाचामो[5] नग्नत्वं स्थितिभोजिता । मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥१२८॥
तत्रैव समाधिः—
ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् । मुनीनां स्नानम[6] प्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥१२९॥

लोक का स्वरूप—आकाश के मध्य में स्थित हुआ यह लोकाकाश निराधार (शेषनाग व कच्छप-आदि आधार-रहित) है, व आलम्बन-रहित है अर्थात्—इसका कोई आश्रय नहीं है। केवल घनोदधिवातवलय-आदि तीन प्रकार की वायु के आश्रय वाला है एवं उत्पत्ति व विनाश से रहित है।

भावार्थ—समस्त द्रव्यों को स्थान देनेवाला आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है। उसके बीच में लोकाकाश है, जो कि चौदह राजू ऊँचा उत्तर दक्षिण सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम में सात राजू मध्य में एक राजू पुनः पाँच राजू और अन्त में एक राजू विस्तार वाला है। यह आकाश का ही एक भाग है। परन्तु जितने आकाश में सभी द्रव्य पाये जाते हैं उतने को लोकाकाश कहते हैं, यह अमूर्तिक द्रव्य है, वह स्वयं अपना आधार है, इसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं। इसे घनोदधिवातवलय-आदि घेरे हुए हैं, जो कि पृथिवी वगैरह को धारण करने में सहायक हैं ॥ १२३ ॥

जैनों की इस मान्यता पर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते हैं—'पृथिवी, पर्वत व समुद्रों से भरे हुए इस लोक का कोई आधार नहीं है और इसके धारक मत्स्य, कच्छप, शेषनाग और वराह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। ऐसा विचार कर आलम्बन-शून्य जगत (लोक) को धारण करने के विषय में जैनों ने वायुविशेष (घनोदधिवातवलय-आदि) की कल्पना की है यह उनका महान् साहस है; क्योंकि निस्सन्देह जो वायु पत्थर व लकड़ी-आदि के बोझ को सम्हालने में समर्थ नहीं है, वह इस [महान्] तीन लोक के धारण कार्य में कैसे समर्थ हो सकती है ?' ॥ १२४-१२६ ॥

उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है; क्योंकि अपनी प्रचण्ड जल-वृष्टि से चराचर जगत को जल की बाढ़ में डुबोनेवाले महान् मेघ क्या वायु की शक्ति से आकाश में स्थित नहीं रहते ?

भावार्थ—जैसे वायु अपनी धारणशक्ति से चराचर विश्व को प्रचण्ड वृष्टि से जल की बाढ़ में डुबा हुआ करने वाले वृहत् मेघों को थाँभे रहती है वैसे ही तीन लोक को भी धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ १२७ ॥

जैन साधुओं पर दोषारोपण—जैनों के आप्त, आगम व मोक्षोपयोगी तत्वों में दूसरा कोई दोष न देखने से मिथ्यादृष्टि लोग जैन साधुओं में चार दोषों का आरोपण करते हैं—मिथ्यादृष्टि लोग कहते हैं कि जैन साधुओं में चार दोष हैं—स्नान न करना, आचमन (कुरला) न करना, नग्न रहना और खड़े होकर भोजन करना आदि। उक्त आरोपों का समाधान इस प्रकार है—[सदा] ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करने वाले और आत्मिक आचार में लीन चित्त वाले दिगम्बर साधुओं के लिए स्नान करने का निषेध है, परन्तु जब कोई दोष लग जावे तब उन्हें स्नान करने का विधान है ॥ १२९ ॥ जब मुनि हाथ में खोपड़ी लेकर माँगनेवाले वाममार्गी कापालिकों से,

---

१. भुवनं। २. 'आगमपदार्थेषु परं दोषमपश्यतः' इति ह० लि० (क०)। ३. अदर्शनात् अथवा अदर्शनात्। ४. अस्नानं। ५. न आचमनं। ६. अयोग्यं।

सङ्गे कापालिकात्रेयी[1]चाण्डालशबरादिभिः । आप्लुत्य[2] दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥१३०॥
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके । दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥१३१॥
यदेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि । अङ्गुली सर्पदष्टायां न हि नासा निकृन्त्यते ॥१३२॥
निष्प[3]न्दादिविधौ वक्त्रे यद्यपूतत्वमिष्यते । तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौचं नारभ्यते कुतः ॥१३३॥
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने । तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेष[4]कल्मषः ॥१३४॥
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् । ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥१३५॥
न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः । किं तु संयमिलोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥१३६॥
पाणिपात्रं मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थितिभोजने । यावत्तावदहं भुञ्जे रहा[5]म्याहारमन्यथा ॥१३७॥
अदैन्यासङ्गवैराग्यपरीषहकृते कृतः[6] । अत एव यतीशानां केशोत्पाटनसद्विधिः ॥१३८॥

रजस्वलास्त्री से, चाण्डाल व म्लेच्छ वगैरह अस्पृश्य शूद्रों से छूजाय तो उसे दण्ड स्नान करके उपवासपूर्वक मन्त्र का जप करना चाहिए ॥ १३० ॥

ऋतुमती स्त्रियों की शुद्धि—अहिंसा-आदि व्रतों की धारक स्त्रियाँ (आर्यिका-आदि) ऋतुकाल में एक उपवास अथवा तीन दिन का उपवास करके चौथे दिन स्नान करके निस्सन्देह शुद्ध हो जाती हैं ॥ १३१ ॥ **आचमन न करने का समर्थन**—[अब मुनियों के आचमन न करने का समर्थन करते हैं] क्योंकि शरीर का जो अङ्ग अशुद्ध हो, निस्सन्देह जल से उसकी शुद्धि करनी चाहिए। सर्प से डसी हुई अँगुलि ही काटी जाती है न कि नासिका ॥ १३२ ॥ अधोवायु के निस्सरण-आदि करने पर यदि मुख में अपवित्रता मानते हो तो मुख के अपवित्र होने पर अधोभाग में शौच क्यों नहीं करते हो ?

भावार्थ—जैसे मुख अशुद्ध हो जाने पर आचमन से केवल उसे ही शुद्ध किया जाता है, वैसे ही जैन साधु भी शौच (मलोत्सर्ग) से अशुद्ध हुए गुदा-भाग को ही जल से शुद्ध करते हैं, न कि आचमन से मुख को ॥ १३३ ॥

[अब मुनियों की नग्नता का समर्थन करते हैं—] विद्वानों को विकार (काम-क्रोधादि) से द्वेष होता है न कि अविकारता (वीतरागता) के अनुसरण से । अतः स्वाभाविक नग्नता से किस बात की द्वेषरूपी मलिनता ? ॥ १३४ ॥ यदि चारित्रधारक दिगम्बर महामुनि [पहिरने के लिए] वृक्षों की छाल मृगचर्म व वस्त्रों के ग्रहण की इच्छा करते हैं तो उनमें नैष्किञ्चन्य (निष्परिग्रहता) और अहिंसा कैसे संभव है ? ॥१३५॥

[अब मुनियों के खड़े होकर आहार ग्रहण करने का समर्थन करते हैं—] दिगम्बर साधुओं का खड़े होकर आहार-ग्रहण उनके स्वर्ग के लिए नहीं है और न बैठकर आहार-ग्रहण नरक-निमित्त है । किन्तु [आगम में] खड़े होकर भोजन करना संयमी मुनिजनों में प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए चाहा गया है ॥ १३६ ॥ मुनि भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व यह प्रतिज्ञा करते हैं कि—'जब तक मेरे दोनों हाथ मिले हैं और मेरे में खड़े होकर आहार-ग्रहण की सामर्थ्य है तब तक मैं यथाविधि आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा आहार-त्याग कर दूँगा' इसी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं ॥ १३७ ॥ [अब केश-लोंच का समर्थन करते हैं—] अदीनता, निष्परिग्रहपना, वैराग्य और परीषह-जय के लिए मुनियों को केश लोंच करने का विधान बतलाया है ॥ १३८ ॥

१. आत्रेयी रजस्वला ऋतुमती । २. स्नात्वा । ३. पर्द कुत्सिते शब्दे च—पर्दने सति चेदाचमनं क्रियते तर्हि मुखोच्छिष्टे अधोभागे शौचं किं न क्रियते ? ४. द्वेष एव कल्मषः मलिनत्वं । ५. त्यजामि । ६. विहितः ।

इत्युपासकाध्ययन आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीयः कल्पः ।

सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः । संध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः ॥१३९॥
नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा । तरु[1]स्तू[2]पाग्रभक्तानां[3] वन्दनं भृगु[4]संश्रयः ॥१४०॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् । रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥१४१॥
समयान्तरपाखण्ड[5]वेदलोकसमाश्रयम् । एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥१४२॥
वरार्थं[6] लोक[7]वार्तार्थमुप[8]रोधार्थमेव वा । उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥१४३॥
क्लेशायैव क्रियामीषु न फलावाप्तिकारणम् । यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥१४४॥
वस्तुन्येव[9] भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके । न ह्यरत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥१४५॥
अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् । अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१४६॥
तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा । मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥१४७॥
[10]न स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहाः स्युर्जिनागमे । स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः ॥१४८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में आगम व पदार्थों की परीक्षा करनेवाला तीसरा कल्प समाप्त हुआ। अब लोक में प्रचलित मूढ़ताओं का निषेध करते हैं—सूर्य की पूजा-निमित्त जल चढ़ाना, ग्रहण के समय स्नान करना, संक्रान्ति होने पर दान देना, संध्या वन्दन करना, अग्नि को पूजना, मकान व शरीर की पूजा करना, नदी, तालाब व समुद्र में धर्म समझ कर स्नान करना, वृक्ष, पथवारी व भात को नमस्कार करना, पर्वत से गिरने में धर्म मानना, गाय की पीठ को अनेक देवताओं का निवास स्थान समझकर नमस्कार करना और उसका मूत्र पीना, रत्न, सवारी, पृथ्वी, यक्ष, शस्त्र (खड्ग आदि) और पर्वत-आदि की पूजा करना, दूसरों के शास्त्रों की पूजा करना व उनमें उल्लिखित पाखण्ड को धर्म समझना एवं वेद व लोक से संबंध रखने वाली इत्यादि मिथ्यादृष्टियों द्वारा मानी हुई अनेक प्रकार की मूढ़ताएँ समझ लेनी चाहिए ॥ १३९-१४२ ॥ जो लोग वर-प्रदान की आशा से या लोक-रिवाज के विचार से एवं किसी के आग्रह से इन मूढ़ताओं का सेवन करते हैं, उनका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है ॥ १४३ ॥ जैसे ऊसर जमीन में खेती करने से कष्ट उठाने के सिवाय कोई लाभ नहीं होता वैसे ही मूर्खों द्वारा मानी हुई उक्त मूढ़ताओं के मानने से भी कष्ट उठाने के सिवाय कोई फल प्राप्त नहीं होता ॥ १४४ ॥ यथार्थ वस्तु में की गई भक्ति ही भक्त पुरुष को पुण्य बंध कराती है, क्योंकि जैसे पत्थर को रत्न मानने से कल्याण नहीं होता ॥ १४५ ॥

कुदेव को देव मानना, अव्रत—दुराचार को व्रत मानना और अतत्त्व को तत्त्व मानना मिथ्यात्व है, विवेकी को इसका त्याग करना चाहिए ॥ १४६ ॥ तथापि जो मानव इस मूढ़ता को सर्वथा नहीं छोड़ता और सम्यक्त्व के साथ-साथ किसी मूढ़ता का भी पालन करता है तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवन के कारण उसके समस्त धर्माचरण का लोप कर देना, अर्थात्—उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नहीं है ॥ १४७ ॥ जिन मनुष्यों की चेष्टाएँ अच्छी नहीं हैं, उन्हें जिनागम में स्वयं प्रेरित नहीं करना चाहिए, अर्थात्—ऐसे मनुष्यों को जैनधर्म में लाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये किन्तु जो स्वयं जैनधर्म में रुचि रखते हुए प्रवृत्ति करना चाहते हैं, तो उनके योग्य अनुग्रह कर देना चाहिये ॥ १४८ ॥

---

१. वृक्षः । २. पाषाणः स्तूपाग्रः पथवारी । ३. ओदनं । ४. गिरिपातः । ५. 'देवलोक' ह० लि० क० । ६. वरप्रदानार्थं । ७. 'लोकयात्रार्थं' इति ह० लि० (क०) (ख०) (च०) प्रतिषु । ८. आग्रह । ९. सत्यपदार्थे सर्वज्ञ वीतरागे । १०. ये नरा दुरीहाः दुश्चेष्टास्ते न प्रेरणीयाः क्व जिनागमे । ये च स्वयं प्रवृत्तास्तेषां योग्यानुग्रहः कार्यः ।

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः।

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सा[1]न्यश्लाघा च मनसा गिरा। एते दोषाः प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥१४९॥
तत्र— अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये। इति व्याधिव्रजोत्क्रा[3]न्तिभीतिं शङ्कां प्रचक्षते ॥१५०॥
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम्। एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥१५१॥
इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता। न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यं[4]थोभय[5]वेदने ॥१५२॥
एष एव भवेद्देवस्तत्त्वमप्येतदेव हि। एतदेव व्रतं मुक्त्यै तदेवं स्यादशङ्कधीः ॥१५३॥
तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते। यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥१५४॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—इहैवानेकाश्चर्यसमीपे जम्बूद्वीपे जनपदाभिधानास्पदे जनपदे भूमितिलकपुरपरमेश्वरस्य गुणमालामहादेवीरतिकुसुमशरस्य नरपालनाम्नो नरेन्द्रस्य श्रेष्ठी सुनन्दो नाम। धर्मपत्नी चास्य जनितनिखिलपरिजनहृदयानन्दा सुनन्दा नाम। अनयोः सूनुर्धनद-धनबन्धु-धनप्रिय-धनपाल-धनदत्त-धनेश्वराणामनुजः सकलकूटकपट-

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मूढता का निषेध करनेवाला चौथा कल्प समाप्त हुआ।

निम्न प्रकार ये पाँच दोष (अतीचार) सम्यग्दर्शन की हानि करने में कारण हैं। शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, मन तथा वचन से मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना ॥ १४९ ॥ शङ्का अतीचार-निरूपण—'मैं अकेला हूँ, तीन लोक में कोई (पिता व भाई-आदि) मेरा रक्षक नहीं है।' इस प्रकार बुखार व गलगण्ड-आदि रोग-समूह के आक्रमण से होनेवाली मृत्यु से भयभीत होने को 'शङ्का' कहते हैं ॥ १५० ॥ 'अथवा-आचार्य, यह जिनोक्त तत्त्व है? अथवा वैशेषिका-आदि से माना हुआ यह तत्त्व है 'यह व्रत है, या यह व्रत है?' यह जिनेन्द्रदेव हैं? कि यह हरि-हर-आदि देव हैं? इस प्रकार के संशय को शङ्का जानते हैं ॥ १५१ ॥ ऐसी शङ्कित चित्तवृत्तिवाले सम्यग्दृष्टि मानव का सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होता और न उसे वैसी अभिलषित वस्तु (स्वर्ग व मोक्ष) प्राप्त होती है जैसे नपुंसक मानव को अभिलषित वस्तु (स्त्री-संभोग) प्राप्त नहीं होती। अथवा पाठान्तर में ('उभयवेतने') जैसे भय-भीत पुरुष को अभिलषित वस्तु (विजय श्री-आदि) प्राप्त नहीं होती ॥ १५२ ॥ अतः निश्चय से यह वीतराग सर्वज्ञ ही देव है, एवं उसके द्वारा कहे हुए जीवादि तत्त्व ही प्रामाणिक हैं, तथा अहिंसा-आदि व्रत ही मुक्ति के कारण हैं, ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास है, वही मानव निःशङ्क बुद्धिवाला है ॥ १५३ ॥ तत्त्व के जान लेने पर व शत्रु के दृष्टिगोचर होने पर एवं पात्र के उपस्थित होने पर भी जिसका चित्त झूला सरीखा डोलता है, (जो कुछ भी निश्चय नहीं कर सकता) वह इस लोक व परलोक में रिक्त (खाली-हाथ—सुख-शून्य) रहता है ॥ १५४ ॥

१. निःशङ्कित अङ्ग में प्रसिद्ध अञ्जन चोर की कथा—अब निःशङ्कित अङ्ग के संबंध में कथा सुनिए—निकटवर्ती अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं वाले इसी जम्बूद्वीप के 'जनपद' नाम के देश में 'भूमितिलकपुर' नाम का नगर है। उसका स्वामी 'नरपाल' नाम का राजा था, जो कि 'गुणमाला' नाम की पट्टरानीरूपीरति के लिये कामदेव-सरीखा था। उसके राजश्रेष्ठी का नाम 'सुनन्द' था। सुनन्द के समस्त परिवार के हृदय को आनन्दित करनेवाली 'सुनन्दा' नामकी सेठानी थी। इन दोनों के 'धनद', 'धनबन्धु', 'धनप्रिय'-'धनपाल'

१. विचिकित्सा। २. भयं करोति, मम सहाय- पिता-भ्रात्रादिको नास्ति। ३. उत्क्रान्तिः मरणं। ४. नपुंसकस्य वेदने वाञ्छायां यथा वाञ्छितार्थप्राप्तिर्न भवति। ५. 'उभयवेतने' इति ख०, ग०, च० प्रतिषु पाठः। तत्र टिप्पणी कान्दिशीके भयभीते।

चेष्टितहरिर्धन्वन्तरिर्नाम। तथा तन्नृपतिपुरोहितस्याग्निलाख्यवनितस्योचितोचितधर्मकर्मणः सोमशर्मणः सुतो विश्वरूप-विश्वेश्वर-विश्वमूर्ति-विश्वामित्र-विश्वावसु-विश्वावलोकानामग्रजः[1] समस्तसद्वृत्तप्रतिलोमो[2] विश्वानुलोमो नाम। तौ द्वावपि सहपांशुक्रीडितत्वात्समानशीलव्यसनत्वाच्च क्षीरनीरवत्समाचरितसख्यौ द्यूतमदिरापरदारचौर्यम्लेच्छनार्यकार्यपर्यायप्रवर्तनमुख्यौ सन्तौ तेनावनीपतिनास्मीयनगरात्स[3]निकारं निर्वासितौ कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवीवरेण वीरनरेश्वरेणाधिष्ठितं यमदण्डनरपालेनाधितमशेषसंसारसारसीमन्तिनीमनोहरं हस्तिनागपुरमवाप्य संपा[4]दितावस्थितौ कदाचिदस्तमस्तकोत्संसत्पनातपमिचये संध्यासमये मद[5]मषीमलिनकपोल[6]पालीनिलीनालिकुलालिह्य[7]मानमुखपटाभोगभङ्गीप्रसरान्नीलगिरिकुञ्जरात्स्वच्छन्दतोऽभिमुखमागच्छतो निवृत्य श्रीधर्माचार्योच्चार्यमाणधर्मश्रवणोचितं नित्यमण्डितं नाम चैत्यालयमासादयामासतुः।

तत्र च 'धन्वन्तरे, यदि सीधुपिशितोपदंशप्रमुखानि संसारसुखानि स्वेच्छयानुभवितुमिच्छसि, तदावश्यममीषामम्बराम्बराणामृषीणां धर्मो न श्रोतव्यः' इत्यभिधाय पिधाय च श्रवणयुगलमतिनिर्भरं प्रमीला[8]वलम्बितलोचनायामो विश्वानुलोमः[9] सुष्वाप। धन्वन्तरि[10]स्तु 'प्राणिनां हि नियमेन किमप्यचलितात्मतया व्रतमु[11]पात्तं भवत्युदर्के[12]ऽवश्यं स्वःश्रेयसः

'धनदत्त'-'धनेश्वर' और 'धन्वन्तरि' नाम के पुत्र थे, उनमें छोटा पुत्र 'धन्वन्तरि' सब प्रकार की कूट कपट-पूर्ण चेष्टाओं में विष्णु-सरीखा था। राजा का पुरोहित धर्म-कर्म में विशेष निपुण 'सोमशर्मा' था। उसकी पत्नी का नाम अग्निला था। उनके 'विश्वरूप' 'विश्वेश्वर' 'विश्वमूर्ति', 'विश्वामित्र'-'विश्वावसु' 'विश्वावलोक' और 'विश्वानुलोम' नाम के पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ पुत्र 'विश्वानुलोम' समस्त सदाचार का विद्वेषी था।

धन्वन्तरि व विश्वानुलोम साथ-साथ धूलि में खेले थे तथा दोनों का स्वभाव और बुरी आदतें भी समान थीं, इसलिये दोनों में दूध पानी सरीखी घनिष्ठ मित्रता थी। जब इन दोनों ने राज्य में उपद्रव करना शुरू किया—जुआ, शराब, परस्त्री-गमन व चोरी-आदि म्लेच्छों के अनाचार में अग्रेसर हुए तब उक्त नगर के राजा ने दोनों को तिरस्कार पूर्वक नगर से निकाल दिया। इससे वे 'कुरुजाङ्गल' देश के ऐसे हस्तिनागपुर नगर में आकर ठहरे, जो कि 'वीरनरेश्वर' नाम के राजा और वीरमति महादेवी नाम की रानी तथा यमदण्ड नाम के कोट्टपाल से अधिष्ठित था और समस्त संसार में सर्वोत्तम युवतियों से मनोहर था। किसी समय जब ऐसा संध्या-समय हो रहा था, जिसमें अस्ताचल पर्वत के शिखर का कर्णभूषण सूर्यका उष्णता-समूह वर्तमान है, तब वे दोनों स्वच्छन्दता के साथ सम्मुख आते हुये 'नीलगिरि-सरीखे मदोन्मत्त हाथी को देखकर लौट कर भागे, जिसके मुखरूपी विस्तृत वस्त्र की रचना का विस्तार मदरूपी कज्जल से मलिन हुये प्रशस्त गण्डस्थलों पर लीन होने वाले भ्रमर-समूह से आस्वाद्यमान हो रहा था। तत्पश्चात् वे दोनों ऐसे 'नित्यमण्डित' नाम के चैत्यालय में प्राप्त हुये, जो कि 'श्रीधर्माचार्य' से निरूपण किये जानेवाले धर्म-श्रवण के योग्य था।

वहाँ पर 'विश्वानुलोम' ने धन्वन्तरि से कहा—'धन्वन्तरि! यदि मद्य, मांस व मधु की प्रधानता वाले सांसारिक सुख यथेच्छ भोगने के इच्छुक हो तो तुम्हें अवश्य दिगम्बरों का धर्म नहीं सुनना चाहिये।' ऐसा कहकर दोनों कानों को बन्द करके नींद लेनेवाले विस्तृत नेत्रोंवाला विश्वानुलोम आंखें मींचकर सो गया। वहाँ आचार्य कह रहे थे 'निश्चय से यदि प्राणी दृढ़ता के साथ नियमपूर्वक किसी भी व्रत का पालन करे तो उत्तरकाल (भविष्य) में वह व्रत अवश्य ही उसका स्वर्ग सुख पैदा करता है।'

---

१. अग्रजः वर्षीयान् वयसा ज्यायान्। २. सदाचारशत्रुः। ३. सपरिभवं। ४. कृत। ५. मद एव मषी तया। ६. प्रशस्तकपोल। ७. लेह्य स्वाद्यमान। ८. निद्रा। ९. विप्रः। १०. धन्वन्तरि इत्यवोचत्। ११. गृहीतं सत्। १२. उदर्कः फलमुत्तरं।

निमित्तम्' इति प्रस्तावायातमाचार्योक्तिमुपश्रुत्य, प्रणिपत्य च 'यद्येवं सूरेः तर्हि भगवन्, अयमपि जनोऽनुगृह्यतां कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन' इत्यवोचत्। तदनु 'ततः सूरिः '[1]खल्लतिविलोकनादपाशनम्'[2] इति व्रतेन कुलालाल्लब्धनिधानः, पयःपूराधि[3]ष्ठितपिष्टशकटपरित्यागाद्विगतोरगोद्गीर्णगरलप्रनिलमृत्युसंगतिरज्ञातनामानोकुहफलपरिहारेण व्यतिक्रान्त-किंपाकफलापादितापत्तिः[4], पुनरविचार्य किमपि कार्यं ना[5]चर्यमिति गृहीतव्रतजाति[6]रेकदा निशि नगरनायक-निलये[7] नटनृत्यनिरीक्षणात्कृतकालक्षेपक्षणः स्वावासमनुसृत्य शनैर्विघटितकपाटपुटसंधिबन्धः स्वकीयया सवित्र्या विहित[8]गाढावष्टम्भमात्मकलत्रं जातनिद्रातन्त्रमवलोक्योपपति[10]शङ्कया मुहुरुत्खातखड्गो भगवत्तोपपादितं व्रतमनु-सस्मार। [11]शुश्राव च दैवात्तदैव 'मनागत्त[12]मत्तः परतः सर, खरं[13] मे शरीरसंबाधः[14]' इति गृहिणीगिरम्। ततश्च 'यद्येवं व्रतमहमद्य नाग्रहीष्यम्, तदेमां मातरमिदं च प्रियकलत्रमसंशयं विश[15]स्येह दुरपवादरजसाममुत्र च दुरन्तै-नसां भागी भवेयम्' इति जातनिर्वेदः सर्वमपि ज्ञातिलोकं यथार्थं मनोरथोत्सेक[16]मवष्टभ्य 'यत्रैव देशे दुरपवादोपहतं चेतस्तत्रैव देशे समाधीयमाणमाचर[illegible] इति [illegible] भगवतो[17] निदेशाच्चरणिभूषण-

आचार्य से कहे हुए उपदेश को सुनकर आचार्य श्री को नमस्कार कर धन्वन्तरि ने कहा—'भगवन्! यदि यह बात सत्य है तो किसी व्रत-प्रदान से इस मानव का भी अनुग्रह कीजिए'।

आचार्य ने कहा—तुम प्रतिदिन गञ्जे (घुटे सिर) व्यक्ति का दर्शन करके भोजन किया करो।'

इस व्रत के ग्रहण से धन्वन्तरिको कुम्हार से निधि का लाभ हुआ (धन से भरा हुआ घट मिला) [फिर उसने आचार्य से आटे के बने हुए पशुओं के न खाने का नियम लिया] अतः उसने दुग्ध पूर से भरी हुई आटे के पशुओं वाली गाड़ी का त्याग किया; क्योंकि उस आटे के पशुओंमें जहरीला साँप जहर छोड़कर गया था, इससे वह मरण-संगम से बच गया। [फिर उसने आचार्य से अज्ञात नाम वाले वृक्ष के फल न खाने का नियम लिया] इससे 'अज्ञात नामवाले वृक्ष के फल नहीं खाना चाहिए' इस व्रत के ग्रहण से वह विषैले फल-भक्षण से उत्पन्न हुए मृत्यु-संकट से बच गया। पुनः इसने 'बिना विचारे कोई कार्य नहीं करना चाहिए' यह व्रत धारण किया।

एक समय रात्रि में राजमहल में नट-नृत्य-देखने में इसका काफी समय लग गया। जब यह अपने गृह जाकर बन्द किये हुए किवाड़ धीरे से खोलने को तत्पर हुआ तब इसने अपनी माता द्वारा किये हुए गाढा-लिङ्गन वाली सोती हुई अपनी स्त्री देखी तो इसे अचानक जार की शङ्का हुई। अतः इसने उसके घात के लिए खड्ग उठाया, उस समय इसे आचार्य द्वारा दिलाये हुए व्रत (बिना विचारे कोई कार्य नहीं करना चाहिये') का स्मरण हुआ। पश्चात् भाग्योदय से इसने निम्न प्रकार अपनी प्रियाके वाक्य श्रवण किये—'हे माता! यहाँ से जरा दूर हटो मुझे शारीरिक कष्ट हो रहा है, तब बाद में इसने विचार किया—कि 'यदि आज मैं यह व्रत ग्रहण नहीं करता तो अपनी माता और अपनी प्यारी स्त्री को निस्सन्देह मार डालता, जिससे मैं इस लोकमें अपकीर्ति रूप धूलियों का पात्र और परलोक में दुःख देनेवाले पापोंका भागी हो जाता।' इस प्रकार उसकी आत्मा में वैराग्य उत्पन्न हो गया। बाद में उसने समस्त कुटुम्बीजनों के यथोचित मनोरथ पूर्ण किए। [पश्चात् उसने जिन दीक्षा लेनेका विचार किया तब आचार्यश्री ने कहा—'जिस देश में मानव-चित्त

१. खल्वाटदर्शनात्। २. भोक्तव्यं। ३. भाग लापसी। ४. मरणं। ५. न कर्तव्यं। ६. सन्। ७. राजगृहे।
८. मात्रा। ९. कृतगाढालिङ्गनं। १०. जार। ११. श्रुतवान् कां गृहिणीगिरं वाणीं। १२. हे अत्त हे मातः।
१३-१४. परतः सर यतो मे खरं कठिनं शरीरसंबाध इति। १५. मारयित्वा। १६. प्रकर्षं। १७. श्रीधर्माचार्यस्य।

भूधरोपकण्ठे तपस्यतः कान्तारदेवताविहितसप[1]र्याद्धर्माचार्यात्सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षां दीक्षामादाय विदितवेदितव्याम्न[2]-यः सन्नम्बरे [3]तपत्यम्बरमणौ [4]स्तम्बाडम्बरितोपत्यकादिमालायामेतस्याचलमेखलायामातापनयोगस्थितोऽनवरतप्रवर्ध-मानाध्यात्मध्यानावध्यबोध्यनिरतः 'किमयं [5]कटकोत्कीर्णः, किं वास्मादेव पर्वतान्निरूढः[6]' इति वितर्काभ्यर्णो बभूव ।

संजातसुहृत्समालोकनकामो विश्वानुलोमोऽपि तत्परिजनात्परिज्ञाततत्प्रव्रज्याव्यतिकरः 'मित्र[7]देवस्य धन्वन्तरे-र्या गतिः सा ममापि' इति प्रतिज्ञाप्रवरस्तत्र[8]गत्य जैनजनसमयस्थितिमनवबुध्यमानः 'हंहो मनोरहस्य वयस्य चिरान्मि-लितोऽसि । किमिति न मे गाढमङ्क[9]पालीं ददासि, किमिति न माममि[10]लापयसि, किमिति न सादरं वार्तामापृच्छसे[11]' इत्यादि बहुशः सप्रश्रयमाभाष्य निजनियमानुष्ठाने[12]कतानमनसि निरागसि धन्वन्तरियतीश्वरे प्रकुप्य सवि[13]धाशिवजातिः प्रादुर्भवदप्रीतिर्भूतरमणीयधरणिधरसमीपसमुत्पादितोट[14]जस्य सहस्रजटिनो निकटे शतजटोऽजनिष्ट । धन्वन्तरिरप्या-तापनयोगान्ते तस्य संबोधनाय समन्ते[15] समुपसद्य 'मत्प्रणयपात्रविश्रामाराम विश्वानुलोम, जिनधर्मस्थितिमनवबुध्यमानः किमित्यकाण्डे षण्डभावमादाय दुराचारप्रधानः समभूः । तदेहि[16] । विहा[17]येमं दुःपथकथासनाथं [18]समयावसथ-

---

नीति विरुद्ध आचरण करने से निन्द्य या अपकीर्ति से नष्ट प्राय हो जाता है (बदनाम हो जाता है) फिर उसी देश में धारण किया हुआ आचरण निरपवाद नहीं रहता (निन्दित ही बना रहता है)'—

अतः उक्त उपदेश देनेवाले आचार्य श्री की आज्ञा से उसने 'धरणिभूषण' नामके पर्वत-समीप में तपश्चर्या करने वाले और वन देवता द्वारा की हुई पूजा वाले श्रेष्ठ धर्माचार्य से देवियों के कटाक्षों की प्रतिकूल (मुक्तिश्रीदेनेवाली) जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। पश्चात् आम्नाय की जानने योग्य सब बातों को जानकर धन्वन्तरि मुनि जब आकाश में मध्याह्न सूर्य सन्तप्त हो रहा था तब आकाश तट व्यापि वृक्ष श्रेणी वाली इस पहाड़ की मेखला पर आतपन योग (ध्यान) में स्थित हुए एवं निरन्तर वृद्धिगत अध्यात्म ध्यान (धर्म व शुक्लध्यान) के प्रभाव से सकल जानने योग्य सूक्ष्म तत्वों में लवलीन हुए, ऐसे निश्चल मालूम पड़ते थे—मानों—क्या ये पर्वत-शिखर पर उकेरे गये हैं ?

अथवा मानों—इसी पर्वत से निकले हुए हैं ? [इधर] अपने मित्र के दर्शन की इच्छावाले विश्वानु-लोम ने भी, [उसके गृह जाकर] उसके कुटुम्बियों से अपने मित्र के दीक्षा लेने के समाचार जाने। पश्चात् उसने ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा की 'मेरे मित्र धन्वन्तरि की जो दशा हुई है, वह मेरी भी हो'। फिर वह धन्वन्तरि के पास आया और जैन साधुओं की आचार-मर्यादा को न जानता हुआ कहने लगा—हे मानसिक अभिप्राय के ज्ञाता मित्र ! बहुत दिनों के बाद मिले हो। अतः मेरे लिए गाढ़ालिंगन क्यों नहीं देते ? और मुझसे विशेष बात-चीत क्यों नहीं करते ? एवं क्यों मुझसे आदरपूर्वक कुशल-समाचार नहीं पूछते ?' इत्यादि अनेक बार विनय-पूर्वक कहने पर भी [जब धन्वन्तरि मुनि ने कुछ जबाब नहीं दिया] तब वह अपने नियमानुष्ठान (आत्मध्यान) में एकाग्रचित्त व निर्दोषी धन्वन्तरि मुनीश्वर से विशेष रुष्ट होकर समीपवर्ती अकल्याण परम्परावाला और धन्वन्तरि यतीश्वर से द्वेष करने वाला वह 'भूतरमणीय' पर्वत के समीप अपनी कुटी बनाने वाले 'सहस्रजट' नामके जटाधारी सन्यासी के निकट 'शतजट' नामका जटाधारी सन्यासी हो गया।

आतपन योग के समाप्त होने पर 'धन्वन्तरि' मुनि भी उसके समीप समझाने गये। और उन्होंने कहा

---

१. पूजा। २. आम्नायः उपदेशपरम्परा। ३. 'सन्नम्बरस्तम्बाडम्बरित' क० च०। ४. आकाशतटव्यापिवृक्षश्रेणि। ५. पर्वतदन्त चोटी। ६. निरूढः निर्गतः। ७. मित्रस्यैव। ८. धन्वन्तरि-समीपे। ९. आलिङ्गनं। १०. अतिशयेन। ११. कुशलं। १२. एकाग्रं। १३. समीप-अकल्याणं। १४. उटजं तृणगृहं, तृणगृहस्य पर्णशालोटजोऽस्त्रियां। १५. समीपे। १६. आगच्छ। १७. त्यक्त्वा। १८. समयः आश्रमः।

मनोरथं सहैव तपस्यावः' इति मुहुः कृतप्रसरप्रकाशोऽपि कुशिक्षावशात्[1] ओतु[2] पोतकत्रासोत्पतत्कृकवाकु[3] मिव मुधामौनमूकतो[4] त्तरङ्गितचित्तोत्सेकं[5] तितउपात्र[6] इव तस्य[7] नोऽमत्रेऽप्राप्तसदुपदेशपयोवस्थानः प्रतिबोधयितुम-शक्नुवन्गुरुपादमूलमनुशील्य कालेन[8] प्रवचनोचितं चर्या[8] माचरणाधिकृतं विधिं विधाय विबुधाङ्गनाजनोच्चार्यमाणमङ्गल-परम्परानल्पेऽच्युतकल्पे समस्तसुरसमाजस्तूयमानमहातपः परा[9] यणप्रतिभोऽमितप्रभो नाम देवोऽभवत् ।

विश्वानुलोमोऽपि पुरोपार्जितपुण्यवशाज्जीवितावसाने विपद्योत्पद्य च व्यन्तरेषु गजानीकमध्ये विजयनाम-धेयस्य देवस्य विद्युतप्रभाख्यया वाहनो बभूव । पुनरेकदा पुरंदरपुरःसरेण विबुधवृन्देन सह नन्दीश्वरद्वीपात्प्रत्यागच्छता तस्यामष्टाह्लीपर्वक्रियां निर्वर्त्यागच्छतमसावमितप्रभो देवस्तं विद्युतप्रभमिममवेक्ष्याह्लादमानमानसः प्रयुज्यावधिमव-बुद्धपूर्ववृत्तान्तः 'विद्युतप्रभ, किं स्मरसि जन्मान्तरोदन्तम्' इत्यभाषत । विद्युतप्रभः 'अमितप्रभ, बाढं स्मरामि । किं तु सकलत्रचारित्राधिष्ठानादनुष्ठानान्ममैवंविधः कर्मविपाका[10] नुरोधः । तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृशः । ये च मदीये समये[11] जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादयो महर्षयस्ते तपोविशेषादिहागत्य भवतोऽप्यभ्यधिका भविष्यन्ति । ततो न विस्मेतव्यम्' । अमितप्रभः—विद्युत्प्रभ, संप्रत्यपि न मुञ्चसि दुराग्रहम् । तदेहि । तव मम च लोकस्य परीक्षा-

---

'मेरे प्रेमरूपी पथिक के विश्राम के लिये उद्यान-सरीखे हे विश्वानुलोम ! जैन धर्म की मर्यादा को न जानकर असमय में कुपित होकर क्यों कुमार्गगामी हो गये हो ? इससे आइये और कुमार्ग की कथा वाले इस ताप-साश्रम में निवास करने का मनोरथ छोड़कर साथ ही तपश्चर्या करेंगे।' इस प्रकार धन्वन्तरि ने बार-बार विश्वानुलोम को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह ऐसे विश्वानुलोम का, कुशिक्षा के कारण जिसके चित्त का प्रकर्ष झूठे मौन से हुई मूकता से विशेष कल्लोलित हुआ है, जैसे बिलाव के बच्चे के शब्द से डरा हुआ पक्षि-शावक झूठा मौन धारण करता है। सन्मार्ग पर लाने में असमर्थ हुए, क्योंकि वे चलनी जैसे उसके मनरूपी पात्र में अपना सदुपदेशरूपी दूध स्थापित न कर सके। तब धन्वन्तरि गुरु के पादमूल में प्राप्त हुये और समय आने पर आगमानुसार विधिपूर्वक सन्यास मरण करके देवियों द्वारा उच्चारण की जाने वाली मंगल परम्परा से श्रेष्ठ 'अच्युत' नामके सोलहवें स्वर्ग में, ऐसे 'अमितप्रभ' नामके देव हुये, जिनकी महान् तप में तत्पर प्रतिभा समस्त देव समूह द्वारा स्तुति की जानेवाली है।

'विश्वानुलोम' भी आयुष्य के अन्त में मरकर पूर्वमें संचय किये हुए पुण्य से विजय नामक व्यन्तर की गजसेना में 'विद्युतप्रभ' नामका वाहन जाति का देव हुआ। पुनः [एक बार] जब अष्टाह्निका पर्वमें 'अमित-प्रभ' देव, इन्द्रकी प्रधानता वाले देव-समूह के साथ 'नन्दीश्वर' द्वीप से वहाँ के चैत्यालयों की अष्टाह्निका पर्व संबंधी पूजा करके वापिस आ रहा था, तब अपने पूर्वजन्म के मित्र 'विद्युतप्रभ' नामके वाहन को देखकर प्रसन्नचित्त हुआ और अवधिज्ञान से पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानकर कहा—'विद्युतप्रभ ! क्या पूर्वभव का वृत्तान्त याद है ?'

'विद्युतप्रभ' ने कहा—'अमितप्रभ ! हाँ, खूब याद है। किन्तु पूर्वजन्म में सपत्नीक चारित्र के पालन से मेरा कर्मोदय का आक्षेप ऐसा हुआ और ब्रह्मचर्य के कारण कायक्लेश उठाने से तेरा कर्मोदय का आग्रह ऐसा हुआ। और जो मेरे शासन में 'जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल व कपिञ्जल-आदि महर्षि हुए हैं, वे विशेष तपश्चर्या के प्रभावसे यहाँ आकर आपसे भी बड़े देव होंगे; अतः आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए।'

---

१. विश्वानुलोमं। २. ओतुः मार्जारः। ३. डिम्भं। ४. कल्लोलित। ५. प्रकर्षं। ६. तितउः चालनिः चालनिः तितउः पुमान्। ७. अमत्रं पात्रं चित्तभाजने। ८. सन्यास। ९. तत्परः। १०. आग्रहः आक्षेपः। ११. मम शासने।

वहे चित्तम्' इति विहितविवादौ तौ द्वावपि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागमाश्रित्य काश्यपीतलमवतेरतुः ।

तत्र च वनेचरसैन्यसौजन्याशून्ये [1]तन्निकटदण्डकारण्यवने [2]समित्कुश[3]कुशाशय[4]प्रकामे[5] बदरिकाश्रमे[6] बहुलकालकृतकृच्छ्रतपसं चन्द्रचण्ड[7]मरीचिदर्शनपरायणमनसमूर्ध्वबाहुमेकपादावस्थानाग्रहराहुमनल्पोल्लसत्पल्लवाविरलवल्लीगुल्मवल्मीकावरुद्धवपुषमतिप्रवृद्धवृद्धतासुधाधवलितशिरःश्मश्रुजटाजालाविषमूषेः कश्यपस्य शिष्यं जमदग्निमवलोक्य पत्र[8]रथमिथुनकपोचिताश्लेषं वेषं विरचय्य तत्कूर्चकुला[9]यकुटीरकोटरे निविष्टौ 'कान्ते, काञ्चनाचलमूलमेखलायामशेषशकुन्तचक्रवर्तिनो वैनतेयस्य वात[10]राजसुतया मदनकन्दलीनामधेयया सह महान्विवाहोत्सवो वर्तते । तत्र मयावश्यं गन्तव्यम् । त्वं तु सखि, समासन्नप्रसवसमया सतो सह न शक्यसे नेतुम्[11] । अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरमकालक्षेपमागमिष्यामि । यथा चाहं तत्र चिरं न स्थास्ये तथा मातुः पितुश्चोपरि महान्तः शपथाः । किं च बहुनोक्तेन । यद्यहमन्यथा वदामि तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरितभागी स्याम्[12]' इत्यालापं चक्रतुः । तं च जमदग्निः

तब 'अमितप्रभ' ने कहा—'विद्युतप्रभ ! अब भी तुम अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते हो तो आओ हम दोनों अपने-अपने धर्मात्मा-लोक के चित्त की परीक्षा करें ।' ऐसा पारस्परिक विवाद करने वाले वे दोनों देव 'करहाट' देश की पश्चिम दिशा में प्राप्त होकर इस पृथिवी तल पर अवतीर्ण हुए ।

वहाँ पर उन्होंने भीलों की सेना के युद्ध से सहित और उक्त देश की पश्चिम दिशा के निकटवर्ती 'दण्डकारण्य' नामके वन में स्थित हुए एवं ईंधन, दर्भ व जलाशय की प्रचुरता वाले 'बदरिकाश्रम' में बहुत काल से कठोर तपश्चर्या करने वाले ऐसे 'जमदग्नि' नाम के तपस्वी को देखा, जो कि 'कश्यप' ऋषि के शिष्य थे। जिसका मन चन्द्र व सूर्य की किरणों के पान करने में तत्पर था। जिसकी दोनों भुजाएँ ऊपर उठी हुईं थीं। जो एक पाद (पैर व पक्षान्तर में किरण) से खड़े होने के आग्रह में वैसे थे जैसे राहु चन्द्र-सूर्य को एकपाद (किरण या चतुर्थांश)-युक्त करने के आग्रह वाला होता है। जिसका शरीर बहुत से शोभायमान पल्लवों, घनी लताओं, बहुतलम्बी वेलों एवं वामियों से आच्छादित (ढका हुआ) था और जिसके शिर व दाढ़ी के जटा-समूह की कान्ति विशेष बढ़ी हुई वृद्धावस्था रूपी सुधा (चूने) से शुभ्र होगई थी ।

इसके पश्चात् उन दोनों देवों ने [विक्रिया से] पक्षियों के जोड़े के वृत्तान्त-योग्य संबंधवाला वेष (रूप) धारण किया और उस तपस्वी की दाढ़ीरूपी घोंसले की झोपड़ी की कोटर में घुस गए ।

एक दिन पक्षी ने अपनी प्रिया से कहा—'प्रिये ! सुमेरु पर्वत की मूलमेखला में समस्त पक्षि-समूह के चक्रवर्ती गरुड़राज का 'मदनकन्दली' नाम की वातराज (पक्षी-विशेष) की पुत्री के साथ महान् विवाहोत्सव हो रहा है, उसमें मुझे अवश्य जाना है। प्रिये ! तुम्हारा प्रसवकाल नजदीक है, अतः तुम्हें ऐसे समय में साथ ले जाना शक्य नहीं है। उक्त विवाहोत्सव के बाद मैं शीघ्र लौट आऊँगा। वहाँ पर मैं बहुत समय तक नहीं ठहरूँगा, यदि ठहरूँ तो मैं अपने माँ-बाप की शपथ करता हूँ। अधिक क्या कहूँ, यदि मैं झूठ बोलूँ तो इस पापी तपस्वी के पाप का भागी होऊँगा।' इस प्रकार उन दोनों पक्षियों ने परस्पर वार्तालाप किया।

---

१. पश्चिमभागः। २. ईंधन। ३. दर्भ। ४. कुशाशयः जलाशयः। ५. 'समित्कुशकुश' (क०)। ६. बोरवृक्ष-स्थाने। ७. सूर्य। ८. पत्ररथः पक्षी, पक्षिचटकः। ९. मालक। १०. वातराजः पक्षिविशेषः महर्द्धिकः। ११. मया। १२. अहं भवामि।

कर्णकटुमालापमाकर्ण्य प्रवृद्धकोपः कराभ्यां तत्कदर्थनार्थं कूर्चं मलितवान्। अमरचरौ विकिरा[1]वप्युड्डीय तदग्रविटपिनि संनिविश्य पुनरपि तं तापसमसो[2]ह्लालापौ निकाममुपजहसतुः। तापसः साध्वस[3]विस्मयोपसृतमानसः 'नैतौ खलु पक्षिणौ भवतः। किं तु रूपान्तराबुमामहेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ। तदुपगम्य प्रणम्य च पृच्छामि तावदात्मनः पापकर्मत्वकारणम्। अहो मत्पूर्वपुण्यसंपादितावलोकन दिव्यद्विजो[4]त्तमान्वयसंभवसदनपतङ्गमिथुन, कथयतां भवन्तौ कथमहं पापकर्मा' इति। पतत्त्रिणौ 'तपस्विन्, आकर्णय।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च। तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुकः॥ १५५॥
तथा—अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य युक्तितः। इष्ट्वा यज्ञैर्यथाकालं ततः प्रव्रजितो भवेत्॥ १५६॥

इति स्मृतिकारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य तपस्यसि' इति। 'कथं तर्हि मे शुभाः परलोकाः'। 'परिणयनकारणौरसपुत्रोत्पादनेन'। 'किमत्र दुष्करम्' इत्यभिधाय मातुलस्य विजयामहादेवीपतेरिन्द्रपुरैश्वर्यभाजः काशिराजस्य भूभुजो भवनभाग्भूत्वा तद्दुहितरं रेणुकां परिणीयाविरलकलापो[5]लुपाल[6]कृतपुलिनासराले मन्दाकिनीकूले महदाश्रमपदं संपाद्य परशुराममपिताभूत्।

भवति चात्र श्लोकः—

उनके इस कर्ण-कटु वार्तालाप को सुनकर जमदग्नि तपस्वी का क्रोध भड़क उठा; अतः उसने पक्षियों को पीड़ित करने के लिए दोनों हाथों से अपनी दाढ़ी मसली, तब दोनों भूतपूर्व देवता पक्षी भी उड़कर उसके आगे वर्तमान वृक्ष पर जा बैठे और पुनः स्पष्ट वचन बोलते हुए उस ऋषि की विशेष हँसी-मजाक उड़ाने लगे। [यह देखकर] तापसी का मन भयभीत व आश्चर्यान्वित हुआ, अतः उसने विचार किया—'निस्सन्देह ये दोनों पक्षी नहीं हैं किन्तु दूसरा वेष धारण किये हुए पार्वती व शिव-सरीखे कोई देवता हैं, अतः इनके पास जाकर व प्रणाम करके अपने पापी होने का कारण पूँछूं।'

[यह सोचकर उसने उनके पास जाकर कहा—] 'मेरे पुण्योदय से प्राप्त हुए दर्शन वाले और दिव्य व उत्तम पक्षियों के वंशरूपी उत्पत्तिगृह वाले हे पक्षियुगल! कहिए कि मैं कैसे पापी हूँ?'

पक्षि-युगल—'तपस्वी! सुनो—स्मृतिकारों ने कहा है—'कि पुत्र-रहित मनुष्य की सद्गति नहीं होती और न वह स्वर्ग प्राप्त करता है, इसलिए पुत्र का मुख देखकर पश्चात् भिक्षुक होना चाहिए। विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करके और युक्ति पूर्वक पुत्रों को उत्पन्न करके और यथाकाल यज्ञ संबंधी क्रिया-काण्ड द्वारा पूजा करके पश्चात् तपस्वी होना चाहिए॥ १५५–१५६॥

किन्तु तुम स्मृतिकार के उक्त कथन को प्रमाण न मानकर तप करते हो।'

'तो मेरे परलोक कैसे शुभ हो सकते हैं?'

'विवाह करके औरस पुत्र के उत्पन्न करने से?'

'यह क्या कठिन है'—ऐसा कहकर जमदग्नि तपस्वी ने विजया नाम की महादेवी के पति स्वर्ग-सरीखे ऐश्वर्य का सेवन करनेवाले अपने मामा काशीराज नाम के राजा के महलों में जाकर उनकी रेणुका नाम की दुहिता के साथ विवाह संबंध कर लिया और घने पत्र व तृणविशेषों से अलंकृत और बालुकामय प्रदेश से व्याप्त गङ्गा नदी के तट पर वर्तमान महान् आश्रम-स्थान प्राप्त करके परशुराम के पिता हो गए।

इस विषय में एक श्लोक है उसका अर्थ यह है—

---

१. पक्षिणौ। २. अलोह्लः व्यक्तः स्फुटवचनौ। ३. भय। ४. पक्षि। ५. कलापाः पत्राणि। ६. उलुपस्तृणविशेषः।

अन्तस्तत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः । पुंसः स्वभावभीरोः स्यान्न शौर्यायायुधग्रहः ॥ १५७ ॥'

इत्युपासकाध्ययने जमदग्नितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः । पुनस्तौ त्रिदशौ मगधदेशेषु कुशाग्र[1]नगरोपान्तापातिनि पितृवने कृष्णचतुर्दशीनिशि निशाप्रतिमाशयवशमेकाकिनं जिनदत्तनामानमुपासकमवलोक्य साक्षेपम्[2] 'अरे दुराचाराचरणमते निराकृते[3] अविदितपरमसत्व मनुष्या[4]पसद, शीघ्रमिमामूर्ध्वशो[5]षं शुष्क[6]स्थाणुसमां प्रतिमां[7] परित्यज्य पलायस्व । न श्रेयस्करं खलु तवात्रावसरं पश्यावः । यस्मादावां ह्येतस्याः परेतपुरभूयस्या[8] भूमेः पिशाचपरमेश्वरौ । तदलमत्र कालव्यालावलोकनकरप्रस्थानेन[9] । मा[10] हि कार्षीरन्तरायोत्क[11]र्षीभावमतुच्छस्वच्छन्दकेलिकुतूहलबहुलान्तःकरणप्रसवयोरावयोः' इत्युक्तमपि प्रकामप्रणि[12]धानोद्युक्तमवेक्ष्य सर्वतः[13] कीना[14]शकास[15]रनिकायकायाकारघोरघन-

जैसे स्वभाव से भयभीत मानव का शस्त्र-धारण शूरता के लिए नहीं होता (व्यर्थ होता है) वैसे ही आत्मज्ञान से शून्य (रहित) मानव का व्रत (अहिंसा-आदि)-पालन का परिश्रम भी व्यर्थ होता है ॥ १५७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जमदग्नि तपस्वी को तपश्चर्या से पतन करनेवाला पञ्चम कल्प पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात् उन दोनों देवों ने मगध देश के राजगृह नगर की निकटवर्ती श्मशान भूमि पर कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में रात्रि संबंधी प्रतिमायोग (धर्मध्यान)-धारण के अभिप्राय के अधीन हुए व अकेले 'जिनदत्त' नाम के श्रावक को देखा और उससे निम्न प्रकार तिरस्कारपूर्वक कहा—'अरे दुराचार करने की बुद्धिवाले ! विरूप, मोक्षपद को न जाननेवाले, निन्द्यपुरुष ! ऊपर खड़े होकर शरीर सुखाकर सूखे ठूंठ सरीखे इस कायोत्सर्ग को छोड़कर शीघ्र भाग जा। हम लोग निश्चय से तेरा यहाँ ठहरना कल्याणकारक नहीं देखते। क्योंकि पिशाचों के स्वामी हम दोनों इस विशाल श्मशान भूमि के स्वामी हैं। इसलिए यहाँ ठहरने से तुम्हें कालरूपी सर्प से डंसे जाने के सिवाय कोई लाभ नहीं हो सकता। क्योंकि हम दोनों के अन्तः-करण में श्रेष्ठ व स्वच्छन्द क्रीड़ा करने का विशेष कौतूहल उत्पन्न हो रहा है, इसमें विशेष विघ्न बाधा मत डालो।

ऐसा कहने पर भी उसे आत्मध्यान में विशेष तल्लीन देखकर वे दोनों देव समस्त रात्रि तक ऐसे विघ्नों की सृष्टि (रचना) से, उसे आत्मध्यान से विचलित (डिगाने) करने में तत्पर हुए, जो कि यम के वाहन महिष-समूह के शरीर की आकृतिवाले (काले काले) भयानक मेघों की गर्जना-ध्वनि को शुरू में प्रारम्भ करनेवाले थे। जो प्रचण्ड बिजलीदण्ड के संघट्टन से बहुत ऊँची जाने वाली गड़गड़ाहट के शब्द-समूह से सहन करने के लिए अशक्य थे। जो सीमातीत (बेमर्याद) प्रचण्ड वायु के सूत्कार-सार (झकोरों के शब्द) के विस्तार से महाशक्तिवाली थे। जो अत्यन्त भयानक वेताल-समूह के उत्पाती कोलाहल के अनुकूल थे एवं जो अन्य साधारण मनुष्यों से करने के लिए अशक्य थे तथा जिनमें उसके मकानात जलाना और बन्धुजनों के और धन के नाश का संबंध वर्तमान था। इसी प्रकार विशेष आदर-सहित मनचाही वस्तु के देने से वे दोनों देव समस्त रात्रि पर्यन्त उसके आत्मध्यान को रोकने के अधीन हुए।

१. राजगृह। २. तिरस्कृतं। ३. निकृष्टा आकृतिर्यस्य, व्रात्यः संस्कारहीनः स्याद्स्वाध्यायो निराकृतिः। ४. निन्द्यः मनुष्य-रहितः। ५. ऊर्ध्वशोषं 'ऊर्ध्वे शुषिपूरोः' ऊर्ध्वे कर्तृवाचिन्युपपदे शुषेः पूरेश्च णम् ऊर्ध्वशोषं। ६. शुष्कः स चासौ स्थाणुः तत्समां ७. कायोत्सर्गं। ८. महत्याः। ९. स्थितिकरणेन। १०. आवयोर्मा कार्षीः। ११. ऊर्ध्वः सन्। १२. ध्यानस्थं। १३. सर्वतः। १४. यम। १५. महिषः।

घस्मराडम्बरप्रथमप्रा[1]रम्भनिबर्हैः* प्रचण्डतविद्रुण्डसंघट्टोच्छलच्छम्बसंदोहदुःसहैः निःसीमसमीरासरालसूत्कारसारप्रसरप्रबलैः करालवेतालकुलकाहलकोलाहलानुकूलैरनन्यसामान्यैरन्यैश्च परिगृहीतगृहवाहवान्धवधनविध्वंसानुबन्धैः प्र[2]त्यूहप्रबन्धैः सबहुमानैस्तत्तद्दरप्रधानैश्च निःशेषामप्युषाम[3]ध्यात्मसमाधिभिरोधनि[4]ध्नौ विहितबहुविघ्नावपि तमेकाग्रभावाभ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणवहिष्करणेहितं शर्महर्म्यनिर्माणकार्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्धर्मध्यानाच्चालयितुं न शेकतुः[5]। संजाते च खरकिरणविरो[6]कनिकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहृतोपसर्गावसरौ प्रकामप्रसन्नसर्गौ[7] तैस्तैर्महाभागोचितैः प्रणयोचितैरालाप्य तस्मै जिनदत्ताय विहायोविहाराय पञ्चत्रिंशद्वर्णनिबद्धां विद्यां वितेरतुः[8]। इयं हि विद्या तवास्मदनुग्रहादम्बरविहारायासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति। जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतनालोकनकुतूहलिताशयः समाचरिताम[9]रानुवर्तनसमयस्तां विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखि[10]लगिरिस्थावल[11]चैत्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुण्यवटवे [12]प्रादात्।

पुनरप्यमित 'विद्युतप्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवार्हद्दभिमतवस्तुपरिणतचित्तः स्वभावादेव च स्थिरमतिरशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च। तदत्र महदप्यपकृतं कुलिशे[13]घुणकीटचेष्टितमिव न भवति समर्थम्। अतोऽन्यमेव कञ्चनाभि-

उक्त प्रकार विशेष विघ्न करने वाले भी वे दोनों देव उस जिनदत्त को, जिसकी चित्तवृत्ति व बाह्य इन्द्रियवृत्ति की चेष्टा एकाग्रभाव के अभ्यास से आत्माधीन हो चुकी थी, ऐसे धर्मध्यान से, जो कि स्थायी सुखरूपी महल का निर्माण करने वाली पुण्य कर्म की परम्परा को वृद्धिगत करता है, विचलित करने के लिए समर्थ नहीं हुए।

इतने में जब सूर्य की किरण-समूह द्वारा अन्धकार-समूह को नष्ट करने वाला प्रातःकाल हो गया तब उन्होंने अपने उपसर्ग-समूह रोक दिये और वे विशेष प्रसन्न अभिप्राय वाले हुए और भाग्यशालियों के योग्य प्रेम-भरे वचनों से उसकी प्रशंसा करके उसके लिए आकाश में विहार करने के लिए पैंतीस अक्षरों से निर्बंध आकाशगामिनी विद्या प्रदान की और कहा—'यह विद्या हमारे अनुग्रह से बिना सिद्ध की हुई भी तुम्हें आकाश में विहार कराने में समर्थ होगी, परन्तु दूसरों को अमुक विधि से सिद्ध की जाने पर।

जिनदत्त भी, जिसका मन सुमेरु पर्वत की शिखर को अलंकृत करने वाले अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन करने में कौतूहल-युक्त है, एवं जिसने प्रस्तुत विद्या के लिए देवों की तरह आकाश में ले जाने का संकेत किया है, उक्त विद्या प्राप्त करके पंचमेरु के समस्त चैत्यालयों को हार्दिक दर्शनोत्सव में लाया। इसके बाद उसने उक्त चैत्यालयों के दर्शनार्थ उत्कण्ठित व ईश्वर-भक्ति में निपुण पुरुष-श्रेष्ठ धरसेन श्रावक के लिए उक्त विद्या दे दी।

पुनः 'अमितप्रभ' ने 'विद्युतप्रभ' से कहा—'विद्युतप्रभ! यह जिनदत्त सम्यग्दृष्टियों से माने हुए जीवादि तत्त्वों के विषय में परिपक्व बुद्धिवाला (दृढ़ श्रद्धालु) है और स्वभाव से निश्चल बुद्धिशाली है तथा समस्त उपसर्गों के सहन करने की प्रकृति वाला है, अतः इस पर किये जाने वाले महान् उपसर्ग भी वैसे व्यर्थ होते हैं जैसे वज्र पर घुण-कीट की चेष्टा व्यर्थ होती है, अतः नवीन जिनेन्द्र भक्ति की स्थानीभूत बुद्धिवाले किसी दूसरे श्रावक की परीक्षा करें।

ऐसा विचार करके दोनों देव वहाँ से प्रस्थान कर गए और उन्होंने मगधदेश को अलङ्कृत करने वाली मिथिलापुरी के स्वामी ऐसे 'पद्मरथ' राजा को देखा, जिसने ऐसे सुधर्माचार्य से, सम्यग्दर्शन पूर्वक

१. 'प्रारम्भावर्हैः' मु० एवं 'ख' प्रतौ। *. विघ्नसमूहैः। २. विघ्नरचनैः। ३. रात्रि। ४. निघ्नः तत्परः। ५. न समर्थौ तौ देवौ। ६. विरोकः किरणः रश्मिः। ७ सर्गः अभिप्रायः अभिप्रायौ। ८ दत्तवन्तौ। ९. देववत्। १०. समस्त। ११. पंचमेरुः। १२. तां विद्यां। ॐ. अर्हद्देवोऽस्येत्यार्हतः सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः। १३. वज्रे।

नवजिनोपासनायतनचेतस्यं निकषायः[1]' इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेताभ्यां[2] मगधमण्डलमण्डनमिथिलापुरीनाथः पद्मरथो नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीपरवृत[3]देहा[4] यां कालगुहायां निवासरसमनसो[5] दीप्ततपसो निःशेषामिमिषपरिषत्स्तूयमानाचरणचातुर्यात्सुधर्माचार्यात्संजाताद्भुतप्र[6] भावदर्शनोपशान्ताशयः सम्यग्दर्शनमणुव्रताश्रममादाय तद्दिवस एव तदुपदेशान्निश्चितार्हत्परमेश्वरशरीरनिरतिशयप्रकाशाम[7]हिमः कृतनियमः सकलभुवनपतिस्तूयमानगुणगणो[8]दन्तं श्रीवासुपूज्यभगवन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रमद[9]नादसुन्दरदुन्दुभिरवाकारितनिःशेषपरिजनः [10]समासन्नसकलविष्टपनिविष्टविशिष्टादृष्टचेष्टः स च दृष्टः कदाचिदपि क्षुद्रोपद्रवा[11]विप्रलब्धः प्रार[12]ब्धदह[13]पुरप्लोषान्तःपुरविध्वंसवरू[14]थिनीमथनप्रसभप्रभ[15]ञ्जनोर्जितपर्जन्यपरुषवर्षोपलासाराविवर्सित[16]भिदुर्बन्धशार्दूलोत्तराकृतिभिर्विकृतिभिरुपद्रोतुं तथाप्यविचलितचेतसमवसाय[17]नरवरकुञ्जरं मायामयप्रतिघे[18]ऽस्ता[19]धे व्याप्ताखिलदिगारामसंगमे कर्दमे निमज्जयन्तूर्ध्वां ताभ्यां 'नमः सुरासुरोपसर्गसङ्ग[20]सूदनाभिधानमात्रमाहात्म्यसाम्राज्याय श्रीवासुपूज्याय' इति तत्र निमज्जतो भूभृतो वचनमाकर्ण्य तद्धैर्योत्कर्षोन्मिषत्तोषमनीषाप्रसराभ्यां लघु परिमुषिताशेषविघ्नव्यतिकराभ्यामाचरितसत्काराभ्याम्

श्रावकों के अणुव्रत धारण किये थे, जिनका मन अपने नगर के निकटवर्ती पहाड़ से वेष्टित शरीर वाली कालगुहा में निवास करने के लिए सरस (प्रीति-युक्त) था। जो महातपस्वी थे और जिनके चरित्र-पालन का चातुर्य समस्त देवों की सभा से पूजा जा रहा था। उनके शारीरिक अद्भुत तेज व प्रभाव के दर्शन से जिसका राग शान्त हो गया था। उसी दिन जिसने आचार्य के उपदेश से अर्हन्त तीर्थङ्कर के शरीर के अनोखे प्रकाश की पूजा का निश्चय किया था और जिसने नियम लिया था। जो समस्त भुवन के स्वामियों से जिनके गुण-समूह का वृत्तान्त स्तुति किया जा रहा है ऐसे वासुपूज्य भगवान् की उपासना के लिए प्रस्थान कर रहा था। आनन्द-भेरी की मधुर ध्वनि से मनोज्ञ दुन्दुभियों (आनकों-वाद्यविशेषों) की ध्वनि से उसने समस्त कुटुम्बी जनों को बुला लिया। जिसकी विशेष पुण्य-चेष्टा समस्त लोक में प्रविष्ट होने का संबंध प्राप्त करती थी। जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवों (विघ्नों) से पराभूत नहीं हुआ था।

पश्चात् उन दोनों देवों ने परीक्षा करने के लिए पद्मरथ राजा के ऊपर निम्न प्रकार की घटनाओं से विघ्न करना प्रारम्भ कर दिया, जिनमें उसके नगर का दाह, रनवास का विनाश, सेना का नाश और बलात् प्रचण्ड वायु के संचार से विशेष शक्तिशाली मेघों से उत्पन्न हुई कठोर ओलों की वृष्टि-आदि वाली भयानक जलवृष्टि पाई जाती है और जिनमें दुःख से भी दमन करने के लिए अशक्य सिंहों की उत्तम आकृतियाँ पाई जाती हैं।

उक्त उपद्रवों के करने पर भी उन्होंने मनुष्यों में श्रेष्ठ पद्मरथ राजा को विचलित न होनेवाले मन-वाला निश्चय किया। तब उन्होंने उसे मायामयी विघ्नवाली, अगाध और जिसने समस्त दिशाओं व बगीचों के संगम को व्याप्त किया है ऐसी कीचड़ में डुबो दिया।

इसके पश्चात् उन्होंने कीचड़ में डूबते हुए राजा के निम्न प्रकार वचन श्रवण किये—'ऐसे वासु-पूज्य तीर्थङ्कर भगवान् के लिए नमस्कार हो, जिसके नाममात्र के माहात्म्य का साम्राज्य सुरासुर देवों के

---

१. परीक्षावद्‌भ्यां। २. पद्मरथो राजा दृष्टः। ३. गिरिवेष्टित। ४. 'नदीप्रभूतदेहायां' इति (क)। ५. सुधर्माचार्यात् सम्यक्त्वं व्रतं चादाय। ६. शरीरतेजः। ७. महिमा-महि पूजायामसर्पोणादिक'इम' प्रत्ययः। ८. वृत्तान्तं। ९. आनन्दभेरी। १०. समासजन्ती संबंधमाप्नुवन्ती। ११. अपराभूतः। १२. उपद्रोतुं प्रारब्धः। १३. नगरदाह। १४. सेना। १५. वायुः। १६. स्थानैः। १७. ज्ञात्वा। १८. विघ्ने। १९. अगाधे। २०. सूदनं निराकरणं विनाशनं।

'अहो नूतनस्य सम्यक्त्वरत्नस्याक्षुण्णसघ्मय पद्मरथ, नैतच्चित्रमत्र यत्सं[1]धासस्वाम्यामखिलैरपि लोकैरसदृशेषु भवादृशेषु न प्रभवन्ति प्र[2]सभप्रभवाः क्षुद्रोपद्रवाः । यतः ।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् । पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १५८ ॥'

इति निगीर्य, वित्ती[3]र्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वंशे सर्वरुजापहारोऽयं हारः, सकलसपत्न[4]संतानो[5]च्छेदमिदमातो[6]द्यं च प्रेषणं करिष्यतीति कृतसंकेताभ्यां तद्वय[7]मभिमतावस्थानं स्थानं भास्था[8]यि । त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसंकथः पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनूनरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षामृतपात्रमजायत । भवति चात्र श्लोकः—

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् । उभौ कामदुघौ लोकौ कीर्तेश्चाल्पं जगत्त्रयम् ॥ १५९ ॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः ।

उपसर्ग-संगम का विनाशक है ।' फिर राजा की धैर्य-वृद्धि के कारण उन दोनों देवों को विस्तृत आनन्द व बुद्धि उत्पन्न हुई और उन्होंने समस्त विघ्न-संबंध दूर करके राजा को सन्मानित करते हुए कहा—'नये सम्यग्दर्शन-रूपी रत्न के निष्कपट गृह-मार्ग पद्मरथ ! प्रतिज्ञा व धैर्य के कारण समस्त प्राणियों की अपेक्षा अनोखे आप-सरीखे महापुरुषों पर हठ से उत्पन्न हुए क्षुद्रोपद्रव धर्मध्यान से डिगाने में समर्थ नहीं हो सकते । इसमें आश्चर्य नहीं ।

क्योंकि अकेली एक जिनभक्ति ही धार्मिक पुरुष को दुर्गति के निवारण करने में, पुण्य वृद्धि करने में एवं मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है ॥१५८॥'

इसके पश्चात् दिव्य वस्तुओं के प्रति संकेत करने वाले उन्होंने उसे दो दिव्य वस्तुएँ प्रदान कीं । १. दिव्य हार २. दिव्य वाद्य । 'यह दिव्य हार जैन धर्म की आराधना के अधीन हुए आपके कुटुम्बी जनों के समस्त रोग नष्ट करेगा और यह दिव्य वाद्य समस्त शत्रु-कुल का उच्छेद (नाश) करने योग्य है और प्रेषण (भगा देना) करेगा ।' ऐसा कहकर उन दोनों देवों ने अपने अभीष्ट स्थान में प्रस्थान किया ।

इन्द्र के मुख द्वारा निरूपण किये हुए गुण-कथनवाला पद्मरथ राजा भी उस तीर्थङ्कर के समवसरण में गणधर के पद पर अधिष्ठित होकर अपनी आत्मा को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) से अलङ्कृत करता हुआ मोक्षरूपी अमृत का पात्र हुआ ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक पुण्य श्लोक का अर्थ यह है—

जिन महापुरुषों की मनोवृत्ति स्वीकार किये हुए व्रतों के निर्वाह संबंधी साहस के योग्य है, उनके दोनों लोक अभीष्ट वस्तु का दोहन करने वाले होते हैं एवं उनकी इतनी विस्तृत कीर्ति होती है कि उसे व्याप्त होने के लिए तीन लोक भी अल्प हैं ॥१५९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जिनदत्त व पद्मरथ राजा का प्रतिज्ञा-निर्वाह के साहस को बतलाने वाला यह छठा कल्प समाप्त हुआ ।

---

१. संधा प्रतिज्ञा मर्यादा द्रव्या सुव्यवसायेषु सत्त्वं । २. हठादुत्पन्नाः । ३. वितीर्य दत्वा । ४-५. शत्रुकुलं । ६. नाशं । ७. हारः आतोद्यं द्वयं । ८. गर्त ।

इतश्च संगमित[1]सकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यसुलभसूचिच्छाया[2]बन्धे पर्वदिवसवासते[3]भूमध्ये सर्वतो यातुधान[4]धावनप्रबन्धिनीषु श्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततद्विद्याराधनानुकूलमण्डलो नभसासु[5] दिक्षु निक्षिप्तरक्षावलीऽवगच[6]: कृतसकलीकरणो भगवत्[7]पूजाविधानसमये वटविटपाग्रे पतिवं[8]राकरकलितसूत्रतन्तुसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्त्रजल्पसंकल्पितमन्त्रवाक्यः सिक्यं निबध्य प्रबन्धेनाधस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्रं बहिर्निवेदिताष्टविधेष्टि[9]सिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिर्बभूव ।

अत्रान्तरे निष्कारणकलिकार्याञ्जनसुन्दर्या निशीथ[10] पथवर्तिवीक्षणे क्षपाक्षणे मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिनः सुन्दरीमहादेवीविलासिनः स्वकीयप्रतापहुतवा[11]हुताहुतीकृतारातिसमितेररिमन्थमहीपतेर्ललितो नाम सुतः समस्तव्यसनाभिभूतत्वाद्‌ यया[12]बन्धुव्यावसंपादितसाम्राज्यपदापायः[13]परमुपायमपश्यन्नदृश्याञ्जनाविर्जनोर्जितप्रज्ञः प्रतीताञ्जनचोरापरसंज्ञः किलैवमुक्तः—'कुशाग्रपुर[14]परमेश्वरस्याग्रमहिष्याः ताविष्याः[15] सौभाग्यरत्नाकरं नाम कण्ठालंकारमिदानीमेव यद्यानीय प्रयच्छसि, तदा त्वं मे कान्तः, अन्यथा प्रणयान्तः[16]' इति । सोऽपि 'कियदेतद्गहनमेतत्' इत्युदारमुदा[17]हृदय प्रियतमामनोरथमन्वयं[18]कं निशीथे निजच्छायावृष्यताशीलकज्जलबहलं लोचनयुगलं विधाय प्रयाय[19]

अब धरसेन को, जिसे जिनदत्त ने आकाशगामिनी विद्या साधने के लिए दी थी, और अञ्जनचोर की कथा श्रवण कीजिए।

यहाँ पर समस्त साधनों की सामग्री-समूह एकत्रित करके धरसेन भी गाढ़ान्धकार से सफल पर्वदिन (चतुर्दशी या अमावस्या) की रात्रि के मध्य में सर्वत्र राक्षसों की दौड़-धूप बढ़ानेवाली श्मशान भूमि पर आकाशगामिनी विद्या के आराधन में परिपूर्ण बुद्धिवाला हुआ। वहाँ उसने आकाशगामिनी विद्या के आराधना-योग्य मंडल की रचना की, समस्त दिशाओं में रक्षा-मण्डल स्थापित किये। पुनः अकेले इसने सकलीकरण क्रिया सम्पन्न की, अर्थात्—भूमिशुद्धि व अङ्ग शुद्धि-आदि क्रियाकाण्ड पूर्ण किया। इसके बाद उसनें पूजा-विधान के समय में वटवृक्ष की शाखा के अग्रभाग पर मन में पढ़ने से निश्चित मन्त्रवाक्यवाला होते हुए, (मन में ही मन्त्रोच्चारण करते हुए) ऐसा छींका बाँधा, जो कि कन्याओं के करकमलों द्वारा काते हुए सूत के हजार तन्तुओं से बनाया गया था और जिसमें अपने बैठने-सरीखा योग्य मध्य स्थान था। इसके बाद उसने छींके के नीचे पृथ्वी पर समस्त तीक्ष्ण शस्त्रों को उनका अग्रभाग ऊपर की ओर करके स्थापित किया। बाद में मण्डल से बाह्य भूमि पर शास्त्रानुकूल आठ प्रकार की पूजा-सिद्धि स्थापित करके उसने आकाशगामिनी विद्या के आराधन में अपनी बुद्धि सन्नद्ध (तैयार) की।

इसी बीच में एक घटना घटी, अर्थात्—अब अञ्जनचोर की कथा श्रवण कीजिए—

इसी बीच में बिना कारण कलह करनेवाली 'अञ्जनसुन्दरी' नाम की वेश्या ने अर्धरात्रि के मार्गवर्ती वीक्षणवाले मध्य रात्रि के समय ऐसे अञ्जनचोर से कहा, जो कि मध्यदेश में प्रसिद्ध 'विजयपुर' नगर के स्वामी, सुन्दरी नाम की पट्टरानी से विलास करनेवाले और अपनी बहुल प्रतापरूपी अग्नि द्वारा शत्रु-समूह को भस्म करनेवाले 'अरिमन्थ' नाम के प्रतापी राजा का 'ललित' नाम का पुत्र था, जो समस्त प्रकार के व्यसनों में आसक्त था, अतः जिसकी राज्यपद की प्राप्ति में उसके बन्धुजनरूपी राक्षसों ने बाधाएँ डालीं तब उसने दूसरा उपाय न देखकर अदृश्य-अञ्जन सिद्ध करके अपनी बुद्धि को शक्ति-युक्त किया, अर्थात्—उस अञ्जन के लगाने से वह अदृश्य हो जाता था और तभी से उसका नाम अञ्जनचोर प्रसिद्ध हो गया।

---

१. एकीकृत-मेलित। २. तिमिरं। ३. रात्रि। ४. राक्षसाः। ५. सर्वासु। ६. एकाकी। ७. बलिः। ८. कन्या। ९. पूजा। १०. मध्यरात्रि। ११. अग्निः। १२. गोत्रिण एव राक्षसाः। १३. विनाशः। १४. राजगृह। १५. 'तासिपी' नामकायाः देव्याः। १६. शत्रुः। १७. उक्त्वा। १८. सार्थकं। १९. गत्वा।

च तन्महीश्वरगृहं गृहीततदलंकारस्तत्प्रभाप्रसरसमुल्लक्ष्यमाणचरणसंचारः शब्द[1] शस्त्रोत्तालाननकरैस्तल[2]वरानुचरैरभिद्रुतो निस्सरीतुमशक्तः परित्यज्य तदाभरणमितस्ततो नगरबाहिरिकायां विहरमाणस्तं धरसेनं प्रदीप्त[3]दीपदीप्तिव्यस्तशावशस्त्रावस्त्रनिवेशभयावेशान्मुहुर्मुहुरारोहावरोहाबहुवेहुवीनमवलोक्य समुपढौक्य च तं वेशमेवं निदिदेश—'अहो प्रलयकालान्धकाराविलायामस्यां वेलायां महासाहसिकव्र[4]धन् दुष्करकर्मकारिन्, को नाम भगवान् धरसेनः—'कल्याणबन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुण्यबटुनियोगसंबन्धोऽहमेतदुपदेशादाकाशविहारव्यवहारनियतां विद्यां सिसाधयिषुरत्रायासिषम्। अञ्जनचोरः—कथमियं साध्यते? धरसेनः—कथयामि, 'पूजोपचारनिवेश्ये शिक्येऽस्मिन्निःशङ्कमुपविश्य विद्यामिमामकुण्ठकण्ठं पठन्नेकैकं शरप्रवेकं स्वच्छधीश्छिन्द्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते।' 'पश्येममपसरापसर'। 'त्वं हि त[5]सोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसंपातभीतमतिर्न खलु भवसि एतत्साधने। एतदवलोपयीतदर्शनेनार्थविवर्जनकृतार्थः समर्थः। तत्कथय मे यथार्थमवाद्दृष्टां विद्याम्। एनां साधयामि। ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पबटुना सापुसमर्पितविद्यः

'राजगृह नगर के राजा की 'तारिणी' नाम की पट्टरानी का 'सौभाग्यरत्नाकर' नाम का कण्ठ-आभूषण यदि इसी समय लाकर मुझे दोगे तब तो तुम मेरे पति हो अन्यथा शत्रु हो।'

वेश्या की बात सुनकर अञ्जनचोर ने कहा—'यह क्या कठिन है?'

इतना उदारतापूर्वक कहकर वह अपनी प्रियतमा का मनोरथ सार्थक (पूर्ण) करने का इच्छुक हुआ। अपने दोनों नेत्रों में ऐसा अञ्जन, जिसके आँजने से उसके शरीर की छाया तक किसी से देखी न जा सके, आँजकर राजमहल में घुसकर उसने उक्त राजमहिषी (पट्टरानी) का कण्ठाभरण चुरा लिया। यद्यपि अदृश्य अञ्जन के कारण उसे कोई नहीं देख सका परन्तु उस हार की रत्नकान्ति के विस्तार से उसका पादसंचार [कोट्टपाल-आदि नगर रक्षकों द्वारा] मालूम पड़ा तब शब्द (गाली-गिलौज) बोलने से उग्र मुखवाले और शस्त्र उठाने से ऊपर उठाये हुए हस्तवाले कोट्टपाल के सेवकों ने उसका पीछा किया। परन्तु उनको धोखा देकर निकल भागने में अपने को असमर्थ देखकर उसने उस आभूषण को वहीं पर छोड़ दिया।

इसके पश्चात् नगर की बाह्य भूमि पर इधर उधर भागते हुए उसने [आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करनेवाले] ऐसे 'धरसेन' को देखा, जिसका शरीर उजाले हुए दीपकों की कान्ति से नीचे गाड़े हुए अस्त्र-शस्त्रों पर गिर जाने के भय के प्रवेश से बार-बार छींके पर चढ़ने-उतरने से दीन था, और उस स्थान पर जाकर कहा—

'अहो! प्रलयकाल-सरीखे गाढान्धकार से मलिन इस रात्रि-वेला में महासाहसी पुरुषों में प्रमुख और दुःख से भी करने के लिए अशक्य कर्म करनेवाले पूज्य आप कौन हैं?'

धरसेन—'मेरे हितैषी बन्धु! भाग्यशाली चरित्रवाले जिनदत्त के साथ पूजा के अवसर पर पुष्प लानेवाले पुत्र के सरीखी प्रसिद्ध आज्ञा पालन का संबंध रखनेवाला मैं उसके उपदेश से आकाश-विहार के व्यवहार में प्रवृत्तिवाली (आकाशगामिनी) विद्यासिद्ध करने का इच्छुक होकर यहाँ आया हूँ।'

अञ्जनचोर—'यह कैसे साधी जाती है?'

धरसेन—'कहता हूँ—'पूजोपचार के क्षेपण-योग्य इस छींके में निःशङ्क (शङ्का-रहित) बैठकर अविराम कण्ठ से इस विद्या को पढ़ते हुए निर्मल बुद्धि वाले होकर छींके की एक-एक डोर काटनी चाहिए,

१. शब्देन उत्तालं मुखं, शस्त्रेण उत्तालः करो येषां। २. तलारः। ३. 'प्रदीप्र:' ख०। ४. प्रधान। ५. ऊर्ध्वमुखावघटित।

सम्यग्विदितवद्यः[1] संप्रयासप्रशिवागारोऽञ्जनचोरः स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः। स खलु महतामपि महाप्रतिपन्नदेशयतिव्रततन्त्रो जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरितोपचारस्य तनूद्भवनिविशेषपोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्' इति निश्चित्य निविश्य च सौत्सुक्यं सिक्ये निःशङ्कशेमु[2]षीकः स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोषितसुरासुरानीकः सकृदेव[3] तच्छुरप्रसरं चिच्छेद, *आससाद च खेचरपदम्। पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गमनं भूयादिति विहिताशासनः[4] काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि सौमनसवनोदयिनि जिनसद्मनि जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृतो गुरुदेवभगवतः समीपे तपो गृहीत्वावगाहितसमस्ततत्त्वतरवो हिमवच्छैलचूलिकोन्मीलित[5]केवलज्ञानः कैलासके[6]सरकान्तारगतो मुक्तिश्रीसमागमसङ्गिभोगा[7]यतनो बभूव।

भवति चात्र श्लोकः—

क्षत्रपुत्रोऽक्षविक्षिप्तः[8] शिक्षिताकृष्यकश्मलः। अन्तरिक्षगतिं प्राप निःशङ्कोऽञ्जनतस्करः ॥१६०॥

ऐसा करने से अन्त में आकाश-गामिनी विद्या सिद्ध होगी।'

अञ्जनचोर—'यदि ऐसा है तो हटो हटो, क्योंकि तुम छींके के नीचे पृथिवी तल पर ऊपर अग्रभाग करके गाड़े हुए तीक्ष्ण शस्त्रों पर गिर जाने को भयभीत बुद्धि वाले हो गये हो, इसलिए तुम इसे सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि तुम तो अपना जनेऊ दिखाने मात्र से धनार्जन करने में कृतार्थ हो। अतः मुझे यथार्थ उपाय से मनोज्ञ विद्या को कहो। मैं इसे साधता हूँ।'

यह सुनकर आत्मकल्याण को अप्रिय समझने वाले उसे धरसेन ने अञ्जनचोर के लिए अच्छी तरह विद्या समर्पित कर दी।

इसके बाद जानने योग्य बातों के ज्ञाता व मोक्ष-स्थान के निकटवर्ती (उसी भव से मोक्ष जाने वाले) अञ्जनचोर ने निश्चय किया—'जिनदत्त सेठ, जिसकी चित्तवृत्ति स्वप्न में भी दूसरों को धोखा देने के व्यवहार से दूर है, निश्चय से महापुरुषों में श्रेष्ठ है और जो स्वीकार किये हुए श्रावक-व्रतों के अधीन है जब प्राणीमात्र का भी अहित चिन्तवन नहीं करता तब क्या उस धरसेन के विषय में, जिसने इसकी चिरकाल तक विशेष सेवा की है और जो इसके द्वारा पुत्र-सरीखा लालन-पालन किया गया है, अहित चिन्तवन कर सकता है ?,

इसके पश्चात् बड़ी उत्कण्ठा के साथ उस छींके पर बैठ गया और निःशङ्क बुद्धि वाला होकर अपने साहस व उद्योग द्वारा सुर व असुरों के समूह को सन्तुष्ट करने वाले उस अञ्जनचोर ने एकबार में ही समस्त छींके के धागे काट दिये और विद्या धर-पद प्राप्त कर लिया। पुनः इसने इच्छा की 'कि जहाँ जिनदत्त है, वहाँ पर मेरा गमन हो' ऐसी इच्छा करने वाला वह सुमेरु पर्वत की मेखला पर स्थित व सौमनसवन में वर्तमान जिनालय में स्थित होकर आचार्य गुरुदेव से धर्म श्रवण करने वाले जिनदत्त के पास पहुँच गया और प्रस्तुत आचार्य के समीप जिन दीक्षा ग्रहण करके समस्त द्वादशाङ्ग शास्त्रों के तत्वों का ज्ञाता (श्रुतकेवली) हो गया। पुनः इसे हिमवन पर्वत की चूलिका पर केवलज्ञान प्रकट हो गया। जब वह कैलाश पर्वत के बकुल वृक्ष के वन में प्राप्त हुआ तब वह मुक्तिश्री के साथ समागम करने में आसक्त आत्मावाला हुआ।

प्रस्तुत विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

अञ्जनचोर, जो कि क्षत्रिय राजकुमार था, और जो जुआ खेलना-आदि व्यसनों के कारण विक्षिप्त

---

१. अञ्जनः। २. शेमुषी मतिः। ३. एकवारं। *प्राप्तवान्। ४. 'विहिताशंसन': क०। ५. प्रकटीकृत। ६. बकुलः। ७. आत्मा। ८. द्यूतेन।

इत्युपासकाध्ययने निःशङ्कितत्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः ।

स्यां[1] देवः स्यामहं यक्षः स्यां वा वसुमतीपतिः । यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छां परित्यजेत् ॥१६१॥

तवशिक्तेव[2] माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः । विक्रीणानः पुमान्स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत् ॥१६२॥

चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः । कामधेनुर्धनं यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥१६३॥

धर्मिते[3] स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला । तं श्रियः स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्य इवाम्बुधिम् ॥१६४॥

तत्कु[4]दृष्टयन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम् । सम्यग्दर्शनशुद्ध्यर्थमाकाङ्क्षां त्रिविधां[5] त्यजेत् ॥१६५॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अङ्गमण्डलेषु समस्तसपत्नसमरारम्भनिष्प्रकम्पायां चम्पायां पुरि लक्ष्मीमति-महादेवीदयितस्य वसुवर्धनाभिधानोर्वीश्वरस्य [illegible] किल प्रियदत्तश्रेष्ठी धर्मपत्न्या गृहलक्ष्मी-सपत्न्या सकलस्त्रैणगुणधाम्नाङ्गवतीनाम्ना सहाह्ना[7]य प्राह्णेऽष्टाह्निक्रियाकाण्डकरणायार्जवकूटकोटिघ[8]टितपताकापट-

बुद्धिवाला हो गया था तब उसने अदृश्य होने का अञ्जन बनाना सीखा। जब वह विद्या-सिद्धि में निःशङ्क हुआ तब उसने आकाशगामिनी विद्या प्राप्त की और मुक्त हो गया ॥ १६० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निःशङ्कित तत्वको प्रकट करनेवाला सातवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब निःकांक्षित अङ्ग का स्वरूप कहते हैं—

यदि सम्यग्दर्शन में प्रभाव है तो 'मैं देव हो जाऊँ' 'अथवा यक्ष हो जाऊँ' अथवा 'राजा हो जाऊँ' ऐसी इच्छा का त्याग करना चाहिए। जैसे छाँछ लेकर माणिक्य को बेचनेवाला मानव केवल अपनी आत्मा को ठगनेवाला होता है वैसे ही क्षणिक सांसारिक सुखों के बदले में अपने सम्यक्त्व को बेचनेवाला मानव भी केवल अपनी आत्मा को ठगनेवाला है ॥ १६१-१६२ ॥ जिस धार्मिक सम्यग्दृष्टि के मन में चिन्तामणि है, हस्त में कल्पवृक्ष है और धन में कामधेनु है, उसे याचना से क्या प्रयोजन ? अर्थात्—सम्यक्त्व चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु-सरीखा है, अतः सम्यग्दृष्टि को बिना याचना किये सब मिलता है, ऐसा जानकर इच्छाएँ छोड़ देनी चाहिए ॥ १६३ ॥ जिसकी मनोवृत्ति धर्मलक्षणवाले योग्य स्थान को प्राप्त करके अनाकुल (सांसारिक सुखों से निःस्पृह) हो जाती है उसे सम्पत्तियाँ वैसी स्वयं प्राप्त होती हैं जैसे नदियाँ समुद्र में स्वयं प्राप्त होती हैं ॥ १६४ ॥ अतः सम्यक्त्व की विशुद्धि के लिए मिथ्यात्व कर्म के उदय से होनेवाली इस लोक व परलोक संबंधी तीन प्रकार की इच्छाएँ (देवता, यक्ष व राजा होने की अभिलाषाएँ) छोड़ देनी चाहिए ॥ १६५ ॥

२. निःकांक्षित अङ्ग में प्रसिद्ध अनन्तमति की कथा—

[अब इस विषय में एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—]

अङ्गदेश में, समस्त शत्रुओं के साथ होनेवाले युद्ध के प्रारम्भ में कम्पन-रहित (निर्भीक) 'चम्पा' नाम की नगरी है। उसमें 'वसुवर्धन' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी 'लक्ष्मीमति' नामकी पट्टरानी थी। उसके यहाँ समस्त वणिकों में श्रेष्ठ 'प्रियदत्त' नामका श्रेष्ठी था। उसकी गृहलक्ष्मी-सी व समस्त स्त्रियों के गुणों की स्थान 'अङ्गवती' नाम की पत्नी थी।

एकबार प्रातः काल में प्रियदत्त सेठ अपनी धर्मपत्नी के साथ अष्टाह्निका पर्व का क्रियाकाण्ड करने

१. अहं भवामि। २. तक्रेण। ३. धर्मलक्षणे। ४. मिथ्यादर्शनावरणोद्भूतां। ५. देव-यक्ष-राजोद्भवां। ६. समस्तवणिजां मध्ये श्रेष्ठः। ७. शीघ्रं सपदि। ८. संयोजित।

ग्रतानाऽञ्चलजालस्खलितनिलिम्पविमानवलयं सहस्रकूटचैत्यालयं यियासुः स्वकीयसुतावयस्यामनङ्गमतीमेवमपृच्छत्—'वत्से, अभिनवविवाहभूषणसुभगहस्ते, क्वास्ते स[1] [2]सुनिर्लाञ्छितलाञ्छनेन्दुसुन्दरमुखी प्रियसखी तवातीव केलिशीलप्रकृतिरनन्तमतिः।' अनङ्गमतिः—'तात,[3] वणिग्वृन्दारकदारि[4]कोद्गीयमानमञ्जुला कुतुकि[5] मधुरकवरव्याजेनात्मपरिणयनाचरणपरिणामपेशला पञ्जरास्थितशुकसारिकावचनवाद्यसुन्दरे वा[6]सावासपरिसरे समास्ते'। 'समाहूयतामितः'। 'यथादिशति तातः'। प्रियदत्तश्रेष्ठी वृद्धभावात्परिहासालापनपरमेष्ठी समागतां सुतामवलोक्य 'पुत्रि, निसर्गविलासरसोत्तरङ्गा[7]पाङ्गापहसितामृतसर[8]णिविषये सर्वदा पञ्चालि[9]काके[10]लिकलहृदये[11] सं[12]प्रत्येव तव मन्मथपथाः परिणयनमनोरथाः। तद्गृहाण तावत्समस्तव्रतेश्वर्यवद्ब्रह्मचर्यम्। अत्रैव ते साक्षी भगवानशेषश्रुतप्रकाशना[13]शयभूरिधर्मकीर्तिसूरिः। अनन्तमतिः—'तात, नितान्तं गृहीतवती। अस्मिन्न केवलमत्र मे भगवानेव साक्षी किं तु भवानम्बा च'। अन्यथा तु

उद्भिन्ने स्तनकुड्मले स्फुटरसे हासे विलासालसे किंचित्कम्पित[14]कंतवाधरभरप्राये वचःप्रक्रमे।
कन्दर्पाभिनयास्त्रवृत्तिचतुरे नेत्राञ्चिते विभ्रमे प्रायायेव च मध्य[15]गौरवगुणं वृद्धे नितम्बे सति॥१६६॥

के लिए शीघ्र ऐसे 'सहस्रकूट' चैत्यालय के प्रति गमन करने का इच्छुक हुआ, जिसने गगनतल को स्पर्श करनेवाले शिखरों के अग्रभाग पर संयोजित ध्वजाओं के विस्तृत वस्त्र के प्रान्तभागों के समूह से देवताओं की विमानश्रेणी स्खलित (रोकी हुई) की है, अतः उसने अपनी पुत्री की सखी अनङ्गमति से पूछा—'नवीन विवाह के आभूषणों से सुन्दर हाथोंवाली पुत्री ! लाञ्छन-रहित चन्द्र-सरीखे मुखवाली तुम्हारी विशेष प्यारी सखी और क्रीड़ाशील स्वभाववाली पुत्री 'अनन्तमति' कहाँ है ?,

अनङ्गमती—'पिताजी ! जिसका मञ्जुल श्रेष्ठ वैश्यों की कन्याजनों द्वारा गान किया गया है और जो गुड्डेरूप वर के विवाह के बहाने से अपने विवाह करने के अभिप्राय से मनोज्ञ है, ऐसी वह अनन्तमति पिंजरे में बैठी हुई तोता-मैना के मुखरूपी बाजे से मनोज्ञ निवासगृह के प्राङ्गण में बैठी हुई है।'

'उसे यहाँ लाओ।'

'पिताजी जैसी आज्ञा देते हैं।'

प्रियदत्त सेठ ने, जो कि वृद्ध हो जाने से परिहास-युक्त वार्तालाप करने में विशेष निपुण था, समीप में आई हुई कन्या को देखकर कहा—'पुत्री ! सदैव गुड्डी से खेलने के लिए पटुतावाले और स्वाभाविक विलास-रस से उच्छलन करनेवाले नेत्रप्रान्तों से अमृत की छोटी नदी को तिरस्कृत करनेवाले तेरे हृदय में अभी से कामदेव के मार्गरूप विवाह के मनोरथ उत्पन्न हो चुके हैं, अतः समस्त व्रतों में श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करो। पुत्री ! इस विषय में समस्त आगम के प्रकाशन के अभिप्रायरूपी सुवर्णवाले ये भगवान् धर्म कीर्ति सूरि तुम्हारे साक्षी हैं।'

अनन्तमति—'पिताजी ! मैंने सर्वथा ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया और इसमें केवल आचार्य ही साक्षी नहीं हैं किन्तु आप और माता जी भी साक्षी हैं।'

अनन्तमति की युवावस्था—उसकी कुचकलियाँ विकसित हो गईं। उसका हास्य, विलास से सुन्दर

---

१. सखी। २. निर्लाञ्छनचन्द्रवत्। ३. हे मुख्य। ४. कन्याजनः। ५. डींगला। ६. निवासगृहप्राङ्गणे। ७. नेत्रप्रान्ते। ८. कुल्या। ९. पुत्तलिकाः। १०. क्रीडायां। ११. पटुहृदये, पुत्तलिकाक्रीडायां पटुहृदये। १२. इदानीमपि। १३. आचार एव सुवर्णं विद्यते यस्य सः। भूरि प्राज्ये सुवर्णे चेति विश्वः। १४. कम्पितमिवेग। १५ गौरवगुणं नितम्बेन गृहीतं तेन मध्यं क्षामं जातं।

समायाते[1] मुहुरुत्पथप्रथमानमन्मथो[2]न्माथमन्थरसमस्तसत्त्वस्वान्ते सद्यःप्र[3]सूतसहकाराङ्कुरकवलकषायकण्ठकोकिलकामिनीकुहूरवासराजितमनोजविजये मलयाचलमेखलानिलीनकिन्नरमिथुनमोह[4]नामोदमेदुरपरिसरत्समीरसमुदये विकसत्कोश[5]कुरबक[6]प्रसवपरिमलपानलुब्धमधुकरीनिकरझङ्कारप्रसरे वसन्तसमयावसरे सा प्रसरत्स्मरविकारा स्मरस्खलन्मतिगतिरनन्तमतिः सह[7]सहचरीसमूहेन मदनोत्सवदिवसे दोलान्दोलनलालसमानसा स्वकीयरूपातिशयसंपत्तिरस्कृतसकलभुवनाङ्गनाङ्गविलासा उपवनमुपेयिवती सुकेशीप्रियतमासहितेन कृ[8]तकामचारप्रचारचेतसा पूर्वापराकू[9]पारपालि[10]वीचीसुन्दरीसनाथीत[11]भूधरस्य विजयार्धगिरीश्वरस्य विद्याधरीविनोदपादपोत्पादभूम्यां दक्षिणश्रेण्यां किन्नरगीतनामनगरनरेन्द्रेण कुण्डलमण्डितनाम्ना खचरेण निध्यायिता[12]।

शृङ्गारसारममृतद्युतिमिन्दुकान्तिमिन्दीवरद्युतिमनङ्गशरांश्च सर्वान्।
आदाय नूनमियमात्मभुवा[13] प्रयत्नात्सृष्टा जगत्त्रयवशीकरणाय बाला ॥१६७॥

और प्रीति-जनक था। जब वह वचन बोलने का आरम्भ करती थी तो उसके ओष्ठपल्लवों में कुछ कम्पन के बहाने से विशेष मनोज्ञता पाई जाती थी। उसके नेत्रों के कटाक्षों के संचार कामदेव के नवीन अस्त्रों के संचालन में चतुर थे। उसका नितम्बभाग, मध्यभाग (कमर) की गुरुता को लेकर ही मानों—वृद्धिंगत हो गया था और इसीलिए मानों—उसका मध्यभाग (कमर) कृश हो गया था ॥ १६६ ॥

जब ऐसा वसन्त ऋतु का अवसर आया, जिसमें समस्त प्राणियों के मन बारम्बार उन्मार्ग में बढ़ी हुई कामदेव की पीड़ा से चंचल हो रहे थे। जिसमें नवीन उत्पन्न हुई आम्र-मञ्जरियों के भक्षण से कषायले कण्ठवाली कोकिलाओं के मधुर कूजन से कामदेव की विजय प्रसारित की गई है। जिसमें ऐसी उन्नतिशील वायु का संचार होरहा है, जो कि मलयाचल के तट में प्रविष्ट हुए किन्नर देव-देवियों के जोड़ों की सुरत-क्रीडा से उत्पन्न हुई सुगन्धि से परिपूर्ण है और जिसमें ऐसी भौंरियों के समूह की झङ्कार ध्वनि का उत्तम प्रसरण हो रहा है, जो कि विकसित कलियोंवाले कुरबक-पुष्पों की सुगन्धि के रसपान में लुब्ध (लम्पट) हैं।

तब ऐसी अनन्तमति एक बार मदनोत्सव के दिन सखियों के समूह के साथ झूला झूलने के लिए उत्कण्ठित मनवाली होकर उपवन (बगीचा) में गई, जिसमें कामदेव का विकार उत्पन्न हो रहा है और जिसकी बुद्धि की गति कामदेव से स्खलित हुई है एवं जिसने अपनी विशेष लावण्य सम्पत्ति से समस्त लोक की स्त्रियों के शारीरिक अङ्ग-विलास को तिरस्कृत किया है।

उसी अवसर पर उसे ऐसे कुण्डल मण्डित नाम के विद्याधर ने देखा और उसे चाहने लगा, जिसने यथेष्ट संचार में चित्त लगाया था और जो सुकेशी नाम की पत्नी के साथ आया था एवं जो पूर्व-पश्चिम समुद्र की वीची (तरङ्ग) रूपी कमनीय कामिनीवाली तटी के धारक विजयार्ध पर्वत की विद्याधरियों के विनोदरूपी वृक्ष की उत्पत्ति भूमिवाली दक्षिण श्रेणी में स्थित हुए 'किन्नरगीत' नाम के नगर का स्वामी था।

इसके पश्चात् वह इसके रूप लावण्य से मोहित होकर निम्न प्रकार विचार करने लगा—

'ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—ब्रह्मा ने तीन लोक को वश में करने के लिए शृङ्गार का सार, अमृत की तरलता, चन्द्र की कान्ति, नील कमल की शोभा और कामदेव के समस्त बाण ग्रहण करके ही इस बाला की सृष्टि (रचना) स्वयं विशेष प्रयत्न से की है' ॥ १६७ ॥

---

१. वसन्ते। २. पीडन। ३. उत्पन्न। ४. सुरतं। ५. मध्य। ६. भोगरसवृक्ष–रक्तसुगन्धपुष्पविशेषः। ७. सखी। ८. कृतस्वेच्छाचारगमनचित्तेन। ९. समुद्रः। १०-११. वीची। वेला एव स्त्री-सहिततटी। १२. दृष्टा। १३. ब्रह्मणा।

इति विचिन्त्याभिलषिता च। ततस्तामपजिहीर्षुधिषणः[1] मुहुर्निवृत्य[2] निर्वर्तितनिजनिलयसुकेशीनिवेशन प्रत्यागत्यापहृत्य च पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता गगनमार्गार्द्धे—प्रतिनिवृत्तकुपितसुकेशीदर्शनाशङ्कितआशयेन तत्कायसंक्रमितावलोकनीपर्णलघुविद्याद्वयेन शङ्खपुराभ्यर्णभागिनि भीमवननामनि कानने मुक्ता। तत्र च मृगयाप्रसंग[3]नमागतेन भीमनाम्ना किरातराजलक्ष्मीसीम्नावलोकिता, नीता चोपान्तप्रकीर्णेङ्गुदी[4] फलच्छलिं पल्लिम्[5]। एतद्रूपदर्शनदीप्तमदनमदेन च तेन स्वतः परतश्च तैस्तैरुपायैरात्मसंभोगसहायैः प्रार्थिताप्यसंजातकामिता हठात्कृतकठोरकामोपक्रमेण तत्परिगृहीतव्रतस्थैर्यविस्मायितकान्तारदेवताप्रातिहार्यादिष्ट[6]पल्लिदहनदवानलोपेण मृत्युहेतुकालकूपावकपच्यमानशरीरेण च 'मातः, क्षमस्वैकमिममपराधम्' इत्यभिधाय शबरोपचारोपचीयमानसहचरीचित्तोत्कण्ठे शङ्खपुरपर्यन्तपर्वतोपकण्ठे परिहृता तत्समीपसमावासितसार्थानीकेन पुष्पकनामकेन वणिक्पतिपाकेना[7]वलोकिता सती स्वीकृता च तेन,[8] तेन चार्थेन स्वस्य वशमानेतुमसमर्थेन कोशलदेशमध्यायामयोध्यायां पुरि व्यालिकाभिधानकामपल्लवकन्दल्याः शंफल्याः[9] समर्पिता। तथापि मदनमदसंपादनावसथाभिः कथाभिः क्षोभयितुमशक्यया तद्रा[10]जधानीवि[11]निवेशस्य सिंहमहीशस्योपायनीकृता[12]।

इसके पश्चात् उसकी बुद्धि इसे अपहरण करने की इच्छुक हुई। पश्चात् वह अपने गृह की ओर लौटा और अपनी पत्नी सुकेशी को अपने गृह में ठहराकर वापिस उसी उद्यान में आकर अनन्तमति को अपहरण करके अपने विद्याधर नगर की ओर चल दिया परन्तु जब इसने आधे आकाशमार्ग से वापिस लौटी हुई और कुपित हुई अपनी पत्नी सुकेशी को देखा तो इसका हृदय भयभीत हुआ। अतः इसने अनन्तमति के शरीर में 'अवलोकिनी' और 'पर्णलघु' नामकी दो विद्याएँ संक्रमण कराईं। पश्चात् उन दोनों विद्याओं ने अनन्तमति को शङ्खपुर के निकटवर्ती 'भीमवन' नामके वन में छोड़ दिया।

वहाँ पर शिकार-क्रीड़ा के लिए आये हुए भीलों की राज्यलक्ष्मी के मर्यादाभूत भिल्लराज भीम ने उसे देखा और वह उसे इङ्गुदी फलों की लताओंवाली भीलों की स्थानीभूत पर्णकुटी (झोंपड़ी) में ले गया। इसके रूप लावण्य को देखकर भिल्लराज का काममद प्रदीप्त हो गया, अतः उसने स्वयं व दूसरों की सहायता की अपेक्षावाले व अपने भोग में सहायता देनेवाले अनेक उपायों से अनन्तमति से प्रार्थना की, किन्तु उसमें कामवासना उत्पन्न नहीं हुई। अतः उसने इससे बलात्कारपूर्वक कठोर कामरूपी रोग का इलाज किया, परन्तु इसके द्वारा धारण किये हुए ब्रह्मचर्य व्रत की निश्चलता से आश्चर्य-चकित हुई वनदेवता के माहात्म्य से भिल्लराज की पूरी झोपड़ी अग्नि से दग्ध कर दी गई, अतः जब भिल्लराज भीम का शरीर मृत्यु-जनक भयरूपी अग्नि से जलने लगा तो उसने कहा—'माता! मेरे इस एक अपराध को क्षमा करो।' बाद में उसने इसे शङ्खपुर के निकटवर्ती पर्वत के समीपवर्ती स्थान पर छोड़ दी, जो कि भीलों द्वारा की जानेवाली सेवा-शुश्रूषा से उनकी भिल्लनियों के चित्त की उत्कण्ठा वृद्धिंगत करनेवाला है।

बाद में अनन्तमति को वणिक् पति के पुत्र 'पुष्पक' ने देखा, जिसके द्वारा उक्त पर्वत के निकट व्यापारियों की समूहरूपी सेना बसाई गई है, परन्तु वह धनादि देकर उसे वश करने में असमर्थ रहा तब उसने उसे कौशल देश को मध्यवर्ती अयोध्या नाम की नगरी में रहनेवाली कामरूपी पल्लव की कन्दली-सरीखी 'व्यालिका' नामकी वेश्या के लिए समर्पण कर दी। जब वह वेश्या भी काम के दर्प को उत्पन्न करने की स्थानीभूत कथाओं से उसे ब्रह्मचर्य से डिगाने में असमर्थ हुई तब उसने इसे उस देश की राजधानी में निवास करने-

---

१. अपहर्तुमिच्छुमतिना। २. व्याघुट्य। ३. क्रीडां प्रति। ४. हिंगोटक। ५. भिल्लालयपर्णकुटी। ६. परिपूर्णपल्लिदाहेन। ७. पुत्रेण। ८. वणिक्पुत्रेण। ९. कुट्टिन्याः। १०-११, तद्राजधान्यां विनिवेशो निवेशः स्थानं यस्य सः तस्य। १२. प्राभृतीकृता।

तेनाप्यलब्धतन्मनःप्रवेशेन विलक्षिताभिलषितदुरभिसंधिना[1] तत्कन्यापुण्यप्रभावप्रेरितपुरदेवतापादितान्तःपुरपुरपरिजनाप-कारविधिना साधु संशोध्य नियमसमाहितहृदयचेष्टा *विसृष्टा पितृष्वसुः सुदेवीनामधेयायाः पत्युः पितुश्चार्हद्दत्तस्य सुगृहीतनामधेयस्य[2] जिनेन्द्रदत्तस्योपवसितसमीपवर्तिनं [3]विरतिचैत्यालयमवाप्य तत्र निवसन्ती यमनियमोपवासपूर्वकै-र्विधिभिः क्षपितेन्द्रियमनोवृत्तिर्भवन्ती[4] तस्मादङ्गदेशनगराज्जिनेन्द्रदत्तं चिरविरहोत्तालं श्यालं[5] विलोकितुमागतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना वीक्ष्य विषयाभिलाषमोषरूक्षकचा सा विहितबहुशुचा पुनः प्रस्थाप्य तस्मै जिनेन्द्रदत्तसुतायार्हद्दत्ताय दातुमुपक्रान्ता—'तात, त्वं भवन्तं भगवन्तं भवन्तं पितरं मातरं च त्वां प्रमाणीकृत्य कृतनिरवधिचतुर्थ[6] व्रतपरिग्रहा। ततः कथमहमिदानीं विवाहविषये परिकल्पनीया' इति निगद्य कमलश्रीसकाशे विरतिविशेषवंशरत्नत्रयकोशमभजत्।

हासात्पितुर्वचनतोऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता। कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥१६८॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षितत्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः।

वाले 'सिंह' नाम के राजा के लिए भेंट कर दी। परन्तु जब राजा सिंह भी अनन्तमति के हृदय में स्थान न पा सका तब उसने इसके साथ दुष्ट अभिप्राय का ग्रहण किया (बलात्कार करना चाहा) तब उस कन्या के पुण्य के प्रभाव से प्रेरित हुए नगर देवता ने उस राजा के अन्तःपुर की रानियों व नगरवासियों तथा राज-सेवकों को नाना प्रकार के कष्ट देकर भले प्रकार उसकी रक्षा की तब राजा ने अनन्तमति को ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थिर चित्तवाली समझकर छोड़ दिया।

इसके पश्चात् वहाँ से प्रस्थान करके वह अपने पिता की बहिन 'सुदेवी' नामवाली के पति और 'अर्हद्दत्त' के पिता सार्थक नामवाले जिनेन्द्रदत्त के गृह के समीप में स्थित आर्यिकाओं के निवासवाले चैत्या-लय में प्राप्त हुई। वहाँ निवास करती हुई उसने यम, नियम व उपवासपूर्वक विधानों से अपनी इन्द्रियवृत्ति व मनोवृत्ति की चंचलता क्षीण की। एक दिन अङ्गदेश की 'चम्पा' नगरी से चिरकालीन विरह से व्याकुलित हुए अपने साले जिनेन्द्रदत्त सेठ को देखने के लिए आये हुए इसके पिता 'प्रियदत्त' सेठ ने विषयों की लालसा के त्याग से रूक्ष केशोंवाली अपनी पुत्री अनन्तमति को देखकर विशेष शोक किया। इसके बाद आकर जब उन्होंने अपनी पुत्री अनन्तमति का विवाह जिनेन्द्रदत्त सेठ के पुत्र अर्हद्दत्त कुमार के साथ करने का आरम्भ किया तब पुत्री अनन्तमति ने कहा—'पिताजी! जब मैंने पूज्य आचार्य (धर्मकीर्ति) और माता-पिताकी साक्षी-पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा आजन्म ग्रहण की है तब आप इस समय मेरा विवाह-संस्कार कैसे कर सकते हैं?'

ऐसा कहकर उसने कमलश्री नाम की आर्यिका के समीप आकर विशेष आर्यिकाओं के वंश (कुल व पक्षान्तर में बाँस) की, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप रत्न) रूपी निधि प्राप्त की अर्थात्—आर्यिका की दीक्षा धारण की।

इसके विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

अनन्तमति ने, अपने पिता के हास्यजनक वचनों से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। पुनः विषयों की इच्छा का त्याग करती हुई उसने तप करके आयु के अन्त में बारहवें स्वर्ग में प्रविष्ट हुई। अर्थात्—स्त्रीलिङ्ग-छेदकर बारहवें स्वर्ग में देव हुई॥ १६८॥

इस प्रकार सोमदेव सूरि के उपासकाध्ययन में निःकांक्षित-तत्व को बतलानेवाला आठवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१. गृहीतदुष्टाभिप्रायेण। *. समर्पिता। २. यथार्थनाम्नः। ३. आर्यिका। ४. संजायमाना। ५. मैथुनकः ६. ब्रह्मचर्यं।

तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदं [1]संश्लाघ्यमन्दिरम् । सदोषकादि[2] चेत्येवं चेतः स्याद्विचिकित्सता[3] ॥१६९॥
स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः श्रुताश्रयम् । [4]शीलमाश्रयितुं जन्तुस्तदर्थं[5] वा निबोधितुम् ॥१७०॥
स्वतः शुद्धमपि व्योम वीक्ष्यते मलीमसम् । नास्य[6] दोषोऽस्ति किं तु स्यात्स दोषश्चाक्षुषा[7]श्रयः ॥१७१॥
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते । स लोहे कालिकालोकान्नूनं मुञ्चति काञ्चनम् ॥१७२॥
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिस्त्वक्छायामनोहरः । अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥१७३॥
तदैतिह्ये[8] च देहे च याथात्म्यं पश्यतां सताम् । उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रवर्तताम् ॥१७४॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतावधिबोधमार्गत्रयप्रवृत्तमतिमन्दाकिनीसान्द्रः सौधर्मेन्द्रः किल सकलसुरसेवासभावसरसमये सम्यक्त्वरत्नगुणान्गीर्वाणगणानुग्रहायोदाहरन्निदानीमिन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यपरनामावसरस्य

[अब निर्विचिकित्सा अङ्ग का निरूपण करते हैं—]

'जैन तीर्थङ्करों द्वारा कहा हुआ यह उग्र तप सत्यता का मन्दिर न होने से प्रशंसनीय नहीं है एवं यह तपरूपी वस्तु सदोष है' इस प्रकार के मानसिक अभिप्राय को विचिकित्सा-ग्लानि कहते हैं॥ १६९ ॥ जो विवेक-हीन मानव शास्त्र-निरूपित शील (सदाचार या व्रतों का परिरक्षणरूप आचार) के पालन में या उसका अभिप्राय समझने में असमर्थ है, इसमें निश्चय से उसी मानव का दोष समझना चाहिए न कि शास्त्र का ॥ १७० ॥ क्योंकि स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन देखा जाता है, इसमें आकाश का कोई दोष नहीं है किन्तु देखनेवाले के नेत्रों का ही दोष (काच-कामलादि) है ॥ १७१ ॥

जो मानव धार्मिक महापुरुषों की शारीरिक मलिनता देखकर उनकी रत्नत्रय-(सम्यग्दर्शन-आदि) धारक आत्मा से घृणा करता है, वह निश्चय से लोहे का कालापन देखकर सुवर्ण को छोड़ देता है। भावार्थ—जैसे लोहे के कालापन का सुवर्ण से कोई संबंध नहीं वैसे ही शरीर की मलिनता का आत्मा से कोई संबंध नहीं है; अतः धार्मिक मुनियों के शरीर की मलिनता देखकर उनकी आत्मा से घृणा नहीं करनी चाहिए ॥१७२॥ निस्सन्देह अपना या दूसरों का शरीर बाहरी चमड़े की कान्ति से मनोज्ञ प्रतीत होता है परन्तु इसकी भीतरी हालत (रक्त-आदि) का विचार करने पर तो यह उदम्बर फलों-सरीखा है ॥ १७३ ॥ अतः आप्तोपदेश रूप आगम को प्रमाण मानते हुए और उसके आधार से शरीर का यथार्थ स्वरूप निश्चय करनेवाले सज्जन पुरुषों की मनोवृत्ति धार्मिक पुरुषों की शारीरिक मलिनता देखकर उनसे ग्लानि करनेवाली कैसे हो सकती है? भावार्थ—आचार्यों ने कहा है कि यह शरीर रस-रक्त-आदि सात धातुमय होने से मलिन है, परन्तु उसमें सम्यग्दर्शन-आदि रत्नत्रय की धारक आत्मा रहती है, अतः मुनि-आदि महापुरुषों के शरीर से ग्लानि न करते हुए उनके आत्मिक गुणों में अनुराग करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है ॥ १७४ ॥

निर्विचिकित्सा अङ्ग में प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कथा—इस संबंध में एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—

मति, श्रुत व अवधिज्ञानरूपी तीन मार्गों से प्रवृत्त हुई बुद्धिरूपी मन्दाकिनी—गङ्गा-से कोमल हुए सौधर्मेन्द्र ने समस्त देवों द्वारा सेवनीय सभा में प्रसङ्ग के समय देव-समूह का अनुग्रह करने के लिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न के गुणों का निरूपण करते हुए कहा—'इस समय 'इन्द्रकच्छ' नाम के देश में 'रोरुकपुर' नामका नगर है, जिसका दूसरा नाम मायापुरी भी है। उसमें 'प्रभावती पट्टरानी के विनोद का स्थान 'उद्दायन' नामका

1. इदं किंचित् श्लाघ्यं न 2. सदोषं अदः एतद् वस्तु। 3. 'विचिकित्सना' मु० व ह० लि० 'ख'। 4. अन्वयः—यत् श्रुताश्रयं शीलमाश्रयितुं तदर्थं वा निबोधितुं-जन्तुः न शक्तः स स्वस्यैव हि दोषः। 5. शीलार्थं आचरणप्रयोजनं ज्ञातुमसमर्थो वा। 6. नभसः। 7. नेत्रस्य संबंधी। 8. शास्त्रेआदिसिद्धान्ते।

रौरुकपुरस्य प्रभोः प्रभावतीमहादेवीविनोदायतनादौद्रायणनाम्नोऽवनीपतेः सद्दर्शनशरीरगदचिकित्सायामपरः कोऽपि क्षान्तिमतिप्रसरो मोक्षलक्ष्मीकटाक्षावेक्षणाक्षुण्णपात्रे*[*] मर्त्यक्षेत्रे नास्तीत्येतच्च वासवसंज्ञोऽसहिष्णुवशः पुरंदरोदितासहमानप्रशस्तप्रमहामुनिसमूह[1]प्रचारप्रचुरे नगरेऽवतीर्य सर्वाङ्गा[2]भिनाप्रतिष्ठ[3]कुष्ठकोष्ठकं[4]निष्ठ्यूत[5]श्लेष्मकोपमुलबहुमखिलदेहिसंदोहोद्वेजनं अश्रपेक्षणघ्राण[6]गरणविनिर्गलदमर्गल[7]दुर्गन्धपूयप्रवाहमूर्धस्फुटितस्फोट[8]स्फुटचेष्टितानिष्टमक्षिकाक्षिप्ताशेषशरीरमभ्यन्तरोच्छ्व[9]पद्मकोषो[10] सरकुलत्वगन्तरालप्रलीनाखिलनखमा[11]सीरमविच्छिन्नोष्म[12] ध्वंवतुच्छकच्छू[13]च्छन्न[14]सृक्क[15]सारि[16]णीसर[17]स्रवत्ततलालाप्रावमनवरतस्रोतः[18]सुतातीसारसंभूत[19]बीभत्सभावमनेक[*]शोविवि[20]क्षरसिखोत्पात[21]नियातान्विता[22]शुचिराशिदुर्दर्शवपुषमपृथिवेषमाचायावमामा[23]यनीपतिभवनमभजत्। नृपतिरपि सप्ततलारम्भसौधमध्यमध्यासीनस्तमसाध्यव्याधिविधुरधिषणाधीनं बिभ्राणा[24]ध्ये[25]षणाय निजनिलयमा[26]लीयमानमवलोक्य सौत्सुक्यमागत्य

राजा है। उसके-सरीखा सम्यग्दर्शन रूपी शरीर के रोग का इलाज करने में व ग्लानि न करने में क्षमा रूपी बुद्धि का प्रसार करने वाला दूसरा कोई व्यक्ति मुक्ति रूपी लक्ष्मी के कटाक्षों के देखने के लिए परिपूर्ण पात्र-स्वरूप इस मनुष्य लोक में नहीं है।

जब 'वासव' नाम के देव ने उक्त बात श्रवण की तब उसकी बुद्धि इन्द्र की बात सहन करने में असमर्थ हुई। इसलिए वह उसकी परीक्षा करने के लिए महामुनि-समूह के विहार की प्रचुरतावाले रौरुकपुर में आया और उसने अपनी विक्रिया से ऐसा कोढ़ी मुनि का रूप धारण किया, जिसमें उसके समस्त अङ्ग सर्वाङ्गीण व्याधि (रोग) से अशोभन कोढ़ के संग्रहागार थे। जिसका शरीर थूके हुए कफ की बहुलता से पीड़ित था जिसे देखकर समस्त प्राणी-समूह को ग्लानि उत्पन्न होती थी। जिसमें उसके श्रोत्र, नेत्र, नासिका व गले के छिद्रों से निरन्तर दुर्गन्धि पीप-प्रवाह प्रवाहित हो रहा था—बह रहा था। जिसके समस्त शरीर पर बड़े बड़े पके हुए फोड़े प्रकट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे थे एवं उनके पकने-फूटने-आदि के कारण समस्त शरीर पर अनिष्ट मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। जिसके समस्त नख व नासिका [कुष्ठ रोग के कारण गल जाने से] से] भीतरी सूजनवाले व विशेष पीड़ा-जनक त्वचा के मध्यभाग में विशेष रूप से प्रविष्ट हो गए थे—घुस गये थे। जिसके निरन्तर उठने वाली तीक्ष्ण खुजली से व्याप्त हुए ओष्ठों के पर्यन्त भाग रूपी नदी से निरन्तर राल टपकती थी। जिसमें निरन्तर मल-द्वार से निकली हुई आँव व मल से घृणा उत्पन्न होती थी और नगर की गलियों के अग्रभाग पर ऊपर नीचे गिरने से निकली हुई गूथ- (विष्ठा) श्रेणी के कारण जिसका शरीर दुःख से भी देखने के लिए अशक्य था।

पुनः वह भोजन करने के लिए राज-भवन में गया। अपने सतमंजिले राजभवन में बैठे हुए राजा ने जैसे ही असाध्य रोग से पीड़ित बुद्धि के अधीन हुए और आहार ग्रहण करने के लिए राजभवन की ओर आते हुए उस साधु को देखा तो वह बड़ी उत्कण्ठा के साथ आया और उसे पड़गाहा। पश्चात्-निर्भीक मन व चरित्रवाला राजा कृत्रिम (बनावटी) रोग रूपी अग्नि से पराधीन चित्तवाले और बार-बार पृथिवीतल पर गिरते हुए एवं अत्यन्त असाध्य खुजली की उत्पत्ति से जर्जरित शरीरवाले उस मुनि वेषधारी

*. अक्षूणं मु० च च। परिपूर्ण। * उद्रायननृपादन्यः। १. गमनव्यापारबति। २. व्याधिना-रोगेण। ३. अशोभित। ४. ईदृग्गृहविशेषं। ५. निष्ठीवन। ६ गरणो गलः। ७. अनवरतं। ८. फोड़ा। ९. सोजू शोथः। १०. कोषस्तु नेत्ररुग्भेदे मथने शटितेऽपि च। ११. नासिका। १२. उत्पद्यमान। १३. पामा। १४. आच्छादित। १५-१६. ओष्ठपर्यन्त एव सारिणी नदी। १७. स्रवत्। १८. मलद्वारस्रवत्। १९. उत्पन्न। *. बहुवारं। २०. वीथी। २१. उत्पातनिपाता उत्पतननिपतनक्रियाः। २२. गूथश्रेणि। २३. आहारार्थं। २४. बिभ्राणं भोजनं। २५. अध्येषणमर्थिता, आहार-अर्थितार्थं-ग्रहणाय। २६. आगच्छन्तं।

स्वीकृत्य च कृत्रिमामय[1]क्षुधावकम्पवशात्स्वनितं[2] तं मुहुर्मुहुर्महीतले निपतन्तमनुद्विग्नमना[3] इच्छाविरतः प्रकाममुर्जयसर्जना[4] कनकजं रितगात्रं काश्मीरपङ्कपिञ्जरेण भुजपञ्जरेणो[5]द्धान्यानीय च[6]ानवेश्मोदरं स्वयमेव समाचरितोचितोपकारस्तदभि-लाषोन्मेषसारैराहारैरुपशान्ताशना[7]योत्कण्ठमाकण्ठं भोजयामास ।

मायामुनिः पुनरपि तन्मनोजिज्ञा[8]समानमानसः प्रसभमतिगम्भीरगलगुहाकुह[9]रोज्जि[10]हानघोरघोषाभि-घातघन[11]घूर्णिताघन[12]मप्रतिघं[13]छावमीत् । भूमिपतिरपि 'आः, कष्टमनिष्टं, यन्मे मन्दभाग्यस्य गृहे गृहीताहारो-पयोगस्यास्य मुनेर्मनःखेदपादपवि[14]तर्दिकाविः समभूत्' इत्युप[15]कुष्टानिष्टचेष्टितवर्त्मात्मानमात्मना विनिन्दन्मायामयमक्षि-कामक्षलितकपोलरेखादेतन्मुखावसराल्लालाविलन्नमन्नमिन्दि[16]रारविन्दोदरसौन्दर्यनिकटेनाञ्जलिपुटेनावायावाय मेदिन्या-मुदसृजत्[17] । पुनश्चोद्गीर्णोदनपुञ्जपङ्क[18]रनिकरे भ्रमिस्र[19]मनिर्भरारम्भपतितशरीरं सप्रयत्नकर[20]स्थामसीमं समुत्थाप्य जलजनितक्षालनप्रसङ्गमुत्तरीयदुकूलाञ्चलविलुप्तसलिलसङ्गमङ्गसंवाहनेनानुकम्पनविधानोचितवचनरचनेन च साधु समा-श्वासयत् । तदनु[21] प्रमोदामृतामन्दहृदयालवालवलयोल्लसत्प्रीतिलताविनिः सुरवरो[22]मुनिर्व्यचिन्तयत् सद्दर्शनश्रवणोत्कण्ठितहृदि त्रिदिवौ[22]कसामपि परिषदि परगुणग्रहणाग्रहनिधानेन विबुधप्रधानेन प्राज्यराज्यस[23]मभ्यर्चनसर्जितजगत्त्रयोनिजनामधेयप्रसिद्धि-

को तरलकेसर-सरीखे सुनहले भुजा रूप पञ्जर से उठाकर भोजनशाला के मध्य लाया और स्वयं उसका उचित उपचार करने लगा एवं उसकी इच्छा की उत्पत्ति से मनोज्ञ आहारों से कण्ठ तक ऐसा भोजन कराया, जिसमें उसकी भोजन की इच्छा शान्त हो गई।

पश्चात् राजा का मानसिक अभिप्राय जानने के इच्छुक मनवाले उस मायावी—बनावटी मुनि ने ऐसा विशेष वमन (उल्टी) किया, जिसमें अत्यन्त गंभीर गलेरूपी गुफा के छिद्र से बाहिर आ रहे भयानक शब्दों के परस्पर ताड़न की अधिकता से उसका शरीर कम्पित हो रहा था और जो निर्विघ्न (बाधा-रहित) था। उक्त घटना को देखकर राजा ने कहा—'आः! मुझे महान् कष्ट उत्पन्न हुआ, क्योंकि भाग्यहीन मेरे गृह में आहार ग्रहण करने वाले इस मुनि को मेरे मानसिक खेदरूपी वृक्ष को बढ़ाने के लिए वेदिका-सरीखी उल्टी हुई।' इस प्रकार निन्दनीय व अनिष्ट चेष्टा के मार्गरूप अपनी आत्मा की निन्दा करता हुआ वह राजा मायामयी मक्खियों के झुंड से की हुई गालों की रेखा वाले इस मुनि के मुख से निकला हुआ व निरन्तर बहने वाली लार से सना हुआ अन्न अपने हाथों की दोनों अंजुलियों से, जो कि लक्ष्मी वाले कमल के मध्य में रहने वाले सौन्दर्य-सरीखी हैं, बार बार उठा उठाकर भूमि पर फेंकने लगा। पश्चात् वमन किये हुए व प्रकट हुए दुर्गन्धित ओदन-समूह पर मायामयी—बनावटी मूर्च्छा के विशेष आरम्भ के कारण गिरे हुए शरीर वाले साधु को प्रयत्न-सहित हाथों के बल की सीमापूर्वक उठाया। पुनः उसने उसे जल से धोने का प्रसङ्ग (संबंध) किया और दुपट्टे के कोने से सुखा कर दिया। पुनः पगचम्पी द्वारा और दयालुता के विधान वाले योग्य वचन बोलकर उसने उसे अच्छी तरह आश्वासन दिया।

पुनः राजा की वैयावृत्य देखकर मुनिवेषधारी उस देव के प्रमोदरूपी अमृत से परिपूर्ण हृदयरूपी क्यारी-समूह में प्रीतिरूपी लता स्थान पाकर लहलहाने लगी। फिर उसने विचार किया—'सम्यग्दर्शन के श्रवण में उत्कण्ठित हृदयवाली देवों की सभा में दूसरों के गुणों को ग्रहण करने के आग्रह की निधिरूप इन्द्र ने बहुत

१. रोग। २. आस्वनितं गतः। ३. चित्तं। ४. उत्पत्तिः। ५. उद्धृत्य। ६. रसवतीगृह-मध्यं। ७. उपशान्ता अशनाय उत्कण्ठा यस्य। ८. ज्ञातुमिच्छन्। ९. विवरात्। १०. उद्गच्छन्तः ये घोराः शब्दाः तेषां परस्परताडनं। ११. बहुल। १२. शरीर। १३. निर्विघ्नं वान्तः (उल्टी)। १४. वेदिका। १५. निन्दनीय चेष्टा। उपक्रुष्टं कुत्सितं। १६. श्रीः। १७. परित्यक्तवान्। १८. ओदनसमूह। १९. भ्रमिः मूर्च्छा, मायाभ्रमता। २०. स्थाम बलं। २१. ततः पश्चात्। २२. देव २३. कीर्तिः।

यथोक्तसाम्राज्यवाप्ति[1]गमनीयधी[2]बुद्धिरयं[3] वर्णितस्तथैवायं मया महाभागो निर्व[4]र्णित इति विचिन्त्य प्रकटितात्मरूप-प्रसरस्समवलोक्यवरतमरसवप्रसूनवर्षानन्दकदुन्दुभीनादोपघातशुचिभिः[5] साधुकारपर[6]व्याहारावसरशुचिभिरवारैरुपचारैर[7]-निमिषविषय[8]संभूष्णुभिर्मनोभिलषितसंपादनजिष्णुभिस्तैस्तैः पठित[9]मात्रसिद्धे[10]र्विद्योपदेशगर्भैरंबरैश्च संभाव्य सुरसेव्यं देशमाविवेश।

भवति चात्र श्लोकः—

बालवृद्धगदग्लानान्मुनीनुद्दायनः स्वयम्। भजन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरंदरात्॥१७५॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः।

अन्तर्दु[11]रन्तसंचारं बहिराकारसुन्दरम्। न श्रद्दध्यात् कुदृष्टीनां मतं किंपाक[12]संनिभम्॥१७६॥

श्रु[13]तिशाक्य[14]शिवा[15]म्नायाः क्षौद्रमांसासवाश्रयाः। यजन्ते[16]मख[17]मोक्षाय विधिरत्रैतदन्वयः॥१७७॥

[18]भर्मिभ[19]स्मजटाचोटयोगपट्टक[20]टासनम्। मेख[21]लाप्रो[22]क्षणं मुद्रा[23] [24]वृसीदण्डः करण्डकः॥१७८॥

बड़े राज्य की कीर्ति की प्राप्ति से तीन लोक में अपने नाम की ख्याति प्राप्त करने वाले व यथोक्त सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से धारणीय बुद्धिवाले इस राजा को जैसा श्लाघित—प्रशंसा-युक्त किया था वैसा ही मैंने इस महाभाग्यशाली को प्रत्यक्ष देखा। ऐसा सोचकर उसने अपना असली रूप का प्रसार प्रकट कर दिया। एवं उसने ऐसी महान् सेवा-शुश्रूषाओं से राजा को विशेष सन्मानित किया, जो कि कल्पवृक्षों से होनेवाली पुष्प-वृष्टि व आनन्दभेरी की ध्वनि के आघात से पवित्र हैं, एवं जो श्लाघित शब्दों को बेला से पवित्र हैं, और उसने उसे मन्त्र के पाठमात्र से स्वाधीन होनेवाली विद्याओं के उपदेश-सहित दिव्य वस्त्रों से सन्मानित किया। अर्थात्—उस देव ने उद्दायन राजा के लिए रोहिणी प्रज्ञप्ति-आदि विद्याएँ दीं और दिव्य वस्त्र-समूह भी प्रदान किये। जो कि (विद्याएँ व वस्त्र) देवों के स्वर्ग में उत्पन्न हुई हैं और उसकी मनोकामना पूर्ण करने वाली हैं। बाद में वह स्वर्ग-लोकको प्रस्थान कर गया।

इस विषय में एक श्लोक है—उसका अभिप्राय यह है—'बाल, वृद्ध और रोग-पीड़ित साधु पुरुषों की स्वयं सेवा-शुश्रूषा करनेवाला और सम्यक्त्व के निर्विचिकित्सा अङ्ग को पालन करनेवाला राजा उद्दायन इन्द्र से प्रशंसित हुआ॥ १७५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में निर्विचिकित्सा अङ्ग में उत्साह-वृद्धि करनेवाला नौवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब अमूढदृष्टि अङ्ग का निरूपण करते हैं—]

ऐसे मिथ्यादृष्टियों (बौद्ध-आदि) के मत में श्रद्धा नहीं करनी चाहिए, जिसके मध्य में दुष्ट अभिप्राय व निन्द्य आचार भरा हुआ है, किन्तु जो बाह्य रूप में मनोज्ञ प्रतीत होता है और जो विषफल-सरीखा कष्टप्रद है॥ १७६॥ वैदिकमत मधु-सेवन का विधान करनेवाला है और बौद्धमत मांस-भक्षण का विधान करता है एवं शैवमत मद्यपान को स्वीकार करता है। वैदिकमत और शैवमत में यज्ञ (अश्वमेध-आदि) द्वारा मोक्ष-निमित्त विधि की जाती है, उसमें मधु व मांस-आदि का प्रयोग है॥ १७७॥ दूसरों को धोखा देनेवाला माया-

१. प्राप्तिः। २. धारणीयबुद्धिः। ३. श्लाधितः। ४. दृष्टः। ५. पवित्रैः। ६. शब्द। ७. देव। ८. उत्पादकैः। ९-१०. मंत्रपाठमात्रेण स्वाधीनविद्योपदेशसहितैः वस्त्रैः, अर्थात्-वस्त्राणि दत्तानि, रोहिणी प्रज्ञप्तिप्रभृतिकाः विद्याश्च दत्ताः। ११. अभिप्राय आचारं। १२. महाकालफलसदृशं। १३. वेदे क्षौद्रस्वीकारः। १४. बौद्धमते मांसाम्नायः। १५. शैवमते मद्यं। १६. शैवमते। १७. मखेन यज्ञेन कृत्वा मोक्षनिमित्तं विधिः क्रियते। १८. भर्गि परवंचनकरः आडम्बरः। १९. गोमयलेपनं। २०. तृणकटे उपवेशनं। २१. कटीविषये पट्टबन्धनम्। २२. अम्भोक्षणं। २३. हस्ते मुद्रिका शोभा वा बाहौ। २४. पाटली आपादे व्रतिनां दण्डः, पट्टकः कुशासनम्।

श्रौ[illegible] [illegible][2] [illegible]जुहनादिकर्मणम् । आत्मतत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥१७९॥

को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः । को बन्धः कश्च मोक्षो वा यत्रैवं न विद्यते ॥१८०॥

आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु । नाभिजात[3]फलप्राप्त्यै वि[4]जातिष्विव जायते ॥१८१॥

तत्संस्तवं[5] प्रशं★सां वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु । [6]ज्ञानविज्ञा[7]नयोस्तेषां विपश्चिन्न च विभ्रमेत् ॥१८२॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मुक्ताफलमञ्ज★रीविराजितविलासिनीकर्णकुण्डलेषु पाण्ड्यमण्डलेषु पौरपुण्याचार-विधुरितदुरितविधुरायां[8] ★दक्षिणमथुरायामशेषश्रुतपारा[9]वारपारगमवधिबोधाम्बुधिमध्यसाधितसकलभुवनभागम्, [10]अष्टाङ्गमहानिमित्तसंपत्तिसमर्थितकर्मफलाधिकरणम्, अखिलश्रमणसंघसंसेव्यमानचरणम्, अत्याश्चर्यतपश्चरणगोचरा-

---

चार-पूर्ण आडम्बर, शरीर पर भस्म लपेटना, जटाजूट का धारण, वस्त्रविशेष का धारण, दर्भासन पर बैठना, दर्भ-सूत्र को कमर में धारण करना, प्रोक्षण (भूमि-शुद्धि के लिए जल व दुग्ध-आदि का सिञ्चन करना), हस्त में मुद्रिका-धारण या बाहु में डाभ-धारण, कुश-आसन, दण्ड (पलाश-आदि-काष्ठविशेष), करण्डक (पुष्प रखने का पात्र), शारीरिक अङ्गों का जलादि से पवित्र करना, स्नान, आचमन, पितृ-पूजा (श्राद्ध द्वारा पितृतर्पण), अग्नि पूजा, ये क्रियाएँ आत्मतत्व से विमुख मानवों के लिए शोभायमान होती हैं, न कि तत्वज्ञानियों को ॥ १७८–१७९ ॥ आप्त कौन हो सकता है ? आत्मा व परमात्मा का बोध करानेवाला ज्ञान कौन है ? मोक्षोपयोगी तत्व कौन है ? या वस्तु स्वरूप क्या है ? अर्थात्-सर्वथा एकधर्मात्मक वस्तु है ? या अनेक धर्मात्मक वस्तु है ? बन्ध किसे कहते हैं ? और मोक्ष का क्या स्वरूप है ? इत्यादि विचार वहाँ नहीं है । अर्थात्-ये सब मोक्षोपयोगी सिद्धान्त वहाँ नहीं हैं । अभिप्राय यह है कि मिथ्यादृष्टियों के मत सर्वथा नित्य व सर्वथा अनित्य-आदि एकान्त वस्तु के प्रतिपादक हैं, इसलिए उनके यहाँ बन्ध व मोक्ष का सही स्वरूप संघटित नहीं होता ॥ १८० ॥

जिस सम्प्रदाय में आप्त और आगम सदोष हैं, अर्थात्-यदि आप्त रागादि दोषों से दूषित है और आगम पूर्वापरविरोध-आदि दोषों से सहित है, तो उनमें विशुद्धि—प्रामाणिकता-संघटित नहीं हो सकती । उसके अनुयायियों का बाह्य क्रियाकाण्ड शुद्ध होने पर भी वैसा अभिलषित फल (मोक्ष) नहीं दे सकता, जैसे नीच जातियों में कुलीन सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता नहीं होती ॥ १८१ ॥ इसलिए मिथ्यादृष्टियों (बौद्ध-आदि) की न वचन से स्तुति करनी चाहिए और न उनकी मन से प्रशंसा करनी चाहिए एवं उनका मन्त्रवाद-आदि संबंधी ज्ञान व विज्ञान जानकर विद्वान् को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए ॥ १८२ ॥

[अमूढदृष्टि अङ्ग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा]

इस विषय में एक कथा है, उसे सुनिए—

मोतियों की किरणों से सुशोभित हुए वेश्याओं के कर्णकुण्डलवाले पाण्ड्यदेश में नागरिक मनुष्यों के पवित्र आचरण से पापरूपी राक्षसों से रहित 'दक्षिणमथुरा' नामकी नगरी है । वहाँ ऐसे पूज्य 'मुनिगुप्त' नामवाले आचार्य विराजमान थे । समस्त द्वादशाङ्ग श्रुतरूपी समुद्र के पारगामी जिन्होंने अवधिज्ञानरूपी समुद्र के मध्य समस्त लोक का भाग प्रत्यक्ष करके दिखलाया था । जो अष्टाङ्ग महानिमित्तज्ञानरूपी लक्ष्मी से

---

१. मृत्तिकादिविधिना । २. आचमनं । ३. अभिलषित । ४. नीचजातिषु । ५. वचसा । ★. मनसा । ६. मन्त्र-वादादिविषयं । ७. निर्बीजीकरणादिविषयं । ★. किरण । ८. विधुराः राक्षसाः । ★. 'विधुरायां' (स०) । ९. समुद्रः । १०. अष्टाङ्गमहानिमित्तानि भौमस्वरशरीरव्यञ्जनलक्षणछिन्नभिन्नस्वप्नाः ।
अन्तरिक्षं स्वरो भौममंगव्यञ्जनलक्षणं । छिन्नभिन्न इति प्राहुर्निमित्तान्यष्ट तद्विदः ॥ १ ॥

चारचातुरीचमत्कृतचित्तखचरेश्वरविरचितचरणार्चनोपचारं श्रीमुनिगुप्तनामधेयाहारं भदन्तं भगवन्तं गगनगमनाङ्ग-[1] **नापाङ्गामृतसारणीसंबन्धवीध्रस्य**[2] **विजयार्धमेदिनीध्रस्य रतिकेलिविलासविगलितनिलि**[3]**म्पललनामेखलामणौ दक्षिण-श्रेणौ मेघकूटपत्तनाधिपत्योपान्तः सुमतिसीमन्तिनीकान्तः संसारसुखपराङ्मुखमतिश्चन्द्रप्रभश्चन्द्रशेखराय सुताय निजैश्वर्यं वितीर्य पञ्चमवसितदेशयतिरूपः सकलाम्बरचरविद्यापरिग्रहसमीपः सप्रश्रयमभिवन्द्यानवद्यविद्यामहन् भगवन्, पौराङ्गनाशृङ्गारोत्तरङ्गापाङ्गपुनरुक्तस्मरशरायामुत्तरमथुरायां जिनेन्द्रमन्दिरवन्दारुहृदयरथो**[4]**हृदयवती वर्तेऽहम्। अतस्तन्नगरीगमनाय तत्रभवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि। किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यम्' इत्यपृच्छत्, मुनिसत्तमः—'प्रियतम, यथा ते मनोरथस्तथाभिमतपथः समस्तु। संदेष्टव्यं पुनस्तत्रतावदेव यदुत तत्पुरीपुरंदरस्य वरुणवर्णेश्वरस्य शचीसदृशः सुदृशः पति**[5]**-जिनपतिचित्तचरणोपचारपदव्या महादेव्या रेवतीतिगृहीतनामाया मदीयाशीर्वाच्या तथावश्य**[6]**कविशेषवश्यधिषणस्य**[7] **सुव्रतभगवतो वन्दना च। देशयतिवरः—'किमपरस्तत्र भगवन्, जैनो जनो नास्ति'। भगवान्—'देशव्रतिन्,**

विशिष्ट बुद्धि के आधार थे। समस्त श्रेष्ठ मुनिसंघ जिनके चरण कमलों की उपासना करता था और जिनके चरणकमलों की पूजा का उपचार, ऐसे विद्याधर राजाओं द्वारा रचा गया था, जो कि इनकी विशेष आश्चर्य-जनक तपश्चर्या संबंधी चरित्र-पालन की चतुरता से आश्चर्य-युक्त चित्तवाले थे। उनसे ऐसे 'चन्द्रप्रभ' नाम के क्षुल्लक ने सविनय नमस्कार कर पूछा, जो कि विद्याधरों की कमनीय कामिनियों के कटाक्षरूपी अमृत-नदी के संबंध से विशद—शुभ्र हुए 'विजयार्द्ध' पर्वत को रतिक्रीड़ा के विलास से देवियों की करधोनी के मणियों को शिथिलित करनेवाली दक्षिण श्रेणी में स्थित हुए 'मेघकूट' नामक नगर के स्वामित्व के समीप था, अर्थात्—राजा था। सुमति नामकी उसकी रानी थी और जिसकी बुद्धि सांसारिक सुखों से विमुख थी, अतः जिसने अपने 'चन्द्रशेखर' नाम के राजपुत्र के लिए अपना राज्य देकर उक्त आचार्य के समीप क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण की थी और जिसके समीप विद्याधरों की आकाशगामिनी-आदि समस्त विद्याओं की स्वीकृति थी।

'निर्दोष विद्या से श्रेष्ठ भगवन्! मेरा मनोरथ नागरिक कमनीय कामिनियों के शृङ्गार से तरङ्गों-सरीखे बढ़े हुए कटाक्षों द्वारा दुगुने हुए काम-बाणवाली उत्तरमथुरा के अनेक जिन-मन्दिरों की वन्दनाशील हृदय वाला है, अतः उस नगरी को जाने के लिए पूज्य भगवान् की अनुमति प्राप्त करना चाहता हूँ एवं उस नगरी में किसके प्रति क्या सन्देश कहना है? उसे भी बतला दें।'

आचार्य—'प्रियवर! आपका मनोरथ (अभिलाषा) इष्ट मार्ग वाला हो और वहाँ के लिए मेरा इतना ही संदेश है, कि उस नगर के इन्द्र-सरीखे वरुण राजा की इन्द्राणी-सरीखी मनोज्ञ व सम्यग्दृष्टि तथा पति (राजा) के चित्त की व तीर्थङ्कर भगवान् के चरणकमलों की पूजा की मार्गभूत महादेवी रेवती नाम की रानी के लिए मेरा आशीर्वाद कहना तथा अपने आवश्यक (सामायिक-आदि) विशेषों की अधीन बुद्धिवाले भगवान् (पूज्य) 'सुव्रत' नाम के साधु के लिए मेरी वन्दना कहना'।

क्षुल्लक ने पूछा—'भगवन्! क्या वहाँ अन्य जैनसाधु नहीं हैं?

आचार्य—'देशव्रती! आपको इतने विचार करने से ही पर्याप्त है, अर्थात्—विशेष पूछने की आव-

---

१. विद्याधर-स्त्री। २. विशदः। ३. देवाः। *. गृहीत। ४. मनोरथः। ५. पतिश्च राजा, जिनपतिः वीतराग परमस्वामी, तयोश्चित्तचरणौ, अर्थात्—पत्युश्चित्तं जिनपतेश्चरणौ उपचार (पूजा) मार्गायाः। पदवी स्थानं मार्गो वा। ६. आवश्यकं नियमता। ७. बुद्धेरात्मनो वा।

अलं विकल्पेन । तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्याहंतेतरशरीरिवत्[1]सा सम[2]क्षा स्थितिः' । 'खचरविद्याबीजप्ररोहमल्लकः[3] क्षुल्लको यथादिशति दिव्यज्ञानसङ्गवान्भगवान्' इति निगीर्य गगनचर्ययावतीर्य चोत्तरमथुरायां परीक्षेयं[4] तावदेकादशाङ्गनिधानं भव्यसेनम् । तदनु परीक्षिष्ये सम्यक्त्वरत्नवन्तीं रेवतीमिति कृतकौतुकः कलमकणिशकिशा[5]रप्रकाशकेशपेशलासरलचूलमुत्तप्तकाञ्चनरुचिरुचिरशरीरगौरतानुकूलमरविन्दमकरन्दपरागपिङ्गलनयनमतिस्प[6]ष्टप्रि[7]ष्टवर्णवर्णनोदीर्णाननमेकादशवर्षदेशीयमतिविस्मयनीयं कपटबटुवेषमाश्लिष्य[8] तन्मुनिमतमुदवसितम[9] थासीत् ।

सोऽपमु[10]निस्तमीक्षणकमनीयं द्विजात्मजसजातीयं विलोक्य किलैवं स्नेहाधिक्यमालीलपत्—'हंहो, निखिलद्विजवंशव्यतिरिक्तसुकृतकृतकल्याणप्रकृतितया समस्तलोकलोचनानन्दोत्पादनपटो, बटो, कुतः खलु समागतोऽसि' । 'अभिनवजनमनोह्लादनवच[11]नागदप्रयोगचरकभट्टारक, सकलकलाविलासावासविद्वज्जनपवित्रात्पाटलिपुत्रात्'[12] । 'किमर्थम्' । 'अध्ययनार्थम्' । 'क्वाधि[13]जिगांसा विकरणमन्तःकरणम्' । 'वाङ्मलक्षालनकरप्रकरणे[14] व्याकरणे' । 'यद्येवं मदन्तिके

श्यकता नहीं है', क्योंकि वहां पर पहुँचे हुए आपको जैन व जैनेतरलोक-सरीखी स्थिति प्रत्यक्ष हो जायगी' ।

विद्याधरों की विद्यारूपी बीजाङ्कुरों के पात्ररूप (धारक) क्षुल्लक ने कहा—'अतीन्द्रिय ज्ञान के सङ्गम वाले भगवान् जैसी आज्ञा देते हैं, उसे प्रमाण मानता हूँ ।' इतना कहकर वह आकाश-मार्ग की चर्या (गमन) से उत्तर मथुरा में जा पहुँचा । वहाँ उसने कौतूहल किया कि 'मुझे सबसे पहिले ग्यारह अङ्ग के निधि भव्यसेन मुनि की परीक्षा करनी चाहिए तत्पश्चात् सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से विभूषित रेवती रानी की परीक्षा करूँगा' ।

ऐसा विचार करके उसने विद्या की सामर्थ्य से ऐसा बनावटी बालक-वेष धारण किया, जो (बालक-वेष) ग्यारह वर्ष के कुमार-सरीखा था । जिसका घना मस्तक धान्य-मञ्जरी के अग्रभाग-सरीखे पीले प्रकाशमान केशों से मनोहर था । जिसका गौर वर्णवाला शरीर तपे हुए सुवर्ण की कान्ति-सरीखा सुन्दर था । जिसके नेत्र, कमल के मकरन्द और पराग-जैसे पीले थे । जिसका मुख अत्यन्त स्पष्ट व महान् शब्दों के उच्चारण करने से खुला हुआ था और जो अत्यन्त आश्चर्यजनक था । पुनः वह भव्यसेन मुनि के आश्रम में गया ।

मुनिवेषी (द्रव्यलिङ्गी) भव्यसेन ने नेत्र-प्रिय व ब्राह्मण-पुत्र-जैसे उसे देखकर निस्सन्देह विशेष स्नेहपूर्वक कहा—'समस्त ब्राह्मण-वंश के विशेष पुण्य से रची हुई कल्याणकारिणी प्रकृति के कारण समस्त लोक के नेत्रों को आनन्द उत्पन्न करने में चतुर हे कुमार ! तुम कहाँ से आये हो ?

बालक-वेषी क्षुल्लक—'नवीन मानव के मन को सुख देने वाली वचनरूपी औषधि के प्रयोग करने में चरक वैद्य-सरीखे हे भगवन् ! मैं समस्त कलाओं के विलास के स्थानीभूत विद्वानों से पवित्र हुए पाटलिपुत्र (पटना) नगर से आया हूँ ।'

'किस प्रयोजन से आये हो ?'

'पढ़ने के लिए'

---

१. समाना । २. प्रत्यक्षा । ३. मल्लकं भाजनं धारकः । ४. अहं परीक्षेयं । ५. किशारुः शालकं अग्रविभागमित्यर्थः । ६. असंकीर्णा । ७. महान्तः । ८. गृहीत्वा । ९. स्थानं । १०. भव्यसेनः । ११. वचनमेवौषधं तस्य प्रयोगे चरकवैद्यः । १२. आगतोऽस्म्यहं । १३. अध्ययनं कर्तुमिच्छा । १४. अध्याये ।

स्वाध्यायध्यानसर्वस्व, समास्व[1]। 'परवा[2]दिमदविदारण[3]वाक्प्रक्रमासे, भगवन्, साधु समासे[4]'। तदन्वतीतवतीषु कियतीषु चित्कालकलासु 'वटो, ललाटंतपो वर्तते मार्तण्डः। तद्गृहाणेमं कमण्डलुम्। पर्यट्या[5]गच्छावः'। बटुः—'यथाज्ञापयति भगवान्'। पुनर्नगरबाहिरिकायां निर्गते च रूप[6]संयते स कपटवटुर्मार्गमध्ये शष्पा[7]ङ्कुरनिकरनिकीर्णां विहारावनीमवनिमकार्षीत्। तद्दर्शनादाकुलितयतिरपि मनाग्व्यलम्बिष्ट। बटुः—'भगवन्, किमित्यकाण्डे विलम्ब्यते'। 'वटो, प्रवचने[8] किलैते शष्पाङ्कुराः स्थावराः प्राणिनः प्रपठ्यन्ते'। 'भगवन्, श्वासादिषु[9] मध्ये कियन्तिथगुणः[10] खल्वमीषां प्राणः। केवलं रत्नाङ्कुरा इव धराविकारा ह्येते शष्पाङ्कुराः'। वेषमुनिः—'साध्वयमभिदधाति' इति विचिन्त्य विहृत्य च निःशङ्कं निष्पादितनी[11]हारो विरहित[12]व्याहारः करेण किमप्यभिन[13]यन्नेवमनेनोक्तः—'भगवन्, किमिदं मौनेनाभि[14]नीयते'? जिनरूपाजीवः—

'आपका मन किस विषय के अध्ययन करने की इच्छा का स्थान है?'

'मेरा मन वाचनिक दोषों को प्रक्षालन करने वाले अध्याय-युक्त व्याकरण के अध्ययन का इच्छुक है।'

'यदि यह बात है तो हे स्वाध्याय व ध्यान के सर्वस्व बालक! तुम मेरे पास ही ठहरो।'

'परवादियों का मद चूर-चूर करने वाली वचन-पद्धतिरूपी खड्गयष्टि से सुशोभित हे भगवन्! आपके पास ही अच्छी तरह ठहरता हूँ।'

इसके बाद जब कितनी काल-कलाएँ (समय-विभाग) व्यतीत हो चुकीं तब एक दिन भव्यसेन मुनि ने उससे कहा—

'बालक! सूर्य मस्तक को सन्तप्त करने वाला हो गया है, अर्थात्—मध्याह्न की बेला है; अतः इस कमण्डलु को ग्रहण कर चलो पर्यटन करके वापिस आ जांय।'

'भगवान् जैसी आज्ञा देते हैं।'

मुनिवेषी भव्यसेन के नगर के बाह्यप्रदेश में जाने पर उस कपटवेषी बालक ने विहार भूमि को बालतृणों के अङ्कुर-समूह से व्याप्त (आच्छादित) कर दिया। उसे देखकर मुनिवेषी भी कुछ समय तक विलम्ब करके ठहर गया।

बालक—'भगवन्! असमय में विलम्ब क्यों करते हो?'

भव्यसेन—'बालक! आगम में ये घास के अङ्कुर निश्चय से स्थावर जीव (एकेन्द्रिय) कहे जाते हैं।'

बालक—'भगवन्! श्वास-आदि दश प्राणों में से इनमें निश्चय से कितने प्राण होते हैं? घास के ये अङ्कुर तो केवल रत्नाङ्कुरों-सरीखे पार्थिव हैं।'

मुनिवेषी—'यह बालक सत्य कहता है' ऐसा विचार कर उस मुनिवेषी ने निःशङ्क होकर उस बाल-तृणों से व्याप्त पृथिवी पर विहार करके शौच (मलोत्सर्ग) से निवृत्त होकर मौन धारण करके हाथ से कुछ संकेत किया तो बालक ने कहा—

---

१. तिष्ठ। २. मिथ्यावादि। ३. वाक्प्रक्रम एव असिः खड्गो यस्यासौ तस्य संबोधनम्। ४. तिष्ठामि। ५. पर्यटनं कृत्वा। ६. वेषधारिणि। ७. बालतृण। ८. सिद्धान्ते। ९. दशप्राणेषु मध्ये। १०. कतितमः। ११. पुरीषं। १२. मौनी। १३. संज्ञां कुर्वन्। १४. संज्ञा क्रियते।

'अभिमानस्य रक्षार्थं प्रती[1]क्षार्थं श्रुतस्य च । ध्वनन्ति मुनयो मौनमदनादिषु कर्मसु ॥१८३॥'

इति मौनफलमविकल्प्य जातजल्पः 'द्विजात्मज, समन्विष्य[2] समानीयतामावा[3] यत्कायो गोमयो भसित[4]-पटलमिष्टकाशकलं वा'। 'भगवन्, अखिललोकशौचोचितप्रवृत्तिकायां मृत्तिकायां को दोषः'। 'वटो, प्रवचनलोचननिधा[5]यिकास्तत्कायिकाः किल तत्र सन्ति जीवाः'। 'भगवन्, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवगुणः'। न च तेषु तद्द्वय[6]मुपलभ्यते'। 'यद्येवमानीयतां मृत्स्ना कृत्स्नासुमत्सेव्या'। बटुस्तथाचर्य कुण्डिकामर्पयति। मुधामुनिर्जलविकलं कमण्डलुं करेणाकलय्य 'वटो, रिक्तोऽयं कमण्डलुः'। 'भगवन्, इदमुदकमनि[7]ष्कर्दमे तल्ले[8]ऽग्रतस्ते'। 'वटो, पटापूतपानीयादाने महदादी[9]-नवं किमिति यतो जन्तवः सन्ति'। 'भगवन्, तदसत्यमिह स्वच्छतया विहायसीव पयसि तदनवलोकनादिति' वचनात्तत्र बहिस्तन्त्र[10]संयमिनि तत्त्वाभि[11]निवेशव[12]शिकाशयवेश्मनि तद्देशशुद्धिमपाश्रितशौचे खचरेण चिन्तितम्। अतएव भगवानतीन्द्रियपदार्थप्रकाशनशेमुषीं प्राप्तः। श्रीमुनिगुप्तोऽस्य किमपि न वाचिकं[13] प्राहिणोत्। यस्मादस्मिन्नतीव पर्वति-

---

'भगवन् ! आप मौन से संकेत क्यों करते हैं ?'

यह सुनकर नग्नवेष से उदरपोषण करने वाले मुनिवेषी ने कहा—'स्वाभिमान (याचना न करना) की रक्षा के लिए व शास्त्र की पूजा के लिए भोजनादि क्रियाओं (भोजन, स्नान, सामायिक-आदि छह कर्म, शौच-आदि) में मुनिगण मौन धारण करने को कहते हैं ॥ १८३ ॥'

मौन के इस फल का विचार किये बिना ही मुनिवेषी भव्यसेन बोल उठा—'ब्राह्मण-पुत्र ! कहीं से खोजकर सूखा गोबर, राख-समूह, या ईंट का टुकड़ा लाओ।'

बालक—'भगवन् ! समस्त लोक की शुद्धि के योग्य प्रवृत्तिवाली मिट्टी में क्या दोष है ?'

'बालक ! मिट्टी में निश्चय से शास्त्ररूपी नेत्र द्वारा देखे गए पृथिवीकायिक जीव रहते हैं।'

'भगवन् ! जीव का लक्षण तो ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग है परन्तु मिट्टी में ये दोनों उपयोग नहीं पाये जाते।'

'यदि ऐसा है तो समस्त प्राणियों द्वारा सेवन-योग्य मिट्टी लाओ।'

बालक ने मिट्टी लाकर [जल-शून्य] कमण्डलु समर्पण कर दिया।

हाथ से कमण्डलु को खाली जानकर मुनिवेषी ने कहा—'बालक! यह कमण्डलु तो खाली है।'

'भगवन्! जल तो सामने कीचड़-रहित तालाब में है।'

'बालक ! वस्त्र से बिना छाने हुए जल को ग्रहण करने में महान् पाप है, क्योंकि उसमें जीव होते हैं।'

'यह बात बिलकुल झूठ है; क्योंकि स्वच्छ होने से आकाश-सरीखे इस जल में जीव दिखाई नहीं देते।'

यह सुनकर उस बाह्य सम्प्रदाय के मुनि ने, जिसका अभिप्रायरूपी भवन तत्त्वज्ञान के अभिप्राय से शून्य है, उस तडाग पर जाकर शुद्धि क्रिया कर ली तब विद्याधर ने विचार किया कि इसीलिए अतीन्द्रिय

---

१. पूजार्थं। २. दृष्ट्वा। ३. आवायत्कायः शुष्यच्छरीरः (शुष्कः) यै वै शोषणे इत्यस्यरूपं। ४. भस्मपोटरा। ५. निधायो दर्शनं स विद्यते येषामिति। इने घन इति वः यस्यैकः तस्यैकादेशः। दृष्टाः इत्यर्थः। ६. ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं। ७. अकर्दमे। ८. तडागे। ९. आदीनवं दोषः कर्मास्रवदोषः। १०. संप्रदायं। ११. अभिप्राय। १२. वशिकं शून्यं। १३. सन्देशं।

पवनमिवान्तस्तत्त्वसर्गे[1] निसर्गमलीमसं मानसं बहिःप्रकाशनसरसं च । भवति चात्र श्लोकः—

जले तैलमिवैतिह्यं* वृथा तत्र बहि[2]ःस्फुरि । रस[3]वत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वे[4]धाय धातुषु ॥१८४॥

इत्युपासकाध्ययने भव्यसेनवृत्तिलम्भो नाम दशमः कल्पः ।

परीक्षितस्तावदयं हठाविर्भविष्यद्भवसेनो[5] भव्यसेनस्तदिदानीं भगवदाशीर्वादपादपोत्पादवसुमतीं रेवतीं परीक्षे इत्याक्षि[6]प्तान्तःकरणः पुरस्य[7] पूर्व[8]दिशि हंसांसो[9]त्तंसावासवेदिकान्तरालकमलकर्णिकास्तीर्ण[10]मृगाजिना[11]सीनपर्यङ्कपर्यायम्, अमर[12]सरःसंजातसरोजसूत्रवर्तितोपवीतपूतकायम्, अमृतकर[13]कुरङ्ग[14]कुल[15]कृष्ण[16]सारकृत्ति[17]कृतोत्तरा[18]सङ्गसंनिवेशम्, अनवरतहोमारम्भसंभूतभसितपाण्डुपुण्ड्र[19]कोटिकटनिटल[20]देशम्, अम्बरचरतरङ्गि[21]णीजलक्षालितकल्प[22]कुजवल्कलवसि-

---

पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली बुद्धिवाले भी मुनिगुप्ताचार्य ने इसे कुछ भी सन्देश नहीं भेजा; क्योंकि इसका मन दीपक की बत्ती के अग्रभाग-सरीखा आत्मतत्व के निश्चय में स्वभाव से ही कलुषित है परन्तु बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने में प्रीति-युक्त है ।

इस विषय के समर्थक एक श्लोक का अर्थ यह है—

मानव का जल में तैल-सरीखा बाह्याचार में ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ है; क्योंकि उसमें (ऊपरी शास्त्रज्ञान में) भेदज्ञान के लिए अन्तर्बोध (आत्मज्ञान) नहीं होता । जैसे लोह-आदि धातुओं के भेद के लिए पारद में अन्तर्बोध—भीतरी प्रवेश होता है, जिससे लोहादि धातुएँ सुवर्ण हो जाती हैं ॥ १८४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में भव्यसेन मुनि की आगम-विरुद्ध प्रवृत्ति को बतलानेवाला यह दसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

तदनन्तर 'चन्द्रप्रभ' क्षुल्लक ने मन में विचार किया—कि 'मैंने ऐसे भव्यसेन की परीक्षा कर ली, जो कि हठ से भविष्य में प्रकट होनेवाली संसाररूपी सेना से युक्त है, अब पूज्य मुनिगुप्ताचार्य के आशीर्वाद-रूपी वृक्ष की उत्पत्तिभूमि रेवती रानी की परीक्षा करता हूँ ।' इस प्रकार आकृष्ट मनवाले उसने नगर (उत्तर मथुरा) की पूर्वदिशा में ऐसा कमलोत्पन्न ब्रह्मा का रूप ग्रहण करके समस्त नगर को क्षुब्ध (क्षोभ-युक्त) किया, जो कि [वाहनरूप] हंस की पीठ को मुकुटप्राय आवासवाली वेदिका के मध्य में कमल-कर्णिका पर बिछे हुए विस्तृत मृग-चर्म पर पर्यङ्कासन से बैठे हुए थे । जिनका शरीर मानसरोवर में उत्पन्न हुए कमल-तन्तुओं से बने हुए यज्ञोपवीत से पवित्र था ।

जिनके उत्तरासन (दुपट्टा) की रचना, चन्द्र के लाञ्छन में वर्तमान मृग के वंश में उत्पन्न हुए मृग के चर्म से की गई थी । जिनका ललाटदेश (मस्तक) निरन्तर होने वाले होम के आरम्भ से उत्पन्न हुई भस्म के शुभ्र वृत्ताकार (गोल) तिलक से उत्कट था । जिनका जटाजूट देव-गंगा के जल से प्रक्षालित किये हुए (धोये हुए) कल्पवृक्ष के वक्कलों से बने हुए उपरितन वस्त्र-समूह से वेष्टित था । जिनके चारों हस्त देवगंगा के तट पर उत्पन्न हुए दर्भाङ्कुर, रुद्राक्षमाला, कमण्डलु व योगमुद्रा से अङ्कित—चिह्नित थे ।

---

१. सर्गो निश्चये । *. शास्त्रं । २. बाह्याचारे । ३. पारदवत् । ४. भेदाय । ५. हठात् प्रकटीभविष्यन्ती संसार-सेना यस्य सः । ६. व्याक्षिप्तचित्तः । ७. नगरस्य । ८. पूर्वदिशि । ९. अंसशब्देनात्र पृष्ठं तस्य पृष्ठस्य उत्तंसः मुकुटप्रायः योऽसौ आवासः । १०. विस्तृत । ११. मृगचर्म । १२. मानसरोवर । १३-१८. चन्द्रस्य लाञ्छने यो मृगो वर्तते तस्य वंशोत्पन्नस्य मृगस्य चर्मणा कृष्णसार-मृग, कृत्ति-चर्म उत्तरासनरचनम् । १९. वृत्ताकार-तिलकं । २०. ललाट । २१. देवगङ्गा । २२. कल्पवृक्ष ।

कौसरी[1]यप्रतानपरिवेष्टितजटावलयम्, अमृता[2]न्धःसिन्धुरोधःसंजातकु[3]शपाङ्कुराक्षमालाकमण्डलुयोग[4]मुद्राङ्कितकरचतुष्टयम्, उपासनसमायात-मतङ्ग-भृगु-भर्ग-भरत-गौतम-गर्ग-पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरीचि-विरोचन-[5]चञ्चरीकानीकास्वाद्यमानवदनारविन्दकन्दरविनिर्गलन्निखिलवेदमकरन्दसंदोहम्, उभयपार्श्वावस्थितमूर्ति[6]मन्निखिलकलाविलासिनीसमाजसंचार्यमाणचामरप्रवाहम्, उदारनादनारदमुनिना मन्यमानप्रतीहारव्यवहारम्, अम्भोभवो[7]द्भवाकारमासाद्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास। सापि जिनेश्वरचरणप्रणयमण्डपमण्डनमा[8]धवी वरुणधरणीश्वरमहादेवी नृपतिपुरोहितात्तमुदन्तमाकर्ण्य त्रिषष्टिशलाकोन्मेषेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते। तथा—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य। ब्रह्मेति गीः प्रगीता[9] न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥१८५॥'

इति चानुस्मृत्याऽविस्मयमतिरतिष्ठ[10]त्।

पुनः कीनाश[11]दिशि पवनाशनेश्व[12]रशरीरशयनाश्रितावघन[13]मितस्ततः प्रकामप्रसरत्तदङ्गो[14]त्तरङ्गकान्तिप्रकाशपरिकल्पितामृताम्बुधिसंनिधानम्, उ[15]ल्लेखोल्लसत्फणामणिमरीचिनिचयसिच[16]याचरितनिरालम्बाम्बरवितान-

---

जिसकी ऐसी मुखकमलरूपी गुफा से समस्त वेदरूपी पुष्प-रस-समूह झर रहा है, जो कि सेवा के लिए आये हुए मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिङ्गल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरीचि व विरोचन इन ऋषि रूपी भ्रमर-समूह से आस्वादन किया जा रहा था और जिन्हें दोनों पार्श्वभागों पर खड़ी हुई मूर्तिमान समस्त कला-सरीखी देवियों के समूह द्वारा चमर-श्रेणी ढोरी जा रही थी। जिनके द्वारपाल का कार्य महान् शब्द करनेवाले नारद मुनि द्वारा स्वीकार किया जा रहा है।

परन्तु जब वरुण राजा की पट्टरानी रेवती रानी ने, जो कि तीर्थङ्कर भगवान् के चरणकमलों की भक्तिरूपी मण्डप को सुशोभित करने के लिए माधवीलता-सरीखी है, राजपुरोहित से उक्त वृत्तान्त सुना तो उसने विचार किया—कि 'तिरेसठ शलाका में उत्पन्न हुए पुरुषों में तो किसी का भी नाम ब्रह्मा नहीं है।'

शास्त्र में उल्लेख है—आत्मा, मोक्ष, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं भरत चक्रवर्ती के पिता (श्री ऋषभ देव तीर्थङ्कर) ये पाँच तत्त्व आगम में 'ब्रह्मा' इस शब्द से कहे गए हैं, इनके सिवा दूसरा कोई व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है ॥ १८५ ॥

ऐसा निश्चय करके वह आश्चर्य न करने वाली बुद्धि-युक्त होकर अपने स्थान पर ही स्थित रही अर्थात्—वह उक्त बनावटी ब्रह्मा के दर्शन के लिए नहीं गई।

इसके पश्चात् उस विद्याधर ने नगर की दक्षिण दिशा में ऐसा विष्णु का रूप धारण करके समस्त नगर को क्षुब्ध किया। जिसका शरीर शेषनाग शय्या पर आश्रित था। यहाँ-वहाँ विशेष रूप से फैली हुई शेषनाग के शरीर की लहर वाली कान्ति के प्रकाश से जिसके द्वारा क्षीरसागर की निकटता रची गई थी। जिसने घर्षण से शोभायमान शेषनाग के फण के मणियों की किरण-श्रेणीरूपी वस्त्र द्वारा आलम्बन-शून्य आकाश में

---

१. उपरितनवस्त्र। २. अमृतभोजो देवास्तेषां गंगा। ३. दर्भाः। ४. हृदये न्यस्तं हस्तं ध्यानमुद्रा। ५. एते ऋषय एव भृङ्गाः। ६. मूर्तिमत्यः कला इव देवस्त्रीसमूहः। ७. कमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्य। ८. वसन्तलता। ९. कथिता। १०. स्थिता। ११. दक्षिणदिक् यमस्य। १२. शेषनागशय्या। १३. शरीरं। १४. शेषनागशरीर। १५. घर्षण। १६. वस्त्रं।

भागम्, अ[१]त्यर्थोच्छलत्प्रसूनमञ्जरीजालजटिलप्रतानवन[२]मालामकरन्दमण्डितकौस्तु[३]भप्रभाप्रभावम्, असितसितरत्नकुण्डलोद्योतसंपादितोभयपक्ष[४]पक्ष[५]द्वयाक्षेपम्, अनेकमाणिक्याधिकघटितकिरीटकोटिविन्यस्तास्तोकस्तबकपारिजातप्रसवपरिमलपानपरिचयचटुल[६]चञ्च[७]रीकचयरच्यमानापरेन्दीव[८]रशेखरकलापम्, अतिगम्भीरनाभिह्र[९]दनिर्गतोत्तालनाल[१०]नलिननिलीनहिरण्यगर्भसंभाव्यमाननामसहस्रकलमा[११]क्षीरजलधिसुता[१२]संवाह्यमानकमलकमनचरण[१३]शङ्खशारङ्ग[१४]नन्द-[१५]कसंकीर्णकरम्, असुरवृन्द[१६]बन्दीकृतसुन्दरीसंपाद्यमानचामरोपचारव्यतिकरम्, अरुणा[१७]नुजविनीय[१८]मानसेवागतसुरसमाजम्, अधोक्ष[१९]जवेषं विधिाय[२०]स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास। सापि जिनसमयरहस्याव[२१]गमायसरस्वती रेवती कर्णपरम्परया किंवदन्तीमेतामुपश्रुत्य 'सन्ति खल्वर्धचक्रवर्तिनो नव कौमोद[२२]कीप्रभवः। ते तु संप्रति न विद्यन्ते। अयं पुनरपर एव कश्चिदिन्द्रजालिको लोकविप्रलम्भनायावतीर्णः' इति निर्णीयाविचलितचित्ता समासीत्।

पुनः पाश[२३]भृद्दिशि शिशिरगिरिशिखराकारकायककुद्म[२४]द्वराश्रितशरीराभोगमन्व[२५]स्सुतनग[२६]नन्दनानिबि[२७]डोरा-

चँदेवा विस्तारित किया था। जिसके हृदय पर स्थित हुए कौस्तुभ मणि की कान्ति का प्रभाव, नन्दनवन के पुष्प व मञ्जरी-समूह से व्याप्त व फैली हुई वन श्रेणीरूपी [देवियों की श्रेणी] के मकरन्द (पुष्परस) से अलङ्कृत था। जिसके द्वारा नील व शुभ्र रत्न-कुण्डलों के प्रकाश से सुशोभित दोनों पार्श्व भागों पर कृष्ण व शुक्ल-पक्ष का आक्षेप (आकर्षण) रचा गया था। अनेक प्रकार के माणिक्य-समूह से बने हुए मुकुट के अग्रभाग पर स्थापित किये हुए प्रचुर गुच्छोंवाले कल्पवृक्ष के पुष्पों की सुगन्धि को पीने के परिचय से चञ्चल भ्रमर-समूह द्वारा ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसका दूसरा नीलकमलों का शिरोभूषण-समूह बनाया जा रहा है। जिसके बहुत गहरे नाभिरूपी तालाब से निकले हुए ऊँची नालवाले कमलरूपी गृह पर बैठे हुए ब्रह्मा द्वारा जिसके सहस्रनाम का मधुर पाठ किया जा रहा था। जिसके चरणकमल क्षीरसागर की पुत्री (लक्ष्मी) द्वारा दाबे जा रहे हैं। जिसका करकमल चक्र, शङ्ख, धनुष व खड्ग से संकीर्ण (मिश्रित या अलङ्कृत) था। जिसके सिर पर दैत्य-समूह की पूर्व में कारागार (जेलखाने) में रक्खी हुई सुन्दरियों द्वारा चमर ढोरे जा रहे हैं और जिसकी सेवा के लिए आया हुआ देव-समूह गरुड़ द्वारपाल से स्वागत किया जा रहा है,

परन्तु जब जैन सिद्धान्त के रहस्य को जानने के लिए सरस्वती-सरीखी रेवती रानी ने कर्ण परम्परा से यह किंवदन्ती सुनी तब उसने विचार किया—'आगम में गदास्वामी अर्धचक्री निश्चय से नौ ही हैं, जो कि इस समय विद्यमान नहीं हैं; अतः यह कोई दूसरा इन्द्रजालिया लोक को धोखा देने के लिए अवतीर्ण हुआ है—उत्पन्न हुआ है।' ऐसा निश्चय करके उसका चित्त नहीं डिगा और अपने यहाँ बैठी रही, अर्थात्—वह उसके दर्शन के लिए नहीं गई।

इसके पश्चात् उसने पश्चिम दिशा में ऐसा रुद्र का रूप धारण करके समस्त नगर को क्षुब्ध किया, जिसका विशाल शरीर हिमालय पर्वत की शिखर-सरीखे शरीरवाले वृषभ पर स्थित था। जिसकी पीठ का

१. देवाः। २. वनश्रेणिवृन्दारिका, जालंधरदैत्यकलत्रं च। ३. मणि। ४. पार्श्व। ५. कृष्णशुक्लपक्षौ ताभ्यामाक्षेपो यस्य सः। ६. चपल। ७. भ्रमराः। ८. नीलोत्पल। ९. ह्रद। १०. कमल। ११. क्षीरसमुद्रः। १२. तत्सुता श्रीः। १३. चक्रं। १४. धनुः। १५. खड्गः। १६. दैत्यानां स्त्रियः कारागारे धृताः, दैत्यमरणानन्तरं ताभिः चामराः क्षिप्यन्ते। १७-१८. गरुडः द्वारपालो जातोऽस्ति तत्र आगतः स्वागतं क्रियमाण। १९-२०. विष्णोः रूपं प्राप्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास। २१. परिज्ञाने। २२. गदास्वामिनः। २३. वरुणदिशि पश्चिमायां। २४. वृषभः। २५. पश्चाद्भाग। २६. गौरी। २७. निबिड़।

स्तनतुङ्गिमस्तिमित[1]पृष्ठभागम्, अनिमिषवनविसर्पिकर्पूरोद्भू[2]तरजःसंभवपरागपाण्डुरितवि[3]ग्रहपरिकरम्, अचि[4]र-गोरोचनाभङ्गरागपिङ्गला[5]क्षकपरिकल्पित[6]भालसरःस्वर्णसरोजाकरम्, अबालकपालबल[7]कलापालवालवलयविल-सन्मौलि[8]मूलस्थलिकरम्, अतिविकटजटाजूटकोटरपर्यटद्ग[9]गनापगातरङ्गकरकेलिकुतूहलितबालप्रालेय[10]करम्, आभरण[11]भङ्गिसंद[12]र्भितानर्भ[13]कभुजङ्गभो[14]गसंगतानेकमाणिक्यकिर[15]णनिकरातिशयशबला[16]रदाकूला[17]जिनविराज-मानम्, उड्डमरडमरुका[18]जकावकृपाणपरशुत्रिशूलखट्वाङ्गादिसङ्गसंकट[19]शकोटकोटिविस्तारम्, स्तम्बे[20]रमासुरचर्म-प्रवद्रुधिरदुर्दिनीकृतनर्तनविनोदतानम्, अनलोद्भव[21]-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेर[22]म्ब-भिङ्गिरिटि-प्रमृतिपारिष[23]दपरिष-त्परिकल्प्यमानवरिवि[24]धानम्, अ[25]हितुन्त्यावतरमिथानमाकारमनुहृत्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । सापि स्याद्वादसरस्वतीसुर[26]भिसंभावनवल्ल[27]वी वरुणमहीशमहादेवी इमां जन[28]श्रुतिं कुतश्चित्पश्चिमप्रतोलिसृताद्धि-पथिकतो[29]निश्चित्य निशम्यन्ते खलु प्रवचने तपःप्रत्यवाय[30]वार्ताऽभद्रा रुद्रास्ते पुनः संप्रति स्वकीयकर्मणो विपाकात्का[31]लिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिनः संजाताः ।

भाग पीछे धारण की गई गौरी के निबिड़ व उन्नत कुचकलशों से निश्चल था। जिसका शरीर-परिकर (अवयव-समूह) नन्दन वन में फैले हुए कपूर के वृक्षों के मध्य से उत्पन्न होनेवाली पराग (कपूर-धूलि) से उज्वल था। तत्काल किये हुए गोरोचना के मर्दन से उत्पन्न हुई कान्ति-सरीखे पीले नेत्र से, जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसने मस्तकरूपी सरोवर में सुवर्ण के कमल-समूह की रचना की है। जिसका गला विशाल (बड़े-बड़े) आधे ,खप्परों की श्रेणीरूपी क्यारी-समूह में सुशोभित हो रहा था। जिसने अत्यन्त विस्तीर्ण जटाजूट की कोटर में विहार करती हुई देवनदी की तरङ्गरूपी हाथों की क्रीड़ा में बालचन्द्र को कौतूहल-युक्त—क्रीड़ा-युक्त किया है। जो ऐसे गज-चर्म से सुशोभित है, जो भिन्न आभूषणों की रचना से मिश्रित बृहत्काय सर्पों की फणा के अनेक माणिक्यों की किरण-श्रेणी के अतिशय से कर्बुरित (चितकबरा) हो रहा था। जिसके हाथों का अग्रभाग श्रेष्ठ डमरू, धनुष, खड्ग, परशु, त्रिशूल, खट्वाङ्ग (अस्त्र विशेष) आदि के सङ्गम से व्याप्त था। जिसने गजासुर के चर्म से प्रवाहित हुए रुधिर-प्रवाह से विस्तृत नृत्यभूमि को वृष्टि से व्याप्त की थी और जिसकी पूजा कार्तिकेय, निकुम्भ, कुम्भोदर, विनायक व भिङ्गिरिटि-आदि गणों के सभासदों द्वारा की जा रही थी।

परन्तु जब स्याद्वाद वाणी रूपी कामधेनु को दुहने के लिए गोपी-सरीखी वरुण राजा की महादेवी रेवती रानी ने यह बात पश्चिम दिशा के मुख्य मार्ग से आने वाले किसी विद्वान् से सुनी तब उसने निश्चय किया—कि निश्चय से शास्त्र में तपश्चर्या के भङ्ग करने की वार्ता से अभद्र रुद्र सुने जाते हैं, परन्तु वे इस समय अपने कर्मोदय (भुज्यमान आयु कर्म का क्षय) से यमराज की जठररूपी गर्त में पड़े हुए हैं; अतः यह कोई दूसरा ही इन्द्रजाल-विद्या के विनोद से अज्ञानियों का हृदय मर्दन करने वाला रुद्र है, ऐसा निश्चय करके वह निस्सन्देह बुद्धिवाली होकर स्थित रही। अर्थात्—उक्त रुद्र के दर्शन के लिए नहीं गई।

---

१. निश्चल स्थित। २. उद्भिन्नतरवः। ३. शरीरं। ४. सद्यः। ५. नेत्र। ६. ललाट। ७. अर्द्ध। ८. गलः। ९. देवनदी। १०. चन्द्रः। ११. रचना। १२. मिश्रित। १३. बृहत्। १४. शरीरं फणा। १५. किरण। १६. कर्बुर। १७. गजचर्म। १८. धनुः। १९. हस्त। २०. गजासुरः। २१. कार्तिकेय। २२. विनायकः। २३. गणाः। २४. पूजा। २५. इन्द्रजालविस्तार। २६. कामधेनुः। २७. गोपी। २८. वार्ता। २९. पथिकात्। ३०. भङ्ग। ३१. यमुनाभ्राता (यमः) यमजठर।

तदयमपर एव कश्चिच्चरेन्द्रजा[1]लविनोदाविष्कृतहृदयमर्मी करो[2]तीति च प्रपद्य निःसंदिग्धबोधा समास्थिष्ट ।

पुनः स्वापतेये[3]शदिशि विश्वंभरातलादूर्ध्वम्, अधोमुखा[4]सनवशसहस्रमात्र[5]मुत्कृष्ट[6]म्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम्, अखिल[7]गतिगर्तोत्सरणमार्गैरिव सोपान[8]सहस्रैश्चतुर्दिशमु[9]पाहितावतारम्, अनर्घ्यगुण[10]वज्रमणिशलाकोन्नत[11]नवप्राकारान्तरालविरचितस्पष्टाष्टविधवसुंधरम्, अनवधिनिर्माणमाणिक्यमुद्रितत्रिमेखलालंकारकण्ठीरव[12]पीठप्रतिष्ठापरमेष्ठिप्रतिमम्, अशेषतः समासीनद्वादशसभान्तरालविलसल्लि[13]म्पानकाशोकानोकहप्रमुखप्रातिहार्योपशोभितम्, ईषदुन्मि[14]षन्नन्दनवनोद्यानप्रसूनोपहारहरिचन्दनामोदसनाथगन्धकुटीसमेतम्, अनेकमानस्तम्भतडाग[15]तोरणस्तूपध्वजधूप[16]निधिनिधाननिर्भरमुरगनरामराधिपनायकानीकानीतमहामहोत्सवप्रसरम्, अभितो भवसेनप्रभृत्यार्हताभासप्रभावितयात्राधिकरणं समवशरणं विस्तार्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । सापि जिनसमयोपदेशरसे[17]रावती रेवतीमं वृत्तान्तोपक्रमं कुतोऽपि जैनाभासप्रतिमा[18]तोऽवबुध्य 'सिद्धान्ते खलु चतुर्विंशतिरेव तीर्थङ्कराः, ते चाधुना सिद्धिवधूसौधमध्यविहाराः, तदेषोऽपर एव कोऽपि मायाचारी तद्रूपधारी' इति व्यवसायविपर्यस्तमतिः [19]पर्याप्तमभमन्येव प्रवर्तितधर्मकर्मचक्रे सुखेनासांचक्रे । पुनर्बहुकूटकपटमतिर्वेशयत्तिस्ताभिर्विविधप्रकृतिभिराकृतिभिस्तदा[20]स्वनित-

---

इसके बाद उस विद्याधर क्षुल्लक ने उत्तर दिशा में ऐसा जिनेन्द्रदेव का समवशरण रचकर समस्त नगर को क्षुब्ध किया। जो कि पृथिवी तल से पांच हजार धनुष-प्रमाण ऊँचा था। जो अखण्ड इन्द्रनीलमणि की शिला से निर्मित हुए गोलाकार आधार से उन्नत था। जो चतुर्गति रूपी गड्ढे से निकालने वाले मार्ग-सरीखीं बीस हजार सीढ़ियों की रचना से चारों दिशाओं में ग्रहण किये हुए अवतार वाला था। जिसमें बहु-मूल्य वज्रमणियों के प्रशस्त व उन्नत नौ प्राकारों (कोटों—धूलीसाल, सुवर्णसाल, रूप्यसाल, स्फटिकसाल, गंधकुटीसाल, वृक्ष-वन व कल्पवृक्षवन की चार-भूमियों के चार साल इस प्रकार नौ साल—प्राकार) के मध्य में बनी हुईं स्पष्ट आठ भूमियाँ वर्तमान थीं। जिसमें बेमर्याद रचनावाले माणिक्यों से बनी हुई तीन कटिनियों से सुशोभित सिंहासन पर परमेष्ठी की प्रतिमा विराजमान थी। जो चारों ओर बैठी हुई बारह सभाओं के मध्य शोभायमान होनेवाले देव-दुन्दुभि व अशोक वृक्ष-आदि आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित था। जो अधखिली नन्दनवन संबंधी पुष्प श्रेणियों के उपहार (भेंट) और हरिचन्दन नाम के कल्प-वृक्ष की सुगन्धिवाली गन्धकुटी से अलङ्कृत था। जो अनेक मानस्तम्भ, तालाब, तोरण, स्तूप, ध्वजाएँ व धूप घट और निधियों से व्याप्त था। जिसमें धरणेन्द्र, चक्रवर्ती व इन्द्र की सेनाओं द्वारा विस्तृत व महान् महोत्सव किया गया था और जो चारों ओर भवसेन-आदि जैनाभासों की प्रभावनावाली यात्रा का आधार था।

परन्तु जब जैन सिद्धान्त के उपदेशरूपी जल की इरावती नदी-सरीखी रेवती रानी ने इस वृत्तान्त-घटना को किसी जैनाभास की बुद्धि से घटित हुई जानी तब कहा—'निश्चय से जैन सिद्धान्त में तीर्थङ्कर चौबीस ही माने गये हैं; जो कि इस समय मुक्तिरूपी बधू के महल के मध्य में विहार करने वाले हैं, अतः यह कोई दूसरा ही मायाचारी, तीर्थङ्कर का रूप धारण करके प्रकट हुआ है।' उक्त प्रकार निश्चय करके भ्रान्ति-

---

१. इन्द्रजालविद्या। २. रुद्रः। ३. मशदं, उत्तरदिशि। ४. धनुः। ५. ५००० । ६. प्रमाण। ७. चतुर्गति। ८. २०००० ।
९. कृतावतारं। १०. वज्र। ११. धूलीसाल, सुवर्णसाल, रूप्यसाल, स्फटिकसाल, गंधकुटीति पंचसालाः। वृक्षवनकल्पवृक्षवनयोश्चतस्रो भूमयः सालाश्चत्वारः इति नवप्रकाराः। १२. सिंहासनम्। १३. देवदुन्दुभिः। १४. विकसत्।
१५. गाथा—उद्भवणवाविजलेणं सिमा पिच्छंति एकभवजादि। तस्स निरीक्षणमेत्ता, सत्तभवातीद भाविजादि ॥१॥
श्लोक—अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि शृण्वन्ति बधिराः श्रुतिं। मूकाः स्पष्टं विभाषन्ते चंक्रम्यन्ते च पंगवः।
दर्पणदर्शनाद्भवस्मृतिः वन्ध्यासुतप्राप्तिः दुर्भिक्षादीनां विनाशः।
१६. धूपघट। १७. इरावती नदी। १८. बुद्धेः। १९. परि—सामस्त्येन आत्मधामनि। २०. रेवतीमनः।

मस्तुभितमवगत्योपात्तमासोपवासिवेषः क्रियामात्रानु[1]मेयनिखिलकरणोन्मेषो गो[2]चराय तदालयं प्रविष्टस्तया स्वयमेव यथाविधिप्रतिपन्नचेष्टस्तथापि विद्याबलाज्जठरानलनाशवमनादिविकारप्रबलात्कृतानेकमानसोद्वेजनधौर्त्यो[3] रेवत्याः मनाङ्मनोमूढतामनवबुध्य, 'अम्ब[4], सकलखेचरचित्तालंकारसम्यक्त्वरत्नाकरक्षोणि दक्षिणमथुरायां प्रसिद्धावसथः सकलगुणमणिनिर्माणविदू[5]रावनिः श्रीमुनिगुप्तमुनिर्मदर्पितसम्बन्धै[6]र्वचनैः परिमुषिताशेषकल्मषस[7]म्बन्धैरखिलकल्याणपरम्पराविरोच[8]नैर्भवतीमभिनन्दयति।' रेवती भक्तिरसवशोल्लसल्लपनरागाभिरामं ससंभ्रमं च सप्तप्रचारोपसर्पैः[9] पदैस्तां दिशमाश्रित्य श्रुत[10]विधानेन विहितप्रणामा प्रमोदमानमनःपरिणामा तदर्पितमाशीर्वचनमाचादिता।

भवति चात्र श्लोकः—

कहं[11]सता[12]र्क्ष्यगोसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम्। आगतेष्वप्यभून्नैषा[13] रेवती मूढतावती ॥१८६॥

रहित बुद्धिवाली वह धर्मकर्म-समूह की प्रवृत्तिवाले अपने स्थान में ही सुखपूर्वक बैठी रही। अर्थात्—समवशरण में नहीं गई।

इसके बाद अनेक कूटकपट करने की बुद्धिवाले उस क्षुल्लक ने जब अनेक स्वभाव वाले ब्रह्मा-आदि के अनेक वेषों से रेवती रानी के मन को निश्चल जान लिया तब वह एक मास का उपवास करने वाले ऐसे साधु का वेष बनाकर, जिसकी शिथिल इन्द्रियों का व्यापार क्रिया मात्र द्वारा अनुमान किया गया है, अर्थात्—'यदि यह ऐसा क्रियावान् है? तो इसका इन्द्रिय-व्यापार कैसे घटित होता है?' इस प्रकार जो सबके द्वारा जाना गया है, आहार के लिए रेवती रानी के गृह पर आया। रेवती रानी ने स्वयं ही प्रतिग्रह-आदि नव विधि के अनुसार उसका सन्मान किया किन्तु उस क्षुल्लक ने अपने ऐसे विद्याबल से, जो कि जठराग्नि के नाश से उत्पन्न हुए वमन-आदि विकारों से प्रबल है, जब रेवती रानी के मन को उद्विग्न करनेवालीं अनेक धूर्तताएँ कीं फिर भी जब उसने प्रस्तुत रानी की मानसिक मूढ़ता नहीं देखी तब उसने कहा—

'हे माता! तुम समस्त विद्याधरों के चित्त का आभूषण सम्यग्दर्शनरूपी रत्न की खानि हो। दक्षिण मथुरा नाम की नगरी में प्रसिद्ध निवास करनेवाले और समस्त गुणरूपी मणियों की रचना के लिए निकटवर्ती पृथिवी-सरीखे श्री मुनिगुप्त नाम के मुनिराज समस्त पाप-संबंध नष्ट करनेवाले व समस्त कल्याण-परम्परा से सुशोभित एवं मेरे लिए समर्पण किये हुए संबंधवाले अपने आशीर्वादरूपी वचनों से आपका अभिनन्दन करते हैं।'

उक्त सन्देश सुनकर रेवती रानी ने भक्तिरस के वश से विकसित हुई मुख की कान्ति से मनोज्ञतापूर्वक व सादर गमन करनेवाले पैरों से सात पैर भूमि चलकर दक्षिण दिशा में आश्रित होकर शास्त्र विधिपूर्वक श्री मुनिगुप्त मुनिराज के लिए नमस्कार किया और प्रमुदित हुए चित्तवाली उसने उक्त मुनिराज द्वारा भेजे हुए आशीर्वाद के वचन ग्रहण किए या स्वीकार किए।

इस विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

जब हंसवाहन (ब्रह्मा), गरुड़वाहन (विष्णु), गोवाहन (शिव) व सिंहासन के अधिपति (तीर्थङ्कर) स्वयं प्राप्त हुए, अर्थात्—जब उक्त विद्याधर क्षुल्लक ने विद्या-बल से उक्त ब्रह्मा-आदि का रूप धारण किया तो भी रेवती रानी मूढ़तावाली (मिथ्यामार्ग की प्रशंसा करनेवाली) नहीं हुई॥ १८६॥

---

१. अनुमातः चेदीदृशोऽयं क्रियावान् वर्तते तर्हि अस्येन्द्रियव्यापारः कथं घटते इति सर्वैरनुमातः। २. आहाराय। ३. धूर्तत्वं। ४. स देवविद्याधरः—हे मातः। ५. निकट। ६. संबंधः। ७. संबंधं। ८. शोभमानैः। ९. गमनप्राप्तैः पदैः सप्तभिः प्रचारैरुपसर्प। १०. 'श्रुतविश्रुतेन विधानेन' इति ख०। ११. हंसः। १२. गरुड़ः। १३. नाभूत्।

इत्युपासकाध्ययनेऽमूढताप्रोद्धिपरिवृढो नामैकादशः कल्पः ।

उपगूहस्थितीकारौ[1] यथाशक्तिप्रभावनम् । वात्सल्यं च भवन्त्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥१८७॥

तत्र— क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च । तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ॥१८८॥

स[2]वित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु । दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसंपदा ॥१८९॥

अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् । न हि भेके मृते याति पयोधिः पूतिगन्धिताम् ॥१९०॥

दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न बृंहयेत् । दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिःस्थिते ॥१९१॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—सुराष्ट्रदेशेषु मृगेक्षणापक्ष्मलमूलावलोकितापहसितानङ्गास्त्रतन्त्रे पाटलिपुत्रे सुसीमाकामिनीमकरध्वजस्य यशोध्वजस्य भूभुजः परा[3]क्रमाक्रान्तसकलप्रवीरः सुवीरो नाम सूनुरनासादितविद्यावृद्धसंयोगसमयत्वाद्विटविदूषक[4]दूषितहृदयत्वाच्च प्रायेण परद्रविणदारादानोदारक्रियः क्रीडार्थमेकदा क्रीडावने गतः कितवकिरातपश्यतो[5]हरचौरपरिवृढमिदमवादीत्—'अहो, विक्रमैकरसिकेषु महासाहसिकेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मे प्रार्थनातिथिमनोरथसार[6]-

इस प्रकार उपासकाध्ययन में अमूढता बढ़ाने में समर्थ यह ग्यारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब उपगूहन अङ्ग का निरूपण करते हैं—

उपगूहन (साधर्मियों के दोष आच्छादित करना), स्थितिकरण (सम्यक्त्व व चारित्र से विचलित हुए प्राणियों को पुनः धर्म में स्थिर करना), शक्ति के अनुसार प्रभावना (जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना) और वात्सल्य (धार्मिक पुरुषों से अनुराग प्रकट करना) ये गुण सम्यक्त्वरूपी लक्ष्मी की वृद्धि के लिए हैं ॥१८७॥ क्षमा, सत्य, शौच (लोभ का त्याग), मार्दव (विनय), आर्जव (निष्कपटता), तप, संयम और दान इन प्रशस्त गुणों से शासन की वृद्धि करनी चाहिए ॥१८८॥ जैसे माता अपने पुत्रों के दोष आच्छादित करती है वैसे ही साधर्मियों में से किसी से दैव व प्रमाद से कोई दोष बन गया हो तो उसे गुणरूपी सम्पत्ति से आच्छादित करना चाहिए ॥१८९॥ जैसे समुद्र में मेंढ़क के मर जाने से समुद्र दुर्गन्धित नहीं होता वैसे ही क्या असमर्थ मनुष्य के द्वारा किये हुए अपराध से धर्म मलिन हो सकता है ? ॥१९०॥ जो मानव साधर्मी जनों के दोष नहीं ढकता और न धर्म की वृद्धि करता है, वह जैनागम से बाह्य है, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है ॥१९१॥

उपगूहन अङ्ग में प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्त की कथा—

इस अङ्ग के विषय में एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—सुराष्ट्र देश को मृगनयनी कामिनियों के नेत्रों के पलकों के अग्रभागवाले कटाक्षों से कामदेव के बाणों के कार्य को तिरस्कृत करनेवाले पाटलीपुत्र नगर में सुसीमा नामकी रानी के लिए कामदेव-सरीखा 'यशोध्वज' नामका राजा था। उसके अपने पराक्रम से समस्त वीर पुरुषों पर आक्रमण करनेवाला 'सुवीर' नामका पुत्र था। कभी विद्या-वृद्ध सज्जनों के समागम से शास्त्राध्ययन प्राप्त न होने से जिसका हृदय धूर्तों व विदूषकों के कुसङ्ग से दूषित (पापी) हो गया था, जिससे वह प्रायः दूसरों के धन को ग्रहण करने में और दूसरों की स्त्रियों के उपभोग में लम्पट हो गया था।

एक बार क्रीड़ा करने के लिए वह क्रीड़ा-वन में गया। वहाँ उसने जुआरी, म्लेच्छ व चोरों की

---

१. 'उपगूहः स्थिरीकारो यथाशक्तिप्रभावनम्' (क०)। २. मातृवत् । ३. 'पराक्रमक्रमाक्रान्त' (क०)। ४. विदूषको वैवसिकः प्रहसी प्रीतिदः इत्यमरः[?] तथानेकार्थे—विदूषकोऽन्यनिंदके क्रीडनीयकपात्रे च, कामाचार्यो वेश्याचार्यः । ५. चौरः । ६. सहायः ।

विरहित, यः खलु पूर्वदेशनिवेशावाप्तकीर्तने ताम्रलिप्तपत्तने पुण्य[1]पु[2]रुषकाराभ्यामात्मसात्कृतरत्नाकरसारस्य जिनेन्द्रभक्तनामावतारस्य वणिक्पतेः सप्ततलागारागिमभूमिभागिनि जिनसद्मनि छत्रत्रयशिखण्डमण्डनीभूतमद्भुतद्योतसमीपं वैडूर्यमणिमानयति, तस्यानेनुः पुनरभिलाषविषयनिबंधमेव पारितोषिक[3]म् ।[4] तत्र च सदर्पः सूर्पो नाम समस्तमलि[5]म्लुचाग्रेसरो वीरः निःसंदेहमलापीत्—'देव, कियद्गहनमेतद्यतो योऽहं देवप्रसादाद्दिवि[6]यसामविरचितामरावतीपुरस्य पुरंदरस्यापि चूडालंकारनूतनं रत्नं पातालमूल[7]निलीनभोगवतीनगरस्योरगेश्वरस्यापि फणगुम्फनाधिष्ठं माणिक्यमपहरामि, तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणधरणि मणि लोचनगोचरागारविहारमपहरतः कियन्मात्रं महासाहसम्' इति शौर्यं गर्जित्वा निर्गत्यागत्य च गौडमण्डलमपरमुपायमपश्यन्मणिमो[8]षाया[9]क्षि[10]प्तक्षुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणैः पक्षपारणाकरणमासोपवासप्रारम्भैरपरैरपि तपःसरम्भैः क्षोभितजनपदनगरग्राममग्राम[11]णीगणः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावाधिकरणतामभजत् । एकान्तभक्तिशक्तः स जिनेन्द्रभक्तस्तं मायात्मसात्कृतप्रसमाकारम[11]परमार्थाचारमजानन्नार्यवर्यावद्यमनेकानर्घ्यरत्नरचितजि[12]नदेवसंदोहेऽस्मद्देवगृहे त्वया तावदासितव्यं यावदहं वहित्र[13]यात्रां विधाय समायामि' इत्य[14]याचत । अप्रकटकूटकपटक्रमः प्रियतमः—

परिषत् से कहा—'वीरो ! पराक्रम करने में असाधारण रसिकता दिखानेवाले व महान् साहसी आप लोगों के मध्य में क्या कोई ऐसा वीर पुरुष है ? जो कि मेरे प्रार्थनारूपी अतिथि के मनोरथ का सहायक है, अर्थात्—मेरी अभिलाषा की पूर्ति में सहायक है ? आपमें से जो कोई निश्चय से पूर्वदेश की सेना का स्थान होने से ख्याति प्राप्त करनेवाले ताम्रलिप्त नामके नगर में अपने पुण्य व पौरुष से समुद्र की सारभूत लक्ष्मी प्राप्त करनेवाले व वैश्य-स्वामी जिनेन्द्र भक्त सेठ के सप्तमंजिले महल की अग्रभूमि पर वर्तमान जिनमन्दिर से तीन छत्र की शिखा के अग्रभाग का अलङ्काररूप व आश्चर्यजनक कान्ति के समीपवर्ती वैडूर्यमणि को चुराकर ले आवे, उसे लानेवाले वीर पुरुष के लिए इच्छित वस्तु के दानवाला पारितोषिक दिया जायगा ।'

यह सुनकर समस्त चोरों में अग्रेसर, अभिमानी व वीर 'सूर्प' नाम के चोर ने निस्सन्देह कहा—'हे देव ! यह क्या कठिन है ? क्योंकि जो मैं आपके अनुग्रह से गगन-प्रान्त में बनी हुई अमरावती नगरी के स्वामी इन्द्र के मुकुट के अलङ्काररूप नवीन रत्न को एवं पाताल-मूल में स्थित हुई भोगवती नगरी के स्वामी धरणेन्द्र की फणा में विशेषरूप से गुँथे हुए माणिक्य को भी अपहरण कर सकता हूँ, उसके लिए मनुष्यमात्र द्वारा रक्षा के योग्य पृथिवीवाले और नेत्रों के विषयीभूत स्थान में वर्तमान मणि का चुराना कोई विशेष साहस नहीं है ।' इस प्रकार अपनी शूरता की गर्जना करके सूर्प नाम का चोर वहाँ से निकलकर गौड़ देश में आया और दूसरा उपाय न देखकर उसने मणि-चुराने के लिए क्षुल्लक का वेष धारण किया । पुनः उसने पन्द्रह दिनों के बाद पारणावाले और एक महिना के उपवासों से शुरु होनेवाले चान्द्रायणव्रत के आचरणों से और दूसरे तपश्चर्या के अनुष्ठानों से पर्वत, नगर व ग्रामवासी श्रेष्ठ जन-समूह को क्षोभ में प्राप्त करा दिया और क्रम से जिनेन्द्र-भक्त सेठ के भाव का आधार-स्थान हो गया । पश्चात् उसकी विशेष भक्ति में समर्थ जिनेन्द्रभक्त सेठ ने माया से क्षुल्लक-वेष को अपने अधीन करने वाले व सत्याचार से रहित—झूठे आचार वाले उसे न जानकर उससे निम्न प्रकार प्रार्थना की—'आर्यश्रेष्ठ ! अनेक बहुमूल्य रत्नमयी जिनप्रतिमा-समूहवाले हमारे जिन मन्दिर में आप अवश्य तब तक ठहरिए जब तक कि मैं जहाज द्वारा यात्रा करके वापिस न लौटूँ ।'

---

१. पूर्वजन्मपुण्यं । २. उद्यमश्च, पुरुषकारशब्देनात्र उद्यमो व्यवसायः धनार्जनं च । ३. सर्वोत्तम । ४. उचितं दानं दास्यामि । ५. चौराः । ६. गगनप्रान्त । ७. मूले निलीनं भोगवतीनगरं यस्य सः उरगेश्वरः तस्य । ८. चोरणार्थं । ९. रचित । १०. श्रेष्ठः । ११. सत्याचाररहितं । १२. जिनदेहसंदोहे (क०) । १३. यानपात्रगमन । १४. प्रार्थितः ।

श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठाः, यतोऽङ्गनाजनसंकीर्णेषु द्रविणोदीर्णेषु देशेषु विहितौ[1]कसां प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोवाहाराः खलु खलजनतिरस्काराः ।' श्रेष्ठी—'देशयतीश, न सत्यमेतत् । अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य बहिःसङ्गे स्वान्तं विकुरुतां नाम न पुनर्यथार्थदर्शनामनन्य[2]साधारणसंयमस्पृशां भवादृशां यतीशाम्' इति बद्धाग्रहं देवगृहपरिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमित्रबान्धवेष्वकृतविश्वासो मनःपरिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरबाहिरिकायां प्रस्थानमकार्षीत् । मायामुनिस्तस्मिन्नवसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्यार्धविशीथायां निशि कृतरत्नापहारस्तन्मरीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीरः पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिनः[3] श्रेष्ठिनः प्रस्थानावाससन्निवेशमाविवेश । श्रेष्ठ्यपि दुरालापबहुलात्तत्कोलाहलादुद्रा[4]णनिद्राणमिदस्तदेनं क्षुल्लकमुनिमुद्रमव[5]साय स्वभावतः शुद्धाप्तागमपदार्थसमाचारनयस्य निःशेषान्यद[6]र्शनव्यतिरिक्ताम्नायस्य समयस्याविदितपरमार्थजनापेक्षया दुर्वचावो मा भूदिति च विचिन्त्य समस्तमप्यारक्षिकलोकमेवमभणीत्—'अहो, दुर्वाणिकाः, किमित्येनं संयमिनम[7]भद्रेण भावेन संभावयन्ति भवन्तः, यदेष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी परमनिःस्पृहाणामपि परमनिःस्पृहः प्रकृत्यैव महापुरुषो मायामोषरहितचित्तवृत्तिरस्मदभि-

---

अपने कूट कपट-क्रम को छिपाते हुए उसने कहा—'सेठ जी ! ऐसा मत कहिए, क्योंकि कमनीय कामिनियों से व्याप्त और धन से परिपूर्ण स्थानों में निवास करनेवाले निर्मलचित्तशाली महापुरुषों को भी प्रायः निश्चय से दुष्ट जनों के तिरस्कार सुलभता से कथन वाले होते हैं ।'

सेठ—'क्षुल्लक महाराज ! यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि परलोक (स्वर्ग व नरकादि) के व्यवहार को न जानने वाले व इन्द्रिय-व्यापार को काबू में न करने वाले पुरुष की चित्तवृत्ति निश्चय से बाह्य पदार्थों (कनक व कामिनी-आदि) में विकृत हो जाय परन्तु यथार्थदर्शी व असाधारण संयम पालने वाले आप-सरीखे योगीश्वरों की चित्तवृत्ति बाह्य पदार्थों में कैसे विकृत हो सकती है ?' इस प्रकार जिनेन्द्र भक्त सेठ ने स्त्री, पुत्र, मित्र व बन्धुजनों में विश्वास न करके अपने जिन मन्दिर में निवास करने के लिए उस झूठे मुनि से विशेष आग्रह पूर्वक प्रार्थना की और मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन व वायु की अनुकूल देखकर नगर के बाह्य देश में प्रस्थान किया ।'

उसी अवसर पर वह कपटी मुनि उस सेठ के गृह को नींद में सोते हुए कुटुम्बीजनों वाला जानकर अर्ध रात्रि में रत्न अपहरण करके ज्यों ही चला वैसे ही उस रत्न की किरणों के फैलने से नगर-रक्षकों ने उसका पीछा किया । जब वह भागने में असमर्थ हुआ तो वह चोर उस धार्मिक जिन मन्दिर के बनाने में ब्रह्मा-सरीखे जिनेन्द्र भक्त सेठ के प्रस्थान के निवास स्थान में प्रविष्ट हो गया—घुस गया । गाली देना-आदि खोटे भाषण से प्रचुर उन नगर-रक्षकों के कोलाहल से सेठ की नींद शीघ्र खुल गई और उसने इसे कपटी क्षुल्लक के रूप को धारण करने वाला जानकर निम्नप्रकार विचार किया—'जैन शासन की, स्वभाव से जिसके आप्त, आगम, पदार्थ, आचार व नय निर्दोष हैं और जो समस्त अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक आम्नाय वाला है, परमार्थ को न जानने वाले अज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा से निन्दा या अपकीर्ति नहीं होनी चाहिए ।' इस विचार से उसने समस्त नगर रक्षकों से कहा—'अरे दुष्ट वचन बोलने वालो ! आप लोग क्यों इस संयमी चरित्रवान् सज्जन पुरुष का खोटे परिणाम से तिरस्कार करते हैं ? क्योंकि यह महान् तपस्वियों में भी महातपस्वी है और अत्यन्त निःस्पृही महापुरुषों में विशेष निःस्पृही है । यह स्वभाव से ही महापुरुष है । इसकी चित्तवृत्ति मायाचार व

---

१. औकः आवासः । २. 'अनन्यसंयमस्पृशाम्' (ख०) । ३. ब्रह्मणः । ४. शीघ्रं । ५. ज्ञात्वा । ६. अधिकाम्नायस्य ७. असमीचीनेन परिणामेन ।

स्तेन मणिमेनमानयत् कथं नाम स्तेनभावेन[1] भवद्भिः संभावनीयः । तदयं तूर्णमभ्यर्णीभूय प्रसन्नवपुषः[2] सदाचारकैरवार्जुन[3]-ज्योतिषमेनं क्षमयत स्तुत नमस्यत वरिव[4]स्यत च ।

भवति चात्र श्लोकः—

मायासंयमिनुत्सर्पं[4] सूर्पं रत्नापहारिणि । दोषं निपूवयामास[6] जिनेन्द्रो भक्तवाग्भरः[7] ॥१९२॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृंहणाहणो नाम द्वादशः कल्पः ।

परीषहव्रतोद्विग्न[illegible]मसंभवम् । स्थापयेद् [illegible] धर्मी समयस्थितम्[8] ॥१९३॥

तपसः प्रत्यवस्यन्तं[9] यो न रक्षति संयतम् । नूनं स दर्शनाद्बाह्यः समयस्थितिलङ्घनात् ॥१९४॥

नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्गणवर्धनम् । एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥१९५॥

यतः समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रयः[10] । अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥१९६॥

उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नरः । ततस्तस्य भवो[11] दीर्घः[12] समयोऽपि च हीयते ॥१९७॥

चोरी से रहित है। हमारे कहने से ही यह मणि लाया है। आपने किस प्रकार इसे चोर समझकर अनादर-युक्त—अपमानित किया ? अतः शीघ्र ही इसके पास आकर विशुद्ध चित्तवृत्ति व निर्मल बाह्येन्द्रिय वृत्ति वाले होते हुए सदाचाररूपी कुमुद को विकसित करने के लिए चन्द्र-सरीखे इससे क्षमा मांगो, इसकी स्तुति करो, नमस्कार करो और इसकी पूजा करो।'

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—कपटपूर्ण क्षुल्लक-वेषधारी और वैडूर्य मणि को चुराकर शीघ्र भागनेवाले सूर्य के दोष (निन्दा) को जिनेन्द्र भक्त सेठ ने आच्छादित किया—छिपाया ॥१९२॥ इस प्रकार उपासकाध्ययन में धर्म के उपबृंहण गुण के निरूपण करने में समर्थ बारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब स्थितिकरण अङ्ग का निरूपण करते हैं—

सम्यग्दृष्टि धार्मिक सज्जन को क्षुधा व तृषा-आदि परीषहों के सहन से व अहिंसा-आदि व्रतों के पालन से भयभीत हुए एवं आगम के अध्ययन से रहित होने से धर्म से डिगते हुए साधर्मी भाई को धर्म में स्थापित करना चाहिए ॥१९३॥ जो धार्मिक पुरुष तप से भ्रष्ट होते हुए साधु की रक्षा नहीं करता (उसे पुनः तप में स्थित नहीं करता) वह आगम की मर्यादा का उल्लङ्घन करने के कारण निश्चय से सम्यग्दर्शन से बहिर्भूत (मिथ्यादृष्टि) है ॥१९४॥ जिनके निर्वाह (जैनधर्म के पालन) में संदेह है, ऐसे नये मनुष्यों से संघ को वृद्धिगत करना चाहिए। केवल एक दोष के करने से तत्त्वज्ञानी पुरुष कैसे छोड़ा जा सकता है ? अर्थात्—यदि उससे दोष हो जाय तो उसे ढँकना चाहिए ॥१९५॥ क्योंकि धार्मिक कार्यों की सिद्धि अनेक मानवों के आश्रय की अपेक्षा करती है, इसलिए समझा-बुझाकर जो व्यक्ति जिस कार्य (धर्म-प्रभावना आदि) में कुशल है, उसे उसमें नियुक्त करना चाहिए ॥१९६॥ साधर्मी मनुष्य की उपेक्षा करने से वह धर्म से दूर हो जाता है (धर्म छोड़ देता है) और इससे उसका संसार, विशेष दीर्घ होता है और धर्म की भी क्षति होती है ॥१९७॥

---

१. चोरभावेन । २. निर्मलान्तःकरणबहिष्करणाः सन्तः । ३. कुमुदं तस्य विकासने चन्द्रः । ४. पूजयत यूयं । ५. शीघ्रगामिनि । ६. स्फोटयति स्म । ७. जिनेन्द्रभक्त इत्यर्थः । ८. 'समयी समयस्थितः' (क०) । ९. चलन्तं । १०. मनुष्यः । ११. संसारः । १२. दीर्घः स्यात् ।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मगधदेशेषु राजगृहापरनामावसरे पञ्चशैलपुरे चेलिनीमहादेवीप्रणयकर्णिकस्य[1] श्रेणिकस्य गोत्रा[2]कलत्रस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणो[3] वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमनसः परमवैराग्योद्घूर्णः[4] पूर्णनिर्णयरसः श्रावकधर्माराधनधन्यधिषणतया गुरूपासनप्रवीणतया[5] च सम्यगवसि[6]तोपासकाध्ययनविधिराश्चर्यशौर्यनिधिरेकदा प्रेतभूमिषु भू[7]तवासरविभावर्यां रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव। अत्रावसरे क्षणदायाः[8] परिणताभोगे खलु मध्यभागे[9] मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गन[10]यारमन्यतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो मृगवेग नामा चोरः शयनतलमापन्नः[11] समेवमुक्तः—'राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनाम्नः कीर्तिमत्याः प्रियतमायाः स्तनमण्डल[12]मण्डनोदारमलंकारसारं हारमिदानीमेवानीय यदि वितरसि[13], तदा त्वं मे रतिरामः, अन्यथा प्रणयविरामः' इति। सोऽप्यवशानङ्गवेगो[14] मृगवेगस्तद्वचनादेव ततः सदनान्निःसृत्याभिसृत्य[15] च निजकलाबलात्तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितचरणचारस्तलारानुचरै[16]रनुसृतो[17] पलायितुम[18]समर्थस्तस्य व्युत्सर्गबन्धमुपेयुषो

इस विषय में एक कथा है, उसे सुनिए।

मगध देश में 'पंचशैलपुर' नाम का नगर है, जिसे 'राजगृह' इस दूसरे नाम का अवसर प्राप्त है, उसमें चेलिनी-महारानी के प्रेम का ग्राहक व पृथिवीरूपी स्त्रीवाले 'श्रेणिक' राजा के शत्रुओं के नगरों पर सेना से आक्रमण करनेवाला (वीर) 'वारिषेण' नाम का पुत्र था। उसकी मनोवृत्ति निश्चय से कुमार-काल से ही सांसारिक सुखों के समागम से विमुख थी। परम वैराग्य में उद्यत हुआ वह तत्वों के पूर्ण निश्चय में रुचि रखने वाला था। श्रावकधर्म की आराधना से प्रशस्त बुद्धि के कारण और गुरुजनों की उपासना में प्रवीण होने से उसने श्रावकाचार की विधि अच्छी तरह निश्चित की थी और वह आश्चर्यजनक व रता की निधि था। एक समय वह कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में श्मशानभूमि में रात्रि प्रतिमा योग से स्थित हुआ। अर्थात्— नग्न मुद्राधारक होकर धर्मध्यान में मग्न हुआ।

इसी अवसर पर परिणत विस्तार वाली मध्यरात्रि में 'मगध-सुन्दरी' नाम की वेश्या ने अपने में अत्यन्त आसक्त चित्तवृत्ति वाले और उसकी शय्यातल में प्राप्त हुए मृगवेग नाम के वीर चोर से कहा— '[प्रियतम !] राजश्रेष्ठी धनदत्त की पत्नी कीर्तिमती के कुच-मण्डल को अलङ्कृत करने से उत्कृष्ट और आभूषणों में श्रेष्ठ हार इसी समय लाकर यदि मेरे लिए देते हो तो तुम मेरे रति-सुख में लीन होनेवाले प्रेमी हो अन्यथा प्रेम का अन्त करने वाले (शत्रु) हो।'

वेश्या के वचन सुनकर काम-वेग को वश में न करनेवाले मृगवेग ने वेश्या के गृह से निकलकर अपनी कला के बल से धनदत्त सेठ के गृह का आश्रय किया और हार को चुराकर जैसे ही वह भागा वैसे ही उस हार की किरण-समूह के प्रकाश से नगर रक्षकों ने उसका भागना जान लिया, इसलिए वे उसके पीछे दौड़े। अपने को दौड़ने में असमर्थ जानकर मृगवेग उस हार को नग्न वेश में कायोत्सर्ग में स्थित हुए वारिषेण के आगे छोड़कर स्वयं छिप गया।

जब नगर रक्षकों ने उस हार को विशेष कान्ति से ऐसा विचार किया—'कि निस्सन्देह यह राजकुमार वारिषेण है, इसके माता-पिता श्रावक हैं, अतः अपने को भागने में असमर्थ जानकर राजकुमार ने अपने

---

१. ग्राहकस्य। २. भूरेव कलत्रं यस्य सः। ३. सेनयाऽभियातीति। ४. उद्यतः। ५. प्रवीणः। ६. निश्चित। ७. कृष्ण चतुर्दशीरात्रौ। ८. रात्रेः। ९. मध्यरात्रौ। १०. द्रव्यस्त्रिया। ११. आसन्नः प्राप्तः। १२. 'स्तनमंडनोदारं' ख०। १३. ददासि। १४. कामवेगः। १५. आश्रित्य। १६. सेवकैः। १७. पृष्ठतः प्राप्तः। १८. पलायितुं।

वारिषेणस्य पुरतो हारमपहाय[1] तिरोबभूव। तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुमशक्तः पितुः श्रावकत्वाभिमानाद्र्हत्प्रतिमासमानाकृतिं प्रतिपद्य पुरो निहितहारः समास्ते' इत्यवमृश्य प्रविश्य च विश्वंभराधीशवेश्मनिवेशं[2] मेतल्पितुः[3] प्रतिपादितवृत्तान्ताः।

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च मित्रे च यथादोषं समं धृतः ॥१९८॥

इति वचनात् 'न हि महीभुजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति' इति न्यायनिष्ठुरताभिनिवेशात्तज्जनकादेशादागत्य तं सदाचारमहात्मानं प्रहरन्तः[4] शरविसरा[5]न्प्रसूनशेखरता[6] [7]भ्रमिलमण्डलानि कर्णकुण्डलतां कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि तत्तद्भूषणतामनुसरन्ति। निबुध्य[8] तद्ध्यानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवोपहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानानकनिकरमनिमिषनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमितस्ततो महामहोत्सवावतारं च

आगे हार स्थापित करके जिनेन्द्र की प्रतिमा-सी अपनी आकृति बना ली है और यहाँ स्थित है। इसके बाद वे राजा श्रेणिक के आवास-स्थान पर पहुँचे और उनसे सब समाचार कथन कर दिया।

नीतिकारों ने कहा है—'कि निस्सन्देह केवल दण्ड ही, जो कि राजा द्वारा शत्रु व मित्र को अपराध के अनुकूल समानरूप से दिया गया है, इस लोक व परलोक की रक्षा करता है॥ १९८॥'

'निश्चय से राजाओं के लिए गुण-दोष छोड़कर मित्र व शत्रु-व्यवस्था नहीं है। अर्थात्—राजाओं के लिए जो गुणी है, वह मित्र है और जो दोषी—अपराधी है, वह शत्रु है, इसलिए रत्नमयी हार को चुराने से नष्ट चरित्रवाले इस पुत्ररूप शत्रु के लिए प्राणदण्ड (फाँसी की सजा) को छोड़कर कोई दूसरा तीक्ष्ण दण्ड नहीं है।' [ऐसा विचार कर राजा श्रेणिक ने अपने पुत्र के प्राणदंड की आज्ञा दे दी।]

इस प्रकार न्याय की निष्ठुरता के अभिप्राय वाली वारिषेण के पिता (राजा) की आज्ञा से वे नगर-रक्षक श्मशान भूमि में आए और उस महान् सदाचारी वारिषेण के ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे। परन्तु उन्होंने बाणसमूहों को फूलों के मुकुटों का अनुसरण करते हुए, और चक्रसमूहों को कर्ण-कुण्डलों का अनुसरण करते हुए एवं खड्गसमूहों को मोतियों के हारों का अनुसरण करते हुए देखा। अर्थात्—बाण-समूह फूलों के मुकुट बन गए और चक्रसमूह कर्ण-कुण्डल हो गए—इत्यादि। इसी प्रकार दूसरे अस्त्र भी उसके भूषणपने का अनुसरण करते हुए।

उक्त घटना जानकर उसकी ध्यान की धीरता से विशेष प्रमुदित होने से नगर देवता-आदि ने चारों ओर ऐसे महामहोत्सव का अवतरण किया, जिसमें नगर-देवता के करकमलों द्वारा क्षेपण किये जा रहे कल्पवृक्षों के पुष्पों के उपहार (भेंटें) वर्तमान थे। जिसमें विद्याधर-कुमारों द्वारा अनेक दुन्दुभि बाजे-समूह बजाए जा रहे थे एवं जिसमें देव-समूह द्वारा प्रशंसा की जा रहीं अनेक स्तुतियों का मिश्रण था।

जब प्रहार करने वाले नगर रक्षकों ने यह सब घटना देखी तो उनका मन विशेष भयभीत व आश्चर्यान्वित हुआ और शीघ्र जाकर उन्होंने श्रेणिक राजा से सब समाचार निवेदन किया। राजा शीघ्र ही

---

१. त्यक्त्वा। २. आवासस्थानं। ३. वारिषेणतातस्य। ४. भृत्याः श्रेणिकाय निवेदयामासुः। ५. प्रसरान्। ६. अनुसरतान्। ७. चक्रं। ८, ज्ञात्वा।

निशा[1]म्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्तःकरणाः श्रेणिकधरणीश्वरायैवं निवेदयामासुः[2]। नरवरः सपरिवारः सोत्रासं[3] तत्रागतः सत्कुमाराचारानुरागरसोत्सारितमृतिभीतिसङ्गान्मृगवेगाद्[4]अगतामूलवृत्तान्तः साधु तं कुमारं क्षमयामास। नृपनन्दनोऽपि प्रतिज्ञात[5]समयावसाने 'प्राणिनां सुलभसंपाताः खलु संसारे व्यसनविनिपाताः। तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन। एषोऽहमिदानीमवाप्तयथार्थमनीषोन्मेषस्तावदात्महितस्यो[6]पकरिष्ये'[7] इति निश्चयमुपश्लिष्याभाष्य[8] पितरमापिच्छ्य[9] च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहमाचार्यस्य सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह।

भवति चात्र श्लोकः—

विशुद्धमनसां पुंसां परिच्छे[10]दपरात्मनाम्। किं कुर्वन्ति कृता विघ्नाः सदाचार[11]छिलैः खलैः॥१९९॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याग्रहणो नाम त्रयोदशः कल्पः।

पुनः 'इष्टं धर्मे नियोजयेत्, तथा आतुरस्यागदंका[12]रोपयोग[13]इवानिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मयोगः कुशलैः क्रियमाणो भवत्याय[14]त्यामवश्यं निःश्रेयसाय' इति जातमतिस्तपःपरिग्रहेऽपि सह पांसुक्रीडितत्वाच्चिरपरिचयप्रकटप्रणयत्वाच्चात्मनः प्रियसुहृदं पुष्पवतीभट्टिनीभर्तुरमात्यस्य शाण्डिल्यायनस्य नन्दनमभिनयविवाहविहितकङ्कणबन्धनं पुष्पदन्ताभिधान-

---

सपरिवार वहाँ आया और जब उसने ऐसे मृगवेग नाम के चोर से, जिसने वारिषेण राजकुमार के सदाचार के पालन से उत्पन्न हुई स्नेह की उत्कटता के कारण अपनी मृत्यु के भय का सम्पर्क नष्ट कर दिया है, शुरू से अन्त तक हार की चोरी का सब समाचार जाना तब उसने राजकुमार से अच्छी तरह क्षमा माँगी।

राजकुमार वारिषेण ने ध्यान की प्रतिज्ञा के बाद यह निश्चय किया—'निश्चय से संसार में प्राणियों को दुःखों के आक्रमण सुलभ आगमन वाले होते हैं, अतः मृत्यु के आश्रय वाले विलम्ब से क्या लाभ है ? इसलिए अब यथार्थ बुद्धि के प्रकाश को प्राप्त हुआ मैं आत्मकल्याण के लिए प्रयत्नशील होऊँगा।' बाद में उसने अपने पिता से कहकर बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह के आग्रह को चूर्ण करके सुरदेव नाम के आचार्य के समीप में जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका भाव यह है—विशुद्ध चित्तवृत्तिवाले आत्मज्ञानी महापुरुषों के लिए सदाचार से ऊजड़ (शून्य) दुष्टों के द्वारा की हुई विघ्न-बाधाएँ क्या कर सकती हैं ? अर्थात्—कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकतीं॥ १९९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वारिषेण राजकुमार का दीक्षा के लिए
प्रस्थान वाला यह तेरहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इसके बाद वारिषेण मुनिराज के हृदय में यह परोपकार बुद्धि उत्पन्न हुई। 'अपने प्रिय जन को धर्म में स्थापित करना चाहिए तथा जैसे औषधि का उपयोग रोगी को उत्तरकाल में कल्याणकारक होता है वैसे ही धर्म-पालन की इच्छा न रखते हुए प्राणी के लिए निपुण पुरुषों से किया जा रहा धर्म-संबंध भी उत्तरकाल में मोक्ष के लिए होता है।' इसलिए जब उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की तब पुष्पवती नाम की मनोज्ञ पत्नीवाले 'शाण्डिल्यायन' राजमन्त्री के पुत्र ऐसे पुष्पदन्त के घर जाकर उसे अपने साथ लिया, जो कि वारिषेण राजकुमार

---

१. अवलोक्य। २. प्रहरन्तः पुरुषाः। ३. त्वरितं। ४. चौरात्। ५. प्रतिज्ञानन्तरं। ६-७. प्रतियत्ने षष्ठी। पञ्जिकायां तु आत्महितस्य प्रतियत्ने कृञ् इति। ८. कथयित्वा। ९. चूर्णीकृत्य। १०. ज्ञातात्मनाम्। ११. उद्वसैः। १२. अगदंकरमौषधम्। १३. वैद्यप्रयोगः। १४. आयतिः फलमुत्तरं।

मेतदायतनानुगमनेन स्वामिपुत्रत्वात्प्रतिपन्नमहामुनिरूपत्वाच्चाविरोधाभ्युत्थानं हस्तेनावलम्ब्य पुनः 'अतोऽस्मात्प्रदेशान्मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान्' इति सहानुसरन्तमवाप्तवन्तं च गुरूपान्तं, 'भगवन्, एष खलु महानुभावतोल्लतालम्बनतरुः स्वभावेनैव भवभीरुर्भोगानुभवने विरक्तचित्तः 'सर्वसंयतवृत्त्यार्थी भगवत्पादमूलमायातः'[1] इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्णे कामकरिकदलिकावर्हंभारमिव मूर्धजनिकरमपनाय्य दीक्षां ग्राहयामास। सोऽपि तदुपरोधाक्षेपाद्दीक्षामाश्रय हृदयस्याविदितवेदितव्यत्वादनङ्गग्रहग्रसितत्वाच्च पञ्जरपात्रः[2] पतत्त्रीव[3] मन्त्रशक्तिकीलितप्रभावः पृदाकुरिव[4] गाढबन्धनालानितो व्यालशुण्डाल[5] इव चाहर्निशं वारिषेण[6] ऋषिणा रक्ष्यमाणोऽपि

अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्तं नयनघनविलासं चारुगण्डस्थलं च।
मधुरवचनगर्भं स्मेर[7]बिम्बाधरायाः पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियायाः ॥२००॥

कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषा वक्षोजपत्त्रजघनाभरणानि प्रेम्णा।
पादेष्वलक्तकरसेन च वर्धनानि कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्याः ॥२०१॥

के मुनि हो जाने पर भी बाल्यकाल में उनके साथ धूलि में क्रीड़ा किया हुआ होने से एवं चिरकालीन परिचय होने से उत्पन्न हुए प्रेम से वारिषेण का प्रिय मित्र था, जिसका नवीन विवाह होने से कङ्कण-बन्धन किया गया था। जो उन्हें देखकर इसलिए खड़ा हो गया था, कि ये स्वामी के पुत्र हैं तथा महामुनि का रूप धारण किये हुए हैं, एवं जो यह सोचता हुआ उनके साथ जा रहा था, कि 'यह पूज्य मुझे अमुक स्थान से लौटा देंगे।' और जो गुरु के पास पहुँच गया था।

इसके बाद वारिषेण मुनिराज ने गुरु को निम्न प्रकार सूचना दी—'भगवन्! सज्जनतारूपी लता के आश्रय के लिए वृक्ष-सरीखा यह पुष्पदन्त स्वभाव से ही संसार से भयभीत हुआ है और इसका चित्त भोगों के भोग से विरक्त हो गया है, अतः महाव्रत धारण करने की इच्छा से आपके पादमूल में आया है।'

इसके बाद वारिषेण मुनि ने दीक्षा गुरु के पास में कामदेवरूपी हाथी के लिए केला के पत्तों के समूह-सरीखे केश-समूह का लुञ्चन कराकर उसे दीक्षा ग्रहण करा दी।

पुष्पदन्त ने भी वारिषेण मुनि के आग्रह के वश से दीक्षा ग्रहण कर ली परन्तु उसका मन तत्त्वज्ञानी न होने से और कामदेवरूपी पिशाच से ग्रसित होने के कारण पींजरे में स्थित हुए पक्षी की तरह और मन्त्रशक्ति से कीलित प्रभाव वाले सर्प की तरह एवं मजबूत बन्धन की खूँटी से बँधे हुए दुष्ट हाथी-सरीखा पराधीन हुआ दिन-रात वारिषेण ऋषि द्वारा रक्षा किया जा रहा था तथापि उसने निम्न प्रकार अपनी प्रियतमा का आग्रह-पूर्वक ध्यान करते हुए बारह वर्ष व्यतीत कर दिए।

मन्द मुस्कान व बिम्बफल-सरीखे ओठों वाली मेरी प्रिया का वह मुख मेरे सामने मौजूद हुआ-सा मालूम पड़ रहा है, जो कि केश-पाशों से सुन्दर है। जो भ्रुकुटियों रूपी लताओं के नृत्य से रमणीक है। जो नये नेत्रों के विलासवाला है। जो सुन्दर गालों की स्थली वाला है और जिसके मध्य मीठे वचन वर्तमान हैं ॥ २०० ॥ जो मानव प्रेम से अपनी प्रियाओं को निम्न प्रकार आभूषणों से अलङ्कृत करते हैं वे ही भाग्यशाली हैं—कानों के आभूषण (एरन व कर्णफूल-आदि), मुख का आभूषण, कण्ठ का आभूषण, (कण्ठमाल व हार-आदि), कुचकलशों पर पत्त्ररचना, जङ्घाओं का आभूषण (करधोनी-आदि) और चरणों में लाक्षारस का लेप

---

१. 'सर्वसंयतवृत्त्यर्थी' क०। २. पञ्जरस्थः। ३. पक्षिवत्। ४. सर्पवत्। ५. दुष्टगजवत्। ६. 'वारिषेण ऋषिणा' इत्यत्र 'ऋत्यकः' इत्यनेन प्रकृतिभावान्न सन्धिः। ७. ईषद्धास।

लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवायाः ।
उत्तुङ्गपीवरपयोधरमण्डलायास्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥२०२॥

किं च । चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिज[1]व्यापारसारात्मृ[2]तैर्गाढाभ्यासपुरःस्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमैः ।
स्वप्ने[3] संगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमैरित्थं वेषमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कण्ठितः कानने ॥२०३॥

इति निर्बन्धन[4]ध्यायन्नुदवशसमाः[5] समानैषीत् ।

शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्यां सह तेषु तेषु विषयेषु तीर्थंकृतां पञ्च कल्याणमङ्गलानि स्थानानि वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्संसितोपान्तशैलमूले पञ्चशैलपु[6]रे समागत्यात्मनो वारिषेण ऋषेश्च तद्दिवसे पर्युपासितो[7]पवासत्वात् पुष्पदन्तमेकाकिनमेव प्रत्यवसानाया[8]दिदेश । तदर्थमादिष्टेन च तेन[9] चिन्तितं चिरात्कालात्खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवन्मुद्धृतोऽस्मि । संप्रति हि मे नूनमनूनानि पुण्यान्यवेक्ष्य दीक्षां मुमुक्षुणा[10] मङ्क्षु[11] पाशपरिक्षेपक्षरितेनेव पक्षिणा पलायितुमारब्धम् ।

॥ २०१ ॥ ऐसी उस प्रिया का मेरे साथ निश्चय से कब समागम होगा ? जिसके नेत्ररूपी नीलकमल लीला (हाव-भेद) व विलास (सौन्दर्य) से सुशोभित हैं। जिसके ओष्ठ पल्लव बढ़े हुए काम के वेग से चञ्चल हैं और जो उन्नत व कड़े कुचमण्डल वाली है ॥ २०२ ॥

मुनिवेषी पुष्पदन्त अपनी प्रिया में उत्कण्ठित हुआ जंगल में इस प्रकार दिन व्यतीत करता था।

उदाहरणार्थ—वस्त्र में प्रिया के चित्र-लेखन कार्यों से, कामदेव के व्यापारों के उत्तम पदार्थों के स्मरणों से, दृढ़ भावना से सामने खड़ी हुई प्रियतमा के चरणों में नमस्कार के क्रमों से और स्वप्न में प्रिया का संगम होने से सुख की प्राप्ति व स्वप्न में प्रिया का वियोग होने से दुःख की प्राप्ति से ॥ २०३ ॥

एक बार शूरदेव नाम के आचार्य भी अपने शिष्य वारिषेण व पुष्पदन्त के साथ विविध देशवर्ती तीर्थङ्करों के पंच कल्याणकों के माङ्गलिक तीर्थ स्थानों की वन्दना करके घूमते घूमते उसी राजगृह नगर में आए, जिसके निकटवर्ती पर्वत-शिखर जिन-मन्दिरों से सुशोभित हैं। उस दिन आचार्य ने व वारिषेण मुनिराज ने उपवास धारण किया था, अतः उन्होंने पुष्पदन्त को अकेले ही जाकर आहार करने की आज्ञा दे दी।

आहार के लिए आज्ञा प्राप्त करनेवाले पुष्पदन्त ने विचार किया—'निस्सन्देह चिरकाल के बाद में एक अपमृत्यु से जीवित रहकर उद्धार वाला हुआ हूँ। आज मेरे प्रचुर पुण्य का उदय है। फिर दीक्षा को छोड़ने के इच्छुक हुए उसने वैसा शीघ्र भागना आरंभ किया जैसे जाल के आवरण से निकला हुआ पक्षी शीघ्र भागना आरंभ करता है।

इसके बाद वारिषेण ने उसे इस तरह प्रस्थान करते हुए देखकर उसका भविष्य कालीन अभिप्राय जानकर विचार किया। 'यह अवश्य ही जिन दीक्षा छोड़ने का इच्छुक-सा जान पड़ता है, इसीलिए यह उत्कण्ठा के साथ भाग रहा है।' इसकी बुद्धि स्त्रीलोभ से अपहरण की जा रही है; अतः जिन शासन की रक्षा का भार वहन करने वालों को इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

१. काम। २. 'सारास्मृतैः' मु० एवं 'ख' प्रती पाठः। ३. यदा स्वप्ने संगमो भवति, तद्विषये प्रीत्यागमो भवति, यदा तु स्वप्ने विप्रयोगो भवति, तद्विषये अप्रमोदागमो भवति। ४. आग्रहेण। ५. वर्षाणि। ६. राजगृहे। ७. सेवित। ८. प्रत्यवसानं भोजनमिति यश. पं.। ९. पुष्पदन्तेन। १०. दीक्षां मोक्तुमिच्छुना ११. शीघ्रं।

वारिषेणस्तस्य तथा प्रस्थानात्कृतोदर्कं वितर्क्य[1] 'अवश्यमयं जिनरूपं जिहासु[2]रिव सौत्सुक्यं विभ्रमते, तदेव कथामुख्य[3]-मार्गधिषणः समयप्रतिपालनाधिकरणेन भवत्युपेक्षणीयः' इत्यनुध्याय[4] झटिति समनुरुध्य[5] वर्त्म[6] तत्स्थापनाय जनकनिकेत[7]नं जगाम । चेलिनीमहादेवी पुत्रं मित्रेण सत्रमुपलोकमा[8]नमवेक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षार्थं सरा[9]गं विरागं चासनमदापयत् । वारिषेण-स्तेन समं चरमोपचा[10]रं विष्टरमलंकृत्य 'अम्ब[11], समाहूयन्तां समस्ता अप्यास्मीयाः *स्नुषाः' । तदनु वनदेवता इव प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्गितकुन्तलारामाः, कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमाः, प्रावृष इव [12]समुन्नतपयोधराविद्ध[13]मध्य-भागाः, सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव सुभगभो[14]गायतनाभोगाः, कङ्केलि[15]काननक्षितय[16] इव [17]पादपल्लवोल्लासितविहारविषयाः, कमलिन्य इव मणिमयमञ्जीरमणितो[18]न्मद मरा[19]लमण्डलस्खलितनलिन[20]जलेशयाः, स्वकीयरूपसंपत्तिरस्कृतत्रिभुवन[21]रामारामणीयकाः सलीलमहमहमिकोत्सुकाः समागत्य समन्ततःपरिवव्रुः पुण्यदेवता इव ताः स्ववासिन्यः[22] । 'अम्ब, मद्भ्रातृजा[23]या सुदत्यप्याकार्यताम्' । ततः संध्येव [24]धातुरक्ताम्बरचराटोपा, तपःश्रीरिव

ऐसा विचार करके वारिषेण मुनि शीघ्र मार्ग रोककर इसे मुनिधर्म में स्थापित करने के लिए अपने पिता श्रेणिक राजा के निवास-स्थान पर गए। चेलिनी रानी ने अपने पुत्र वारिषेण को मित्र के साथ आते हुए देखकर उसके मन के अभिप्राय की परीक्षा करने के लिये रागियों के योग्य आसन (पलङ्ग-आदि) और वैरागियों के योग्य आसन (तृणासन) प्रदान किये। वारिषेण मुनि अपने मित्र के साथ वैरागियों के योग्य आसन (चटाई) पर बैठ गए और कहा—'माता ! अपनी समस्त पुत्र-वधुओं को बुलाओ।'

बाद में ऐसी सभी पूर्ण-युवती वारिषेण की पत्नियों ने परस्पर के अहंकार से उत्कण्ठित होकर विलास के साथ आकर उन्हें चारों ओर से वेष्टित कर लिया, जिनका केशपाश रूपी बगीचा वैसा पुष्परूपी शिरोभूषणों से वृद्धिंगत था जैसे वनदेवता पुष्परूपी शिरोभूषण से वृद्धिंगत बगीचे वाली होती है। जिनके अङ्गों के निकास मणिमय आभूषणों से वैसे मनोज्ञ हैं जैसे कल्पलताएँ मणि-सरीखे (शुभ्र) पुष्परूपी आभूषणों से मनोज्ञ होती हैं। जिनका मध्यभाग (कमर) वैसा उन्नत पयोधरों (कुच कलशों) से आविद्ध (झुका हुआ) है जैसे वर्षा ऋतु विशाल पयोधरों (मेघों) से आच्छादित आकाश के मध्यभाग वाली होती है। जिनका विस्तृत शरीर ऐसा सुन्दर है—मानों—समस्त लोक के सौन्दर्य को अंशरूप लिपि से लिखी गई हैं। जिन्होंने विहार विषयों (लीला-प्रदेशों) को पादपल्लवों (चरणरूपी किसलयों) से वैसा सुशोभित किया है जैसे अशोक वृक्षों की वन भूमियाँ विहार विषयों (उद्यान-प्रान्तों) को पाद (मूल से लेकर) किसलयों से सुशोभित करती हैं। जैसे कमल-लताएँ रत्नमयी नूपुरों के शब्द-सरीखा शब्द करने वाले मतवाले हंस-समूह से चलित कमलों वाली होती हैं वैसे ही जिनके चरणकमल रत्नमयी नूपुरों की मधुर झङ्कार ध्वनिरूपी मतवाले हंस-समूह से चलित हो रहे हैं। जिन्होंने अपनी रूपसम्पदा से तीन लोक की नारी जनों की सुन्दरता तिरस्कृत की है और जो पुण्य-देवता-सरीखी हैं।

इसके बाद वारिषेण ने कहा—'माता ! मेरी भ्रातृ-वधू सुदती को भी बुलाइए।' अतः ऐसी सुदती भी वहाँ प्रविष्ट हुई। जो वैसी गेरुआ रक्त अम्बर (वस्त्र) से चञ्चल विस्तारवाली है जैसी संध्या लोहित

१. अभिप्रायार्थं । २. त्यक्तुमिच्छुः । ३. स्त्रीलोभ । ४. शीघ्रं । ५. मार्गं रुद्ध्वा । ६. एतस्य स्थापनं । ७. श्रेणिकावासं । ८. आगच्छन्तं । ९. मञ्चकादिकं । १०. वीतरागासनं । ११. हे मातः । *. वध्वः । १२. उन्नत । १३. आभुग्नो निर्भरं वा । १४. शरीरं । १५. अशोकवृक्ष । १६. भूमयः । १७. पादाः चरणाः पक्षे मूलं । १८. शब्दित । १९. हंसः । २०. नलिना एव जलेशयानि यासां ताः । २१. नारीजन । २२. किंचित् प्रौढाः । २३. भ्रातृपत्नी । २४. गैरूरक्तवस्त्रेण चरः चपलः आटोपो यस्याः सा ।

विलुप्तकुन्तलकलापा, भव्यजनमतिरिव विभ्रमभ्रंशितदर्शना, हिमोष्मपीडिता कमलिनीव क्षामच्छायाघना[1], शरदिव दीनपयोधरभरा, [2]खट्वाङ्गकरङ्काकृतिरिव प्रकटकीकस[3]निकरा सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिमूर्तिमती वैराग्यस्थितिरिव विवेश। पुष्पदन्तहृदयकन्दलो[4]ल्लासवसुमती सुदती। वारिषेणोऽवधार्य 'मित्र, सेयं तव प्रणयिनी यन्निमित्तमद्यापि न संपद्यसे यतो मुनिरिति। एताश्चैतंविधकायास्तव भ्रातृजायाः, तथैते च वयं तव समक्षोवयं समाचरिताभिजातजनोचितचरिताः'। पुष्पदन्तः—

स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसूनताम्बूलवासविधिना[5] क्षणमात्रमेतत्।
आधे[6]यभावसुभगं वपुरङ्गनानां नैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य[7] वाच्या ॥२०४॥

इत्यसंशयमाशय्य[8] स्त्रैणेषु सुखकरणेषु विचिकित्सासज्जां लज्जामभिनीय[9] 'हंहो [10]निकामनिरुद्धमकरध्व-

वर्ण वाले अम्बर (आकाश) में संचार करनेवाले विस्तार वाली होती है। जो वैसी विलुप्त (अस्त-व्यस्त) केश-समूह वाली है जैसी तपोलक्ष्मी विलुप्त (उत्पाटित—उखाड़े हुए) केश-समूह वाली होती है। जो वैसी विभ्रम (विलास—सौन्दर्य) से शून्य दर्शन वाली है जैसे भव्यप्राणी की बुद्धि विभ्रम (मिथ्याज्ञान) को नष्ट करनेवाले सम्यग्दर्शन से अलङ्कृत होती है। जो वैसी क्षामच्छायाघना (म्लानकान्ति-युक्त शरीरवाली) है जैसी पाले से पीड़ित हुई कमललता म्लान कान्तियुक्त पत्र-पुष्पादि अवयवों वाली होती है। जैसे शरद ऋतु दीन (दरिद्र—निर्जल) पयोधर-समूह (मेघ-समूह) वाली होती है वैसे ही जो दीन (शिथिल) पयोधर-समूह (कुच-समूह) वाली है। जैसे अनबुनी खाट की आकृति प्रकट दिखाई देनेवाले कीकसों (कीड़ों) के समूह वाली होती है वैसे ही जिसके कीकस-समूह (हड्डियों की श्रेणी) प्रकट दिखाई देते थे। जो ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—समस्त सांसारिक सुखों से पराङ्मुखता (उदासीनता) की नीति वाली मूर्तिमती (स्त्री-रूपधारिणी) वैराग्य-स्थिति ही है और जो पुष्पदन्त के हृदयरूपी पल्लव के उल्लास (प्रमोद) के लिए पृथिवी-सरीखी है।

सुदती को जानकर वारिषेण ने कहा—'मित्र! यही तुम्हारी वह प्रियतमा है, जिसके निमित्त से अब तक भी—बारह वर्ष बीत जाने पर भी—तुम भाव साधु नहीं हुए और ये सब सामने दिखाई देने वाली मनोज्ञ शरीर वाली तुम्हारी भौजाइयाँ हैं एवं ये हम हैं, जिन्होंने तुम्हारे समक्ष चारित्र की उन्नतिपूर्वक कुलीन पुरुषों के योग्य निर्दोष चारित्र पालन किया है, अर्थात्—मेरी स्त्रियाँ विशेष सुन्दर हैं तो भी उन्हें छोड़कर मैंने निर्दोष चारित्र पालन किया और तुम कुरूप स्त्री को देवी-सरीखी समझकर हीन चारित्र वाले हुए हो। इस प्रकार वारिषेण ने पुष्पदन्त को तिरस्कृत किया।

तत्पश्चात् पुष्पदन्त ने निम्न प्रकार निस्सन्देह विचार किया—

यह स्त्रियों का शरीर, स्नान, सुगन्धित वस्तु का लेप, मनोज्ञ वस्त्र, आभूषण, पुष्प, ताम्बूल व वासन-धूपनादि विधि से अन्य दूसरी सुगन्धि वस्तुओं के आरोपण से क्षणमात्र के लिए सुन्दर प्रतीत होता है परन्तु इस शरीर की स्वाभाविक स्थिति (रस व रक्त-आदि सप्तधातु-युक्तता) कहने योग्य नहीं है, अर्थात्—यह अत्यन्त असमीचीन है ॥ २०४ ॥

इसके बाद उसने स्त्री सम्बन्धी क्षणिक सुख के कारणों में ग्लानि-युक्त लज्जा को प्राप्त करके कहा—

१. देहा। २. खट्वाङ्गमेव करङ्कः बाणदोरडीरहिता खाटलू। ३. अस्थि। ४. पल्लव। ५ वासनधूपनादि। ६. सुगन्धवस्तुनाऽऽरोपणेन क्षणमात्रसुभगमङ्गं। ७. अस्य अङ्गस्य नैसर्गिकी स्वाभाविकी स्थितिर्नवाच्या-नितरां असमीचीनेत्यर्थः। ८. विचिन्त्य। ९. प्राप्य। १०. अतिशयेन।

[1]कोद्धव, [2]विधुरबान्धव संसारसुखसरोजोत्सार[3]हिमोहारायमाणचरण[4] वारिषेण, पर्याप्तमत्रावस्थानेन । प्रकामशक[5]-लितकुसुमास्त्ररसरहस्य वयस्य[6], इदानीं यथार्थनिर्वेदावनिर्मनोमुनिरस्मीति चावधार्य विशुद्धहृदयौ द्वावपि तौ चेलिनी-महादेवीमभिनन्द्योपसद्य[7] च गुरुपादोपशल्यं[8] निःशल्याशयौ साधु तपश्चक्रतुः ।

भवति चात्र श्लोकः—

सुदतीसङ्गमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम् । वारिषेणः कृतत्राणः स्थापयामास संयमे ॥२०५॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः ।

[9]चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः । पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥२०६॥

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते । [10]स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते[11] ॥२०७॥

समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासकः[12] । समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र[13] न भासकः ॥२०८॥

'कामदेव के दर्प को विशेष रूप से रोकने वाले और कष्ट अवस्था में बन्धु-सरीखे एवं सांसारिक सुखरूपी कमल को नष्ट करने में हिम-(बर्फ) सरीखे चरित्रशाली ऐसे हे वारिषेण ! यहाँ ठहरने से कोई लाभ नहीं'। 'कामदेव के रस के गूढ़स्वरूप को विशेष रूप से खण्डित करने वाले मित्र ! इस समय मैं वास्तविक वैराग्य का स्थान होकर भावमुनि हुआ हूँ । ऐसा निश्चय करके दोनों विशुद्ध हृदय वाले मित्रों ने चेलिनी महादेवी का अभिनन्दन करके गुरु के चरणकमलों के समीप प्राप्त होकर निःशल्य अभिप्राय वाले होकर अच्छी तरह उग्र तपश्चर्या की ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अभिप्राय यह है—

वारिषेण ऋषि ने पुष्पदन्त नामक तपस्वी को, जो कि सुदती नाम की प्रिया के साथ संगम के लिए लालायित हो रहा था, रक्षा की और उसे चारित्र में स्थापित किया ॥ २०५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में स्थितिकरण का कथन करने वाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब सम्यक्त्व के प्रभावना अङ्ग का निरूपण करते हैं—]

अनेक प्रकार के जिनबिम्ब व जिनमन्दिरों की, स्थापना के द्वारा, अनेक प्रकार के व्याकरण, काव्य, कोष, न्याय व धर्मशास्त्रों के ज्ञान के द्वारा, नाना प्रकार की तपश्चर्याओं (अनशन-आदि बारह प्रकार के तपों) द्वारा एवं नाना प्रकार की महाध्वज-आदि पूजाओं (नित्यपूजा, अष्टाह्निकपूजा, इन्द्रमहपूजा व महामहपूजा-आदि) द्वारा जैनशासन की प्रभावना करनी चाहिए ॥ २०६ ॥ जो विवेक-शून्य मानव साधु महापुरुषों के सम्यग्ज्ञान, तप व पूजा से ईर्ष्या—द्वेष करता है, अर्थात्—जो मूर्ख, साधुओं के ज्ञान, तप व उपासना को देखकर उनके गुणों से द्रोह करता है, निस्सन्देह उससे स्वर्गलक्ष्मी व मोक्षलक्ष्मी भी ईर्ष्या करती है । अर्थात्—उसे स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २०७ ॥ जो विवेकी मानव विशुद्ध चित्तवृत्ति (अभिमान, ईर्ष्या व अनिष्ट चिन्तवन-आदि दोषों से रहित मनोवृत्ति) या शास्त्रज्ञान और धन (धन-धान्य-आदि के दान) से समर्थ होने पर भी शासन-दीपक (जैनधर्म की प्रभावना करने वाला) नहीं है, वह विशुद्ध मनोवृत्ति या

---

१. दर्प । २. कष्टे सति । ३–४. विनाशे हिममिव चारित्रं यस्य । ५. खण्डित । ६. मित्र । ७. प्राप्य । ८. समीपं । ९. प्रतिमाभिः । १०. स्वर्गापवर्गविषये भवतीति भूः । ११. अक्षमां करोति । १२. न शासनदीपको यः भवति । १३. आत्मनः परलोके स उद्योतको न भवति ।

तद्दानज्ञानविज्ञानमहामह[1]महोत्सवैः। दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झितः[2] ॥२०९॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु श्रीमत्पार्श्वनाथपरमेश्वरयशःप्रकाशनामत्रे[3] अहिच्छत्रे चन्द्राननाङ्गनारतिकुसुमचापस्य द्विषंतपस्य[4] भूपतेश्चरितोचितकुलशीलः षडङ्गे[5] वेदे वेदे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतमतिरापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्ता[6] यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्। एकदा तु सा किल यज्ञदत्तान्त[7]र्वत्नी सती माकन्द[8]मञ्जरी[9]कर्णपूरेषु [10]तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला व्यतिक्रान्तर[11]सालवल्लरीफलकालतया *कामितमनवाप्नुवती शिफासु[12] व्यथमानारं प्रतानिनीव[13] [14]तनुतानवमुपेयुषी तेन पुरोहितेन

बुद्धि तथा धनादि वैभव से समर्थ होने पर भी परलोक में अपनी आत्मा का उद्योत करने वाला नहीं हो सकता। अर्थात्—उसे स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २०८ ॥ इसलिए धर्म-बुद्धि वाले मानव को ऐहिक सुख की अपेक्षा से रहित होते हुए आहारादि चार प्रकार के पात्रदान से, आगम के ज्ञान से, चौसठ कलाओं के विज्ञान से एवं प्रतिष्ठा-आदि महोत्सवों से, सम्यग्दर्शन का प्रकाश करना चाहिए ॥ २०९ ॥

भावार्थ—स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी प्रभावना अङ्ग का निरूपण करते हुए कहा है—कि 'अज्ञान-रूपी अन्धकार के विस्तार को हटाकर जैनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है।' इसमें बहुश्रुत, स्वार्थत्यागी, वक्ता व सुलेखक विद्वानों की एवं दानवीर धनाढ्यों की अपेक्षा होती है। इतिहास भी साक्षी है कि ई० से ३२५ वर्ष पूर्व भद्रबाहु श्रुतकेवली ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के सहयोग से न केवल, ज्ञान का भण्डार भरकर शासन को उद्दीपित किया, किन्तु साथ में अनेक बहुश्रुत विद्वान् चरित्रनिष्ठ मुनिसंघ को पैदा करके जैनशासन की बृहत् प्रभावना की। अतः वर्तमान में जैन शासन को उद्दीपित करने के लिए अनेक बहुश्रुत स्वार्थत्यागी धुरन्धर विद्वानों को उत्पन्न करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए और यह बात तभी संभव है जब प्रत्येक स्थान में विद्यालय व गुरुकुल हों। बहुश्रुत विद्वानों का कर्तव्य है, कि वे द्वादशाङ्ग श्रुत के उद्धार के लिए संस्कृत या प्राकृतिक शास्त्रों का खोजपूर्ण हिन्दी अनुवाद करें—ताकि शास्त्र, स्वाध्याय सुलभ हो जाय। इसी प्रकार दानवीर धनाढ्यों का कर्तव्य है कि वे विद्वानों की सेवा शुश्रूषा करते हुए उन्हें जैन शासन की प्रभावना के श्रेयस्कर मार्ग में पूर्ण (तन, मन व धन से) सहयोग दें। ऐसा करने से वे स्वर्ग श्री व मुक्तिश्री के पात्र होकर ऐहिक कीर्तिभाजन भी होंगे।

अब प्रभावना अङ्ग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा सुनिए—

पञ्चाल देश में श्रीमत्पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की कीर्ति के प्रकाशन का पात्र 'अहिच्छत्र' नाम का नगर है। उसमें 'चन्द्रानना' नाम की रानीरूपी रति के लिए कामदेव-सा मनोज्ञ 'द्विषंतप' नाम का राजा राज्य करता था। उसके ऐसा 'सोमदत्त' नाम का राजपुरोहित था, जो कि कुलीन, सदाचारी और छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द व ज्योतिष), चार वेद, ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दण्डनीति विद्या में प्रवीण बुद्धिशाली था एवं दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियों को दूर करने में समर्थ था। उसकी 'यज्ञदत्ता' नामकी स्त्री थी।

एक बार यज्ञदत्ता गर्भवती हुई और उसे आम्रमञ्जरी के कर्णपूर के धारण का और पके हुए आम्र-फलों के भक्षण का दोहला हुआ। परन्तु आम्र-मञ्जरी व पके हुए आम्र-फल का मौसम बीत चुका था, अतः

१. प्रतिष्ठादि। २. इहलोकसुखापेक्षारहितः। ३. अमत्रे—पात्रे भाजने। ४. नाम्नः। ५. शिक्षा, कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्योतिर्निरुक्तं चेति। ६. प्रतीकारकर्ता। ७. गर्भिणी। ८. माकन्दरसालपिकप्रियकालिदासाः चूतपर्यायाः। ९. वल्लरीवल्ली मञ्जर्यामपि। १०. पक्वं। ११. आम्रवल्लरी। * 'कामितमनवाप्नुवती' इति क०। १२. मूलेषु, शिफाः जटाः इति पं०। १३. प्रतानिनी लता वल्ली। १४. कायकृशत्वं प्राप्ता।

ज्ञातिजनेन च प्रपञ्चेन[1] पृष्टा हृदयेष्टमभाषिष्ट। भट्टस्तन्निशम्य 'कथमेतन्मनोरथमपथप्रथमस्मन्मनोमथं[2] मन्यर्थ-प्रार्थनं[3] करिष्यामि' इत्याकुलमनाः परिच्छदसंप्रदायसंबन्धबन्धुरः[4] सातपत्रपदत्राण[5]स्तद्गवेषण[6]विषणपरायणः परिभ्रमंस्ततो-ऽञ्जन् जलवाहिनी नाम नदीतटनिकटनिविष्टप्रतन्ने[7] महति कालिन्दीकानने[8] परमतपश्चरणाचरणशुचिशरीरेण निःशेषश्रुतश्रवणप्रसृतमनस्कारेण[9] समस्तसत्त्वस्वरूपनिरूपणस्वाध्यायध्वनिसिद्धौषधिसंनिधि[10]प्रसाधितवनदेवतानिकरेण मूर्तिमतेव धर्मेण विनेयवैंधिकेयमित्रेण[11] सुमित्रेण मुनिनालंकृतालवालवलयमेतद्ब्रह्मवर्चस[12]माहात्म्यादामूलमामूलं चकं चूतं समुल्लसद्वल्लरी[13]फलगुलुच्छस्फीतमवलोक्य [14]च्छेकच्छात्रहस्ते कलत्रस्य निकटप्रियप्रसवफलप्रतोली[15] प्रहृत्य ततो भगवतोऽवधिविशेषपयोधिमध्यसंनिधायमानसकलकलाकलापरत्नाद्भवश्रवणावसरप्रयत्नात्समायातं सहस्रारकल्पे सूर्यविमानसंभूतं सूर्यनामाभिधानानुगतमल्पविभवपरिप्लुतम[16]स्मद्गोचरं भवान्तरमाकर्ण्योदीर्णजातिस्मरभावः स्वप्न-

---

उसका दोहला पूर्ण न होने से उसने वैसी शारीरिक कृशता (क्षीणता) प्राप्त की जैसी मूल (जड़) में व्यथित बेलड़ी क्षीणता प्राप्त करती है। अतः राजपुरोहित और कुटुम्बी जनों द्वारा विस्तार से पूँछी जाने पर उसने अपना दोहला कह दिया। उक्त बात सुनकर पुरोहित का मन और कुटुम्बीजन व्याकुलित हुए। उसने मन में विचार किया—कि 'मैं झूठे मार्ग का अनुसरण करने वाली व मेरा मन व्यथित (विशेष दुःखित) करने वाली इसकी मनोकामना कैसे सफल (पूर्ण) करूँ ?'

पश्चात् उसने छात्र सम्प्रदाय के संघ-सहित होकर छत्ता धारण किया व जूते पहिने और आम्रफल के देखने या खोजने की बुद्धि में तत्पर हुआ। यहाँ वहाँ पर्यटन करते हुए उसने 'जलवाहिनी' नाम की नदी के तट के निकटवर्ती, विस्तृत व महान् आम्रवन में ऐसा आम्र-वृक्ष देखा, जिसकी क्यारी-समूह ऐसे 'सुमित्र' नाम के ऋषि से अलङ्कृत थी, जो कि (आम्रवृक्ष) प्रस्तुत ऋषि के चारित्र व विद्या के प्रभाव से जड़ से शिखर तक शोभायमान हो रहीं मञ्जरियों व आम्र फलों के गुच्छों से वृद्धिगत था। जो कि (सुमित्र ऋषि) उत्कृष्ट तपश्चर्या के अनुष्ठान से पवित्र शरीर वाले थे। समस्त द्वादशाङ्ग श्रुत के श्रवण से जिनका चित्त विस्तृत हो गया था। जिसने समस्त प्राणियों के स्वरूप को निरूपण करने वाले स्वाध्याय की ध्वनिरूपी सिद्धौषधि की समीपता से वनदेवता-समूह को अपने वश में कर लिया था। जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों —मूर्तिमान् धर्म ही है—और जो शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य-सरीखे थे। इसके बाद उसने उस आम्र वृक्ष से उत्पन्न हुए फलों के गुच्छों को तोड़कर चतुर शिष्य के हाथ अपनी प्रिया के पास भेज दिए।

इसके बाद उसने जब उक्त ऋषि से, जिसकी आत्मा में अवधिज्ञानरूपी समुद्र के मध्य सन्निधि प्राप्त करने वाले समस्त कला-समूह रूपी रत्न प्रकट हुए हैं, अपना इस प्रकार पूर्वभव श्रवण किया, कि 'तू बारहवें स्वर्ग में सूर्य नामक विमान में उत्पन्न हुआ, बहुत थोड़े ऐश्वर्य से सहित भूतपूर्व सूर्य नामका देव था और मेरे निकट धर्मश्रवण के अवसर पर प्रयत्न पूर्वक आया हुआ था' तब उसे पूर्वभव का स्मरण हुआ, अतः उसने

---

१. प्रपंचेन। २. असमन्मनो मथ्नातीति असमन्मनोमथं दुःखदं। ३. सफलकर्म। ४. संप्रदायमेलापकसहितः। ५. छत्रोपानत्सहितः, सहातपत्रेण छत्रेण पदत्राणाभ्यामुपानद्भ्यां वर्तते इति। ६. आम्रावलोकन। ७. विस्तरणे। ८. आम्रवने। ९. चित्ताभोगेन। १०. समीप। ११. कमलसूर्येण (सुमित्रेण), वैंधिकेयं कमलं, मित्रेण रविणा। १२. स्याद्ब्रह्म-वर्चसं व्रताध्ययनर्द्धिः व्रतविद्याप्रभावात्। ब्रह्मवर्चसं पवित्रव्रतविद्याप्रभावाः। १३. मञ्जरी। * 'गुलुच्छोत्तम्' (क०)। १४. चतुर। १५. आम्रनरंडिका। १६. परिणतं सहितमित्यर्थः।

समासादितसाम्राज्यसमानसारात्संसाराद्विरज्य मनोजविजयप्राज्यां प्रव्रज्यामासाद्य[1] प्रबुद्धसिद्धान्तहृदयो मगधविषये सोपारपुरपर्यन्तधाम्नि[2] नाभिगिरिनाम्नि महीधरे सम्यग्योगातपनयोगधरो[3] बभूव ।

तदनु सा तद्वियोगातङ्कोद्विग्नचित्ता यज्ञदत्ता तदन्तेवासिभ्यः सोमदत्तवृत्तव्यतिकरमात्मखेदकरमनुभूय प्रसूय च समये[4] स्तनंधयं पुनस्तमादाय प्रयाय च तं भूमिभृतम्[5] 'अहो कूटकपटपेटक,[6] मन्मनोवनदाहदावपावक, निःस्नेह, दुर्विदग्ध, यदीमं दिगम्बर[7]प्रतिच्छन्दमवच्छिद्य[8] स्वेच्छयागच्छसि तदागच्छ, नो चेद् गृहाणेनमात्मनो नन्दनम्' इति व्याहृत्यास्योर्ध्वंजानोर्भगवतः[9] पुरतः शिलातले बालकमुत्सृज्य विजहार निजं निवासम् । भगवानपि तेन सुतेन दृषदः[10] प्लोषोत्कर्षकलुषत्वाद्विष्टरीकृतचरणवर्गः[11] सोपसर्गस्तथैवावतस्थे ।

अत्रान्तरे सहचरानुचरसंचरत्खेचरीचरणालक्तकरक्तमध्यस्य विजयार्धतटीमध्यस्य [12]दयिताविदूरविद्याधरीविनोदविहारपरिमलितकान्तारधरण्यामुत्तरश्रेण्याममरावतीपुरीपरमेश्वरः सुमङ्गलावल्लभः प्रकामं [13]निखातारातिकान्ताशयशोकशङ्कुस्त्रिशङ्कुर्नाम नृपतिः समरावसराभिसरत्सपत्नसंतानावसान[14]सारशिलीमुखश्चिराय राज्यसुखमनुभूय जिनागमावगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितिर्यतिर्बुभूषुर्भूगोचरसंचाराय हेमपुरेश्वराय समस्तमहीसाम्राज्यशासनाय

स्वप्न-राज्य-सरीखे सारवाले (निस्सार) संसार से विरक्त होकर ऐसी जिनदीक्षा ग्रहण की, जिसमें कामदेव के विजय की प्रचुरता वर्तमान है,

बाद में वह समस्त सिद्धान्तों के रहस्य का ज्ञाता होकर मगध देशवर्ती 'सोपारपुर' नामक नगर के समीपवर्ती तेजवाले 'नाभिगिरि' नाम के पर्वत पर भले प्रकार धर्मध्यान संबंधी आतपन योग का धारक हुआ ।

इसके बाद अपने पति के वियोग की दारुण व्यथा से नष्ट चित्तवाली यज्ञदत्ता ब्राह्मणी ने शिष्यों से अपने लिए खेदजनक सोमदत्त के दीक्षा-ग्रहण का समाचार जाना और नौ महीने के अन्त में बच्चे का प्रसव किया और उसे लेकर उसी पर्वत पर पहुँच कर अपने दीक्षित पति से बोली—'अरे कूट-कपट के समूह और मेरे मनरूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल अग्नि-सरीखे एवं निःस्नेही मूर्ख ! यदि इस दिगम्बर (नग्न) वेष को छोड़कर अपनी इच्छानुसार आते हो तो आओ, नहीं तो अपने इस पुत्र को ग्रहण कर ।' ऐसा कहकर वह ऊँचे घुटनों वाले (खड़े होकर ध्यान करनेवाले) मुनि के सामने शिलातल पर बच्चे को छोड़कर अपने निवास-स्थान पर चली गई । शिला के विशेष दाह से कलुषित होने से मुनि के दोनों पैर बच्चे के आधारीभूत थे और मुनि भी उस बच्चे से उपसर्ग-सहित हुए पूर्व की तरह ध्यानारूढ़ होकर खड़े हुए थे ।

इसी बीच में ऐसे विजयार्ध पर्वत की, जिसका मध्य-भाग साथ-साथ गमन करने वाले सेवकों के साथ संचार करने वाली विद्याधरियों के चरणों में लगे हुए लाक्षारस से लाल है, उत्तर श्रेणी में, जिसकी वनभूमि समीपवर्ती पतिवाली विद्याधरियों के आनन्दजनक विहार से सुगन्धित है, अमरावती नामकी नगरी का स्वामी, सुमङ्गला रानी का पति और शत्रु स्त्रियों के हृदय में विशेष रूप से शोकरूपी कीला गाड़ने वाला त्रिशङ्कु नामका राजा राज्य करता था, जिसके बाण युद्ध के अवसर पर सामने आ रहे शत्रु-समूह का ध्वंस करने में अव्यर्थ थे, उसने चिरकाल पर्यन्त राज्य-सुख का उपभोग करके जैन सिद्धान्त से संसार, शरीर व पंचेन्द्रियों के भोगों से वैराग्य-स्थिति का अनुभव किया । अतः मुनि होने के इच्छुक हुए उसने ऐसे बल-

---

१. गृहीत्वा । २. तेजसि । ३. ध्यान । ४. नवमासावसाने । ५. पर्वतम् । ६. मंडल । ७. रूपं । ८. मुक्त्वा । ९. ऊर्ध्वजानोः । १०. दाह । ११. शिशोराधारीभूतपादः । १२. समीपकान्त । १३. दापितशोककीलकः । १४. मरण ।

बलवाहनाय पुत्रीं सुदेवीं राज्यं च ज्येष्ठाय पुत्राय भास्करदेवाय दत्वा सुप्रभसूरिसमीपे संयमी समजनि । ततो गतेषु कतिपयेषुचिद्दिवसेषु समुत्साहितसमीपसहायसमूहेन स्वदोर्दर्पविद्याबलव्यूहेन दुर्विनीतवरिष्ठेन कनिष्ठेनानुजेन पुरंदरदेवेन विहितराज्यापहारः[1] परिजनेन समं स भास्करदेवस्तत्र बलवाहनपुरे[2] शिबिरमभिनिवेश्य मणिमालया महिष्यानुगतस्तं सोमदत्तभगवन्तमुपासितुमागतस्तत्पादमूले स्थलकमलमिव तं बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यम् । यतः कथमिदमरत्नाकरमपि[3] रत्नम्, अजलाशयमपि कुशेशयम्, अनिन्धनमपि[4] तेजःपुञ्जम्, अचण्डकरमप्युग्रत्विषम्, अनिला[5]मातुलमपि कमनीयम्, अपि च कथमयं बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायल्लावण्यः, कठोरोष्मणि ग्रावणि वज्रघटित इव रिरंसमानमानसः, मातुरुत्सङ्गगत इव सुखेन समास्ते' इति कृतमतिः—'प्रियतमे, कामं स्तनंधयधृतमनोरथाशास्तवायं

वाहन नाम के राजा के साथ, जो कि भूमिगोचरी व हेमपुर नगर का स्वामी एवं समस्त राजाओं द्वारा मानने योग्य आज्ञा वाला था, अपनी सुदेवी नामकी पुत्री का विवाह संस्कार किया और समस्त राज्य भार 'भास्कर देव' नाम के ज्येष्ठ पुत्र को देकर सुप्रभ नाम के आचार्य के समीप दीक्षा धारण करके मुनि हो गया।

कुछ दिनों के पश्चात वह भास्करदेव, जिसका राज्य ऐसे पुरन्दरदेव नाम के छोटे भाई द्वारा छीन लिया गया था, जिसने अपना सहायक-समूह उत्साहित किया था, और जो अपनी भुजाओं का दर्प (गर्व), राजनैतिक ज्ञान व सैन्य-समूह से युक्त था एवं जो उद्दण्डों में श्रेष्ठ था, अपने कुटुम्बीजनों के साथ उक्त बलवाहन-नामके नगर में (भगिनीपतिनगर—हेमपुर में) अपना लश्कर डाला और सोमदत्त मुनि की पूजा के लिए अपनी मणिमाला नाम की रानी के साथ आया। वहाँ पर उसने मुनि के पादमूल में स्थलकमल-सरीखे उस नवजात शिशु को देखकर विचार किया—'अहो महान् आश्चर्य है, क्योंकि कैसे यह (नवजात शिशु) अरत्नाकरमपि (रत्न-समूह न) होकर के भी रत्न है, यहाँ पर विरोध मालूम पड़ता है; क्योंकि जो रत्न-समूह नहीं है वह रत्न कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो (शिशु) अ-रत्नाकर है (समुद्र नहीं है) और अपि (निश्चय से) रत्न (रत्न-सरीखा श्रेष्ठ) है। जो अ-जलाशयमपि (तड़ाग के बिना भी) कुशेशय (कमल) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि तड़ाग के बिना कमल होना संघटित नहीं होता। अतः इसका समाधान यह है कि जो अ-जडाशयं (मूर्ख न होकर) अपि (निश्चय से) कुशेशय (कमल-सा मनोज्ञ) है। जो अनिन्धनमपि (ईंधन के बिना भी) तेजःपुञ्ज (अग्नि) है। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि ईंधन के बिना अग्नि होना नितान्त असङ्गत है। अतः इसका परिहार यह है कि जो अनिन्धनं (ईंधनरूप नहीं है) और अपि (निश्चय से) तेजःपुञ्जम् (सौन्दर्य-राशि) है। इसी प्रकार जो अ-चण्डकरमपि (सूर्य के बिना भी) उग्रत्विषं (तीक्ष्ण कान्ति-युक्त) है। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि सूर्य के बिना तीक्ष्णकान्ति-युक्त कैसे हो सकता है? अतः इसका परिहार यह है कि जो अ-चण्ड-कर (उष्ण हस्तशाली न होता हुआ) अपि (निश्चय से) उग्रत्विषम् (विशेष मनोज्ञ कान्ति वाला) है और जो अनिलामातुलमपि (चन्द्र न होकर के भी) कमनीय (मनोज्ञ) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि चन्द्र के बिना कमनीयता (मनोज्ञता) संघटित नहीं होती। अतः इसका समाधान यह है कि जो अनिलामातुल (चन्द्र रूप न होता हुआ) अपि (निश्चय से) कमनीय (विशेष मनोज्ञ) है। यह नवजात शिशु वैसा हस्त के स्पर्श से भी म्लान कान्तिवाला है जैसे नवीन पल्लव हस्त-स्पर्श से भी म्लानकान्ति-युक्त होता है। यह तीक्ष्ण ऊष्मावाले पाषाण पर वज्र-घटित-

---

१. भास्करदेवः । २. भगिनीपतिनगरे हेमपुरे । ३. समुद्रं विना । ४. इन्धनं विनाऽपि अग्निः । ५. न इलामातुलं अनिलामातुलं, न चन्द्रं ।

भगवत्प्रसादसंपन्नः सर्वलक्षणोपपन्नो वज्रकुमारो नामायमस्मद्वंशविशालन [illegible] पुत्रः [illegible] विनय च यथावत्तस्य भगवतः पर्युपासनं [1]पुनरत्र[2] एव महतोऽपि[3]गतितवपत्यवृत्तान्तो [4]भामपुरमनुससार ।

भवति चात्र श्लोकः—

अन्तःसारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम् । किं न स्यादग्निसंयोगः स्वर्णत्वाय तदश्मनि[5] ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः ।

पुनर्बालभावा[6]च्छोणच्छायकायः [7]कङ्केल्लिपल्लव इव धातकीप्रसवस्तबक इवारुणमणिकन्दुक इव च बन्धूनामानन्दनिरीक्षितामृतपी[8]यमन्थरितमुखः सखेलं करपरम्परया संचार्यमाणः क्रमेणोत्तानशयनरहसितजानुचङ्क्रमणगद्गदवालापस्पष्टक्रियावच्चवस्थामवस्थामनुभूय [9]मरुमार्ग इव छायापादपेन, छायापादप इव जलाशयेन, जलाशय इव कमलाकरेण,

जैसा निश्चल हुआ प्रीति-युक्त .मन वाला है। यह ऐसा सुखपूर्वक स्थित है मानों—माता की गोदी में ही वर्तमान है।'

इसके बाद उसने अपनी प्रिया से कहा—'प्रियतमे ! पुत्र का विशेष मनोरथ धारण करनेवाली आपका यह वज्रकुमार नामका पुत्र पूज्य आचार्य की कृपा से प्राप्त हुआ है, यह समस्त सामुद्रिक शुभ लक्षणों वाला और हमारे वंश को विस्तृत (प्रसिद्ध) करनेवाला पात्र है' ।

पश्चात् उस आचार्य की पूर्व की तरह पूजा करके उसने इसी सोमदत्त गुरु से बच्चे का वृत्तान्त जानकर वज्रवाहनपुर को प्रस्थान किया ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

आत्मिक शक्ति (उपसर्ग-सहन की सामर्थ्य) से युक्त शरीरवाले महापुरुषों पर शत्रुओं द्वारा की हुई चेष्टा (उपसर्ग-आदि दुष्कृत्य) उनके हित के लिए होती है, अर्थात्—महापुरुषों के गुणों की उत्पत्ति का कारण होती है। क्या अग्नि में तपाना सुवर्णपाषाण में सुवर्ण की उत्पत्ति के लिए नहीं होता ? अपितु अवश्य होता है* ॥ २१० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वज्रकुमार का विद्याधर से समागम करने वाला यह पन्द्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

शैशव के कारण वज्रकुमार के शरीर की कान्ति वैसी लालिमा-युक्त थी जैसे अशोक वृक्ष का किसलय, धातकी वृक्ष के पुष्पों का गुच्छा एवं पद्मराग मणि की गेंद लालिमा-युक्त होती है। उसका मुख बन्धुजनों से आनन्द पूर्वक देखा जाता था और बच्चे के पीनेलायक अमृत (जल), दूध व मक्खन-आदि का खजाना था। इसी तरह बन्धुजनों की हस्त परम्परा से क्रीड़ापूर्वक संचार किये जा रहे उसने क्रमशः ऊपर को मुख किये लेटा रहना, मन्द-मन्द मुस्काना, घुटनों के बल चलना, गदगद वाणी बोलना और स्पष्ट वचन बोलना इस प्रकार क्रम से पाँच अवस्थाएँ अनुभव कीं ।

इसके पश्चात् वह युवती रमणियों के मनरूपी मृग के लिए आनन्द-बाग-सरीखे यौवन से वैसा अलङ्कृत (सुशोभित) हुआ जैसे मरुभूमि छायावृक्ष से अलङ्कृत होती है, छायावृक्ष सरोवर से सुशोभित होता

१. योगावसाने । २. एतस्मात् सोमदत्तगुरोः । ३. ज्ञातबालकवृत्तान्तः । ४. वज्रवाहनपुरं । ५. स्वर्णपाषाणे । ६. रक्त । ७. अशोकपल्लवः । ८. बालस्य पेयं दुग्धादि, मन्थरितवदनः । ९. मारवाड़ देशः, यथा मरुस्थलं छायावृक्षेण शोभते तथाऽयं यौवनेनालंचक्रे इति सर्वत्र संबंधः । *. दृष्टान्तालंकारः ।

कमलाकर इव कलहंसनिवहेन, कलहंसनिवह इव रामासमागमेन, रामासमागम इव च स्मरलीलायितेन, तरुणीजनमनोमृगप्रमदवनेन यौवनेनालंचक्रे।

तदनु गाढं प्ररूढप्रौढयौवनावतारसारो वज्रकुमारः पितुर्मातुश्च [1]वंशनिवेशानवद्याभिर्विद्याभिः प्रवलितप्रतापगुप्तः प्राप्तखचरलोकाधिपत्यः सुवाक्यमूर्तिनामधामस्य[2] मामस्य[3] मदनमदपण्यतारुण्यलावण्यारण्यवनदेवतावतारवसुमतीमिन्दुमतीं दुहितरं परिणीय मणिकुण्डल-रत्नशेखर-माणिक्य-शिखण्ड-किरीट-कीर्तन-कौस्तुभ-कर्णपूरपुरःसरैर्नभश्चरकुमारैरनुसृतस्तं पूर्वापरापारावारपारतरङ्गस्पन्दुरकन्दराम्बरं क्रीडारससर्वस्वोद्धु[4]रं विजयार्धमहीधरमध्यास्य विरहि[5]विहायश्चरीपरिमलम्लानमृणालजलेजम[6]शोकदलशय्याधिपितारब्धविद्याधरीसुरतपरिमलबहलमिदमुपवनलतास्थानं कन्दुकविनोदपरिणताम्बरचरीचरणालक्तकाङ्कि[7]तमदस्तमालमूलालवालालयमेवमिदं रमणीयमेतन्मनोहरमदश्च सुन्दरमदः[8]नीध्रतटमिति विनिध्यायन् समाचरितस्वैरविहारः पुनः प्राप्तहिमवद्गिरिप्रा[9]भारः खेचरीलोचनचन्द्रस्य चन्द्रपुरेन्द्रस्याङ्गवती युवतिप्रीतिधाम्नो गरुडवेगनाम्नो विद्याधरपतेरतिशयरूपनिरूपणपात्रीं प्रियपुत्रीं पवनवेगानामसङ्गां प्रालेयाचलमेखलास्थल[10]तिलकलतालयनिलीनाङ्गीं बहुरूपिणीं नाम निरवद्यां *विद्यामाराधयन्तीमनवद्य[11] विच्छिन्नविघ्नया जाता-

है, सरोवर कमल-समूह से सुशोभित होता है, कमल-समूह कलहंस-श्रेणी से सुशोभित होता है, कलहंस-श्रेणी स्त्री-समागम में सुशोभित होती है और स्त्री-समागम काम क्रीड़ा से सुशोभित होता है।

इसके बाद अत्यन्त प्रौढ़ युवावस्था की उत्कृष्ट उत्पत्ति को प्राप्त करनेवाला वज्रकुमार माता-पिता के कुलक्रम से आई हुई निर्दोष विद्याधरों की विद्याओं की प्राप्ति से प्रकृष्ट सामर्थ्यशाली व प्रताप से सुरक्षित हुआ, इससे उसने समस्त विद्याधर-लोक में महत्ता प्राप्त की और 'सुवाक्यमूर्ति' नाम के गृहभूत अपने मामा या टि० के अभिप्राय से बड़े बहनोई की ऐसी 'इन्दुमती' नाम की पुत्री के साथ विवाह किया, जो कि कामोद्रेक से बेंचनेयोग्य जवानी के सौन्दर्यरूपी वन की वनदेवता के अवतरण के लिए भूमि-सरीखी थी।

इसके अनन्तर वह, मणिकुण्डल, रत्नशेखर, माणिक्य, शिखण्ड, किरीट, कीर्तन, कौस्तुभ और कर्णपूर नाम के विद्याधर जिनमें अग्रेसर हैं, ऐसे विद्याधर-कुमारों से युक्त होकर ऐसे विजयार्द्ध पर्वत पर अधिष्ठित हुआ (बैठा), जो कि पूर्व-पश्चिम समुद्र की तरङ्गों से ऊँची नीची गुफा-भूमियों का धारक है और जो क्रीड़ा रस की वृद्धि से उत्कट है। फिर उक्त पर्वत-तट के विषय में निम्न प्रकार विचार करते हुए उसने वहाँ पर स्वच्छन्द पर्यटन (विहार—घूमना) किया—'यह विजयार्द्ध पर्वत, जिसमें विरहिणी विद्याधरियों के मर्दन से कान्तिहीन मृणाल व कमल वर्तमान हैं, जो अशोक वृक्ष के पत्तों की शय्या में [रति विलास के लिए] पतियों द्वारा प्राप्त की हुई विद्याधरियों के सुरत (मैथुन) की गंध से प्रचुर है, जो उपवन व लताओं का स्थान है, जो गेंद-क्रीड़ा में तत्पर हुई विद्याधरियों के चरणों में लगे हुए लाक्षारस से चिह्नित है, जो तमाल-मूलों की क्यारियों का आवास-स्थान है एवं जो रमणीय, मनोज्ञ व सुन्दर है।'

इसके बाद हिमवन पर्वत पर प्राप्त हुए उसने ऐसी 'पवनवेगा' नामवाली विद्याधर-राजकुमारी देखी, जो कि ऐसे 'गरुड़वेग' नाम के विद्याधर राजा की प्रिय पुत्री थी, जो कि विद्याधरियों के नेत्ररूपी कुमुदों को विकसित करने के लिए चन्द्र-सरीखा था, जो चन्द्रपुर नामक नगर का स्वामी और 'अङ्गवती' नामकी युवती रानी की प्रीति का आश्रय-स्थान था। जो (राजकुमारी पवनवेगा) विशेष सौन्दर्य के निरूपण की पात्र थी,

१. स्थान, कुलक्रमायात। २. नामाभिधानस्य (क०)। ३. मामः ज्येष्ठभगिनीपतिः। ४. उत्कटं। ५. विरहिणी। ६. अशोकदलशय्यायां दयितेन भर्त्रा आसाद्या प्राप्या या विद्याधरी। ७. चिह्नितं। ८. पर्वत। ९. विस्तारः। १०. वनम्। *. 'निषद्यां' (ख), टिप्पण्यां तु स्थिति। ११. बहुरूपिण्या।

अजगरवपुषा[1] विद्यया निगीर्णवदनामुपलक्ष्य परोपकारविचक्षणस्तार्क्ष्यविद्यया तमेतल्लपनाविलतालुं[2] मायाशयालुं[3] विप्रासयामास। पवनवेगा तत्प्र[4]त्यूहाभोगापगमानन्तरमेव विद्यायाः सिद्धिं प्रपद्य 'अवश्यमिह जन्मन्ययमेव मे कृतप्राणत्राणावेशः प्राणेशः' इति चेतस्यभिनिविश्य पुनरस्यैव नीहारमहीधरस्य नितम्बतौरि[5]णीपर्यन्ते सूर्यप्रतिमां समाश्रितवतो भगवतस्तपःप्रभावसंभावितसमस्तसत्त्वव्यापदंतस्य संयतस्य पादपीठोपकण्ठे पठतस्तवेयं सेत्स्यतीत्युपदेशावेशाभिनवमाराय वज्रकुमाराय गगनगमनाङ्गना[6] जीवितभूतामभिमतार्थसाधनपर्याप्तिं प्रज्ञप्तिं विद्यां वितीर्य[7] निजनगर्यां पर्यटत्। वज्रकुमारस्तथैव तत्सूरिसमक्षं फेन[8]मालिनीकूले विद्यां प्रसाध्यासाध्यसाधनप्रवृद्धपराक्रमस्तमक्रमविक्रमाल्पीभूतदैवं पुरंदरदेवं पितृव्यमव्याजमुच्छिद्य सद्यस्तां विजयोत्सवपरम्परावतीममरावतीं पुरमात्मपितरमखिलखचराचरितचरणसेवं भास्करदेवं निवेश्य वश्येन्द्रियः स्वयंवरव्याजेन विहिताभिलषितकान्तसङ्गमामनङ्गसङ्गसंगतशृङ्गारसुभगां पवनवेगामपराश्चाम्बरचरपतिवधूः विवाह्य महाभागगृह्यो विहायश्चरचिन्तचिन्तामात्रायाससंसक्तैर्विलासैः कालमतिवाहयामास।

जिसका शरीर विद्या सिद्ध करने के लिए, हिमवन पर्वत की शिखर पर वर्तमान वन की लताओं से वेष्टित हुए प्रदेश पर स्थित था। जो बहुरूपिणी नाम की निर्दोष विद्या सिद्ध कर रही थी और उस समय विघ्न उपस्थित करने के अधीन होने से अजगर सर्प का वेष धारण करनेवाली इसी बहुरूपिणी विद्या ने जिसे अपने मुख में लील लिया था।

इसके पश्चात् परोपकार करने में चतुर वज्रकुमार ने गरुड़ विद्या द्वारा पवनवेगा राजकुमारी को मुख में लीलने से गीली तालु वाले उस मायामयी अजगर सर्प को पीड़ित कर दिया। उस विद्या-सिद्धि में होने वाले विस्तृत विघ्नों के नष्ट हो जाने के अनन्तर ही जब पवनवेगा राजकुमारी ने विद्या सिद्ध कर ली तब उसने मन में यह दृढ़ संकल्प किया—'अवश्य इस जन्म में मेरी प्राणरक्षा करनेवाला यही मेरा प्राणेश्वर (प्राणनाथ) होगा।

बाद में उस विद्याधरी ने वज्रकुमार को निम्न प्रकार उपदेश दिया—'इसी हिमवन पर्वत के पार्श्वभाग पर बहने वाली नदी के तट पर सूर्य प्रतिमा (धर्मध्यान विशेष) का आश्रय किये हुए और तप के प्रभाव से समस्त प्राणियों की आपत्तियाँ नष्ट करने वाले संयमी आचार्यश्री के चरणकमलों के आसन के समीप श्रुताभ्यास करते हुए आपको यह विद्या सिद्ध होगी।' इसके बाद उस विद्याधरी ने वज्रकुमार के लिए, जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—नवीन कामदेव ही है, प्राणियों को जीवन-दान देने वाली व मनचाही प्रयोजन-सिद्धि की योग्यतावाली 'प्रज्ञप्ति' नाम की विद्या देकर अपनी नगरी के प्रति प्रस्थान किया।

पुनः वज्रकुमार ने उक्त आचार्यश्री के समक्ष नदी के तट पर प्रस्तुत बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की। ऐसा होने से वज्रकुमार का पराक्रम दूसरों के द्वारा प्राप्त होने के अयोग्य दिव्यास्त्ररूपी साधनों से वृद्धिगत हुआ। अतः उसने अपने चाचा 'पुरन्दरदेव' को, जिसका भाग्य क्रम (राजनैतिक ज्ञान सम्पत्ति-आदि) व पराक्रम (सैन्य व कोषशक्ति) के अभाव से क्षीण हो गया था, निष्कपट रीति से नष्ट करके शीघ्र ही विजय श्री संबन्धी उत्सव-परम्परा वाली अमरावती नाम की नगरी में अपने पिता भास्कर देव को, जिसके चरणकमलों की सेवा समस्त विद्याधरों द्वारा की गई थी, राज्यासन पर बैठाया।

फिर जितेन्द्रिय वज्रकुमार ने ऐसी पवनवेगा नाम की विद्याधर-राजकुमारी के साथ विवाह किया, जिसने स्वयंवर के मिष से इच्छित पति प्राप्त किया है एवं जो कामदेव के सङ्गम से व्याप्त हुए शृङ्गार से मनोज्ञ थी और दूसरी विद्याधर-कन्याओं के साथ विवाह किया। तदनन्तर भाग्यशाली विद्याधर राजा द्वारा

१. गृहीताजगरसर्पवेषया। २. अजगरं। ३. मायाऽजगरसर्पं। ४. विघ्नः। ५. नदी। ६. विद्याधरी। ७. दत्वा। ८. नदी।

अन्यथा पुनरिष्टदुष्टज्ञातिप्रशंसावज्ञाभ्यामात्मनः [1]परैर्पोषितत्वमवबुध्य[2] निजान्वयनिश्चये सति शारीरेषूपचारेषु[3] प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरित्याचरितसंगर[4]स्ताभ्यां[5] महामुनिमाहात्म्यमन्त्रविप्रासितदुरितनिशाचरायां[6] मथुरायां तपस्यतः सोमदत्तस्य भगवतः सनीडे[7] नीतस्त[8]द्वपुरुपायमात्मकायमवसाय[9] संजातानन्दनिकायस्तावुभावप्युपनेतारौ [10]मातापितरौ सादरमु[11]क्तियुक्तिभ्यां प्रतिबोध्यावधीरितोभयग्रन्थो निर्ग्रन्थश्चारणर्द्धिवृद्धिः समपादि ।

भवति चात्रार्या—

तृणकल्पः श्रीकल्पः कान्तालोकश्चितो [12]चितालोकः । [13]पुण्यजनश्च स्वजनः कामविदूरे नरे भवति ॥२११॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडशः कल्पः ।

पुनर्महामहोत्सवोत्साहितातोद्यवाद्यनादमेदुर[14] प्रासादकन्दरायामेतस्यामेव मथुरायां किल [15]गोचराय चारणर्द्धियुगलं नगरमार्गे संगतगतिसर्गं सत्तत्र द्वित्रि[16]परिवत्सर एवावस्थावसरे बालिकामेकां [17]चिल्लचिक्किन[18]लोचनसनाथा-

---

पालने-योग्य वह वज्रकुमार ऐसे उन अनेक प्रकार के विलासों से, जो कि विद्याधरों के चित्त में संकल्पमात्र से प्राप्त होने वाले थे, समय यापन करने लगा।

एक बार जब इसने इष्ट गोत्रीजनों की बुद्धि से और दुष्ट गोत्रीजनों के अनादर से अपने को दूसरे के द्वारा पाला-पोषा हुआ समझा तब इसने प्रतिज्ञा की—'जब मुझे अपने वंश का निश्चय हो जायगा तभी मैं शारीरिक उपचार (स्नान व भोजन-आदि) में प्रवृत्ति करूँगा, अन्यथा उसका त्याग करूँगा।' तब उसके पालक माता-पिता उसे महामुनि के माहात्म्यरूपी मन्त्र से पापरूपी राक्षसों को भयभीत करने वाली मथुरा नगरी में तप करने वाले सोमदत्त नामके आचार्य श्री के समीप ले गए। तब वज्रकुमार ने अपनी शरीराकृति प्रस्तुत पूज्य आचार्य के शरीर-सरीखी निश्चय की, जिससे उसकी आत्मा में आनन्द-समूह की प्राप्ति हुई। पश्चात् इसने उन दोनों माता-पिता को सम्मानपूर्वक वचनों से और युक्ति से समझाकर बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करके निर्ग्रन्थ साधु होकर चारण ऋद्धि की वृद्धि प्राप्त की।

इस विषय में एक आर्याछन्द है, उसका अर्थ यह है—जब मुमुक्षु मानव कामवासना का त्याग कर देता है अथवा समस्त परिग्रहों की अभिलाषाओं को छोड़ देता है तब उसे मनोज्ञ लक्ष्मी तृण-सरीखी प्रतीत होती है। और लोक में एकत्रित हुआ स्त्री-समूह मुर्दे की चिता-सरीखा मालूम पड़ता है एवं कुटुम्बीजन राक्षस-सरीखा प्रतीत होता है ॥ २११ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वज्रकुमार के तपग्रहण करने का निरूपण करने वाला सोलहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अथानन्तर महामहोत्सवों के अवसर पर बजाए जाने वाले वादित्रों की ध्वनि से स्थूल हुए भवनरूपी गुफाओं वाली इसी मथुरा नगरी में चारण ऋद्धिधारी दो मुनियों ने, जो कि आहार के लिए नगर-मार्ग में साथ-साथ गमन करने के निश्चय वाले थे, वहाँ पर दो तीन वर्ष की अवस्थावाली एक अनाथ बालिका देखी, जो कि दूषित (धुँधले) व छोटे नेत्रोंवाली थी व दूकानों के अङ्गणों पर वर्तमान धान्य-दाना खानेवाली एवं

---

१. परपोषितत्वम् । २. ज्ञात्वा । ३. स्नानभोजनादौ । ४. कृतप्रतिज्ञः । ५. पितृभ्यां । ६. पापान्येव राक्षसाः यत्र सा तस्यां । ७. समीपे । ८. भगवत्शरीरसदृशं । ९. ज्ञात्वा । १०. 'ज्ञातिकरणे विक्रियाकर्तारौ' इति टि० (ख०) प्रतौ । 'जातिकरणादि क्रियाकर्तारौ' इति टि० (च०) प्रतौ । ११. वचन । १२. मृतकचितासदृशः । १३. राक्षससमानः । १४. स्थूल । १५. आहारार्थं । १६. वर्षद्वितिसमये । १७. दूषित । १८. अल्प ।

मनागामापणाङ्गणकणचारिणीं स्खलद्गमनविहारिणीं निरीक्ष्य [1]प्रतीक्ष्यः पश्चात्स्वरः सुनन्दनाभिधानगोचरो भगवानेवम-वादीत्—'अहो, दुरालोकः खलु प्राणिनां कर्मविपाकः, यदस्यामेव दशायां क्लेशाय [2]प्रभवति' इति।

पुरश्चारी* भगवानभिनन्दननामधारी—'तपःकल्पद्रुमोत्पादनन्दन[3] सुनन्दनमुने, मैवं वादीः यद्यपीयं गर्भसंभूता सती राजश्रेष्ठिपदप्रयुक्तं समुद्रदत्तं पितरं जातमात्रा तद्वियोगदुःखोपसन्नां[4] धनदां मातरं प्रवर्धमाना च बन्धुजनमकाण्ड एव [5]दशमीं दशामानीय इदमवस्थान्तरमनुभवन्ती तिष्ठति, तथाप्यनया प्रौढयौवनयास्य मथुरानाथस्योर्विलादेवीवि-नोदायतनस्य पूतिकवाहनस्य महीनस्थाग्रमहिष्या भवितव्यम्' इत्यवोचत्। एतच्च तत्रैव प्रस्तावे '[6]पिण्डपाताय हिण्डमानः शाक्यभिक्षुरुपश्रुत्य[7] 'नान्यथा मुनिभाषितम्' इति निर्विकल्पं संकल्प्य, स्वीकृत्य [8]चैनामभिकामाहितविहा[9]-रवसतिकामभिलषितानु[10]हारैराहारैरपोषयत्। [11]जुहाव च बुद्धदासीति परिजनपरिहासतन्त्रेण [12]गोत्रेण। ततो गतेषु केषुचिद्वर्षेषु [13]भ्रमरकभङ्ग[14]भिनयनभरते भ्रूविभ्रमारम्भोपाध्यायस्थानिनि लोचनविचा[15]रचातुर्याचार्ये चतुरोक्तिचातुरी-प्रचार[16]गुरुणि बिम्बाधरविकारसौन्दर्यकादम्बरीयोगे[17] निम्नोन्नतप्रदेशप्रकाशनशिल्पिनि[18] मनसिजश्रमदोहदोपनर्विष्ट-

भूमि पर स्खलित गतिपूर्वक संचार करने वाली थी, पश्चात् पूज्य छोटे 'सुनन्दन' नाम के ऋषि ने कहा—'अहो-आश्चर्य है कि प्राणियों का कर्मोदय निश्चय से दुःख से भी जानने के लिए अशक्य है, क्योंकि वह (कर्मोदय) इतनी छोटी उम्र में भी कष्ट देने के लिए समर्थ होता है।'

इसे सुनकर 'अभिनन्दन' नामधारी, पूज्य ज्येष्ठ ऋषि ने कहा—'तपरूपी कल्पवृक्ष की उत्पत्ति के लिए नन्दनवन-सरीखे हे सुनन्दन मुनि! ऐसा मत कहो। क्योंकि यद्यपि जब यह गर्भ में स्थित हुई तो राज-सेठ के पद पर प्रतिष्ठित हुए इसके पिता समुद्रदत्त को असमय में मरणावस्था में लाई और जन्मी हुई इसने पति के वियोग के दुःख को प्राप्त हुई 'धनदा' नामकी माता को असमय में काल-कवलित अवस्था में प्राप्त किया एवं बढ़ी हुई इसने अपने बन्धुजनों को असमय में मरणावस्था में प्राप्त किया। अब यह कष्टप्रद दूसरी अवस्था (दरिद्र व रुग्णावस्था) भोग रही है। तथापि जब यह प्रौढ़ युवती हो जायगी तब इसे 'उर्विला' नाम की पट्टरानी के विनोद के स्थान 'पूतिकवाहन' नाम के मथुरा नगरी के राजा की पट्टरानी होनी चाहिए।'

उसी मथुरा नगरी में इसी अवसर पर भिक्षा के लिए प्रस्थान कर रहे बौद्ध भिक्षु ने उक्त बात सुनकर निस्सन्देह विचार किया—'नान्यथा 'मुनिभाषितम्' अर्थात्—'ऋषि-वाणी मिथ्या नहीं होती', अतः उसने इस बालिका को ग्रहण करके बुद्ध मठ में स्थापित किया और वह इच्छानुकूल आहारों से इसका पालन-पोषण करने लगा और सेवकों की हास्य-परम्परा के पात्रभूत 'बुद्धदासी' इस नाम से बुलाने लगा।

जब कुछ वर्ष व्यतीत हुए तब ऐसे यौवन में, लावण्य सम्पत्ति से महान् हुई उस बुद्धिदासी ने, जो कि बुद्धमठ-संबंधी ऊँचे महल की शिखर के मध्य में बैठी हुई थी, भ्रमण से बुद्ध-मठ के समीप आने वाले 'पूतिक वाहन' नामके राजा को उत्कण्ठा के साथ देखा, जो (यौवन) केशों को कुटिल करने के अभिनय में नाट्य-शास्त्र-प्रणेता भरतऋषि-सरीखा है। जो भ्रुकुटी संबंधी विलास के आरम्भ करने में शिक्षक-जैसा है। जो नेत्रों के विचलन (भ्रमण) की निपुणता में आचार्य-सा है। जो चतुर वाणी के कथन की निपुणता में प्रवृत्ति करने से महान् है। जो बिम्बफल-सरीखे ओष्ठों के विकार के सौन्दर्य में सुरा के संबंध जैसा है। जो नीचे-

१. पूज्यः। २. समर्थो भवति कर्मविपाकः। *. ज्येष्ठः। ३. हे इन्द्रवन!। ४. प्राप्तां। ५. मरणावस्थां। ६. भिक्षार्थं। ७. श्रुत्वा। ८. बालां। ९. बुद्धस्थाने। १०. सद्वृतां। ११. आकारितवान्। १२. नाम्ना। १३. केश। १४. वक्रित। १५. विचलनं। १६. प्रवर्तनं। १७. सुरा। १८. सूत्रधारे।

पण्डिते शृङ्गाररसांगनिरहस्योपदेशिनि[1] समस्तभुवनमनोमोहनसिद्धौषधे प्रतिदिनं प्रादुर्भावसविधे[2] सति यौवने सा रूपसंपन्महीयसी बुद्धदासी सौधालमुत्तुङ्ग[3]मङ्गभुङ्गोत्सङ्गसंगता तं[4] भ्रमणिकया कृतविहारोपान्तागमनं पूतिकवाहनं राजानमदर्शत्। राजा च ताम्—

'अलकवल्यावर्तभ्रान्ता[5] विलोचनवीचिका[6] प्रसरविधुरा मन्दोद्योगा स्तनद्वयसंकटे।
त्रिवलिवलनश्रान्ता नाभौ पुनश्च निमज्जनादिह हि सरिति[7] प्रायेणैवं मतिर्मम वर्तते ॥ २१२ ॥'

इति विचिन्त्य, [8]चेतोभूविजृम्भप्रारम्भं [9]निवार्यावधार्य च, 'किमियं [10]विहितविवाहोपचारा, किं वाद्यापि [11]पतिंवरा' इति [12]भिक्षूनापृच्छ्य तत्र [13]'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या' इति समर्पिताभिलाषमाप्तपुरुषं [14]प्रेष्य [15]रणरणकजडान्तःकरणः [16]शरणमगात्। आप्तपुरुषोऽप्यग्रमहिषीपदर्पणबन्धेन[17] साध्यसिद्धिं विधाय स्वामिनं तत्समागमिनमकरोत्।

भवति चात्रार्या—

पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम्। तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥ २१३ ॥

ऊँचे शारीरिक प्रदेशों (अङ्गोपाङ्गों) के प्रकाशन करने में सूत्रधार-सा है। जो कामदेवरूपी हाथी के मद को उद्दीपित करने में विशेष निपुण है। जो शृङ्गार रस के भीतरी ज्ञान के गोप्यतत्त्व का उपदेष्टा है और जो समस्त लोक के मन को मोहित करने वाली सिद्ध-औषधि-सा है एवं जो प्रतिदिन वृद्धि के निकट है।

पश्चात् राजा ने उसे देखकर निम्नप्रकार विचार किया—

'इस स्त्रीरूपी नदी में मेरी बुद्धि प्रायः इस प्रकार हो रही है—वह उसके केशपाशरूपी भँवर में पड़ने से भ्रान्त (एक जगह न ठहरने वाली) है। जो नेत्ररूपी तरङ्गों के प्रसार से पीड़ित है। जो दोनों स्तनरूपी बालकामय प्रदेश पर पहुँचने से मन्द उद्योग वाली है। फिर जो त्रिवलियों में भ्रमण करने से थकित है और पुनः जो नाभि में डुबकी लगाने से भी क्लान्त है* ॥ २१२ ॥'

फिर उसने काम के विस्तार को रोककर और निश्चय करके मन्त्री को अपनी अभिलाषा प्रकट करके बुद्धभिक्षुओं से पूँछने को कहा—क्या, इसका विवाह हो चुका है? अथवा अभी तक कन्या है? यदि कन्या है? तो इसे मेरे अधीन करना चाहिए।'

फिर उसका मन अरतिजनक घटना से जड़ हो गया और उसने अपने महल की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पर मन्त्री ने पट्टरानी पद देने की प्रतिज्ञा द्वारा प्रस्तुत कार्य सिद्ध करके राजा का उसके साथ विवाह कर दिया।

इस विषय से एक आर्याच्छन्द है उसका अर्थ यह है—

इस प्राणी ने पूर्व काल में जिस समय पुण्य अथवा पाप कर्म किया है वह (पुण्य व पाप) उसे समय आने पर निश्चय से क्रमशः सुखी व दुःखी बना देता है ॥ २१३ ॥

---

१. गोप्यतत्त्व। २. समीपे। ३. उपरितनभूमि। ४. भ्रमण। ५. कल्लोल। ६. कल्लोल। ७. क्व योषिन्नद्यां मम मतिरीदृशी वर्तते। ८. मनोभूप्रसरणं। ९. एकत्रीकृत्य। १०. कृत। ११. कन्या वा। १२. बौद्धान्। १३. चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधीना कर्तव्येति। १४. मन्त्रिणं। १५. कलमल (अरतिजनक)। १६. गृहं। १७. प्रतिज्ञया। *. रूपकालंकारः।

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः ।

अथ समायाते भव्यजनानन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तथा पतिप्रणयप्रेयस्या बुद्धदास्या प्रतिचातुर्मास्यमूर्विलादेव्याः स्यन्दनविनिर्गमेण भगवतः सकलभुवनोद्धरणकारणस्थितेर्जिनपतेर्महामहोत्सवकरणमुच्छेत्तुमिच्छन्त्या[*][1] [2]शुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमष्टाह्ना[3] सकलपरिवारानुगतमेतदुचितमुपकरणजातमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत । ऊर्विलादेव्यपि सुभगभावात्सपत्नीप्रभवं दौर्जन्यमनन्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य [4]'भदन्त, यद्येतस्मिन्नित्रदिनभाविन्यष्टाह्नामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति, तदा मे देहस्थितिहेतुषु वस्तुषु साभिलाषं मनः, अन्यथा निरभिलाषम्' इति [5]प्रतिजिज्ञासमाना तेन सोमदत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थनार्थमवलोकितवक्त्रेण वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता मातः, [6]सम्यक्त्वशालिनीषु मृगाक्षीषु प्रथमकथे, अलमलमावेगेन । यतो न खलु मयि तव [7]समयसविन्ध्याडिम्भके पुत्रके सति भवितार्हतामर्हणायाः[8] प्रत्यवायः[9] । तत्स्वस्थं पूर्वस्थित्यात्मस्थाने स्थातव्यम्' इति सुधमनवद्यममृषोद्यं च निगद्य, आसाद्य[10] च [11]द्युगतिविद्याधरपुरं महामुनितया बाल्यचपलतया च निखिलेन

इस प्रकार उपासकाध्ययन में बुद्धदासी का पूतिक-वाहन राजा के साथ विवाह का निरूपण करने वाला यह सत्तरहवाँ कल्प पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात् जिसमें भव्यजनों के आनन्द-जनक धार्मिक कार्य पाये जाते हैं ऐसा 'नन्दीश्वर पर्व' जब आया तब 'पूतिकवाहन' राजा की प्रेमपत्नी पट्टरानी 'बुद्धदासी', जो कि समस्त लोक का उद्धार करने वाले भगवज्जिनेन्द्र तीर्थङ्कर के महामहोत्सव विधान को, जो कि प्रतिवर्ष चातुर्मास संबंधी नन्दीश्वर पर्व में उर्विला रानी द्वारा जिनेन्द्रदेव का रथ निकाल कर किया जाता था, नष्ट भ्रष्ट करने की इच्छा कर रही थी, उसने आठ दिन तक बुद्धदेव की पूजा की आयोजना की। अतः उसने राजा पूतिकवाहन से भगवान् गौतम बुद्ध की पूजा के लिए आठ दिन तक समस्त अनुचर-वर्ग-सहित रथयात्रा के योग्य उपकरण-समूह के देने की याचना की सो राजा ने समस्त उपकरण-समूह-आदि के देने की स्वीकृति दे दी।

जब उर्विला रानी ने पति की प्रेमपात्र होने से अपनी सौत से उत्पन्न हुई, असाधारण व प्रतीकार करने के लिए अशक्य दुर्जनता का निश्चय किया तब उसने सोमदत्त आचार्य के पास प्राप्त होकर ऐसी प्रतिज्ञा करने की इच्छुक होकर कहा—'भगवन्! यदि इस दो तीन दिन में होने वाले अष्टाह्निका पर्व के महोत्सव में पूर्व क्रम के अनुसार जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के निमित्त से मेरा रथ मथुरा में निकलेगा तो मेरा मन शारीरिक स्थिति की कारणीभूत वस्तुओं (अन्न व जलादि) के ग्रहण करने का इच्छुक होगा, अन्यथा नहीं।'

उक्त बात को सुनकर पूज्य सोमदत्त आचार्य ने उसकी अभिलाषा सफल (पूर्ण) करने के लिए मुनि वज्रकुमार के मुख की ओर देखा।

पश्चात् वज्रकुमार साधु ने उसे अच्छी तरह आश्वासन दिया और उससे निम्न प्रकार मनोहर, निर्दोष व यथार्थ वचन कहे—

'सम्यग्दृष्टि मृगनयनी महिलाओं में आगे वर्णन-योग्य माता! इस विषय में खेद मत करो। क्योंकि

१. उच्छेदनं कर्तुमिच्छन्त्या । *. 'उत्सेत्तुमिच्छन्त्या' इति मु० च ख० । २. बौद्धस्य । ३. अष्टाह्नी टि० ख० । 'अह्नानि दिनानि, अह्नोऽस्त्री नपुंसकलिङ्गत्वात् । स्त्रीलिङ्गे डापि डी विधौ च सति अह्ना, अह्नी इति च भवति, अष्टाह्ना इत्यभूत् । अस्याह्नः स्त्रियां त्रैरूप्यं—अष्टाह्ना, अष्टाह्नी, अष्टाह्नीति' । इति पञ्जिकाकारः । ४. प्राप्य । ५. प्रतिज्ञां कर्तुमिच्छन्ती । ६. सम्यक्त्वसहितानां स्त्रीणां मध्ये धुरि वर्णनीये । ७. जैनजननमातुः । ८. ९. न भविष्यति कोऽपि विघ्नः पूजायाः विघ्नो न भविष्यति । १०. प्राप्य । ११. द्युगत्या आकाशगमनेन ।

भास्करदेवमुख्येनाम्बरचरचक्रेण क्रमशः कृताभ्युत्थानक्रियः सप्रश्रयमागमनाय[1]तनमापृष्टः स्पष्टमाचष्ट ।

तदनन्तरमानन्दकदुन्दुभिनादोल्लासक्ष्वे[2]लितमुखरमुखमण्डलैः, [3]सामयिकालंकारसारसज्जितगजवाजिविमानगमनप्रचलत्कर्णकुण्डलैः, अनेकानर्घमणिकिङ्किणीजालजटिल[4]दुकूलकल्पि[5]तपालिध्व[6]जराजिविराजितभुजपञ्जरैः,[7] करिमकरसिंहशार्दूलशरभकुम्भी[8]रझष[9]गरुड[10]केतुपुरःसराकारपताकासंतानस्तिमितकरैः,[11] मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिवितानदर्पणसितातपत्रचामरविरो[12]चनचन्द्रभद्रकु[13]म्भसंभृतशयैः,[14] अनुच्छन्नदेव[15]च्छन्दावि[16]विक्षप्तकर्णी[17]रथस्यन्दनद्विपतुरगनरनिकीर्णसैन्यनिचयैः, सजयघण्टापटुपटहकर[18]टामृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरिभ[19]म्भादिवाद्यानुगतगीतसंगताङ्गना[20]भोगसुभगसंचारैः, 'कुब्जवामनकिरा[21]तकितवनटनर्तकबन्दिवाग्जीवनविनोदानन्दितदिविजमनस्कारैः, सक्रे[22]लखेचरसहचरीहस्तविन्यस्तस्वस्तिकप्रदीपधूपघ[23]प्रभृतिविचित्रार्चनोपकरणरमणीयप्रसरैः, पिष्टा[24]तकपटवासप्रसूनोपहा-

---

जब तुम धर्म-माता की चिन्ता करने वाला मेरे-सरीखा पुत्र वर्तमान है तब निश्चय से अर्हन्त-पूजा में कोई विघ्न नहीं होगा। अतः आप पूर्व की तरह निश्चिन्त होकर अपने महलों में जाकर बैठिए।

इसके बाद वज्रकुमार मुनि आकाशगामिनी विद्या से विद्याधर भास्करदेव के नगर में पहुँचे। महामुनि होने से समस्त बान्धवों में बृहस्पति-सरीखे महाविद्वान् होने से भास्करदेव की प्रधानता वाले समस्त विद्याधर-समूह ने इनका अच्छा सत्कारादि किया और विनयपूर्वक उनके आने का कारण पूँछा।

वज्रकुमार ने सब समाचार स्पष्ट रूप से कहा, अर्थात्—उर्विला महादेवी का रथ निकालने के लिए सैनिक सहायता माँगी।

इसके बाद मथुरापुरी के नागरिकों ने वज्रकुमार मुनि को महान् इक्यासी लड़ों वाले हारों से सघन पालकी, रथ, हाथी, घोड़े व पैदल सैनिकों से भरे हुए सैन्य-समूहों के साथ एवं पूजा के योग्य उपकरण-समूह को धारण करने वाले दूसरे विद्याधरों के साथ आकाश से उतरे हुए देखा। जिनके (सैन्य-समूहों के) मुखमण्डल आनन्द-दायक दुन्दुभि बाजों की ध्वनि से उत्कट हुए सिंघनाद की ध्वनि से मुखरित थे। जिनके कानों के कुण्डल यथोचित श्रेष्ठ आभूषणों से सजाए हुए हाथी, घोड़ों व विमानों द्वारा गमन करने से कम्पित हो रहे थे। जिनके हाथ अनेक महामणियों की क्षुद्र घण्टियों के समूह से ग्रथित हुए रेशमी वस्त्रों से रची हुई लघु ध्वजाओं की श्रेणी से सुशोभित थे। जिनके हाथ, हाथी, मकर, शेर, शार्दूल, अष्टापद, नाका, मछली व गरुड़-आदि की मुख्य चिह्नों वाली पताकाओं की श्रेणी से निश्चल हो रहे थे। जिनके हाथ मानस्तम्भ, स्तूप, तोरण, मणि-समूह, दर्पण, श्वेतच्छत्र, चमर, सूर्य, चन्द्रमा, और पूर्ण कुम्भ को धारण किए हुए थे। जिनका (विद्याधरों का) गमन जयघण्टा से सहित महाभेरी, करटा (वाद्यविशेष), मृदङ्ग, शङ्ख, काहल (बड़ा ढोल), त्रिविल (वाद्यविशेष), ताल, झल्लरी, हुडुक्का (वाद्यविशेष), भम्भा-आदि वादित्रों के अनुकूल गान करने वाली कमनीय विद्याधरियों के शरीर से मनोज्ञ है। जिन्होंने देवताओं के मन, कुब्ज, बौना, किरात, जुआरी, नट, नर्तक, स्तुति पाठक—वन्दियों व भाटों के विनोदों से आनन्दित किये हैं। जिनके गमन, क्रीड़ा करने वाली विद्याधरियों के हाथों पर रक्खे हुए स्वस्तिक (साँथिया), दीपक, धूप-घट-आदि विचित्र पूजाओं के

---

१. कारणं। २. हस्तमुखसंयोगजो ध्वनिः। ३. यथोचित। ४. मिश्र। ५ रचित। ६. लघुध्वज। ७. हस्तैः। ८. जलचर। ९. मत्स्य। १०. गरुड़। ११. 'कम्पितहस्तैः' टि० ख० ? 'अर्पितहस्तैः' टि० च०। १२. सूर्य। १३. पूर्णकुम्भ। १४. हस्तैः। १५. एकाशीति यष्टिको हारः। १६. निरन्तर। १७. शिविका। १८. करट। १९. हुडुक्काः। २०. शरीर। २१. किरातः स्यादल्पतनौ। २२. सक्रीड। २३. घट। २४. नामचूर्ण।

राभिरामरमणीनिकरैः, अपरैश्च संस्तैर्विधृतप्रभापर्यायपरिवारैर्विहायोविहारैः[1] सह तं वज्रकुमारभगवन्तमम्बरादवतरन्तमुत्प्रेक्ष्य [2]'भिक्षुदीक्षापटीयसी पुण्यभूयसी खलु बुद्धदासी, यस्याः [3]सुगतसपर्यासमये समायातं सकलमेतत्सुरसैन्यम्' इति धृतधिषणे पौरजनान्तःकरणे सति स भगवान्गगनगमनालोकैः साकमौर्विलानिलये निलीय[4] साष्टाह्निकमहा[5]न्तो मथुरायां [6]रथचरणं परिभ्रमय्याहत्प्रतिबिम्बाङ्कि[7]तमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत् । अतएवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते[8] । बुद्धदासी दासीवासीद्भग्नमनोरथा ।

भवति चात्र श्लोकः—

और्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः । स्यन्दनं भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥ २१४ ॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादशः कल्पः ।

अर्थित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः* सत्क्रियाविधिः । सधर्मसु च [9]सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता ॥ २१५ ॥

स्वाध्याये संयमे सङ्घे गुरौ सब्रह्मचारिणि[10] । यथौचित्यं कृतात्मानो[11] विनयं प्राहुरादरम् ॥ २१६ ॥

आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा । सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्त्यं विमुक्तये ॥ २१७ ॥

उपकरणों से मनोहर थे । जिनका कमनीय कामिनी-समूह, पिष्टातक नाम का सुगन्धित चूर्ण, पटवास (वस्त्र सुगन्धित करने वाली द्रव्य-विशेष-सेंट-आदि) व पुष्पोपहार से मनोज्ञ है ।

इसके बाद जब नागरिकों के हृदय में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई—'यह बुद्धदासी निस्सन्देह बौद्ध दीक्षा में विशेष निपुण व पुण्यात्मा है, उसी की बुद्ध-पूजा के अवसर पर यह समस्त देव-सेना आई हुई है ।'

किन्तु उस वज्र कुमार मुनि ने विद्याधर-सैनिकों के साथ और्विला महादेवी के महल में अवतरण करके अष्टाह्निका पर्ववाली मथुरा नगरी में गर्व-सहित रथ निकलवाया एवं उस नगरी में तीर्थङ्कर भगवान् की प्रतिमा-सहित एक स्तूप स्थापित किया । इसी से आज भी वह तीर्थ देव-निर्मित नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । इसे देखकर दासी-सरीखी बुद्धदासी का मनोरथ भग्न हो गया ।

इस विषय में एक श्लोक है, जिसका अर्थ यह है—

वज्रकुमार मुनि ने राजा 'पूतिक वाहन' की रानी महादेवी उर्विला के रथ का विहार कराया ॥२१४॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में प्रभावना अङ्ग का वर्णन करनेवाला अठारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब वात्सल्य अङ्ग का निरूपण करते हैं—

धार्मिक पुरुषों का प्रयोजन दान-मानादि द्वारा सिद्ध करना, उनके गुणों में प्रीतिरूपी सम्पत्ति, हित, मित व प्रिय वचन बोलना, उनका आदर-सत्कार करना और साधर्मी जनों को दान व प्रिय वचनों द्वारा सन्तोष उत्पन्न करना यह वात्सल्य अङ्ग माना गया है ॥ २१५ ॥ स्वाध्याय, संयम (प्राणिसंयम व इन्द्रिय-संयम), मुनि संघ, गुरु (आरम्भ-परिग्रह से रहित, विषयों की आशा से रहित एवं ज्ञान, ध्यान व तप में लवलीन रहने वाले साधु) और सहाध्यायी को दान-मानादि से सन्तुष्ट करना व उनके आदर-सत्कार करने को आत्मतत्त्व के वेत्ता आचार्य विनय कहते हैं ॥ २१६ ॥ मानसिक व्यथा व शारीरिक रोगों से पीड़ित धर्मात्मा पुरुषों की निर्दोष (निष्कपट) विधि से औषधि-आदि देकर सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्त्य कहा गया

---

१. विद्याधरैः । २. बौद्ध । ३. बुद्धपूजा । ४. अवतीर्य । ५. अष्टाह्नी उपलक्षितायां । ६. रथं । ७. सहितं । ८. प्रकाशतां । *. 'प्रियोक्तिः' क० । ९. सौमनस्यं । १०. समानशीले । ११. कृतो निश्चितः आत्मा स्वरूपं यैः ।

जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे । सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥ २१८ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य यथायोग्यं प्रमोदवान् । वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥ २१९ ॥
[1]तद्व्रतैर्विद्यया वित्तैः शारीरैः श्रीमदाश्रयैः[2] । त्रिविधात्[3]दुःखसंप्राप्तानुपकुर्वन्तु संयतान् ॥ २२० ॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अवन्तिविषयेषु [4]सुधान्धःसौधस्पर्द्धिशालायां[5]विशालायां पुरि प्रभावतीमहादेवीभित्त-शर्मसीमा जयवर्मनामा 'काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनक्रेण[7] शुक्रेण चार्वाकलोकदिवस्पतिना[8] बृहस्पतिना रुद्रमुद्रात्[9]द्रितविवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्याबलिना बलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थिति-रेकदा समस्तशास्त्राभ्यासवर्षविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावमपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरम्बस्य परमतपश्च-रणगुणग्रहणाजि[10]ह्मब्रह्मस्तम्बस्य[11] महामुनिपञ्चशतीवर्षस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महद्धिभुवः सर्वजनानन्दनं नाम नगरोपवनमधि[12]तस्थुषश्चरणार्चनोपचाराय राजमार्गेषु महामहोत्सवोत्साहो[13]त्सेकितपरिजनं पौरजनमभ्रंलिहगेहाग्रभागा[14]-

है, जो कि मुक्ति श्री की प्राप्ति का कारण है ॥ २१७ ॥ वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र तीर्थङ्कर भगवान् में, उनके द्वारा कहे हुए द्वादशाङ्ग रूप शास्त्र में, आचार्य में, तप में तत्पर हुए साधु में और श्रुत के पारदर्शी उपाध्याय परमेष्ठी में विशुद्ध भाव पूर्वक प्रकट हुए अनुराग को आचार्यों ने भक्ति कहा है ॥ २१८ ॥ जो प्रमुदित होकर मुनि, ऋषि, यति व अनगार इन चार प्रकार के संघ के प्रति यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? ॥ २१९ ॥ अतः व्रतों के देने द्वारा, शास्त्रों के अध्यापन द्वारा, धन के दान द्वारा, उनके शरीर की सेवा द्वारा एवं उत्तम (तप व स्वाध्याय के योग्य) स्थान के दान द्वारा शारीरिक (बुखार व गल-गण्ड-आदि), मानसिक (काम-क्रोधादि) व आगन्तुक (अतिवृष्टि-आदि) दुःखों से पीड़ित हुए संयमी जनों का उपकार करना चाहिए ॥ २२० ॥

अब वात्सल्य अङ्ग में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा कहते हैं—

अवन्तिदेश की उज्जयिनी नामकी नगरी में, जिसके भवन देवों के भवनों से स्पर्धा करने वाले हैं; प्रभावती महादेवी के अधीन हुई सुख-सीमावाला 'जयवर्मा' नाम का राजा राज्य करता था, जिसका राज्य-संरक्षण चार मन्त्रियों द्वारा सम्पन्न होता था। १. बौद्ध-सिद्धान्तरूपी समुद्र में प्रविष्ट होने के लिए मकर-सरीखा (बुद्ध मतानुयायी) 'शुक्र'। २. नास्तिक-मत में इन्द्र-सा बृहस्पति। ३. रुद्र-मुद्रा से उत्कट बुद्धिवाला (शैव-सम्प्रदाय का अनुयायी) प्रल्हादक और ४. बलि नामका मंत्री, जो कि प्रल्हादक का छोटा भाई व उसका अनुयायी एवं वेदविद्या में पारंगत (वैदिक मतानुयायी) था।

एक बार राजा गगनचुम्बी महल के अग्रभाग पर आरोहण के अवसर पर 'दिग्विलोकानन्द' नाम के राजमहल पर स्थित था। उन्होंने ऐसे अकम्पनाचार्य के चरण कमलों की पूजा के लिए राजमार्ग से जाते हुए नागरिक मनुष्य-समूह को देखा, जिसका कुटुम्बीजन महापूजा का उत्सव देखने के उत्साह से गर्वित था। जो कि (अकम्पनाचार्य) एक समय उक्त नगरी के 'सर्वजनानन्द' नाम के बगीचे में आकर ठहरे हुए थे, जो पाँच-सौ महामुनियों के संघ में प्रधान थे, जिन्होंने शिष्यजनों का मनरूपी कमल-समूह समस्त शास्त्रों की अभ्यास-रूपी वृष्टि से बढ़ी हुई सरस्वती (द्वादशाङ्ग वाणी) रूपी नदी की तरङ्ग परम्परा में स्नान कराने से पवित्र

१. व्रतदानेन उपकारं कुर्वन्तु। २. उत्तमस्थानैः कृत्वा। ३. शारीरमानसागन्तुक। ४. सुधान्धसोऽमृतभोजनाः देवाः।
५. उज्जयिन्यां। ६. भूपतिः। ७. मकरेण। ८. इन्द्रेण। ९. उत्कट। १०. सरल, पटु। ११. स्तम्बः आलान-गुल्मयोः, ब्रह्मादीनां प्रकाण्डे च, भुवनत्रयं, पटुभुवनत्रयस्य। १२. स्थितवतः। १३. गर्वित। १४. आरोहणावसरे।

वसरे त्रिविष्टपलोकानन्दमन्दिरे स्थितः समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुत्सवा[1]लोकने नियोगः[2]' इति वितर्कयन्, सकलसम[3]यसंभवप्रसूनस्तिमि[4]तहस्तपल्लवान्तरालाद्वनपालात् 'देव, भवद्दर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्तुसंभावितमेदिनीनन्दने[5] निजलक्ष्मीविलक्ष्यीकृ*तगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसंपा[6]दितसमूहेन महता मुनिसमूहेन सह सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रबन्धावधीरितामृतमरीचिमण्डलो[7] निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकु[8]रन्दीभवत्पादनखमण्डलः पुण्यद्विपयूथबन्धनवारिरकम्पनसूरिः समायातः। तदुपासनाय चास्योज्जयिनीजनस्य[9] महामहावहृदिव्रत्तोत्साहः' इत्याकर्ण्य प्रदुर्गमेतत्पादवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्वप्रबलतालताश्रयकलि[10] बलिमपृच्छत्।

सद्धर्मधुरोद्धरण[11]गलिर्बलिः—'देव,

न वेदात्परं तत्त्वं न श्राद्धात्परो विधिः। न यज्ञात्परो धर्मो न द्विजात्परो यतिः॥ २२१॥'

किया था। जिसने उत्कट तपश्चर्या रूपी गुण धारण करने से तीन लोक को सरल किया था एवं जो महाऋद्धिधारी थे।

तब उसने विचार किया—'नागरिकों की यह तेज उत्सव देखने की प्रवृत्ति असमय में क्यों हो रही है?'

इतने में ही उसने वनपाल से, जिसके हस्त पल्लव का मध्य-भाग समस्त छह ऋतुओं में होने वाले पुष्पों से निश्चल था, निम्नप्रकार वृत्तान्त सुना—

'हे राजन्! आपकी नगरी के ऐसे उपवन में, जहाँ पर वनदेवता के नेत्र आपके दर्शनार्थ उत्कण्ठित हैं। जिसमें आये हुए पूज्य अकम्पनाचार्य की तपश्चर्या के प्रभाव से प्रवृत्त हुईं छह ऋतुओं द्वारा वृक्ष विकसित किये गए हैं। जिसने अपनी सौगन्ध्य लक्ष्मी द्वारा गन्धमादन (पर्वत विशेष) को तिरस्कृत या शोभा-रहित किया है। प्रशस्त गुणरूपी लक्ष्मी से यथार्थ विचार प्राप्त करने वाले महान् मुनिसंघ के साथ, ऐसे श्री अकम्पनाचार्य आये हुए हैं, जिसने समस्त प्राणियों को आनन्द देनेवाले महान् वचनरूप अमृत-समूह द्वारा चन्द्र-मण्डल तिरस्कृत किया है, जिसके चरणों का नख-मण्डल [नम्रीभूत] समस्त दिक्पालों के मुकुटों में जड़े हुए श्रेष्ठ मणियों से दर्पण-सरीखा हो रहा है और जो पुण्य रूपी हाथियों के झुण्ड के बन्धन के लिए खूँटा-सरीखा है, उनकी उपासना करने के लिए इस उज्जयिनी नगरी के मनुष्यों के चित्त में महान् पूजाकारक उत्साह उमड़ रहा है।'

फिर उक्त आचार्यश्री के चरणों की वन्दना के लिए उद्यत हृदय वाले राजा ने वहाँ प्रस्थान करने के लिए बलि नाम के मंत्री से पूँछा, जो मिथ्यात्व की विशेष प्रबलतारूपी लता के आश्रय के लिए बहेड़ा के वृक्ष-सरीखा है।

तब सच्चे धर्म की धुरा को उखाड़कर फेंक देने में दुष्ट बैल-सरीखे बलि मन्त्री ने कहा—'राजन्! वेद से दूसरा कोई तत्व नहीं है। श्राद्ध से उत्कृष्ट कोई विधि नहीं है। यज्ञ से महान् कोई दूसरा धर्म नहीं है और ब्राह्मण से उत्कृष्ट कोई दूसरा साधु नहीं है॥ २२१॥

१. उत्सव। २. कोऽधिकारः। ३. षड्ऋतु। ४. निश्चल। ५. वृक्षे। *. 'विलक्षीकृत' क०। ६. संपादितः सम्यगूहो विचारो येन। ७. चन्द्रः। ८. दर्पणीभवत्। ९. महापूजाकारकः। १०. बिभीतकतरुं। ११. गलिर्दुष्टवृषः शक्तोऽप्यधूर्वहः कर्मायोग्यो बलिः।

सन्मार्गसर्गोच्छेदकः प्रह्लादकः—

[1]'अद्वैतान्न परं तत्त्वं न देवः शंकरात्परः । शैवशास्त्रात्परं नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः ॥ २२२ ॥'

तथा नास्तिक्याधिपत्यशाल्यवाचस्पती [2]शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे स्वप्रतिज्ञां विज्ञापयामासतुः । मनागन्तःक्षुभितमतिः [3]क्षितिपतिः—'अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजाः द्विजाः, किं ममैव पुरतो भवतां भारती प्रगल्भते । किं वा बुधप्रवेकस्य[4] लोकस्यापि ।' सन्नीतिवसुमतीविदारणहलि[5]र्बलिः—[6]'इलापाल, यदि तथास्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेर्ष्यं मनः, तदास्तां तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञः परः प्राज्ञः । किन्तु सर्वज्ञस्यापि [7]वादेर्वाग्रे पुरस्तात्परिगृहीतविद्यानवद्या एव ।' स्थिरप्रकृतिः क्षोणीपतिः—'यद्येवं शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति' इत्यभिधायानन्ददुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो विजयशेखरं नाम करिणमारुह्यान्तःपुरानुगमवाह्यो[8]ऽतिवाह्य[9] बाह्यनगरमार्गमुपगतारामसीमसंसर्गः, ततः करिणोऽवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकरः कतिपयाप्तपरिवारपुरःसरस्तं व्रतविद्यानवद्यं भगवन्तं यथावदभिवन्द्य समाचरितनीचासनपरिग्रहः सविनयाग्रहं [10]स्वर्गापवर्गस्वरूपनिरूपणपरायणः सद्धर्मसनाथां कथां प्रथयामास[11] । तत्कर्मवंश[12]प्रभिवलि-

---

सन्मार्ग की सृष्टि का उच्छेद करनेवाले प्रह्लादक मंत्री ने कहा—'अद्वैत से महान् दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शङ्कर से उत्कृष्ट दूसरा कोई देवता नहीं है और शैव शास्त्र से बढ़कर दूसरा कोई भुक्ति (सांसारिक भोग) व मुक्ति को देनेवाला शास्त्र नहीं है ॥ २२२ ॥'

विशेष नास्तिक दर्शन के वचन बोलने के लिए बृहस्पति नाम के दो मन्त्रियों ने भी राजा के लिए अपने सिद्धान्त विज्ञापित किये (समझाए) ।

फिर कुछ चित्त में कोप से कलुषित बुद्धिवाले राजा ने कहा—'अहो दुष्टतारूपी लता के आधारदान में वृक्ष-सरीखे ब्राह्मणो ! क्या मेरे ही सामने आपकी वाणी बोलने में समर्थ होती है ? या महाविद्वान् लोक के सामने भी आपकी वाणी बोलने में समर्थ होती है ?'

पुनः प्रशस्त नीतिरूपी पृथिवी के विदारण के लिए महान् हल-सरीखा बलि बोला—'हे पृथिवी पालक ! यदि हमारी बुद्धि की महत्ता के विषय में आपका मन ईर्ष्या-युक्त है तो शास्त्रों के अभ्यास से प्रवीण बुद्धिवाले विद्वान् की तो बात ही क्या है ।

यदि हम लोगों के सामने सर्वज्ञ ही वादी होकर शास्त्रार्थ करने उपस्थित हो जाय तो उसके सामने भी हमारी विद्या निर्दोष ठहरेगी ।

'यदि ऐसा है तो शूरवीर और कायरों की परीक्षा रण में ही होगी ।'

ऐसा कहकर स्थिर स्वभाव-वाला राजा आनन्द दुन्दुभि की ध्वनि के साथ अनुचर-वर्ग व पूजा के उपकरण प्राप्त करता हुआ व अन्तःपुर का सहगमन न रोककर विजय शेखर नाम के हाथी पर चढ़कर चल दिया और नगरी के बाह्यमार्ग का उल्लङ्घन करके मुनि के उद्यान की सीमा का संग प्राप्त करते ही हाथी से उतर पड़ा और शिष्ट पुरुष का वेष व कुटुम्बी जनों को ग्रहण करनेवाले एवं कुछ हितैषी अनुचर-वर्ग को अग्र-

---

१. एकान्तात् किन्तु सर्वथैकान्तमेव वस्तुतत्त्वं । २. द्वौ मन्त्रिणौ । ३. मन्त्रिणः प्रति प्राह । ४. मुख्यस्य । ५. महद्धलं । ६ भूः । ७. वादिनः । ८. गमने सति अनिषेध्यः राजा । ९. बाह्य, बहिर्नगरमार्गमतिवाह्य अतिक्रम्य संप्राप्तमुनिवनसीमसंगः सन् गजादुत्तीर्य । १०. राजा । ११. मुनिना कृत्वा विस्तारयामास । १२. प्रभेदन-भ्रमरः टि० च० । वेणुस्तत्र प्रभित् भेदनं अलिर्भ्रमरः प्राह । टि० (ख०) ।

बलिः—'स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गापवर्गास्तित्वसंग्रहे देवस्य दुराग्रहः, यतो द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुरुषः। तयोरन्योन्यमनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादुर्भूतिः प्रीतिः प्रत्यक्षसमधिसर्गः[1] स्वर्गो न पुनरदृष्टः कोऽपीष्टः स्वर्गः समस्ति।' गुणभूरिः सूरिः—'सकलि[2]प्रमाणबले[3] बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणमेकमेव प्रमाणं समस्ति।' नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलि[4]र्बलिः—'अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविदुष[5], एकमेव।' भगवान्—'कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम्, कथं वा तवादृष्टानां वंश्यानामवस्थितिः। स्वयम[6]प्रत्यक्षप्रमेयत्वादाप्तपुरुषोपदेशाश्रितौ[7] [8]स्वपक्षपरिक्षतिः परमतोत्सवकृतिश्च। बलिभट्टो[9]भट्ट इवेतस्तटमितो मदोत्कटः करटीति संकटं प्रघट्टकमापतितः परं *सभाजनसभा[10]जनकरमुत्तरमपश्यन्नश्लील[11]मसभ्यसर्गं निर्गलमार्गं किमपि तं भगवन्तं प्रत्युवाच। क्षितिपतिरतोऽवमन्त्रा[12]क्षविक्षिप्तवीक्षणो

गामी करनेवाले उसने व्रत व विद्या में निर्दोष पूज्य अकम्पनाचार्य के लिए यथाविधि नमस्कार किया और एक नीचे आसन पर बैठ गया। आग्रहपूर्वक स्वर्ग व मोक्षस्वरूप के विचार में तत्पर हुए उसने उक्त आचार्य द्वारा प्रशस्त धर्म वाली धर्म कथा विस्तारित की।

उसे सुनकर पुण्य कर्मरूपी बाँस के विदारण करने के लिए भँवरा-सरीखे बलि मन्त्री ने कहा—'हे स्वामिन्! स्वर्ग व मोक्ष का अस्तित्व मानने का आप दुराग्रह क्यों करते हैं? क्योंकि बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष के पुरुष की परस्पर में असाधारण प्रेमरस की वृद्धि की उत्पत्ति वाली प्रीति ही प्रत्यक्ष-प्रतीत स्वर्ग है, उससे भिन्न कोई दूसरा अदृश्य व अभिलषित स्वर्ग नहीं है।'

गुणों से बहुल आचार्य ने कहा—'वाद-विवाद के कलह-सहित और प्रमाण-पूजक बलि! क्या एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है?'

नास्तिकों में इन्द्र-सरीखे चार्वाक के मनोरथरूपी रथ के संचालन के लिए सारथि-सरीखे बलि ने कहा—

समस्त शास्त्ररूपी पृथिवी का उद्धार करने में आदिपुरुष सरीखे हे विद्वन्! 'हाँ केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।'

आचार्य—'यदि आप केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हो तो आपके माता-पिता के विवाह-आदि की सत्ता कैसे सिद्ध होगी? अथवा तुम्हारे वंश में उत्पन्न हुए अदृश्य पूर्वजों की सत्ता कैसे सिद्ध होगी? उनकी सिद्धि के लिए यदि आप कहेंगे कि प्रमाण द्वारा जानने योग्य उक्त पदार्थ हैं अवश्य, परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जानने योग्य नहीं हैं, अतः वे आप्त पुरुष के उपदेश (आगम प्रमाण) की अपेक्षा करते हैं, तब तो आपके पूर्वपक्ष की हानि होती है, अर्थात्—'वस्तु की स्थिति का साधक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, अन्य नहीं' आपका यह सिद्धान्त खण्डित होता है और स्याद्वाद-दर्शन की सिद्धि होती है, क्योंकि आपने प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय आगम प्रमाण भी मान लिया।

इसके बाद बलि नाम का विद्वान् मंत्री मूर्ख-सरीखा होकर 'यहाँ पहाड़ की भींट है और वहाँ मदोन्मत्त हाथी है' किस मार्ग से जाऊँ? उसकी तरह दुःख-प्रकर्ष को प्राप्त हुआ और जब सभा के सदस्यों को प्रीतिजनक उत्तर न दे सका तब वह आचार्य से अश्लील, व उच्छृंखल मार्गवाला एवं दुष्टजनों के योग्य वचन बोल उठा।

१. निश्चयः। २. सह कलिना वर्तसे। ३. प्रमाणे बलिः पूजा यस्य सः। ४. सारथिः। ५. विदुषो वृषस्तस्य संबोधनं हे मुने। ६. ज्ञानं प्रमाणं, ज्ञानेन यद्वस्तु ज्ञायते तत्प्रमेयं, तत्तु सदाप्रत्यक्षं तेन तेषां वस्तूनामवस्थितिर्न। ७. सत्यां। ८. पूर्वपक्षस्य हानिः। ९. अविद्वान्। *. 'परं सभाजनकरमुत्तरं' क०। १०. प्रीतिकरं। ११. अश्रव्यं। १२. लज्जां।

मुमुक्षुसमक्षमासन्नाशिव[1]ताशनिसंघट्टं बलिभट्टं प्रतिष्ठाभङ्गभयात्किमप्यनभिलप्य[2] 'भगवन्, असंप्राप्ततत्त्वसंबन्धस्य निजस्वरूपस्खलितप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य सद्धर्मध्वंसहेतोर्जन्तोर्निसर्गस्थैर्यमेरुषु गुणगुरुषु न खलु दुरपवादकरणात्परमवसाने प्रहरणमस्ति' इति वचनपुरःसरं कथान्तरमनुबध्य[3] साधु समाराध्य च प्रशान्तिहैमवतो[4]प्रभवगिरिमकम्पनसूरिं विनेयजनसंभावनौचित्यतया तदनुज्ञयात्मसदनमासाद्यापरेद्युरपरदोषमिषेण *सन्निकारकरणमनुजैः सह कर्मस्कन्ध[5]बन्धबाहुलि[6] बलिं निजदेशान्निर्वासयामास ।

भवतश्चात्र श्लोकौ—

[7]सत्संगश्च समावेव यदि चित्तं मलीमसम् । प्रागशान्तेः[8] क्षयं पूर्वः पर[9]स्त्वाशुभचेष्टितात् ॥२२३॥

स्वमेव हन्तुमीहेत दुर्जनः सज्जनं द्विषन् । योऽधितिष्ठेत्तुलामेकः किमसौ न व्रजेदधः ॥२२४॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ।

बलिद्विजः सानुजस्तथा सकलजनसमक्षमसू[10]क्ष्मसू[11]क्ष्मणपूर्वकं निर्वासितः सन्मुनिविषयरोषोन्मेषकलुषितः

यह देखकर राजा के नेत्र विशेष लज्जा से विक्षिप्त होगए और उसने मुमुक्षु आचार्य के सामने समीप में अकल्याण रूपी वज्र का प्रहार करने वाले बलि भट्ट से अपनी प्रतिष्ठा के भङ्ग होने के भय से कुछ भी नहीं कहा और आचार्य से कहा—

'पूज्यवर ! निस्सन्देह कुवादी मानव के लिए, जो तत्त्व-संबंध का ज्ञाता नहीं है (मूर्ख है) और जो आत्मस्वरूप से पतित होने के कारण बढ़े हुए चित्तवर्ती महामोह से अन्धा है एवं जो प्रशस्त धर्म का ध्वंसक है, स्वाभाविक स्थिरता में सुमेरु पर्वत-सरीखे व सम्यग्ज्ञान-आदि गुणों से महान् पूज्य पुरुषों की निन्दा करने के सिवाय अन्त में दूसरा कोई हथियार नहीं है। इसके बाद उसने चर्चा के प्रसङ्ग का उपसंहार करके प्रकृष्ट उत्तम क्षमारूपी गंगानदी का उद्गम करने के लिए हिमवान् पर्वत-सरीखे अकम्पनाचार्य की उत्तम आराधना की। शिष्यजनों के समुचित विनय को जाननेवाली आचार्य की आज्ञा लेकर अपने महल में लौट आया। बाद में उसने दूसरे दिन कर्म-समूह के बंध के लिए हस्तिशास्त्र प्रणेता बाहुलि आचार्य-सरीखे बलि को किसी दूसरे अपराध के बहाने से तिरस्कार के विधान सहित उसके साथी (शुक्र प्रह्लादक व बृहस्पति) मन्त्रियों के साथ अपने देश से निर्वासित कर दिया।

इस विषय में दो श्लोक हैं, जिनका अर्थ यह है—

यदि चित्त मलिन (अशुभ विचार से दूषित) है तो सज्जन और दुर्जन एक सरीखे हैं। उनमें से सज्जन तो अशान्ति (क्रोध) के कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्यों के करने से नष्ट हो जाता है। क्योंकि सज्जन से द्वेष करनेवाला दुर्जन स्वयं अपने घात की चेष्टा करता है। ठीक ही है, जो अकेला ही तराजू में बैठ जाता है, वह नीचे क्यों नहीं जायगा ? ॥ २२३-२२४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में बलि के देश निर्वासन को वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ कल्प कल्प समाप्त हुआ।

जब समस्त लोगोंके समक्ष विशेष तिरस्कार पूर्वक निकाला हुआ बलि ब्राह्मण अकम्पनाचार्य को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए क्रोध से सन्तप्त चित्त वाला हुआ तब उसने अपने छोटे भाई प्रह्लादक के साथ कुरुजाङ्गल

---

१. अकल्याणं । २. अनुक्त्वा । ३. उपसंहृत्य । ४. गङ्गा । *. विगोपनं । ५. समूह । ६. गजागमाचार्य । ७. सत्पुरुषदुर्जनौ । ८. क्रोधात् सत्पुरुषः क्षयं याति । ९. दुर्जनः । १०. बृहत् । ११. पराभव ।

कुरुजाङ्गलमण्डलेषु [1]सविलासिनीजलकेलिविगलितकाश्मीर[2]लेपपाटलकल्लोलाधरसुरसरित्[3]सीमन्तिनीचुम्बितपर्यन्तप्रसरे हस्तिनागपुरे साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमतीं महादेवीमपहाय[4] सरस्वतीरसावगाहसागरस्य श्रुतसागरस्य भगवतोऽभ्यर्णे पितृविनयविष्णुना[5] विष्णुना लघुजन्मना सूनुना सार्धं प्रबोधितदीक्षापदस्य[6] महापद्मस्य महीपतेरग्रजन्मानं[7] पद्मनामानमिलयं तनयमशिश्रियत्[8]। पद्मोऽपि चारसंचाराद्विदितवंशविद्याप्रभावाय तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात्। बलिः—'देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लादः प्रसादः। किंतु कर्णेजपवृत्तीनां लञ्चलुञ्चनोचितचेतःप्रवृत्तीनां च प्रायेण पुरुषाणां नियोगिपदं सुखायास्पदं न शौर्योर्जितचित्तस्योदारवृत्तस्य च, तदसाध्यसाधनेन नन्वयं[9]जनो निदेशदानेनानुगृहीतव्यः'। पद्मः—'सत्यमिदम्, किंतु स्वामिसमीहितार्थसंपादनेषु[10] सर्वधुरीणेषु* भवादृशेषु सचिवेषु सत्सु किं नामासाध्यं समस्ति।' अन्यदा तु कुम्भपुराधिकृतभूतिः[11] सिंहकीर्तिर्नाम नृपतिरनेकायोध[12]नलब्धयशःप्रसाधनः संनद्धसारसाधनो हस्तिनागपुरावस्क[13]न्दप्रदानायागच्छन्, एतन्नगरच्छन्नभाव[14]चरनिवेदितागमनः पद्मनिदेशादभ्यमित्रीण[15]प्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकद[16]नकोविदधिषणेन बलिनाध्वमध्ये प्रबन्धेन[17] युद्ध्यमानः, नामनिर्गमविधानैः प्रधानैर्युद्ध-

---

देश के हस्तिनागपुर नगर के, जिसकी विस्तृत पर्यन्तभूमि ऐसी गङ्गा नदीरूपी स्त्री द्वारा चुम्बन की गई है, जिसके तरङ्गरूपी ओष्ठ वहाँ की कामिनियों द्वारा की हुई जलक्रीड़ा से गिरे हुए कुंकुम से लालिमा-युक्त हैं, ऐसे महापद्म नामक राजा के ज्येष्ठ पुत्र पद्मनाम के स्थान वाले राजा का आश्रय लिया, जिसने साम्राज्य लक्ष्मी-सरीखी लक्ष्मीमति पट्टरानी का त्याग किया था और जिसने ऐसे पूज्य श्रुतसागर नामक आचार्य के समीप पितृभक्ति को विस्तारित करने वाले अपने विष्णु नाम के छोटे पुत्र के साथ दीक्षा-सम्पत्ति ग्रहण की थी, जो कि सरस्वती रूपी नदी के आनन्दरूप जल में अवगाहन का समुद्र है।

पद्मराजा ने भी गुप्तचरों द्वारा जाने हुए वंश व विद्या से प्रभाववाली बलि के लिए समस्त अधिकारी वर्ग में श्रेष्ठ मन्त्री का पद प्रदान किया।

तब बलि ने कहा—'हे देव! मैंने आपका असाधारण सन्मान से सुखप्रद अनुग्रह ग्रहण कर लिया परन्तु अधिकार का पद चुगलखोरों और घूँसखोरों के लिए प्रायः सुखदायक होता है न कि महान् चरित्र वाले व शूरता से शक्तिशाली चित्त वालों के लिए। अतः मुझे ऐसी आज्ञा-प्रदान द्वारा अनुगृहीत कीजिए, जिसमें असाध्य कार्य सिद्ध हो सके।'

तब पद्मराजा ने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु स्वामी के अभीष्ट को पूरा करने में प्रवीण और समस्त कर्तव्यों में कुशल तुम्हारे जैसे मन्त्रियों के होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है।'

एक समय कुम्भपुर के स्वामी सिंहकीर्ति नामके राजा ने, जिसने अनेक युद्धों में यशरूपी सिद्धि प्राप्त की थी और जो युद्ध विद्या में कुशल सैनिकों की शक्तिरूप साधनों से सन्नद्ध (सुसज्जित) था, हस्तिनागपुर पर हमला करने के लिए प्रस्थान किया। परन्तु शत्रु के नगर में प्रच्छन्न हुए—छिपे हुए गुप्तचरों ने इसके आने का समाचार सूचित कर दिया, जिससे पद्म राजा की आज्ञा लेकर शत्रु के सन्मुख आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करने में तत्पर हुए एवं कूट कपट की अभिलाषा वाले युद्धों में प्रवीण बुद्धि वाले बलि नामके मन्त्री ने मार्ग के मध्य में ही मार्ग रोककर उसके साथ तुमुल

---

१. देश। २. कुङ्कुमं। ३. गंगानदी एव सीमन्तिनी। ४. परित्यज्य। ५. विस्तारकेण। ६. संपदः। ७. ज्येष्ठं। ८. बलिमन्त्री। ९. मल्लक्षणो जनः। १०. प्रवीणेषु। *. सर्वकर्मणि कुशलेषु। ११. स्वामी। १२. संग्राम। १३. घाटकः। १४. प्रच्छन्नचरः। १५. शत्रुसन्मुख। १६. संग्राम। १७. मार्गरोधनेन।

सिद्धाग्रोपान्तैः[1] सामन्तैश्च सार्धं प्रबध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रसन्नमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृतः ।

क्षितिपतिः—'शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरणव्याकरणपतञ्जले बले, निखिलेऽपि बले चिरकालमनेकशः कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य द्विषतस्य विजयान्नितान्तं तुष्टोऽस्मि । तद्याच्यतां मनोऽभिलाषधरो वरः' । बलिः—'अलर्क, यदाहं याचे तदायं प्रसादीकर्तव्यः' इत्युदारमुदीर्य पुनश्चतुरङ्गबलप्रबलः प्रतिकूलभूपालविनयनाय पद्ममवनिपतिमादेशं याचित्वा सत्वरमशेषाशावशानिवेशानी[2]कसूत्रितसकलमहीतलो दिग्विजययात्रार्थमुच्चचाल ।

अत्रान्तरे विहारवशाद्भगवानकम्पनाचार्यस्तेन महता मुनिनिकायेन सार्कं हस्तिनागपुरमनुसृत्योत्तरदिग्विलासिनीकर्णावतंसकुसुमतरौ हेमगिरौ महावगाहायां[3] गुहायां चातुर्मासनिमित्तं स्थितिं बबन्ध । बलिरपि निखिलजलधितीर[4]वनविनोदितवीरवधूहृदयो विहितदिग्विजयं विधायागतस्तं भगवन्तमवबुध्य चिरकालव्यवधाने[5]ऽप्य[6]लर्कविषमिव इव जातप्रकोपोद्रेकस्तदपराधविधानाय[7] धराधीश्वरं [8]पुरावितीर्णवरव्याजेन [9]समाशास्यार्धमात्मैकशासनप्राज्यं राज्यमन्तःपुरप्रचारैश्वर्यमात्रसद्मतः[10] प्रयातोऽभ्यर्थ्य मखमिषेण मुनिसंघस्योत्कर्षं[11] चिकीर्षुर्मदनद्रव्याधिकरण-[12]उपकरणैरग्निष्टो[13]ममारेभे ।

युद्ध किया। जिससे बलि ने विख्यात नाम वाले प्रधानों और युद्ध-विद्या में समीपभूत सामन्तों के साथ उसे बाँधकर हृदय के कीले के उन्मूलन होने से प्रसन्न बुद्धिवाले पद्मराजा के लिए भेंट कर दिया।

तब पद्म ने कहा—'शस्त्र-विद्या के आधार व्याकरण शास्त्र में पतञ्जलि-सरीखे शस्त्र विद्या में प्रवीण बलि! समस्त सैन्य के होते हुए भी चिरकाल से अनेक बार मेरी मुख-कान्ति को काली करने वाले इस शत्रु को जीतने से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए आप मुझ से अपनी मनोकामना पूर्ण करने वाला वर माँगिए।' बलि—'स्वामिन्! जब मैं आपसे याचना करूँ, तब महाराज मुझ पर कृपा करें।'

ऐसा उदारता पूर्वक कहकर और राजा पद्म से आज्ञा लेकर विरोधी राजाओं को वश में करने के उद्देश्य से चतुरङ्ग सेना से शक्तिशाली हुए बलि ने समस्त दिशाओं को अपने अधीन करने वाले सैन्य-शिविर द्वारा समस्त पृथिवी तल को आच्छादित करके दिग्विजय करने के लिए प्रस्थान किया।

इसी बीच में पूज्य अकम्पनाचार्य उस बड़े भारी मुनि संघ के साथ विहार करते हुए हस्तिनागपुर में पधारे और उत्तर दिशारूपी स्त्री के लिए कानों के आभूषणरूप फूले हुए वृक्षों वाले हेमगिरि नाम पर्वत की महागम्भीर गुफा में चतुर्मास करने के लिए ठहर गए।

समस्त समुद्र-तट के समीपवर्ती वनों में वीर वधू का हृदय प्रमुदित करने वाला बलि भी दिग्विजय करके लौट आया। जैसे बहुत समय बीत जाने पर भी वर्षा ऋतु में पागल कुत्ते के काटने का जहर चढ़ आता है, वैसे ही मुनि संघ का समाचार जानकर उसे विशेष क्रोध-बुद्धि उत्पन्न हुई। इसलिए उसने मुनिसंघ की विराधना करने के उद्देश्य से पूर्व में दिये हुए वर का बहाना लेकर अपने स्वामी राजा पद्म से, जिसका मन्दिर (स्थान) अन्तःपुर में संचार के योग्य वैभव वाला है, एक पक्ष के लिए केवल अपने ही शासन की प्रचुरता वाला राज्य शासन माँग लिया और बलि ने मुनिसंघ के ऊपर विशेष उपसर्ग करने के इच्छुक होते हुए मद्य व मांसादि साधनों द्वारा महायज्ञ करना आरम्भ कर दिया।

---

१. समीपभूतैः। २. सैन्य। ३. गम्भीरायां। ४. तटसमीप। ५. आच्छादनेऽपि। ६. 'दुष्टशुनके जलसेचनमिव, किल दुष्टकाले शुना दष्टः पुमान् तस्य विषं वर्षाकाले उदयमागच्छति' टि० ख०। 'अलर्कः ग्रहिलश्च' इति पञ्जिकाकारः। 'ग्रहिलकुर्कुरः' । टि० च०। ७. तेषां मुनीनां विराधनानिमित्तं। ८. पूर्वं दत्त। ९. पक्षैकं। १०. मन्दिरात्। ११. उपसर्ग। १२. मद्यमांस। १३. महायज्ञं।

अत्रान्तरे [1]निजनिवासपवित्रितमिथिलापुरेः *जिष्णुसूरेरन्तेवासी भ्राजिष्णुर्नाम [2]तमीमध्यसमये बहिर्विहितविहारः [3]समीरमार्गे नक्षत्रवीथ्यां[4] लोचनालोकनलग्नायां विश्वासतश्च [5]शूरसंचारचकितगात्रं कुरङ्गकलत्रमिव, तरलतारकाश्रयणं श्रवणमवेक्ष्यान्तरिक्षे[6] लक्ष्यं बध्वा किलैवमुच्चैरवोचत्—'अहो, न जाने क्वचित्महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते' इति। एतच्च [7]श्रमणशरणगणी समाकर्ण्य प्रयुक्तावधिबोधस्त[8]न्नगरगिरिगुहायामकम्पनाचार्यस्य बलिदुर्विलसितमवधार्याकार्यं च गगनगमनप्रभावं पुष्पकदेवं वेगवत्तरमवन् 'हंहो पुष्पकदेव, तव विक्रियर्द्धेर्[9]भावाद् न तदुपसर्गविसर्गे सामर्थ्यमस्ति। ततस्तथाविधर्द्धिवृद्धिरोचिष्णवे विष्णवे तामदृष्टविशिष्टतामिवात्मस्थितामप्यविदुषे[10] निवेद्य[11] तदुपसर्गापवर्गाय[12]स्मत्सन्देशः[13] गोचरयितव्यः[14]।' पुष्पकदेवस्त्रिदशोचितचरणसेवस्य तस्य [15]महर्षेर्भाषितात्तं देशमासाद्य विष्णुमुनये तथाविधर्द्धिवृत्तिं गुरुनिदेशप्रवृत्तिं च प्रतिपादयामास। विष्णुमुनिः प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण

इसी बीच में अपने निवास द्वारा मिथिलापुरी को पवित्र करने वाले जिष्णु सूरि नामके आचार्य के शिष्य भ्राजिष्णु नाम के क्षुल्लक ने, जिसने अर्धरात्रि में बाहर विहार किया था और जो आकाश में नक्षत्र-मार्ग को नेत्रों से दर्शन-युक्त कर रहा था, श्रवण नक्षत्र देखा, जो कि वैसा कांपने वाले नक्षत्र का आश्रय कर रहा था, जैसे मृगी का शरीर व्याघ्र के आगमन से कांपने वाला हो जाता है। पुनः ज्योतिष शास्त्र का विचार करके जोर से चिल्लाया—'आह? न जाने कहाँ पर महामुनियों पर महान् उपसर्ग हो रहा है?

जब उक्त बात मुनि-संरक्षक जिष्णु सूरि नामके आचार्य श्री ने सुनी तब उन्होंने अवधि ज्ञान से जाना कि हस्तिनागपुर नगर के पर्वत की गुफा में स्थित हुए अकम्पनाचार्य के ऊपर बलि घोर उपसर्ग कर रहा है।' इसके बाद उन्होंने शीघ्र आकाश में विहार करने की शक्ति वाले पुष्पक देव नाम के क्षुल्लक को बुलाकर कहा—'पुष्पक देव! तुम्हारे पास विक्रिया ऋद्धि नहीं है, इसलिए तुममें मुनि संघ को उपसर्ग से दूर करने की शक्ति नहीं है, अतः उपसर्ग निवारण करने वाली विक्रिया ऋद्धि की वृद्धि से दीप्ति-युक्त हो रहे विष्णु कुमार मुनि से निवेदन करके, जो कि अपने में प्रकट हुई भी विक्रिया ऋद्धि को, जिसकी विशिष्टता का अनुभव स्वयं उन्हें नहीं है, जिससे जो विशेषता-शून्य-सरीखी है, नहीं जान रहा है, मुनि संघ का उपसर्ग नष्ट करने अथवा छुड़ाने के लिए उन्हें हमारी आज्ञा से प्रस्तुत कार्य में नियुक्त करने की प्रेरणा करनी चाहिए।'

इसके उपरान्त पुष्पकदेव देवों के योग्य चरण-कमलों की सेवा वाले महर्षि जिष्णु सूरि के कहने से उस देश में पहुँचा और उनसे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होने की बात और गुरु की आज्ञा कह दी।

इसे सुनकर जैसे दीपक, स्फटिक मणि की भित्ति के मध्य प्रसार करनेवाले किरण-समूह से शोभायमान होता है, वैसे ही वे विष्णुकुमार मुनि भी लवण समुद्र की वज्रमयी वेदिका का भेदन करनेवाले व मानुषोत्तर पर्वत के पर्यन्त भाग का अनुभव करनेवाले एवं मनुष्य क्षेत्र का आरम्भ तिरस्कृत करनेवाले अपने हाथ से सुशोभित हुए। अर्थात्—जब उन्होंने अपनी विक्रिया ऋद्धि की परीक्षा करने के लिए ज्यों ही अपना कर-कमल फैलाया तो वह लवण-समुद्र की वज्रमयी वेदिका का भेदन करता हुआ मानुषोत्तर पर्वत तक फैल गया।

१. निवासेन पवित्रिता मिथिलापुरी येन सः। *. गोत्रप्रधानहस्तस्तस्य सूरेः। २. रात्रि। ३. गगने। ४. मार्गे। ५. व्याघ्र। ६. ज्योतिःशास्त्रे विचारं कृत्वा। ७. श्रमणानां शरणीभूतवचासौ गणी सूरिः। ८. हस्तिनागपुर। ९. रहितत्वात्–विनाशनात्। १०. अजानते। ११. कथयित्वा। १२. प्राप्ताय–विमोचनाय। १३. १४. आदेशात्स विष्णुर्योजनीयः। १५. जिष्णुसूरेः।

करेणोर्णनाभ[1] इव तन्तुविताने काये स्वदशाधयया व्याससमासक्रियया च [2]तामवगम्योपगम्य च हास्तिनपुरं 'न खलु निखिल[3]निवर्णाश्रमपालाय मध्यमलोकपालायामर्षप्रवृत्ततन्त्रेण[4] हुंकारमात्रेणाप्याकम्पितजगत्त्रयाः [5]प्रसंख्यानवनविध्वंसदावे तपःप्रभावे दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते[6] यतीशाः' इति च परामृश्य, प्रविश्य च पुरं चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारोऽ[7]न्तःपुरं 'पद्ममहीपते, [8]राजधानीष्वरण्यवत्स्वपि वा तपस्यतः संयतलोकस्य न खलु नरेश्वरात्परः प्रायेणास्ति गोपायिता[9]। तत्कथं नाम तृणमात्रेऽप्यनपराधमतीनां यतीनामात्मन्यशुभलोकनिषेकसर्गमुपसर्गं सहसे[10]' इत्युक्तम्। 'भगवन्, सत्यमेवैतत्। किं तु कतिचिद्दिनानि बलिरत्र राजा, नाहम्' इति प्रत्युक्तियुक्त्यैव पद्म-भूपतिमवमत्य[11] 'छलेन खलु परेषु प्रायेण फलोल्लासनशीलास्तपःप्रभवर्द्धिलीलाः' इति चावगत्य शा[12]लाजिरसंपुटकोटराव-काशः प्रदीपप्रकाश इव संजातवामनाकृतिः [13]सप्ततन्तुवसुमतीमनुसृत्य मधुरध्वनिः [14]तृतीयेन सवनेन[15] प्राध्ययनं व्यधात्। बलिर्जलधरध्वानबन्धुरं वाक्प्रसरं सिन्धुर[16] इव [17]निभृतकर्णो निशम्य[18] 'कोऽयं खलु [19]वेदवाचि विरिञ्च[20]

इस प्रकार वह समस्त मनुष्य क्षेत्र में फैल गया। एवं जैसे मकड़ी अपने जाले को अपने अधीन करती हुई उन्हें विस्तृत व संकुचित करती है वैसे ही प्रस्तुत ऋषि भी अपना शरीर विस्तृत व संकुचित करते हुए अपनी विक्रिया ऋद्धि का निश्चय कर हस्तिनागपुर में पहुँचे। 'क्रोध से उत्पन्न हुए कार्य वाले हुंकारमात्र से तीनलोक को कम्पित करनेवाले मुनीश्वर निस्सन्देह ऐसे तप के प्रभाव होने पर भी, जो कि दुर्ध्यानरूपी वन को विध्वंस करनेवाली दावानल अग्नि-सरीखा है, किन्तु वे समस्त पृथिवीवर्ती वर्ण व आश्रम में रहने वाली प्रजा के रक्षक राजा से कहे विना दुष्टों को दंड देने का उद्यम नहीं करते।'

ऐसा सोचकर विष्णुकुमार मुनि अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए। पुराने परिचित कञ्चुकि ने उनका प्रवेश सूचित किया।

बाद में विष्णु मुनि ने राजा से कहा—

'पृथिवीपति पद्म! जब निस्सन्देह राजधानियों में भी वन-सरीखा परिणाम रखनेवाले तपस्वी मुनि-समूह का राजा को छोड़कर प्रायः कोई दूसरा रक्षक नहीं है तब तृणमात्र के प्रति अपराध करने की बुद्धि न रखनेवाले ऋषियों के शरीर पर किया हुआ उपसर्ग, जिसकी उत्पत्ति दुष्ट लोक रूपी मलिन जल से हुई है, आप कैसे सहन करते हैं?

राजा पद्म—'भगवन्! आपका कहना ठीक है किन्तु यहाँ कुछ दिनों के लिए यहाँ का राजा बलि है मैं राजा नहीं हूँ।'

तब विष्णुकुमार मुनि ने इस प्रकार के प्रत्युत्तर की युक्ति में राजा पद्म को अनादृत करके यह निश्चय किया—कि 'निस्सन्देह तपश्चर्या से उत्पन्न होनेवाली ऋद्धियों के चमत्कार प्रायः दूसरों पर किये गये छल द्वारा फलदायक होते हैं।' बाद में उन्होंने शराव-संपुट के मध्यवर्ती अवकाश वाले दीपक के प्रकाश-सरीखा वामन रूप धारण किया और यज्ञभूमि में जाकर मधुर ध्वनि पूर्वक ऊँचे स्वर से वेदाध्ययन शुरू किया।

बलि ने मेघ की ध्वनि-सा मनोज्ञ उस विस्तृत वेदवाणी को वैसी निश्चल श्रोत्रवाले होकर सुनी जैसे हाथी मेघध्वनि को निश्चल कर्ण-युक्त होकर सुनता है। इससे उसका हृदय कौतूहल-युक्त हुआ।

'वेद के प्रवचन-विषय में ब्रह्मा-सरीखा उच्चारण करने में चतुर यह कौन है?'

१. लूता। २. विक्रियर्द्धिं। ३. पृथ्वी। ४. क्रोधोत्पन्नकार्येण। ५. ध्यान। ६. उद्यमं कुर्वन्ति। ७. प्रवेशः। ८ सराग-स्थानेष्वपि वनेष्विव परिणामः स्यात्। ९. रक्षकः। १०. त्वं सहसे। ११. अवगणय्य। १२. 'शालाजिर शब्देन कपालं' इति टि० (ख०)। 'शालाजिरं शरावं' इति पञ्जिकाकारः। शरावो वर्धमानकः इत्यमरः। १३. यज्ञभूमि। १४. १५. उदात्तस्वरेण। १६. गजवत्। १७. निश्चल। १८ श्रुत्वा। १९. प्रवचनविषये। २०. ब्रह्मा।

इत्योच्चारणचतुरः' इति कुतूहलितहृदयः [1]सत्रनिलयान्निर्गत्य वयसि वपुषि च निश्चिताश्चर्यसौंदर्यं द्विजवर्यमेनमवादीत्—'भद्र, किमिष्टं वस्तु चेतसि निधाय प्राधीषे'[2]। 'बले, दायादविलुप्तालयत्वात्सवर्यं पादत्रयप्रमाणकल'मवनितलम्। द्विजोत्तम, निकामं चलम्।' 'यद्येवं बहुमानयजमान, विधीयतामुदकधारोत्तरप्रवृत्तिः[4] दत्तिः।' बलिः प्रगृह्य[5] भृङ्गारं[5]लूमाचाय[6]'द्विजाचार्य, प्रसार्यतां हस्तः' इत्युक्तवति[6] शुक्रः[7] संकल्पनमिव[8] कुलिशनिकेतनम्, प्रासादमिव कलशाह्लादम्, जलाशयमिव मत्स्याश्रयम्, सरिन्नाथमिव शङ्खसनाथम्, विरहिणीवासरगणनकुड्य[9]प्रदेशमिवोर्ध्वरेखावकाशम्, नारायणमिव चक्रलक्षणम्, यज्ञोपकरणमिव यवाधिकरणम्,[10] जलयानपात्रमिव[11] निश्छिद्रतामत्रम्,[12] स्तम्बेरमकरमिव दीर्घाङ्गुलिप्रसरम्, वंशकि[13]शलयमिवानुपूर्वीप्रवृत्तपर्वसंचयम्, कमलकोशमिवारुणप्रकाशनिवेशम्, विद्रुमभङ्ग[14]मोग-

बाद में वह यज्ञ-मण्डप से बाहर आया और इस श्रेष्ठ ब्राह्मण से, जिसकी आश्चर्य-जनक मनोज्ञता उसकी उम्र व शरीर के वामनाकार से निश्चित की गई थी, बोला—

'हे विद्वन्! किस इष्ट वस्तु की इच्छा चित्त में स्थापित करके यह वेद पाठ करते हो?'

हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ बलि! 'मेरा गृह कुटुम्बी जनों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाने से अपनी कुटी बनाने के लिए केवल तीन पैर के प्रमाण से मनोज्ञ पृथिवी के लिए वेदपाठ करता हूँ।

बलि—'द्विजोत्तम! मैंने तुम्हें इच्छानुसार तीन पैर जमीन दे दी।'

द्विजोत्तम—'हे माननीय यजमान! जल-धारा से मनोज्ञ प्रवृत्ति वाला दान कीजिए।

एक बड़ी झारी [हाथ में] लेकर बलि—'द्विजाचार्य! हाथ फैलाइए।'

ऐसा बलि के कहने पर शुक्राचार्य ने उसका ऐसा हाथ देखकर, बलि से कहा—जो वैसा कुलिश-निकेतन (वज्र के चिह्न वाला) है, जैसे इन्द्र कुलिश-निकेतन (वज्र का धारक) होता है। जो उस भाँति कलश-आह्लाद—कलश के चिह्न से आनन्द प्रद है, जिस भाँति महल कलश-आह्लाद—कलशों से आनन्द दायक होता है। जो वैसा मत्स्य-आश्रय (मछली के चिह्न से अलङ्कृत) है जैसे तालाब मत्स्य-आश्रय (मछलियों का आवास-स्थान) होता है। जो वैसा शङ्ख-सनाथ (शङ्ख के चिह्न सहित) है जैसे समुद्र शङ्ख-सनाथ शङ्खों से व्याप्त) होता है। जो वैसा ऊर्ध्व रेखा-युक्त है जैसे विरहिणी स्त्री के द्वारा पति के वियोग के दिनों की गिनती करने के लिए भित्ति देश खींची गई रेखाओं का स्थान होता है। जो वैसा चक्रलक्षण (चक्र-चिह्न से सुशोभित) है जैसे विष्णु चक्रलक्षण (सुदर्शन चक्रधारी) होता है। जो वैसा यवाधिकरण (अँगूठे में जौ के चिह्न का, जो कि कीर्ति का चिह्न है, आधार) है जैसे यज्ञ के उपकरण यव-अधिकरण (जौ अन्न के आधार) होते हैं। जो वैसा निश्छिद्रता-अमत्र (संलग्न कर की अङ्गुलियों वाला), है जैसा जहाज निश्छिद्रता-अमत्र (छिद्रों से रहित का स्थान) होता है। जो वैसा दीर्घ-अङ्गुलि-प्रसर (लम्बी व विस्तृत अङ्गुलियों वाला) है जैसे हाथी की सूँड़ दीर्घ-अङ्गुलि प्रसर (लम्बी नोंक से विस्तृत) होती है। जो वैसा आनुपूर्वी प्रवृत्त-पर्व-संचय है, अर्थात् क्रमपूर्वक प्रवृत्त होने वाले पर्व-(गाँठे) समूह से सुशोभित है जिस प्रकार बाँस के नये पत्ते आनुपूर्वी प्रवृत्त पर्व संचयशाली—पर्व और गाँठोंवाले-होते हैं। जो वैसा अरुण-प्रकाश-निवेश (संध्याकालीन आकाश की लालिमा वाला) है जैसे कमल का कोश अरुण-प्रकाश-निवेश (सूर्य के प्रकाश का स्थान) होता है। जिसके नाखूनों का अग्रभाग वैसा स्निग्ध-पाटल (चमकीला

१. 'दानशालायाः' इति टि० ख०। 'सत्रं यज्ञमण्डपः' इति पञ्जिकाकारः। 'यज्ञमण्डपात्' इति टि० च०। २. प्राध्ययनं कुरुषे। ३. मनोज्ञं। ४ मनोज्ञप्रवृत्तिः। ५. भृंगारं झारीं। ६. सति बलौ, अग्रे वक्ष्यमाणं ब्रूते। ७. मन्त्री। ८. इन्द्रं। ९. भित्तिदेशं। १०. अंगुष्ठे यवं यशश्चिह्नं। ११ पोत। १२. संलग्नकराङ्गुलिम्। १३. अङ्कुरं। १४. रचनाविस्तार।

मिव स्निग्धपाटलमवरागं लक्ष्मीलताविर्भावोदयं [1]शमयमुपलक्ष्य मन्ये, न खल्वयमेवंविधपाणितलसंबंधो नीचः[2] परेषां याचिता किन्तु याच्यः[3] इति वचनवक्रं शुक्रमवगणय्य बलिः स्वकीयां दत्तिमुदकधारोत्तरामकार्षीत् ।

तदनु स विष्णुमुनिर्विरोचनविरोकनिकर[4] इवाक्रमेणोर्ध्वमधश्चा[5]मर्यादवृद्धिपरः पर्वतस्योभयतः प्रवृत्तापगाप्रवाह इव[6] तिरःप्रसरद्देहः, [7]कायचरमैकमकूपारवज्रवेदिकायां निधायापरं च क्रमं [8]चक्रवालचूलिकायां पुनस्तृतीयस्य मेदिनीमलभमानस्तपन[9]रथस्खलनसेतुना [10]सुरसरित्तुरी[11]प्रस्रोतोहेतुना संगावितांविषधसुन्दरीभ्य[12]रणमार्गविभ्रमेण[13] समापदितखेचरीचेतःसंभ्रमेण भूगोलगौरवपरिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन चरणेन क्षोभितान्तरिक्षचरपुरकः किन्नरामरखेचरचारणादिवृन्दैर्वन्द्यमानपादारविन्दः संयतजनोपकारसारः स्वकीयर्द्धिवृद्धिपरितोषितमनोभिर्व्यन्तरैरनिमित्तकारणखलतालताश्रयावनि[14] बलिं सबान्धवमबन्धयत् । प्रापयच्च सदेहं रसातलगेहम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे । बलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलः ॥२२५॥

और लाली लिए हुए है जैसे मूँगों की रचना का विस्तार सचिक्कण व लालिमा-युक्त होता है एवं जिसमें लक्ष्मी (शोभा) रूपी लता की अभिव्यक्ति का उद्गम है। 'बलि ! निस्सन्देह ऐसा हस्ततल शाली मानव दूसरों से याचना करनेवाला नहीं हो सकता, किन्तु दूसरों के द्वारा याचना-योग्य होता है।'

इस प्रकार वक्रोक्ति पूर्वक बोलने वाले शुक्र मन्त्री को तिरस्कृत करके बलि ने अपना दान, जलधारा से मनोज्ञ किया।

इसके बाद विष्णु मुनि सूर्य की किरण-समूह सरीखे अपना शरीर एकदम से बेमर्याद ऊपर नीचे वृद्धिगत करने में तत्पर हुए और वे वैसा अपना शरीर तिरछे रूप से फैलाने वाले हुए, जैसे पर्वत के दोनों पार्श्व भागों पर प्रवाहित होने वाली नदी का प्रवाह तिरछे रूप से फैलता है। उन्होंने एक पैर फैलाकर समुद्र की वज्रमयी वेदिका पर स्थापित किया और दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत की चोटी पर स्थापित किया और तीसरे पैर को रखने के लिए जगह न मिलने से उसने उससे विद्याधरों के नगरों के गृह क्षुब्ध किये। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—सूर्य के रथ को रोकने के लिए पुल ही है। जो गंगा नदी की चौथी धारा के उत्पन्न करने में कारण है। जो देव-सुन्दरियों के नगर-समूह की भ्रान्ति को उत्पन्न करनेवाला है और जो विद्याधरियों के चित्त में भय उत्पन्न करनेवाला है एवं जो भूमण्डल की गुरुता—भारीपन-का निश्चय करने के लिए तराजू-सरीखा है। इससे किन्नरदेव, विद्याधर व चारण-आदि के समूह ने आकर उनके चरणकमलों की वन्दना की। वह संयमी जनों का उपकार करने से उत्तम था उसने अपनी विक्रिया ऋद्धि की वृद्धि से सन्तुष्ट बुद्धिवाले व्यन्तरदेवों ने स्वाभाविक दुष्टतारूपी लता के आश्रय के लिए भूमि-सरीखे बलि को उसके बन्धुजनों सहित बाँध लिया और उसे शरीर-सहित रसातल में पहुँचा दिया।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—संयमी जनों से वात्सल्य (प्रेम) करनेवाले व महापद्म राजा के पुत्र विष्णुकुमार मुनि ने हस्तिनागपुर नामक नगर में बलि ब्राह्मण द्वारा मुनियों पर किया हुआ उपसर्ग निवारण किया ॥ २२५ ॥

---

१. हस्तं । २. पुरुषः । ३. अन्यैर्याचनीयः । ४. सूर्यकिरण । ५. अमर्याद । ६. तिरिछु । ७. चरणं । ८. मानुषोत्तरगिरौ । ९. सूर्य । १०. गंगा किल त्रिपथगा । ११. चतुर्थ । १२. नगरसमूह । १३. भ्रान्तिना । १४. भूमि ।

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यप्रवचनो नाम विंशतितमः कल्पः ।

[1]निसर्गोऽधिगमो[2] वापि तदाप्तौ[3] कारणद्वयम् । सम्यक्त्वभाक्पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥२२६॥

उक्तं च—आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः[4] । सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥२२७॥

एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य [5]तन्निदा[6]नद्रव्यक्षेत्रकालभावभ*वसंपत्सेव्यस्य विधूतत[7]त्प्रतिबन्धकान्धकारसंबन्धस्याक्षि[8]प्तशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणानुबन्धस्य[9] नवस्य भाजनस्येवासंजातदुर्वासनागन्धस्य[10] झटिति यथावस्थितवस्तुस्वरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिदर्पणसगन्धस्य[11] पूर्वभवसंभालनेन वा वेदनानुभवनेन वा [12]धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिनिधिनिध्यानेन[13] वा महामहोत्सवनिहालनेन[14] वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यवाहनेन[15] वा नृषु नाकिषु[16] वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावनेन[17] वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पदं खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु [18]याथात्म्यसमवधानं श्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्तुः[19] सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालयः

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वात्सल्य अङ्ग का प्रवचन करनेवाला बीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ।

अब सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हैं—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दो कारणों से होती है। १. निसर्ग (परोपदेश के बिना स्वभाव) से होती है और दूसरा अधिगम (परोपदेश) से होती है। क्योंकि किसी पुरुष को अल्प प्रयत्न करने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और किसी को प्रचुर प्रयत्न करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ॥ २२६ ॥

कहा भी है—सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण निकट भव्यता, दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय व क्षयोपसम, संज्ञीपन और शुद्ध परिणाम हैं तथा बाह्य कारण उपदेश और जाति स्मरण व जिनबिम्ब-दर्शन-आदि हैं ॥ २२७ ॥

अभिप्राय यह है—ऐसे किसी निकट भव्यजीव को, जो कि सम्यक्त्व के कारण योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की उत्पत्तिरूपी लक्ष्मी से सेवनीय है, जिसने सम्यक्त्व की उत्पत्ति में रुकावट डालनेवाले कर्मरूपी (दर्शन मोहनीय) अन्धकार का संबंध नष्ट कर दिया है। जिसने ऐसा संज्ञी पंचेन्द्रियपन प्राप्त किया है, जो शिक्षा, क्रिया व वार्तालाप करने में निपुण है। जिसमें नये वर्तन की तरह दुर्वासना का संबंध उत्पन्न नहीं हुआ है और जो शीघ्र यथार्थ वस्तु-स्वरूप के संक्रमण में कारण होने से स्फटिक मणि के दर्पण-सरीखा है, पूर्वभव के स्मरण से, कष्टों के अनुभव से, धर्म शास्त्र के सुनने से, जिनबिम्ब के दर्शन से, महामहोत्सवों के देखने से और महाऋद्धिधारी आचार्यों के दर्शन से एवं मनुष्यों में और देवों में सम्यक्त्व के माहात्म्य से उत्पन्न हुए ऐश्वर्य के दर्शन से अथवा अन्य किसी कारण से विचाररूपी बगीचों में मन की क्रीड़ा का स्थान खेद प्राप्त न करके जब जीवादि मोक्षोपयोगी तत्वों में यथोक्त परिज्ञान वाला श्रद्धान उत्पन्न होता है तो उस सम्यक्त्व को 'निसर्गज' सम्यग्दर्शन कहते हैं। तब सम्यग्दर्शन का व्यवहार करनेवाले निकट भव्यात्मा द्वारा सुलभता पूर्वक प्राप्त होजाने से यह निसर्गज सम्यग्दर्शन वैसा कहा जाता है, जैसे धान्य काटने वाले कृषक द्वारा सुल-

१. स्वभावः । २ आक्षेपः । ३. सम्यक्त्वप्राप्तौ । ४. आभ्यन्तरकारणं । ५ सम्यक्त्व । ६. कारण । *. उत्पत्ति । ७. सम्यक्त्व । ८. गृहीत । ९. पंचेन्द्रियमनःसंबंधस्य । १०. संबंधस्य । ११. समानस्य । १२. श्रवणं श्रुतं, धर्मशास्त्राकर्णनेन, मूलाचारश्रावकाचारश्रवणेनेत्यर्थः । १३. प्रतिमावलोकनेन । १४. दर्शनेन । १५. दर्शनेन । अत्र पञ्जिकाकारः प्राह—निध्यानं निहालनं, वाहनं दर्शनं च । इल विशोधने वहु परिकलने अनयोः रूपमिदं । १६. देवेषु । १७. अवलोकनेन । १८. यथोक्तपरिज्ञानं । १९. उपदेशकस्य ।

स्वयमेव, विनीयन्ते[1] कुशलाशयाः स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निसर्गात् संजातमित्युच्यते। यदा [2]श्वभ्युत्पत्तिसंशीतिविपर्यस्तितमधिकबोधस्यापि [3]श्रुति[4]युक्ति[5]सूक्तिसंबन्धसविधस्य[6] प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु समस्तेष्वपि तिद्धान्तेषु[7] [8]परीक्षोपक्षेपादतिविलश्य[9] निःशेषदुराशानिशाविनाशनांशुम[10]न्मरीचिचिरेण तत्त्वेषु रुचिः संजायते, तदा [11]विभ्रदुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो [12]हारो ममेवं संपादितं रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते। उक्तं च—

> अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥२२८॥
>
> त्रिविधं त्रिविधं दशविधमाहुः सम्यक्त्वमात्महितमतयः। तत्त्वश्रद्धानविधिः सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥२२९॥
>
> [13]सरागवीत[14]रागात्मविषयत्वाद्द्विधा स्मृतम्। प्रशमादिगुणं पूर्वं परं चात्मविशुद्धिभाक्[15] ॥२३०॥

भता पूर्वक काटी जा रहीं धान्यों के प्रति यह कहा जाता है, कि ये धान्य स्वयं ही काटीं जा रहीं हैं और जैसे कुशल बुद्धिशाली शिष्य स्वयं शिक्षा प्राप्त करते हैं।

जब निकट भव्य को, जिसकी बुद्धि अनध्यवसाय, संशय व विपर्यय रूप मिथ्याज्ञान से आच्छादित है परन्तु जो श्रद्धा, नय, प्रमाण व सिद्धान्त शास्त्र के वेत्ता गुरु के निकटवर्ती है, जो ऐसे समस्त सिद्धान्त शास्त्रों की परीक्षा के आग्रह से, जो कि प्रमाण, नय, निक्षेप व चारों अनुयोगों के उपयोग द्वारा अवगाहन करने योग्य हैं, कष्ट उठाकर समझाया जाता है, उसे जो चिरकाल के पश्चात् समस्त दुराशारूपी रात्रि को नष्ट करने के लिए सूर्य की किरण-सरीखी तत्वरुचि उत्पन्न होती है, उसे 'अधिगमज' सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्योंकि उसमें तत्वोपदेशक का कष्ट कारण है। उसे वैसा अधिगमज कहते हैं, जैसे हार बनाने वाला कहता है, कि यह तन्तुओं में गूँथा हुआ हार मैंने बनाया है। अथवा मैंने यह रत्न-खचित आभूषण बनाया है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने देवागम स्तोत्र में कहा है कि जब मानव को बुद्धिपूर्वक प्रयत्न किये बिना ही (बिना पुरुषार्थ किए) अतर्कितोपस्थित न्याय से (अचानक) सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें उसके भाग्याधीन समझने चाहिए। अर्थात्—उनमें उसका पूर्वजन्म में किया हुआ पुण्य-पाप कर्म ही कारण है और जब उसे ऐसे सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, जिनमें पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है उनमें उसका पुरुषार्थ कारण है। प्राकरणिक अभिप्राय यह है जब मुमुक्षु मानव में, ऐसा सम्यक्त्व प्रकट होता है, जिसमें परोपदेश की अपेक्षा नहीं होती उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। और जिसमें परोपदेश (देशनालब्धि) की अपेक्षा होती है, उसे अधिगमज कहते हैं ॥ २२८ ॥

सम्यग्दर्शन के भेद और उसके कार्य—आत्म-कल्याण में बुद्धि रखनेवाले आचार्यों ने सम्यक्त्व के दो, तीन और दश भेद कहे हैं। इन सभी भेदों में तत्वों की श्रद्धा करना समान रूप से पाई जाती है ॥ २२९ ॥

सराग जीव में (चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों में) पाये जाने वाले तत्त्वश्रद्धान को सराग सम्यक्त्व कहते हैं और वीतराग आत्मा में (बारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान वर्ती अयोगीजिन में) पाये जाने वाले तत्त्वश्रद्धान को वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ये दो भेद समझने चाहिए। उनमें पहला सराग सम्यक्त्व प्रशम, संवेग व अनुकम्पा-आदि चार

---

१. शिक्ष्यन्ते। २. उपदेशकस्य। ३. श्रद्धा। ४. नयप्रमाणं। ५. सिद्धान्त। ६. समीपस्य उपदेष्टुः। ७. सिद्धान्तेषु। ८. 'आग्रहात्' टि० (ख०), 'प्रश्नस्यावलोकनात्' टि० (च०)। ९. क्लेशं कृत्वा संबोध्यते। १०. रविः। ११. उपदेशकस्य। १२. सूत्रमनुसरति यो हारः, सूत्रमयादिः प्रलवगादिवक्लेषा-सहितः। १३. एकादशगुणस्थानपर्यन्तं सरागं। १४ द्वादशादि वीतरागं। १५. क्षपकश्रेणौ वीतरागं।

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यङ्गनाजनाङ्गसंयोगेनापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यविलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतुं शक्यते, तथात्मस्वभावतयातिसूक्ष्मत्वमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेक-[1]वाक्यैः राकलयितुं[2] शक्यम् । तत्र—

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम्[3] । तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥ २३१ ॥

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्[4] भवात्[5] । स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेगमुच्यते ॥ २३२ ॥

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं[6] दयालवः । धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥ २३३ ॥

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतम् । आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं [7]मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥ २३४ ॥

रागद्वेषपरे नित्यं निर्व्रते निर्दयात्मनि । संसारो दीर्घसारः[8] स्यान्नरे नास्तिकनीतिके[9] ॥ २३५ ॥

कर्मणां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमतस्तथा । श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं [10]गतौ सर्वत्र[11] जन्तुषु ॥ २३६ ॥

गुणों से युक्त होता है और केवल आत्मविशुद्धि-युक्त क्षपकश्रेणी में वर्तमान सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं [उक्त अभिप्राय टिप्पणीकार का है] ॥२३०॥

जैसे पुरुष की पुरुषत्व शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय (चक्षु-आदि इन्द्रियों द्वारा जानने के लिए अशक्य) है तथापि स्त्रीजनों के साथ रतिविलास करने से, सन्तान के उत्पादन से और विपत्ति में धैर्य के धारण करने से अथवा प्रारम्भ किये हुए कार्य को समाप्त करना-आदि कार्यों से अनुमान प्रमाण द्वारा उसकी शक्ति का निश्चय किया जाता है वैसे ही सम्यक्त्वरूपी रत्न भी यद्यपि आत्म-स्वभाव होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि अव्यभिचारी (निर्दोष) प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यरूप चिन्हों से उसका निश्चय किया जाता है।

विद्वानों ने राग-आदि दोषों से मनोवृत्ति के निवारण (हटाने) को प्रशम गुण कहा है, जो कि समस्त व्रतों का आभूषण है। क्योंकि इसके बिना व्रत निरर्थक हैं ॥२३१॥ शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुःखों को उत्पन्न करने वाले और स्वप्न व इन्द्रजाल-सरीखे संसार से भयभीत होने को 'संवेग' गुण कहा है ॥२३२॥ समस्त प्राणियों में मनोवृत्ति को दयालुता से सरस रखने को दयालु विद्वान् अनुकम्पा कहते हैं, जो कि धर्म-रूपी वृक्ष की उत्कृष्ट जड़ है ॥२३३॥ आस्तिक आचार्यों ने आप्त (वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्कर), द्वादशाङ्ग शास्त्र, व्रत (अहिंसा-आदि) और जीवादितत्त्व इन पदार्थों के विषय में 'ये मौजूद हैं' इस प्रकार की इनकी मौजूदगी स्वीकार करने वाली चित्तवृत्ति को 'आस्तिक्य' कहा है। वह प्रशस्त गुण मुक्ति श्री के साथ संयोग रखने वाले (मुक्तिगामी) मानव में ही पाया जाता है ॥२३४॥ जो [मिथ्यादृष्टि] मानव सदा रागी व द्वेषी है, न कभी व्रत-धारण करता है और जिसकी आत्मा निर्दयी है एवं जो नास्तिक मत को मानता है, उसका संसार दीर्घ भ्रमण वाला हो जाता है। ॥२३५॥ अभिप्राय यह है कि ऊपर कहे हुए प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये प्रशस्त गुण यथार्थरूप से सम्यग्दृष्टि में ही पाये जाते हैं, मिथ्यादृष्टियों में ये नकली होते हैं। राग, द्वेष, काम व क्रोधादि विकृत भावों का उदय न होने देना प्रशम गुण है। यह संसार बुखार व गलगण्डादि शारीरिक दुःखों एवं काम क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःखों एवं अति-वृष्टि, अनावृष्टि-आदि आगन्तुक कष्टों से व्याप्त है, इससे सदा डरते रहने को संवेग कहते हैं। इसी प्रकार दयालुता और आस्तिकता ये गुण अनन्तानुबंधि कषाय चतुष्टय व मिथ्यात्व के अभाव हो जाने पर सम्यग्दृष्टि में ही पाये जाते हैं। इन गुणों से सराग सम्यक्त्व का

---

१. अव्यभिचारैः। २. परिज्ञातुं। ३. 'निवारणं' टि० (ख०)। 'निरसनं' पञ्जिकाकारः। ४. उत्पादकात्। ५. संसाराद्भीतिः। ६. सरसता। ७. मोक्षसंयोगधरे, मुक्तिगामिनि। ८. भ्रमणः। ९. शास्त्रे। १०. ११. चतसृषु गतिषु सर्वासु।

दशविधं तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् । विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं[1] च ॥ २३७ ॥

अस्यायमर्थः—भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञासंज्ञा[2] आज्ञा, रत्नत्रयविचारसर्गो मार्गः, पुराणपुरुषचरित-श्रवणाभिनिवेश[3] उपदेशः, यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं[4] सूत्रम्, सकलसमयदल[5]सूचनाव्याजं बीजम्, आप्तश्रुतव्रत-पदार्थ[6]समासालापाक्षेपः संक्षेपः, द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवचनविषये [7]स्व-प्रत्ययसमर्थोऽर्थः, त्रिविध*स्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशाव[8]गाहालीढमवगाढम्, अवधिमनःपर्ययकेवलाधिकपुरुष-प्रत्ययप्ररूढं[9] परमावगाढम् ।

निश्चय होता है। परन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धि रूप ही है, जो कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है।

[अब सम्यग्दर्शन के तीन भेदों का कथन करते हैं—]

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जो सम्यग्दर्शन, अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं और जो इन सात प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो इनके क्षयोपशम से होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। ये तीनों सम्यग्दर्शन चारों नरकादि गतियों में पाये जाते हैं ॥ २३६ ॥

[अब सम्यग्दर्शन के दश भेदों का निरूपण करते हैं—]

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व ये सम्यग्दर्शन के दश भेद हैं ॥ २३७ ॥

इसका स्वरूप यह है—जिस तत्वश्रद्धा में भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा रचे हुए आगम की आज्ञा को स्वीकार करने से उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान पाया जाता है, उसे 'आज्ञासम्यक्त्व' कहते हैं। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के विचार से प्रकट होने वाले तत्त्वश्रद्धान को 'मार्ग सम्यक्त्व' कहते हैं। तिरेसठ शलाका में विभक्त तीर्थङ्करादि पुराण पुरुषों के चरित्र को श्रवण करने से उत्पन्न होने वाले श्रद्धाविशेष को उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं। साधुजनों के महाव्रत-आदि आचार को निरूपण करने के भाजनप्राय आचाराङ्ग सूत्र के श्रवण से उत्पन्न हुए तत्त्वश्रद्धान को सूत्रसम्यक्त्व कहा है। समस्त शास्त्रों के समूह की सूचना का लक्ष्य बीज पद है और उसके आधार से प्रकट होने वाली तत्त्वरुचि को 'बीज सम्यक्त्व' कहते हैं। आप्त, श्रुत, व्रत व पदार्थों के स्वरूप वर्णन से उत्पन्न होने वाली तत्त्वश्रद्धा को संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं। बारह अङ्ग, चौदह पूर्व और सामायिक-आदि प्रकीर्णक आगमों के अर्थ का समर्थन सुनकर प्रकट होने वाली विस्तृत तत्त्वरुचि को विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं।

आगमके विषयों को श्रवण करके उत्पन्न हुए आत्मश्रद्धान में समर्थ तत्त्वश्रद्धान को अर्थसम्यक्त्व कहते

१. अवगाढं परमावगाढं । २. आदेशस्तथेति । ३. अभिप्रायः । ४. भाजनप्रायं । ५. समूह । ६. स्वरूप । ७. आत्मनि आत्मनो वा विश्वासः । *. द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकभेदेन । ८. 'पूर्णं त्रिविधागममवगाह्योत्पद्यते यत् सम्यक्त्वं तदवगाढं' इति टि० (ख०)। 'त्रिविधागममध्येऽन्यतमावगाहेनोत्पद्यते एवं न, किन्तु परिपूर्णं त्रिविधागममवगाह्योत्पद्यते यत्सम्यक्त्वं तदवगाढं इति टि० (च०)। ९. विश्वासेनोत्पन्नं ।

गृहस्थो वा यतिर्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रयः । [1]एकादशविधः पूर्वस्तत्र परश्च चतुर्विधः[2] ॥२३८॥
मायानिदानमिथ्यात्वशल्यत्रितयमुद्धरेत् । [3]आर्जवाकाङ्क्षणाभावतत्त्वभावनकीलकैः[4] ॥२३९॥
[5]दृष्टिहीनः पुमानेति न यथा पदमीप्सितम् । दृष्टिहीनः पुमानेति न तथा पदमीप्सितम् ॥२४०॥
सम्यक्त्वं नाङ्गहीनं स्याद्राज्यवत्प्राज्यभूतये । [6]ततस्तदङ्गसंगत्यामङ्गी निःसङ्गमीहताम् ॥२४१॥

है। अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक इन तीनों आगमों के पूरी तरह से अवगाहन करने पर उत्पन्न होने वाली गाढ़-श्रद्धा को अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। टिप्पणीकार ने भी यही लिखा है और अवधिज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी व केवलज्ञानी पूज्य महापुरुषों के विश्वास से उत्पन्न होने वाले प्रगाढ़ तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं।

भावार्थ—इन सभी सम्यग्दर्शनों में अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है, क्योंकि इसके बिना सम्यक्त्व होना अशक्य है। इनमें दर्शनमोह के उपशम से होनेवाले सम्यक्त्व को औप-शमिक व क्षय से प्रकट होनेवाले सम्यग्दर्शन को क्षायिक और दर्शनमोह के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक कहते हैं। परन्तु उक्त भेद बाह्य निमित्तों को आधार बनाकर किये गए हैं।

गृहस्थ श्रावक हो अथवा मुनि, परन्तु उसका सम्यग्दृष्टि होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि सम्य-क्त्व के बिना न कोई श्रावक कहा जा सका है और न मुनि। गृहस्थ के ग्यारह भेद हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं और मुनि के ऋषि, यति, मुनि व अनगार ये चार भेद हैं॥ २३८॥ व्रतों को सरलता-रूपी कीले के द्वारा मायारूपी काँटा निकालना चाहिए। भोग-तृष्णा के त्यागरूपी कीले के द्वारा निदानरूपी काँटे का उन्मूलन करना चाहिए और तत्त्वों की भावना (सम्यक्त्व) रूपी कीले के द्वारा मिथ्यात्वरूपी काँटे को निकालना चाहिए।

भावार्थ—सूत्रकार उमास्वामी ने भी (निःशल्यो व्रती) इस सूत्र द्वारा बतलाया है, कि माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्यें (काँटे) हैं, इनका उन्मूलन करके अहिंसादि व्रतों का धारक व्रती कहा जा सकता है। इससे यह बात जान लेनी चाहिए, कि 'केवल अहिंसादि व्रतों को धारण करनेवाला व्रती नहीं हो सकता। अन्यथा द्रव्यलिङ्गी मुनि को भी, जो कि मिथ्यात्व-आदि तीन शल्यों के होने से पहले गुणस्थान वाला मिथ्यादृष्टि है, व्रती कहा जायगा। इसलिए निःशल्य होकर व्रतों के पालन से व्रती कहा जायगा। इसी प्रकार केवल निःशल्य भी व्रत धारण न करने पर व्रती नहीं कहा जा सकता, अन्यथा चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि भी निःशल्य होने के कारण व्रती माना जायगा।' उक्त बात हमने श्रीमत्पूज्य विद्यानन्दि आचार्य के 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' के आधार से लिखी है॥ २३९॥*

जैसे दृष्टि—नेत्रों से हीन (अन्धा पुरुष) अपने इच्छित स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता वैसे ही दृष्टि (सम्यक्त्व) से हीन (मिथ्यादृष्टि) मानव भी अपना अभिलषित स्थान (मुक्ति) का लाभ नहीं कर सकता॥ २४०॥ पहले कहे हुए निःशङ्कित-आदि आठ सम्यक्त्व के अङ्गों के बिना सम्यग्दर्शन वैसा विशिष्ट विभूति (स्वर्ग व मुक्ति श्री) देने वाला नहीं होता जैसे मन्त्री व सेनापति आदि राज्य के अङ्गों के

१. मूलव्रतं व्रतान्यर्चा—इत्यादिभेदेन। २. ऋषि-यति-मुन्यनगारभेदेन। ३. यथासंख्येन। ४. शङ्कुभिः कृत्वा। ५. नेत्र।
६. अष्टाङ्गपूर्णतायां सत्यां प्राणीनिःसङ्गं चारित्रं वाञ्छतु।

*. देखिए 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' अ० ७, सूत्र १८ की अन्तिम २ लकीरें।

विद्याविभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः । न हि बीजव्यपायेऽस्ति [1]सस्यसंपत्तिरङ्गिनि ॥२४२॥
चक्रिश्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीर्दर्शनोत्सुका । तस्य दूरे न मुक्तिश्रीर्निर्दोषं यस्य दर्शनम् ॥२४३॥
[2]मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि[3] षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥२४४॥
निश्चयोचितचारित्रः[4] सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः । अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः[5] ॥२४५॥
बहिः क्रिया[6] बहिःकर्म[7] कारणं केवलं भवेत् । रत्नत्रयसमृद्धेः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मकः ॥२४६॥
[8]विशुद्धवस्तुबोधे दृष्टिर्बोधः [9]साकारगोचरः । [10]अप्रसङ्गस्तयोर्वृत्तं [11]भूतार्थनयवादिनाम् ॥२४७॥

बिना राज्य विशेष समृद्धिशाली नहीं हो सकता। इसलिए जब सम्यक्त्व के आठों अङ्गों की परिपूर्णता हो जाय तब मुमुक्षु श्रावक निःसङ्ग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हो जाने का इच्छुक होवे ॥ २४१ ॥

जिस प्रकार किसान को धान्य के बीजों के बिना धान्य-सम्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष को भी सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान, राज्य-विभूति और लावण्य-सम्पत्ति कैसे हो सकती है? ॥२४२॥ जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्ती की विभूति उसका आलिङ्गन करने के लिए उत्कण्ठित रहती है और देवों की विभूति उसके दर्शन करने के लिए लालायित रहती है, अधिक क्या मुक्ति लक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥ २४३ ॥

[अब सम्यग्दर्शन के दोषों का निरूपण करते हैं—]

तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शङ्का—वगैरह, ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं।

भावार्थ—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ हैं। जाति, पूजा, कुल, ज्ञान, रूप, सम्पत्ति, तप व बल का मद करना ये आठ मद हैं। कुदेव और उसका मन्दिर, कुशास्त्र व कुशास्त्र के धारक, कुतप व कुतप के धारक ये छह अनायतन हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों के उल्टे शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा-आदि आठ दोष हैं। ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं। जिसने इन दोषों का त्याग किया है, उसका सम्यग्दर्शन निर्दोष कहा जाता है ॥ २४४ ॥

मोक्षमार्गी कौन है ?

तत्त्वों का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि मानव, जो कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए योग्य चारित्र का धारक है, अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र का धारक है, व्रत-धारण न करता हुआ भी मुक्ति के मार्ग में स्थित है, किन्तु व्रतों का पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शन से रहित (मिथ्यादृष्टि) है, वह मुक्ति के मार्ग में स्थित नहीं है ॥२४५॥ बाह्यक्रिया (बाह्य ज्ञान व चारित्रादि) और बाह्यकर्म (देवपूजा-आदि में शारीरिक कष्ट-सहन-आदि) तो रत्नत्रय की उन्नति में केवल निमित्त मात्र हैं, किन्तु रत्नत्रय की समृद्धि का प्रधान कारण (उपादान कारण) तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमय आत्मा ही है ॥ २४६ ॥

निश्चयनय के वेत्ता आचार्यों के मत में, अर्थात्—निश्चय नय की दृष्टि से विशुद्ध आत्मस्वरूप में रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है। एवं विशुद्ध आत्मस्वरूप को विकल्प रूप से यथार्थ जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के विषय में भेद बुद्धि न करके एक रूप होना, अर्थात्—आत्मस्वरूप में लवलीन होना

१. धान्यसम्पत्तिः। २. मूढत्रयस्य मदानां च विकल्पं कविः स्वयमेवोत्तरत्र वक्ष्यति। ३. अनायतनानि षट्, कुदेवतदालयतदागम—तद्धर्माः। ४. अव्रतोऽपि योग्यचारित्रः। ५. मुक्तिस्थो न स्यात्। ६. बाह्यज्ञानचारित्रादि। ७. शरीरक्लेशलक्षणं। ८. आत्मस्वरूपे रुचिर्निश्चयसम्यक्त्वं। ९. आत्मपरिज्ञानं। १०. तयोर्दृग्बोधयोर्विषये अप्रसङ्गः अभेदः एकलोलीभावः निश्चयचारित्रं। ११. निश्चयनयज्ञानिनाम्।

[1]अक्षाज्ज्ञानं [2]रुचिर्मोहाद्देहादवृत्तं[3] च नास्ति यत्। आत्मन्यस्मिन्विशाभूते तस्मादात्मैव तत्त्रयम्[4] ॥२४८॥
नात्मा कर्म न कर्मात्मा [5]तयोर्यन्महदन्तरम्[6]। तदात्मैव तदा [7]सत्ता* आत्मा व्योमेव केवलम् ॥२४९॥
क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि। नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं [8]वह्निसंश्रयम् ॥२५०॥
आत्मा कर्ता स्वपर्यायै[9] कर्म कर्तृ स्वपर्ययैः[10]। मिथो[11] न जातु कर्तृत्वमन्यत्रोपचारतः[12] ॥२५१॥
स्वतः सर्वं स्वभावेषु सक्रियं[13] सचराचरम्[14]। निमित्तमात्रमन्यत्र वारांतेरिव सारिणी[15] ॥२५२॥
जीवन्तु[16] वा म्रियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मतः। स्वं विशुद्धं [17]मनोऽहिंसन्हिंसकः पापभाग् भवेत् ॥२५३॥

निश्चय चारित्र है ॥२४७॥ इस आत्मा के मुक्त हो जाने पर न तो उसे इन्द्रियों या मन से ज्ञान होता है, न मोह से जन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है, अतः ज्ञान, दर्शन व चारित्र तीनों आत्मस्वरूप ही हैं।

भावार्थ—उक्त निरूपण निश्चय नय की दृष्टि से किया गया है, साथ में अमृतचन्द्राचार्य ने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ में कहा है कि व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता ही जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। अतः दोनों दृष्टि से वस्तु-विवेचन श्रेयस्कर है ॥ २४८ ॥

अब आत्मा और कर्म के संबंध को स्पष्ट करते हैं—

आत्मा कर्म नहीं है, अर्थात्—ज्ञानावरणादि रूप नहीं है और कर्म आत्मा नहीं है, अर्थात्—शुद्ध चैतन्यरूप नहीं है, आत्मा और कर्म में महान् भेद हैं, क्योंकि उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। अतः मुक्तावस्था में कर्म-रहित होने से केवल आत्मा की ही सत्ता है और वहाँ वह केवल शुद्ध आकाश की तरह अमूर्तिकरूप से स्थित है ॥ २४९ ॥ आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेश का कारण है। जैसे जल स्वयं उष्ण नहीं है, अर्थात् शीतल है किन्तु अग्नि के आश्रय से उसमें उष्णता आ जाती है ॥ २५० ॥ आत्मा अपनी पर्याय (सिद्ध-पर्याय या ज्ञानादि गुणों की पर्याय) का कर्ता है और कर्म अपनी पर्याय (टि० नर-नरकादि पर्याय) का कर्ता है। उपचार (व्यवहार) के सिवाय दोनों परस्पर में एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं, अर्थात्—उपचार से आत्मा को कर्म का कर्ता, और कर्म को आत्मा का कर्ता कहा जाता है, परन्तु वास्तव में दोनों अपनी-अपनी पर्यायों के ही कर्ता हैं ॥ २५१ ॥ छह द्रव्यों वाला समस्त चराचर लोक स्वयं अपने-अपने स्वभावों में क्रिया-सहित है, अर्थात् अपने-अपने स्वभावों का कर्ता है, दूसरी वस्तु तो उसमें निमित्तमात्र है। उदाहरण में—आत्मा अपनी सिद्धपर्याय का कर्ता है और कर्म अपनी कर्म पर्याय का कर्ता है, दूसरी वस्तु निमित्त मात्र है। जैसे जल में स्वयं प्रवाहित होने की शक्ति है परन्तु नदी उसके प्रवाहित होने में निमित्तमात्र है ॥ २५२ ॥

यहाँ शङ्का यह है जब जीव अपने अपने कर्मों के उदय से जीते व मरते हैं तो मारने में निमित्त हुए को हिंसा का पाप क्यों लगता है? अतः इसका समाधान करते हैं—

१. आत्मनि मोक्षं प्राप्ते सति अक्षात् पञ्चेन्द्रियात् ज्ञानं न भवति। २. मुक्तजीवे मोहनीयकर्मणः रुचिर्न किन्तु आत्मरुचिरेव। ३. शरीराच्चारित्रं न किन्तु आत्मन्येकलोलीभावश्चारित्रं। ४. दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं। ५. आत्मकर्मणोः। ६. भेदः। ७. आत्मनस्त्वे। *. 'वात्माव्योमेव केवलं' (ख०)। अत्र इदानीं केवलमात्मानमेव अङ्गीकृतः? एव निश्चयेन। ८. तस्य जलस्यौष्ण्यत्वं अग्नेर्भवति। ९. सिद्धपर्यायलक्षणे। १०. नरनरकादौ पर्याये कर्तृ। ११-१२. परस्परमात्मकर्मणोः कर्तृत्वं न, उपचाराद् व्यवहारादन्यत्र परस्परं कर्तृत्वं भवति न तु निश्चयात्। १३. निजस्वभावेषु क्रियासहितं, आत्मा आत्मानं सिद्धं करोति, कर्म कर्म करोति। १४. जगत्। १५. नीकजलगमनस्य।
१६. 'मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥'
१७. अशुद्धं मनः कुर्वन् पुमान् हिंसको भवति पापी च। 'स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् पूर्वं, प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात् स्याद्वा न वा वधः'। सर्वार्थ सिद्धि अ० ७ सूत्र १३ से संकलित —

शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपुः । [1]शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसकः ॥ २५४ ॥
पुण्यायापि[2] भवेद्दुःखं पापायापि भवेत्सुखम्[3] । स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचिन्त्यं चित्तचेष्टितम् ॥ २५५ ॥
[4]सुखदुःखविधातापि भवेत्पापसमाश्रयः । पट्टीमध्यविनिक्षिप्तं वासः स्यात्मलिनं न किम् ॥ २५६ ॥

ये प्राणी अपने-अपने कर्म के उदय से जीवें या मरें, किन्तु जो मानव अपना मन विशुद्ध (कषाय-रहित) करता है वह अहिंसक है और जो अपने मन को अशुद्ध (कषाय-युक्त) करता है, वह हिंसक और पापी है। जो शुद्ध मार्ग (सदाचार-मार्ग) में प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन व काय शुद्ध है एवं जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध (कषायभाव से कलुषित नहीं) है, वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है।

भावार्थ—अमृतचन्द्राचार्य अपने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'राग, द्वेष व मोहादि, दुर्वासनाओं को त्याग कर अपने भावों को विशुद्ध रखते हुए दूसरे प्राणियों की रक्षा करना या यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना अहिंसा है और इसके विपरीत आत्मिक सुख-शान्ति को भङ्ग करनेवाले रागादि दुर्भावों से अपने या दूसरों के प्राणों को घात करना या दिल दुखना हिंसा है। जो कषाय-वश यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता, उसके द्वारा चाहे जीव मरें अथवा न भी मरें तो भी वह हिंसा के पाप से बच नहीं सकता। ॥ २५३-२५४ ॥

स्वयं को या दूसरों को दुःख देने से पुण्य कर्म का भी बंध होता है और सुख देने से पाप कर्म का भी बंध होता है, क्योंकि मन की चेष्टाएँ चिन्तवन के लिए अशक्य हैं। अभिप्राय यह है कि यदि तपश्चर्या व कष्ट-सहन शुभ परिणामों से यथाविधि किये जाते हैं तो उससे पुण्य कर्म का बन्ध होता है, परन्तु यदि अशुभ-परिणामों से किये जाते हैं तो उनसे पाप-बन्ध ही होगा। इसी तरह शुभ परिणाम से दूसरों को दुःख देने से पुण्य बन्ध होता है और अशुभ परिणामों से दुःख देने से पापबन्ध होता है, क्योंकि मन की चेष्टाएँ अचिन्त्य होती हैं ॥ २५५ ॥

भावार्थ—जैनदर्शनकार समन्तभद्राचार्य[5] ने आप्तमीमांसा में इस विषय की विशद व्याख्या की है, उसे हम संकलित करते हैं—'कुछ लोगों की मान्यता है कि दूसरे प्राणी को दुःख देने से पाप-बन्ध ही होता है और सुख देने से पुण्य-बन्ध होता है।' परन्तु उक्त मान्यता सही नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो विष व शस्त्रादि दूसरों को दुःख देने में निमित्त हैं उन्हें पापबन्ध होना चाहिए एवं कषाय-रहित वीतराग दूसरे को सुख देने में निमित्त है उसे पुण्य बन्ध का प्रसङ्ग हो जायगा तो मुक्ति संघटित नहीं होगी। लोक में आपरेशन करने वाला डाक्टर भी बीमार को कष्ट देने में निमित है, तो उसे भी पापबन्ध का प्रसङ्ग हो जायगा ॥ १ ॥

कुछ लोगों की मान्यता है कि 'अपने को दुःख देने से पुण्यबन्ध होता है और सुख देने से पापबन्ध होता है।' ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से तो वीतराग विद्वान् मुनि को भी पुण्य-पापकर्मों को

१. धर्मे परिणतः सावद्यलेशो बहु अप्यत्रपि वचनात्। २. तपः कष्टादिकं तदपि विरुद्धमाचरितं कदाचित् पापाय भवति तेन एकान्तं नास्ति। ३. पापाय तदपि एकान्तं न। ४. परन्तु मनःप्रसारसहितः।

५. तथा च समन्तभद्राचार्यः—

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ १ ॥
पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ २ ॥
विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखं। पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः ॥ ३ ॥

आप्तमीमांसा से संकलित—सम्पादक

बहिष्कायसमर्थेऽपि हृदि[1] हृद्येव संस्थिते । परं [2]पापं परं पुण्यं[3] परमं च पदं[4] भवेत् ॥ २५७ ॥
अकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः । यो न चित्तप्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपदं कुतः ॥ २५८ ॥
यज्जानाति यथावस्थं वस्तु[5]सर्वस्वमञ्जसा । तृतीयं लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥ २५९ ॥
यष्टिवज्जनुषान्धस्य तत्स्यात्सुकृतचेतसः । प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्गं हिताहितविवेचनात् ॥ २६० ॥
मतिर्जागर्ति [6]दृष्टेऽर्थे दृष्टेऽदृष्टे तथागमः । अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मत्सरं[7] मनः ॥ २६१ ॥
यथार्थे वर्णितेऽपि स्याज्जन्तोः[8] संतमसा मतिः । ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा[9] रविरिपोरिव ॥ २६२ ॥

बन्ध करने का प्रसङ्ग हो जायगा । क्योंकि वह तपश्चर्या द्वारा अपने को दुःखी व ज्ञानाभ्यास द्वारा अपने को सुखी बनाता है तब मुक्ति किसे होगी ? ॥२॥ इसलिए जैनदर्शन बताता है कि पुण्य-पापबन्ध की व्यवस्था हमारे विशुद्ध व संक्लिष्ट परिणामों पर अवलम्बित है, इससे अपने लिए या दूसरों के लिए दिये हुए सुख व दुःख यदि क्रमशः शुभपरिणाम व अशुभ परिणाम पूर्वक हैं तब पुण्यबन्ध और पापबन्ध होता है, अर्थात्—यदि हम दूसरे प्राणी को कषाय-वश दुःख देते हैं तो हमें पापबन्ध ही होगा और यदि हम शुभ परिणामों से दूसरों को सुख देते हैं तो हमें पुण्यबन्ध ही होगा, यदि ऐसा नहीं है तो आपके मत में पुण्यास्रव या पापास्रव निष्फल हैं ॥ ३ ॥

चंचल मन वाला प्राणी दूसरों को सुख-दुःख न देता हुआ भी पापबंध करने वाला हो जाता है । क्या कपड़े की मञ्जूषा में रक्खा हुआ वस्त्र मलिन नहीं होता ? अर्थात्—वैसे ही भोगों की ओर दौड़ता हुआ मन भी क्या अशुभ ध्यान के कारण मलिन होकर पापबंध करने वाला नहीं होता ? ॥ २५६ ॥ शरीरादि से हिंसा व परोपकार-आदि अशुद्ध व शुद्ध कार्य करने में असमर्थ होने पर भी, यदि चित्त चित्त में लीन रहता है तो वह (चित्त) अशुभ ध्यान द्वारा तीव्रतम पापबंध करता है और शुभ ध्यान द्वारा उत्कृष्ट पुण्य बंध करता है तथा शुक्लध्यान द्वारा उत्कृष्ट मोक्ष पद प्राप्त करता है ॥ २५७ ॥ जो मानव चित्त की चंचलता को नहीं जानता, अर्थात्—जो भोगों की ओर दौड़ते हुए मन को नियन्त्रित करके धर्मध्यान में और जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के चिन्तवन में प्रेरित नहीं करता, वह मानव बाह्य क्रिया काण्ड (अनशन-आदि तप) को करता हुआ भी केवल कष्ट का पात्र होता है, उसे मोक्षपद कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतः चित्त को नियन्त्रित करने में प्रयत्नशील होना चाहिए, तभी बाह्य क्रियाएँ फलप्रद हो सकती हैं, अन्यथा निरर्थक हैं ॥ २५८ ॥

[अब सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हैं—]

जो वस्तु का समस्त स्वरूप (गुण व पर्याय) जैसे का तैसा (हीनाधिकता से रहित तथा संशय-आदि मिथ्याज्ञान से रहित) निश्चय करता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं । यह मनुष्यों का तीसरा नेत्र है ॥२५९॥ वह सम्यग्ज्ञान पुण्य करने में मनोवृत्ति रखने वाले धार्मिक मानव को हित (सुख व सुख के कारण) व अहित (दुःख व दुःख के कारण) का विवेचन करके वैसा उसकी हित-प्राप्ति व अहित-परिहार में कारण होता है, जैसे जन्मान्ध पुरुष को लाठी ऊँची-नीची जगह बतलाकर उसकी हित-प्राप्ति और अहित-परिहार (ऊबड़-खाबड़ जगह से बचाने) में कारण होती है ॥२६०॥ मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयीभूत पदार्थों को ही जानता है, किन्तु श्रुतज्ञान (आगम) इन्द्रियों के विषयभूत और अतीन्द्रिय (सूक्ष्म, अन्तरित व दूरवर्ती) दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान कराता है, इसलिए यदि ज्ञाता का मन ईर्षालु नहीं है तो उसे तत्त्वज्ञान होना दुर्लभ नहीं है ॥२६१॥ यदि तत्त्वोपदेशक द्वारा जीवादि पदार्थों का स्वरूप प्रतिपादन कर देने पर भी शिष्य

१. चित्ते । २. से ४. अशुभध्यानेन पापं स्यात्, शुभेन पुण्यं, परमशुक्लेन परं पदं । ५. सर्वार्थं—सर्ववस्तु स्वरूपमित्यर्थः । ६. गुरूपदिष्टे पदार्थे । ७. मात्सर्य-रहितं । ८. मलिना । ९. उलूकस्येव ।

ज्ञातुरेव स दोषोऽयं प्रबाधेऽपि वस्तुनि । मतिविपर्ययं भत्ते[1] यथेन्दौ[2] मन्दचक्षुषः ॥ २६३ ॥
[3]ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत् । अन्यत्र केवलज्ञानात्प्रत्येकमनेकधा ॥ २६४ ॥
[4]अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मैककर्मविनिमितिः[5] । चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ॥ २६५ ॥

की बुद्धि मलिन या अज्ञान-बहुल रहती है, तो उसका ज्ञान वैसा व्यर्थ है जैसे उल्लू के लिए सूर्य का प्रकाश व्यर्थ होता है ।।२६२।। जैसे हीन दृष्टि (काच-कामलादि रोग से ग्रस्त नेत्रवाले) मनुष्य की बुद्धि चन्द्र के विषय में विपरीत होती है, अर्थात्—उसे एक के दो चन्द्र दिखाई देते हैं या शुभ्र चन्द्र नीला दिखाई देता है, उसमें उसकी चक्षु का दोष समझा जाता है, न कि चन्द्र का, वैसे ही प्रत्यक्ष-आदि प्रमाणों से बाधा-रहित वस्तु (कथंचिन्नित्यानित्यात्मक जीवादि वस्तु) में भी बुद्धि के विपरीत हो जाने में (वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य समझने में) ज्ञाता का ही दोष (मिथ्यात्व कर्म का उदय) है, न कि वस्तु का ।।२६३।।

[अब सम्यग्ज्ञान के भेदों का निरूपण करते हैं—]

जिसके द्वारा बाह्य व आध्यात्मिक पदार्थों में संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय-रहित यथार्थता का निश्चय किया जाय उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं, वह सामान्य से एक भेद वाला है । प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से वह पाँच प्रकार का है । केवल ज्ञान के सिवाय अन्य चार ज्ञानों में से प्रत्येक के अनेक भेद हैं । जैसे—मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं । श्रुतज्ञान अङ्ग व अङ्ग बाह्य के भेद से दो प्रकार का है । अवधिज्ञान-देशावधि, परमावधि व सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का है और देशावधि व परमावधि भी प्रत्येक जघन्य, मध्यम व उत्तम के भेद से तीन प्रकार का है । और देशावधि,परमावधि व सर्वावधि इन तीनों में से प्रत्येक के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, प्रतिपाति एवं अप्रतिपाति के भेद से आठ प्रकार का है । मनःपर्यय ज्ञान भी ऋजु व विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है और ये दोनों जघन्य, मध्यम व उत्तम के भेद से तीन प्रकार के हैं ।।२६४।।

[अब सम्यक्चारित्र का स्वरूप व भेद कहते हैं—]

सम्यग्ज्ञानी के हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह रूप पापक्रियाओं के त्याग को और धार्मिक क्रियाओं (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग) के करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं, वह चारित्र गृहस्थों से धारण करने योग्य अणुव्रत और मुनियों से धारण करने योग्य महाव्रत

---

१. चन्द्रे । २. हीनचक्षुः चन्द्रं नीलं कृष्णादिकं पश्यति, द्वौ वा चन्द्रान् पश्यति ।

३. ज्ञानमेकमित्यादि—ज्ञायते निश्चीयते अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासव्युदासेन बाह्याध्यात्मिकपदार्थेषु याथात्म्यं येन तज्ज्ञानं, एकमाधार्थस्य सर्वत्रानुगमात् । द्वेधा-प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन । पंचधा-मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदेन । प्रत्येकं मतिस्तावदनेकधा—षट्त्रिंशत्त्रिशतीभेदेन । तथाहि—षडिन्द्रियाणि अर्थव्यञ्जनपर्यायलक्षणपर्यायविषयैरवग्रहेहावायधारणाभिर्गुणितानि चतुर्विंशति भवन्ति । चक्षुरनिन्द्रियवर्जितानामपरेषां चतुर्णामिन्द्रियाणां व्यञ्जनलक्षणपर्यायविषयाश्चत्वारोऽवग्रह एवमेतेषामष्टाविंशति बह्वादिभिर्द्वादशभिर्गुणिता षट्त्रिंशत्त्रिशती च भवति । श्रुतमनेकधा—अङ्गाङ्गबाह्यभेदेन । तत्राङ्गानि आचारादीनि अङ्गबाह्यानि सामायिकादीनि पुनरपि पर्याय-पर्यायसमासाक्षराक्षरसमासभेदेन विंशतिभेदं । अवधिरनेकधा—देशावधि परमावधि—सर्वावधिभेदेन । देशावधिपरमावधी अपि प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्तमभेदेन-त्रिविधौ । देशावधित्रयं प्रत्येकं यथासंभवमनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितप्रतिपाति—अप्रतिपातिभेदेनाष्टविधं । मनःपर्ययोऽनेकधा ऋजुविपुलमतिभेदेन पुनः प्रत्येकमेतौ जघन्यादिभेदेन त्रिविधौ ।

४. त्यागः । ५. करणं ।

[1]देशतः प्रथमं तत्स्यात्सर्वतस्तु[2] द्वितीयकम् । चारित्रं चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥ २६६ ॥
देशतः सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् । [3]स्वर्गापवर्गयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥ २६७ ॥
[4]मुखकण्डूहरं शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे[5] नरे । ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भगाभरणोपमम् ॥ २६८ ॥
सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता । वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ॥ २६९ ॥
रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ज्ञानं तत्त्वनिरूपणम् । औदासीन्यं परं प्राहुर्वृत्तं सर्वक्रियोज्झितम् ॥ २७० ॥
वृत्तमग्निरुपायो[6] धीः सम्यक्त्वं च रसौषधिः[7] । साधुसिद्धो भवेदेष [8]तत्त्वाभावात्मपारदः[9] ॥ २७१ ॥
सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्तमभ्यासो मतिसंपदः[10] । चारित्रस्य शरीरं[11] स्याद्वित्तं[12] दानादिकर्मणः ॥ २७२ ॥

के भेद से दो प्रकार का है ॥ २६५ ॥ विशुद्ध चारित्र के विचार से योग्य चित्त-वृत्ति वाले आचार्यों ने गृहस्थों का देशचारित्र कहा है, क्योंकि उसमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाँच पापों का एक देश त्याग किया जाता है और मुनियों का सकलचारित्र कहा है, क्योंकि उसमें हिंसा-आदि पाँच पापों का सर्वदेश त्याग किया जाता है ॥ २६६ ॥ जिस मनुष्य में स्वर्ग व मोक्ष में से किसी को भी प्राप्त करने की योग्यता (शक्ति) नहीं है, वह न तो देश चारित्र ही पाल सकता है और न सकल चारित्र ही पाल सकता है ॥ २६७ ॥ सम्यक्त्व-हीन मानव का शास्त्रज्ञान केवल उसके मुख की खुजली दूर करता है—अर्थात्-वाद-विवाद करने में ही समर्थ होता है; क्योंकि उसमें आत्मदृष्टि नहीं होती। एवं ज्ञान-शून्य का चारित्र-धारण विधवा स्त्री के आभूषण-धारण करने के समान निरर्थक है।

भावार्थ—विना सम्यक्त्व के शास्त्राभ्यास-ज्ञानार्जन-निरर्थक है और विना ज्ञान के चारित्र का पालन करना व्यर्थ है ॥ २६८ ॥ सम्यग्दर्शन से मनुष्य को प्रशस्त गति-स्वर्ग-श्री प्राप्त होती है और सम्यग्ज्ञान से उसकी कीर्ति कौमुदी का प्रसार होता है और सम्यक्चारित्र से सन्मान प्राप्त होता है और तीनों से मुक्ति श्री प्राप्त होती है ॥ २६९ ॥ आचार्यों ने कहा है तत्त्वों में रुचि का होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों का कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है एवं समस्त पाप क्रियाओं की त्यागवाली उदासीनता होना सम्यक् चारित्र है ॥२७०॥ जो आत्मा-रूपी पारद (पारा) अनादिकाल से मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयमरूपी कुधातुओं के संसर्ग से अशुद्ध हो रहा है, उसे विशुद्ध करने के लिए, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र अनूठा साधन है। अर्थात्—उसे विशुद्ध करने के लिए सम्यक् चारित्र अग्नि है और सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यग्दर्शन (चित्त की विशुद्धि) रसौषधि (नीबू के रस में घुटा हुआ सिंग्रप) है। अर्थात्—उक्त रत्नत्रय की प्राप्ति से यह आत्मारूपी पारा विशुद्ध होकर सांसारिक समस्त व्याधियों को ध्वंस करके व मुक्ति श्री प्राप्त करता है।

भावार्थ—अतः मुमुक्षु विवेकी मानव को रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ २७१ ॥ सम्यग्दर्शन का आश्रय चित्त है। अर्थात्—इसकी प्राप्ति के लिए मानव को अपने चित्त की विशुद्धि करनी चाहिए। और ज्ञानलक्ष्मी का आश्रय शास्त्राभ्यास है। अर्थात्—ज्ञानलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए मनुष्य को शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए। चारित्र का आश्रय शरीर है, अर्थात्—इसकी प्राप्ति के लिए शारीरिक कष्ट

१. विरतिः । २. विरतिः । ३. स्वर्गमोक्षयोर्मध्ये यस्य जीवस्य एकस्यापि योग्यता न भवति तस्याणुव्रतं महाव्रतं च न भवति । ४. मुखखर्जन । ५. रहिते । ६. धमण-फूकण । ७. वीर्यसहितमोगधम् । ८. दर्शनज्ञान चारित्रप्राप्तेः । ९. आत्मा एव पारदः । १०. ज्ञानलक्ष्म्याः अभ्यास एव आश्रयः स्थानं । ११. आश्रयः । १२. आश्रयः ।

इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितमः कल्पः ।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्न्यपवर्गमार्गमहोदयो नाम षष्ठ आश्वासः—

सहन करते हुए पाप क्रियाओं का त्याग करना चाहिए और दान-पूजा-आदि धार्मिक कर्त्तव्यों का आश्रय धन है। अर्थात्—न्याय से संचित किये हुए धन को पात्रदान-आदि धार्मिक कार्यों में लगाना चाहिए ॥ २७२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में रत्नत्रय का स्वरूप बतलानेवाला इक्कीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस प्रकार समस्त तार्किक-समूह में चूडामणि (सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्य विद्याधरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरमहाराजचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य है, मोक्षमार्ग का उदयशाली यह षष्ठ आश्वास समाप्त हुआ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री व श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त
श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधान शिष्य, नीति-
वाक्यामृत के अनुसन्धान-पूर्वक भाषा-टीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक,
जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद-विशारद,
एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागर
निवासी परवार जैन जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री
द्वारा रची हुई 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य'
की 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की
भाषाटीका में मोक्षमार्ग का
उदयशाली यह षष्ठ
आश्वास पूर्ण हुआ।

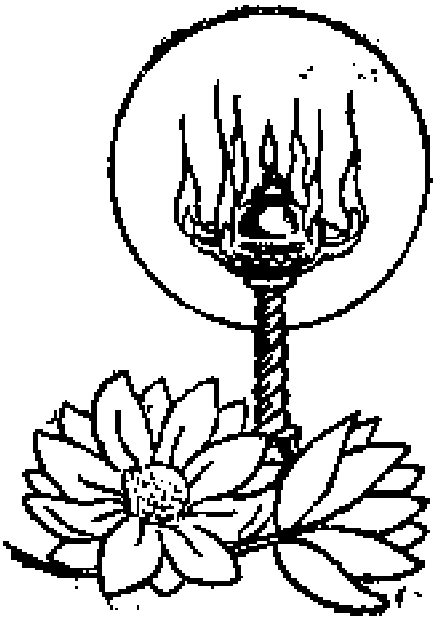

सप्तम आश्वासः

पुनः[1]गुणमणिकटक[2], [3]उत्कटकर्मेव माणिक्यस्य, सुधाविधानमिव प्रासादस्य, [4]पुरुषकारानुष्ठानमिव दैवसंपदः[5], पराक्रमावलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवैदुष्यमिव[6] सेव्यत्वस्य[7], व्रतं हि खलु सम्यक्त्वरत्नस्योपबृंहकमाहुः। तच्च[8] देशयतीनां द्विविधं मूलोत्तरगुणाश्रयणात्।

तत्र—

मद्यमांसमधुत्यागः *सहोदुम्बरपञ्चकैः। अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥ १ ॥
सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मतेः। सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥ २ ॥
हिताहितविमोहेन देहिनः[9] किं न पातकम्। कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥ ३ ॥
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवाः। इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन् सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥ ४ ॥
समुत्पद्य[10] विपद्येह देहिनोऽनेकशः[11] किल। मद्यीभवन्ति कालेन[12] मनोमोहाय देहिनाम् ॥ ५ ॥
मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत्। पूरयेयुर्न संदेहं समस्तमपि विष्टपम् ॥ ६ ॥
मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च[13] दुर्गतेः। मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥ ७ ॥

ज्ञानादि गुणरूपी मणियों के कङ्कणीभूत हे मारिदत्त महाराज ! आचार्यों ने कहा है कि निश्चय से व्रत (अहिंसा-आदि) सम्यक्त्वरूपी रत्न के वैसे गुणवर्धक हैं जैसे शोधनादि क्रिया (शाणोल्लेखन-आदि) माणिक्य की गुणवर्धक होती है। जैसे चूने का लेप महल की शोभावर्धक होता है। जैसे पुरुषार्थ का अनुष्ठान भाग्य सम्पत्ति (पूर्वोपार्जित पुण्य लक्ष्मी) का गुणवर्धक होता है। जैसे पराक्रम का आश्रय नीतिमार्ग—सदाचार की समृद्धि करने वाला होता है और जैसे विद्वत्ता सेवनीय (गुरु व राजा-आदि) की उन्नति करने वाली होती है।

श्रावकों के व्रत मूलगुण व उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

आठ मूलगुण

मद्य, मांस और मधु का त्याग और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग ये गृहस्थों के आठ मूलगुण आगम में कहे गये हैं ॥ १ ॥

मद्य—शराब-के दोष—बुद्धि को अज्ञान से आच्छादित करने वाले मद्यपान से समस्त दोष (काम व क्रोधादि) उत्पन्न होते हैं और यह समस्त पापों में अग्रेसर है ॥ २ ॥ मद्य पीने से हित और अहित का विवेक नष्ट हो जाता है, जिससे शराबी लोग संसाररूपी वन में घुमाने वाले कौन-कौन से पाप नहीं करते ? अर्थात्—मद्य पीने से समस्त पाप उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥ सर्वत्र लोक में यह कथा प्रसिद्ध है, कि शराब पीने से यदुवंशी राजा लोग नष्ट हो गए और जुआ खेलने के कारण पाण्डव नष्ट हो गए ॥ ४ ॥ निश्चय से शराब में असंख्यात जीव अनेक बार जन्म-मरण करके स्वल्प समय में शराबियों का मन मूर्च्छित करने के लिए शराब रूप हो जाते हैं ॥ ५ ॥ मद्य की एक बिन्दु में उत्पन्न हुए बहुत से जीव यदि वहाँ से निकलकर भ्रमण करें तो निस्सन्देह समस्त लोक को व्याप्त कर सकते हैं ॥ ६ ॥ मद्यपान शराबी का मन मूर्च्छित करने

१. यथा। २. कङ्कण हे मारिदत्त !। ३. 'शोभनरचनाक्रिया' टि० (ख०)। 'शोधनादिक्रिया' टि० (घ०) (च०) पञ्जिकायां च। ४. पौरुषशक्तिः, कर्तव्यं। ५. पूर्वोपार्जितपुण्यस्य। ६. विद्वत्त्वं। ७. गुरोः नृपादिकस्य। ८. व्रतं। *. 'सहोदुम्बरपञ्चकः' इति क०, ख०, घ०, च०। ९. जीवाः। १०. मृत्वा। ११. बहुवारान्। १२. स्वल्पेन। १३. कारणत्वात्।

श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्योपाख्यानम्[1]—[2]सवुर्वोश्वराखर्व[3]गर्वोर्वानल[4]हुतीभूताहितान्वयनकावेक[5]चक्रापुरावेकपान्नाम परिव्राजको जाह्नवीजलेषु मज्जनाय व्रजन्निजच्छायापरद्विपावाकूतिक्रुद्धमदान्धगन्धसिन्धु[6]रोद्धुरविषाण[7]विदीर्यमाणमेदिनीहृदये विन्ध्याटवीविषये प्रवृद्धप्रौढयौवनासवास्वादपुनरुक्तकादम्ब[8]रोपानप्रसूतासरालविलासप्र[9]हिलाभिर्महिलाभिः सह पलोप[10]दंशावद्यं[11]कश्यमालेवमामस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितः सन् सीधुसंबन्ध[12]विधुरधीसङ्गैर्मातङ्गैरपकथ्य असौ किलैवमुक्तः—'त्वया मद्यमांसमहिलासु मध्येऽन्यतमसमागमः कर्तव्यः, अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्' इति। सोऽप्येवमुक्त[13]स्तिलसर्षपप्रमितस्यापि हि पिशितस्य प्राशने स्मृतिषु महान्प्रत्यो विपत्तयः श्रूयन्ते। मातङ्गीसङ्गे च मृतिनिकेतनं[14] प्रायश्चेतनम्[15]। य एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखशिखामणौ सौत्रामणौ मदिरास्वादाभिसंधि[16]रनुमतविधिरस्ति। यैश्च पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैर्वस्तुकार्यैः सुरा संधीयते[17] तान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येवेति चिरं चेतसि विचार्यानार्यविद्यानिधानः* कृतमद्यपानस्तन्माहात्म्यात्समाविर्भूत-

---

में कारण है और दुर्गति का कारण है, इसलिए इस लोक व परलोक में दुःख देनेवाले मद्यपान का सज्जन पुरुषों को सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए॥ ७॥

९. अब मद्य पीनेवाले एक संन्यासी की कथा कहते हैं—

मद्यपान के दोषों के विषय में एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—

'एकपाद' नाम का संन्यासी, जहाँ के राजा की महान् गर्वरूपी बड़वानल अग्नि में शत्रुओं के वंशरूप मकर होमे गए थे, ऐसे पोदनपुर नाम के नगर से गङ्गानदी में स्नान करने के लिए जा रहा था। मार्ग में वह विन्ध्याटवी-देश मे गुजरा, जहाँपर अपनी छाया में दूसरे हाथी की शङ्का होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुए मदोन्मत्त मतवाले हाथी के मजबूत दाँतों से पृथिवी का मध्यभाग विदीर्ण किया जा रहा था, वहाँ वह शराब पीने वाले और ऐसे चाण्डालों के समूह के मध्य में जा पहुँचा, जो कि उत्पन्न हुए प्रौढ़ यौवन (जवानी) रूपी मद्य के आस्वादन से दुगुने हुए मद्यपान से पैदा होनेवाले उत्कट विलास को करनेवाली उन्मत्त विलासिनी तरुणियों के साथ मांस शाक सहित शराब पी रहा था, सुरा पीने से विकृत बुद्धि वाले चाण्डालों ने उसे पकड़ कर कहा—

'तुझे मद्य, मांस और स्त्री में से किसी एक का सेवन करना होगा, नहीं तो तू जीते जी गङ्गा का दर्शन नहीं कर सकता।'

चाण्डालों से उक्त प्रकार कहा हुआ तापसी मन में सोचने लगा—'स्मृतियों में एक तिल या सरसों बराबर भी मांस खाने पर भयानक विपत्तियों का आना सुना जाता है और चाण्डालिनी के साथ रतिविलास करने से मरण लक्षण वाला प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। किन्तु समस्त यज्ञों में चूड़ामणि-सरीखा श्रेष्ठ सौत्रामणि नाम के यज्ञ में मदिरा स्वाद के अभिप्राय वाला वैदिक अनुमति विधान है, और लिखा है, कि जो इस विधि से, अर्थात्—यज्ञ के मन्त्रों द्वारा पवित्र की हुई सुरा पान करता है, उसका मदिरापान मदिरापान नहीं है, क्योंकि जिन पीठी, जल, गुड़ व महुआ-आदि वस्तुओं से सुरा बनाई जाती है, वे सब वस्तुएँ विशुद्ध ही होती हैं।'

---

१. कथानकं आख्यानकं तस्य चेदं लक्षणम्—

इतिहासपुरावृत्तं प्रबन्धरचना कथा। दृष्टोपलब्धकथनं वदन्त्याख्यानकं बुधाः॥ १॥

२. एकचक्रनगरनृप। ३. महत्। ४. बड़वानल। ५. पोदनपुरात्। ६. गज। ७. दन्त। ८. मद्यं। ९. प्रचुर।

१०. मांसशाकसहितं। ११. मद्यं। १२. हीन, विकलमतियुक्तैः। १३. मातङ्गैरुक्तः सन् चिन्तयति।

१४. मरणलक्षणं। १५. प्रायश्चित्तं। १६. मनःपूर्वको व्यापारः। १७. निष्पाद्यते। *. विधानः क०, ख०।

मनोमहामोहः कौपीनमपहाय [1]हारहूरव्यवहारातिविह्वलितमातङ्गिकागीतानुगतकरतालिकाविडम्बनावसरो प्रहगृहीत-शरीर इवानीतानेकविकारः पुनस्तु[2]भुक्षाशुशुक्षणि[3]क्षीणकुक्षिकुहरस्तरसमपि[4] भक्षितवान्। प्रादुर्भवद्दुःसहोद्रेकमदनो मातङ्गीं कामितवान्[4]। भवति चात्र श्लोकः—

[5]हेतुशुद्धेः[5] श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात्। मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानसः ॥ ८ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः।

श्रूयतां मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्—अशेषविद्यावैशारद्य[6]मदमत्तमनीषि[7]मत्तालिकुलकेलि[8]कमलनाम्न्यां[9] वलभ्यां पुरि* खात्रचरित्रशील:[10] करवालः, कपाटोद्घाटनपटुर्बटुः, महानिद्रासंपादनकुशलो धूर्तिलः, परगोपा[11]यितद्रविणदेशविशारदः शारदः, [12]स्वरपटागमविलासः कृकिलासश्चेति पञ्च मलिम्लुचाः[13] प्रतिपन्नपर-स्परप्रीतिप्रपञ्चाः स्वस्य[14]व्यवसायसाहसाभ्यामीश्वरशरीरार्धवासिनीं भवानीमपि मुकुन्दहृदयाश्रयधियं श्रियमपि कात्यायनीलोचना[15]संजनमञ्जनमपि हर्तुं समर्थाः, पश्यतोहराणामपि पश्यतोहराः, कृतान्तदूतानामपि कृतान्तदूताः।

ऐसा चिर काल तक मन में विचारकर म्लेच्छविद्या के निधि वाले उसने शराब पी ली। उसस प्रभाव से उसे तीव्र नशा चढ़ा। उसने अपनी लंगोटी खोल डाली और मद्यपान से विह्वल हुई चाण्डालनियों के गीत को अनुकरण करती हुई तालियाँ पीटने लगा। उस समय उसकी दशा ऐसी हो गई थी—मानों उसके शरीर में कोई भूत घुस गया है, इसलिए उसने अनेक विकृत चेष्टाएँ कीं और जब उसके उदर का मध्यभाग भूखरूपी अग्नि से क्षीण होने लगा तब उसने मांस भी खा लिया। उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने चाण्डालिनी के साथ रतिविलास भी कर लिया।

इस विषय में एक श्लोक है, जिसका अभिप्राय यह है—

मद्य को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के शुद्ध होने से तथा वेद में लिखा होने से मूढ़ मनोवृत्ति वाले एकपाद संन्यासी ने मद्य पी लिया और फिर उसने मांस भी खाया और चाण्डालिनी के साथ रति विलास भी किया ॥ ८ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मद्यपान के दोष बतलाने वाला बाईसवाँ कल्प पूर्ण हुआ।

१०. मद्यव्रती धूर्तिल नाम के चोर की कथा—

[अब मद्यत्याग से उत्पन्न हुए गुण वाले की कथा सुनिए।]

सभी विद्याओं की चतुराई के मद से मत्त हुए विद्वान् रूपी भँवरों के समूह की क्रीड़ा के लिये कमल के कोश-सरीखी 'वलभी' नाम की नगरी में पाँच चोर रहते थे। उनमें से 'करवाल' नाम का चोर मकानों में छिद्र (सेंध) लगाने के स्वभाव वाला था। 'बटु' किवाड़ खोलने में चतुर था। 'धूर्तिल' महानिद्रा उत्पन्न करा कर चोरी करने में कुशल था। 'शारद' दूसरों के द्वारा छिपाये हुये धन का स्थान देखने में प्रवीण था और पाँचवाँ कृकिलास ठग विद्या का विलासी था। वे पाँचों पारस्परिक प्रीति विस्तार को स्वीकार करने वाले थे और अपने उद्योग व साहस द्वारा वे शिव के अर्धाङ्ग में निवास करने वाली पार्वती को भी, विष्णु के हृदय में निवास करने की बुद्धि रखने वाली लक्ष्मी को भी और दुर्गा के नेत्रों में लगे हुए अञ्जन को भी चुराने में समर्थ थे। वे चोरों के भी चोर थे और यम-दूतों के भी यम-दूत थे।

१. मद्यपानविह्वलीभूतमातङ्गी। २. अग्निः। ३. मांसं। ४. सेवितवान्। ५. मद्यस्य कारण गुड़, धातकीप्रमुखशुद्धत्वात्। ६. चातुर्यं। ७. मनीषिण एव मत्तभ्रमराः। ८. क्रीड़ा। ९. मध्ये कोशसदृशायाम्। *. खात्रं छिद्रं। १०. चौरकर्म। ११. गोपित। १२. ठकशास्त्रं। १३. चौराः। । १४. उद्यम। १५. आसक्तं।

कदाचिदेकस्यां निशि *चेलक्नोपं वर्षति देवे कज्जलपटलकाल[1]कायशरीरिकासु सकलासु काष्ठासु[2] विहितपुरसा[3]रापहाराः पुरबाहिरिकोपवने धनं विभजन्तस्त्वेदं ममेदमिति विवदमानाः [4]कलहमपहाय [5]समानायितमैरेयाः [6]पानगोष्ठीमनुतिष्ठन्तः [7]पूर्वाहितकलहकोपोन्मेषकलुषधिषणाः यष्टायष्टि मुष्टामुष्टि च युद्धं विधाय सर्वेऽपि ममुरन्यत्र धूर्तिलात्। स किल [8]यथादर्शनसंभवं महामुनिविलोकनात्तस्मिन्नहन्येकं व्रतं गृह्णाति। तत्र च दिने [9]तद्दर्शनान्मद्यव्रतमग्रहीत्।

तदनु धूर्तिलः समानशीलेषु कल्यवर्त्यां [10]विनाशलेश्यामात्मसमक्षमुपयुज्य[11] [12]विरज्याजवंजवात्सुखबीजा-न्युत्पाटय[13] च [14]मनोजकुज[15]जटाजालनिवेशमिव केशपाशं चिरमाय[16] [17]परत्राहितनिश्रेयसाय चरित्राय समीहाञ्चक्रे। भवति चात्र श्लोकः—

एकस्मिन्वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिलः किल। एतद्दोषात्सहायेषु मृतेष्वा[18]पदनापदम्[19] ॥ १ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः।

किसी समय एक रात्रि में जब मेघ वस्त्र को आर्द्र (भींगा) करने पूर्वक जोर की जलवृष्टि कर रहे थे और समस्त दिशाएँ कज्जल-पटल-सरीखीं कृष्ण शरीर वालीं हो रहीं थीं तब उन्होंने नगर के सार द्रव्य (सुवर्ण व रत्नादि) की चोरी की। फिर वे नगर के बाहर के बगीचे में धन का विभाग (बँटवारा) कर रहे थे और 'यह मेरा है और यह तेरा है' यह कहकर झगड़ रहे थे। पश्चात् युद्ध (झगड़ना) छोड़कर उन्होंने पहले किसी एक चोर द्वारा शराब मँगवाई और शराब की पान गोष्ठी की, अर्थात्—एक स्थान पर बैठकर प्रायः सभी ने शराब पी, जिससे पहले किये हुए कलह का कोप बढ़ जाने से मलिन-बुद्धि वाले उन्होंने लठा-लठी और मुक्का मुक्की वाला तुमुल युद्ध किया, जिससे धूर्तिल के सिवा सब मर गये।

निस्सन्देह धूर्तिल के एक नियम था, कि उसे जिस दिन मुनि का दर्शन होता था, उस दिन वह सदा एक व्रत ग्रहण करता था, अतः उसने उस दिन मुनि के दर्शन होने से शराब के त्याग का व्रत ले लिया था, इसी से वह बच गया।

एक सरीखे स्वभाव वाले अपने साथी चोरों की शराबखोरी के आश्रय से उत्पन्न हुई मरणावस्था को प्रत्यक्ष देखकर वह विशेष दुःखों के कारण संसार से विरक्त हो गया और कामदेव रूपी वृक्ष के जटा-समूह के प्रवेश-सरीखे केश-समूह उखाड़ कर पारलौकिक दुःखों को जीतने वाले चरित्र के पालन करने का चिरकाल तक इच्छुक हुआ।

उक्त कथा के संबंध के एक श्लोक का भाव यह है—

'जब कि मद्यपान के दोष से दूसरे साथी चोर मर गये तब एक दिन के लिये शराब का त्याग कर देने से धूर्तिल चोर बच गया और उसने दीक्षित होकर आपत्तियों से रहित स्थान (मुक्तिपद) प्राप्त किया ॥ १ ॥'

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मद्य-त्याग के गुणों का निदान करने वाला तेईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

*. 'चेलक्नोपं ग०'। १. कृष्णशरीर। २. दिशासु। ३. सारद्रव्य। ४. युद्धं। ५. अनेन केनचित् कृत्वा आनायितमद्याः। ६. एकत्र पानं। ७. मद्यपानात् पूर्वं कृत। ८. यस्मिन् दिने मुनयो मिलन्ति तद्दिने नित्यं व्रतं गृह्णाति। ९. मुनिदर्शनात्। १०. मरणावस्थां। ११. दृष्ट्वा। १२. संसारात्। १३. उत्पाटनं कृत्वा। १४. कामः। १५. वृक्षः। १६. चिरं दीर्घकालं पालितवानित्यर्थः। १७. परलोकपापदुःखजयनशीलाय। १८. प्राप्तवान्। १९. आपत्-रहितं स्थानं।

स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायदुरास्पदम्[1] । सन्तोऽदन्ति[2] कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम् ॥ १० ॥
कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यदि चाश्रमः । [3]हन्यमानविधिर्न स्यादन्यथा[4] वा न जीवनम् ॥ ११ ॥
धर्माद्धर्मभुजां धर्मे किन्नु विद्वेषकारणम् । अभिलषितदं द्वेष्टि[5] को नाम कल्पपादपम् ॥ १२ ॥
अल्पात्क्लेशात्सुखं सुष्ठु सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १३ ॥
स सुखं सेवमानोऽपि[6] जन्मान्तरसुखाश्रयः[7] । यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः ॥ १४ ॥
स पुमानत्र लोकेऽस्मिन्नुदर्के[8] दुःखवर्जितः । [9]यस्तदात्वसुखासङ्गान्न मुह्येद्धर्मकर्मणि ॥ १५ ॥
स भूभारः परं प्राणी जीवन्नपि मृतश्च सः । यो न धर्मार्थकामेषु भवेदन्यतमाश्रयः[10] ॥ १६ ॥
स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि । योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥ १७ ॥
स विद्वान्स महाप्राज्ञः स धीमान् स च पण्डितः । यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥ १८ ॥

मांस-त्याग—

सज्जन पुरुष ऐसे मांस को, कैसे भक्षण करते हैं ? जो कि स्वभाव से अपवित्र व दुर्गन्धित है, जो दूसरे पशु-पक्षियों के घात से उत्पन्न होता है, जो कसाईयों व खटीकों-आदि के खोटे स्थान से प्राप्त होता है एवं जो भविष्य में दुर्गति को देने वाला है ॥ १० ॥ यदि मांस के निमित्त हमारे द्वारा घात किया जा रहा पशु दूसरे जन्म में हमारा घात न करे या मांस के बिना दूसरा कोई भी उदर-पोषण का उपाय नहीं है तो प्राणी नहीं करने योग्य कर्म (जीव-घात) भले ही करे, किन्तु ऐसी बात नहीं है, मांस के बिना भी अन्न व भक्ष्य फलादि से उदर-पोषण होता ही है, अतः मांस-भक्षण नहीं करना चाहिए ॥ ११ ॥ अहिंसा धर्म के माहात्म्य से सुख भोगने वालों को धर्म से द्वेष करने का क्या कारण है ? अर्थात्—धर्म से द्वेष करना उनकी निरी मूर्खता है। क्योंकि कौन बुद्धिमान् पुरुष अभिलषित—इच्छित वस्तु देनेवाले कल्प वृक्ष से द्वेष करता है ? अपितु कोई नहीं करता ॥ १२ ॥ यदि बुद्धिमान पुरुष थोड़ा-सा क्लेश उठाकर अपने लिये विशेष सुखी देखना चाहता है, तो उसका कर्तव्य है, कि जैसा व्यवहार (मारना व विश्वास-घात-आदि) अपने लिए दुःखदायक है, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति न करे ॥ १३ ॥ जो पुरुष दूसरों का घात न करके अपनी सुख-सामग्री के भोगने में तत्पर है, वह इस लोक में सुख भोगता हुआ भी दूसरे जन्म में सुख का स्थान होता है ॥१४॥

जो मनुष्य इस जन्म में तात्कालिक सांसारिक सुखों में आसक्त होकर धार्मिक कर्तव्यों में मूढ़ नहीं होता अर्थात्—धर्म कर्म में प्रवृत्त होता रहता है, वह इस लोक में व परलोक में दुःखी नहीं होता—सुख-लाभ करता है ॥ १५ ॥ जो मानव धर्म, अर्थ व काम में से एक का भी आश्रय नहीं करता वह पृथ्वी का भार रूप है और जीता हुआ भी मरा-सा है ॥ १६ ॥ जो मानव धर्म से उत्पन्न होने वाले सांसारिक सुख रूप फल का उपभोग करता हुआ भी धर्मानुष्ठान में मन्दबुद्धि (आलसी) है, वह मूर्ख है, जड़ है, अज्ञानी है और पशु से भी निरापशु है ॥ १७ ॥ जो स्वयं या दूसरों के द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी अधर्म करने की चेष्टा नहीं करता, वही विद्वान्, महा-विद्वान् और बुद्धिमान तथा पण्डित है ॥ १८ ॥

१. दुःस्थानं सूनागारगृहं स्थलं । २. भक्षयन्ति । ३-४. यथा पशुर्हतः तथा परश्चाच्चेत् स पशुः तस्य हिंसकस्य न हिनस्ति, अथवा चेन्मांसं विनाऽन्यः कोऽपि जीवनोपायो नास्ति । चेदन्नभक्ष्यफलादिकं वर्तते तर्हि मांसं कथं भक्ष्यते । ५. को द्वेषं करोति । ६. भुञ्जानोऽपि । ७. भवति । ८. आगामिकाले । ९. इहलोके तत्काले । १०. त्रिषु मध्ये एकस्यापि यः आश्रयो न भवति ।

तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहितं मुहुः । अन्यमांसैः स्वमांसस्य कथं वृद्धिविधायिनः ॥ १९ ॥
यत्परत्र[1] करोतीह सुखं वा दुःखमेव वा । वृद्धये[2] धनवद्दत्तं स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥ २० ॥
मद्यमांसमधुप्रायं कर्म धर्माय चेन्मतम् । अधर्मः कोऽपरः किं वा भवेद्दुर्गतिदायकम् ॥ २१ ॥
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् । तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ २२ ॥
स्वकीयं जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् । तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥ २३ ॥
मांसादिषु[3] दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु । आनृशंस्यं[4] न मर्त्येषु[5] मधूदुम्बरसेविषु ॥ २४ ॥
मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकविनिपीडनात् । जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति[6] ॥ २५ ॥
[7]उद्भ्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत्[8] । कुतो मधु[9] मधुच्छत्रे[10] व्याधलु[11]ब्धकजीवितम् ॥ २६ ॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष[12]न्यग्रोधादिफलेष्वपि । प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥ २७ ॥

जो अपने कल्याण के इच्छुक हैं और बार-बार दुःख देने वाले पाप कर्म का त्याग करते हैं, वे दूसरे पशु-पक्षियों के मांस से अपने मांस की वृद्धि करने वाले कैसे हो सकते हैं ? ॥ १९ ॥ जिस प्रकार दूसरों को वृद्धि के लिए दिया गया धन, कालान्तर में व्याज के बढ़ जाने से देने वाले को अधिक प्राप्त होता है (व्याज-सहित मिल जाता है) उसी प्रकार मनुष्य दूसरे प्राणियों के लिए जो सुख या दुःख देता है, वह सुख या दुःख कालान्तर में उसे अधिक प्राप्त होता है। अर्थात्—सुख देने से विशेष सुख प्राप्त होता है और दुःख देने से विशेष दुःख प्राप्त होता है । २० ॥ यदि मद्य-पान, मांस-भक्षण और मधु आस्वादन की अधिकता वाला क्रिया काण्ड (यज्ञ व श्राद्धादि) धर्म है तो फिर दूसरा अधर्म क्या है ? और दुर्गति देने वाला क्या है ? ॥ २१ ॥ सच्चा धर्म वही है, जिसमें अधर्म (हिंसा-आदि व मिथ्यात्व-आदि) नहीं है। सच्चा सुख वही है, जिसमें नरक-आदि का दुःख नहीं है। सम्यग्ज्ञान वही है, जिसमें अज्ञान नहीं है तथा सच्ची गति वही है, जिसके मिलने पर संसार में पुनरागमन नहीं होता ॥ २२ ॥ जिस तरह सभी प्राणियों के लिए अपना जीवन प्यारा है उसी तरह दूसरों को भी अपना जीवन प्यारा है, इसलिए जीव हिंसा का त्याग करना चाहिए ॥ २३ ॥ मांस भक्षकों में दया नहीं होती और शराब पीने वालों में सत्य भाषण नहीं होता एवं मधु और उदुम्बर फलों का भक्षण करने वालों में दयालुता नहीं होती, अर्थात्—निर्दयी होते हैं ॥ २४ ॥

मधु के दोष

सज्जन पुरुष गर्भाशय में स्थित हुए शुक्र-शोणित के सम्मिश्रण-सरीखे आकार वाले मधु को, जो कि शहद की मक्खियों तथा उनके छोटे-छोटे बच्चों के घात से उत्पन्न होता है, किस प्रकार सेवन करते हैं ? ॥२५॥ जिसके बीच में छोटे-छोटे शहद की मक्खियों के बच्चे भिनभिना रहे हैं, ऐसे शहद के छत्ते में स्थित हुआ मधु, जो कि अण्डों से उत्पन्न हुए पक्षियों के बालकों के झुण्ड-सरीखा है, बहेलियों तथा भील लोगों के लिए खाने-योग्य किस प्रकार हो गया ? यह आश्चर्यजनक है ॥ २६ ॥

पाँच उदुम्बर फलों के दोष

पीपल, गूलर, पाकर, बड़ और कठूमर (अंजीर) इन पाँच उदुम्बर फलों में भी स्थूल त्रसजीव उड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और अनेक सूक्ष्मजीव भी उनमें पाये जाते हैं, जो शास्त्रों द्वारा जाने जा सकते हैं ॥ २७ ॥

१. परजने । २. वृद्धिनिमित्तं भवति व्याजफलं तद्वत् । ३. मांसं अदन्ति इत्येवं शीलाः । ४. कारुण्यं । ५. मनुष्येषु । ६. गर्भवेष्टनं । ७. चलित । ८. पक्षिबालकसमूहवत् । ९. माधुर्यं । १०. मधुफले । ११. भिल्ललोकानां भक्ष्यं । १२. कठुम्बर अंजीरापरनाम ।

[1]मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत् । [2]तदमत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥ २८ ॥
कुर्वन्नव्रतिभिः सार्धं संसर्गं भोजनादिषु । प्राप्नोति [3]वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥ २९ ॥
दृतिप्रायेषु[4] पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु[5] । व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः[6] ॥ ३० ॥
[7]जीवयोगाविशेषेण [8]मयमेषादिकायवत् । मुद्ग*माषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे[9] जगुः ॥ ३१ ॥

तदयुक्तं । तदाह—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा[10] मांसम् । यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥ ३२ ॥

मद्यादिक का सेवन करने वालों से बचने का उपदेश—

मद्य, मांस व मधु को भक्षण करने वालों के गृहों में कभी खान-पान नहीं करना चाहिए तथा उनके बर्तनों आदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए ॥ २८ ॥ व्रत न पालने वाले पुरुषों के साथ भोजनादि में संसर्ग रखने वाले मानव की इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में भी उसे प्रशस्त फल नहीं मिलता अर्थात्—कटुफल भोगना पड़ता है ॥ २९ ॥ व्रती पुरुष को चमड़े की मशक का पानी, चमड़े के कुप्पों में रक्खा हुआ घी व तैल का उपयोग सदा छोड़ते हुए रजःस्वला स्त्रियों का संसर्ग (छूना) नहीं करना चाहिए ॥ ३० ॥

कुछ लोगों ने कहा है कि मूंग व उड़द-आदि एकेन्द्रिय जीवों का शरीर भी मांस है, क्योंकि वह जीव का शरीर है, जैसे ऊँट व मेढ़ा-आदि का शरीर। अर्थात्—जैसे ऊँट व मेढ़ा-आदि त्रस जीवों का शरीर जीव-शरीर होने से मांस है वैसे ही मूँग व उड़द-आदि धान्यों का शरीर भी जीव-शरीर होने से मांस है, क्योंकि जहाँ-जहाँ जीव-शरीर है वहाँ वहाँ मांस है, जैसे ऊँट वगैरह, ऐसी व्याप्ति है। क्योंकि जीव का शरीरपन सर्वत्र समानरूप से पाया जाता है ॥ ३१ ॥ उक्त मान्यता योग्य नहीं है; क्योंकि मांस, जीव का शरीर है यह कहना उचित है, किन्तु जो जीव का शरीर है, वह मांस होता भी है और नहीं भी होता। जैसे नीम, वृक्ष होता है, किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता। अर्थात्—यदि किसी जीव का शरीर मांस होता है, तो क्या समस्त जीवों के शरीर मांस ही होते हैं? यह नियम नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय-पर्यन्त जीवों में विशेषता है। यदि नीम वृक्ष होता है, तो क्या दूसरे वृक्ष भी नीम हो सकते हैं?

भावार्थ—जहाँ-जहाँ मांस होता है, वहाँ-वहाँ जीव-शरीर अवश्य होता है, परन्तु जहाँ जीव-शरीर होता है, वहाँ मांस होने का नियम नहीं है। क्योंकि मांसपन व्याप्य है और जीव शरीरपन व्यापक है, इसलिये जहाँ-जहाँ व्याप्य होता है, वहाँ-वहाँ व्यापक अवश्य होता है। परन्तु जहाँ व्यापक है वहाँ व्याप्य के होने का नियम नहीं है। जिस प्रकार जहाँ-जहाँ नीमपन होता है, वहाँ वृक्षपन अवश्य होता है, परन्तु जहाँ वृक्षपन है वहाँ नीमपन के होने का नियम नहीं है। अतः मूँग, उड़द-आदि को एकेन्द्रिय जीव के शरीर होने से मांस मानना युक्तिसंगत नहीं है ॥ ३२ ॥

१. मद्यमांसमधुभक्षकाणां । २. भाजनादिस्पर्शं । ३. निन्दां । ४. चर्मभाण्डेषु । ५. घृततैलाधारचर्मभाजनेषु । ६. रजःस्वलाः, कार्ये संसर्गं ।
७. प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि भोज्यं मांसं न धार्मिकैः । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१॥ सागारधर्मा० ।
८. उष्ट्रः । *. एकेन्द्रियशरीरमपि मांसं । ९. मिथ्यादृष्टयः । १०. यदि कस्यचित् शरीरं मांसं संजातं तर्हि सर्वेषां जीवानां शरीरं किं मांसमेव भवति ? न, एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय-पर्यन्तं विशेषोऽस्ति, चेत् कश्चिन्निम्बवृक्षः संजातस्तर्हि अन्येऽपि वृक्षाः किं निम्बा एव ? अपि तु न ।

किं च— [1]द्विजाण्डजनिहन्तॄणां यथा पापं विशिष्यते । [2]जीवयोगाविशेषेऽपि तथा *फलपलाशिनाम्[3] ॥ ३३ ॥
स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद्दा[4]रवारिवदीहताम् । एष वादी वदन्नेवं मद्यमातृसमागमे ॥ ३४ ॥
शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् । विषघ्नं रत्नमाहेयं[5] विषं च विपदे यतः ॥ ३५ ॥
अथवा । हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे । [6]विषद्रोरायुषे[7] पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥ ३६ ॥
अपि च [8]शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि । जिह्वावन्न हि दोषाय [9]पादे मद्यं द्विजातिषु ॥ ३७ ॥
[10]विधिश्चेत्केवलं शुद्धयै द्विजैः [11]सर्वं निषेव्यताम् । शुद्धयै[12] चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥ ३८ ॥

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनों में जीव-शरीर होने से संग्रहनय की अपेक्षा अभेद है तथापि पक्षी के घात की अपेक्षा ब्राह्मण के घात करने में अधिक पाप है वैसे ही फल और मांस दोनों जीव के शरीर हैं किन्तु फल खानेवाले को स्तोक (थोड़ा) पाप लगता है, क्योंकि भक्ष्य फलों में एकेन्द्रिय जीव ही होते हैं, और मांस-भक्षण में महापाप-बन्ध है, क्योंकि मांस में दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव-राशि सदैव रहती है ॥३३॥ जो वादी यह कहता है कि मूँग-वगैरह धान्य और मांस दोनों ही जीव के शरीर होने से एक सरीखे भक्षणीय हैं, उसके यहाँ पत्नी और माता दोनों में स्त्रीपन समान होने से एक सरीखी हैं और सुरा व जल दोनों में पीने लायकपन होने से एक सरीखे हैं, अतः उसे माता को स्त्री की तरह और सुरा को जल की तरह समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

भावार्थ—जब वादी मद्य व जल में पीनेलायकपन समान होने पर भी जल पीता है और मद्य का त्याग करता है और पत्नी व माता में स्त्रीपन समान होनेपर भी पत्नी का उपभोग करता है और माता को नमस्कार करता है, उसी तरह उसे जीव का शरीरपन समान होने पर भी मूँग-आदि धान्य भक्षण करनी चाहिए और सदाके लिए मांस का त्याग सुरा की तरह करना चाहिए ॥ ३४ ॥

गाय का दूध शुद्ध है परन्तु गो-मांस शुद्ध नहीं है। वस्तु के स्वभाव की विचित्रता ही ऐसी है। उदाहरण के रूप में—सांप की फणा का नागदमनमणि तो विष को नष्ट करनेवाला है और उसका जहर तत्काल मार देता है ॥ ३५ ॥ अथवा—यद्यपि मांस और दूध के उत्पादक कारण (घास-आदि) एक-सरीखे हैं, तथापि मांस छोड़ने योग्य है और दूध पीने-योग्य है। उदाहरण के रूप में—जैसे विषवृक्ष का पत्ता और उसकी जड़ इन दोनों के उत्पादक कारण एक-से हैं तथापि विषवृक्ष का पत्ता आयु-रक्षक है और उसकी जड़ (विष) मृत्यु को कारण होती है ॥ ३६ ॥ यद्यपि मांस और घी इन दोनों का निमित्त कारण शरीर ही है, अर्थात्—गाय के शरीर से ही मांस व घी उत्पन्न होते हैं, तथापि मांस-भक्षण में पाप है न कि घी खाने में। जिस प्रकार ब्राह्मणादि को जिह्वा से शराब के स्पर्श करने में पाप है, परन्तु पैर में शराब के लगाने में पाप नहीं होता ॥ ३७ ॥ यदि विधि (संप्रोक्षण—कुश व मन्त्रों के जल द्वारा वस्तु को शुद्ध करना) से ही वस्तु शुद्ध हो जाती है तो ब्राह्मणों के लिए सभी योग्य-अयोग्य वस्तु का सेवन कर लेना चाहिए, अर्थात्—फिर तो उन्हें 'अन्न भक्षणीय है और मांस त्याज्य है' ऐसा आग्रह नहीं करना चाहिए। अथवा उक्त दोष के निवारण के लिए आप कहेंगे कि समस्त वस्तु शुद्ध ही होती है, तो चाण्डाल के गृह पर भी भोजन कर लेना चाहिए, क्योंकि आपके कहने से चाण्डाल का गृह भी शुद्ध है ॥ ३८ ॥

१. विप्रपक्षि । २. संग्रहनयापेक्षयाऽभेदेऽपि । *. 'पापं पलाशिनाम्' क० च० ध० । ३. पापं विशिष्यते । ४. मातरं दारानिव मद्यं वारीव ईहतां । ५. अहेः सर्पस्येदं रत्नं नागदमनमणि । ६. विषवृक्षस्य पत्रं । ७. आयः निमित्तं । ८. द्वयोर्मांससर्पिर्निमित्तं शरीरमेव । ९. पादे लग्नं । १०. संप्रोक्षणयज्ञादिश्चेत् शुद्धये भवति । ११. योग्यमयोग्यं च । १२. अथवा विधिरहितमपि वस्तु स्वयमेव शुद्धं वर्तते ।

तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता । यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ॥ ३९ ॥
तद्बौद्धसांख्यचार्वाकवैदिकवैद्य[1]कपर्दिनाम् । मतं विहाय [2]हातव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥ ४० ॥
यस्तु लौल्येन मांसाशी[3] धर्मधीः स द्विपातकः । परदाररिक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नरः ॥ ४१ ॥

श्रूयतामत्र मांसाशनाभिध्यानमात्रस्यापि[4] पातकस्य फलम्—श्रीमत्पुष्पदन्तभगवदवतारावतीर्णत्रिदिवपतिसंपादितो[5]त्सवेन्दिरायां काकन्द्यां पुरि श्रावककुलसंभूतिः सौरसेनो नाम नृपतिः कुलधर्मानुरोधबुद्ध्या गृहीतपिशिताशनव्रतः [6]पुनर्वेदवैद्यशैवमतमोहितमतिः संजात[7]जाङ्गलजिघत्सानुमतिरङ्गीकृतवस्तु[8]निर्वहणाज्जनापवादाज्जुगुप्समानो मनोविश्रान्तिहेतुना कर्मप्रियनामकेतुना बल्लवेन[9] रहसि[10] बिलस्थलजलान्तरालचरसत्त्वान्[11]आनाययन्नप्यनेकराजकार्यपर्याकुलमानसतया मांसभक्षणक्षणं[12] नाप ।

कर्मप्रियोऽपि तथा पृथिवीश्वरनिदेशमनुदिनमनुतिष्ठन्नेकदा [13]पृदाकुपाकोपप्लुतः प्रेत्य[14] स्वयंभूरमणाभिधान-

---

जैसे सैकड़ों संस्कारों से सुसंस्कृत हुआ शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता [वैसे ही सैकड़ों विधियों (प्रोक्षण व यज्ञमन्त्रादि विधियों) से शुद्ध किया हुआ मांस भी शुद्ध नहीं हो सकता] क्योंकि द्रव्य, दाता और पात्र इन तीनों के शुद्ध हो जाने पर शुद्ध विधि घटित होती है ॥ ३९ ॥ आत्मकल्याण के इच्छुक मानवों को बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक, वैद्य और शैवों की युक्ति-शून्य मान्यता पर ध्यान न देकर सदा के लिए मांस का त्याग कर देना चाहिए ॥ ४० ॥ जैसे जो परस्त्री-लम्पट मनुष्य माता के साथ रतिविलास करता है, वह दो पाप (कुशील व अन्याय) करता है वैसे ही जो मनुष्य धर्म-बुद्धि से लालसा पूर्वक मांस-भक्षण करता है वह भी दो पाप करता है (मांस-भक्षण का पाप और मांस-भक्षण को धर्म समझना रूप मिथ्यात्व) ॥ ४१ ॥

मांस-भक्षण का संकल्प (चिन्तन) करनेवाले राजा सौरसेन की कथा—

[अब मांस-भक्षण के चिन्तनमात्र से होनेवाले पाप के विषय में एक कथा है, उसे सुनिए—]

ऐसी काकन्दी नामकी नगरी में, जो कि श्रीपुष्पदन्त भगवान् के जन्मोत्सव के लिए आये हुए इन्द्र द्वारा की जानेवाली उत्सव लक्ष्मी की स्थान थी, श्रावक कुलोत्पन्न 'सौरसेन' नाम का राजा राज्य करता था। उसने अपने कुलधर्म के अनुसरण की बुद्धि से मांस-भक्षण का त्याग स्वीकार किया था। परन्तु बाद में जब वेद-वचन, वैद्य-वचन व शैव दर्शन से उसकी बुद्धि विपरीत हो गई तब उसे मांस-भक्षण की इच्छा को अनुसरण करने वाली बुद्धि उत्पन्न हुई। इसलिए वह स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा के निर्वाह करने में असमर्थ हो गया। परन्तु वह लोकापवाद से डरता था। यद्यपि वह अपने मन को आराम देने वाले 'कर्मप्रिय' नामरूपी ध्वजा वाले रसोईए से एकान्त में अनेक बिलों में रहने वाले जन्तुओं, जलचर, थलचर एवं भूमिचर जीवों का मांस मँगवाता था, परन्तु उसका मन अनेक राजकार्यों में व्याकुलित रहता था, इसलिए उसे मांस-भक्षण का अवसर नहीं मिलता था।

'कर्मप्रिय' रसोईया भी राजा की आज्ञा के अनुसार प्रतिदिन मांस पकाता था। एक दिन उसने साँप के बच्चे का मांस पकाया और उसी के जहर से पीड़ित हुआ और मरकर वह 'स्वयंभूरमण' नाम के चिह्न वाले समुद्र में अनेक मछलियों को निगलने वाला, विशालकाय व शक्तिशाली महामच्छ हुआ।

---

१. भिषज । २. त्याज्यं । ३. भक्षकः धर्मनिमित्तं तस्य पातकद्वयं भवति । ४. चिन्तनमात्र । ५. उत्सवलक्ष्मीस्थाने । ६ वेदवचनवैद्यवचनशैववचनैः । ७. मांसं । ८. निर्वहणमस्तीति निर्वहणात् । ९. बल्लवः स्यात् सूपकारे गोदोग्धरि वृकोदरे । १०. एकान्ते । ११. सूपकारेण ज्ञात्वा आनयनं कारयन् । १२. अवसरं । १३. सर्पशिशुना । १४. मृत्वा ।

मुद्रे[1] समुद्रे महादेहवलरितमिङ्गिलगिलो बभूव[2]। नृपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाश्रित्य पिशिताशनाशयानुबन्धासङ्गेव[3] सिन्धौ तस्यैव महामीनस्य कर्णबिले तन्मलाशनशीलः[4] शालिसिक्थकल्पकलेवरः[5] शफरोऽभूत्। तदनन्तरं [6]पर्याप्तोभयकरणस्तस्य वदनं व्यादाय[7] निद्रायतो गलगुहागारे [8]वेलानदीप्रवाह इवानेकं जलचरानीकं प्रविश्य तथैव *निष्क्रामन्निरीक्ष्य 'पापकर्मा निर्भाग्यानां चाग्रणीरयमा खल्वेष झषो यद्वक्त्रसंपातरतचेतास्यपि न शक्नोति अशितुं यादांसि। मम पुनर्यदि हृदयेप्सितप्रभावाद्दैवादेतावन्मात्रं गात्रं स्यात्तदा समस्तमपि समुद्रं [9]विधुतसकलसत्त्वसंचारमुद्रं विदधामि' [10]इत्यभिध्यानादल्पकायकल:[11] शकुलो[12] निखिलनक्रचक्रचर्वणाच्च[13] महावैहारीणो सदिनः कालेन[14] [15]विपद्योत्पद्य चोत्तमतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुर्निलये निरये भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतज्ञानविशेषौ तावनिमिषवरौ[16] नारकपर्यायधरौ किलेवमालापं चक्रतुः—'अहो क्षुद्रमत्स्य, तवा विविधकर्मणो दुष्कर्मणो ममात्रागमनमुचितमेव। तव पुनः मत्कर्णबिले मलोपजीवनस्य कथमत्रागमनमभूत्। 'महामत्स्य, चेष्टितादपि दुरन्तदुःखसंबन्धनिबन्धनादशुभध्यानात्।'

भवति चात्र श्लोकः—

कुछ काल के बाद सौरसेन राजा भी मरकर मांस-भक्षण के अभिप्राय के निरन्तर संस्कार से उसी समुद्र में उसी महामच्छ के कर्णरूप बिल में कानों के मैल का भक्षण करने वाला और शालि चाँवल के प्रमाण शरीर वाला मच्छ हुआ। पश्चात् तन्दुलमच्छ स्पर्शन-आदि इन्द्रिय व मन की पर्याप्ति को पूर्ण करने वाला हुआ। महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसकी समुद्र-नदी के संगम के प्रवाह-सरीखी विस्तृत गहरी गलेरूपी गुफा में अनेक जलचर जीवों की सेना घुसकर जीवित निकल आती थी। उसे देखकर तन्दुल मत्स्य सोचता था 'यह मत्स्य बड़ा पापी और भाग्य-हीनों में अग्रेसर है, जो अपने मुँह में स्वयं ही आने वाले मत्स्य-आदि जल जन्तुओं को भी नहीं खा सकता।

यदि हार्दिक इच्छा के प्रभाव वाले शुभ दैव से मेरा इतना विशालकाय शरीर होता तो मैं इस समस्त समुद्र को भी समस्त जल-जन्तुओं के संचार-चिन्ह से शून्य कर डालता।'

उक्त निन्द्य दुर्ध्यान के कारण अल्पकाय के लेशवाला तन्दुलमत्स्य और समस्त मकर-समूह के भक्षण से महाकाय महामत्स्य एक गव्यूति (दो कोश) का शरीर और एक पल्य की आयु पूर्ण करके मरकर सातवें नरक में तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुए। वहाँ उन दोनों के उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञान, भवप्रत्यय नामक अवधिज्ञान के अधीन थे, अर्थात्—उन्हें भवप्रत्यय अवधिज्ञान था।

वे दोनों भूतपूर्व मत्स्य नारकी पर्यायधारी परस्पर में वार्तालाप करते थे—'क्षुद्रमत्स्य! अनेक जल-जन्तुओं के संहार-संबंधी पाप कर्म करने वाले मुझ पापी का यहाँ आना उचित ही था, परन्तु मेरे कर्णों के बिलों में मल भक्षण करनेवाले तुम्हारा यहाँ आना कैसे हुआ?'

तन्दुल मत्स्य—'महामत्स्य! मेरा यहाँ आना ऐसे अशुभ ध्यान (आर्त-रौद्रध्यान) से हुआ है, जो कि विकृत मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ है और जो भयानक दुःख-संबंध का कारण है।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

---

१. सिन्धौ। २. गुणकारोऽभूत्। ३. संततया प्रवर्तनात्। ४. भक्षण। ५. शालिसिक्थप्रमाण। ६. अन्तःकरण (मन) बहिःकरण (इन्द्रिय) आहितशरीरः द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियपरिपूर्णपर्याप्तिसहितः संजातः। जीवाः त्रिप्रकाराः—पर्याप्ताः अपर्याप्ताः लब्ध्यपर्याप्ताः। ७. प्रसार्य। ८. समुद्रनदीसंगमवत् विस्तारे। *. 'निष्क्रामन्तं निरीक्ष्य' इति ग०। ९. रहित। १०. चिन्तनात्। ११. भागः लेशः। १२. मत्स्यः। १३. भक्षणात्। १४. एकगव्यूतिकायः एकपल्यायुः। १५. मृत्वा। १६. भूतपूर्वमत्स्यौ।

सूक्ष्ममत्स्यः किलैकस्तु स्वयंभूरमणोदधौ । महामत्स्यस्य कर्णस्थः [1]स्मृतिदोषादधो गतः ॥ ४२ ॥

इत्युपासकाध्ययने मांसाभिलाषमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः ।

श्रूयतामत्र मांसनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—[2]अवन्तिमध्यजननलिनाभिनिवाससरस्यामेकानस्यां[3] पुरि पुरबाहिरिकायां देविलामहिलाविलासविशिख[4]वृत्तिकोदण्डस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्यैकस्यां दिशि निवेशितपिशितोपदंशस्या[5]परस्यां दिशि निधत्तसुरासंभृतकलशस्य तौ एतान्मध्ये स्थित्वा पुरु पानं तदुभयान्तराले चर्मनिर्माणतन्त्रा[7] [8]वरत्रां वर्तयतो वियद्विहारोड्डीयमानजडिम्मतुण्डखण्डनविनिष्यन्दि[9]विषधरविषदोषादसरा सुरासीत् । अत्रैवावसरे तत्समीपवर्त्मगोचरे[10] धर्मश्रवणजन्मान्तरादिप्रकाशनपराभिः कथाभिर्विनेयजनोपकाराय कृतकामचारप्रचारमम्बरान्मूर्तिमत्स्वर्गापवर्गमार्गयमलमिवावतरच्चारणर्षियुगलमवलोक्य संजातकुतूहलस्तं देशमनुगम्य नगरे[11] तद्दर्शनेन श्रावकलोकं व्रतानि समाददानमनुस्मृत्य समाचरितप्रणामः सुनन्दनाग्रेसरगमनमभिनन्दनं भगवन्तमात्मोचितं व्रतमयाचत । भगवानपि—

निस्सन्देह 'स्वयंभूरमण' समुद्र में महामत्स्य के कर्ण में स्थित हुआ तन्दुलमत्स्य अशुभ चिन्तन के दोष से (बुरे संकल्प से) नरक में गया ॥ ४२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मांस की इच्छामात्र करने का फल बतलानेवाला चौबीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब मांस-त्याग के फल के विषय में एक कथा कहते हैं, उसे सुनिए—

१२. मांसत्यागी चाण्डाल की कथा—

अवन्तिदेश में उत्पन्न हुए मानवरूपी कमलों के निवास के लिए तड़ाग-सरीखी उज्जयिनी नगरी में नगर के बाहर निवास करने वाला और देविला नाम की पत्नी के साथ रतिविलासरूप बाणवृत्ति के लिए धनुष-जैसा 'चण्ड' नाम का चाण्डाल रहता था। जिसने बीच-बीच में खाने के लिए अपने गृह की एक दिशा में मांस रूप शाक स्थापित की थी। और मध्य में पीने के लिए दूसरी दिशा में सुरा से भरा हुआ घट स्थापित किया था। एवं जो उन दोनों दिशाओं के मध्य में बैठकर मांस रूप शाक से प्रचुर सुरापान करता जाता था और बीच-बीच में चमड़े की रचना के संप्रदायवाली चर्मयष्टि बटता जाता था। उस समय उसकी शराब ऐसे जहरीले सर्प के विष से विषैली हो गई, जो कि आकाश में विहार करने से उड़ते हुए पक्षि-शावक की चोंच से खण्ड-खण्ड किये जाने से स्राव-सहित था।

उसने इसी अवसर पर ऐसा चारण ऋद्धि-धारक ऋषि-युगल देखा, जो कि उसके गृह के निकटवर्ती मार्ग में आकाश से उतरता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था। जिसने धर्मोपदेश और पूर्वभवों को प्रकाश करने वाली विस्तृत धर्मकथाओं द्वारा शिष्य जनों के उपकार के लिए इच्छानुसार विहार किया था एवं जो आकाश से अवतरण करता हुआ ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मूर्तिमान स्वर्ग व मोक्षमार्ग का जोड़ा हो है—इसे देखकर चाण्डाल को कौतूहल हुआ। यह भी उनके समीप गया और नगर के बीच मुनि-दर्शन से व्रत ग्रहण कर रहे श्रावक-समूह को देखकर इसने उन्हें प्रणाम किया और सुनन्दन मुनि के आगे गमन करने वाले ज्येष्ठ भगवान् अभिनन्दन मुनि से इसने अपने योग्य व्रत ग्रहण करने की याचना की।

१. चिन्तनदोषात् । २. देशोत्पन्ना जना एव नलिनानि कमलानि तेषां वसने सरः । ३. उज्जयिन्यां । ४. बाण । ५. मध्ये मध्ये भक्षणं शाकं । ६. दिशः । ७. संप्रदायां । ८. चर्मयष्टि । ९ स्रावसहितसर्प । १०. विषये । ११. नगरमध्ये मुनिदर्शनात् ।

उपकाराय सर्वस्य पर्जन्य[1] इव धार्मिकः । तत्स्थानास्थानचिन्तेयं बुद्धिवत्र हितोक्तिषु[2] ॥ ४३ ॥

इत्थमवगम्य सम्यगवधिबोधोपयोगाद्[3]भगवतैवासन्न*परासुतायोगस्तन्मातङ्गमेवमवोचत्—'अहो मातङ्ग, त्वदुभया[4]न्तराल-संजातां रज्जूं [5]सृजतस्तन्मध्ये तत्र [6]तन्निवृत्तिव्रतम्' इति । मातङ्गस्तथा प्रतिपद्योपसद्य[7] च [8]तमवकाशं पिशितं प्राश्य[9] 'यावदहमिदं स्थानकं नायामि तावन्मेऽस्य निवृत्तिः' इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थानः प्रतिपन्नपानस्त*दुग्रतर-गरभराल्लघू[10]ल्लङ्घितमतिप्रसरस्त[11]न्निवृत्तिमलभमानोऽपि प्रेत्य[12] तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन यक्षकुले यक्षमुख्यत्वं प्रतिपेदे । भवति चात्र श्लोकः—

चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तितः । अत्यल्पकालभाविन्याः[13] प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥ ४४ ॥

इत्युपासकाध्ययने मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः ।

धार्मिक महापुरुष समस्त लोक का उपकार करने के लिए मेघ-सरीखे होते हैं । अर्थात्—जैसे मेघ सब का उपकार करने के लिए हैं वैसे ही धार्मिक महापुरुष सब का उपकार करने के लिये हैं और जैसे स्थान और अस्थान का विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है, वैसे ही धार्मिक पुरुष कल्याणकारक धर्मोपदेश में स्थान और अस्थान का विचार नहीं करते । अर्थात्—उन्हें यह उत्तम है और यह नीच है, इस प्रकार की चिन्ता (विचार) नहीं होती । अभिप्राय यह है, कि वे समस्त सर्व साधारण प्राणियों के प्रति धर्म का निरूपण करते हैं ॥ ४३ ॥

ऐसा निश्चय करके भगवान् 'अभिनन्दन' मुनि ने अवधिज्ञान के उपयोग से इस चाण्डाल की निकट मृत्यु जान ली । अतः उन्होंने उससे कहा—'अहो चाण्डाल ! मांस व सुरा से भरे हुए घड़ों के मध्यदेश में बँधी हुई चर्म-रज्जु को बाँटनेवाले तुम्हारे लिए जिस वस्तु (मांस-आदि) के पास जाकर उसे एक बार भक्षण करलो, उसको समीपता छोड़कर दूसरी बार जब तक नहीं पहुँचते हो, अर्थात्—जब तक रस्सी बट रहे हो, उतने समय तक तुम्हें उसका त्याग है ।'

चाण्डाल उक्त नियम लेकर उस स्थान पर पहुँचा । उसने मांस भक्षण करके नियम किया 'कि जब तक मैं इस स्थान पर न आऊँ तब तक के लिए मुझे इसका त्याग है ।' इसके बाद वह सुरा से भरे हुए घड़े के पास पहुँचा और उसने सुरा पी ली । पीते ही जहरीले साँप के तीव्रतर जहर के प्रभाव से उसकी बुद्धि का प्रसार शीघ्र नष्ट हो गया । यद्यपि वह सुरा का त्याग न कर सका तथापि मरकर केवल उतने मात्र व्रत के माहात्म्य से वह यक्ष जाति के देव-समूह में प्रधान यक्ष हुआ ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

अवन्ति देश में 'चण्ड' नाम का चाण्डाल बहुत थोड़े समय में होनेवाली मांस की निवृत्ति (त्याग) से मरकर यक्ष देवों में प्रधान हुआ ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मांस-त्याग का फल निरूपण करनेवाला पच्चीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१. मेघः । २. एष उत्तमः एष नीचः धर्मकथने इति चिन्ता न, सर्वेषां धर्मो वाच्यः । ३. ज्ञात । *. मरणं । ४. मांसमद्यमध्यबद्धां । ५. कुर्वतः । ६. यस्मिन् पार्श्वे यद्भुक्तं तत्समीपं त्यक्त्वा द्वितीयवारं यावद्यायाति तावत्कालपर्यन्तं तद्व्रतं । ७. गत्वा । ८. स्थानं । ९. भुक्त्वा । *. 'तदुग्रतरगराल्लघू' इति ख० । १०. शीघ्रं । ११. मद्यनियमं । १२. मृत्वा । १३ सेवन-शीलायाः ।

अथ के ते उत्तरगुणाः—

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥ ४५ ॥

तत्र—

हिंसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहाः । एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥ ४६ ॥

संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते । प्रवृत्तिविनिवृत्ती[2] वा सदसत्कर्मसंभवे ॥ ४७ ॥

हिंसायामनृते चौर्यामब्रह्मणि परिग्रहे । दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥ ४८ ॥

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम्[3] । सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥ ४९ ॥

विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च । अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥ ५० ॥

देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय[4] वा । न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥ ५१ ॥

गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् । द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥ ५२ ॥

आसनं शयनं मार्गमन्नमन्यच्च वस्तु यत् । अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥ ५३ ॥

श्रावकों के उत्तर गुण—

[अब श्रावकों के उत्तरगुण बतलाते हैं—)

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण हैं ॥ ४५ ॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों के एकदेश त्याग करने को पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ ४६ ॥

व्रत का लक्षण—

सेवनीय वस्तु का संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा प्रशस्त कार्यों (दान, पूजा व व्रतादि) में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त (निन्द्य) कार्यों (मिथ्यात्व-आदि) के त्याग करने को व्रत कहते हैं ॥ ४७ ॥

पाँच पापों का कटुक फल—

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करने से इस लोक में भयानक दुःख और परलोक में दुर्गति के दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ४८ ॥

अहिंसा का लक्षण—प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों का घात करने को सज्जनों ने हिंसा मानी है और उनकी रक्षा करना अहिंसा मानी है ॥ ४९ ॥

प्रमत्त का लक्षण—जो जीव, चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय एक निद्रा और एक मोह, इन पन्द्रह प्रकार के प्रमादों के अभ्यास में अनुराग करने वाले प्राणियों को प्रमत्त कहा गया है ॥ ५० ॥

जो मानव देवताओं की पूजा के लिए, अतिथिसत्कार के लिए, पितरों के लिए, मन्त्रों की सिद्धि के लिए, औषधि के लिए अथवा भय-निमित्त सब प्राणियों की हिंसा नहीं करता, उसका वह अहिंसा व्रत है ॥ ५१ ॥

पानी वगैरह को छानकर उपयोग करना—

सभी गृहकार्य देखभाल कर कराने चाहिए और समस्त तरल पदार्थ (घी, दुग्ध, तेल व जलादि) वस्त्र से छानकर उपयोग में लाने चाहिए ॥ ५२ ॥ आसन, शय्या, मार्ग, अन्न, और जो कुछ भी दूसरे पदार्थ हैं उन्हें यथासमय सेवन करता हुआ भी बिना देखे शोधे सेवन न करे ॥ ५३ ॥

---

१. दानपूजाव्रतादौ । २. मिथ्यात्वाविरत्यादौ । ३. त्याग । ४. भयनिमित्तं च ।

[1]दर्शनस्पर्श[2]संकल्प[3]संसर्ग[4]त्यक्तभोजिताः[5]। हिंसनाक्रन्दनप्रायाः [6]प्राशप्रत्यूहकारकाः ॥ ५४ ॥
अतिप्रसङ्गहानाय[7] तपसः परिवृद्धये। अन्तरायाः स्मृता सद्भिर्व्रतबीजवृतिक्रियाः[8] ॥ ५५ ॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये। निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥ ५६ ॥
आश्रितेषु[9] च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः। गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥ ५७ ॥
संधानं पानकं धान्यं पुष्पं मूलं फलं दलम्। जीवयोनि न संग्राह्यं यच्च जीवैरुपद्रुतम् ॥ ५८ ॥
अमिश्रं[10] [11]मिश्रमुत्सर्गि[12] [13]कालदेशदशाश्रयम्। वस्तु किंचित्परित्याज्यमपोहास्ति जिनागमे[14] ॥ ५९ ॥
यदन्तःशुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत्। अनन्तकायिकप्रायं[15] [16]वल्लीकन्दादिकं[17] त्यजेत् ॥ ६० ॥
द्विदलं[18] द्विदलं[19] प्राश्यं [20]प्रायेणानवतां गतम्। शिम्बयः[21] [22]सकलास्त्याज्याः साधिताः[23] *सकलाश्च याः ॥६१॥

भोजन के अन्तराय—गीला चमड़ा, हड्डी, मांस, रक्त, पीप-आदि का देखना, रजः स्वला स्त्री, शुष्क चर्म, हड्डी, कुत्ता, बिल्ली व चाण्डाल-आदि का छू जाना, भोज्य पदार्थ में 'यह मांस की तरह है' इस प्रकार का बुरा संकल्प हो जाना, भोज्य पदार्थ में मक्खी वगैरह का गिरकर मर जाना, त्याग की हुई वस्तु को भक्षण कर लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने-आदि की आवाज सुनना, ये सब भोजन के अन्तराय (विघ्न पैदा करनेवाले) हैं। अर्थात्—उक्त अवस्थाओं में धार्मिक पुरुष को भोजन छोड़ देना चाहिए ॥ ५४ ॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीज की रक्षा करने के लिए बाड़-सरीखे हैं, इनके पालने से अतिप्रसङ्ग दोष की निवृत्ति होती है, और तपकी वृद्धि होती है, ऐसा आचार्यों ने माना है ॥ ५५ ॥ अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए व मूलगुणों की विशुद्धि करने के लिए इस लोक व परलोक में दुःख देनेवाले रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए ॥ ५६ ॥ गृहस्थ को चाहिए, कि जो अपने अधीन (गौ, दासी व दास-आदि) हों, पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे और शारीरिक अवसर (भोजनादि) में स्वयं यत्न करना चाहिए ॥ ५७ ॥ त्रसजीवों की राशिरूप अचार, पानक, धान्य, पुष्प, मूल, फल, पत्ता, जो कि जीवों की योनि (उत्पत्तिस्थान) हैं, ग्रहण नहीं करना चाहिए (भक्षण नहीं करना चाहिए) तथा कीड़ों से खाई हुई घुनी वस्तु को भी उपयोग में नहीं लानी चाहिए ॥ ५८ ॥ आचार शास्त्र में कोई वस्तु (जीव-योनि होने से) अकेली त्याज्य कही है, कोई वस्तु किसी के साथ संयुक्त (मिल जाने) से त्याज्य हो जाती है। कोई पदार्थ निरपवाद होने से त्याज्य होता है, अर्थात्—कोई वस्तु सर्वदा त्याज्य होती है। कोई वस्तु अमुक देश (स्थान) के आश्रय हो जाने से त्याज्य हो जाती है। कोई अमुक काल (चन्द्रग्रहण व वर्षाकाल-आदि) का आश्रय पाने से त्याज्य होती है एवं कोई पदार्थ अमुक दशा (अवस्था) का आश्रय हो जाने से त्याज्य होता है। परन्तु ये बातें पिण्ड शुद्धि-आदि शास्त्रों से विस्तार पूर्वक जानने के लिए शक्य हैं ॥ ५९ ॥

अहिंसा की रक्षार्थ दूसरे आवश्यक कर्तव्य—जिसके मध्य बहुत से छिद्र हों, ऐसी कमल-डंडी-आदि शाकें नहीं खानी चाहिए, क्योंकि उनमें आगन्तुक त्रसजीव होते हैं और जो अनंतकाय हैं, जैसे—लताएँ,

---

१. मांसरुधिरादीनां। २. श्व-रजःस्वलादीनाम्। ३. इदं मांसमिदं रुधिरं इत्यादयः। ४. मृतजीवजन्त्वादिभिरशुद्धता। ५. प्रत्याख्यातान्नसेवनात् या परिहृतान्यवस्तुरणं। ६. भोजनविघ्नाः या भोजनान्तरायाः। ७. त्यागाय। ८. व्रतबीजवृत्तयः। ९. गोदासीदासादिषु। १०. केवलं। ११. संयुक्तं। १२. निरपवादं। १३. देशाश्रयं कालाश्रयं अवस्थाश्रयं च, एतच्च देशान्तरं पिण्डशुद्ध्यादिशास्त्रेभ्यो विस्तारेण प्रतिपत्तव्यं। १४. किंचित् त्याज्यमपि वस्तु वर्तते। १५. अखण्डाः। १६. गुडूच्यादि। १७. सूरणादि। १८. द्विखण्डं। १९. 'माषमुद्गादि' टि० ख०, 'माषमुद्गचणकादिमान्यं' पं०। २०. जीर्णतां प्राप्तं द्विदलं, नवीनं कदाचिच्चणकादिकं अखण्डमपि प्राश्यं। २१. फलयः। २२. अखण्डिताः। २३. 'रद्धाः' पं०, 'राद्धा अपि' टि० ख०, 'रद्धाः' टि० च०। *. 'सकल्पाश्रयाः' इति क०।

तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रहः । वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥ ६२ ॥
शोकसंतापसंक्रन्द¹परिदेवनदुःखधीः । भवन्स्वपरयोर्जन्तुरसद्वेद्याय जायते ॥ ६३ ॥
कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते । जीवो जायेत चारित्रमोहस्यासौ समाश्रयः ॥ ६४ ॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम् । सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥ ६५ ॥
कायेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि । अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥ ६६ ॥
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः । जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥ ६७ ॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम् । हर्षामर्षोज्झिता² वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥ ६८ ॥
इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिनः । करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम्³ ॥ ६९ ॥
पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् । तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥ ७० ॥
सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते । विशिष्येते परं भावावत्र ⁴मुख्यानुषङ्गिकौ ॥ ७१ ॥

गुडूची (गुरवेल) और सूरण-आदि कन्द भी भक्षण नहीं करना चाहिए ॥ ६० ॥ पुराने (प्रायः जीर्ण हुए) मूँग, उड़द और चना-आदि को दलने के बाद ही खाना चाहिए। बिना दले हुए मूँग व सारा उड़द-आदि नहीं खाना चाहिए और अखण्डित (पूरी) समस्त फलियाँ राँधी हुई या बिना राँधी हुई (कच्ची) नहीं खानी चाहिए, क्योंकि उनमें त्रसजीवों का वास होता है। उन्हें खोलकर शोधने के बाद ही राँधकर ही या बिना राँधे खानी चाहिए ॥ ६१ ॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है, वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मानव में दयालुता नहीं होती ॥ ६२ ॥ जो मानव स्वयं शोक करता है तथा दूसरों को शोक उत्पन्न करने में कारण होता है। स्वयं सन्ताप करता है तथा दूसरों को सन्तापित करता है, स्वयं रोता है और दूसरों को रुलाता है और जो स्वयं दुःखी होता है और दूसरों को दुःखी करता है, उसे असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥ ६३ ॥ जिसके कषाय के उदय से अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम होते हैं, वह प्राणी चारित्र-मोहनीय कर्म का बंध करता है ॥ ६४ ॥

मैत्री प्रमोद व कारुण्यादि भावनाओं का स्वरूप—समस्त जीवों में मैत्री भाव का चितवन करना चाहिए। जो ज्ञानादि गुणों में विशिष्ट हों, उनके प्रति प्रमोद भाव का चिन्तवन करना चाहिए। दुःखी जीवों के प्रति करुणा भाव रखना चाहिए और गुणों से हीन (असभ्य व उद्धत) पुरुषों के प्रति माध्यस्थ्य भाव का चितवन करना चाहिए ॥ ६५ ॥ मैत्रीभावना के ज्ञाताओं ने दूसरे समस्त प्राणियों के प्रति मन, वचन व काय से दुःख उत्पन्न न करने की इच्छा-युक्त वृत्ति को मैत्री भावना स्वीकार की है ॥६६॥ तप व ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट पुरुष को देखकर जो विनय के आधार से पूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है, उसे विद्वानों ने 'प्रमोद' कहा है ॥ ६७ ॥

दीन (दुःखी) पुरुषों की दरिद्रता व रोगादि पीड़ा के दूर करने की बुद्धि को 'कारुण्य' कहते हैं और गुणों से शून्य मिथ्यादृष्टि असभ्यों के प्रति रागद्वेष न करने की वृत्ति को 'माध्यस्थ्य' कहते हैं ॥ ६८ ॥ इस प्रकार यत्नशील पुरुष को गृहस्थ हो करके भी स्वर्ग सुख हाथ में स्थित रहता है और उसे मोक्ष भी दूर नहीं है ॥ ६९ ॥ शास्त्रकारों ने पुण्य को प्रकाशरूप और पाप को अन्धकार रूप कहा है, अतः जिसके हृदय में दयारूपी सूर्य का प्रकाश हो रहा है, उसमें क्या अन्धकार रूप पाप ठहर सकता है ? ॥ ७० ॥ लोक में ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसमें हिंसा नहीं होती, किन्तु हिंसा और अहिंसा में केवल मुख्य व गौणभावों की विशे-

१. रोदन । २. त्यक्ता । ३. मोक्षः । ४. मुख्यत्वेन यदा वधः क्रियते तदा महत् पापं, यदाऽकस्मात् प्रसङ्गेन कदाचिद् वधो भवति तदा स्वल्पं पापं स्यादित्यर्थः ।

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् । अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ७२ ॥

कस्यचित्संनिविष्टस्य [1]दारान्मातरमन्तरा[2] । वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते ॥ ७३ ॥

तदुक्तम्—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः कुशलाः । तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः ॥ ७४ ॥

—आत्मानुशासन, श्लोक २३ ।

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया । क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत्* ॥ ७५ ॥

क्रियान्यत्र[3] क्रमेण स्यात्कियत्स्वेव च वस्तुषु । जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥ ७६ ॥

तथा च लोकोक्तिः—

एकस्मिन्मनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम् । अनायासेन समान्ति भुवनानि चतुर्दश ॥ ७७ ॥

धता है। अर्थात्—जब निर्दयी मानव द्वारा मुख्यता से—संकल्पपूर्वक वध किया जाता है तब उसे महान् पापबन्ध होता है और जब उसके द्वारा प्रसङ्ग से (कृषि-आदि जीवनोपाय के उद्देश्य से) वध किया जाता है, तब उसे स्वल्प पाप होता है।

भावार्थ—पं० आशाधर ने भी कहा है, कि गृहस्थाश्रम कृषि-आदि आरंभ के बिना नहीं होता और आरंभ हिंसा बिना नहीं होता, अतः मानव को संकल्पी हिंसा के त्याग करने में प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ ७१ ॥ संकल्प में भेद होने से अथवा मानसिक अभिप्राय की विशेषता से धीवर मछलियों का घात न करता हुआ भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है। अर्थात्—वह 'मैं कुटुम्ब के पालन के लिए धान्य पैदा करूँगा' इस विशुद्ध चित्तवृत्ति पूर्वक कृषि में प्रवृत्त होता है, जब कि धीवर बहुत मछलियाँ मारूँगा, इस दुरभिप्राय से नदी में जाल डालता है ॥ ७२ ॥ कोई एक मनुष्य, जिसके एक पार्श्वभाग में उसकी पत्नी बैठी है और दूसरे पार्श्वभाग में उसकी माता बैठी हुई है और वह उन दोनों के बीच में बैठा है, यद्यपि वह दोनों के शरीर का स्पर्श कर रहा है, उस अङ्ग-स्पर्श में कोई भेद नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भावना में बड़ा अन्तर है। अर्थात्—वह माता के स्पर्श-काल में विशुद्ध चित्तवृत्ति के कारण पुण्यवान् है और पत्नी के स्पर्शकाल में संक्लिष्ट चित्तवृत्ति के कारण पापी—कामी है ॥ ७३ ॥

निस्सन्देह प्रवीण पुरुषों ने परिणामों को ही पुण्य-पाप का कारण कहा है, अतः शुभ परिणामों से पुण्य का संचय करते हुए पाप की हानि करनी चाहिए ॥ ७४ ॥ मन के निमित्त से ही काय व वचन की क्रिया भी शुभ और अशुभ का आश्रय करती है। मन की शक्ति अचिन्तनीय है, इसलिए मन को नियन्त्रित (काबू) व शुद्ध करने में प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ ७५ ॥ शरीर व वचन की क्रिया तो क्रमिक (क्रम से) होती हैं और कुछ प्रतिनियत (सीमित) स्थूल पदार्थों में ही होती है, अर्थात्—कुछ ही पदार्थों को अपना विषय बनाती है परन्तु मन की क्रिया तो क्षणभर में तीन लोक से भी महान् होती है। अर्थात्—मन एक क्षण में तीन लोक के विषय में सोच सकता है। अतः विवेकी मन को नियन्त्रित करने में सावधान होवे अन्यथा महान् पाप बन्ध होगा ॥ ७६ ॥

इस विषय में एक लोकोक्ति भी है—

उद्यमशील पुरुषों के मन के एक कोने में बिना परिश्रम के चौदह लोक समा जाते हैं, अर्थात्—मन की

---

१. एकस्मिन् पार्श्वे दारान् एकत्र मातरं एतयोर्मध्ये उपविष्टस्य स्पर्शे विशेषो न परन्तु मनसि विशेषोऽस्ति। २. मध्ये।
*. ह० लि० क०, ख०, ग०, घ०, प्रतियों से संकलित—सम्पादक। ३. काये वचसि च।

भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् । यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजंतु[1] यत् ॥ ७८ ॥
ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोकं प्रवर्तताम् । गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥ ७९ ॥
दर्पेण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने । प्रायश्चित्तविधिं कुर्याद्यथादोषं यथागमम् ॥ ८० ॥
प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् । एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥ ८१ ॥
द्वादशाङ्गधरोऽप्येको[2] न *कृच्छ्रं[3] दातुमर्हति । तस्माद्बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥ ८२ ॥
मनसा कर्मणा वाचा यद्दुष्कृतमुपार्जितम् । मनसा कर्मणा वाचा तत्तथैव विहापयेत्[4] ॥ ८३ ॥

अचिन्त्य शक्ति है उससे चौदह लोक जाने जाते हैं ॥ ७७ ॥ पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक एवं घास-आदि वनस्पतिकायिक इन पाँच स्थावर—एकेन्द्रिय जीवों की विराधना उतनी ही करनी चाहिए, जितने से अपना प्रयोजन सिद्ध हो एवं जिस स्थान में दो-इन्द्रिय-आदि त्रसजीव नहीं हैं, उस स्थान से उक्त पृथिवी व जल-आदि अपने प्रयोजन के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ॥७८॥ ग्राम-कार्य (ग्राम-सेवा-आदि), स्वामि-कार्य व निजी कार्यों (कुटुम्ब-संरक्षण व परोपकार-आदि) में लोकरीति के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। क्योंकि इन कार्यों के गुण-दोषों का पृथक्-पृथक् बोध कराने में लोक ही गुरु है। अर्थात्-लौकिक कार्यों को लोकरीति के अनुसार ही करना चाहिए ॥ ७९ ॥

प्रायश्चित्त का विधान

मद से अथवा कषाय से दो इन्द्रिय-आदि त्रस जीवों का घात हो जाने पर अपने दोष के अनुकूल प्रायश्चित्त शास्त्र का अनुसरण करके प्रायश्चित्त विधि करनी चाहिए ॥ ८० ॥ 'प्रायः' शब्द का अर्थ साधुलोक है और उसके मन को चित्त कहते हैं; अतः साधुलोक की मानसिक शुद्धि करनेवाले प्रशस्त कार्यों (उपवास-आदि तपों) को आचार्य प्रायश्चित्त कहते हैं।

भावार्थ—प्रायश्चित्त करने से अपराधी जन की मानसिक शुद्धि होती है और दूसरे साधर्मी जनों का मन भी सन्तुष्ट हो जाता है। इसके ग्रहण करने से पुनः अकार्य (असंयम) में प्रवृत्ति नहीं होती और जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का पालन भी होता है, इत्यादि अनेक लाभ होते हैं ॥ ८१ ॥

प्रायश्चित्त-प्रदान का अधिकार

आचाराङ्ग-आदि द्वादशाङ्ग श्रुत का धारक भी एक गुरु प्रायश्चित्त देने में समर्थ नहीं है; क्योंकि अकेला एक विद्वान्, देश व काल-आदि समस्त अवस्थाओं के विचार करने में समर्थ नहीं हो सकता। टिप्पणीकार ने भी लिखा है—'आचार्य को गृहस्थ श्रावकों को प्रायश्चित्त देने के अवसर पर बहुत से विद्वानों को साक्षी करना चाहिए।'[1] अतः आगम में बहुश्रुत अनेक विद्वान् प्रायश्चित्त देने के अधिकारी माने गए हैं। अर्थात्—आचार्य, साधुजनों-आदि के लिए प्रायश्चित्त देने के अवसर पर देश व कालादि का विचार करने के लिए बहुश्रुत विद्वान् साधुओं को भी नियुक्त करे ॥ ८२ ॥

पाप के त्याग की अमोघ रामबाण औषधि

[इस मानव ने] अशुभ मन, वचन व काययोग द्वारा जो पाप-संचय किये हैं, उन्हें उसके विपरीत शुभ मन, वचन व काययोग द्वारा त्याग करना चाहिए।

---

१. यत्र स्थाने त्रसाः न सन्ति तस्मात् स्थानाद् गृहीतव्यं। २. किन्तु गृहिणां दंडदाने बहवः साक्षिणः कर्तव्याः।
*. 'कृत्स्नं' क०, 'कृच्छ्रं' च०। ३. समग्रं प्रायश्चित्तं। ४. त्यजेत्।

आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदां मतः । मनोवाक्कायतस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रयः ॥ ८४ ॥
हिंसनाब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभं विदुः । असत्यासभ्यपारुष्यप्रायं वचनगोचरम् ॥ ८५ ॥
[1]मदेर्ष्यासूयनादि[2] स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम् । [3]एतद्विपर्ययाज्ज्ञेयं शुभमेतेषु तत्पुनः ॥ ८६ ॥
हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशय्यान्नवाससाम् । दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पापमुपशाम्यति ॥ ८७ ॥
लङ्घनौषधसाध्यानां व्याधीनां बाह्यको विधिः । यथाकिंचित्करो लोके तथा पापेऽपि मन्यताम् ॥ ८८ ॥
निहत्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैः । करोतु सकलं कर्म दानपूजादिकं ततः ॥ ८९ ॥

भावार्थ—प्रायः विवेक-हीन मानव मानसिक असंयम (मद, ईर्ष्या व अनिष्ट-चिन्तवन-आदि) और वाचनिक असंयम (असत्य, असभ्य व मर्म-वेधक वचन बोलना) और कायिक असंयम (हिंसा, कुशील व चोरी-आदि) द्वारा जो पाप-संचय कर चुका है, उसे उसका कर्तव्य है कि इसके विपरीत मानसिक संयम (अहिंसा, मार्दव-आदि) व वाचनिक संयम (हित, मित व प्रिय भाषण-आदि) और कायिक संयम (अहिंसा, अचौर्य व ब्रह्मचर्य-आदि) द्वारा पापों का त्याग करे।

विमर्श—यहाँ पर श्लोक में 'विहापयेत्' का अर्थ टिप्पणीकार ने 'त्यजेत्' किया है उसी अर्थ का अनुकरण हमने भी किया है। आगे के श्लोकों से यही अर्थ ठीक मालूम पड़ता है ॥ ८३ ॥

योग का स्वरूप और भेद—

योग-वेत्ता आचार्यों ने मन, वचन व काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों के सकम्प होने को योग माना है। उसके तीन भेद हैं—मनोयोग, वचनयोग व काययोग। मन के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का सकम्प होना मनोयोग है। वचन के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का सकम्प होना वचन योग है और काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का सकम्प होना काययोग है। उक्त तीनों प्रकार का योग पुण्य व पाप कर्मों के आस्रव (आगमन) का कारण है। अर्थात्—शुभ मन, वचन व काययोग पुण्य कर्म के आस्रव का कारण है और अशुभ मन, वचन व काययोग पाप कर्म के आस्रव का कारण है ॥ ८४ ॥ आचार्य जानते हैं कि प्राणियों की हिंसा करना, कुशील-सेवन करना व चोरी करना अशुभ काययोग है और असत्य, असभ्य और दूसरों के मर्म-भेदक अप्रिय एवं कठोरप्राय वचन बोलना अशुभ वचनयोग है ॥ ८५ ॥ विद्वत्ता व पूजादि का घमण्ड करना, (अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से काम वासना से उत्पन्न हुआ कोप,) ईर्ष्या (धर्म द्वेष) करना, असूया (दूसरों के गुणों में भी दोषारोपण करना) आदि विकृत मनोवृत्ति के व्यापार के आश्रयवाला अशुभ मनोयोग जानना चाहिए और इनसे विपरीत अहिंसा व मार्दव-आदि शुभ मनोयोग समझना चाहिए ॥ ८६ ॥

पापों से बचने का उपाय

सुवर्ण, पशु, पृथिवी, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओं के दान देने से पाप शान्त नहीं होता ॥ ८७ ॥ जिस प्रकार लोक में लङ्घन और औषधि द्वारा नष्ट होने वाले रोगों को नष्ट करने के लिए केवल बाह्य उपचार व्यर्थ होता है उसी प्रकार पाप के विषय में भी मानना चाहिए। अर्थात्—मन, वचन व काय को वश में किये बिना केवल बाह्य वस्तुओं के त्याग कर देने मात्र से पापरूपी रोग शान्त नहीं होता ॥ ८८ ॥ इसलिए मन, वचन व काय के निग्रह द्वारा समस्त पाप नष्ट करके पश्चात् दान और पूजा-आदि सर्व शुभ कार्य करो ॥ ८९ ॥

---

१. कामजः कोपः धर्मद्वेषः । २. दोषारोपो गुणेष्वपि । ३. एतेषां विपर्ययात् अहिंसाब्रह्मास्तेयादिशुभपरिणामैः ।

आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रियः । संस्मृत्य गुरुनामानि कुर्यान्निद्रादिकं विधिम् ॥ ९० ॥
दैवादायुर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफलं महत् । [1]भोगशून्यमतः कालं [2]नावहेदव्रतं व्रती ॥ ९१ ॥
एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः । परं फलं तु पूर्वत्र[3] [4]कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥ ९२ ॥
आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः । अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥ ९३ ॥

श्रूयतामत्राहिंसाफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिदेशेषु सकललोकमनोहरागमारामे[5] शिरीषग्रामे मृगसेनाभिधानो मत्स्यबन्धः स्कन्धावलम्बितबलजालाद्युपकरणः [6]पृथुरोमशकुलीवैसारिणाण्डजीनपाठीनविहरणः कल्लोलजलप्लावितकूलशालेयमालम्भ्रां[7] सिप्रां सरितमनुसरन्नशेषमहर्षिपरिषद्वर्यमखिलमहाभागभूपालकल्पितसपर्यं *मिथ्यात्वविरहितधर्मचर्यं[9] श्रीयशोधराचार्यं निवाश्य[10] समासन्नसुकृतासाधुवदयत्वादूरादेव परित्यक्तपापसंपादनोपकरणग्रामः[11]

शयन के पहिले के कर्तव्य

'जब तक मेरी पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं हुई तब तक के लिए मेरे सब का त्याग है' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए फिर पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करके निद्रा-आदि लेनी चाहिए ॥ ९० ॥ क्योंकि दैव-वश यदि आयु क्षीण हो जाय तो त्याग से विशेष लाभ होता है, अतः व्रती का कर्तव्य है, जिस काल में वह भोग न करता हो, उस काल को विना व्रत के न जाने दे। अर्थात्—उतने समय के लिए उसे भोग का व्रत ले लेना चाहिए। टिप्पणीकार ने भी लिखा है कि 'निद्रादि लेते समय भोग-शून्यता रहती ही है, अतः नियम लिये बिना काल व्यतीत न करे' ॥ ९१ ॥ अकेली जीवदया एक ओर है और बाकी की समस्त धार्मिक क्रियाएँ दूसरी ओर हैं। अर्थात् अन्य समस्त क्रियाओं से जीवदया श्रेष्ठ है। अन्य समस्त धार्मिक क्रियाओं का फल खेती करने सरीखा (भविष्य कालीन) है और जीवदया का फल चिन्तामणि रत्न की तरह है, अर्थात्—चाही हुई चिन्तित वस्तु तत्काल देता है ॥ ९२ ॥ केवल अहिंसा व्रत के प्रभाव से ही दयालु मानव दीर्घायु, भाग्यशाली, लक्ष्मीवान्, सुन्दर व यशस्वी होता है ॥ ९३ ॥

अहिंसा व्रत के पालक मृगसेन धीवर की कथा

अब अहिंसा व्रत के फल के संबंध में एक कथा सुनिए—

अवन्ति देश के शिरीष नामक ग्राम में, जहाँ के उद्यानों में सभी जन-समूह आनन्द पूर्वक विचरते हैं, मृगसेन नाम का धीवर रहता था। एक दिन वह कंधे पर लटकाए हुए मछलियों के फंसाने के काँटे व जाल-आदि साधनों को लेकर मछली लाने के लिए विचरता हुआ ऐसी सिप्रा नदी की ओर चला, जो कि अपनी तरङ्गों के जल प्रवाह द्वारा तटवर्ती वृक्षश्रेणी को और खेतों को डुबो रही थी।

मार्ग में उसने श्रीयशोधर आचार्य के दर्शन किये, जो कि समस्त मुनियों की सभा में श्रेष्ठ थे और समस्त भाग्यशाली राजाओं द्वारा पूजित थे और मिथ्यात्व से रहित (सम्यग्दर्शन-पूर्वक) धर्म का आचरण करनेवाले थे।

---

1 निद्रादिकं कुर्वतां भोगस्य शून्यता स्यात्तेन नियमं विना कालं न गमयेत्। २. न निर्गमनं कुर्यात्। ३. दयायां। ४. अन्यासां क्रियाणां फलं कृषिवत्, दयायास्तु चिन्तामणिवत्। ५. मनोहरः आगमः—आगमनं यत्र आरामेषु। ६. पृथुरोमा, शकुली, वैसारिणः, अण्डजीणः, पाठीनश्च मत्स्यः। ७. क्षेत्र। ८. वृक्षश्रेणिस्तटां। *. 'इच्छाविहारविहितवर्मचर्यं' अथवा 'धर्मचर्यं' इति क०। ९. मिथ्यात्वेन विरहिता धर्मचर्या—चारित्रं यस्य स तं। १०. अवलोक्य—दृष्ट्वा। ११. समूह।

ससंभ्रमं[1] संपादितदीर्घप्रणामः प्रकामं प्रगलदेनाः समाहितमनाः 'साधुसमाजसत्तम,[2] समस्तमहामुनिजनोत्तम, देवा-दुपपन्नपुण्यगृह्यभावोऽनुगृह्यतां कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेनायं जनः' इत्यभाषत। भगवान्—'ननु कथमस्य पयःपतङ्गस्येव[3] सर्वंच [4]शकुलिविनाशनिःशूकाशयस्य[5] व्रतग्रहणोपदेशे प्रवीणमन्तःकरणमभूत्। अस्ति हि लोके प्रवादः, न खलु प्रायेण प्राणिनां प्रकृतेर्विकृतिरायत्यां[6] शुभमशुभं वा विना भवति' इत्युपश्रुतमतिः सम्यगवबुद्ध्य[7]सविधैतज्जीवितावधि-स्तमेवमवादीत्—'अहो शुभाशयायतन, अद्यतनाहनि यस्त्वदाद्ये[8]ऽनाये[9] मीनः समापतति स त्वया न प्रमापयितव्यः[10]। यावच्चात्मवृत्तिविषय[11]मामिषं न प्राप्नोषि तावत्तव तन्निवृत्तिः[12]। अयं पुनः पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रो मन्त्रः सर्वदा सुस्थि-तेन दुःस्थितेन च त्वया ध्यातव्यः' इति। मृगसेनः—'यथादिशति भट्टारकस्तथास्तु' इत्यभिनिविश्य[13] तां शंकलि-[14]नीमनुसृत्य जनितजालक्षेपोऽ[15]कालक्षेपमतनुकरणं[16] वैसारिण[17]मासाद्य स्मृतव्रतस्तस्य[18] श्रवसि[19] चिह्नाय[20] चोर-चीरं[21] निबध्यात्याक्षीत्[22]। पुनरपरावकाशे[23] सौरिणीप्रदेशे तमेवाकूरस्वरशर्मा समाचरितकर्मा तमेवाक्षक्षोण-[24]मक्षीणायुषमवाप्यामुञ्चत। तदैवमेतस्मिन्ननपिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पञ्चकृत्वो जाने विपदमग्ने मुच्यमाने सति, अस्त-

---

उस धीवर का हृदय निकट में पुण्य प्राप्त करने योग्य था, इसलिये उसने पापार्जन में सहायक जाल-आदि उपकरण-समूह दूर स्थान पर छोड़ दिये और आचार्य श्री के पास पहुँचा और उन्हें सादर साष्टाङ्ग नमस्कार किया, उस समय उसके पाप विशेषरूप से गल रहे थे और उसकी चित्तवृत्ति भी एकाग्र थी।

फिर उसने कहा—'हे साधु-समाज में श्रेष्ठ और समस्त महामुनियों में उत्तम मुनिराज! आज भाग्य से ही पुण्य-संचय का यह अवसर प्राप्त हुआ है, अतः मेरे लिए कोई व्रत देकर अनुगृहीत कीजिए।'

यह सुनकर मुनिराज ने सोचा—'निस्सन्देह बगुला-सरीखे निरन्तर मछलियों का घात करने में निर्दयी चित्त वाले इस धीवर का मन व्रत-ग्रहण के कहने में कैसे निपुण हुआ? निस्सन्देह लोक में ऐसी जनश्रुति है, कि प्रायः प्राणियों की प्रकृति (स्वभाव) उत्तरकाल में होनेवाले हित-अहित के बिना नहीं पलटती' यह सोचकर उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग कर उसे अल्पायु निश्चय करते हुए कहा—'हे शुभ मनोवृत्ति के आश्रय! आज जो पहली मछली तुम्हारे जाल में फँस जाय, उसे तुम नहीं मारना और जब तक तुम्हें अपनी जीविका रूप मांस प्राप्त न हो, तब तक के लिए तुम्हारे मांस का त्याग है और यह पैंतीस अक्षरों का पवित्र पंच नमस्कार मन्त्र है, इसका निरन्तर सुखी व दुःखी अवस्था में ध्यान करो।'

मृगसेन ने 'पूज्य की जो आज्ञा' ऐसा अभिप्राय करके व्रत ग्रहण कर लिए और सिप्रा नदी पर पहुँच कर जाल डाल कर शीघ्र बृहत्काय (बड़ी) मछली पकड़ ली। उसने अपने व्रत को स्मरण करके पहचान के लिए उस मछली के कान में कपड़े की धज्जी बाँधकर जल में जीवित छोड़ दिया। फिर निकट में सुख को प्राप्त होने वाले उसने दूसरे स्थान से नदी में जाल-विक्षेप-आदि कार्य किया। किन्तु वही मछली जाल में फिर आकर फँस गई, अतः उसने उसे फिर जीवित छोड़ दिया और जब वही मछलियों में श्रेष्ठ बृहत्कायवाली महामछली उसके जाल में पाँच बार फँसकर आपत्ति में फँसी तो भी उसने उसे जीवित जल में छोड़ दिया।

---

१. सादरं। २. हे मुने!। ३. बकस्य। ४. मत्स्यविनाशे। ५. निर्दयस्य। ६. उत्तरकाले। ७. समीप। ८. प्रथमतः। ९. जाले। १०. न मारणीयः। ११. स्वकरमानीतं। १२. मांसस्य नियमः। १३. अभिप्रायं कृत्वा। १४. सिप्रा नदीं। १५. शीघ्रं। १६. बृहच्छरीरं। १७. मत्स्यं। १८. मत्स्यस्य। १९. कर्णे। २०. अभि-ज्ञानाय। २१. वस्त्रं। २२. त्यजति स्म। २३. स्थाने। २४. मत्स्यं।

[1]अस्तकमध्यास्त[2] घनघुसृणरसारुणितवरुणपुरपुरन्ध्रीकपोलकान्तिशाली भास्वन्माली। तदनु तं गृहीतव्रतापरित्यागमोदमानचेतनं मृगसेनमधार्मिकलोकव्यतिरिक्तं[3] रिक्तमागच्छन्तं परिच्छिद्य,[4] अतुच्छकोपापरिहार्या तद्भार्या घण्टाख्या यमघण्टेव किमपि कर्णकटु क्वणन्ती कुटीरान्तःश्रितशरीरा [5]निर्विवरमररं[6] प्रदायास्थात् ।

मृगसेनोऽपि तया निरुद्धवेश्मप्रवेशःपञ्चनमस्कारमन्त्र[7]स्मरणसक्तचित्तः [8][9]पुराणतरतरुभित्त[9]मुच्छीर्षे निधाय सान्द्रं [10]निद्रायन्नेतत्तरुभित्त्यभ्यन्तरविनिःसृतेन सरीसृपसुतेन[11] दष्टः कष्टमवस्थान्तरमाविष्टो[12] [13]व्युष्टसमये[13] घण्टया दृष्टः। पुनरनेन सार्धमुष[14]र्बुधमध्यानुगमोचितनिश्चयमात्मनि विहितबहुनिन्दया शोचितश्च। ततः सा 'यदेवास्य व्रतं तदेव ममापि। जन्मान्तरे चायमेव मे पतिः' इत्यावेदितनिदाना समित्समिद्धमहसि [15]द्रविणोदसि हव्यसमस्नेहं[16] देहं जुहाव[17] ।

अथ विलासिनीविलोचनोत्पलपुनरुक्तवन्दनमालायां[18] विशालायां पुरि विश्वगुणामहादेवीश्वरो विश्वंभरो विश्वंभरो नाम नृपतिः। धनश्रीपतिः पिता च दुहितुः[19] सुबन्धोर्गुणपालो नाम श्रेष्ठी। तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपालिकायामेतस्यां [20]कुलपालिकायामनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वायां[21] सत्याम्, असौ वसुधापतिविटकथासंसृष्टतया [22]प्रतिपन्नभाण्डजनोपभावो नर्मभर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य सुताय नर्मधर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनमखिल-

---

इतने में ऐसा सूर्य अस्ताचल पर्वत पर आश्रित हुआ—अस्त हो गया। जिसने घने कुङ्कुम रस से वरुणपुर की स्त्रियों की गालों की कान्ति लालिमा-युक्त-की है।

इसके पश्चात् स्वीकार किए हुए व्रत का पालन करने से प्रसन्न चित्त होकर खाली हाथ लौटे हुए धार्मिक मृगसेन को आते हुए जानकर उसकी पत्नी घण्टा उसपर विशेष कुपित हुई और यमराज की घण्टा-सरीखी कर्ण-कटु गाली-गलौज बकती हुई अपनी झोपड़ी में चली गई और अन्दर से किवाड़ निश्छिद्र (बन्द) करके बैठ गई।

पत्नी द्वारा गृह में प्रवेश रोका हुआ मृगसेन भी पंच नमस्कार मन्त्र के स्मरण करने में संलग्न चित्त हुआ और एक जीर्ण वृक्ष के खण्ड को तकिया बनाकर मस्तक के नीचे रखकर गाढ़ निद्रा ले रहा था, कि इतने में उस वृक्ष की जड़ के भीतरी भाग से निकले हुए साँप के बच्चे ने उसे डस लिया, जिसके कारण विशेष कष्ट अवस्था में प्रविष्ट हुआ—मर गया। प्रभात होने पर जब उसकी घण्टा नाम की स्त्री ने उसे मरा देखा तब उसने अपनी विशेष निन्दा करके विशेष शोकाकुल होकर इसी के साथ अग्नि में जल जाने का निश्चय किया तथा उसने निदान किया, कि 'जो इसका व्रत था वही मेरा भी है और दूसरे जन्म में भी यही मेरा पति हो'। उसके बाद उसने ईंधन से प्रज्वलित कान्तिवाली चिता की अग्नि में घी-सरीखी चिकनी अपनी देह की आहुति दे दी—अपनी देह होम दी।

वेश्याओं के नेत्ररूपी कमलों के द्वारा दुगुनी हुई तोरण-पंक्तिवाली उज्जयिनी नगरी में 'विश्वगुणा' नाम की पट्टरानी का स्वामी और विश्व का पालक 'विश्वम्भर' नाम का राजा था। वहीं पर गुणपाल नाम का सेठ था। उसकी धनश्री नाम की प्रिया थी और सुबन्धु नाम की पुत्री थी। जब गुणपाल के मनोरथरूपी पथिक के लिए प्रीतिरूपी प्याऊ-सी उसकी पत्नी इस मृगसेन धीवर के आये हुए जीव से गर्भवती हुई तब वहाँ के

---

१. अस्तपर्वतं। २. आश्रितः। ३. पृथग्भूतं। ४. ज्ञात्वा। ५. निश्छिद्रं। ६. कपाटं। ७. पंचनमस्कार। ८. ९. पुराणतरु—जीर्णवृक्षखण्डं काष्ठं। १०. निद्रां कुर्वन्। ११. सर्पेण। १२. प्रविष्टः। १३. प्रभाते। १४. अग्निः। १५. अग्नौ। १६. घृतवच्चिक्कणं। १७. आहुतीचकार। १८. तोरण। १९. सुबन्धुपुत्री-तातः। २०. कुलभार्यायां। २१. गर्भिण्यां। २२. भाण्डादिरतो नृपः।

कलाकलापालंकृतरूपसमन्वितां सुतामयाचत । श्रेष्ठी दुष्प्रश्नेन राज्ञा तथा याचितः 'यदि नर्मसचिवसुताय सुतां वितरामि[1] तदावश्यं कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च । अथ [2]स्वामिशासनमतिक्रम्यात्रैवासे[3] तदा सर्वस्वापहारः प्राणसंहारश्च' इति निश्चित्य प्रियसुहृदः श्रीदत्तस्य वणिक्पतेर्निकेतने समणिमेखलकलत्रं[4] कलत्र[5]मवस्थाप्य [6]स्वापतेयसारं दुहितरं चात्मसात्कृत्य सुलभकेलिवनवना[7]शयनिवेशं कौशाम्बीदेशमयासीत् ।

अत्रान्तरे [8]श्रीमद्दरिद्रमन्दिरनिर्विशेषमाचरितचर्यापर्यटनौ शिवगुप्तमुनिगुप्तनामानौ मुनी श्रीदत्तप्रतिवेश[9]-निवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रहौ[10] कृतोपचारविग्रहौ च तामङ्गणाश्रयां धनश्रियमपश्यताम् । तत्र मुनिगुप्तभगवान्किल केवलजलस्नानपरुषवपुषमुद्गमनी[11] [11]धवलांशुकाङ्गाभोगत्विषमवैधव्यचिह्नदवर[12]कमात्रालंकारकृतमाप्त-कान्तापत्यपरिजनविरहदेहसादां गर्भगौरवखेदां च शिशिराजस्रवास्र[13]वर्तिनीं स्थलकमलिनीमिव म्लानच्छविमुद-वसित[14]परिसरे[15] परगृहवासविशीर्यमा[16]णमुखश्रियं धनश्रियं निध्याय[17] 'अहो, महीयसां खलु [18]एनसामावासः कोऽप्यस्याः कुक्षौ महापुरुषोऽवतीर्णः, येनावतीर्णमात्रेणापि [19]दुष्पुत्रेणेयं वराकी इयदवस्थां दशामशिश्रयत्' इत्यभाषत ।

राजा विश्वम्भर को विटों के साथ वार्तालाप करने में शामिल होने के कारण भाण्डजन बहुत प्रिय थे। अतः उसने नर्मधर्म नाम के विदूषक के पुत्र नर्मधर्म के लिए गुणपाल सेठ से समस्त कलाओं की श्रेणी से अलङ्कृत व सर्वाङ्ग सुन्दरी पुत्री की याचना की। दुर्बुद्धि राजा की इस माँग से गुणपाल ने निश्चय किया—'यदि विदूषक के पुत्र को कन्या देता हूँ तो अवश्य कुल-परम्परा का उल्लङ्घन होता है एवं अपकीर्ति भी फैलती है और यदि स्वामी की आज्ञा का उल्लङ्घन करके भी यहाँ स्थित रहता हूँ तो सर्वस्व अपहरण के साथ-साथ प्राण भी जाते हैं।' ऐसा निश्चय करके रत्नजटित करधोनी से अलङ्कृत जङ्घाओं वाली अपनी पत्नी को तो अपने प्रिय मित्र श्रीदत्त सेठ के यहाँ रक्खी और सार सम्पत्ति-सी अपनी पुत्री को अपने अधीन करके (साथ लेकर) क्रीड़ावनों व जलाशयों की स्थानीभूत 'कौशाम्बी' देश की ओर प्रस्थान किया।

इसी बीच में धनाढ्य और निर्धनों के गृहों में समान चित्तवृत्तिपूर्वक (भेद न रखते हुए) आहार-चर्या के लिए विहार करनेवाले शिवगुप्त व मुनिगुप्त नामके दो मुनिराजों ने श्रीदत्त के आंगन में बैठी हुई धनश्री को देखा, जिनका पड़गाहना श्रीदत्त के निकट रहनेवाले (पड़ोसी) श्रावक द्वारा यथाविधि किया गया था, एवं जिनकी शारीरिक सेवा-शुश्रूषा की गई थी।

उनमें से मुनिगुप्त मुनि ने ऐसी धनश्री को देखकर कहा,—जिसका शरीर तैल के बिना स्नान करने से रूक्ष था। जिसके शारीरिक अङ्गों की विस्तृत कान्ति शुक्ल वस्त्र से सुशोभित थी। जो सौभाग्य-सूचक मङ्गलसूत्रमात्र आभूषण को प्रीतिपूर्वक धारण कर रही थी। जिसका शरीर हितैषी जन, पति, पुत्री एवं परिजनों के वियोग से कृश हो गया था। जो गर्भ के भार से खेद-खिन्न थी और जिसकी कान्ति उस प्रकार म्लान थी जिस प्रकार शीत ऋतु संबंधी दिवसों के निरन्तर आने से स्थल कमलिनी की कान्ति म्लान होती है। एवं जो गृहाङ्गण में स्थित थी और जिसकी मुखश्री दूसरे के गृह में रहने से म्लान हो रही थी।

'अहो आश्चर्य है कि निस्सन्देह इसकी कुक्षि में ऐसा कोई महान् पापों का स्थान (बड़ा पापी)

---

१. ददामि। २. राजादेशं। ३. तिष्ठामि। ४. जघनं यस्याः। ५. भार्या, कलत्रं जघनं भार्या चेति पञ्जिकाकारः। ६. धनं। ७. जलाशयः। ८. सधननिर्धनगृहसमचित्तम्। ९. निकटवासिना। १०. स्वीकारौ। ११. शुक्लवस्त्र-युक्ता अङ्गत्विष् यस्याः। १२. दवरकः दोरः। १३. वास्रो वासरः। १४. उदवसितं गृहं। १५. परिसरः अङ्गणं। १६. म्लायन्ती। १७. दृष्ट्वा। १८. पापानां। १९. दुष्पुत्रेण।

मुनिवृषः[1] शिवगुप्तः—'मुनिगुप्त, मैवं भाषिष्ठाः। यतो यद्यपीयं श्रेष्ठिनी कानिचिद्दिनान्येवंभूता सती पराधिष्ठाने[2] तिष्ठति, तथाप्येतदपत्येन सकलवणिक्पतिना निरवधिशेवधीश्वरेण[3] [4]'विश्वंभरेश्वरसुतावरेण च भवितव्यम्' इत्यवोचत्।

एतच्च स्वकीयमन्दिरालिन्दकगतः[5] श्रीदत्तो निशम्य 'न खलु प्रायेणासत्यमिवमुक्तं भविष्यति महर्षेः' इत्यवधार्य सद्योमुखसर्पश्रुवरीहितदलचेतोवृत्तिरासीत्। धनश्रीश्च परिप्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत। श्रीदत्तः—[6]'चित्रभानुरिवायमाश्रयाशो[7] खलु बालिशः। [8]तदसंजातस्नेहायामेवास्य जनन्यामुपांशुवधः[9] श्रेयान्' इति परामृश्य प्रसूतिदुःखेनातुच्छमूर्छापाश्रयां[10] धनश्रियमाकलय्य निजपरिजनवृद्ध[11]स्त्रीमुखेन 'प्रमीत[12] एवायं तनयः संजातः' इति प्रसिद्धिं विधायाकार्यं चंक्रमाचरितोपचारप्रपञ्चं [13]श्वपचं [14]'जिह्मवाह्यो'[15]रहस्यनिकेतः कृतापायसंकेतस्तं [16]स्तन्यपमेतस्य[17] समर्पयामास।

सोऽपि जनंगमः स्वर्भानुप्रभेण[18] करेण रामरश्मिमिव[19] तं स्तनंधयमुपकल्प्य निःशलाकावकाशं[20] वेशमाश्रित्य

महापुरुष आया हुआ प्रतीत होता है, जिस दुष्ट पुत्र के गर्भ में आने मात्र से इस बिचारी ने ऐसी शोचनीय दशा का आश्रय किया है।'

उक्त बात सुनकर मुनियों में मुख्य या ज्येष्ठ 'शिवगुप्त' मुनिराज ने कहा—'मुनिगुप्त! ऐसा मत कहो; क्योंकि यद्यपि यह सेठानी कुछ दिनों तक ऐसी शोचनीय दशा का अनुभव करती हुई दूसरे के गृह में रह रही है, तथापि इसका पुत्र समस्त वणिकों का स्वामी, राज-श्रेष्ठी व निस्सीम निधि का स्वामी एवं विश्वम्भर राजा की राजकुमारी का वर होना चाहिए।'

अपने गृह के बाह्य द्वार पर बैठे हुए श्रीदत्त ने उक्त ऋषि की बात सुनकर 'निस्सन्देह महर्षि द्वारा कही हुई वाणी प्रायः झूठी नहीं होती।' ऐसा निश्चय करके उसने अपनी चित्तवृत्ति को उस प्रकार दुष्ट संकल्प की ओर लगाई जिस प्रकार दृष्टि-विषवाला सर्प दर्शन मात्र से दुष्ट संकल्प (डँसने) की ओर लगाता है। प्रसव के दिन समाप्त करके धनश्री ने पुत्र को जन्म दिया।

श्रीदत्त ने विचार किया—'निस्सन्देह यह बच्चा अग्नि की तरह अपने आश्रय का भक्षक है, माता का इस पर स्नेह उत्पन्न होने के पूर्व ही इसका गुप्तवध कर देना श्रेयस्कर है।' अतः उसने धनश्री को प्रसूति के कष्ट से विशेष मूर्च्छा का आश्रय करनेवाली (मूर्च्छित—बेहोश) निश्चय कर अपने कुटुम्ब की एक वृद्ध स्त्री के मुख से 'बच्चा मरा ही पैदा हुआ है' ऐसी प्रसिद्धि करके कुटिल भाषा के रहस्य के स्थानीभूत हुए इसने सेवा का प्रपञ्च करनेवाले—घूसखोर एक चाण्डाल को बुलाकर वध का संकेत करते हुए उसके लिए बच्चा समर्पण कर दिया।

वह चाण्डाल भी राहु-सरीखे कृष्ण कान्ति वाले हाथ से चन्द्र-सरीखे बच्चे को आच्छादित करके

---

१. मुख्यः। २. परगृहे। ३. 'स्थायिधनं' टि० ख०, 'शेवधिः निधिः' इति पञ्जिकाकारः। ४. राजकन्या-भर्ता भविता। ५. प्रधानप्रघणालिन्दबहिर्द्वारप्रकोष्ठके। ६. अग्निवत्। ७. आश्रयं अश्नातीति। ८. तस्मात् कारणात्। ९. गूढवधः। १०. संश्रयां। ११. वृद्धा स्त्री। १२. मृत एव जनितः। १३. श्वपचः, जनंगमः, अन्त्यावसायी, दिवाकीर्तिश्च चाण्डालः। १४. कुटिला। १५. वाणी। १६. शिशुं। १७. जनंगमस्य। १८. राहुसदृशकृष्णेन। १९. 'चन्द्रमसमिव' टि० ख०, 'रामरश्मिः हरिणकिरणश्च श्वेतभानुश्चन्द्र इति यावत्। रामः सितेऽपि निर्दिष्टो हरिणश्च तथा मतः इति वचनात्' इति पञ्जिकाकारः। २०. एकान्तं।

पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव शुभशरीरभाजमेनमवेक्ष्य संजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुखः सुखेन विनिधाय धाम [1]स्वकीयमटीकत ।

पुनरस्य[2] चावरभव[3]भगिनीपतिरखिलापणिक[4]पणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी विक्रयाडम्बरितशण्ड[5]मण्डलाधीनं पीठोपकण्ठगोष्ठी[6]मनुसृतो [7]वत्सीयविषयसमीप[8]क्रीडागतगोपालबालकलपन[9]परम्परालापाहृतसतर्ष[10]-[11]तर्णकसंतानपरिवृतमनेकचन्द्रकान्तोपलान्तरालनिलीनमरुणमणिनिधानमिव तं [12]जातमुपलभ्य स्वयमदृष्टतनयवदनत्वा[13]त्तद्बुद्ध्या साग्रहमुदस्य 'स्तनंधयाभिध्यानधृतबोधे राधे[14], तवायं गूढगर्भसंभवस्तनूद्भवः' इति प्रवर्धितप्रसिद्धिमहान्तमपत्योत्पत्तिमहोत्सवमकार्षीत् ।

श्रीदत्तः [15]श्रवणपरम्परया समेतं वृत्तान्तमुपश्रुत्याधिदय च शिशुविनाशनाशयेन कीनाश[16]इव तन्निवेशम्[17] 'इन्द्रदत्त, अयं महाभागधेयो भागिनेयो ममैव मामकधाम्नि वर्धताम्' इत्यभिधाय सभागिनीकं [18]तोकमात्मावासमानीय पुरावत्क्रूरप्रज्ञः [19]संज्ञपनार्थमन्तावसायिने[20] प्रायच्छत । सोऽपि दिवाकीर्तिरुपात्तपुत्रभाण्डः सत्वरमुपह्वर[21]गह्वरानुसारी [22]समीरवशविगलितघनाम्बरावरणं हरिणकिरणमिव[23] ईक्षणरमणीयं गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदयः प्रवल-

---

एकान्त स्थान में ले गया। वहाँ पुण्य-परमाणुओं के पुञ्ज-जैसे सुन्दर शरीर-धारक इस बच्चे को देखकर इसे विशेष करुणारस उत्पन्न होने से इसका मुख प्रसन्न हो गया, अतः वह जीवित बच्चे को सुख से लिटाकर अपने स्थान पर चला गया।

इसके पश्चात् श्रीदत्त का छोटा बहनोई 'इन्द्रदत्त' नामका सेठ, जो कि सभी वणिक्-व्यवहार में श्रेष्ठ था, बेचने के लिए इकट्ठे किये हुए बैलों के झुण्ड की अधीनता वाले स्थान के निकटवर्ती गोकुल में पहुँचा और उसे ऐसा बालक प्राप्त हुआ, जो कि बछड़ों के लिए हितकारक प्रदेश के निकट क्रीड़ा करने के लिए आये हुए ग्वालों के बच्चों की मुखपरम्परा के वार्तालाप से और छोटे बछड़ों के झुण्ड से घिरा हुआ था। एवं जो अनेक चन्द्रकान्त मणिमयी शिलाओं के बीच में मौजूद था। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—लाल मणियों की निधि ही है। उसने कभी स्वयं पुत्र का मुख नहीं देखा था, अर्थात्—उसके पुत्र नहीं था, इसलिए उसने इसे अपने पुत्र की बुद्धि से उठा लिया। उसने विशेष आग्रह पूर्वक अपनी पत्नी राधा से कहा—'सदा बच्चे की लालसा के ध्यान में अपनी बुद्धि प्रेरित करने वाली प्रिये राधे! यह तुम्हारे गूढ़ गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र है। उसने उक्त प्रकार प्रसिद्धि को वृद्धिगत करते हुए पुत्रोत्पत्ति का महान् महोत्सव किया।

श्रीदत्त कर्णपरम्परा से यह समाचार सुनकर बच्चे का घात करने के दुरभिप्राय से यमराज-सरीखा होकर इन्द्रदत्त के गृह पर पहुँच कर उससे बोला—'इन्द्रदत्त! यह महाभाग्यशाली भानजा मेरे ही स्थान पर बड़ा होना चाहिए।' और बहिन-सहित बच्चे को अपने गृह पर ले आया एवं पूर्व की तरह निर्दय बुद्धि-वाले उसने वध करने के लिए बच्चे को चाण्डाल के लिए दे दिया। वह चाण्डाल भी पुत्ररूपी बर्तन को लेकर शीघ्र ही एकान्त गुफा की ओर चल दिया। जब उसने ऐसे गुणपाल के शिशु को देखकर, जो कि वायु के संचार से जिसके ऊपर से मेघ-पटल का आवरण हट गया है, ऐसे चन्द्रमा-सरीखा नेत्रों को प्यारा है। उसका

---

१. स्वगृहं गतः। २. श्रीदत्तस्य। ३. लघुभगिनी। ४. वणिग्व्यवहारः। ५. वृषभाः। ६. गोष्ठीनं गोकुलस्थानं। ७. वत्सेभ्यो हितप्रदेशे। ८. समीपं। ९. मुखपरम्परा। १०. लघुवत्सा। ११. वृषभाः। १२. बालं। १३. पुत्र। १४. हे भार्ये!। १५. कर्णपरम्परया। १६. यमः। १७. इन्द्रदत्तगृहं। १८. अपत्यं पुत्रं वा। १९. मारणार्थं। २०. मातङ्गाय। २१. एकान्तं, रहः। २२. वायुपरवशेन। २३. चन्द्रमिव।

विटपिसंकटे सरित्तटनिकटे परित्यज्य यथायथमश्वल्लीत्[1] ।

तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावादुपमातृभिरिव[2] [3]एतद्वीक्षणात्क्षरत्क्षीरस्तनीभिरानन्दोदीरितनिर्भरहुं[4]भाध्वनिभिः [5]प्रचाराय गताभिः कुण्डोध्नीभिर्व्रजगो[6]कर्षगुभिरुपरुद्धसविधभागः[7] [8]उपदान्तरमागतेन तत्क्षणक्षेप गोपालजनेन अस्ताचल*भाभासिन्य[9]शोकस्तबकसुन्दरे सरोजसुहृदि[10] सति विलोकितः । कथितश्च सकलगोष्ठज्येष्ठाय [11]वल्लवकुलवरिष्ठाय निजाननापहसितारविन्दाय गोविन्दाय । सोऽपि पुत्रप्रेम्णा प्रमोदगरिम्णा चानीय जनितहृदयानन्दायाः सुनन्दायाः समर्पितवान् । अकरोच्चा[12]स्येन्दिरामन्दिरस्य[13] धनकीर्तिरिति नाम । ततोऽसौ क्रमेण परित्यक्तशैशववशः कमलेश[14]इव युवजनमनः[15]पण्यतारुण्योत्कुलवल्लवी[16]लोचनालिकुलावलेह्य[17]लावण्यमकरन्दमम्बानन्द*कामन्द[18]मतिकान्तरूपायतनं यौवनमासादितः पुनरपि प्राज्याज्यवाणिज्योपार्जनसज्जागमनेन तेन श्रीदत्तेन दृष्टः । पृष्टश्च गोविन्दस्तदवाप्तिप्रपञ्चम् । [19]श्रीदत्तः—'गोविन्द, मदीये सदने किमपि महत्कार्यमात्मजस्य[20] निवेद्यमस्ति । सत्यं

हृदय दया से द्रवीभूत हो गया। अतः उसने उसे स्थूल वृक्षों से व्याप्त नदी के तट के समीप छोड़कर पूर्व की तरह वहाँ से शीघ्र चल दिया।

इसके पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से वहाँ पर भी ऐसी गोकुल की गायों से इसका निकटवर्ती स्थान रोका गया; जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—इसकी धाएँ ही हैं—इस बच्चे को देखने से जिनके थनों से दूध झर रहा था। जिन्होंने आनन्द से विशेष रँभाने की ध्वनि प्रकट की थी। जो घास चरने के लिए वहाँ आई हुई थीं और जिनके थन प्रचुर मात्रा में दूध से भरे होने के कारण कुण्ड-सरीखे थे।

जब सन्ध्या के समय अशोक वृक्ष के गुच्छा-सरीखा मनोज्ञ सूर्य अस्ताचल पर मुकुट-सरीखा शोभायमान हो रहा था, तब इसके पास आए हुए गोरक्षा में चतुर ग्वालों ने इसे देखा और समस्त गोकुल—गोशाला के स्वामी व ग्वालों के वंश में श्रेष्ठ एवं अपनी मुख-कान्ति द्वारा कमलों की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले 'गोविन्द' नामके स्वामी से कहा। पुत्र-स्नेह से व आनन्द से महान् गोविन्द भी उस बच्चे को घर ले आया और उसने हृदय में उत्पन्न हुए आनन्द वाली सुनन्दा नाम की प्रिया के लिए समर्पण कर दिया; लक्ष्मी के स्थान इस बालक का नाम 'धनकीर्ति' रक्खा।

इसके पश्चात् क्रम से बाल्यावस्था को छोड़कर श्रीपति सरीखे इसने ऐसी युवावस्था प्राप्त की, जिसमें युवक-जन के मन के ग्रहण करने में बेचने-योग्य (अर्घप्राय) यौवन से प्रमुदित हुई गोपियों की नेत्ररूपी भ्रमर-श्रेणी द्वारा आस्वादन करने योग्य लावण्यरूपी पुष्परस पाया जाता है। जो प्रचुर सुख का कामद (मन्दिर) है, अथवा पाठान्तर में पञ्जिकाकार के अभिप्राय से जिसमें प्रचुर सुख व कामदेव वर्तमान है और जो बेमर्याद खूबसूरती का स्थान है।

एक दिन प्रचुर घी के व्यापार द्वारा धनोपार्जन की इच्छा से यहाँ आये हुए श्रीदत्त ने इसे देखकर गोविन्द से इसकी प्राप्ति के विषय में विस्तार से पूँछा और उससे कहा—'गोविन्द! मुझे अपने गृह पर अपने

---

१. आशु गतवान् ष्वल्ल आशुगमने लुङि। २. धात्रीभिः। ३. शिशु। ४. गोधनं। ५. तृणादनार्थं। ६. गोकुल। ७. समीप। ८. उपदान्तरं समीपं। *. 'भागि' ग०। ९. संध्यासमये। १०. रवौ। ११. वल्लवाः गोकुलिकाः। १२. पुत्रस्य। १३. लक्ष्मीगृहस्य। १४. हरिरिव। १५. मनोग्रहणे पण्यं विक्रयमाणं अर्घप्रायं तारुण्यं। १६. गोपी। १७. आस्वाद्य। *. 'कामदं (मन्दिरं)' ख०। १८. कामन्दः कामः इति पञ्जिकायां। १९. श्रीदत्तः प्राह। २०. मम पुत्रस्य महावल्लस्य।

¹प्रकृष्टजानुरिमं लेखं ग्राहयित्वा सत्वरं प्रहेतव्यः² ।' गोविन्दः—'श्रेष्ठिन्, एवमस्तु ।' लेखं चैवमलिखत्—'अहो विदित-समस्तपौत³वकल महाबल, एष त्वद्वंशविनाशवैश्वानरोऽवश्यं विषेण⁴ मुशल्यो⁵ वा विधातव्यः' इति । धन-कीर्तिस्तथा ⁶तातवणिक्पतिभ्यामादिष्टः सावष्टम्भं⁷ गलालंकारसखं लेखं कृत्वा गत्वा च जन्मान्तरोपकाराधीन-⁸मीनावतारसरसीमेकामसीं⁹ तत्प्रवेशपदवि¹⁰पर्यन्तवर्तिनि वने वर्त्मश्रमापनयनाय ¹¹पिकप्रियालवालपरिसरे ¹²निःसंज्ञमस्वाप्सीत् ।

अत्रावसरे विहितपुष्पावचयविनोदा सपरिच्छदा निखिलविद्याविदग्धा¹³ पूर्वभवोपकारस्निग्धा संजीवनौषधि-समानानङ्गसेनानामिका गणिका तस्यैव सहकारतरोस्तलमुपढौक्य विलोक्य च निःस्पन्दलोचना चिराय तमनङ्गमिव ¹⁴मुक्तकुसुमास्त्रतन्त्रं ¹⁵लोकान्तरमित्रमशेषलक्षणोपलक्षितमूर्तिं धनकीर्तिं पुनरायुःश्रीसरस्वतीसमागमादेशरेखात्रयेणेव प्रकटवितर्कितकर्कोटत्रयेण¹⁶ बन्धुरमध्यप्रदेशात्कण्ठदेशादादाय वधाभिप्रायप्रतिपादनाक्षरालेख्यं लेखमवाचयत् ।

विलोक्य¹⁷ च तं वाणिजकापसदं¹⁸ हृदयेन धिक्कुर्वती¹⁹ लोचनाञ्जनकरण्डावुपान्तेन वनवल्लिपल्लवनिर्या-

---

पुत्र से कुछ जरूरी बात निवेदनीय है। अतः प्रकृष्ट घुटनों वाले इस युवक को यह पत्र देकर शीघ्र भेज दो।'

गोविन्द ने कहा—'श्रेष्ठिन् ऐसा हो।'

उसने पत्र में यह लिखा था—'माप-तौल की कला के ज्ञाता महाबल ! यह युवक हमारे वंश को ध्वंस करने के लिए अग्नि-सरीखा है, अतः या तो यह विष देकर मार डालने लायक है या मूसलों द्वारा वध करने योग्य है।'

पिता (गोविन्द) और वैश्यपति (श्रीदत्त) द्वारा आज्ञापित हुआ धनकीर्ति उस मुद्राङ्कित पत्र को अपने गले का आभूषणरूप मित्र बना कर उस उज्जयिनी नगरी की ओर चल दिया, जो कि पूर्वजन्म में किये हुए उपकार के अधीन हुई मछली के जन्म के लिए बड़े तड़ाग-सरीखी है और नगरी के निकट पहुँचकर वह नगरी के प्रवेश-मार्ग के निकटवर्ती वन में मार्ग की थकावट दूर करने के लिए आम्रवृक्ष की क्यारी के समीप देश में निश्चेतनता पूर्वक सो गया।

इसी अवसर पर पुष्प-चयन की क्रीड़ा करनेवाली, अपने सेवक जनों से सहित, समस्त विद्याओं में निपुण, पूर्वभव (मछली की पर्याय) में किये हुए उपकार से उससे स्नेह करनेवाली एवं संजीवन बूटी-सरीखी जीवनदात्री अनङ्गसेना नाम की वेश्या, उसी आम्रवृक्ष के नीचे गई और ऐसे धनश्री को देखकर निश्चल नेत्रों वाली हुई, अर्थात्—टकटकी लगाकर देखने लगी। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—पुष्परूपी बाणों की पराधीनता से रहित हुआ (बाणों के बिना) कामदेव ही है—जो पूर्वजन्म का मित्र है, एवं जिसका शरीर समस्त शुभ लक्षणों से सुशोभित है। इसके बाद उसने स्पष्ट जानी हुई कण्ठ की तीन रेखाओं से मनोज्ञ मध्य-भाग वाले उसके कंठदेश से, जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—उसकी चिरायु, लक्ष्मी व सरस्वती के समागम को सूचित करनेवाली तीन रेखाएं थीं, पत्र ग्रहण करके पढ़ा, जिसमें धनकीर्ति के वध करने की सूचक अक्षर-पङ्क्ति चारों ओर लिखी हुई थी।

इसके बाद उस निकृष्ट वणिक् को हृदय से धिक्कार देती हुई उसने अपने नेत्ररूपी अञ्जन की

---

१. प्रकृष्टजानुः। २. प्रेषणीयः। ३. पौतवं तुला मानं च। ४. विषेण वध्यः। ५. मुशलेन वध्यः। ६. गोविन्द। ७. मुद्रासहितं। ८. पूर्वजन्मनि यो मत्स्यः स तत्र वेश्या जाता वर्तते। ९. उज्जयिनीम्। १०. पदविः मार्गः। ११. पिकप्रियश्चूतः। १२. निश्चेतनं। १३. चतुरा। १४. बाणान् विना कन्दर्पं। १५. पूर्वजन्मोपकारिणं। १६. कण्ठरेखा। १७. ज्ञात्वा। १८. निन्द्यं पङ्क्तिरहितं। १९. निन्दती।

सरसद्रुतेन [1]कज्जलेना [2]र्जुनशलाकया तत्रैव [3]परिम्लिष्टपुरातनधर्मे पत्रे लेखान्तरम्। तथाहि—'यदि श्रेष्ठिनी मामवधेयवचनं [4] श्रेष्ठिनं मन्यते, महाबलश्च यदि मामनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसरं पितरं गणयति, तदास्मै निकामं सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसंपत्तये धनकीर्तये [5]कूपदप्रक्रमेण द्विजवेदमु[6]खसमक्षमविचारापेक्षं श्रीमती दातव्या' इति।

ततो यथाम्नातविशिखमिमं [7] लेखमामुच्य [8] समाचरितगमनायामनङ्गसेनायां धनकीर्तिश्चिरेण [9]विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेकः [10]सोत्सेकमुत्थाय प्रयाय [11] च श्रीदत्तनिकेतनं जननीमभ्यर्चितया महाबलाय प्रदर्शितलेखः श्रीमती- [12]सखोऽभवत्।

श्रीदत्तो वार्तामिमामाकर्ण्य प्रतूर्णं प्रत्यावर्त्य [13] निधाय [14] च तद्वधाय राजधानीबाहिरिकायां चण्डिकायतने कृतसंकेतं संनद्धवपुषं पुरुषं [15]कच्चराचरणपिशाचीं देवद्रीची [16]च परिप्राप्तोदवसितो [17] रहसि धनकीर्तिं मुहुराहूय बहुकूटकपटमतिरेवमावभाषे—'वत्स, मदीये कुले किलैषमाचारो यदुत यामिनीमुखे कात्यायिनीप्रमुखे [18] प्रदेशे प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन स्तनंधयागोपेन [19]महारजनरसरक्तांशुक [20]समाश्रयः स्वयमेव [21]मापमयो [22]रमोकुलि [23]र्बलिस्य-

हिन्त्रिया से ग्रहण किये हुए और उपवन की लताओं की नई कोंपलों के रस में घोले हुए कज्जल से चाँदी की अथवा तृणों की सलाई (लेखनी) द्वारा उसी पत्र पर पहले के अक्षर मिटाकर दूसरा लेख लिखा। लेख इस प्रकार था—'यदि सेठानी मुझे आदरणीय वचनों वाला मानती है और यदि महाबल मुझे ऐसा पिता मानता है, जिसके वचन-समूह उल्लङ्घनीय नहीं हैं, तो सात पीढ़ी तक विशेष परीक्षित वंश लक्ष्मी वाले इस धनकीर्त्ति के लिये बिना विचार की अपेक्षा किये ब्राह्मण व अग्नि की साक्षीपूर्वक दहेज के साथ मेरी पुत्री श्रीमती देनी चाहिए।'

यथोक्त मार्ग वाले इस लेख को उसके गले में बाँधकर अनङ्गसेना चली गई।

जब चिरकाल के बाद धनकीर्ति की गाढ़ निद्रा का वेग दूर हुआ तो वह उत्कण्ठापूर्वक उठा और श्रीदत्त के घर पहुँचा और उसने माता-सहित महाबल के लिये पत्र दिखाया, जिससे वह श्रीमति का पति हो गया।

श्रीदत्त इस समाचार को सुनकर शीघ्र ही लौट आया और उसने धनकीर्ति का वध करने के लिए राजधानी के बाह्य प्रदेशवर्ती चण्डिका देवी के मन्दिर में सशस्त्र व वध-करने का संकेत किए हुए पुरुष को एवं निन्द्य कर्म का आचरण करनेवाली पिशाची-सरीखी देवपूजिका स्त्री को नियुक्त करके अपने गृह को चला गया और अत्यन्त कूटकपट की बुद्धिवाले उसने एकान्त में धनकीर्ति को बुलाकर फिर से कहा—'पुत्र! निश्चय से मेरे गृह की ऐसी रीति है कि नवीन कङ्कण-बन्धन को स्वीकार करने वाले नवीन विवाहित कन्या के पति को रात्रि के अगले भाग में कात्यायनी देवी के प्राङ्गण प्रदेश में जाकर कुसुंभी रंग से रंगे हुए वस्त्र के

१. घोलितेन। २. 'हेमतृणं वा' टि० ख०, 'अर्जुनं तृणं' इति पञ्जिकायां। ३. पूर्वाक्षराणि परिमृज्य नूतनाक्षराणि लिखितानि। ४. आदरणीय। ५. 'जामातृदेयं वस्तु हिरण्यकन्यादायं कूपदः कथ्यते' टि० ख०, पञ्जिकाकारोऽप्याह—'सहिरण्यकन्यादायं जामातृदेयं वस्तु कूपदः'। ६. वेदमुखो वह्निः। ७. मार्गं विशिखा। ८. कण्ठे बद्ध्वा। ९. उद्गतः उपशान्तः। १०. सगर्वं। ११. गत्वा। १२. भर्ता। १३. गोविन्दगृहात् स्वगृहमागत्य। १४. पुरुषं स्थापयित्वा। १५. 'मलिनाचरित' टि० ख०, 'कच्चरं कुत्सितं' पञ्जिकायां। १६. चण्डिका। १७. गृह। १८. प्राङ्गणे। १९. कुसुंभ। २०. रक्तवस्त्रेण झंपितः। २१. माष—'धान्येन घटित' टि० ख०, 'धान्यपिष्टेन' टि० च०। २२. मयूरः। २३. काकः।

हर्तव्यः[1] ।' धनकीर्तिः— 'तात, यथा तातादेशः' इति निगीर्य गृहीतकुलदेवतादेय[4]हन्तकारोपकरणस्तेन स्यालेन महाबलेन पुरप्रतोलिप्रदेशान्निःसरन्नवलोकितः । समालापितश्च—'हंहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायामस्यां वेलायामगणः[3] क्वोच्चलितोऽसि ।' 'महाबल, मातुलनिदेशाद्बलि[2]निवेदनाय दुर्गालये ।' 'यद्येवं नागरजनासंस्तुत*त्वात्त्वं निवासं प्रति निवर्तस्व । अहमेतदुपहारमिव[5] भवान्याः स्वयं दातुं[6] प्रगच्छामि । यत्र तातो रोषिष्यति तदा तद्रोषमहमपनेष्यामि ।' ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम्[7] । श्रीदत्तः सुतमरणशोकातङ्कोपान्तः[8] प्रकाशिताशेषवृत्तान्तः 'सकलनिकाय्य[9]कार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि श्रेष्ठिनि मन्मनोह्लाद[10]चन्द्रलेखे विशाखे, कथमयं वंशेषो[11] ममान्वया[12]पायहेतुः [13]प्रयुक्तोपायविलोपनकेतुः[14] प्रवाहयितव्यः[15] ।' विशाखा—'श्रेष्ठिन्, [16]भेलभावात्सर्वमनुपपन्नं[17] त्वया चेष्टितम् । अतः कुरण्डतो[18] भीतः कुक्कुटपोत इव तूष्णीमास्स्व । भविष्यति भवतोऽशेषं मनोवाञ्छितम्' इत्याभाष्य अपरेद्युर्दयितजीवितव्यलीकेषु[19] मोदकेषु विषं संचार्य 'सुते श्रीमते, य एते कुम्भकुसुम-

---

आश्रयवाली [अर्थात्—कुसुंभी वस्त्र पहिन कर] एवं पीसे हुए उड़द से बने हुए मोर व कोए की बलि देनी चाहिए।'

इसे सुनकर धनकीर्ति बोला—'पिताजी ! जैसी आपकी आज्ञा ।'

धनकीर्ति कुलदेवता के लिए अर्पित करने योग्य सामग्री लेकर नगर की बीच की गली से निकला तो उसको उसके साले महाबल ने देखकर कहा—'धनकीर्ति ! इस निविड़ अँधेरी रात्रि की वेला में अकेले कहाँ जा रहे हो ?'

'महाबल ! मामा की आज्ञा से बलि देने के लिए दुर्गादेवी के मन्दिर को जा रहा हूँ ।'

'यदि ऐसा है तो तुम नागरिकों से अपरिचित हो, अतः गृह को लौट जाओ । दुर्गादेवी को यह भेंट देने के लिए मैं जाता हूँ । यदि पिताजी कुपित होंगे तो मैं उनका कोप दूर कर दूँगा ।'

धनकीर्ति अपने गृह पर गया और महाबल यमराज की उदररूपी गुफा में समा गया ।

पुत्र-मरण के शोक से समीप दुःखित हुए श्रीदत्त ने अपनी प्रिया 'विशाखा' से समस्त वृत्तान्त निवेदित करके कहा—'समस्त गृहकर्मों के नियमपूर्वक करने में विष्णु-सरीखी समर्थ और मेरे मन में सुख उत्पन्न करने के लिए चन्द्रपङ्क्ति-सरीखी 'विशाखा' सेठानी ! इस अभागे बालक को, जो कि मेरा वंश नष्ट करने में कारण है और मेरे द्वारा किये हुए अनेक कपट-पूर्ण घातक उपायों के विनाश करने में केतु-जैसा समर्थ है, कैसे मारना चाहिए ?

'सेठजी ! [पञ्जिकाकार के अभिप्राय से अविचारक होने के कारण अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से] वृद्ध होने के कारण तुमने सब कार्य अयोग्य किया । अतः बिलाव से डरे हुए मुर्गे के बच्चे की तरह तुम चुप बैठो । आपके सब मनोरथ पूर्ण होंगे ।'

दूसरे दिन सेठानी ने अपने पति का जीवन व्यथित करनेवाले लड्डुओं में जहर मिलाकर श्रीमति

---

१. दातव्यः । २. दान । ३. एकाकी । ४. 'देयवस्तु' टि० ख०, 'नैवेद्यं' टि० च० । *. असंस्तुतः अपरिचितः । ५. हन्तकारं—दानं । ६. दातुं । ७. अगात्—मृतः इत्यर्थः । ८. समीपदुःखः । ९. निकाय्यं गृहं । १०. सौख्य, हे भार्ये ! । ११. निर्भाग्यो बालिशः । १२. वंश । १३. मम कृतानेककपटविनाशसमर्थः । १४. नवमो ग्रहः । १५. मारणीयः । १६. 'वृद्ध' टि० ख०, 'भेलः अविचारकः' इति पञ्जिकायां । १७. अघटमानं अयुक्तं त्वया कृतं । १८. 'मार्जारात्' टि० ख०, 'कुरण्डो मार्जारः' पं० । १९. पीड़केषु—व्यथकेषु ।

कान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देयाः, [1]श्यावश्यामाकश्यामलश्चायश्च जनकाय' इति [2]समर्पितसमया समासन्न-मरणसमया सरिति [3]सवनायानुससार।

श्रीमतिः—[4]'पक्वोत्तमभक्ष्यं तत्प्रतोषाय[5] ताताय वितरीतव्यम्[6]' इत्यवगत्याविज्ञातसवित्रीचित्तकौटिल्या निःशल्यहृदया तानेतयोर्विपर्ययेणाबीभुजत्[7]। विशाखा पतिशून्यमरण्यसामान्यमगारमाप्य[8] परिदेव्य[9] च सुचिरं पुनः 'पुत्रि, किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम्। केवलं तव वापेन[10] मया च स्वयमात्मीयान्वयविलोपाय [11]कृत्योत्थापनमा-चरितम्। तदलमत्र बहुप्रलापेन कल्पद्रुमेण कल्पलतेव त्वमनेन दैववेधवेहरक्षाविधानेन धवेन[12] सार्धमाकल्पमिन्द्रियैश्वर्य-सुखमनुभव' इति संभावितार्शीर्वादा तमेकं मोदकमास्वाद्य पत्युः पथि[13] प्रतस्थे। एवं स्वयं विहितकुरीहितबहाकुपाला-भिततोकनाशशोकावस्थे[14] दयमीस्थे[15]ऽस्मिन्श्वशुरे श्वश्रूजने च सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्याकुलक्लिष्टघोरघातिष[16]-पञ्चकापत्प्रतिविमुखीयमानसंपत्वेकदा तेन विश्वंभरेण क्षितीश्वरेण निरीक्षितः। तद्रूपसंपत्तौ जातबहुविस्मयेन तनूजया

पुत्री से कहा—'पुत्री श्रीमति! इन लड्डुओं में से कुन्द व कुमुद-पुष्प-सरीखी कान्ति वाले श्वेत लड्डू तो अपने पति को देना और धूसरित श्याम धान्य-सरीखे श्याम लड्डू अपने पिता को देना' इतना संकेत करके निकट-वर्ती मरणवाली सेठानी नदी में स्नान करने के लिए चली गई। इसके पश्चात् श्रीमती पुत्री ने ऐसा निश्चय किया कि 'श्वेत वर्णवाले खाने-योग्य उत्तम लड्डू तो पूज्य पिताजी के लिए देना चाहिए।'

श्रीमति को माता के चित्त की कुटिलता का पता नहीं था और वह निष्कपट मन वाली थी, इसलिए उसने उन दोनों के लिए प्रस्तुत लड्डू उलट कर दे दिये। अर्थात्—विषैले लड्डू अपने पिता के लिए और निर्विष लड्डू अपने पति के लिए खिला दिये। जिससे उसका पिता श्रीदत्त काल-कवलित हो गया।

जब विशाखा स्नान करके आई तो उसका पति मर चुका था, इसलिए वह जंगल-सरीखे पति-शून्य गृह में आकर बड़ी देर तक रोई और बोली—'पुत्रि! क्या महामुनि की वाणी मिथ्या होती है?' केवल तुम्हारे पिता और मुझ वृद्धा ने अपने स्थिर वंश को नष्ट करने के लिए इस कृत्या* का उत्थापन किया है। इस-लिए अब शोक करना व्यर्थ है। अतः अब कल्पवृक्ष के साथ कल्पलता-सरीखी तू दैव के द्वारा रक्षा किये हुए इस पति के साथ, कल्पकाल तक इन्द्रिय-सुख व ऐश्वर्य सुखों को भोगो।' ऐसा आशीर्वाद देकर उसने भी एक जहरीला लड्डू खा लिया और पति की अनुगामिनी हो गई—मर गई।

जब धनकीर्ति के सास ससुर स्वयं किये हुए दुरभिप्राय से पुत्र-मरण से विशेष शोकाकुल होकर काल-कवलित हुए, तब धनकीर्ति पूर्वजन्म संबंधी पुण्य के माहात्म्य से भयानक विघ्नों वाली पाँच विपत्तियों को उल्ल-ङ्घन करके दिनोंदिन उदित होनेवाली संपत्ति से सुशोभित हुआ। एक दिन 'विश्वंभर' राजा ने उसे देखा,

१. 'श्यावः स्यात् कपिशः धूसरारुणः' टि० ख०, 'श्यावः कर्दमः' इति पञ्जिकायां। २. मता—अभिप्राया। ३. स्नानाय। ४. 'पक्वोत्तं भक्ष्यं' इति क० ख० च० प्रतिषु, टिप्पण्यां तु 'चोक्षः सुन्दरगीतयोः शुची।' ५. पूज्याम। ६. देयं। ७. परिवेषयामास—दत्ते स्म। ८. आगत्य। ९. रोदनं कृत्वा। १०. पित्रा। ११. अथर्वणयज्ञे कृते सति यथाऽरमवधाय कृत्या उत्पद्यते। १२. कान्तेन। १३. मृता इत्यर्थः। १४. उपात्ता बहुला पुत्रमरणशोकस्य अवस्था यैन। १५. मृते सति। १६. विघ्नः।

*. कृत्या – अपने नाश के लिए की हुई मन्त्र-सिद्धि।
सारांश यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य शत्रु का वध करने के उद्देश्य से मन्त्र विशेष सिद्ध करता है, जिससे शत्रु का वध करने के लिए एक पिशाच प्रकट होता है, परन्तु यदि शत्रु जप, होम या दानादि करने से विशेष बलिष्ठ होता है, तब वह पिशाच शत्रु को न मारकर उल्टा मन्त्र-सिद्धि करने वाले को मार डालता है।

सह उभयेन[1] विशामाधिपत्यपदेन योजितश्च । गुणपालः किंवदन्तीपरम्परया अस्य[2] कल्याणपरम्परामुपश्रुत्य-कौशाम्बीदेशात्स्वस्यावन्ती[3]पुरमागत्य अनेनाश्चर्यैश्वर्यभाजा सुता[4] सह संजग्मे[5] ।

अथान्यदा सकलत्रपुत्रमित्रतन्त्रेण धनकीर्तिना दर्शनायागतयानङ्गसेनया चानुगतोऽतिनिष्ठो गुणपालश्रेष्ठी मतिश्रुतावधिमनःपर्ययविषयसाम्राज्यमखिलमुनिमण्डलीराजं श्री यशोध्वजनामभाजं भगवन्तमभिवन्द्य सबहुप्रश्रयमेवम-पृच्छत्—'भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना धनकीर्तिना सुकृतमुपार्जितम्, येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवैक-शरणप्रतीकाराणि व्यसनानि व्यतिक्रान्तः, येनास्मि[6]ल्लोकातिरि[7]क्त[8]रमा[9]रूपसंपन्नोऽभूत् । येनाद्र[10]भ्राभ्रिय[11]-विभावसुप्रभासंभार इव देवानामप्यप्रतिहतमहाः[12] समजनि, येन चापरेषामपि तेषां तेषां [13]महापुरुषपक्षाणां[14] गुणानां समवायोऽभवत् । तथाहि—स्थानं [15]विदग्धतायाः, वदान्यो वदान्यभावस्य[16], निकेतनमवदानकर्मणः[17], क्षेत्रं मैत्रेयिकायाः,[18] स्वप्नेऽपि न स्वजनस्याजनि मनो मन्युः[19] कन्तुरिव च[20] कामिनीलोकस्य । तदस्य भगवन्,

---

उसकी लावण्य सम्पत्ति देखकर राजा को विशेष आश्चर्य हुआ । उसने उसके साथ अपनी राजकुमारी का विवाह कर दिया और उसे राजसेठ पद पर भी अधिष्ठित कर दिया । अर्थात्—इस प्रकार धनकीर्ति विवाहोत्सव व श्रेष्ठिपदोत्सव इन दोनों उत्सवों से सुशोभित हुआ ।

जब धनकीर्ति के पिता गुणपाल ने किंवदन्ती परम्परा (जन-साधारण की खबर) से अपने पुत्र धनकीर्ति की कल्याण परम्परा सुनी तो वह कौशाम्बी से उज्जयिनी नगरी में आकर आश्चर्यजनक ऐश्वर्यशाली अपने पुत्र के साथ सम्मिलित हुआ ।

एक बार स्त्री, पुत्र व मित्रादि से युक्त धनकीर्ति पुत्र के साथ और दर्शन के लिए आई हुई अनङ्ग-सेना के साथ अनुगमन करने वाले गुणपाल सेठ ने मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्ययज्ञान के धारी एवं समस्त मुनियों की मंडली में श्रेष्ठ श्री यशोध्वज आचार्य के लिए नमस्कार करके विशेष विनय पूर्वक पूँछा—'भगवन् ! इस धर्ममूर्ति धनकीर्ति ने पूर्वजन्म में ऐसा कौन-सा पुण्य संचय किया था ? जिसके कारण इसने बचपन में भी ऐसे भीषण दुःख नष्ट किये, जो कि इसके केवल भाग्य की शरण द्वारा दूर किये जा सकते थे । एवं जिससे यह इस जन्म में भी लोक से प्रचुर लक्ष्मी व लावण्य सम्पत्ति से सम्पन्न हुआ । जिसके प्रभाव से यह वैसा देवों द्वारा भी नष्ट न किये जाने वाला तेजस्वी हुआ जैसे बहुल मेघपटल सम्बन्धी वज्राग्नि का तेज-पुञ्ज किसी के द्वारा नष्ट न किये जानेवाले तेजवाला होता है । जिसके प्रभाव से यह पुराण-पुरुषों—तीर्थङ्करादि—के पक्ष के उन-उन गुणों के साथ नित्य संबंध करने वाला हुआ ।

जैसे यह विदग्धता का आश्रय है, उदारता गुण का स्थान है । यह अवदान (शत्रुओं का खंडन, सर्व-पालन, सर्वप्रदान अथवा शुद्ध कर्म) का स्थान है । यह समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव की उर्वरा भूमि है । इससे स्वप्न में भी कुटुम्बीजनों के मन में खेद या अपराध उत्पन्न नहीं हुआ एवं यह स्त्री-समूह के लिए

---

१. एको विवाहोत्सवः द्वितीयः श्रेष्ठिपदं । २. धनकीर्तेः । ३. उज्जयिनीं । ४. पुत्रेण । ५. सम्मिलितः । ६. जन्मनि । ७. अधिक । ८. 'सारूप्य' इति ग० । ९. श्रीः । १०. बहुल । ११. 'अभ्रपटलसंबंधी अग्नितेजः समूहवत्' टि० ख०, 'अभ्रियो वज्राग्निः' इति पञ्जिकायां । १२. तेजः । १३. पुराणपुरुषः । १४. पक्षवर्त्तानां । १५–१६. 'विदान्यो विदग्धः' 'वदान्यस्त्यागी' इति पञ्जिकायां, 'विदग्धतायाः' टि० च०, 'स्थानं वदान्यतायाः' इति क० प्रतौ । 'वक्तृत्वस्य, वदान्यो वल्गुवागपि प्रियवादी । स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे । वदति दीयतामिति वदान्यः वदेरान्यः । वदान्यो वल्गुवागपि' इति टि० ख० । १७. अवदानं शत्रुखंडनं, सर्वपालनं सर्वप्रदानं वा शुद्धकर्म, टि० ख० । 'अवदानं साहसं' इति पं० । १८. 'मित्रत्वस्य' टि० ख० । 'मित्रयुः व्यवहारवेदी तस्य भावो मैत्रेयिका' इति पं० व टि० च० । १९. 'विप्रियं अपराधः' टि० ख० । 'खेदः' इति टि० च एवं पञ्जिकायामपि । २०. कामः ।

आपणिक[1]परिषत्प्रवणस्य निःशेषशास्त्रप्रवीणान्तःकरणस्य निसर्गादेव निखिलपरिजनालापनमधुरस्य[2] *सदाचारशुक्लस्य विनेयजनमनःकुवलयानन्दिकथावतारामृतमूर्तेः[3] सुकीर्तेर्धनकीर्तेः पुरोपार्जितं सुकृतं कथयितुमर्हसि।' भगवान्—'अवहितेन, श्रूयताम्।' तत्संबन्धसक्तं पूर्वोक्तं वृत्तान्तमचकथत्—'या चास्य पूर्वभवनिकटा घण्टा वधूटी सा कृतनिदाना दमूनसि[4] प्रवेशादियं संप्रति श्रीमतिः संजाता। यश्च स मीनः स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य पूर्वं पर्यायपर्व[5]मनङ्गसेनाभूत्। अतोऽस्य महाभागस्यैकदिवसाऽहिंसाफलमेतद्विजृम्भते। धनकीर्तिरेतद्वचन[6]पवित्रश्रोत्रवर्त्मा। तथा श्रीमतिरनङ्गसेना च पुराभवं भवं संभाल्योन्मूल्य च तमःसंतानतरुमिवेशमिव केशपाशं तस्यैव [7]बोधज्ञस्यान्तिके यथायोग्यतावकल्पं तपःकल्पमादाय जिनमार्गोचितेनाचरितेन चिरायाराध्य रत्नत्रयं विधाय च विधिवन्निरवद्य[8]मनोवर्तनं प्रायोपवेशनम्[9]। तदनु धनकीर्तिः सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्बभूव। श्रीमतिरनङ्गसेना च [10]कल्पान्तरसंयोग्यं देवसायुज्य[11]मभजत्।

भवति चात्र श्लोकः सर्वार्थः—

पञ्चकृत्वः[12] किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा। अभूत्पञ्चापदोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः ॥ ९४ ॥

कामदेव-सरीखा विशेष प्यारा है। इसलिए पूज्यवर! आप ऐसे धनकीर्ति की पूर्वजन्म में संचय किये हुए पुण्य की कथा कहिए, जो कि वणिक्-परिषत् में नम्र या अनुरक्त है। जिसका मन समस्त शास्त्रों में निपुण है। जो समस्त आश्रित जनों के साथ वार्तालाप करने में मधुर है। जो सदाचार से शुभ्र है। एवं जिसका कथावताररूपी चन्द्रमा शिष्यजनों के मनरूपी कुवलय (चन्द्रविकासी कमल) को प्रमुदित—विकसित करने वाला है और जो प्रशस्त कीर्तिमान है।

मुनिराज ने इसके पूर्वजन्म की कथा कह सुनाई।

जो पूर्वजन्म में समीप रहने वाली इसकी घण्टा नामकी स्त्री थी, वह निदान बंध करके अग्नि में जल मरी थी, वह इस जन्म में इसकी प्रिया श्रीमती हुई है और जो मछली थी, जिसे मृगसेन ने जल में जीवित छोड़ दिया था, वह कालक्रम से पूर्वपर्याय छोड़कर दूसरी पर्याय धारण कर अनङ्गसेना हुई है। अतः एक दिन हिंसा न करने का फल इस भाग्यशाली को प्राप्त हुआ है।

धनकीर्ति ने उक्त आचार्य के वचनों से अपना श्रोत्रमार्ग पवित्र किया। इसकी प्रिया श्रीमती ने और अनङ्गसेना नामकी वेश्या ने अपना पूर्वभव सुनकर अन्धकार-समूहरूप वृक्ष के प्रवेश-सरीखे केश-पाशों का लुञ्चन करके उसी विद्वान् आचार्य के समीप अपनी योग्यतानुसार दीक्षा ग्रहण की और जैन मार्ग के अनुसार चिरकाल तक रत्नत्रय का आराधन किया। और मनोवृत्ति को निर्विघ्नतापूर्वक समाधिमरण किया। धनकीर्ति सर्वार्थ सिद्धि विमान को प्राप्त करने में कीर्तिमान हुआ और श्रीमती और अनङ्गसेना भी स्वर्गलोक में देव हुए।

इस कथा के विषय में समस्त विषय को बतलाने वाला एक श्लोक है, जिसका भाव यह है—निस्सन्देह धनकीर्ति, जिसने पूर्वजन्म में एक मछली की पाँच बार रक्षा की थी, जिससे वह पाँच भयानक आपत्तियाँ पार करके लक्ष्मी का स्वामी हुआ ॥ ९४ ॥

---

१. वणिक्। २. मधुरस्य। *. इदं पदं मु० प्रतौ नास्ति, किन्तु ह० लि० क० प्रतितः संकलितं—सम्पादक। ३. चन्द्र स्य। ४. अग्नौ, 'दमूनाश्चित्रभानुस्तनूनपात्'। ५. पर्वप्रस्तावे। ६. वनयं वचनं। ७. 'विबुधः' इति टि० ख०, 'बोधज्ञः अतीन्द्रियज्ञः' इति पञ्जिकायां तथा टि० च०। ८. निर्विघ्नं। ९. पादोपयानमरणं—संन्यासविधि। १०. स्वर्गलोक। ११. 'देवत्वं' टि० ख०, 'सायुज्यं साम्यं' इति पं०। १२. पंचवारान्।

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्‌विंशः कल्पः ।

अदत्तस्य परस्वस्य[1] ग्रहणं स्तेयमुच्यते । सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादितः ॥ ९५ ॥
ज्ञातीनामत्यये[2] वित्तमदत्तमपि संमतम् । जीवतां तु निदेशेन[3] व्रतक्षति[4]रतोऽन्यथा ॥ ९६ ॥
संक्लेशाभिनिवेशेन[5] प्रवृत्तिर्यत्र जायते । तत्सर्वं रायि[6] विज्ञेयं स्तेयं स्वान्यजनाश्रये ॥ ९७ ॥
[7]रिक्थं [8]निधिनिधानोत्थं[9] न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते । यत्स्वस्या[10][11]स्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥ ९८ ॥
आत्मार्जितमपि द्रव्यं [10][11]द्वयपरायान्यथा भवेत् । निजान्वयादतोऽन्यस्य[12] व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥ ९९ ॥
मन्दिरे पदिरे[13]नीरे कान्तारे धरणीधरे । तन्नान्यदीयमादेयं स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥ १०० ॥
[14]धीतवन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म[15] ततो* ग्रहः[16] । विग्रहे[17] संग्रहोऽर्थस्या[18]स्तेयस्यैते निवर्तकाः[19] ॥१०१॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में अहिंसा का फल बतलानेवाला यह छब्बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब चोरी न करने का उपदेश करते हैं—

अचौर्याणुव्रत

सर्वसाधारण के भोगने योग्य जल व तृण-आदि पदार्थों को छोड़कर क्रोधादि कषाय से, बिना दिया हुआ दूसरे का धन ग्रहण करना चोरी कही जाती है ॥ ९५ ॥ कुटुम्बियों की मृत्यु हो जाने पर, उनका धन बिना दिया हुआ भी ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु जीवित कुटुम्बियों का धन उनकी आज्ञा लेकर ही ग्रहण किया जा सकता है। अन्यथा (उनकी जीवित अवस्था में उनकी आज्ञा के बिना उनका धन ग्रहण कर लेने पर) अचौर्याणुव्रत की क्षति होती है ॥ ९६ ॥ अपने या दूसरों के धन में जब आर्त व रौद्र अभिप्राय से (चोरी के अभिप्राय से) प्रवृत्ति की जाती है, तो वह सब चोरी ही समझनी चाहिए ॥ ९७ ॥ निधि (भूमि-आदि में गड़ा हुआ जो खजाना व्यय करने पर भी नष्ट नहीं होता) और निधान (जो व्यय करने पर नष्ट हो जाता है—अल्प खजाना) से उत्पन्न हुआ बिना स्वामी का धन राजा को छोड़कर दूसरे का नहीं है; क्योंकि लोक में जिस धन का कोई स्वामी नहीं है, उसका स्वामी राजा होता है। अभिप्राय यह है कि नदी, गुफा व खानि-आदि में पड़ा हुआ धन राजा के बिना दूसरे का नहीं है, क्योंकि स्वामी से हीन हुए धन का राजा स्वामी होता है ॥ ९८ ॥ अपने द्वारा उद्यम-आदि से उपार्जन किया हुआ धन भी यदि संदिग्ध है अर्थात् (यह मेरा है ? या दूसरे का ?) तो उसका ग्रहण करना भी चोरी है, अतः व्रती पुरुष को अपने कुटुम्ब के सिवाय दूसरों का धन ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ ९९ ॥ अचौर्याणुव्रती पुरुष को मन्दिर, मार्ग, जल, वन व पर्वत-आदि में पड़ा हुआ दूसरों का धन नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥ १०० ॥

नापने-तौलने के बाँट तराजू-आदि को कमती-बढ़ती रखना, चोरी करने का उपाय बतलाना, चोर से लाई हुई वस्तु को खरीदना, राज्य-विरुद्ध कार्य करना व पदार्थों को संग्रह करना ये अचौर्याणुव्रत के

---

१. धनस्य । २. विनाशे मरणे सति । ३. आदेशेन ग्राह्यं । ४. विनाशः । ५. आर्तरौद्राभिप्रायेण प्रवर्तनं । ६. धने । ७. धनं । ८. यो व्ययीकृतः क्षयं न याति स निधिः । ९. यद् व्ययीकृतं सत् क्षयं याति तन्निधानमल्पमित्यर्थः । १०. द्रव्यस्य । ११. संशयाय—सन्देहाय । १२. स्ववंशादन्यस्य धनं वर्जयेत् । १३. मार्गे । १४. तुलाहीनाधिक्ये । १५. चौर्यानुमोदनं । *. ततः स्तेनात् । १६. 'चौरार्थादानं' टि० ख०, 'चौरादानीतद्रव्यग्रहणं' टि० च० । १७. राज्यविरुद्धे । १८. वस्तुनः पदार्थस्य । १९. अतीचाराः । 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः' मोक्षशास्त्र अ० ७ सूत्र २७ ।

रत्नरामा[1]म्बररत्न[2]स्त्रीरत्नाम्ब[3]रविभूतयः । भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥ १०२ ॥

[4]परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम् । अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥ १०३ ॥

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः । तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता नामाग्रमहिषी । सुतौ चानयोराश्चर्यसौन्दर्यौदार्यपरितोषितानिमि[5]षेन्द्रौ सिंहचन्द्रपूर्णचन्द्रौ नाम । निःशेषशास्त्रविशारदमतिः श्रीभूतिरस्य पुरोहितः [6]सूनृताधिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेयः । धर्मपत्नी चास्य पतिहितैकचित्ता श्रीदत्ता नामाभूत् ।

स किल श्रीभूतिर्विश्वासरसनिर्विघ्नतया परोपकारनिघ्नतया[7] च विभक्तानेकापवरक[8]रचनाशालिनीभिर्महाभाण्ड[9]वाहिनीभिर्गोशालोपशल्याभिः[10] कुल्याभिः[11] समन्वित[12]मतिसुलभजलयवसे[13]न्धनप्रचारं [14]अवनारम्भोद्भट[15]भटी[16]एधेदकपक्षरक्षासारं [17]गोरुतप्रमाणं वप्रप्राकार[18]प्रतोलिपरिखाभूनिरमाणं प्रपासत्[19]त्रसभासनाथ[20]वीथि[21]-

---

अतीचार हैं ॥ १०१ ॥ जिन महापुरुषों में विशुद्ध—निरतिचार-अचौर्याणुव्रत प्रतिष्ठित होता है, उन्हें माणिक्य-आदि रत्न, सुवर्ण-आदि, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र-आदि विभूतियाँ बिना चिन्तवन की हुई स्वयं प्राप्त हो जाती हैं ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य दूसरों की धनादि वस्तु चुराकर हर्षित होते हैं, तृष्णा से मलिन बुद्धि वाले उन्हें ऐहिक दुःख (जेलखाने-आदि का कष्ट) और पारलौकिक दुर्गति के कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥ १०३ ॥

१४. चोरी में आसक्त श्रीभूति पुरोहित की कथा

चोरी के फल के संबंध में एक कथा है, उसे सुनिए—प्रयाग देश के सिंहपुर नामक नगर में, जहाँ पर वेश्याओं के नूपुर, गृहों में क्रीड़ा करती हुईं हंसिनियों के मधुर स्वरों के साथ मुखरित हो रहे थे—झुनझुन ध्वनि कर रहे थे, 'सिंहसेन' नामक राजा था, जिसकी सेना समस्त समुद्रों से चिह्नित पृथ्वी को वश करने वाली थी और जो सिंह-सरीखा पराक्रमी था। उसकी समस्त लोक के मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय चरित्रशालिनी 'रामदत्ता' नामकी पट्टरानी थी। उनके आश्चर्यजनक लावण्य सम्पत्ति एवं उदारता द्वारा देवों के इन्द्रों को प्रमुदित करने वाले 'सिंहचन्द्र' व 'पूर्णचन्द्र' नामके दो पुत्र थे। समस्त शास्त्रों में निपुण बुद्धिशाली 'श्रीभूति' राज-पुरोहित था। अपनी बुद्धि को सत्य वचन की ओर विशेष प्रेरित करने से उसका दूसरा नाम 'सत्यघोष' भी था। पति का हित करने में लीन चित्तवाली उसकी 'श्रीदत्ता' नामकी धर्मपत्नी थी।

श्रीभूति पुरोहित बिना विघ्न बाधाओं के अपना विश्वास व प्रेम उत्पन्न करने में समर्थ था और परोपकार करने के अधीन था। अतः उसने एक ऐसा क्रयाण नगर बनवाया, जो कि ऐसी पटशालाओं (वस्त्रगृहों—तम्बुओं) से युक्त था, जो कि जुदे-जुदे अनेक अन्तर्गृहों की रचना से सुशोभित थीं। जहाँ पर बड़े-बड़े बर्तन स्थापित थे और जो गोशाला के नजदीक थीं। जहाँ पर जल, घास व ईंधन का मिलना सुलभ था। जो युद्ध के आरम्भ करने में उत्कट योद्धाओं के समूह के निवास से विशेष सुरक्षित होने के कारण उत्तम था। जो एक कोस के विस्तार में बना था। जो खेत, कोट, मुख्य मार्ग और खाईं होने से सुरक्षित था और

---

१. सुवर्णादि । २. उत्तमस्त्री । ३. उत्तमवस्त्र । ४. परवस्तुचौर्यहर्षेण । ५. देवाः । ६. सत्यवचन । ७. परवशतया । ८. घरेंडा ओबरा ? । ९. 'कुण्डकूण्डीप्रमुख' टि० च०, 'बासरभाजन ? टि० ख० । १०. गोमहिषीबन्धनस्थानसमीपाभिः । ११–१२. वस्त्रशाल, पटशालाभिः क्रयाणपत्तनं पौठस्थानं विनिर्माप्य । १३. तृण । १४. संग्राम । १५. उत्कट । १६. सुभट । १७. क्रोश । १८. अधोलीकृभिरयाकार: । १९. सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च इत्यमरः, । संकलित—सम्पादक २०. सहित । २१. मार्ग ।

निवेशनं पण्यपुटभेदनं[1] विटूरितकितवविटविटूषक[2]पीठ[3]मर्दावस्थानं [4]पेण्ठास्थानं विनिर्माप्य नानादिग्देशोपसर्पण-पुषां वणिजां प्रशान्त[5]शुल्क[6]भाटक[7]भाग[8]हारव्यवहारमचीकरत् ।

अथान्तरे पद्मिनीखेटपट्टनविनिविष्टा[9]वासस्तन्त्रस्य सुदत्ताकलत्रपवित्रितचरित्रोत्पन्नस्य वणिक्पतेः सुमित्रस्य [10]निजसनाभिजनाम्भोजभानुः सूनुर्भद्रमित्रो नाम समानधनचारित्रैर्वणिक्पुत्रैः सत्रं [11]वहित्रयात्रायां यियासुः ।

'पादमायात्[12]निधिं[13] कुर्यात्पादं वित्ताय कल्पयेत् । धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे[14] ॥१०४॥' इति ।

*पुण्यश्लोकार्थमवधार्य विचार्य चासुचिरमपि[15]निधिन्यासयोग्यमावासम् उचिताचारस्तेभ्योऽवधारितेतिकर्तव्य-स्तस्याखिललोकश्लाघ्यविश्वासप्रसूतेः श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नीसमक्षमनर्घ[16]कक्षमनुगताप्तकं[17] रत्नसप्तकं निधाय विधाय च जलयात्रासमर्थमर्थमेकवर्णप्रजाप्रलापसुवर्णद्वीपमनुससार ।

जहाँ पर प्याऊ, सदावर्त और व्यवहार-निर्णय करने वाली सभा से युक्त हुई गृह पंक्तियों की रचना पाई जाती थी।

और उसमें ऐसा पीठस्थान (बाजार) बनवाया, जो कि जुआड़ियों, विटों, विदूषकों व मद्यखोरों की स्थिति से रहित था। वहाँ वह नाना दिशा संबंधी देशों से आने वाले वणिकों के साथ स्वल्पब्याज व स्वल्प-भाड़ा और थोड़े दान-ग्रहण वाला व्यापार करने लगा।

इसी बीच में पद्मिनीखेट नगर में स्थित हुए गृह में निवास करने वाले और सुदत्ता नामकी स्त्री के सदाचार से पवित्र वंशवाले, वणिक् स्वामी 'सुमित्र' नामके सेठ का अपने कुटुम्बी जनरूपी कमलों को विक-सित करने के लिए सूर्य-सरीखा 'भद्रमित्र' नाम का पुत्र था।

एक समय वह धन व चरित्र में अपने-सरीखे अन्य वणिक् पुत्रों के साथ यानपात्र (जहाज) द्वारा समुद्र-यात्रा करने का इच्छुक हुआ।

नीति में कहा है—'अपनी आमदनी का एक चौथाई तो पूंजी-निमित्त निर्धारित करके रखना चाहिए। एक चौथाई व्यापार के लिए निर्धारित करना चाहिए। एक चौथाई धार्मिक कार्यों व उपभोग में खर्च करना चाहिए और एक चौथाई से अपने आश्रितों का पालन करना चाहिए' ॥ १०४ ॥

इस सत्य वाणी को निश्चय कर भद्रमित्र ने अपनी स्थापनीय रत्नादि निधि को किसी सुरक्षित योग्य स्थान में रखने का चिरकाल तक विचार करके शास्त्रोक्त सदाचार पालनेवाले व निश्चित कर्तव्यशील उसने अन्त में समस्त लोक में प्रशंसनीय विश्वास के जनक उसी श्रीभूति के हाथ में उसकी स्त्री के समक्ष अत्यन्त मूल्यवान पक्षवाले व पूर्व पुरुषों द्वारा संचय किये हुए अपने सात रत्न धरोहररूप में स्थापित करके जल-यात्रा में समर्थ धन को अपने पास रखकर एक जहाज द्वारा ऐसे सुवर्ण द्वीप को प्रस्थान किया, जहाँ पर एक वर्ण वाली प्रजा के रहने की किंवदन्ती है।

---

१. क्रयाणपत्तनं । २. वैहासिक । ३. 'कामाचार्यं वेश्याचार्यं' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'पीठमर्दः नाटकाचार्यः' इत्याह । ४. पीठस्थानं । ५. स्वल्प । ६. ब्याज । ७. भाड़ा । ८. दाण । ९. स्थितम् । १०. 'गोत्रजन' टि० ख०, 'सनाभिर्बन्धुः' इति पञ्जिकायां । ११. यानपात्र । १२. उपार्जन-लाभमध्यात् । १३. पुंजीनिमित्तं । १४. निर्धारितं कार्यं । *. पुण्यश्लोकः सत्यवाक् । १५. स्थापनीयं द्रव्यं । १६. बहुमूल्यपक्षं । १७. पूर्वपुरुषसंचितं ।

पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमचिन्त्यमात्माभिमतं [1]वस्तुस्कन्धमादाय [2]प्रत्यावर्तमानस्यादूरसागरावसानस्याकाण्डप्रचण्डपवनादनिलात्परिवर्तित[3]पोतपात्रस्य [4]दैवावलम्बितया आयुषः शेषत्वाच्चास्य [5]प्रवहणफलकावलम्बनोद्यतस्य कण्ठप्रवेशप्राप्तजीवितस्य कथंकथमपि क्षणदायाः[6] क्षयिणि चरमयामक्षणेऽब्धिरो[7]धोपलब्धिरभवत् ।

ततोऽसौ [8]सुखैधितशरीरत्वादपाराकूपारक्षारवारिवशवांश[9]काशयचिरापायपाति[10]मूर्च्छाबन्धः करप्रकारचूर्णितचक्रवाकचिन्तामणौ[11] प्रागचलचूलिकाचक्रवालचूडामणौ कमलिनीकुलविकासाहितहंसवा[12]सिताशर्मणि विधकर्मणि[13] [14]वलक्षसलिलान्तरालरुचिरे लोचनगोचरे संजाते सति बान्धवजनमरणाद्द्रविणसंक्षयणा[15]च्चातीवान्तर्मनस्तया[16] [17]क्षातच्छायकायः [18]पटच्चरचेलचीरीनिचिताङ्ग[19]शकटिः कर्पटिः★ परपल्लो[20]पासितनिरस्ताभिमानावनिरवर्तनिः[21] सन् क्रमेण सिंहपुरं नगरमागत्य गीर्मात्रावसेय[22]पूर्वपर्यायस्तं महामोहरसो[23]त्सारितप्रीति श्रीभूतिमभिज्ञानाधिकवाक्यो माणिक्यसप्तकमयाचत । परप्रतारणाभ्यस्तश्रुतिगीतिः[24] श्रीभूतिः ।

वहाँ अनगिनती विक्रेय वस्तुएँ बेंचकर तथा उनके बदले में चिन्तवन के लिए अशक्य व मनचाही वस्तु-समूह खरीदकर वापिस लौट रहे उसको जब समुद्र का किनारा समीप आया तब असमय में आये हुए प्रचण्ड शक्तिशाली वायु के झकोरों से (बड़े जोर का तूफान आने से) इसका जहाज उच्छलित हो गया—उलट गया। दैव (भाग्य) की अवलम्बन-परता से व आयु बाकी रहने से वह टूटी हुई जहाज के टूटे हुए काष्ठ खण्ड को ग्रहण करने उद्यत हुआ। कण्ठदेश में प्राप्त हुए प्राणवाले उसे रात्रि के अन्तिम पहर बीतने पर किसी प्रकार से समुद्र-तट की प्राप्ति हुई।

यह सुख से वृद्धिगत शरीर वाला था, परन्तु उक्त घटना से और अपार समुद्र के खारे जल से इसका चित्त शून्य हो गया और चिरकाल में इसकी उत्पन्न हुई मूर्च्छा दूर हुई। जब ऐसा सूर्य दृष्टिगोचर हुआ—उदित हुआ, जिसने अपनी किरणों के प्रसार से चकवी-चकवों का चिन्तारूपी मणि चूर-चूर किया है। जो उदयाचल की शिखर-मण्डल का चूड़ामणि (मुकुटमणि) है। जिसने कमलिनी के समूह को विकसित करने से हंसिनी में सुख स्थापित किया है और जो विकसित कमलों के मध्य प्रविष्ट होने से मनोज्ञ है। तब बन्धुजनों के मरण से और धन के विनाश हो जाने से उसे विशेष मानसिक दुःख हुआ। उसकी शारीरिक कान्ति म्लान हो गई थी। उसकी शरीररूपी छोटी गाड़ी जीर्ण वस्त्र के चीथड़ों से आच्छादित थी। वह निर्धन था। परगृहों की सेवा से उसकी अभिमानरूपी पृथिवी नष्ट हो चुकी थी। अन्त में आजीविका-शून्य हुआ वह घूमता-घूमता क्रम से सिंहपुर में आया। उसकी पूर्वदशा केवल वचन द्वारा ही निश्चय करने योग्य थी। वह श्रीभूति का स्मरण करके जोर-जोर से चिल्लाता था। उसने तीव्र लोभ के कारण प्रीति का त्याग करनेवाले श्रीभूति से अपने सात रत्न माँगे।

दूसरों को ठगने के लिए वेद व स्मृति शास्त्र का अभ्यास किये हुए श्रीभूति ने सोचा—

१. वस्तुसमूहं। २. व्याघुटितस्य। ३. उच्छलित। ४. दैवावलम्बनपरतया। ५. त्रुटितभग्नप्रवहणिकाष्ठं। ६. रात्रेः। ७. समुद्रतट। ८. वर्द्धित। ९. शून्यचित्त। १०. स्फोटित। ११. चिन्ता एव मणिः। १२. स्त्री। १३. आदित्ये—सूर्ये। १४. विकसत्कमल। १५. धनविनाशात्। १६. मानसदुःखेन। १७. कृशः। १८. जीर्णवस्त्र। १९. अङ्गमेव शकटिः। ★. 'कटिमात्रवस्त्रः कार्पटीसदृशो वा' इति टि० ख०। पञ्जिकायां तु 'कर्पटिः निस्वः।' 'दरिद्री' इति टि० च०। २०. परगृहसेवा। २१. 'वर्तनिः आजीविका' टि० ख०। पं० तु 'अवर्ती-निर्जीविका'। २२. ज्ञातानुक्रमः। २३. त्यक्तस्नेहं। २४. शास्त्रं, वेदः स्मृतिश्च।

'सुप्रयुक्तेन दम्भेन [1]स्वयंभूरपि वञ्च्यते । का नामालोचना[2]न्यत्र[3] संवृत्तिः[4] परमा यदि ॥ १०५ ॥'

इति परामृश्य [5]महाधनतृष्णाग्रासचेतास्तमायान्तम्[6]त्तमेवमवोचत्—'अहो, दुर्दुरूट[7] किराट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन छलितः, किमु परमनस्तृष्णोत्पादकवृत्तिना मोहनौषधेनाभिलङ्घितः, किं वा कितवव्यवहारेषु हारित-समस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवञ्चनपिशाचिकया कयाचिल्लञ्जिकया[8] जनितदुष्प्रवृत्तिः, आहोस्वित्फलवतः[9] पादपस्येव श्रीमतः क्रियमाणोऽभियोगो[10] न खलु किमपि फलमसंपाद्य विश्राम्यतीति चेतसा केनचिद्दुर्मेधसा विप्रलब्ध-बुद्धिर्यदेवमतिविरुद्धमभिधत्से[11] । क्वाहम्, क्व भवान्, क्व मणयः, कश्चावयोः संबन्धः । तत्कूटकपटचेष्टिताकर, पट्टन-पाटच्चर[12], अपकृपणिक[13], सकलमण्डल*प्रतीतप्रत्य[14]यिकशीलमति[15]वेलमेवं मामकाण्डे प्रणष्टकर्मन्यर्यनुयुञ्जानः[16] कथं न लज्जसे ।'

पुनश्चैनमर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालं शब्दालं[17] बलात्पालिन्द[18]मन्दिरमनुचरैरानाय्यानार्यमतिः[19], 'देव, अयं वणिगिन्निष्कारणमस्माकं दुरपवादमृदङ्गवन्मुखरमुखः सुखेनानस्तितस्तानक[20] इवासितुं न ददाति' इत्यादिभिरुपविस्तै-रवाप्तप्रसरस्तयोर्सञ्जित[21]राजहृदयस्तथैव पृथिवीनाथेनापि [22]निराकारयत् ।

'अच्छी तरह से प्रयोग किये हुए छल से ब्रह्मा भी ठगाया जाता है और यदि [ठगने-योग्य] दूसरे मनुष्य में पूर्व अवस्था का लोप हो गया है, अर्थात्—विशेष परिवर्तन हो गया है, तब तो विचार करने की बात ही क्या है ? अर्थात्—उसे ठगना सुलभ है' ॥ १०५ ॥

विशेष तृष्णा से व्याप्त चित्त वाले श्रीभूति ने शोकाकुल वणिक्-पुत्र से कहा—'अरे दुराग्रही भील ! क्या तू यहाँ पर किसी पिशाच द्वारा निस्सन्देह छला गया है ? या मानसिक तृष्णा को उत्पन्न करने वाले आग्रह वाली किसी मोहन औषधि द्वारा तू आक्रान्त हुआ है ? अथवा जुआ खेलने में तेरी समस्त चित्तवृत्ति हराई गई है ? अथवा आश्चर्य है कि क्या दूसरों के चित्त को धोखा देने में पिशाचिनी-सरीखी किसी दासी द्वारा तेरे में खोटी प्रवृत्ति उत्पन्न की गई है ? अथवा—जिस प्रकार फलशाली वृक्ष पर किया हुआ लकड़ी का प्रहार, बिना फल गिराये विश्राम नहीं लेता उसी प्रकार धनाढ्य के ऊपर किसी दुष्ट पुरुष के द्वारा किया हुआ प्रहार भी बिना धन-आदि प्राप्त किए विश्राम नहीं लेता, ऐसा सोचकर किसी दुर्बुद्धि ने तेरी बुद्धि ठगी है ? जिससे तू उल्टे वचन बकता है; क्योंकि कहाँ मैं, कहाँ तू, कहाँ रत्न और कहाँ मेरा व आपका संबंध ? अतः कूट कपट-पूर्ण चेष्टाओं की खानि, नगरचोर, निन्द्य व उग्र कर्म वाले वणिक् ! समस्त देश में विश्वसनीय प्रकृति वाले मुझसे असमय में विशेषरूप से पूँछता हुआ तू लज्जित क्यों नहीं होता ?

इसके उपरान्त दुर्बुद्धि श्रीभूति धन की प्रार्थना के मार्ग-युक्त महान मनोरथ वाले और वाचाल इस भद्रमित्र वणिक्-पुत्र को जबर्दस्ती सेवकों द्वारा राजमहल में ले गया और राजा से बोला—'देव ! यह वणिक्, जिसका मुख अकारण मेरी अपकीर्ति करने के लिए मृदङ्ग-जैसा वाचाल हो रहा है और जो बिना नाथ के बैल-जैसा मुझे सुख से बैठने नहीं देता ।' इत्यादि वार्तों द्वारा नम्रता प्राप्त करने से श्रीभूति ने राजा का हृदय

---

१. ब्रह्मा । २. विचारः । ३. परस्मिन् । ४. संवृत्तिः लोपः । ५. तृष्णा । ६. प्राप्तशोकं । ७. 'दुराग्रहिन्' टि० ख० । पं० तु 'दुर्दुरूट दुराग्रही' । ८. दास्या । ९. वृक्षस्य चालनं र्ग्रह्मेरणं । १०. उद्यमः प्रकटकलक्षणः । ११. वदसि । १२. रे पत्तनचौर ! । १३. निन्द्यवणिक् ! । *. देश । १४. 'विश्वासस्वभावं' टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'प्रत्ययिको विश्वास्यः' । १५. गाढं अतीव । १६. पृच्छन् । १७. वाचालं । १८. राजमन्दिरं । १९. असभ्यः । २०. नाथरहितवृषभवत् । २१. कोपित । २२. निर्घाटनं कारयामास टि० ख०, निर्घाटयामास टि० च० ।

भद्रमित्रः '¹निःसंशयमस्तु राजाऽपि ¹परविप्रलम्भनाय कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयमनन्यसामान्यसाहसालयमेव, ²मोषविषणानिधिरपर³ इवापायजलधि नंगरमध्येऽपि मोषितुमभिलषति' इति जाता⁴मर्षोत्कर्षस्तं ⁵न्यासार्पणेऽतिचिक्कणचित्तं⁶ निश्चित्य स्वाध्यायिपरिषदि⁷ महापरिषदि⁸ च तदन्यायोपन्यासविन्यासेन साध्यसिद्धिमनवबुद्धयमानचीनधीः⁹ ¹⁰अथाकूल्युकमतिर्महादेवीधामनेम¹¹निवेशमम्लि¹¹कानोकहशिखादेशमारुह्यापद्गृह्यः ¹³कुररीविरहावसरः कुरर इव ¹⁴तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये ¹⁵'सुहृच्चराकृतिः श्रीभूतिरेवंविधकरण्डविन्यस्तम्, इयत्संस्थानसमम्, एतद्वर्णम्, अथः संख्यान्यर्णं च मदीयं मणिगणमुपनिधि¹⁶निधेयं न प्रतिददातीत्यत्रास्यैव धर्मरत्नी साक्षिणी च। यदि च ¹⁷यद्वदतदेतदन्यथा ममापि भवति तदा मे चित्रवधो विधातव्यः।'

इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्ध्वमध्यमूर्ध्वबाहुः सर्वर्तुपरिवर्ताद्र्ध¹⁸ पूतकुर्वन्नेकदा नगराक्रन्दमाननस्य ¹⁹★चन्द्रामृतपानयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं कौमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया समङ्गोत्सङ्गसमासीनया²⁰ निपुणिकाभिधानो-

कुपित कर दिया, जिससे राजा ने भी उसे निकलवा दिया।

तब भद्रमित्र ने विचार किया—'निस्सन्देह यह आश्चर्य की बात है कि चोरी करने की बुद्धि का निधि यह श्रीभूति, जो ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—मेरा धन नष्ट करनेवाला दूसरा समुद्र ही है—दूसरों को ठगने के निमित्त से वंशपरम्परा से प्राप्त हुई समस्त लक्ष्मी के स्थानीभूत और असाधारण साहस के गृह मुझे भी नगर के मध्य में ठगने की इच्छा करता है'। अतः उसे उत्कट क्रोध उत्पन्न हुआ। पश्चात् उसने श्रीभूति को स्थापित धन के वापिस देने में विशेष लुब्धचित्तवाला अथवा पञ्जिकाकार के अभिप्राय से विचार-शून्य निश्चय किया और जब उसने मठाधीश विद्वानों की सभा में और न्याय के चिन्तन में नियुक्त हुए धर्माधिकारियों की सभा (न्यायालय) में श्रीभूति के अन्याय (धरोहर सम्पत्ति का अपहरण) के स्थापन करने से अपनी प्रयोजन-सिद्धि (सात रत्नों की प्राप्ति) नहीं समझी तब परवश बुद्धिवाला और स्थिर-अस्थिर बुद्धि-युक्त हुआ वह महारानी के महल के समीप स्थित हुए इमली के वृक्ष की शिखर पर आरूढ़ होकर वैसा संकट-ग्रस्त हुआ जैसे पक्षिणी के वियोग के अवसर वाला पक्षी संकट-ग्रस्त होता है।

इसके उपरान्त वह रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर की वेला में अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर अपना मध्यभाग ऊपर करने पूर्वक ऊँचे स्वर से कम्पन-पूर्वक जोर से चिल्लाता रहा—'मेरा पूर्व का मित्र किन्तु अब शत्रु नाम वाला श्रीभूति, अमुक प्रकार के पिटारे में रक्खे हुए, अमुक आकारवाले, अमुक वर्णवाले, अमुक संख्यावाले मेरे रत्न-समूह (सात रत्न) नहीं देता, जिन्हें मैंने उसके पास स्थापनीय (धरोहर के रूप में) रूप से स्थापित किये थे। इस विषय में इसकी धर्मपत्नी ही साक्षी है। यदि मेरा यह कथन असम्बद्ध प्रलाप से जरा भी झूँठ हो तो मेरा गूढ़ वध कर देना चाहिए।' इस प्रकार वह छह माह तक चिल्लाता रहा।

इसके पश्चात् एक समय ऐसी रामदत्ता रानी ने इसका चिल्लाना सुनकर करुण अभिप्राय से इसे

१. परवंचननिमित्तं मामपि मोषितुमभिलषति। २. चौर्य। ३. द्वितीयः। ४. क्रोध। ५. स्थापितधनदाने। ६. लोभिष्ठं। 'चिक्कणः अपरिच्छेदकः' इति पं०। ७. स्वाध्यायिमठिकाप्रतिबद्धसमूहे। ८. न्यायचिन्तनाधिकारसमूहे—धर्माधिकारे। ९. परवशबुद्धिः। १०. अथाकूल्युका स्थिरास्थिरा। ११. नेमं समीपं। १२. चिंचिणीवृक्ष। १३. पक्षिणी। १४. रात्रिः। १५. पूर्वं सुहृदिदानीं शत्रुरिति नाम। १६. स्थापनीयं धनं स्थाप्यं। १७. असम्बद्धप्रलापतया। १८. षण्मासान् यावत्। १९. चन्द्र एव अमृतपात्रं तदेव यन्त्रधारागृहं। ★. "शिशिरकरकिरणामृतासारावगाहगौरितजगत्त्रयम्" इति क०। २०. उपरितनभूमिस्थितया रामदत्तया।

[1]धात्रीसमेतया अनाथलोकलोचनचकोर[2]कौमुदीकल्पवृत्तया रामदत्तया करुणारसप्रचारपदव्या[3] महादेव्याकर्णितानु-[4]क्रोशाभिनिवेशान्निर्वर्णितश्च ।

तदनु 'अस्मन्मनःसंधात्रि धात्रि,[5] न खल्वेष मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो[6] नाप्युन्मत्ताचरितो यतस्तं दिवस-मादौ कृत्वा सकलमपि [7]परिवत्सरदलमेकवाक्यव्याहा[8]राकुण्ठ[9]पाठकठोरकण्ठनालः । तद्विचारयेयं तावदचिरकालं [10]शारिविशारदहृदयाम्बुजस्य एतत्क्रीडाव्याजेन [11]मन्त्रिणोऽन्तःकरणम् । अम्बिके[12], त्वयापि [13]द्यूतदेवनावसरे पञ्चषमेन-मनेककुत्स[14]ाचारनिचितचित्तमतिबहुकुहक[15]चेष्टितं बकोटवृत्तमुखमस्य जातं पृच्छामि, यच्चास्य [16]कटकोर्मिकांशुका-दिकं जयामि, तत्तदेवाभिज्ञानीकृत्य मृगीमुख्या व्याघ्रीसमाचारकुट्टनी[17] श्रीदत्ता भट्टिनी [18]तिन्तिणीकातरुभाजोऽस्य वणिजो [19]विषमरुचिमरीचिसंख्यासंपन्नानि रत्नानि याचयितव्या ।'

इति निपुणिकायाः कृतसंवित्तिः[20] श्वस्तनेऽहनि[21] 'मदीय मदीयहृदयानन्ददुन्दुभे दुन्दुभे[22], त्वयापि भगवत्या साधु विजृम्भितव्यम्, यद्यस्य चिञ्चापुरुषस्यास्ति सत्यता' इत्यभ्यर्थ्य[23] तथैवाचरिताचरणा शतशस्तत्तदभिज्ञानज्ञापनानु-

---

देखा, जो कि राजमहल की उपरितन भूमि पर बैठकर नागरिक कामिनी जनों की कौमुदी महोत्सव-वेला को, जिसने चन्द्ररूपी अमृतपात्र के फुव्वारा-गृह में प्रवेश करने से तीन लोक शुभ्र किये हैं, देख रही थी, जो निपुणिका नाम की धाय सहित थी। जिसका चरित्र अनाथलोक के नेत्ररूपी चकोर पक्षियों को सन्तुष्ट करने के लिए चाँदनी की सृष्टि करनेवाला है और जो करुणा रस के प्रचार की मार्गरूप है।

पश्चात् उसने अपनी निपुणिका धाय से कहा—'मेरे मन में मैत्री स्थापित करनेवाली धाय ! निस्सन्देह यह मनुष्य पिशाच के द्वारा गृहीत नहीं है, और न इसका आचरण पागलों-सरीखा है; क्योंकि इसकी कण्ठनाल उसी दिन से लेकर लगातार छह माह तक उक्त प्रकार एक वाक्य संबंधी उच्चारण के अमन्द पाठ से कठोर हो गई है। अतः मुझे द्यूतक्रीड़ा के बहाने से द्यूत-क्रीड़ा में प्रवीण हृदय कमलवाले श्रीभूति मन्त्री के हृदय की परीक्षा शीघ्र करनी चाहिए।

माता ! जुआ खेलते समय मैं अनेक कुत्सित (निन्द्य) आचरण से व्याप्त चित्तवाले, अत्यधिक माया-चार की चेष्टा-युक्त व बगुला भगत से जो जो वृत्तान्त-समूह पूँछूं और जो उसके कङ्कण, अँगूठी व वस्त्रादि जीतूँ उनकी स्मृति या पहिचान कराकर—उन सब को प्रमाण रूप से उपस्थित करके—तुम्हें उस मृगी के समान मुखवाली किन्तु सिंहनी के समान आचरणवाली कुट्टनी श्रीदत्ता से इमली के वृक्ष पर आरूढ़ हुए इस वणिक् के सप्तार्चि (अग्नि) की संख्यावाले (सात) रत्न माँग लाने चाहिए।'

रानी ने इसप्रकार 'निपुणिका' धाय को संकेत कर दिया और आगामी दिन में प्रार्थना की—'हे मेरे हृदय को सदा आनन्द देनेवाले दुन्दुभि-सरीखे पाशदेवता ! यदि इस इमली के वृक्षवाला पुरुष सच्चा है तो भगवती तुझे भी इसमें अच्छी तरह सहायता करनी चाहिए।' पश्चात् उसने वैसा ही किया, अर्थात्—श्रीभूति के साथ शतरञ्ज खेलकर उसके कड़े, अँगूठी और वस्त्रादि जीत लिये और श्रीभूति की पत्नी से,

---

१. धात्री । २. 'चन्द्रिकाचारुवृत्तया' इति क० । ३. मार्गरूपया । ४. 'करुणाभिप्रायात्' टि० ख० । पं० तु अनुक्रोशः अनुग्रहः । 'अनुग्रह' टि० च० । ५. हे मातः ! । ६. गृहीतः । ७. संवत्सरार्द्धं । ८. आलापः । ९. अमन्दः । १०. द्यूतक्रीडा । ११. सचिवस्य । १२. हे धात्रि ! । १३. क्रीडन । १४. कुत्सित । १५. माया । १६. कंकण, मुद्रिका, वस्त्र । १७. 'कुट्टिनी' इति क० । १८. चिञ्चा । १९. सप्तार्चिसंख्यानि । २०. संकेतः । २१. आगामिदिने । २२. हे धात्रि ! । २३. प्रार्थ्य ।

बन्ध[1]तन्त्रात्तत्कलत्रात्मणीनुपप्रणीय[2] राज्ञः समर्पयामास। स राजाऽद्भुतांशौ[3] स्वकीयरत्नराशौ तानि संकीर्य[4] आकार्य चैनमासन्नलक्ष्मीकल्पलताविलासनन्दनं[5] वैदेहिकनन्दनम्[6], 'अहो वणिक्तनय, यान्यत्र रत्ननिचये[7] तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विचिन्त्य गृहाण' इत्यभाणीत्। भद्रमित्रः 'चिरात्[8] ननु विष्ठया[9] वर्धेऽहम्' इति मनस्यभिनिविश्य[10] 'यथादिशति विशां पतिः' इत्युपविश्य विमृश्य च तस्मान्माणिक्यपुञ्जा[11] निजान्येव मनागविलम्बितपरिचयचिररत्नानि[12] रत्नानि समग्रहीत्।

ततः स नरवरः सपरिवारः प्रकामं विस्मितमतिः 'वणिक्पते, त्वमेवात्रान्वर्थतः सत्यघोषः, त्वमेव च परम-निःस्पृहमनीषः, यतस्तव चेतसि वचसि च न मनागप्यन्यथाभावः समस्ति' इति प्रतीतिभिः पारितोषिकप्रदानपुरःसरप्रकृति-भिस्तत्तत्ते[13]पयिकोपचितिवसतिभिश्च भणितिभिस्तमखिलब्रह्म[14]स्तम्बस्ति[15]मीविजृम्भमाणगुणगणस्तोमं भद्रमित्रं कथं-कारं न श्लाघयामास। पुनरदूराशिवतातिं[16] श्रीभूतिं निखिललोक[17]लपमालवालमूलकौलीनता[18]लताश्रयशाखिनं न्युब्जाननं[19] निसर्गेण [20]हरिणीसमच्छायमपि महासाहसानुष्ठानात्स्व[21]मोसमानकायममलपर्वलक्ष्म[22]स्फुटबाल्यनिल[23]-

जो कि सैकड़ों उन उन चिह्नों—कङ्कण-आदि—के ज्ञापन की निरन्तर प्रवृत्ति से परवश हुई है, उक्त वणिक् के सात रत्न मँगवाकर राजा के लिए समर्पण कर दिये।

राजा ने अद्भुत किरणों वाली अपनी रत्न-राशि में उन्हें मिलाकर समीपवर्ती लक्ष्मीरूपी कल्पलता की क्रीड़ा के लिये नन्दनवन-सरीखे उस वैश्यपुत्र को बुलाकर कहा—'वणिक्पुत्र! इस रत्नसमूह के मध्य में जो रत्न तुम्हारे हों, उन्हें जानकर ले लो।'

'चिरकाल के पश्चात् उत्पन्न हुए पुण्य से मैं बढ़ रहा हूँ' ऐसा मन में अभिप्राय करके 'भद्रमित्र' ने कहा—'राजा सा० जैसी आज्ञा देते हैं।'

पश्चात् उसने उस रत्न-समूह के मध्य में से अपने ऐसे सात रत्न विचार कर ग्रहण कर लिए, जिनमें अल्प विलम्ब वाली जानकारी के कारण काल-क्षेप (कुछ समय का यापन) वर्तमान था।

यह देखकर राजा सकुटम्ब विशेष आश्चर्यान्वित बुद्धि वाला होकर बोला—'हे वणिक्-पति! तुम ही लोक में यथार्थ सत्यघोष हो, तुम ही विशेष वाञ्छा-रहित बुद्धिमान हो, क्योंकि तुम्हारे मन व वचन में जरा-सी भी धनलम्पटता या छलछिद्रता नहीं है।' राजा ने इस प्रकार के पारितोषिक-पूर्वक धन-प्रदान स्वभाव वाले विश्वासों द्वारा और तत्काल में उचित सम्मान के स्थानीभूत वचनों द्वारा भद्रमित्र की अत्यधिक प्रशंसा की, जिसके गुण-समूह की स्तुति समस्त ब्रह्माण्ड के हृदय में विस्तृत हो रही है,

जब राजा ने श्रीभूति को ऐसा देखा, जो कि समीपवर्ती अमङ्गल वाला है, जो कि समस्त लोक की मुखरूपी क्यारी में स्थित हुई जड़वाली लोक-निन्दारूपी लता के आश्रय के लिए वृक्ष-सरीखा है, जो नीचा मुख

१. संतत्या प्रवर्तमानपरवशात्। २. आनीय। ३. किरणे। ४. मिश्रीकृते। ५. 'क्रीड़ावनं' टि० ख०, 'देवोद्यानं' टि० च०। पञ्जिकायां तु नन्दनं देवोद्यानं। ६. वैश्यपुत्रं। ७. रत्न-समूहमध्ये। ८. चिरात्। ९. समुत्पन्नेन पुण्येन। १०. अभिप्रायं कृत्वा। ११. पुञ्जः समूहः। १२. मनागविलम्बितपरिचयेन चिरत्नः कालक्षेपो येषु रत्नेषु तानि चिररत्नानि। १३. ततस्मात्तदाकाले उचितजालाभिः टि० ख०, पं० तु उपयिकमुचितम्। १४. ब्रह्माण्ड। १५. हृदयं। १६. समीपाऽमंगलं। १७. मुख। १८. जनापवादः टि० ख०, पं० तु दुरपवादः। १९. अधोमुखं। २०. स्वर्णप्रतिमा। २१. लोहप्रतिमा। २२. उन्मार्ग। २३. हृदयं।

मलीव भयाविर्भूतोत्पथ[1]वेपथुदित[2]मितमवेक्ष्य बहुलाक्षेपम्, 'आः[3] [4]सोमपायिनामपाङ्क्तेय[5] वंधेय[6], विश्वासघातक, पातकप्रसव, श्रोत्रियकितव, दुराचार, प्रवर्तितनूतनरत्नापहार, कुशिककुलपांसन[7], बकानुष्ठानसदन, साधुजनमनःशकुनि[8]बन्धनायातनुतन्त्री[9]जालमिव खलु तवेदं यज्ञोपवीतम्। असदाचारावधिक[10], वेदवैवधिक[11], सद्धर्मधामध्वा[12]मलताविभावाय [13]विश्वभोजसमिन्धन[14], अकृत्यचैत्य[15], ग्रावणा[16] माल्य, जरायमदूतिकोपपत्तिक[17] दुर्गतिक[18], किमात्मनो न पश्यसि [19]चर्मतरुत्वक्षमिवातिप्रवृद्धविस्रोवात्या[20]न्कायशिथिलतां प्रभातप्रदीपिकामिवासन्नसज्जीवितरविमकृच्छवि[21] येनाद्यापि वयोऽधसि[22] वयसि वर्तमान इव चेष्टसे। तदिदानीं यदि घनाभि[23]घारघोरतेजसि विश्ववेदसि[24] निक्षिप्यसे, तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य तवाचिरदुःखदायिपरिग्रहोऽनुग्रह इव।

ततो द्विजापसद, [25]कदाचित्स्वयमेवमतिदुर्गन्धगोर्वरोदुर्गवि[26]ततमध्याशावं[27]शालाजिरत्रयमशितव्यम्, नो चेदशराल[28]बलोत्फुल्लगल्लानां मल्लानां त्रयस्त्रिंशत्कफोणि[29]प्रहाराः सहितव्याः। [illegible] नव मर्यस्यापहारः।' प्रणाशाव-

---

किये हुए है, जो पूर्व में स्वभावतः सुवर्ण की मूर्ति-सरीखा कान्ति-युक्त था, परन्तु महान् दुस्साहस-युक्त कर्म करने से वह लोहे की मूर्ति-सरीखे शरीर-युक्त मालूम पड़ता है, जिसका मन प्रचुर उन्मार्ग (कुपथ) में गमन करने से भग्न हो रहा था—चूर-चूर-हो रहा था और जो विशेष भय से उत्पन्न हुए बेमर्याद कम्पन से प्रस्वेदित (अत्यधिक पसीना-युक्त) था, तब उसने विशेष तिरस्कार पूर्वक कहा—'बड़ा खेद है, हे ब्राह्मणों के मध्य पङ्क्ति-रहित ! अर्थात्—हे ब्राह्मण-श्रेणी में रखने के अयोग्य (जाति से बहिष्कृत) ! निर्भाग्य ! हे विश्वासघातक व पातकों की उत्पत्ति स्थान ! हे ब्राह्मण-धूर्त ! दुराचारी ! नवीन रत्नों का अपहरण करनेवाले ! हे ब्राह्मण-वंश-दूषण ! हे बगुला-सरीखो कुटिलता के स्थान ! निस्सन्देह तेरा यह यज्ञोपवीत शिष्ट पुरुषों के मनरूपी पक्षियों के बन्धन के लिए बृहत् तातों का जाल-सरीखा है। हे पापाचार की चरम सीमावाले ! वेदरूपी कावड़ी के धारक (वेदों के भारवाहक) ! प्रशस्त धर्मस्थान में मलिनता उत्पन्न करने के लिये अग्नि के ईंधन ! हे कुकर्म के गृह ! हे निकृष्ट (अधम) मंत्री ! हे वृद्धावस्था रूपी यमदूती के आदर करने में तत्पर ! और हे जार !

क्या तुम विशेष बढ़ी हुई वृद्धावस्थारूपी प्रचण्ड वायु द्वारा उत्पन्न हुई घातक शिथिलतावाली, भोजपत्र-सरीखी शारीरिक शिथिलतावाली और तेज हवा के चलने से बुझने के उन्मुख हुए प्रभातकालीन दीपक-सरीखो व जिसमें जीवनरूपी सूर्य का अस्त होना निकटवर्ती है, ऐसी शरीर की खाल को नहीं देखते हो ? जिससे अब भी ऐसी चेष्टाएँ करते हो—मानों—तुम युवा हो। अतः इस समय यदि तू प्रचुर घृत डालने से भयानक तेजवाली—धँधकती हुई अग्नि में फेंक दिया जाय तो चिरकाल से संचित किये हुए पाप को स्वीकार करनेवाले तेरा अनुग्रह जैसा होगा, क्योंकि तुझे अग्नि में फेंकना तत्काल दुःख देने वाला है। इसलिए हे निकृष्ट ब्राह्मण ! या तो तुझे विशेष दुर्गन्धित गोबर से भरे हुए मध्यदेश वाले तीन सकोरों परिमाण गोबर खाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं कर सकता तो प्रचुर बल से फूले हुए गालों वाले पहलवानों के तेतीस कोहनियों के प्रहार

१-२. कम्पेनार्द्रं प्रस्वेदितं। ३. खेदे। ४. सोमपायिनो ब्राह्मणाः। ५. पङ्क्तिरहित। ६. निर्भाग्य। ७. ब्राह्मणकुलदूषण। ८. पक्षिबन्धनार्थं। ९. दवरकस्य तांतणकुजाल। १०. मर्यादिक। ११. वेदानुष्ठानरत। १२. कुण्डाल्व। १३. अग्नेः। १४. इन्धन। १५. गृह। १६. निकृष्ट मन्त्रिन्!। १७. जरैव यमदूती, उपपत्तिकः आदरपरः। १८. जार। १९. भूर्जतरुपत्रवत् शिथिलशरीरखल्लां। २०. जरा एव वात्या। २१. कायखल्लां। २२. यौवने इव। २३. घृत। २४. अग्नौ। २५. अथवा। २६. भृतमध्यप्रदेशं। २७. भाजन—भाणा टि० ख०, पं०तु०'शालाजिरं शरावं' शरावं टि० च०। २८. बहुलबल। २९. अवहत्थ—कोहणी।

कायविभूतिः श्रीभूतिरायतयं दण्डद्वयं क्रमेणातितिक्षमाणः[1] [2]पर्यात्तसमस्तद्रविणः क्रिमिकिर्मी[3]रपरिपाकपरिकल्पित[4]प्रसाधिः कृतकलशकपाल[5]मालावासिक[6]सृष्टिरुत्सृष्ट[7]शरावमक्ष[8]रिष्कृतिः[9] [10]पुरावधासवालेय[11]कमारोह्य समिकारं निष्कासितः पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्ठ[12]कुष्ठो दुष्परिणामकनिष्ठः[13] शुभाशयारण्यविनाशमहसि हिरण्यरेतसि[14] तनुविसर्गविहितरौद्रसर्पदाहे्ये[15]ऽन्ववाये प्रादुर्भूय[16] चिरायापराध्य[17] च प्राणिषु कालजीवितावधि[18]रघः-प्रयाननिधिर्बभूव ।

भवति चात्र श्लोकः—

श्रीभूतिः स्तेयदोषेण प्रभुः प्राप्य पराभवम् । रोहिव[19]हव्यप्रवेशेन दंशेरः[20] सन्नधोगतः ॥१०६॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ।

अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्तिं [21]च वर्जयेत् । भाषेत वचनं नित्यमभिजातं[22] हितं मितम् ॥१०७॥

तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये । जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥१०८॥

(मुझको) सहन करना चाहिए। नहीं तो निस्सन्देह तेरा समस्त धन अपहरण किया जायगा।'

मृत्यु से अपनी रक्षा की विभूति माननेवाला श्रीभूति जब शुरू के दो राज-दण्ड क्रमशः सहन न कर सका तब राजा द्वारा उसका समस्त धन ग्रहण कर लिया गया और उसके शरीर पर कीड़ों से कर्बुरित कीचड़ से विलेपन करके घड़ों की खप्पर श्रेणी की माला पहिना कर उसे जूठे सकोरों की माला से अलङ्कृत किया गया। बाद में बड़े गधे पर चढ़ा कर उसे तिरस्कार पूर्वक नगर से निकाल दिया। पापकर्म के उदय से उसे चारों ओर अशोभमान कोढ़ हो गया। खोटे परिणामों से वह जघन्य कोटि का था। इसलिए उसने उसके शुभ परिणामरूप वन को भस्म करनेवाली अग्नि में जलकर शरीर त्याग किया—मर गया और उत्पन्न हुए रौद्र ध्यान के कारण साँपों के वंश में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने अनेक प्राणियों को डँसा और आयु पूरी करके नरकवासी हुआ—

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—श्रीभूति नाम का पुरोहित चोरी करने के अपराध से राजा द्वारा तिरस्कृत हुआ और अग्नि में जलकर मर गया। पश्चात् सर्पयोनि में उत्पन्न होकर नरकगामी हुआ ॥ १०६ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में चोरी का फल बतलानेवाला सत्ताईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब सत्यव्रत का निरूपण करते हैं—

सत्याणुव्रत

सत्यवादी को किसी बात को बढ़ाकर नहीं कहते हुए दूसरों के दोष नहीं कहना चाहिए और असभ्य वचन बोलने का त्याग करना चाहिए। उसे सदा कुलीनता प्रकट करनेवाले, हितकारक व परिमित वचन बोलना चाहिए ॥१०७ सत्यवक्ता को ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरे प्राणियों पर विपत्ति (पीड़ा या मरण)

---

१. असहमानः । २. गृहीत—उद्दालित । ३. क्रमिभिः विचित्रकर्दमः टि० ख०, पं० तु किर्मीरः कर्बुरः, परिपत् कर्दमः । ४. परिविरचितविलेपनः टि० ख०, पं० तु प्रसाधि विलेपनं । ५. कुम्भस्य खर्परश्रेणी । ६. बद्धरचना । ७. उच्छिष्ट । ८. माला । ९. परिष्कृतः अलङ्कृतः । १०. नगरात् । ११. बृहद्रासभं । १२. अशोभमान । १३. जघन्यः । १४. अग्नौ । १५. सर्पवंशे । १६. उत्पद्य । १७. प्राणिषु अपराधं कृत्वा । १८. सर्पोऽपि । १९. अग्नि । २०. सर्पः । २१. 'असत्योक्तिं च' इति क० । २२. 'अभिजातस्तु कुलजे बुधे सुकुमारे न्याय्ये चोपचारात्' टि० ख०, 'अभिजातं शुभकुलोद्भवं वचनं' टि० च० ।

प्रियशीलः प्रियाचारः प्रियकारी प्रियंवदः । स्यादानृशंस्यधीर्नित्यं[*] नित्यं परहिते रतः ॥१०९॥
केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपस्सु च । [2]अवर्णवादवाञ्जन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान्[3] ॥११०॥
मोक्षमार्गं स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते । मदापह्नवमात्सर्यैः स स्याद्यावरणद्वयी ॥१११॥
मन्त्रभेदः परीवादः[4] पैशून्यं कूटलेखनम् । मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ॥११२॥
परस्त्रीराज[5]विद्विष्टलोक[6]विद्विष्टसंश्रयाम् । [7]अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्बुधः ॥११३॥
असत्यं सत्यगं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् । सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥११४॥

[8]अस्येदमैदंपर्यम्[9]असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि[10] रन्धयति वयति वासांसीति[11] । सत्यमप्यसत्यं किंचिद्यथार्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्याश्राय[12] मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति । सत्यसत्यं किंचिद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैवाविसंवादः[13] । असत्यासत्यं किंचित्स्वस्यासत्संगिरते[14] कल्ये दास्यामीति ।

आती हो या अपने ऊपर भयानक दुर्निवार आपत्तियाँ आतीं हों ॥१०८॥ सत्यवादी मानव को सदा प्यारी प्रकृति वाला, प्रिय आचरण वाला, प्रिय करने वाला, प्रिय भाषण करने वाला एवं सदा परोपकार करने में तत्पर होकर सदा दूसरों से द्रोह न करने वाली बुद्धिवाला (दयालु) होना चाहिए ॥१०९॥ जो प्राणी केवली, द्वादशाङ्ग-शास्त्र, मुनिसंघ, देव, धर्म (अहिंसा लक्षण) व तप में गैरमौजूद दोषों का आरोपण करता है, या इनकी निन्दा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अर्थात्—उसे दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है ॥ ११० ॥ जो विद्वान् पुरुष मोक्ष के मार्ग को स्वयं जानता हुआ भी अपने ज्ञान का घमण्ड करने से, ज्ञान को छिपाने से, मात्सर्यभाव से—ईर्ष्या से (मेरे सिवाय दूसरा कोई न जानने पावे ऐसी ईर्ष्या के कारण) मोक्ष मार्ग के इच्छुक दूसरे मानव को नहीं बताता, वह ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध करता है ॥ १११ ॥ दूसरे के मन को बात जानकर उसे दूसरों पर प्रकट कर देना, असम्बद्ध भाषण करना अथवा झूंठा उपदेश देना, चुगली करना, झूंठे दस्तावेज-आदि लिखाना और झूंठी गवाही देना ये पाँच दुर्गुण सत्यव्रत के घातक हैं, अर्थात्—ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥११२॥ विद्वान् पुरुष को परस्त्री-कथा, राज-विरुद्ध कथा व लोक विरुद्ध कथा का त्याग करते हुए निरर्थक, नायक-रहित व कपोल-कल्पित कथा नहीं कहनी चाहिए ॥ ११३ ॥ वचन चार प्रकार का होता है—१. असत्य-सत्य, २. सत्यासत्य, ३. सत्यसत्य व ४. असत्यासत्य ॥ ११४ ॥

इस श्लोक का यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है। जैसे 'यह भात पकाता है' या 'वस्त्र बुनता है।' यहाँ पर पकाने योग्य चाँवलों में भात शब्द का प्रयोग किया गया है एवं वस्त्र-निर्माण-योग्य तन्तुओं में वस्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए उक्त वाक्यों में असत्यता होते हुए भी सत्यता है। अतः असत्य सत्य वचन [लोक व्यवहार के अनुकूल] है।

इसी तरह कुछ सत्यवचन ऐसे होते हैं, जिनमें काल का व्यवधान हो जाने से असत्यता का मिश्रण होता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी से कहता है, कि 'मैं आपको अमुक वस्तु पन्द्रह दिन में दूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह एक महीना व एक वर्ष में उसे प्रतिज्ञात वस्तु देता है, इसे सत्यासत्य वचन जानना चाहिए। क्योंकि

*. 'स्यादानृशंस्यधीर्नित्यं' इति क० च०। १. पराद्रोहबुद्धिः दयासहितः। २. निन्दापरः। ३. मिथ्यादृष्टिः। ४. असम्बद्धालापः। ५. राजविरुद्धां। ६. लोकविरुद्धां। ७. फल्गुकथां नायकरहितां कपोलकल्पिताम्। ८. श्लोकस्य। ९. रहस्यं-अयमर्थः। १०. 'ओदन' टि० ख०, पं० तु अन्धांसि अन्नानि। ११. वस्त्राणि। १२. प्रतिज्ञाय। १३. अमिथ्यावादः। १४. कथयति, सम् प्रतिज्ञायां' टि० ख०, 'प्रतिज्ञायति' इति टि० च०।

तुरीयं[1] वर्जयेन्नित्यं [2]लोकयात्रात्रये स्थिता। सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥११५॥
न स्तुयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत्[3]। न [4]सतोऽन्यगुणान्हिंस्यान्नासतः स्वस्य वर्णयेत् ॥११६॥
तथा [5]कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचितः पुमान्। उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृतेः[6] कृती ॥११७॥
यत्परस्य प्रियं कुर्यादात्मनस्तत्प्रियं हि तत्। अतः किमिति लोकोऽयं पराप्रिय[7]परायणः ॥११८॥
यथा यथा परेष्वेतच्चेतो[8] वितनुते तमः। तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निषिञ्चति ॥११९॥
दोषतोयै[9]र्गुणग्रीष्मैः संगन्तॄणि[10] शरीरिणाम्। भवन्ति चित्तवासांसि गुरूणि च लघूनि च ॥१२०॥
सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते। वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥१२१॥
तर्षेर्ष्यामर्षहृ[11] वर्धिष्णुर्याभाषामनीषितः। जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम्[12] ॥१२२॥

यहाँ पर वस्तु के देने में विरोध न होने के कारण सत्यता है और प्रतिज्ञा किये हुए काल के उल्लङ्घन हो जाने से असत्यता है। जो वस्तु जिस देश में, जिस काल में, जिस आकार में और जिस प्रमाण में जानी है, उसको उसी रूप से सत्य कहना सत्य-सत्य है। जो वस्तु अपने पास नहीं है, उसके लिए ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं तुम्हें सबेरे दूँगा परन्तु देता नहीं है। इसे असत्य-असत्य समझना चाहिए।

इनमें से चौथे असत्य-असत्य वचन को कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि लोक व्यवहार शेष तीन प्रकार के वचनों पर ही स्थित है। इसी प्रकार जो वाणी गुरु-आदि हितैषियों को प्रमुदित करनेवाली है, वह मिथ्या होने पर भी मिथ्या नहीं समझी जाती॥ ११५॥ सत्यवादी को अपनी प्रशंसा न करते हुए दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। उसे दूसरों में विद्यमान गुणों का घात (लोप) नहीं करना चाहिए। और अपने अविद्यमान गुणों को नहीं कहना चाहिए कि मेरे में ये गुण हैं॥ ११६॥ परनिन्दा, आत्मप्रशंसा व दूसरों के प्रशस्त गुणों का लोप करनेवाला मानव नीच गोत्र का बंध करता है और जब धार्मिक पुरुष उससे विपरीत करता है। अर्थात्—अपनी निन्दा और दूसरों की प्रशंसा करता है तथा दूसरों में गुण न होने पर भी उनका वर्णन करता है तथा अपने में गुण होते हुए भी उनका कथन नहीं करता तब उच्चगोत्र का बंध करता है॥ ११७॥ जो व्यक्ति दूसरों का हित करने में तत्पर रहता है, वह अपना ही हित करता है, फिर भी न जाने क्यों यह लोक-संसार-दूसरों का अहित करने में तत्पर रहता है?॥ ११८॥ जिस जिस प्रकार से यह विकृत मनोवृत्ति दूसरे प्राणियों में अज्ञानरूप अन्धकार का प्रसार करती है, उस उस प्रकार से वह अपनी धमनियों—नाड़ियों—में अज्ञानरूप अन्धकार की धारा को प्रवाहित करता है। अभिप्राय यह है कि दूसरों का अहित करने से अपना ही अहित होता है॥११९॥ [लोक में] प्राणियों के चित्तरूपी वस्त्र जब दोषरूपी जल में डाले जाते हैं तो आर्द्र होने से गुरु (वजनदार व पक्षान्तर में पापी) हो जाते हैं और जब वे गुणरूपी गर्मी में फैलाये जाते हैं तो सूख जाने के कारण लघु (हल्के व पक्षान्तर में पुण्यशाली) ही हो जाते हैं।

निष्कर्ष—अतः नैतिक पुरुष को अपना मनरूपी वस्त्र सदा सम्यग्ज्ञानादि प्रशस्त गुणरूप गर्मी द्वारा लघु (हल्का-पुण्यशाली) करते रहना चाहिए॥ १२०॥

सत्यवादी पुरुष सत्य के प्रभाव से वचन-सिद्धि प्राप्त करता है। उसकी वाणी जिस-जिस विषय में

१. असत्यासत्यं। २. व्यवहार। ३. निन्दयेत्। ४. विद्यमानान्। ५. परात्मनिन्दाप्रशंसां कुर्वाणः। ६. तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्तिः। ७. अहिततत्परः। ८. मनः। ९. जलैर्मनोवस्त्राणि आर्द्रीभवन्ति। १०. संबंधीनि। ११. तृष्णामोह। १२. सुगतिविनाशं।

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्—जाङ्गलदेशेषु [1]हस्तिनागनामावनीश्वरकुञ्जरजनितावतारे हस्तिनागपुरे प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाग्र*खण्डितमण्डनकण्डू[2]लारा[3]तिकीर्तिलतानिबन्धनोऽभूदयोधनो नाम नृपतिः। [4]अनवरतवसुवितरणप्रीणितातिथिरतिथिर्नामास्य महादेवी। सुता चानयोः सकलकलावलोकनालसा सुलसा नाम। सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि [5]ज्ञातेयैककोदरशायिनो[6] रम्यकदेशनिवे[7]शपोदनपुरनिवेशिनो [8]निर्विपक्षलक्ष्मीलक्षिताक्षुण्णमङ्गलस्य[9] पिङ्गलस्य [10]गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुर्वारवैरिवक्षःस्थलोद्दलना[11]वदानोद्योगलाङ्गलाय मधुपिङ्गलाय परिपणिता [12]बभूव।

भूभुजा च महोदयेन तेन विदितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यभोग्यतया योग्यमिदं स्त्रैणं रत्नं तस्यैतद्भूयात्। अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतामचिन्तितसुखदुःखागमानुमेयप्रभावं दैवमेव शरणम्' इति विगणय्य[13] स्वयंवरार्थं भीम-भीष्म-भरत-भाग-सङ्ग-सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनामुपचारानुकूलं[14] मूलं[15] प्रस्थापयाम्बभूवे[16]।

प्रवृत्त होती है, उस उस विषय में मान्य होती है ॥ १२१ ॥ इसके विपरीत जो मानव तृष्णा, ईर्षा, क्रोध व हर्ष-आदि के कारण झूँठ बोलने की बुद्धि वाला होता है, उसे इस लोक में जिह्वाच्छेदन-आदि कष्ट होते हैं और परलोक में उसकी सुगति नष्ट होती है, अर्थात्—दुर्गति होती है ॥ १२२ ॥

१५. असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारद की कथा

अब झूँठ बोलने का कटुकफल बतलाने वाली कथा सुनिए—

जाङ्गलदेश के 'हस्तिनाग' नामक श्रेष्ठ राजा का जन्म होने के कारण सार्थक नाम वाले 'हस्तिनागपुर' नाम के नगर में, अपनी प्रचण्ड बाहुदण्डमण्डली के अलङ्काररूप खड्ग द्वारा युद्ध करने की खुजली वाले शत्रुओं की कीर्तिरूपी लता को खण्डित करने में कारणीभूत 'अयोधन' नामका राजा था। इसकी निरन्तर धन के दान द्वारा अतिथियों को सन्तुष्ट करनेवाली 'अतिथि' नामकी पट्टरानी थी। इनके समस्त कलाओं के अभ्यास में प्रयत्नशील 'सुलसा' नामकी पुत्री थी। जब राजकुमारी सुलसा महारानी के गर्भ में थी, तभी से महारानी ने निस्सन्देह रम्यक देशवर्ती पोदनपुर नगर के निवासी, जिसका परिपूर्ण मङ्गल (राज्यसुख) शत्रु-रहित राज्य लक्ष्मी द्वारा जाना गया था व जो महारानी का सहोदर था, ऐसे अपने भाई पिङ्गल के पुत्र ऐसे मधुपिङ्गल के लिये वाग्दान (देनी) कर रक्खी थी, जो गुण (वीरता-आदि) रूपी सुमेरु पर्वत का रत्नमयी शिखर था और जिसका उद्योगरूपी लाङ्गल (हल) दुःख से भी निवारण करने के लिए अशक्य (दुर्जेय) शत्रुओं के वक्षःस्थलों (उरोभूमि) के विदारणरूपी प्रशस्त कर्म वाला था।

[जब सुलसा विवाह-योग्य हुई] तब विशेष उन्नतिशील राजा-अयोधन को यद्यपि अपनी महारानी के हृदय की बात ज्ञात थी तो भी उसने सोचा कि—'यह स्त्री धन जिस किसी महाभाग्यशाली के भाग्य में भोगने के योग्य है, उसी का यह होना चाहिए। इस विषय में सब शरीरधारियों का दैव ही शरण है और दैव का

---

१. 'हस्तिनाग' नामा कश्चिद्राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तन्नगरं हस्तिनागपुरमित्यभवत्। *. असिः। २-३. खर्जिलकर। ४. द्रव्य। ५. ज्ञातेर्भावः ज्ञातेयं तेन बन्धुत्वेनेत्यर्थः। ६. अतिथिपिङ्गलावेकोदरोत्पन्नौ। ७. स्थाने। ८. शत्रुरहितः। ९. परिपूर्णमङ्गलस्य। १०. गुणा एव गीर्वाणाचलः मेरुस्तत्र रत्नशिखराय टि० ख०, गुणा एव गीर्वाणाः देवाः तेभ्यः अचलः मेरुः तत्र रत्नसानुः टि० च०। ११. उद्दलनायावदानं अद्भुतकर्म शुद्धकर्म वा तत्र उद्योग एव लाङ्गलं यस्य सः। १२. दत्ता। १३. ज्ञात्वा। १४. प्राभृतपूर्वं। १५. लेखं। १६. तेन भूभुजा।

अत्रान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धचाराध्यायामयोध्यायां नरवरः सगरो नाम। स किल लास्यविविलास[1]सकौशल-सरसायाः सुलसायाः कर्णपरम्परया श्रुतत्रैलोक्यातिशयो [2]मनागुपरमत्तारुण्यलावण्योदयः प्रयोगेण[3] तामात्मसात्चिकीर्षुः तौर्यत्रिकसूत्रे [4]प्रतिकर्मविकल्पेषु संभोगसिद्धान्ते [5]विप्रश्नविद्यायां स्त्रीपुरुषलक्षणेषु [6]कथाख्यायिकाख्यानप्रवाह्लीका-स्वपरासु च तासु तासु कलासु [7]परमसंवीणतालताधरित्रीं मन्दोदरीं नाम धात्रीं ज्योतिषादिशास्त्रनिशितमतिप्रसूतिं विश्वभूतिं च बहुमानसंभावितमनसं पुरोधसं तत्र पुरि प्राहिणोत्।

[8]विचिकायशार्दूलदरी[9] मन्दोदरी तां पुरमुपगम्य परप्रतारणप्रगल्भमनीषा [10]कृतकात्यायिनीवेषा तत्तत्कलावलोकनकुतूहलमयोधनधरापालं निजभार्तार्थसिद्धिपरवशो[11] रञ्जितवती सती [12]शुद्धान्तोपाध्यायी भूत्वा सुलसां सगरे संगरं[13] ग्राहयामास। तथा चकोटवृत्तिवेषः स पुरोधाश्च तंस्तैरात्मदेशोऽस्तस्य नृपस्य महादेव्याश्च वशीकृतचित्तवृत्तिः।

प्रभाव अचानक सुख-दुःख के आगमन से अनुमेय है।' ऐसा जानकर उसने स्वयंवर के लिये भीम, भीष्म, भरत, भाग, सङ्ग, सगर, सुबन्धु, और मधुपिङ्गल-आदि राजाओं के पास भेंट पूर्वक पत्र भिजवा दिये।

[इसी बीच एक दूसरी घटना घटी]

मगध देश के मध्य में ख्याति प्राप्त करने से आराधना के योग्य अयोध्यानगरी में 'सगर' नामका राजा था। निस्सन्देह उसने कर्णपरम्परा से नृत्यादि कलाओं की निपुणता से व विलास (हावभाव) की चतुरता से रसीली सुलसा राजकुमारी की सर्वोत्कृष्ट अनोखी सुन्दरता की चर्चा सुनी। इस राजा की जवानी की सौन्दर्य-वृद्धि कुछ अल्प हो रही थी। अतः वह किसी भी उपाय से उसे अपने अधीन करने का इच्छुक हुआ। अतः उसने 'मन्दोदरी' नामकी धाय को, जो कि भरत मुनि के गीत, नृत्य व वादित्ररूप संगीतकला में, मण्डन-आभरण-आदि में, कामशास्त्र में, होराक्षरादि द्वारा दूसरे की मनोवृत्ति के ज्ञान में, स्त्री-पुरुषों के लक्षण-ज्ञान में, कथा (चित्र अर्थ बतानेवाली), आख्यायिका (प्रसिद्ध अर्थवाली कथा), आख्यान (दृष्टान्त-कथन) व पहेली और दूसरी ललित कलाओं में विशेष पटुतारूपी लता को पल्लवित करने के लिए पृथिवी-सरीखी थी। तथा ऐसे विश्वभूति नामक पुरोहित को, जिसकी बुद्धि का प्रसार ज्योतिष-आदि शास्त्रों में तीक्ष्ण था एवं जिसका मन विशेष सन्मान से आह्लादित था, हस्तिनागपुर भेजा।

मन्दोदरी धाय ने, जो कि दूसरों को धोखा देने के उपाय संबंधी अभिप्राय के लिए व्याघ्र की गुफा-जैसी थी और जिसकी बुद्धि दूसरों को ठगने में प्रवीण थी, उस नगर में पहुँच कर कात्यायनी (समस्त लोक द्वारा नमस्कार करने के योग्य वेषवाली, समस्त कलाओं में प्रवीण, प्रौढ़ अर्द्धवृद्धा नारी) का वेष बनाया और अपने स्वामी की प्रयोजन-सिद्धि करने में तत्पर हुई। इसने उन उन कलाओं के देखने का कौतूहल वाले अयोधन राजा को अपने ऊपर विशेष प्रसन्न कर लिया और अन्तःपुर की अध्यापिका होकर सुलसा से सगर राजा को

---

१. नृत्यविशेष। २. विरमत्। ३. 'प्रयोगस्तु निदर्शने कार्मणे च प्रयुक्तौ च केनाप्युपायेनेत्यर्थः' टि० ख०, 'प्रसाधनेन' टि० च०। ४. 'मण्डनाभरणादिषु' टि० ख०, 'नेपथ्य' टि० च०। 'प्रतिकर्म नैपुण्यं' इति पञ्जिकायां।
५. होराक्षरादिभिः परचित्तज्ञाने अथवा अहोरात्र्यादिभिः परचित्तज्ञाने।
६. कथा चित्रार्थगा ज्ञेया ख्यातार्थाऽऽख्यायिका मता। दृष्टान्तस्योक्तिराख्यानं प्रवाह्लीका प्रहेलिका॥ १॥
७. पटुता। ८. विचिका परवंचनोपायः। ९. व्याघ्रगुहापि प्रागात्भये वर्तते। १०. 'अर्द्धवृद्धा' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु कात्यायनी लक्षणं प्राह—
'सर्वलोकनमस्कार्यवेषाऽशेषकलाश्रया। कात्यायनी भवेन्नारी प्रगल्भागलितयौवना'॥ १॥
११. तत्परा। १२. अन्तःपुर। १३. संगरं प्रतिज्ञां।

कुण्ठे (खञ्जे) षष्टिरशीतिः स्यादेकाक्षे बधिरे शतम् । वामने च शतं विंशं दोषाः पिङ्गे त्वसंख्यकाः ॥१२३॥
मुखस्यार्द्धं[1] शरीरं स्याद्घ्राणार्धं[2] मुखमुच्यते । नेत्रार्धं[3] घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु[4] नयने परे ॥१२४॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास ।

[5]ततश्चाम्पेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनंधयेषु पुष्पंधयेष्विव मिलितेषु स्वयंवराह्वानशृङ्गारिताहंकारेषु महीश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत[6]निम्नधरोपगापगेव[7] सागरम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

अल्पैरपि समर्थः स्यात्सहायैर्विजयी नृपः । कार्यायाग्नौ[8] हि कुन्तस्य दण्डस्तस्य[9] परिच्छदः ॥१२५॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ।

ही वरण करने की प्रतिज्ञा करा ली। बगुला-जैसी कुटिल वृत्ति में बृहस्पति-सरीखे राजपुरोहित ने भी अनेक उपदेशों से उस राजा का और महारानी का मन अपने वश में कर लिया।

इसके उपरान्त उसने उन्हें स्वयं रचे हुए श्लोकों द्वारा मधुपिङ्गल के विषय में विरक्तता उत्पन्न कराई।

उन श्लोकों का भाव यह था—

टुण्टे में ६० दोष होते हैं, काने में ८० और बहरे में सौ दोष होते हैं। बौने में एक सौ बीस दोष होते हैं, किन्तु पीत नेत्रवाले में तो अगणित दोष होते हैं॥ १२३॥

समस्त शरीर, मुख के मूल्य को प्राप्त करता है, अर्थात्—शरीर में मुख कीमती होता है। मुख नासिका का मूल्य प्राप्त करता है (मुख में नासिका श्रेष्ठ होती है)। एवं नासिका नेत्रों का मूल्य प्राप्त करती है (नासिका की अपेक्षा नेत्र श्रेष्ठ हैं)। तथा नेत्र शरीर, मुख व नासिका-आदि के मध्य सर्वोत्कृष्ट माने गये हैं॥ १२४॥

इसके बाद स्वयंवर हुआ—

स्वयंवर में बुलाने से वस्त्राभूषणों से मण्डित होने के कारण अहङ्कारी राजा लोग, जिनके ज्ञान-रूपी शिशु, चम्पक-वल्लरियों की सुगन्धिरूपी दुग्धपान में विशेष लुब्ध हैं, भौंरों की तरह जब स्वयंवर मंडप में एकत्रित हुए, तब उनमें से मन्दोदरी धाय के अधीन हुई मनोवृत्ति वाली सुलसा ने कानों के लिए मनोज्ञ सगर राजकुमार को वैसा वरण किया जैसे नीची पृथिवी पर गमन करनेवाली नदी समुद्र का वरण करती है—उसमें प्रविष्ट होती है।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

राजा शक्तिशाली थोड़े से भी सैनिक सहायकों से विजयश्री प्राप्त करता है, जैसे भाले की नौंक ही अपना कार्य (प्रहार) करती है, उसमें लगा हुआ दण्ड तो केवल सहायक मात्र है॥ १२५॥

---

१. सर्वं शरीरं मुखस्यार्द्धं तुल्यं मूल्यं। २. सर्वं मुखं नासिकायाः अर्द्धं तुल्यं मूल्यं वा लभते। ३. एकनेत्रस्य मूल्यं नासिका लभते। ४. पूर्वोक्तेषु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे। ५. चम्पकवल्लरीषु लसत्सुगन्धता एव दुग्धपानं तत्र लोभिष्ठज्ञानबालकेषु। ६. निम्नभूगामिनी। ७. नदी। ८. अग्रभाग। ९. कुन्तस्य।

प्ररूढनिर्वेदकन्दलो* मधुपिङ्गलः 'धिगिदमभोगायतनं[1] भोगायतनं[2] यदेकदेशदोषादिमामुचितसमागमामपि [3]मामतनूद्भवामहं नालप्सि[4]' इति मत्वा विमुक्तसंसारपक्षः परिगृहीतदीक्षः क्रमेण तांस्तान्ग्रामारामनिवेशाञ्जिरनुको[5] जङ्घाकरिक[6] इव लोचनोत्सवतां नयन्ननाय।[7] बुभुक्षयायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तीव्रतपोऽतिश्रान्तदेहो वाप्पीह[8] इव [9]क्लमथुव्यपोहाय सगरागारद्वार*मन्दिरे[10] मनागध्यास्त। तत्र च पुराप्रयुक्तपरिणयापायनीतिर्विश्वभूतिः प्रगल्भमतये शिवभूतये रुचिष्याय[11] शिष्याय रहितरहस्य[12]मुद्रकं सामुद्रकमशेषविदु[13]र्विचक्षणो व्याचक्षाणो बभूव। परामर्शवशाशीतिः[14] शिवभूतिस्तं न्यक्षलक्षणपेशलं मधुपिङ्गलमवलोक्य 'उपाध्याय,[16] घनघृताहुतिवृद्धिमद्धामशालिनि [17]ज्वालामालिनि 'हूयतामेतद्वैतिह्यस्वाध्यायो यदेवंविधमूर्तिरप्ययमीदृगवस्थाकीर्तिः' सदाचारनिगृहीतिर्विश्वभूतिः—अपर्याप्तपूर्वापरसंगीते[18] शिवभूते, मा गाः खेदम्, यदेष नृपवरस्य सगरस्य निर्देशादस्मदुपदेशादनन्यसामान्यलावण्यविनिवासां सुलसामलभमानस्तपस्वी[19]तपस्वी समभूत्। एतच्चाससमारिष्ट[20]तातैर्विश्वभूतेर्वचनमेकायनमनाः[21] स यतिर्निशम्य

इस प्रकार उपासकाध्ययन में सुलसा का सगर के साथ संगम नाम का अट्ठाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस घटना से मधुपिङ्गल के हृदय में वैराग्य रूप कन्द ऊँग गया और ऐसा सोचकर उसने संसार से मोह छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। 'भोग-शून्य स्थान वाले इस शरीर को धिक्कार है, जिसके एकदेश (नेत्र) में दोष होने के कारण मैं समागम के योग्य (अनोखी सुन्दरी) मामा की पुत्री को नहीं प्राप्त कर सका।' इसके उपरान्त एकाकी पादचारी की तरह घूमते हुए उसने क्रम से अनेक ग्रामों व बगीचों के स्थान नेत्रों की उत्सवता में प्राप्त किये। एक दिन वह भोजन की इच्छा की वृद्धि से आहार के लिए अयोध्या नगरी में आया। अनेक उपवास करने के कारण उसके हृदय का उत्साह पराधीन (बेकाबू) हो गया और तीव्र धूप से उसका शरीर विशेष थक गया था, अतः चातक पक्षी की तरह थकावट दूर करने के लिए सगर राजा के महल के द्वार-मण्डप पर थोड़ी देर के लिए ठहर गया।

वहाँ पर समस्त विद्वानों में प्रवीण विश्वभूति, जिसने पूर्व में इसका सुलसा राजकुमारी के साथ होनेवाले विवाह-संबंध को छुड़ाने की कूटनीति का प्रयोग किया था, प्रतिभाशाली, बुद्धिमान एवं शास्त्रोपदेश के योग्य (अथवा टि० के अभिप्राय से प्रेमपात्र) शिवभूति नामक शिष्य के लिए गोप्य-रहित मुद्रापूर्वक (खुले तौर पर) सामुद्रिक विद्या का व्याख्यान दे रहा था, उस समय विचार के अधीन चित्तवाले शिवभूति शिष्य ने समस्त लक्षणों से मनोज्ञ मधुपिङ्गल को देखकर अपने गुरु से कहा—उपाध्याय! 'प्रचुर घी की आहुति से वृद्धिगत तेजवाली—धँधकती हुए अग्नि में इस सामुद्रिक विद्या को जला देनी चाहिए; क्योंकि इस प्रकार के लक्षणों से युक्त होने पर भी इस मानव की ऐसी शोचनीय अवस्था है।'

इसे सुनकर सदाचार के शत्रु विश्वभूति ने कहा—'पूर्वापर संबंध को न जाननेवाले शिवभूति! खेद मत करो, क्योंकि सगर राजा की आज्ञा से और हमारे कहने से अनोखे सौन्दर्य की आश्रय सुलसा को प्राप्त न

---

* कन्द। १. भोगरहितं गृहं। २. शरीरं। ३. मातुलपुत्रीं। ४. न प्राप्तवान्। ५. असहायः एकाकी। ६. चरणचरः पादचारी। ७. 'आहारार्थं' टि० ख०, 'बुभुक्षायाः' टि० च०, पं० तु अशना क्षुधा। ८. चातकः। ९. श्रमस्फेटनाय। *. 'द्वारमन्दिरे' इति ख०,। १०. 'मन्दिरे—प्राङ्गणे मण्डपे' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'मन्दिरं मण्डपः' इत्याह। ११. 'वल्लभाय' टि० ख०, पं० तु 'रुचिष्यः शास्त्रोपदेशयोग्यः'। १२. गोप्यरहितं। १३. विदुषं पण्डितः। १४. 'चित्तः' टि० ख०, पं० तु 'आशीतिः आशयः'। १५. न्यक्षः सर्वः। १६. हे उपाध्याय!—हे प्रगल्भ! टि० ख०। १७. अग्नौ। १८. संबंध। १९. दीनः, पं० तु तपस्वी वर्पुटः। २०. अमङ्गल। २१. एकाग्रचित्तः।

प्रवृद्धकोपानलः कालेन [1]विपद्योत्पद्य चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यादुपजातावधिसन्निधिस्तपस्याप्रपञ्च[2]-मसुरान्वयोद्भवं[3] चात्मनो विनिश्चित्य यदीदानीमेव महापराधनगरं सगरमकारणप्रकाशितदोषजाति विश्वभूतिं च चूर्णयेयं पिनष्मि, तदानयोः[4] सुकृतभूयिष्ठत्वात् प्रेत्यापि[5] सुरश्रेष्ठत्वावाप्तिरिति न साध्वपराधः स्यात्। ततो यथेह-नयोर्बहुविडम्बनाधरोधो वधः, परत्र च दुःखपरम्परानुरोधो भवति, तथा विधेयम्। न चैकस्य बृहस्पतेरपि कार्यसिद्धि-रस्ति' इत्यभिप्रायेणात्मवैकारिक[6]द्धिप्रदर्शनातिथि[7] वैरनिर्यातन[8]मनोरथरथसारथिमन्वेषमाणमतिरासीत्।

अथ कामकोदण्डकारणकान्तारैरिवेक्षुवणावतारैर्विराजितमण्डलायां[9] [10]डहालायामस्ति स्वस्तिमती नाम पुरी। तस्यामभिचन्द्रापरनामधसु[11]विश्वावसुर्नाम नृपतिः। तस्य निखिलगुणमणिप्रसूति[12]वसुमती वसुमती नामाग्रम-हिषी। सूनुरनयोः[13]समस्तसपत्नभूरुहविभावसु[14]र्वसुः। पुरोहितश्च निखिलाशेषशास्त्ररहस्यनिकुरम्बः क्षीरकदम्बः। कुटुम्बिनी पुनरस्य सतीव्रतोपासितमती स्वस्तिमती नाम। [15]अन्युरनयोरनेकनमसित[16]पर्वतप्राप्तः पर्वतो नाम। स

करने के कारण यह बेचारा तपस्वी हो गया है।'

उस तपस्वी ने एकाग्रचित्त होते हुए निकटवर्ती अमङ्गल-समूहवाले विश्वभूति के वचन सुनकर उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। वह आयु के अन्त में मर कर असुरकुमार जाति के देवों में कलासुर नामका देव हो गया। वहीं पर देव पर्याय के माहात्म्य से उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान की समीपता उत्पन्न हुई। उसके द्वारा उसने अपनी तपश्चर्या का विस्तार व उससे असुर कुमार जाति के देवों में अपनी उत्पत्ति का निश्चय किया।

इसके उपरान्त उसने सोचा-कि 'यदि मैं इसी समय महान् अपराध के स्थान सगर को व निष्कारण मेरे गैरमौजूद दोष-समूह को प्रकाशित करने वाले दुष्ट विश्वभूति को मूर्ख को नष्ट करता हूँ तब पुण्य अधिक होने से इन दोनों को देवों की श्रेष्ठ पर्याय ही मिलेगी, जिससे इनका विशेष अपकार नहीं होगा।' इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनका वध महान् कष्टों के संबंध वाला हो और परलोक में भी इन्हें दुःख-परम्परा का संबंध हो। परन्तु अकेला बृहस्पति भी सहायकों के बिना कार्य-सिद्धि में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा सोचकर उसकी बुद्धि ऐसे कुशल पुरुष की खोज करने में तत्पर हुई, जो इसको वैक्रियक ऋद्धि के चमत्कार दिखलाने का अतिथि हो एवं जो वैर-शुद्धि के मनोरथ रूप रथ का सारथि हो। अर्थात्—वैर शोधने में सहायक हो।

इक्षु-वनों की उत्पत्ति द्वारा, जो मानों—कामदेव के धनुष उत्पन्न करनेवाले वन ही हैं, सुशोभित विस्तार वाले डहाला देश में स्वस्तिमती नामकी नगरी है। उसमें विश्वावसु नामका राजा राज्य करता था, उसका दूसरा नाम अभिचन्द्र भी था। उसकी समस्त गुणरूप मणियों की उत्पत्ति के लिए वसुमति (पृथ्वी) सरीखी 'वसुमति' नामकी पट्टरानी थी। इनके समस्त शत्रुरूपी वृक्षों को भस्म करने के लिए अग्नि-जैसा वसु नामक पुत्र था। समस्त शास्त्र के रहस्य-समूह को निश्चय करने वाला 'क्षीरकदम्ब' राज-पुरोहित था। इसकी पातिव्रत्य धर्म की उपासना करनेवाली स्वस्तिमती नामकी प्रिया थी। इनके पर्वत नामक पुत्र था, जो कि बहुल नैवेद्य चढ़ाकर की हुई देवताओं की आराधनाओं से प्राप्त हुआ था।

---

१. मृत्वा। २. विस्तारं। ३. उद्भवं—उत्पत्ति। ४. नृपमन्त्रिणोः। ५. मृत्वापि। ६. विकारे भवा विक्रियर्द्धि। ७. प्राघूर्णिकं, मम विक्रियां तस्य दर्शयामीति भावः। ८. वैरशुद्धिकरणसहायं। ९. चक्रवालायां विस्तारगर्भायां। १०. नाम देशे। ११. अभिचन्द्रः विश्वावसुः इति तस्य नृपस्य नामद्वयं। १२. उत्पत्ती भूमिः। १३-१४. शत्रुवृक्षदहनाग्निः। १५. पुत्रः। १६. हुन्तकारा एव पर्वताः तैः प्राप्तः बहुलनैवेद्येन देवाराधनैः प्राप्त इत्यर्थः।

किल सदाचरणसूरिः क्षीरकदम्बकसूरिः शिष्यधीबुद्ध्यामिव स्वाध्यायसंपादनविशालायां सुवर्णगिरिगुहाङ्गणशिलायां[1]-मेकदा तस्मै सुवा गतस्मयाय[2] यथाविधि [3]समर्थजिगांसवे वसवे प्रगलितपितृपाण्डित्यगर्वपर्वताय तस्मै पर्वताय गिरिकूटपत्तनपतेर्विश्वनाम्नो विश्वंभरापतेः पुरोहितस्य [4]विहितानवद्यविद्याचार्यचरणसेवस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय नारदाभिधानाय च [5]निखिलभुवनव्यवहारतन्त्रमागमसूत्रमतिमधुरस्वरा[6]पदेशमुपदिशन्नम्बरादवतरद्भ्यां सूर्याचन्द्रसमाभ्याममितगत्यनन्तगतिभ्यामृषिभ्यामीक्षांचक्रे ।

तत्र समासन्नसुगतिरनन्तगतिर्भगवानिदमेवमभाषत—'भगवन्, एते[7] एव खलु विबुधाः[8] शिष्याः, यदेवमन्वयं ब्रह्मोद्यविद्य[9]मेते [10]एकाद्ग्रन्थार्थप्रयोगभङ्गीषु[11] यथार्थप्रदर्शनतया [12]विधूतोपाध्यायादुपाध्यायादेक[13]सर्गधियोऽधीयते ।'

प्रयुक्तावधिबोधस्थितिरमितगतिर्भगवान्—'मुनिवृषभ[14], सत्यमेवैतत् । किंत्वेतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्यामम्भसि[15] गौरवोपेतपदार्थवदधःप्रबोधौ[16] भवितमतिभ्यामिदमतिपवित्रमपि सूत्रं विपर्यासयितव्यम् ।'

एतच्च प्रवचनलोचनालोकितब्रह्मस्तम्बः[17] क्षीरकदम्बः संश्रुत्य 'नूनमस्मिन्महामुनिवाक्येऽर्थात्सप्तरुचि[18]-

---

एक समय निस्सन्देह विशेष सदाचारी क्षीरकदम्ब नामक विद्वान् सुवर्ण गिरि की गुफा के आँगन की शिला पर, जो कि उस प्रकार स्वाध्याय के सम्पादन के लिए विशाल (विस्तृत) थी जिस प्रकार शिष्य की बुद्धि स्वाध्याय के सम्पादन में विशाल (प्रखर) होती है, गर्व-रहित (विनीत) व यथाविधि अध्ययन के इच्छुक वसु राजकुमार के लिए और अपने पुत्र पर्वत के लिए, जिसका पिता की विद्वत्ता का गर्वरूपी पर्वत नष्ट हो चुका था, एवं नारद नामक शिष्य के लिए, जो कि गिरिकूट नगर के स्वामी राजा विश्व के पुरोहित व निर्दोष विद्या के आचार्यों का चरण सेवक विश्वदेव का पुत्र था, त्रैलोक्य के वर्णन के सम्प्रदाय वाले सिद्धान्त-सूत्र का अत्यन्त मधुर स्वर-सहित उपदेश देता था। इसी अवसर पर आकाश से उतरते हुए व सूर्य-चन्द्रमा-सरीखे अमितगति व अनन्तमति नामके चारणऋद्धिधारी ऋषियों ने उसे देखा।

उनमें से समीपवर्ती प्रशस्त गतिवाले अनन्तगति मुनि निस्सन्देह बोले—'भगवन् ! निस्सन्देह ये ही शिष्य विद्वान् हैं; क्योंकि ये लोग एक अभिप्रायवाली बुद्धि से युक्त हुए ग्रन्थ के अर्थ की प्रयोग-रचनाओं को यथार्थ दिखलाने के कारण दुराचार की उत्पत्ति को नष्ट करनेवाले (सदाचारी) इस उपाध्याय (शिक्षक) से, तीर्थङ्करों द्वारा कहा हुआ निर्दोष शास्त्र पढ़ रहे हैं।'

उपयोग की शक्ति से अवधिज्ञान की स्थिति लानेवाले भगवान् अमितगति ने उत्तर दिया—'मुनि-श्रेष्ठ ! आपका कहना सत्य है, परन्तु इन चारों के मध्य दो शिष्य उस प्रकार अधः (नरक) के अनुभवन के योग्य बुद्धिवाले होंगे जिस प्रकार जल में फेंकी हुई वजनदार वस्तु (पाषाण-आदि) अधः अनुभवन के योग्य (नीचे जानेवाली) होती है। क्योंकि उनके द्वारा अत्यन्त पवित्र भी शास्त्र का अर्थ विपरीत—उल्टा किया जायगा।'

---

१. पट्टशालायां । २. रहितगर्वाय । ३. अध्येतुमिच्छवे । ४. कृत । ५. त्रैलोक्यवर्णनसंप्रदायं सिद्धान्तं । ६. स्वर सहितं । ७. चत्वारः । ८. विचक्षणाः । ९. शास्त्रं । १०. उपाध्यायात् । ११. रचनासु । १२. विधूतः स्फेटितः उपाधेर्विकारस्य आयः आगमनं येन सः तथोक्तस्तस्मात् टि० ख०, पञ्जिकाकारोऽप्याह—विधूतः स्फेटितः उपाधेरसदाचारस्य आयः उत्पादो येन सः तस्मात् । १३. एकाभिप्रायाः, सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु । १४. श्रेष्ठ । १५. जले यथा गुरु वस्तु निमज्जति । १६. अनुभवन । १७. ब्रह्माण्ड । १८. सप्तरुचिरश्मिः ।

मरीचिचक्षुर्भ्यामूर्ध्वगाभ्यां भवितव्यमिति प्रतीयते । तत्राहं तावदेकदेशयतिपूतात्मा नमात्मानम् [1]श्वभ्रधामसंनिधानं न संभावयेयम् । नरकान्तं राज्यम्, बंधनान्तो नियोगः, मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः, विपदन्ता खलेषु मैत्री, इति वचनाद्विन्दिरामदिरामदमलिनमनःप्रचारे राज्यभारे [2]प्रसरन्तं वसुं च नोर्ध्वं विधातुम्[3] । तन्नारदपर्वतौ परीक्षाधिकृतौ' इति निश्चित्य [4]'समिथमयपूर्णायुद्वयं'[5] निर्माय प्रदाय च ताभ्याम् 'अहो, द्वाभ्यामपि भवद्भ्यामिदमूर्णायुयुगलं यत्र न कोऽप्यालोकते तत्र विनाश्य प्राशितव्यम्' इत्यादिदेश । तावपि तदादेशेन *हव्यवाहवाहनद्वितयं प्रत्येकमादाय यथायथमयासिष्टाम् । तत्र[6] सत्स्वातिलघुः[7] पर्वतः [8]परस्य[9]पाश्चात्यकुम्बा[10]मुपस[11]त्यापाद्य च भटित्रमुरभ्रपुत्रमुदरानलपात्रमकार्षीत् । शुभाशयविशारदो नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इत्युपाध्यायोक्तं ध्यायन् 'को नामात्र पुरे कान्तारे वा [12]सप्रदेशो योऽधिकरणं[13] नात्मेक्षणस्य व्यन्तरगणस्य महामुनिजनान्तःकरणस्य च' इति विचिन्त्य तथैव तं [14]वृष्णिमुपाध्यायाय समर्पयामास ।

उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमनमवबुद्ध्य संसारतरुस्तम्बमिव[15] कचनिकुरम्बमुत्पाट्य स्वर्गलक्ष्मीसपत्नीं दीक्षामादाय निखिलागमसमीक्षां शिक्षामनुष्ठित्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसङ्घसंतोषणं गणपोषणमात्मसात्कृत्य [16]'एकत्वादिभावना-'

शास्त्ररूपी नेत्र द्वारा ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले क्षीरकदम्बक ने जब मुनियों की बात सुनी तब उसने निश्चय किया—कि 'वास्तव में इस महामुनि के वाक्य के अभिप्राय से यह प्रतीत होता है कि हममें से दो निश्चय से अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगामी हैं। उनमें से मैंने तो अपनी आत्मा को श्रावकों के चरित्र पालन से पवित्र किया है, अतः मैं अपने को नरक स्थान के समीप होने की सम्भावना नहीं कर सकता और वसु को, जिसके प्राण लक्ष्मीरूपी मदिरा के मद से मनोवृत्ति को कलुषित करनेवाले राज्य-भार में विस्तृत हो रहे हैं, ऊर्ध्वगामी होने की संभावना नहीं करता, क्योंकि नीतिकारों ने कहा है—'राज्य का फल अन्त में नरक है। शासन का फल बन्धन है। स्त्रियों में विश्वास करने से अन्त में मृत्यु होती है। दुष्टों की संगति अन्त में दुःख देनेवाली है।' अतः अब नारद और पर्वत परीक्षणीय हैं। ऐसा निश्चय कर उसने गेहूँ के आटे के दो मेढ़े बनाकर उन दोनों के लिए एक एक मेढ़ा देकर आज्ञा दी—'शिष्ययुगल ! तुम दोनों इस मेढ़े के जोड़े को जहाँ कोई न देख सके, ऐसे एकान्त स्थान पर मारकर खा जाओ।'

गुरु की आज्ञा से वे दोनों एक-एक मेढ़ा लेकर यथायोग्य स्थान पर चले गए। उन दोनों छात्रों में से सज्जनों के साथ मित्रता करने में लघु पर्वत नामके छात्र ने अपने गृह की पिछवाड़े भाग की वाड़ी के समीप जाकर कुल्हाड़ी वगैरह हथियार लेकर मेढ़े को अपनी जठराग्नि का स्थान बना लिया। किन्तु शुभ-अभिप्राय में प्रवीण नारद ने तो 'जिस स्थान पर कोई नहीं देख सके' इस गुरु की कही हुई बात पर चिंतवन करके विचारा—'इस नगर व वन में ऐसा कौन सा प्रदेश है, जो अतीन्द्रिय दर्शी व्यन्तर, देव-समूह के ज्ञान का स्थान नहीं है ? या महामुनि जनों के ज्ञान का विषय नहीं है ? ऐसा विचार कर वह मेढ़ा जैसे का तैसा—उपाध्याय के लिए समर्पण कर दिया।

शिक्षक ने जान लिया कि नारद भी स्वर्गगामी है। अतः उसने संसाररूप वृक्ष की जड़ सरीखे केश-

---

१. नीचस्थानम्-नरकं । २. विस्तरत्प्राणं । ३. नाहं संभावयेयम् । ४. गोधूमचूर्णं । ५. मेषयुगलं । *. मेषयुगलं टि० ख०, पं० तु हव्यवाहवाहनः उरभ्रः वृष्णिश्च मेषः । ६. तयोर्द्वयोर्मध्ये । ७. लघुः । ८–११. गृहपश्चाद्भागमहावृत्तिकान्तरे नीत्वा कुम्बा तु महावृत्तिरित्यमरः । १२. प्रदेशः । १३. स्थानं । १४. मेषं । १५. अथ कांडे स्तम्बगुल्मौ जवकः विटपश्च सः । १६. भावनाःपञ्च—एकत्वभावना, तपोभावना, श्रुतभावना, शीलभावना, धृतिभावना-श्चेति भावनाः पञ्च ।

पुरस्कारमात्मसंस्कारं विधाय कायकषायकर्शनीं सल्लेखनामनुष्ठाय निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थमुत्तमार्थं[1] च प्रतिपद्य सुरसुखमनुभूतार्थो बभूव पूर्वमेव । तदादेशादात्मदेशोपदेशदः[2] सकलसिद्धान्तकोविदो नारदः सद्गुणभूरेः क्षीरकदम्बसूरेः प्रव्रज्याचरणं स्वर्गाधिरोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं गुरुकलत्रं च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणः[3]पर्यासन्नाराधनोपकरणस्तद्विरहदुःखदुर्मनसमुपाध्यायानीं जननीं सह पांसुक्रीडितं पर्वतं च द्रष्टुमागतः ।

अपरेद्युस्तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् 'अजैरजात्मजैः[4]यष्टव्यं हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्यः' इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो[5]व्याहरन्तमुपश्रुत्य 'बृहस्पतिप्रज्ञ पर्वत, मैवं व्याख्यः । किं तु 'न जायन्ते इत्यजाः वर्षत्रयप्रवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यं शान्तिकपौष्टिकार्था क्रिया कार्या' इति [7]परार्येवाचार्यादिदं वाक्यमेवमश्रौष्व[8] [9]पर्यसज्[10]स्तथैवाचिन्तयाव । तत्कथमेषम[11] एव तव मतिर्व्यामोहवशमितः[12] समजनीति बहुविस्मयं मे मनः ।[1] आचार्यनिकेत पर्वत, यद्येवमत्रभवति[13]ऽर्थाभिधाने[14] भवानपरवानपि[15] विपर्यस्यति[16], तदा पराधीने 'मादृग्विधीने'[17] को नाम संप्रत्ययः ।[1]

समूह का लुञ्चन करके स्वर्ग लक्ष्मी की सखी जिनदीक्षा धारण करके समस्त जिन-सिद्धान्तों की समीक्षावाली शिक्षा प्राप्त कर चारों प्रकार के मुनि संघ को सन्तुष्ट करने वाला आचार्य-पद प्राप्त किया, जो कि मुनि संघ का संरक्षण रूप है, एवं एकत्वादि पाँच भावनाओं के साथ रहने वाला आत्म-संस्कार करके और आयु के अन्त में काय व कषाय को कृश करने वाला समाधिमरण धारण किया और ऐसा सन्यासमरण प्राप्त किया, जो कि समस्त दोषों की आलोचना-पूर्वक शरीर-त्याग में समर्थ है, जिससे वह पूर्व में ही देव लोक का सुख प्राप्त करके कृतार्थ हो गया ।

समस्त शास्त्रों का वेत्ता व मोक्षमार्गी नारद पूर्व में ही गुरु की आज्ञा लेकर अपने देश की ओर चला गया था । उसने जब प्रशस्त गुणों से महान् आचार्य क्षीर कदम्बक के दीक्षा-ग्रहण व स्वर्गारोहण के समाचार सुने तो उसे 'गुरु के समान ही गुरु-पुत्र व गुरुपत्नी को मानना चाहिए ।' इस नीति वाक्य का स्मरण हो गया । इसलिए वह उसकी सेवा की सामग्री (वस्त्रादि) भेंट लेकर पति-वियोग के दुःख से दुःखित चित्त वाली माता-सरीखी गुरुपत्नी और एक साथ धूलि में क्रीड़ा किये हुए मित्र पर्वत को देखने के लिये आया ।

दूसरे दिन नारद ने पर्वत को, जो कि गुरु-वचनों की प्रतीति से चमत्कारी छात्रों के लिये 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का 'बकरों के बच्चों को बलि द्वारा देवकार्य व पितृकार्य (श्राद्ध) करना चाहिए ।' इस प्रकार का विपरीत अर्थ कहते हुए सुना था उसे रोककर कहा—'बृहस्पति-सरीखे विद्वान् पर्वत ! ऐसी विपरीत व्याख्या मत करो । किन्तु 'अज' अर्थात्—'जो न ऊँग सकें ऐसे तीन वर्ष के पुराने धान्य से शान्ति व पुष्टिक्रिया करनी चाहिए ।' ऐसा अर्थ करो । क्योंकि हे मित्र ! गत तृतीय वर्ष में (तीन वर्ष पूर्व) ही आचार्य से हम दोनों ने उक्त वाक्य का ऐसा ही अर्थ सुना था । एवं गतवर्ष हम दोनों ने साथ-साथ उसी प्रकार चिन्तवन भी किया था । तब इसी वर्ष में ही तुम्हारी बुद्धि संदिग्ध कैसे हो गई ? यह जानकर मेरा मन विशेष आश्चर्यान्वित हुआ है । पर्वत ! तुम आचार्य की गद्दी पर हो । जब आप पुराने अर्थ-कथन में स्वतन्त्र होकर भी इस प्रकार उल्टा अर्थ करते हो । तब पराधीन हम-सरीखों के अर्थ-कथन के स्वामित्व में किस प्रकार विश्वास हो सकता है ?'

---

१. सन्यासं । २. नारदो गतः अर्थात्—मोक्षमार्गे वर्तमान इत्यर्थः, टि० ख०, 'आत्मदेशोपदेशदः' इति च० 'आत्मदेशोपशदः' इति क०, पञ्जिकाकारस्तु 'अपसदः गतः, उपसदो वा गतः' इति प्राह, अर्थात्—तन्मते 'आत्मदेशोऽपसदः' इति पाठः साधुः । ३. गृहीत । ४. छागपुत्रैः । ५. गुरुवचनप्रतीतिचमत्कारिभ्यः । ६. कथयन्तं । ७. गततृतीयवर्षे एव हे मित्र ! । ८. आवां श्रुतवन्तौ । ९. गतवर्षे । १०. सह । ११. इदानीमस्मिन् वर्षे । १२. संशयः । १३. पुराणे । १४. अर्थकथने । १५. स्वतंत्रः । १६. विपरीतं करोति । १७. मादृशां विधिस्तस्य इने ईश्वरे ।

पर्वतः—'नारद, नेदमसङ्गतं[1] यदस्य पदस्य मयोक्त एवातिमुक्तोऽर्थः। यदि चायमन्यथा स्यात्तदा [2]रसवाहिनीखण्डनमेव मे दण्डः।' नारदः—'पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोरावयोर्निकषभूमिः[3]।' पर्वतः—'नारद, वसुः।' कर्हि तर्हि तं [4]समयानुसर्तव्यम्। इदानीमेव [5]नात्रोद्धारः' इत्यभिधाय द्वावपि तौ वसुं निकषा प्रास्थिषाताम्[6], ऐक्षिषातां च। तथोपस्थितौ तेन वसुना गुरुनिर्विशेषमाचरितसंमानौ यथावत्कृतकशिपुविधानौ[7] विहितोचितोचितकाञ्चनदानौ समागमनकारणमापृष्टौ स्वाभिप्रायमभाषिषाताम्।

वसुः—'यथाहतुस्तत्रभवन्तौ[8] तथा प्रातरेवानुतिष्ठेयम्[9]।

अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपायां सा किलोपाध्यायी नारदपक्षानुमतं क्षीरकदम्बाचार्यकृतं तद्वाक्यव्याख्यानं स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापायबुद्ध्या वसुमनुसृत्य 'वत्स वसो, यः पूर्वमुपाध्यायवन्तर्धा[10]नापराधलक्षणावसरो वरस्त्वयादायि, स मे संप्रति समर्पयितव्यः' इत्युवाच। सत्यप्रतिपालनासुर्वसुः—किमम्ब, संदेहस्तत्र।

यद्येवं यथा सहाध्यायी पर्वतो वदति, तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम्।' वसुस्तथा स्वयमाचार्याण्याभिहितः[11]—

पर्वत—मेरा यह अर्थ-कथन असङ्गत नहीं है; क्योंकि इस पद का मेरा कहा हुआ अर्थ ही ठीक है। यदि यह ठीक नहीं है तो जिह्वा-खंडन ही मेरे लिये दण्ड है।'

नारद—'पर्वत ! इस विषय में निश्चितरूप से विवाद करनेवाले हम दोनों का परीक्षा-स्थान (परीक्षक—फैसला करनेवाला) कौन है ?'

पर्वत—'नारद ! राजा वसु।'

नारद—'तो उसके पास कब चलना चाहिए ?'

पर्वत—'इसी समय ही, इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिए।'

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनों ने वसु के समीप प्रस्थान किया और वहां उपस्थित होकर वसु के दर्शन किये। वसु ने उनका गुरु-जैसा आदर-सत्कार किया और यथायोग्य अन्न व वस्त्र प्रदान किये एवं यथायोग्य सुवर्ण का दान दिया और उनसे आने का कारण पूंछा। तब दोनों ने अपना-अपना अभिप्राय कह दिया।

वसु—'पूज्य आप दोनों ने जिस प्रकार कहा है, उसका फैसला कल प्रातःकाल कराऊँगा।'

इसी प्रसङ्ग में निस्सन्देह वसु राजा की लक्ष्मी के विनाश के लिए प्रलय रात्रि-जैसी स्वस्तिमती नामकी क्षीर-कदम्बक नामके उपाध्याय की पत्नी ने, अपने पति क्षीर-कदम्बक के द्वारा किया हुआ उस वाक्य का व्याख्यान स्मरण किया, जो कि नारद के पक्ष का समर्थक था, अतः अपने पुत्र पर्वत के पराजय को नष्ट करने की बुद्धि से वह रात्रि में ही वसु के समीप गई और बोली—'पुत्र वसु ! पहिले गुरु से छिपने का अपराध करने के समय वाला जो वर तुमने मुझे दिया था, वह मुझे अब दो।'

सत्य-रक्षण को प्राण समझनेवाले वसु ने कहा—'माता ! उसमें सन्देह मत करो।'

स्वस्तिमती—'यदि ऐसा है तो तुम्हारा सहपाठी पर्वत जैसा कहता है उसी प्रकार तुम्हें साक्षी होना चाहिए।'

---

१. असङ्गतं। २. जिह्वा-खंडनं। ३. परीक्षास्थानं। ४. समीपे। ५. न विलम्बः। ६. प्रस्थितौ। ७. भोजनाच्छादनौ। ८. पूज्यौ। ९. अहं कारयेयं। १०. तिरोधानं। ११. प्रार्थितः।

'यदि साक्षी भवामि तदावश्यं निरये पतामि । अथ न भवामि तदा सत्यात्प्रच्यवामि' इत्युभयाशयशार्दूलविद्रुतमनोमृगश्चिरं विचिन्त्य ।

न व्रतमस्थिग्रहणं[1] शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा । व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥१२६॥'

इति च विमृश्य निरयनिधानवक्षं[2] चरमपक्षमेव[3] पक्षमाकांक्षीत् ।

तदनु[4] मुमुक्षिषमाणारविन्दहृदयसमिन्द्रेन्दिन्दिरचरणप्रचारोदञ्चन्मकरन्दसिन्दूरितनीरदेवतासीमन्तान्तराले प्रभातकाले, सेवासमागतसमस्तसामन्तोपालितपर्यस्तोत्तंसकुसुमसंपादितोपहारमहीयसि च सति सदसि मृगयाव्यसनव्याजशरव्यीकृते[5] कुरङ्गपोते, ★अपराद्धेषु[6] प्रत्यासादितस्पर्शमात्रावसेयाकाशस्फटिकघटितविलसनं सिंहासनमुपगत्य 'सत्यशौचादिमाहात्म्यादहं विहायसि गतो जगद्व्यवहारं[7] निहालयामि' इत्यात्मनात्मानमुत्कुर्वाणो[8] विवादसमये तेन [9]विनतवरदेन नारदेन 'अहो, मृधोद्धोद्भिदविभावसो[10] वसो, अद्यापि न किंचिन्नङ्क्ष्यति[11] । तत्सत्यं ब्रूहि सत्यं ब्रूहि' इत्यनेकधा

गुरु-पत्नी द्वारा स्वयं उस प्रकार प्रार्थना किये हुए वसु ने विचार किया—'यदि पर्वत का साक्षी होता हूँ तब तो मेरा नरक में पतन अवश्य होगा और यदि साक्षी नहीं होता हूँ तो सत्य से (वर देने की प्रतिज्ञा से) विचलित होता हूँ ।' इस प्रकार उसका मनरूपी मृग दोनों अभिप्रायरूपी व्याघ्र द्वारा विचलित हुआ तब उसने इस प्रकार चिरकाल तक निश्चय किया—

'हड्डी (कपाल) का धारण करना, शाक, जल, व कन्दमूल का लेना अथवा भिक्षा-भोजन करना ये सब व्रत नहीं हैं, किन्तु स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा का पूर्ण करना ही विशिष्ट बुद्धिशाली मानवों का व्रत है ॥१२६॥

उसने ऐसा विचार करके नरक ले जाने में समर्थ कारण पर्वत का पक्ष ही स्वीकार किया। दूसरे दिन जब ऐसा प्रातःकाल हो रहा था, जिसमें जल देवता के केशपाश का मध्यभाग, विकसित हो रहे कमलों के मध्य में जाग्रत हुए—उत्साही भवरों के चरण-संचार से उछलते हुए पुष्प-रस रूपी सिन्दूर से युक्त किया गया था। जब राज-सभा ऐसी हो रही थी, जो कि सेवा के लिए आये हुए सभी सामन्तों द्वारा की जानेवाली उपासना के समय गिरे हुए मुकुटों के पुष्प-समूह रूपी दी हुई भेंट से महान् प्रतीत हो रही थी। जब मृग-शावक ऐसे हो रहे थे, जो कि शिकारियों द्वारा शिकार खेलने के व्यसन के बहाने से बाणों के लक्ष्य (बींधने-योग्य) किये गए हैं। [इसी अवसर पर] राजा वसु लक्ष्य से च्युतबाणवाला (निशाना-चूकनेवाला) होकर उसका बाण किसी वस्तु से टकराकर वापिस लौट आया तब वह ऐसे राज-सिंहासन पर आकर बैठ गया, जो कि स्पर्श मात्र से निश्चय करने योग्य व प्राप्त हुए आकाश-स्फटिक से घटित होने के कारण सुशोभित हो रहा था। उस समय वह स्वयं अपनी आत्मा को इस प्रकार उत्कर्षता में प्राप्त करा रहा था (अपने मुख से अपनी प्रशंसा कर रहा था) कि 'मैं सत्य व शौच (लोभ-निग्रह) आदि धर्म के प्रताप से आकाश में बैठ कर जगत का न्याय देखता हूँ।'

विवाद के अवसर पर नम्र शिष्यों के लिए इच्छित वस्तु देनेवाले नारद ने कहा—'मिथ्या भाषण-

१. 'कीकस' टि० ख०, 'कापालिकव्रतं' टि० च० । २. 'साक्षिवचनं' टि० ख०, पर्वतवचनं टि० च० । ३. अङ्गीचकार । ४. विकसमानपद्ममध्यसञ्चरमाणभ्रमरचरण । ५. 'वेध्यो' टि० ख०, 'लक्ष्यीकृतं' टि० च० एवं यश० पञ्जिकायामपि ।

★. 'अपराद्धेषुरिषुप्रत्यावृत्यासादितस्पर्श' च० ख० । 'अपराद्धेषुरिषुप्रत्यासादितस्पर्श' क० ।

६. लक्ष्यच्युतबाणः । ७. न्यायं पश्यामि । ८. उत्कर्षतां प्रापयन् टि० ख०, पं० तु प्रकाशयन् । ९. विनतानां विनेयानां । १०. 'भूभृद्वहनाग्ने:' टि० ख०, 'उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः इत्यमरः' टि० च०, पं० तु 'उद्भिदः तरुः' । ११. विनाशं यास्यति ।

कृतोपदेशः कातरपीतलं पिपासुर्वसुः—'नारद, यथैवाह पर्वतस्तथैव सत्यम्' इत्यसमीक्ष्यं[1] साक्ष्यं वदन् 'देव, अद्यापि यथार्थं वद यथार्थं वद' इत्यालापबहुले [2]समन्युमानसविलासिनीलक्ष[3]लितोक्तिलोहले[4] विषादातिविह्वलप्रजा-प्रजल्पकाहले[5] स्फुटद्ब्रह्माण्ड[6]खण्डकुतूहले समुच्छलति परिच्छदकोलाहले असत्यधर्मकर्मप्रवर्तनकुपितपुरदेवताश-शुविलसनः सिंहासनः क्षणमात्रमप्यनासादित[7]सुखकालं पातालमूलं[8] जगाहे। अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिवेलायां द्विजा[9] जल्पन्ति—'उत्तिष्ठ वसो, स्वर्गं गच्छ' इति।

भवति चात्र श्लोकः—

अस्थाने बद्धकक्षाणां नराणां सुलभं द्वयम्। परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥१२७॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः।

नारदस्तमेव निर्वेदमुररीकृत्य नतभ्रू[10]विभ्रमभ्रमरकुलनिलयनीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तलकलापमुन्मूल्य परम-निष्किंचनतानिलयं[11] जातरूपमास्थाय सकलसत्त्वाभयप्रदानामृतवर्षाविकरणं संयमोपकरण[12]माकलय्य[13] मुक्तिलक्ष्मी-समागमसंचारिका[14]मिवोदकपरिचारि[15]कामादृत्य शिवश्रीवशीकरणाध्यायमिव[16] स्वाध्यायमनुबध्य[17] मनोमर्कट-

---

रूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखे वसु! अब भी कुछ नष्ट नहीं होगा, अतः सच बोल सच बोल।'

परन्तु बार-बार उपदेश दिए हुए नरक जाने के इच्छुक वसु ने यही कहा—'नारद! जो पर्वत कहता है वही सत्य है।' इस प्रकार जब अपरीक्षणीय झूँठी गवाही बोल रहा था तब ऐसा कुटुम्बीजनों का कोलाहल उत्थित हुआ, जो कि महाराज! 'अब भी सच बोलिये, अब भी सच बोलिए' इस प्रकार के शब्दों से प्रचुर था। जो कोपसहित मनवाली राज-स्त्रियों के अव्यक्त वचनों से अस्फुट था। जो खेद से व्यथित हृदय-वाली प्रजाओं के जोर-शोर से चिल्लाने रूपी काहल (वाद्य विशेष) वाला था एवं जिसमें ब्रह्माण्ड (मध्य लोक) के फटने का कुतूहल वर्तमान था। तब अधर्म कर्म (मिथ्याभाषण) में प्रवृत्ति करने से कुपित हुए नगर देवता द्वारा विशेष कष्ट दिया गया वसु सिंहासन-समेत ऐसे सप्तम नरक में प्रविष्ट हुआ, जिसमें क्षणमात्र भी सुख-प्राप्ति का अवसर नहीं है, इसीलिए आज भी यज्ञ में पहली आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते हैं—'वसु उठ, स्वर्ग जा।'

प्रस्तुत विषय-समर्थक नैतिक श्लोक का अर्थ यह है—

नीति से विरुद्ध खोटे मार्ग में दुराग्रह से प्रवृत्त होनेवाले मानवों के लिए दो वस्तुएँ सुलभ होती हैं—परलोक में दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोक में अमिट अपकीर्ति ॥ १२७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वसु की रसातल में प्राप्ति करानेवाला उनतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस घटना से नारद ने उसी वैराग्य को स्वीकार करके ऐसा केश-समूह उत्पाटित (लुञ्चित) करके जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—कमनीय कामिनियों के विलासरूपी भ्रमर-समूह के आवास स्थान वाली नीलकमलों की राशि ही है, और उत्कृष्ट परिग्रह के त्याग को बतलानेवाली दिगम्बर मुद्रा धारण करके ऐसा प्राणियों की रक्षा का उपकरण मयूरपिच्छ ग्रहण किया, जो कि समस्त प्राणियों के लिये अभय-

---

१. अपरीक्षणीयं। २. 'कोपसहितचित्त' टि० ख०, पं० तु 'मन्युः दुःखं'। ३. अव्यक्तवचन। ४. अस्फुटे—अव्यक्ते। ५. चन्द्रे। ६. मर्त्यलोक। ७. अप्राप्त। ८. सप्तमनरकं। ९. विप्राः। १०. स्त्री। ११. कथकं। १२. मयूरपिच्छं। १३. गृहीत्वा। १४. दूती। १५. कुण्डिका—कमण्डलुं। १६. परिच्छेद। १७. कृत्वा।

क्रीडाप्रकाम[1]मिन्द्रियाराममुपरम्य[2] अन्तरात्महेमाश्म[3]समस्तमलदहनं ध्यानदहनमुद्दीप्य संजातकेवलस्तत्प[4]दाप्ति-पेशलो बभूव ।

पर्वतस्तु तथा सर्वसभासमाजोद्बोरितोद्दीर्घधुरपवादरजसि मिथ्यासाक्षिपक्षविचक्षणवचसि दुराचारेण क्षुभित-सहस्राक्षानुचरी[5]क्षितजीवितमहसि कथाशेषतेजसि वसौ सति [6]अह्रस्वह्रीणतया पौरापचिकीर्षया[7] च निरन्तरोदञ्च-रोमहर्षणनिकायः [8]शल्लशलाकानिकीर्णकाय इव निजागण्यै[9]बहुरीहिताध्मातो[10] [10]दरचर्मपुटः स्फुटन्निव च संत्रं पलिविनाशव-शामर्षिभिः संभूयोपविष्टलोष्टवर्षिभिरसु[11] [12]वंशपिण्डी[13]लवलास्फालनप्रकर्षिभिः प्रतिघातोच्छलच्छकल[13] कशा[14]प्रहारतर्षि-भिर्नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकारं खरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशे प्राप्तप्राणः [15]पुत्पूत्कृतोल्बणक्वाणः[16] सकल-पुरवीथिषु [17]विश्वग्घुष्टाशुभालो* निष्काशितः [18]श्वपचश्मशानांशुकपिहितमेहनो विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डनः[19]

दानरूपी अमृत की वृष्टि का आश्रय है। बाद में उसने मुक्ति लक्ष्मी के समागम के लिए दूती-सरीखी कुण्डिका (कमण्डलु) धारण करके और मुक्तिश्री के वशीकरण का परिच्छेद-जैसा शास्त्र-स्वाध्याय करके एवं मनरूपी बन्दर की बहुल क्रीड़ावाले इन्द्रियरूपी बगीचे से दूर होकर ऐसी धर्मध्यानरूपी अग्नि उद्दीपित करके, जो कि अन्तरात्मारूपी सुवर्ण-पाषाण की समस्त पापरूपी किट्टकालिमा को दग्ध करनेवाली है। अर्थात्—उसने धर्मध्यान व शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्म करके केवलज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह मोक्षपद प्राप्त करने से मनोज्ञ हो गया।

जब ऐसा वसु, जिसका तेज केवल कथामात्र में ही शेष था, अर्थात्—जो मर चुका था। जिसके प्रति समस्त सभासदों व सामाजिक जनों द्वारा महान् धिक्काररूपी धूलि उच्चारण की गई थी, (पक्षान्तर में फेंकी गई थी) जिसके वचन झूँठी गवाही देने के पक्ष के समर्थन में प्रवीण थे। जिसका जीवनरूपी तेज दुराचार (मिथ्या-पक्ष का समर्थन) के कारण कुपित हुई इन्द्र की किङ्करियों द्वारा विशेष रूप से नष्ट किया गया था। तब कालासुर (जो कि पूर्वजन्म में मधुपिङ्गल था) ने ऐसे पर्वत को देखा, दीर्घलज्जा से व नागरिकों की द्रोह करनेवाली इच्छा के कारण जिसे अविच्छिन्न व उच्चतर रोमाञ्च श्रेणी उत्पन्न हुई थी। जिसकी कुक्षि का चर्मपुट अपने असंख्य पापों से फट गया था—मानों—उसका शरीर सेही के काटों से बींधा गया-जैसा मालूम पड़ता था। जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—फट ही रहा है। जो ऐसे नगर में निवास करने से हर्षित हुए नागरिक जनों द्वारा अगणित अपकार पूर्वक गधे पर चढ़ाकर समस्त नगर की गलियों में दुरपवाद की घोषणा को प्राप्त हुआ नगर से बाहर निकाल दिया गया था। जो कि (नागरिक जन) वसु राजा के मर जाने के वश से इससे कुपित थे। जो एकत्रित होकर इसके ऊपर पत्थरों की वर्षा करने का उपदेश देते थे। जो कि बहुल बाँस के खण्डों द्वारा इसे विशेष रूप से ताड़ित करते थे और जो ताड़न करने से ऊपर उछलते हुए खण्डों वाले कोड़ों से प्रहार करने की अधिक तृष्णा करते थे। कष्ट से उसके प्राण कण्ठ देश में आ गये थे। जो विशेष चिल्लाने का उत्कट शब्द करता था।

---

१. यथेष्टं-अधिकं। २. परितो भूत्वा। ३. सुवर्णपाषाण। ४. मोक्ष। ५. किङ्करीभिः क्षितं विध्वस्तं जीवितमेव महस्तेजो यस्य। ६. दीर्घलज्जया। ७. द्रोहकरवाञ्छया टि० ख०, अपकर्तुमिच्छया टि० च०। ८. सेह्रीशूल-विद्धशरीरः। ९. बहुल, असंख्य। १०. आस्फाटितकुक्षिः। ११. बहुल। १२. वंश। १३. खण्ड। १४. 'तर्जनक' टि० ख०, 'दृषहननोपकरणं टि० च०, यश० पञ्जिकायामपि। १५. महान्। १६. शब्दः। १७. विश्वग्घुष्टं दुरपवादघोषणा यश० पं०। *. 'विश्वरपुष्टानुजातो' इति ख०, टिप्पण्यां तु 'सारमेयाः पृष्ठतो भवन्ति'। १८. चाण्डालचितास्थानवस्त्रेण कृतकौपीनः। १९. विपरीत पीछणी मध्ये मध्ये पाटापाड़ित।

प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो[1] गलनालावलम्बितशरावमालः प्रवीयसि वनगहनरहसि प्रविष्टः तुच्छोदकद्रौ[2]पिनीतटिनी-तटनिकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्टः [3]प्रत्यवमृष्टहृदयचेष्टेन चाहं [4]तावद्वैक्रियिकर्द्धिप्रचिकाशयिषुशक्तिः 'एषोऽपि स्वमतप्रतिष्ठापयिषुमतिप्रशक्तिरतो निष्प्रतिघः[5] खलु मे कार्योल्लापः[6] इति निभृतं वितर्क्य[7] पर्याप्तपरिव्रा[8]जकवेषेण मायामयमनोषेण भाषितश्च ।

तथाहि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीना[9]शकेलिनर्मणा कुकर्मणा विनिर्मापितनिर्घृ[10]णापकारः' पर्वतः—'तात, को भवान्' । 'पर्वत, भवत्पितुः खलु प्रियसुहृदहं सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी । यदा हि वत्स, भवान् [11]षोडन् समभवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम । इदानीं [12]चागाम् । अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति । तत्कथय हन्त[13] कारणमस्य व्यतिकरस्य' ।

पर्वतः—'मत्प्राणितपरित्रा[14]णकारिन् भगवन्, समाकर्णय । समस्तागमरत्नसंनिधातरि[15] सुकृतमणिसमा-हर्तरि जिनरूपानुसारिणि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्तनिकामकामोद्गमः [11]संपन्नपण्याङ्गनाजन-समागमः [13]कृतपिशितकापिशा[16]यिनस्वादः पापकर्मप्रासादः [17]चेतन्नप्यार्यो[18]पदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमहं [19]दुरात्माख्यामः

चाण्डाल की चिताभूमि के वस्त्र (मुर्दे का कफ्फन) से जिसने लँगोटी की थी। मार्ग में उल्टे उस्तरे से उसका सिर मूँडा गया था। जिसकी चोटी में बिल्व फल-समूह प्रकट रूप से बाँधे गए थे। जिसकी कण्ठनाल में सकोरों की श्रेणी आश्रित थी। वह विशाल वन के गहन एकान्त प्रदेश में प्रविष्ट हुआ और थोड़े जलवाली द्वीपिनी नाम की नदी के तट के निकट बैठ गया।

वहाँ उसे कालासुर व्यन्तर ने देखा, उसकी मन की दशा जानते हुए कालासुर ने निश्चल विचार किया—'मैं अपनी विक्रिया ऋद्धि को प्रकट करने की शक्तिवाला हूँ और इस पर्वत की बुद्धि की प्रकृष्ट शक्ति अपने मत को स्थापन करने की इच्छुक है, अतः निश्चय से मेरी कार्य-घटना निर्विघ्न है।

ऐसा विचार कर उसने सन्यासी का वेष प्राप्त (धारण) किया और अपनी बुद्धि को छल-कपट-पूर्ण करते हुए कहा—'पर्वत ! निश्चय से यमराज की क्रीड़ा के निकटवर्ती परिहास (मजाक) करनेवाले किस दुष्ट के द्वारा तुम्हारे साथ यह निष्ठुर अपकार कराया गया ? अर्थात्—तुम्हारे अपकार करनेवाले की मृत्यु निश्चित है।

पर्वत—'पिता ! आप कौन हैं ?'

कालासुर—'पर्वत ! निस्सन्देह मैं आपके पिता का सहपाठी प्रिय मित्र हूँ। मेरा नाम शाण्डिल्य है। जब तुम छह दाँतों वाले शिशु थे तब मैं तीर्थयात्रा के लिए चला गया था और अब वापिस आया हूँ, इसी लिये आप मुझे अच्छी तरह नहीं जानते। अतः अहो पुत्र ! तुम अपनी इस दशा का कारण कहो।'

पर्वत—'मेरे प्राणों की जीवन-रक्षा करनेवाले भगवन् ! सुनिए—समस्त शास्त्र रूपी रत्नों को भली-भाँति धारण करनेवाले और पुण्य रूप मणि को एकत्रित करने वाले मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गारोहण कर चुके तब मैं स्वच्छन्द होने से एक समय मेरे में कामोत्पत्ति अतिशय रूप से प्रज्वलित हुई,

१. श्रीफलं बिल्वं । २. नाम्नी । ३. परामृष्टहृदयचेष्टेन । ४. विक्रियां ऋद्धि प्रकटयितुं शक्तिः । ५. निर्विघ्न । ६. घटना । ७. निश्चलं विचार्य । ८. तपस्वी । ९. यम । १०. 'निष्ठुर' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु निर्वैरो निर्वैरः' इत्याह । ११. यदा तव षट्दन्ताः षोडन्, साधनिका पचन्तवत्, टि० ख०, 'षड्दन्तः' टि० च०, पं० तु 'षोडन् षट्दशनः' । १२. आगतः । १३. अहो ! । १४. जीवितरक्षणे । १५. सन्धारके । १६. कृत । १७. मांस । १८. मद्य । १९. जानन्नपि । २०. पितृ । २१. दुरात्म-दुष्टस्वभावं आख्यानं चरितं यस्य मम सोऽहं ।

स्वव्यसनविवृद्धयेऽधर्मबुद्धया साधुमध्ये अजैर्यष्टव्यमितीदं वाक्यमशेषकल्मषनिषेव्यो[1]ऽन्यथोपन्यस्यमानो[2] नारदे-नापादितवचनस्खलनः सन् एतावद्विपत्तिस्थामवस्थामवापम्'।

कालासुरः—'पर्वत, मा शोच। मुञ्च स्वमशेषं धिषणाकलुषम्। अङ्ग, साधु संबोधयात्मानम्। न खलु निरीहस्य[3] नरस्यास्ति काचिन्मनीषितावाप्तिः। तदलं हन्त[4] हृदयदाहानुगेनावेगेन[5]। हंहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीय-संकेताङ्कं ब्राह्मगोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनां सप्ततन्तूनां[6] प्रतिपादकानि वाक्यानि विरचय्य अन्तरान्तरा[7] वेदवचनेषु निवेशय। वत्स, मयि भूर्भुवःस्वस्त्रयीविपर्यासनसमर्थमन्त्रमाहात्म्ये, त्वयि च तरसासवसविश्री-प्रवृत्तिहेतुश्रुतिगीति[8]समभ्यस्तसाम्ये[9] किं नु[10] नामे*हासाध्यम्' इत्युत्साह्य स्वयं विश्वावष्टम्भसृष्टाभिरष्टा[11]भिर-पीतिभि[12]रुपद्रूयमाणजनपदहृदयमयोध्याविषयमागत्य नगरबाहिरिकायां स वैदवक्तुरानतोऽभूत्। [13]अध्वर्युः पर्वतः समासीत्। मायामयमूर्तयः पिङ्गल-मनु-मतङ्ग-मरीचि-गौतमादयश्च [14]आर्त्विज्योऽध्यनियत। तत्र [15]श्रुतिर्युतिश्च-तुभिर्वदनैरुपविशति।

जिससे मैंने वेश्याजनों के साथ रति विलास किया और मांस-भक्षण किया और मदिरा पी, इस प्रकार मैं पातकों का गृह बन गया। 'अजैर्यष्टव्यं' इस वाक्य का पिताजी ने जो विशिष्ट अर्थ किया था, उसे जानते हुए भी दुष्ट स्वभाववाले चरित्र-युक्त मैंने पापबुद्धि से अपने व्यसनों की वृद्धि के लिए उसे बदलकर समस्त पापों से आश्रयणीय मैंने वाक्यरूप कुरूपों के बीच विपरीत अर्थ को उपस्थापक रूप से निरूपण कर रहा था तब नारद ने मेरे अन्यथा निरूपण को सज्जनों के समक्ष प्रदर्शित कर दिया। अर्थात्—मेरी गल्ती पकड़ ली। इससे मैं इस प्रकार की विपत्ति के आश्रय वाली इस दयनीय दशा को प्राप्त हुआ हूँ।'

कालासुर—पर्वत! शोक मत कर और समस्त बुद्धि की मलिनता को छोड़। हे पुत्र! अपनी आत्मा को सम्बोध। जो मानव शत्रु-लोक के ऊपर निःस्पृह होता है या निरुद्यमी होता है उसे कोई अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती। अतः हृदय के दाह को अनुसरण करनेवाले शोक को छोड़। अहो पुत्र-पर्वत! ब्राह्ममेध, गोमेध, अश्वमेध, सौत्रामणि, वाजपेय, राजसूय व पुण्डरीक-आदि यज्ञों के निरूपण करनेवाले वाक्यों को अपने संकेत के अनुसार (अपने अभिप्राय के सूचक) रचना करके उन्हें वैदिक वाक्यों के बीच बीच में प्रविष्ट कर दो। पुत्र! जब मेरे में पृथिवीलोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक इन तीनों लोकों को विपरीत करने में समर्थ हुए मन्त्रों की सामर्थ्य होते हुए और मांस-मदिरा और माता में प्रवृत्ति करने में कारण वैदिक मन्त्रों के पाठ में अभ्यस्त हितवाले तुम्हारे होते हुए मैं पूँछता हूँ कि तब लोक में ऐसी कौन वस्तु है, जिसे हम प्राप्त नहीं कर सकते?'

इस प्रकार पर्वत को उत्साहित करके वह कालासुर ऐसे अयोध्या नाम के देश में आया, जिस देश

१. आश्रयणीयः। २. उपसर्गादात्मनेपदं 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा' इत्यनेन। ३. 'शत्रुलोकोपरि निःस्पृहस्य' टि० ख०, 'निरुद्यमस्य' टि० च०। ४. हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारंभविषादयोः। ५. शोकेन। ६. यज्ञानां। ७. मध्ये मध्ये। ८. पाठ। ९. हिते। १०. नु पृच्छायां विकल्पे च वितर्के च। *. नाम-प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने। ११-१२. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैताः ईतयः स्मृताः॥ १॥

अष्टमी नाम सा हिम-आतपवर्षादिका।

१३. 'यजुर्वेदज्ञाता' अध्वर्युः अध्वर्युः होतृहोतारो यजुः समाः' टि० ख०, 'यज्वा' टि० प० च०। १४. संजाताः माया तु कालासुरस्यैव। १५. ब्रह्मा।

पर्वतस्तु—यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ १२८ ॥

* ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत[1], इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यः वैश्यं, तमसे शूद्रम्, उत्तमसे तस्करं, आत्मने [2]क्लीबं, कामाय पुंश्चलं, अतिक्रुष्टाय मागधं, [3]गीताय सूतं, आदित्याय स्त्रियं गर्भिणीं, सौत्रामण्यां च एवंविधां सुरां पिबति, न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च[4] तिस्र एव श्रुतौ संमताः—पैष्टी, गौडी,[5] माधवी चेति । गोसवे ब्राह्मणो [6]गोसवेनेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति । उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

[7]षट्शतानि *नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १२९ ॥
[8]महोक्षो वा [9]महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते[10] । निवेद्यते तु विप्राय सवसुगन्धिनिर्विविधैः ॥ १३० ॥

का मध्यभाग अपनी विद्या के बल से रची हुई आठ ईतियों (सर्प व कण्टकादि अथवा टिप्पणीकार* के अभिप्राय से अतिवृष्टि व अनावृष्टि-आदि) द्वारा पीड़ित किया जा रहा था और ब्रह्मा का रूप धारण करके नगर के बाह्य प्रदेश पर बैठ गया । एवं उसी के निकट यजुर्वेद का ज्ञाता पर्वत पुरोहित होकर बैठा था । मायामयी सृष्टिवाले पिङ्गल, मनु, मतङ्ग, मरीचि और गौतम वगैरह होता हो गए, यह सब कालासुर की माया थी । ब्रह्माजी चारों मुखों से उपदेश देते थे और पर्वत आदेश देता था ।

ब्रह्मा ने स्वयं यज्ञ के लिए ही पशुओं की सृष्टि की है । यज्ञ सबकी समृद्धि के लिये है । इसलिए यज्ञ में किया जानेवाला पशु-वध वध नहीं है ॥ १२८ ॥

ब्रह्मा के लिये ब्राह्मण का होम करना चाहिए । इन्द्र को सन्तुष्ट करने के लिये क्षत्रिय का होम करना चाहिये । वायु के लिए वैश्य को होम देना चाहिए । तम के लिए शूद्र को होम देना चाहिए । उत्तमस—राहु की शान्ति के लिए चोर को होम देना चाहिए । आत्मा के लिए नपुंसक का होम करना चाहिए । कामदेव के लिए व्यभिचारी का होम करना चाहिए । अतिक्रुष्ट के लिए मागध का होम करना चाहिए । गीत के लिए पुत्र का होम करना चाहिए । और सूर्य देवता के लिए गर्भिणी स्त्री का होम करना चाहिए । जो मानव सौत्रामणि यज्ञ में वैदिक मन्त्रों द्वारा सुसंस्कृत सुरा पीता है, उसे शराबखोर नहीं समझा जाता । वेद में तीन प्रकार की सुरा मानी गई है । १. पैष्टी—जो वगैरह के आटे से बनी हुई, गौडी—गुड़ से बनाई हुई और माधवी—जो महुए से बनती है । गोसव यज्ञ में ब्राह्मण तत्काल जन्मे हुए गाय के बछड़े से यज्ञ करके वर्ष के अन्त में माता की भी इच्छा करता है । माता के पास जाओ । बहिन के पास जाओ ।

अश्वमेध यज्ञ में मध्याह्न-वेला में तीन कम छह सौ अर्थात्—पाँचसौ सत्तानवे- ५९७ पशु मारे जाते

---

*. 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते । क्षत्राय राजन्यं । मरुद्भ्यो वैश्यं । तपसे शूद्रं । तमसे तस्करं । नारकाय वीरहणम् । पाप्मने क्लीबं । आक्रयाया योगूम् । कामाय पुंश्चलूम् । अतिक्रुष्टाय मागधम् । गीताय सूतं । नृत्ताय शैलूषम् ।'—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ४ । वाजसनेयी संहिता ३०, ५ में तथा शतपथ ब्राह्मण १३, ६, २ में भी पाठ भेद के साथ उक्त उद्धरण मिलता है । १. होमयेत् । २. नपुंसकम् । ३. भाटस्युर्मागधास्तु मगधाः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः । ४. 'गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।'—मनुस्मृति ११-९४ । ५. गुड़विकार । ६. धेन्वा—सद्यःप्रसूतगवा । ७. वाजसनेयी संहिता २४, ४० को उव्वट और महीधर की टीका में यह श्लोक पाया जाता है, उसमें उत्तरार्ध इस प्रकार है—'अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च । *. अधिक्रियन्ते । ८. 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् । सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वच. ॥ १०९ ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, पृ० ३४ । उक्षो वृषभः । ९. छागः । १०. हिंस्यते ।

गोसवे सुरभिं हन्याद्राजसूये तु भूभुजम् । अश्वमेधे हयं हन्यात्पौण्डरीके तु दन्तिनम् ॥ १३१ ॥
*औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नराः । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिम् ॥१३२॥
मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् । अप्रमाणं तु यो ब्रूयात्स भवेद्ब्रह्मघातकः ॥ १३३ ॥
[1]पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १३४ ॥

इत्याद्यादिशति । मनु-मरीचि-मतङ्गप्रभृतयश्च [2]सवषट्काररमजद्विजगजवाजिप्रभृतीन्जुह्वतो जुह्वति । तदेवं [3]श्रुतिशस्त्रवाणिज्यजित्यो*पजीविनामीतीः[5] पर्वतो व्यपोहति । कालासुरः [6]पुनरालभ्यमानान्प्राणिनः साक्षाद्विमाना-रूढान्स्वर्गं [7]सांवर्या पर्यटतो दर्शयति । मनुप्रमुखाश्च मुनयः प्रभावयन्ति[8] । ततो मायाप्रदर्शितत्रिदशदेशप्रवेशाभिलोभे संजाते सकलजनक्षोभे स [9]प्रत्यासन्ननरकनगरः सगरः स च स्वप्रविभ्रमोचितस्थितिर्विश्वभूतिस्त[10]दुपदेशात्तांस्तान्[11] सत्वान् हत्वा [12]प्साल्वा च दुरन्तदुरितोचितचेतसो मर्मामिषात्कालासुरेण स्मारितपूर्वभवापसौ[13] [14]वीतिहोत्राहुति-

---

हैं, ऐसी आज्ञा है ॥ १२९ ॥ श्रोत्रिय (यज्ञ करनेवाले वेदपाठी विद्वान्) के लिए बड़ा बैल अथवा बड़ा बकरा मारा जाता है । पुष्प-माला व सुगन्धि-युक्त उक्त विधि स्वर्ग-सुख के लिए निरूपण की गई है ॥ १३० ॥ गोसव यज्ञ में तत्काल प्रसव करनेवाली गाय का वध करना चाहिए । रायसूय यज्ञ में राजा का वध करना चाहिए । अश्वमेध में घोड़े का वध करना चाहिए और पौण्डरीक यज्ञ में हाथी का वध करना चाहिए ॥ १३१ ॥

औषधियाँ, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च, पक्षी और मनुष्य यज्ञ में मारे जाने से उच्चगति प्राप्त करते हैं ॥ १३२ ॥ मनु का धर्म शास्त्र (मनुस्मृति-आदि) और व्यास व वशिष्ठ का शास्त्र (महाभारत-आदि) एवं वैदिक वचनों को जो अप्रमाण बतलाता है, वह ब्रह्मघाती है ॥ १३३ ॥ पुराण, मानवधर्म, छह अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष) समेत चारों वेद और आयुर्वेद ये चारों स्वयं प्रमाण हैं, इन्हें युक्तियों से खण्डित नहीं करना चाहिए ॥ १३४ ॥

पर्वत इस तरह की आज्ञा देता था और मनु, मरीचि और मतङ्ग-आदि ऋषि स्वाहा शब्द के साथ बकरा, द्विज, हाथी और घोड़ा वगैरह प्राणियों का होम करते थे । इस प्रकार वेद से जीविका करनेवाले ब्राह्मणों में, शस्त्रजीवी क्षत्रियों में, व्यापार से जीविका करनेवाले वैश्यों में, कृषि से जीविका करनेवाले कृषकों में कालासुर ने जो ईतियाँ (सर्प-कण्टक-आदि के दुःख) फैलाई थीं, उन्हें पर्वत दूर करता था और कालासुर मारे गए प्राणियों को अपनी माया के द्वारा विमान में सवार कराकर स्वर्ग को जाते हुए प्रत्यक्ष दिखाता था । मनु-वगैरह ऋषि इससे दूसरों को प्रभावित करते थे । इस प्रकार जब समस्त नागरिक जनों में ऐसा क्षोभ हो गया, जिसमें माया द्वारा दिखलाये गये स्वर्ग-प्रदेश के गमन-आदि का लोभ था । तब समीपवर्ती नरक आवास वाले सगर राजा ने और उस नरक के विलास के योग्य स्थितिबंध करने वाले विश्वभूति ने कालासुर के उपदेश से बहुत से प्राणियों का घात करके भक्षण किया, जिससे उन दोनों के चित्त महाभयानक पाप का संचय करने वाले हुए फिर कालासुर ने उन दोनों को पूर्वजन्म संबंधी सुलसा राजकुमारी के अपहरण का दोष

---

*. 'ओषध्यः'''पक्षिणस्तथा ।'''प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥४०॥'—मनुस्मृति अ० ५ ।

१. मनुस्मृति १२, ११० । २. स्वाहासहितं । ३-५. श्रुतिजीविनां ब्राह्मणानां, शस्त्रजीविनां क्षत्रियाणां या ईतयः कालासुरेण मायया कृताः ताः पर्वतः कालासुरमायया स्फेटयति । *. कृषिः । ६. हिंस्यमानान् । ७. मायया । ८. प्रभावनां कुर्वन्ति । ९. समीपनरकावासः । १०. कालासुरोपदेशात् । ११. प्राणिनः । १२. खादित्वा । १३. सुलसापहारदोषौ । १४. अग्निः ।

विहितविविधवधरहसौ[1] विचित्रायाः[2] धरित्र्या [3]द्राघीयो दुःखदवथुमन्थरं[4] तलमगाताम्[5]। पर्वतोऽ[6]प्यग्नायीपतिविजये [7]जठरधनंजये च [8]हव्य[9]कव्यकर्मभिः समाचरितसमस्तसत्त्वसंहारः कालासुरतिरोधान[10]विधुरविधिः मारस्तद्विरहातङ्कशो[11]कशोचिष्केशकृशचक्रशरीरः[12] कालेन [13]क्षीणजीवितप्रचारः [14]सप्तमरसावसरः समपादि[15]। भवति चात्र श्लोकः—

मृषोद्यादीन[16]वोद्योगात्पर्वतेन समं वसुः। जगाम जगतीमूलं ज्वलदातङ्कपावकम्॥ १३५॥

इत्युपासकाध्ययने असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः।

[17]वधूवित्तस्त्रियौ हित्वा[18] सर्वत्रान्यत्र तज्जने[19]। माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म* गृहाश्रमे॥ १३६॥
[20]धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः[21]। यज्जात्यैव[22] [23]पराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत्॥ १३७॥

स्मरण कराकर यज्ञ के बहाने से उन दोनों को यज्ञ की अग्नि में होम दिया, जिससे वे विचित्रवध-लक्षणवाले हुए। इसके उपरान्त वे दोनों वालुकाप्रभा नामकी तीसरी नरक-भूमि के विस्तृत तल में चले गये, जो कि दुःख-दायक परिताप से मन्दगमन वाला था।

पर्वत ने भी अग्नि को तिरस्कार करने वाली अपनी जठराग्नि में देवताओं और पितरों की तृप्ति के बहाने से समस्त प्राणियों का संहार कर डाला। कालासुर के तिरोधान हो जाने से उसकी यज्ञ-विधि असमर्थ (फीकी) हो गई। उसका शरीर कालासुर के वियोग-दुःख रूपी शोकाग्नि से कृश हो गया। आयु के अन्त में उसका जीवन-प्रचार क्षीण हुआ और मरकर सप्तम नरक-भूमि में गया।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका भाव यह है—

झूँठ बोलने के दोष में प्रवृत्ति करने के कारण पर्वत के साथ वसु भी सप्तम नरक में गया, जहाँपर संतापरूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है॥ १३५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में असत्य का कटुक फल सूचित करनेवाला तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब ब्रह्मचर्याणुव्रत का निरूपण करते हैं—

अपनी विवाहिता स्त्री और रखैली स्त्री के सिवाय दूसरी समस्त स्त्रीजनों में अपनी माता, बहिन व पुत्री की बुद्धि रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत है॥ १३६॥ धर्म-भूमि आर्यखण्ड में मनुष्य स्वभाव से ही अल्पकामी होता है, अतः उसे अपनी जाति की विवाहिता स्त्री से ही संभोग करना चाहिए और दूसरी कुजातियों की तथा

---

१. तत्त्वौ वधलक्षणपदार्थौ। २. वालुकाप्रभायाः। ३. दीर्घतरं। ४. परितापेन मन्दगमनसहितं। ५. गतौ। ६. अग्नितिरस्कारके। ७. निजोदराग्नौ। ८. देवद्रव्यं। ९. पितृद्रव्यं। १०. असमर्थ। ११. शोकाग्निः। १२. तनूभवत। १३. जीर्ण अथवा क्षीणः। १४. सप्तमभूमि। १५. संजातः। १६. 'आदीनवं दोषः' टि० च०, यश० पं०, 'आस्रवदोषः' टि० म०। १७. परिणीता अवरुद्धा च। १८. मुक्त्वा। १९. स्त्रीजने।

*. 'न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि' ॥५९॥—रत्नकरण्ड श्रा०। 'उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्।'—सर्वार्थसिद्धि ७, २०। २०. आर्यखण्डे। २१. अल्पकन्दर्पः तस्य वेगाः दश, तथाहि—

चिन्तादिदृक्षानिश्वासज्वरदाहाश्चिरर्पि। मूर्च्छोन्मत्तत्वसंदिग्धप्राणमृत्यून् भजेद्दिदः॥ १॥

२२. स्वजात्या परिणीतया सह संभोगः कार्यः अथवा सन्तोषः कार्यः। २३. परा चासौ अजातिश्च पराजातिः परकीयजातिस्त्री, बन्धुस्त्रीलिङ्गिनीस्त्री त्यजेत् यस्मात्।

रक्ष्यमाणे हि बृंहन्ति यत्राहिंसादयो गुणाः । उदाहरन्ति तद्ब्रह्म[1] ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥ १३८ ॥
मदनोद्दीपनैवृत्तं[2] र्मदनोद्दीपनैं रसैः । मदनोद्दीपनैः शास्त्रैर्मदमात्मनि नाचरेत् ॥ १३९ ॥
[3]हव्यैरिव हुतप्रीतिः [4][5]पाथोभिरिव नीरधिः । तोषमेति पुमानेष न भोगैर्भवसंभवैः ॥ १४० ॥
*कि[6]म्पाकविषयाः पुंसामापाते[7] [8]मधुरागमाः । अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः ॥ १४१ ॥
बहिस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन्नरः संकल्पजन्मवान् । [9]भावाप्त्यावेव निर्वाति [10]क्लेशस्तत्राधिकः परम् ॥१४२॥
[11]नितान्तं [12]कामकामात्मा [13]तृतीया प्रकृतिर्भवेत् । अनन्तवीर्यपर्यायस्तस्मान्नारतसेवने ॥१४३॥
सर्वा क्रियानुलोमा [14]स्यात्फलाय[15] हितकामिनाम्[16] । [17]अपरमार्थकामान्यां [18]यतो [19]न स्तां तदर्थिषु[20] ॥१४४॥

बन्धुजनों की स्त्रियों से एवं तपस्विनी स्त्रियों से संबंध नहीं करना चाहिए ॥ १३७ ॥ निस्सन्देह जिसकी रक्षा की जाने पर अहिंसा-आदि गुण वृद्धिगत होते हैं उसे अध्यात्म-विद्या में प्रवीण आचार्य ब्रह्म कहते हैं ॥ १३८ ॥ अतः काम की वृद्धि करनेवाले सरागी कार्यों से और कामोद्दीपन करनेवाले रसों के सेवन से एवं काम-वर्धक शास्त्रों (कामसूत्र-आदि ग्रन्थों) के श्रवण-पठन से अपनी आत्मा में काम का मद नहीं लाना चाहिए ॥ १३९ ॥ जैसे देवताओं के लिए समर्पण करने योग्य द्रव्यों (घृत-आदि हवन सामग्री) से अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती एवं जैसे प्रचुरजल से समुद्र तृप्त नहीं होता वैसे ही यह मानव भी सांसारिक भोगों से कभी तृप्त नहीं होता ॥१४०॥ स्त्री-आदि पंचेन्द्रियों के विषय वैसे आरम्भ (तत्काल) में पुरुषों को मधुर (प्रिय) मालूम पड़ते हैं और अन्त में विपत्ति (दुःख) रूप फल देनेवाले होते हैं जैसे वत्सनाग विष आस्वादन-काल में मधुर (स्वादिष्ट—मीठा) होता है और अन्त में विपत्ति (मरण) रूप कुफल देनेवाला होता है, इसलिए सज्जनों का विषयों में आग्रह कैसे हो सकता है ? ॥ १४१ ॥ अनेक प्रकार की बाह्य क्रियाओं को करता हुआ कामी पुरुष रति-रस की प्राप्ति में ही सुखी होता है, परन्तु उसमें उसे केवल क्लेश ही अधिक मिलता है और सुख तो बहुत थोड़ा नाम मात्र होता है ॥ १४२ ॥ जो मानव विशेष रूप से काम सेवन की इच्छा के स्वभाव वाला है वह निरन्तर काम का सेवन करने से असमय में नपुंसक हो जाता है, इसके विपरीत ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वह अनन्त वीर्य के धारण करने के अवसर वाला होता है ।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्य श्री ने नीतिवाक्यामृत के व्यसन-समुद्देश में लिखा है कि 'स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥ १ ॥ सौम्यधातुक्षयेण सर्वधातुक्षयः ॥ २ ॥ अर्थात्—अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन करनेवाला मानव अधिक वीर्य धातु के क्षय हो जाने से असमय में वृद्ध या नपुंसक हो जाता है ॥ १ ॥ क्योंकि स्त्री सेवन से पुरुष की शुक्र (वीर्य) धातु क्षय होती है, इससे शरीर में वर्तमान बाकी की समस्त छह धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद व अस्थि-आदि) नष्ट हो जाती हैं । निष्कर्ष यह है कि नैतिक पुरुष को वीर्य रक्षार्थ ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए अथवा अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन का त्याग करना चाहिए ॥ १४३ ॥

१. 'अहिंसादयो धर्मा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म ।' —सर्वार्थसिद्धि ७-१६ । २. सरागानुष्ठानैः । ३. देवदेयद्रव्यैः । ४. अग्निर्न तोषमेति । ५. जलैः । *. किंपाकफलसम्भोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् । आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥ १० ॥ —ज्ञानार्णव पृ० १३४ । ६. वत्सनागोऽपि आस्वादने सति मधुरः (स्वादिष्टः) स्यात् । ७. आरम्भे । ८. स्वादु प्रियौ तु मधुरौ । ९-१०. रतिरसप्राप्त्यावेव सुखी भवति किन्तु तत्र सुखं स्तोकम् । ११. अतीव । १२. कामवाञ्छास्वभावः । १३. नपुंसकः । १४. हिता । १५. हिताय । १६. हिताभिलाषिणां । १७. परन्तु अर्थकामलक्षणा क्रिया फलाय न स्यादित्यर्थः । १८. यस्मात् कारणात् । १९-२०. तावर्थकामौ न स्तां न भवेतां, तेषु तदर्थिषु अर्थकामवाञ्छकेषु, कोऽर्थस्तेषु तृप्तिर्न भवतीति भावार्थः ।

[1]क्षयामयसमः कामः सर्वदोषोदयस्मृतिः । [2]उत्सूत्रे तत्र मर्त्यानां कुतः श्रेयःसमागमः ॥१४५॥
[3]देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः । जितकामे वृथा सर्वास्तत्कामः [4]सर्वदोषभाक् ॥१४६॥
स्वाध्यायध्यानधर्माख्याः क्रियास्तन्नरे कुतः । [5]इन्धे चित्तेन्धने यावदेव कामाशुशुक्षणिः[6] ॥१४७॥
[7]तदैवंधर्म्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत् । देहदाहोपशामर्थमभिध्यान[8]विहानये ॥१४८॥
[9]परस्त्रीसंगमानङ्गक्रीडान्योपयमक्रियाः[10] । [11]तीव्रता रतिकैतव्ये[12] हन्युरेतानि तद्व्रतम्[13]* ॥१४९॥
मद्यं द्यूतमुपश्लेष्यं[14] तौर्यत्रिकमलंकृतिः । मदो विटा वृथाट्येति[15] दशधानङ्गजो गणः* ॥१५०॥
हिंसनं साहसं[16] द्रोहः [17]पौरोभाग्यार्थदूषणे[18] ।
ईर्ष्या वा[19]ग्दण्डपारु[20]ष्ये कोपजः[21] स्याद्गणोऽष्टधा ॥१५१॥

सुखाभिलाषी मानवों की सुख-प्राप्ति के लिए की जाने वाली समस्त अनुलोम (हित) क्रियाएँ फल-दायक होती हैं, किन्तु अर्थ व काम को छोड़कर। अर्थात्—धन व काम की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्तव्य फलप्रद नहीं होते। क्योंकि धन चाहने वालों को धन प्राप्त नहीं होता और काम चाहनेवालों को काम-सुख प्राप्त नहीं होता। अभिप्राय यह है कि धन चाहने वालों को प्रचुर धन मिल जाने पर भी तृप्ति नहीं होती और कामियों को काम-सुख प्राप्त हो जाने पर भी तृप्ति नहीं होती ॥ १४४ ॥

काम, क्षयरोग-सरीखा है। यह वैसा समस्त दोषों (पापों) का जनक है जैसे क्षयरोग समस्त दोषों (वात, पित्त व कफ की विकृतियों) का जनक होता है, इसलिए उसकी अधिकता में प्रवृत्त हुए मानवों के लिए कल्याण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥१४५॥ काम पर विजयश्री प्राप्त करनेवाले जितेन्द्रिय मानव के, शरीर का संस्कार करना और धन कमाना-आदि सभी व्यापार व्यर्थ हैं; क्योंकि काम ही समस्त दोषों का जनक है ॥ १४६ ॥ जब तक कामी पुरुष के चित्त रूपी ईंधन में यह कामरूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है तब तक उसमें स्वाध्याय, धर्मध्यान व धर्माचरण-आदि क्रियाएँ किस प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं ? ॥ १४७ ॥ अतः काम (रतिविलास) की अधिकता छोड़कर शारीरिक सन्ताप की शान्ति के लिए व आर्तध्यान को नष्ट करने के लिए आहार की तरह भोगों का सेवन करना चाहिए ॥ १४८ ॥ व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ आना जाना, काम-सेवन

1. क्षयरोग। 2. आधिक्ये। 3. देहस्य संस्कारवृत्तिः द्रविणस्योपार्जनवृत्तिः। 4. कन्दर्पो दोषवान्। 5. ज्वलति। 6. कामाग्निः। 7. आधिक्यं। 8. आर्तध्यान। 9. इत्वरिका। 10. परविवाहकरणं। 11. विपुलतृषा। 12. विटत्वं। 13. ब्रह्मचर्यं।
*. 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥ –मोक्षशास्त्र अ० ७। 'अन्य-विवाहकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषाः। इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥६०॥ –रत्नकरण्ड श्रा०। 14. यन्त्रलिङ्गलेपादिप्रयोगः। 15. वृथैव विहरणं। *. 'मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥'—मनुस्मृति अ० ७। 16. परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसम्। 17. 'पौरे भाग्यार्थदूषणे' इति ख०। तत्र टिप्पणी—'नगरसंबंधिनी द्वे, परनिन्दा भाग्यदूषणं।' पञ्जिकाकारस्तु पौरोभाग्य-मसूयकत्वमित्याह। टि० ग, टि० च इत्यत्रापि असूयकत्वमित्युल्लेखः।
18. अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थदूषणम्। 19. जातिवयोवृत्तविद्यादोषाणामनुचितं वचो वाक्पारुष्यम्।
20. वधः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपारुष्यम्।
हमारे द्वारा अनूदित 'नीतिवाक्यामृत' व्यसनसमुद्देश पृ० २४३-२४४ से संकलित—सम्पादक।
21. 'पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥—मनुस्मृति अ० ७।

ऐश्वर्यौदार्यशौण्डी[1]र्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यताः । लभेताद्भुतसंचारश्चतुर्थव्रतपूतधीः ॥१५२॥
अनङ्गानलसंलीढे परस्त्रीरतिचेतसि । सद्यस्का विपदो ह्यत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥१५३॥

श्रूयतामत्राब्रह्मफलस्योपाख्यानम्—काशिदेशेषु सुरसुन्दरीसपत्नपौराङ्गनाजन[2]विनोदारविन्दसरस्यां वाराणस्यां संपादितसमस्तारातिसंतानप्रकर्षकर्षणो दुर्मर्षणो नाम नृपतिः । अस्यातिचिरप्ररूढप्रौढप्रणयसहकारमञ्जरी सुमञ्जरी नामाग्रमहादेवी । [3]पञ्चतन्त्रादिशास्त्रविस्तृतवचन उग्रसेनो नाम सचिवः । पतिहितैकमनोमुद्रा सुभद्रा नामास्य पत्नी । दुर्विलासरसरङ्गः कडारपिङ्गो नामानयोः सूनुः । अनवद्यविद्योपदेशप्रकाशिताशेषशिष्यः पुष्यो नाम पुरोहितः । सौरूप्यातिशयापहसितपद्मा[4] पद्मा नामास्य धर्मपत्नी । समस्ताभिजात[5]जनबाह्यव्यवहारानुरागः स

के अङ्गों से भिन्न अङ्गों में कामक्रीड़ा करना, दूसरों का विवाह करना, काम-भोग की तीव्र लालसा रखना और विटत्व ये कार्य ब्रह्मचर्यव्रत के घातक हैं। अर्थात्—ब्रह्मचर्याणुव्रत के उक्त पाँच अतिचार हैं ॥ १४९ ॥

मद्य-पान, जुआ खेलना, उपद्रव्य (टि० के अभिप्राय से मांस-भक्षण व मधु-सेवन और पञ्जिकाकार के अभिप्राय से जननेन्द्रिय पर लेप-आदि का प्रयोग), गीत-सुनने में आसक्ति, नृत्य देखने में आसक्ति, बाजों के सुनने में आसक्ति, भड़कीली वेष-भूषा, मद, विटत्व (लुच्चापन) एवं व्यर्थ भ्रमण ये दश काम के गण (अनुचर) हैं ॥ १५० ॥ दूसरों की हिंसा करना, साहस (परस्त्री-सेवन व कन्याओं को दूषित करना), मित्रादि के साथ द्रोह करना, पैशुन्य (दूसरों की चुगली करना), अर्थ-दूषण (आमदनी से अधिक धन खर्च करना और अपात्रों के लिए धन देना), ईर्षा, वाक् पारुष्य (कठोर वचन बोलना, अर्थात्—कुलीन को नीच कुल का कहना, वयोवृद्ध को बालक, सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख कहना और निर्दोषी को सदोषी कहना-आदि कठोर वचन) और दण्डपारुष्य (अन्याय से किसी का वध करना, जेल खाने की सजा देना और उसका समस्त धन अपहरण कर लेना या उसकी जीविका नष्ट करना) ये आठ क्रोध के अनुचर हैं ॥१५१॥ ब्रह्मचर्य से पवित्र बुद्धिवाला मानव आश्चर्य-जनक वैभव, उदारता, दानवीरता व विशेष पराक्रम, धीरता, मनोज्ञता, विशिष्ट शक्ति और आश्चर्यजनक संचार (आकाश में गमन करना-आदि) इन प्रशस्त गुणों को प्राप्त करता है ॥ १५२ ॥ जो मानव कामरूपी अग्नि से संस्पृष्ट है और जिसका चित्त परस्त्री के साथ रतिविलास करने में संलग्न है, उसे इस लोक में तत्काल विपत्तियाँ (लिङ्ग-च्छेद-आदि) उठानी पड़ती हैं और परलोक में भी नरक-आदि दुष्ट स्थान वाली भयानक विपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं ॥ १५३ ॥

अब दुराचार के कटु फल की समर्थक कथा सुनिए—

१६. दुराचारी कडारपिङ्ग की कथा

काशी देश की वाराणसी नगरी में, जो कि देव-सुन्दरियों से स्पर्धा करने वाली नागरिक कामिनीजनों की क्रीड़ा रूपी कमलों के लिए सरसी (तड़ाग) है, समस्त शत्रु-समूह की उन्नति को क्षीण करने वाला दुर्मर्षण नामका राजा था। इसकी चिरकाल से उत्पन्न हुए गाढ़ प्रेम रूपी आम्रवृक्ष की मञ्जरी-जैसी सुमञ्जरी नामकी पट्टरानी थी और *दर्शनशास्त्र व व्याकरण-आदि शास्त्रों के अध्ययन से विस्तृत वचन वाला उग्रसेन नामका मन्त्री था। उसकी पति के कल्याण में अनोखे मनो व्यापार वाली सुभद्रा नामकी प्रिया थी। इनके निन्द्य काम क्रीडारूपी रस के अभिनय करने के लिए रङ्गमञ्च-सरीखा कडारपिङ्ग नामका पुत्र था। उक्त

१. त्यागविक्रमाभ्यां शौण्डीरः । २. विनोद एव कमल । ३. तर्कव्याकरणादि । ४. तिरस्कृतलक्ष्मी ।
५. अभिजातस्तु कुलजे बुधे सुकुमारे न्याय्ये च । *.

कडारपिङ्गः स्वापतेयतारुण्यमदमन्दमान[1]बलाच्चापलाद्दुरालापनमल्केन विड्गवर्गेण[2] सह नतभ्रूविभ्रमाग्रचर्व्यमानभुजङ्गातिथिषु[3] पुरवीथिषु संचरमाण[4]स्तामेकदा प्रासादतलोपसदामरा[5]लपक्ष्मेक्षणाक्षिप्तपद्मां[6] पद्मामवलोक्य

[7]'एषेन्द्रियद्रुमसमुल्लसनाम्बुवृष्टिरेषा मनोमृगविनोदविहारभूमिः ।
एषा स्मरद्विरदबन्धनवारिवृत्तिः किं खेचरी किममरी किमियं रतिर्वा ॥१५४॥'

इति च विचिन्त्य मकरकेतुवशाध्यापारनिधिः प्रवृत्तदुरभिसंधिः [8]पुरुषप्रयोगेणाभिमतकार्यघटनासिद्धिमनवबुध्यमानः पराशय*शैलविदारणतडिल्लतामिव[9] तडिल्लतां नाम धात्रीं अपडक्षीणे[10] शरणे[11] सुनयायतनपतनादिभिः[12] पादपतनादिभिः प्रश्रयैः[13] एसदाशयाश्रयैरव[14]न्ध्यसाध्यमुपरुध्य स्वकीया[15]कूतकान्तारप्रघर्षणचरित्रीमकरोत् ।

[16]तदुपरोधात्तथाविधविधिविधात्री[17] धात्री—(स्वगतम् ।) 'परपरिग्रहो[18]ऽन्यतरानुरागग्रहश्चेति दुर्घटप्रतिभासः[19] खलु कार्योपन्यासः[20] । अथवा सुघट एवायं कार्यघटः । यतस्तप्तातप्तवयसोरयसोरिव चेतसोः सांगत्याय खलु

राजा का निर्दोष विद्याओं के उपदेश से समस्त शिष्यों को प्रकाशित करने वाला पुष्य नामका पुरोहित था। इसकी अपने रूप लावण्य की विशेषता से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली पद्मा नाम की प्रिया थी।

एक समय समस्त कुलीन जनों से विपरीत आचार में अनुरक्त हुआ कडारपिङ्ग धन व जवानी के मद से प्रचुर शक्तिशाली चपलता के कारण अश्लील वचन बोलने वाले विट्-समूह के साथ ऐसी नगर की गलियों में घूम रहा था, जहाँपर कामोद्दीपक कामिनीजनों के विलास से आकर्षित होकर कामीजन आतिथ्य ग्रहण करते थे, एक समय वह महल के तल पर बैठी हुई एवं अपने सुन्दर पलकों वाले नेत्रों से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली पद्मा को देखकर सोचने लगा—

इन्द्रियरूपी वृक्ष को विकसित करने के लिए जलवृष्टि-सरीखी, मनरूपी मृग की क्रीड़ा के लिए विहार-भूमि-सी एवं कामरूपी हाथी को बाँधने के लिए बंधनरज्जु-सी यह कौन है? क्या विद्याधरी है? क्या देवी है? अथवा क्या रति है? ॥ १५४ ॥*

इसके पश्चात् काम के अधीन कर्तव्य-निधिवाले उसने दुष्ट अभिप्राय उत्पन्न किया। बलात्कार से अपनी मनोरथ-सिद्धि न जानकर उसने दूसरों के अभिप्रायरूपी पर्वत के विदारण के लिए बिजली-सरीखी तडिल्लता नाम की धाय को उसके पास भेजने का विचार किया। उसने उस धाय को तीसरे मनुष्य-आदि के लिये अगोचर (एकान्त) गृह में ऐसे विनयों द्वारा सफलता पूर्वक रोककर, जो कि नैतिक स्थान की प्राप्ति को नष्ट करनेवाले थे, और जिनमें पैरों पर गिरना-आदि वर्तमान थे एवं जो दुर्जनों द्वारा आश्रय किए जानेवाले थे, उसे अपने अभिप्राय की वृद्धिगत वन-भूमिप्राय कर दी।

उसके आग्रह से उसी प्रकार के कर्तव्य को करनेवाली धाय ने अपने मन में विचार किया—निस्सन्देह परस्त्री व उसके प्रति प्रेमी का प्रेम-बन्धन इस कार्य की वार्ता का प्रारम्भ दुःख से भी करने के लिए

---

१. प्रचुरीभवत् । २. विटसमूहेन । ३. कामिजन । ४. चरः सकर्मकश्चर इत्यधिकारे 'समस्तृतीयायुक्तें' इत्यात्मने पदं । ५. 'वक्रं अरालं कुटिलं जिह्मं' इति टि० ख० । पञ्जिकाकारस्तु 'अरालं चारु' इत्यचीकथत् । ६. श्रियं । ७. पद्मा । *. रूपकपरिपुष्टः सन्देहालंकारः । ८. बलात्कारेण । *. चित्त । ९. विद्युतं । १०. 'अपडक्षीणो यस्तृतीयाद्यगोचरः' टि० ख०, 'चतुर्लोचनं' टि० म० च० तथा यश० पं० । ११. गृहे । १२. सुनयायतनस्य पतनं गमनं त्यजन्ति विनाशयन्ति इत्येवं शीलानि तैः । १३. विनयैः । १४. 'सफलं' टि० ख०, पं० तु क्रियाविशेषणमिदं । १५. अभिप्रायवनभूमिप्रायां । १६. तस्याग्रहात् । १७. कर्त्री । १८. कलत्रं । १९. प्रत्ययः विश्वासः । २० उपन्यासस्तु वाङ्मुखं ।

पण्डितैरीदृशं[1] [2]दूत्यमन्यथा सरसतरसो[3]रम्भसोरिव[4] द्वयोरपि द्रवत्स्वभावयोरेकीकरणे किं नु नाम [5]प्रतिभाविजृम्भितम् । किं च ।

सा दूतिकाभिमतकार्यविधौ बुधानां चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्तिः ।
या चुम्बकोपलकलेव* हि शल्यमन्त*श्चेतोनिकृष्टमपरस्य बहिष्करोति ॥१५५॥

तदलं विलम्बेन । परिपक्वफलमिव न खलु व्यतिक्रान्तकालमव:[6] [7]सरसताधिष्ठानमनुष्ठानम् । किन्त्वस्य साहसावलम्बनधर्मणः कर्मणः सिद्धावसिद्धौ वा दैवात्परेङ्गिताकारसर्वज्ञैः प्राज्ञैः कथमपि बहुजनाधकाशे प्रकाशे कृते[8] सति [9]पुरश्चारी हि शरीरी भवति दुरपवादपरागावसरो व्यसनगोचरश्च[10] । तदमुं[11] [12]ध्येयमिवमवसेयम[12]द्वितीयापत्यप्रसवाय सचिवाय, [13]तथाहि आहरन्ति न चानिवेद्य भर्तुः किंचिदारम्भं कुर्यादन्यत्रा[14]पत्प्रतीकारेभ्यः ।' इति । (प्रकाशम् ।)

'प्राणप्रियैकापत्य अमात्य[15], [16]ईदृश इव ननु भवादृशोऽपि जनो [17]जातजीवितामृतनिषेकाय [18]अचिरतरं यत्नं कर्तुमर्हसि ।'

अशक्य विश्वास वाला है । अर्थात्—बड़ा कठिन है । अथवा यह कार्य-रचना सुलभता-पूर्वक प्रयत्न करने के लिए शक्य है । अर्थात्—सरल है; क्योंकि तपे हुए और बिना तपे हुए लोहों के समान परस्पर विरुद्ध दो चित्तों के अनुकूलीकरण के लिए निस्सन्देह विद्वानों के द्वारा जो प्रकाश के योग्य प्रयत्न किया जाता है वही तो वास्तव में दूतत्व है । अन्यथा द्रवीभूत वेगवाले दो जलों की तरह दो तरल हृदयों को मिलाने में दूती का बुद्धि-विस्तार क्या कहा जायगा ?

विद्वानों ने ऐसी दूती इष्ट कार्य करने में समर्थ मानी है, जिसकी मनोवृत्ति बुद्धि की चतुराई से श्रेष्ठ वचनों के योग्य है । जो चुम्बक पत्थर की तरह दूसरे के मन के भीतर की शल्य को (पक्षान्तर में लोहादि को) खींचकर बाहर फेंक देती है ॥ १५५ ॥

अतः इस कार्य में विलम्ब करने से कोई लाभ नहीं । जैसे समय के बीत जाने पर पका फल भी सरस नहीं रहता वैसे ही समय बीत जाने पर कार्य भी सरस (सिद्ध) नहीं होता, किन्तु यह कार्य साहस के आश्रय से साध्य है । यदि भाग्योदय से सिद्ध हो गया तो दूसरों का मानसिक अभिप्राय और शारीरिक आकृति के जानने में सर्वज्ञ विद्वान् लोग बड़े कष्ट से बहुत लोगों के मन में प्रत्यक्ष रूप से स्थान (सन्मान) प्राप्त कर लेते हैं, जिससे साहस कर्म करने वाला मनुष्य अग्रेसर (श्रेष्ठ) हो जाता है । परन्तु भाग्य-चक्र के पलट जाने से जब कार्य सिद्ध नहीं होता तो दूत ही अपकीर्ति रूपी धूलि पड़ने का अवसर प्राप्त करता है और विपत्ति में फँस जाता है । अतः मैं यह कार्य, इकलौते पुत्र को उत्पन्न करने वाले मन्त्री से कहती हूँ । क्योंकि नीतिकार आचार्यों ने कहा है कि 'असह्य संकट दूर करने के सिवा दूसरा कोई भी कार्य सेवक को स्वामी से निवेदन किये बिना नहीं करना चाहिए । अर्थात्—केवल आपत्ति का प्रतीकार स्वामी को बिना निवेदन किये भी करना चाहिए ।

ऐसा मन में सोचकर धाय मन्त्री से स्पष्ट बोली—'प्राणों से प्यारे इकलौते पुत्र वाले हे मन्त्री ! निश्चय

१-२. प्रकाश्यं यत्क्रियते तदेव दूतत्वम् । ३. द्रवीभूतवेगयोः । ४. जलयोरिव । ५. मति । *. पक्षे लोहादिकं । *. चित्तमध्ये । ६. कार्य । ७. यथा पक्वं फलं अतीतकाले सरसं न भवति । ८. कार्ये । ९. दूतः । १०. दूतो भवति । ११. कथयामि । १२. कार्यं । १३. आचार्याः कथयन्ति । १४. किन्तु आपत्प्रतीकारः स्वामिनः अनिवेद्यापि करणीयः, अन्यत्कार्यं कथनीयमित्यर्थः । १५. हे मन्त्रिन् ! । १६. एवं त्वमपि ईदृशो बभूवेति भावः । १७. पुनर्जीवितमेवामृतं तत्सेचनाय । १८. शीघ्रं ।

अमात्यः—'समस्तमनोरथसमर्थनकथास्मार्ये आर्ये, तज्जीवितामृतनिषेकाय मज्जीवितोचितविवेकाय च त्वमत्रैव[1] प्रभवसि[2]।'

धात्री—'[3]अथ किम्। तथाप्यबलाजनमनोतिरिक्तप्रतिभावता[4] तत्रभवतापि प्रतियतितव्यम्।' इत्यभिधाय भूतकात्यायिनीप्रतिकर्मा करतलामलकमिवाकलितसकलस्त्रैणधर्मा तैस्तैः परचित्ताकर्षणमन्त्रैर्वचनै[6]श्चक्षुश्चेतोह्लादवास्तुभि[7]र्वस्तुभिश्च अतिचिरायाचरितोपचारा परिप्राप्तप्रणयप्रसरावतारा च एकदा मुदा रहसीमं प्रस्तुतकार्यघटनासमसीमं तां पुष्पकान्तामुद्दिश्य श्लोकमुदाहार्षीत्।

स्त्रीषु धन्यात्र गङ्गैव परभोगोपगापि या। मणिमालेव सोल्लासं ध्रियते मूर्ध्नि शंभुना ॥१५६॥'

भट्टिनी—(स्वगतम्।) '[8]इत्वरीजनाचरणहर्म्यनिर्माणाय प्रथमसूत्रपात इवायं वाक्योपोद्घातः[9]। तथापि ज्ञेयं तावदेतदाकूतपरिपाकम्[10]। (प्रकाशम्।) आर्ये, किमस्य सुभाषितस्य [11]ऐदंपर्यम्।

धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, जानासि एवास्य सुभाषितस्य ऐदंपर्यम्[12], यदि न वज्रघटितहृदयासि।

से आप भी पहिले ऐसे ही थे, इसलिए आपको पुत्र के जीवनरूपी अमृत के सिञ्चन के लिए शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए।'

मन्त्री—'देवी! आप समस्त मनोरथों को सफल करने की कथा में स्मरण के योग्य हैं, अतः उसके जीवनरूपी अमृत के सिंचन के लिए और मेरी जीवन-रक्षा के योग्य ज्ञान के लिए आप ही समर्थ हैं।'

धाय—'यह तो ठीक है, परन्तु आप स्त्रीजनों के मानसिक ज्ञान की अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली हैं अतः आपको भी प्रस्तुत कार्य में प्रयत्न करना चाहिए।'

इतना कहकर धाय ने अर्ध वृद्धा स्त्री का वेष धारण किया और उसने समस्त स्त्रीजनों के उचित कर्तव्य हस्त पर रक्खे हुए आँवले की तरह स्पष्ट निश्चय किए। उसने दूसरों के चित्त को आकर्षण करने के लिए मन्त्र-सरीखे वचनों द्वारा और नेत्र-सुख व मानसिक सुख को स्थानीभूत वस्तुओं की भेंटों द्वारा पद्मा की चिरकाल तक सेवा की। जिससे उसने अपने ऊपर पद्मा की विस्तृत प्रेम की उत्पत्ति प्राप्त की।

एक समय उसने एकान्त में पद्मा को लक्ष्य करके हर्षपूर्वक ऐसा श्लोक पढ़ा, जो कि प्रसङ्ग में प्राप्त हुई कार्य-रचना की अनुकूल मर्यादा से युक्त था।

'इस लोक की स्त्रियों में गङ्गा ही धन्य है, जो दूसरों के समीप भोग-दान के लिए जाती है, फिर भी वह शङ्करजी द्वारा मणियों की माला की तरह उल्लास-सहित मस्तक पर धारण की जाती है ॥ १५६ ॥

इसे सुनकर पद्मा ने अपने मन में विचार किया—'यह वाक्य के अवतारणों का क्रम कुलटा स्त्रीजन-के आचरणरूपी महल के निर्माण करने के लिए प्रथम सूत्रपात-सरीखा है। फिर भी इसने जो कुछ कहा है, उसके अभिप्राय का सार जान लेना चाहिए।'

पश्चात् पद्मा ने स्पष्ट कहा—'माता! आपके इस सुभाषित का क्या रहस्य है?'

---

१. त्वमेव। २. समर्था। ३. एवमेतत्। ४. अधिकबुद्ध्या। ५. अर्धजरती। ६. वचनैः। ७. वास्तु गृहम्। ८. कुलटा। ९. 'संग्रहवाक्यं अवतारणक्रमः, उपन्यासस्तु वाङ्मुखं, उपोद्घातः उदाहारः' टि० ख०, 'अवतारणक्रमः' इति टि० च० तथा यश० पं० अपि। १०. अभिप्रायोऽयं सूत्रपातसदृशम्। ११. रहस्यं। १२. रहस्यं।

भट्टिनी—(स्वगतम् ।) सत्यं वज्रघटितहृदयाहम्, यदि भवत्प्रयुक्तोपघातघनजर्जरितकाया न भविष्यामि। (प्रकाशम् ।) आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टमर्थं श्रोतुमिच्छामि।

धात्री—वत्से, कथयामि। किं तु।

चित्तं द्वयोः पुरत एव निवेदनीयं, ज्ञानाभिमानधनधन्यधिया नरेण।
यः प्रार्थितं न[1] रहयत्यभियुज्यमानो[2], यो वा भवेन्ननु जनो मनसोऽनुकूलः[3] ॥१५७॥'

भट्टिनी—(स्वगतम् ।) अहो[4] नभःप्रकृतिमयीयं पङ्कं[5] रूपलेप्तुमिच्छति। (प्रकाशम् ।) आर्ये, [6]उभयत्रापि समर्थाहं न चैतन्मदुपज्ञं[7] भवदुपक्रमं वा[8]।

धात्री—(स्वगतम् ।) [8]अनुगुणेयं खलु कार्यपरिणतिः, यदि निकटतटलग्नस्य [9]वहित्रपात्रस्येव दुर्वाताली[10] संनिपातो न भवेत्। (प्रकाशम् ।) अत एव भद्रे, वदन्ति पुराणविदः—

'विधुर्गुरोः कलत्रेण गौतमस्यामरेश्वरः। [11]संतनोश्चापि [12]वृषवर्मा समगंस्त[13] पुरा किल ॥१५८॥'

धाय—'परम सौभाग्य शालिनी देवी! यदि तुम्हारा हृदय वज्रघटित नहीं है तो इस सुभाषित का रहस्य (अभिप्राय) तुम जानती ही हो।'

पद्मा—(मन में) 'यदि आपके द्वारा फेंके जाने वाले प्रहार रूपी घनों द्वारा जर्जरित शरीर वाली नहीं होऊँगी तो वास्तव में मैं वज्रघटित हृदय वाली हूँ।' (प्रकाश में) 'माता! मैं आपके मन में स्थित हुआ अभिप्राय सुनने की इच्छा करती हूँ।'

धाय—'पुत्री! कहती हूँ, किन्तु

ज्ञान और स्वाभिमान रूपी धन से धन्य बुद्धिवाले मनुष्य को दो व्यक्तियों के सामने ही अपने मन की बात कहनी चाहिए। १. प्रार्थना किया हुआ जो व्यक्ति प्रार्थना की हुई वस्तु छुड़ाता नहीं है, अर्थात्—प्रार्थना की हुई वस्तु दे देता है। २. निस्सन्देह जो मानव प्रार्थना करने वाले के मन के अनुकूल है॥ १५७॥

पद्मा—(मन में) 'अहो! आश्चर्य है, कि यह आकाश के स्वभाव-सरीखी निर्लिप्त वस्तु को भी कीचड़ से लीपने की इच्छा करती है। अर्थात्—आकाश-सी निर्मल प्रकृतिवाली पतिव्रता मुझको यह धाय कुलटा स्त्रीजनों के दोषरूपी कीचड़ से लीपना चाहती है।' (प्रकाश में) 'पूज्य देवी! मैं आपकी दोनों बातों में (प्रार्थना की हुई वस्तु के देने में और आपके मन की अनुकूलता में) समर्थ हूँ। यह मेरी उपाधि नहीं है और न इसमें आपका उद्यम ही है; क्योंकि मेरी पहले से ही ऐसी प्रवृत्ति है।'

धाय—(मन में) यह कार्य का परिणमन मेरे अभिप्राय के अनुकूल है, परन्तु यदि तट के समीप प्राप्त हुई नौका के लिए प्रतिकूल चलनेवाली प्रचण्ड वायु के झकोरों का वेग से आगमन न हो। अर्थात्—मेरा कार्य इस समय सिद्ध प्राय है, यदि इसमें विघ्न न हो।

(प्रकाश में) 'पुत्री! इसीलिए पुराणकारों ने कहा है कि—निस्सन्देह प्राचीनकाल में चन्द्रमा ने बृहस्पति की पत्नी के साथ रति विलास किया व इन्द्र ने गौतम की प्रिया (अहिल्या) के साथ एवं रुद्र (श्रीशिव) ने शान्तनु राजा की रानी के साथ रतिविलास किया॥ १५८॥'

---

१. न त्याजयति। २. प्रार्थितः, प्रार्थ्यमानः। ३. हितः। ४. आकाशस्वभावं। ५. प्रार्थितदाने मनोऽनुकूलतायाञ्च। ६-७. न हि मदीय उपाधिर्नं च भवदीय उद्यमः किन्तु पूर्वेव ईदृशी गतिरस्ति। ८. अनुकूला इयं। ९. पोतस्य। १०. वात्या। ११. शान्तनुराज्ञः। १२. हरः। १३. एकत्र बभूव।

भट्टिनी—'आर्ये, एवमेव । यतः ।

स्त्रीणां वपुर्बन्धुभिरग्निसाक्षिकं परत्र विक्रीतमिदं न मानसम् ।

स एव तस्याधिपतिर्मतः कृती विश्रम्भगर्भा[1] ननु यत्र निर्वृतिः[2] ॥१५९॥

धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम् । त्वं किलैकदा कस्यचि[3]त्कुसुमकिसारनिविशेषवपुषः पुराङ्गनाजनलोचनोत्पलोत्सवामृतरोचिषः प्रासादपरि[4]सरविहारिणी वीक्षणपथानुसारिणी सती कौमुदीव हृदयचन्द्रकान्तानन्दस्यन्दसंपादिनी अभूः । तत्प्रभृति ननु तस्य मदनसुन्दरस्य यूनः [5]प्रत्यग्रसितवसन्तश्रीसमागमसमयस्य [6]पुष्पंधयस्येव [7]रसालमञ्जर्यामिव भवत्यां महान्ति खलु मन्दमक[8]रन्दास्वादने दोहदानि नितान्तं चिन्ताचक्रपरिक्रान्तं स्वान्तम्, प्रसभं गुणस्मरणपरिणामाधिकरणमन्तःकरणम्, अनवरतं रामणीयकानुकीर्तनसंकेतं चेतः, प्रविकसत्कुसुमविलासोचितसंनिहितेऽप्यन्यस्मिन्ल[9]ताकामिजने महानुद्वेगः, पिशाचकुलितस्येव नाऽन्यथास्थानुबंधः[10] प्रलपितप्रबंधः, संजातोन्मादस्येव विचित्रोपलम्भः क्रियाप्रारम्भः, [11]स्कन्दग्रहगृहीतस्येव प्रतिवासरं कार्श्यावतारः, स्मराराधनप्रणीतप्रणिधानस्येवेन्द्रियेषु [12]सन्नता जडता, प्राणेषु [13]चाद्यश्वोनपथा कथा । अपि च ।

पद्मा—'पूज्य देवी ! आपका कहना ठीक है, क्योंकि

बन्धुजनों द्वारा कामिनियों का केवल शरीर मात्र ही अग्नि की साक्षीपूर्वक दूसरों के लिए बेंचा गया है, न कि मन । इसलिए वही भाग्यशाली या कुशल पुरुष उनके मन का स्वामी माना गया है, जिसके द्वारा उन्हें विश्वास-सहित रति-विलास-आदि का सुख प्राप्त हो ॥ १५९ ॥'

धात्री—पुत्री ! जो तुम एक समय महल के उपरितन प्राङ्गण पर घूम रही थीं, तब निस्सन्देह किसी ऐसे प्रेमी नवयुवक के नेत्रों की दृष्टि के मार्ग को अनुसरण करनेवाली हुई । जिसका शरीर कामदेव-जैसा विशेष मनोज्ञ है और जो नागरिक कामिनी जनों के नेत्ररूपी कुमुदों को विकसित करने के लिए चन्द्र-सरीखा है । उस समय तुम कौमुदी-(चन्द्र-किरण) सरीखी उसके हृदयरूपी चन्द्रकान्तमणि में आनन्द रूपी जल-निर्गम को उत्पन्न करनेवाली हुई । तभी से लेकर निस्सन्देह कामदेव-सरीखे अत्यन्त सुन्दर उस नवयुवक को उस प्रकार आपके मुख की सुगन्धि रूपी मकरन्द (पुष्परस) के आस्वादन करने के महान् मनोरथ हुए जिस प्रकार वसन्तलक्ष्मी के समागम के समय को प्राप्त करनेवाले भौंरे के लिए आम्रमञ्जरी के रसास्वाद करने का तीव्र दोहला (मनोरथ) होता है । उसी दिन से उसका मन सदा आपकी चिन्ता के चक्र से व्याकुलित रहता है । एवं उसका अन्तःकरण अत्यन्त आपके गुणों के स्मरण की परिणति का आधार है । उसका चित्त निरन्तर आपके देह-सौन्दर्य के पुनः पुनः स्मरण करने में संकेत-युक्त है । आपको छोड़कर विकसित पुष्पों-सरीखी विलास के योग्य दूसरी लता-सी कामिनी जनों के समीप आनेपर भी उसके हृदय में महान् घबड़ाहट उत्पन्न हो जाती है । भूताविष्ट की तरह उसका एक स्थान में सन्ततिरूप से प्रवर्तन नहीं है और उसमें प्रलाप-(बकवाद) समूह वर्तमान है । पागलों की तरह उसके कार्य का प्रारम्भ विचित्र विभ्रम वाला है, क्षयरोग से पीड़ित रोगी की तरह उसका शरीर प्रतिदिन क्षीणता प्राप्त कर रहा है । कामदेव की आराधना

१. विश्वाससहिता । २. सुखं । ३. 'किसारुः सस्यसूकं स्यात्, सूकोऽस्त्रीश्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रे पुष्पकेसरसमः कनकवर्णः' इति० टि० ख०, 'पुष्पकेसरसदृशः कनकवर्ण इवेत्यर्थः' टि० च०, यश० पञ्जिकाकारस्तु 'कुसुमकिसारुः कामः' इत्याह । ४. उपरितनप्राङ्गण । ५. संजात । ६. भ्रमरस्येव । ७. रसालश्चूतः । ८. 'अत्र मुखपरिमलं मकरन्दः' टि० ख०, 'अत्र मुखकमलमेव मकरन्दः' टि० च० । ९. वल् । १०. संतत्या प्रवर्तनम् । ११. क्षयरोग । १२. 'चेष्टाभावक्षीणता टि० च० 'अक्षता' टि० ख० । १३. अद्य कल्ये वा प्राणाः यास्यन्ति ।

अनवरत[1]जलार्द्रव्यालोलनस्यन्दमन्दै[2] रतिसरसमृणालीकन्दलैश्चन्दनार्द्रैः[3] ।
अमृतरुचिमरीचिप्रोल्लसितायां निशायां प्रियसखि सुहृदस्ते[4] किंचिदात्मप्रबोधः[5] ॥१६०॥

भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपाय्यते ।

धात्री—([6]कर्णजाहमनुसृत्य ।) [7]एवमेवम् ।

भट्टिनी—को दोषः ।

धात्री—कदा ।

भट्टिनी—यदा तुभ्यं रोचते ।

इतश्चानन्तरायतया [8]तनयानुमताहितमतिपाटवः सचिवोऽपि नृपतिनिवासोचितप्रचारेषु [9]शकुनेषु गुणाख्यावर्णनावसरायातमेतस्य महीपतेः पुरस्तात्श्लोकमिममुपन्यास्थत्[10]—

'राज्यं प्रवर्धते तस्य किञ्जल्पो यस्य वेश्मनि । शत्रवश्च क्षयं यान्ति सिद्धाच्चिन्तामणेरिव ॥१६१॥'

राजा—'अमात्य, क्व तस्य प्रादुर्भूतिः, कीदृशी च तस्याकृतिः ।

में एकाग्रता प्राप्त करने वाले पुरुष की तरह उसकी इन्द्रियों में चेष्टाभाव-क्षीणता है और जड़ता है। आज व कल में उसके प्राण निकल जाँयगे।

'प्यारी सखी! निरन्तर जल से भीगे हुए वस्त्र के पंखों के हिलाने के कारण वेग में मन्द हुए पंखों के द्वारा और अतिस्निग्ध कमल-नाल के चन्दन-सहित कन्दों द्वारा शीतोपचार किये हुए तेरे मित्र को चन्द्र-किरणों से वृद्धिगत (चाँदनी) रात में कुछ चेतना होती है ॥ १६० ॥

पद्मा—'देवी! क्या अब भी मुझ से छिपाती हो?'

धाय—पद्मा के कानों के समीप धीरे से बोली—'ऐसा ही है, अर्थात्—कडारपिङ्ग आपको चाहता है।'

पद्मा—'इसमें क्या बुराई है?'

धाय—'तो कब?'

पद्मा—'जब तुम चाहो।'

[यहाँ धाय प्रयत्नशील थी, वहाँ मन्त्री भी प्रयत्नशील था।]

उधर पुत्र के प्रिय कार्य में बुद्धि की पटुता स्थापित करने वाले उग्रसेन मन्त्री ने भी राजा के समक्ष ऐसा श्लोक बे रोक टोक पढ़ा, जो कि राजमहल के योग्य प्रचारवाले पक्षियों के गुणों के कथन के अवसर पर प्राप्त हुआ था।

'जिस राजा के महल में किञ्जल्प नामक पक्षी रहता है, उसकी राज्य-वृद्धि होती है और सिद्ध किये हुए चिन्तामणि की तरह उससे शत्रु नष्ट होते हैं' ॥ १६१ ॥

राजा—'मन्त्री! यह पक्षी किस स्थान पर उत्पन्न होता है? और उसकी आकृति कैसी होती है?'

---

१. 'जलार्द्रं वस्त्रव्यजनं' इति पञ्जिकाकारः। २. व्यजन। ३. कन्दैश्चन्दनसहितैः। ४. मनाक्। ५. भवति, ईदृशो वर्तते। ६. कर्णसमीपं शनैः कथितवती। ७. कडारपिङ्ग एव त्वां वाञ्छति। ८. पुत्र। ९. पक्षिषु। १०. पठतिस्म।

अमात्यः—देव, भगवतः पार्वतीपतेः [1]श्वशुरस्य मन्दाकिनीस्यन्दनिदानकन्दरनीहारस्य[2] [3]रमणसहचरखेचरी-सुरतपरिमलमत्तम[4]तालिश्रेणीविलिख्यमान[5]मरकतमणिमेखलस्य प्रालेयाचलस्य [6]वृक्षोत्पलखण्डमण्डितशिखण्डस्य रत्नशिखण्डनाम्नः शिखरस्याभ्यासे[7] निःशेषशकुन्तसंभवावहा गुहा समस्ति। यस्यां [8]जटायु-वैनतेय-वैशम्पायन-प्रभृतयः शकुन्तयः प्रादुरासन्। [9]तस्यामेव [10]तस्योत्पत्तिः। तां च गुहामहं पुष्पश्चानेकशो नन्दाभगवतीयात्रानुसारित्वात्साधु जानीवः। प्रतिकृतिश्चास्या[11] [12]नेकवर्णा मनुष्यसवर्णा[13] च।

भूपालः—(संजातकुतूहलः।) अमात्य, कथं तद्दर्शनोत्कण्ठा ममाकुण्ठा[13] स्यात्।

अमात्यः—देव, मयि, पुष्पे वा गते सति।

राजा—अमात्य, भवानतीव प्रवयाः[14]। तत्पुष्पः प्रयातु।

अमात्यः—देव, तर्हि दीयतामस्मै सरत्नालंकारप्रवेकं[15] पारितोषिकम्, [16]अगण्यं पाथेयं च।

राजा—बाढम्।

स्वामिचिन्ताचारचक्षुष्यः[17] पुष्पस्तदाविष्टो[18] गेहमागत्य 'आवेशं न विकल्पयेत्' इति मतानुसारी प्रयाण-सामग्रीं कुर्वाणस्तया सतीव्रतपवित्रितसत्कथया पत्न्या पृष्टः—'भद्र, किमकाण्डे प्रयाणाडम्बरः।

मन्त्री—'देव ! भगवान् शङ्कर के श्वसुर हिमालय पर्वत की, जिसकी गुफाओं का हिम गङ्गा के प्रवाह का कारण है, और जिसकी मरकत मणियों की मेखला (मध्यभाग या करधनी) भर्तारों के साथ गमन करने वाली विद्याधरी कामिनियों के रतिविलास की सुगन्धि में मत्त (लम्पट) हुई भ्रमर-श्रेणी द्वारा विलक्ष्मी (शोभा-हीन) की जा रही है, कर्णिकार वृक्षों के समूह से अलङ्कृत चोटीवाले रत्नशिखण्ड नामकी शिखर के समीप समस्त पक्षियों को उत्पन्न करनेवाली गुफा है, जिसमें जटायु, गरुड़ व वैशम्पायन-आदि पक्षी उत्पन्न हुए थे। उसी में ही किञ्जल्क नाम के पक्षी की उत्पत्ति है। उस गुफा को हम दोनों (मैं और पुष्प) भली-भाँति जानते हैं, क्योंकि हम दोनों ने अनेक बार पार्वती परमेश्वरी के दर्शन के लिए वहाँ की यात्रा का अनुसरण किया था। इसकी आकृति अनेक वर्ण (श्वेत व पीतादि) वाली व मनुष्य-सी है।'

उत्पन्न हुए कौतुक वाला राजा—'मन्त्री ! उसके दर्शन की मेरी तीव्र अभिलाषा किस प्रकार पूर्ण होगी ?'

मन्त्री—'देव ! मेरे और पुष्प के वहाँ जाने पर ही आपकी तीव्र अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।'

राजा—'मंत्री ! आप विशेष वृद्ध हो, अतः पुष्प जाय।'

मन्त्री—'देव ! तो पुष्प के लिए रत्न-जड़ित कङ्कण वाला पारितोषिक दीजिए और मार्ग में हित कारक प्रचुर सामग्री भी।'

राजा—'बहुत अच्छा।'

स्वामी की चिन्ता के अनुकूल प्रवृत्ति करने से मनोज्ञ और राजा द्वारा आज्ञा दिया हुआ पुष्प घर

---

१. हिमाचलस्य। २ हिमं गलित्वा, जलं भूत्वा गङ्गा वहति। ३. भर्तृसहगमन। ४. भ्रमरश्रेणी। ५. विलक्ष्मी-क्रियमाण। ६. कर्णिकारः। ७. समीपे। ८. पक्षिविशेष। ९. गुहायां। १०. किञ्जल्कपक्षिणः। ११. पक्षिणः। १२. समाना। १३. अमन्दा। १४. वृद्धः। १५. कङ्कणं। १६. प्रचुरं। १७. प्रवृत्तिसुभगः। १८. राज्ञा आदिष्टः पुष्पः।

पुष्य:—प्रस्तुतमाचष्टे ।

भट्टिनी—भट्ट, सर्वमेतत्सचिवस्य कूटकपटचेष्टितम् ।

भट्ट:—'भट्टिनी, किं नु खल्वेतच्चेष्टितस्यायतनम्[1]' ।

भट्टिनी—[2]प्रक्रान्तमभाषिष्ट ।

भट्ट:—किमत्र कार्यम् ।

भट्टिनी—कार्यमेतदेव । दिवा[3] प्रकाशमेतस्मात्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृतं च प्रत्यावृत्य अत्रैव महावकाशे निजनिवासनिवेशे[4] सुखेन वस्तव्यम् । [5]उत्तरत्राहं जानामि ।

भट्ट:—तथास्तु[6] ।

ततोऽन्यदा तया [7]परनिकृतिपात्र्या धात्र्या स [8]दुराचाराभिषङ्गः कडारपिङ्गः [9]सुप्तजनसमये समानीत: '[10]समन्यसलु तावदिहैवेयमयं च महीमूलं पिपासु: पातालावासदु:खम्' इत्यनुध्याय तया पद्मया [11]महावर्तस्य गर्तस्योपरि कल्पितावस[12] [illegible] [illegible] तौ द्वावपि[13] दुरातकूपकर्ध्ये श्वभ्रमध्ये विनिपेततुः । अनुक-

आया । वह 'आज्ञा में संकल्प-विकल्प नहीं करना चाहिए' इस नैतिक सिद्धान्त को मानने वाला था । अत: वह प्रस्थान की सामग्री का संचय करने लगा ।

उसी समय पातिव्रत्य धर्म से गृह को पवित्र करने वाली उसकी पत्नी पद्मा ने उससे पूँछा—'स्वामी ! आप असमय में यह देशान्तर में गमन करने का प्रपञ्च क्यों कर रहे हैं ?'

पुष्य ने उससे प्रस्तुत बात कह दी ।

पद्मा—'स्वामी ! यह सब मन्त्री के कूटकपट की चेष्टा (व्यवहार) है ।'

पुष्य—'प्रिये ! निस्सन्देह इस कूटकपट-पूर्ण व्यवहार का क्या कारण है ?'

पद्मा ने प्रस्तुत पूर्व वृत्तान्त कह दिया ।

पुष्य—'इस अवसर पर मुझे क्या करना चाहिए ?'

पद्मा—'कर्तव्य इतना ही है, कि आप दिन में समस्त जनों के सामने इस नगर से प्रस्थान कर दो और रात्रि में चुपचाप लौटकर बड़ी जगह वाले अपने निवास स्थान (गृह) में सुखपूर्वक निवास करो । पूर्वोक्त वृत्तान्त के विषय का कर्तव्य मैं जानती हूँ ।'

पुष्य ने वैसा ही किया ।

इसके उपरान्त एक दिन रात्रि की मध्यवेला में दूसरों को धोखा देने की पात्र-भूत वह धाय, दुराचार से संबंध रखने वाले (परस्त्री-लम्पट) कडारपिङ्ग को लाई । उधर पद्मा ने यह सोचकर कि 'ये दोनों इसी जन्म में नरक में गमन करने के इच्छुक होकर नरक-निवास का दुःख भोगें' ऐसा सोचकर उसने खूब गहरे गड्ढे के ऊपर बिना बुनी खाट बिछा दी, जो कि कपड़े की चादर मात्र से सजी हुई थी, उसपर उन दोनों को बैठाया, जिससे वे दोनों (धाय और कडारपिङ्ग) महाव्यथा वाले उस नरक-कुण्ड-सरीखे गड्ढे में

१. कारणं । २. प्रस्तुतं पूर्वं वृत्तान्तं । ३. दिवसे । ४. स्थाने । ५. पूर्वोक्तवृत्तान्ते । ६. तथैव कृतवान् । ७. माया । ८. दुराचारेण सह संबंधो यस्य । ९. सुप्तजन: रात्रिमध्य: । १०. धात्रीकडारपिङ्गौ । ११. विस्तारेण गम्भीरस्य । १२. अणनुणीखट्वायां । *. 'अवानायां प्रच्छदमात्रसमापनायां खट्वायां' इति क०, ख०, ग० च० । विमर्श:— 'अयं पाठ: साधुरिति ममाभिप्राय:'—सम्पादक: । १३. धात्रीकडारपिङ्गौ ।

भूवतुश्च निखिलपरिजनोच्छिष्टसिक्थजीवनौ कुम्भीपाकोपक्रमं[1] षट्[2]समासाखान्दुःखक्रमम्[3] ।

पुनरेकदा 'स्वाम्यादेशविशेषविदुष्यः पुष्यः तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहितं[4] कृतपञ्जरपरिकल्पं किञ्जल्पमादाय आगच्छन्दिनचतुरेषु वासरेष्वस्यां पुरि प्रविशति' *इति प्रसिद्धम्। तत्प्रवर्तिनी भट्टिनी विविधवर्णविडम्बित-कायेन चटकचकोरचाषचातकादिच्छदच्छादित[5]प्रतीकनिकायेन पञ्जरालयेन तद्द्वयेन सह[6] चिरप्रवासोचितवेषजोष्यं[7] पुष्यं पुरोपवने विनिवेश्य भट्टोद्भूतारम्भसंभाषणसनाथसखीजनसंकल्पा धृतप्रोषितभर्तृकाकल्पा[8]ऽभिमुखमयासीत्[9] ।

अपरेद्युः स निखिलगुणविशेष्यः पुष्यः पृथिवीपतिभवनमनुगम्य 'देव, अयं स किञ्जल्पः पक्षी, इयं च तत्प्र-सवित्री[10] पतत्रिणी च' इत्याचरत् ।

राजा—(चिरं निर्वर्ण्य निर्णीय च स्वरेण ।) पुरोहित, नैष खलु किञ्जल्पः पक्षी, किंतु कडारपिङ्गोऽयम् । एषापि विहङ्गी न भवति, किं तु तडिल्लतेयं कुट्टिनी ।

पुष्यः—देव, एतत्परिज्ञाने प्रगल्भमतिप्रसवः सचिवः ।

राजा सचिवस्तथा पृष्टः क्ष्मातलं प्रविविक्षुरिव क्षोणीतलमवालोकत ।

जा गिरे और समस्त कुटुम्बी जनों के जूँठे भात को खाकर जीवित रहने वाले उन दोनों ने छह माह तक नरक के आरम्भ-सरीखा भयानक दुःख भोगा ।

इसके पश्चात् पद्मा ने एक समय राज्य में ऐसी प्रसिद्धि की, कि 'स्वामी की आज्ञा-पालन में विशेष निपुण पुष्य एक पिञ्जरे में बन्द किञ्जल्प पक्षी को और इस प्रकार के पक्षी को जन्म देने में समर्थ पक्षिणी को लेकर आ रहा है और वह तीन चार दिन में इस नगरी में प्रविष्ट हो रहा है।' इसके उपरान्त उसने चिरकालीन प्रवास के योग्य वेष धारण करने वाले अपने पति पुष्य को ऐसे उन दोनों (कडारपिङ्ग व धाय) के साथ पहले ही नगर के बगीचे में ठहराया, जिनका शरीर नाना प्रकार के वर्णों (पंख व रङ्गादि) द्वारा विचित्र किया गया था और जिनके शारीरिक अवयव-(हस्त व पाद-आदि) समूह चिड़िया, चकोर, नीलकण्ठ व चातक-आदि पक्षियों के पंखों द्वारा आच्छादित किये गए थे और जो पिंजरारूपी गृहवाले थे। और वह (पद्मा), जो ऐसे सखीजनों से भूषित थी, जो कि पुष्य के कारण से उत्पन्न हुए आरम्भवाले संभाषण से युक्त था, जिसने प्रवास में गये हुए पतिवाली स्त्री का वेष धारण किया था, पति के सन्मुख गई ।

दूसरे दिन समस्त गुणों में उत्कृष्ट पुष्य राज-भवन में जाकर बोला—'देव ! यह वही किञ्जल्प पक्षी है और यह उसकी माता पक्षिणी है।'

राजा—(बहुत देर तक देखकर व शब्द सुनने से पहचान कर) 'पुरोहित ! यह किञ्जल्प पक्षी नहीं है, यह तो कडारपिङ्ग है। यह भी पक्षिणी नहीं है, किन्तु तडिल्लता नामकी कुट्टिनी है' ।

पुष्य—'किञ्जल्प पक्षी के ज्ञान में प्रौढ़ बुद्धि उत्पन्न करने वाले उग्रसेन मन्त्री हैं।'

राजा ने मन्त्री से उन्हें पहचानने के लिए पूँछा, तो मन्त्री पृथिवी-तल की ओर देखता रह गया, मानों—पृथिवी-तल में प्रवेश करने का इच्छुक ही है।

---

१. उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात् ज्ञात्वारंभ उपक्रमः । २. षण्मासान् । ३. अनुबभूवतुः । ४. धात्रीसहितं । *. 'इति प्रसिद्धिवर्तिनी भट्टिनी' क० । ५. प्रतीकाः अवयवाः । ६. सह पुष्यं निवेश्य । ७. सेवनीयं । ८. वेषा । ९. सन्मुखं गता । १०. माता ।

राजा—पुष्य, समास्ताम् । अयं भवानेतद्व्यतिकरं कथयितुमर्हति ।

पुष्यः—स्वामिन्, [1]कुलपालिकात्र प्रगल्भते[2] ।

नृपतिः भट्टिनीमाहूय 'अम्ब, कोऽयं व्यतिकरः' इत्यपृच्छत् । भट्टिनी गतमुदन्तमाख्यत्—कादम्बपीठवरः शैलूष[3] इव मुदमन्युरसविशेषावेशवशंवदहृदयः सकलान्तःपुरपुरन्ध्रीजनवन्द्यमानपादपद्मां पद्मां तैस्तैः सतीजनप्रह्लादनवचनैः संमानसंनिधानैरलंकारदानैश्चोपचर्य, प्रवेश्य च वेदविद्द्विजोह्यमान[4]कर्णीरथारूढां वेश्म[5], पुनः 'अरे निहीन, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगाः सुभगाः सीमन्तिन्यः, येनैवमाचरः । कथं न दुराचार, एवमाचरन्नत्र विलयं[6] विलीनोऽसि । तदिदानीमेव यदि भवन्तं तृणाङ्कुरमिव तृणेह्मि[7] तदा न बहुकृतमपकृतं स्यात्' इति निर्भरं[8] निर्भर्त्स्य दुर्नयगरलभुजङ्गं कडारपिङ्गं कुट्टिनीमनोरथातिथिसत्रिण[9]मुग्रसेनमन्त्रिणं च निखिलजनसमक्षमा[10]क्रोशपूर्वकं [11]प्रावासयत् । दु[12]ष्प्रसूतानङ्गमातङ्गः कडारपिङ्गस्तया प्रजाप्रत्यक्षमाक्षारितः सुचिरमेतदेनःफलमनुभूय वशमीत्य[13] सन् श्वभ्रप्रभवभाजनं[14] जनमभजत ।

भवति चात्र श्लोकः—

राजा—'पुष्य ! मन्त्री को रहने दो, तुम सब समाचार कहने के योग्य हो ।'

पुष्य—'स्वामी ! मेरी पत्नी ही प्रस्तुत घटना के कथन करने में समर्थ है ।'

राजा ने पद्मा को बुलाकर कहा—'माता ! यह क्या घटना है ?'

पद्मा ने सब बीता हुआ वृत्तान्त कह दिया ।

वृत्तान्त सुनकर राजा नट-सरीखा उत्कट हर्ष की और विशेष क्रोध की दशा का अनुभव कर रहा था । उसने समस्त अन्तःपुर की सौभाग्यवती स्त्रीजनों द्वारा नमस्कार किये गए चरण-कमल वाली पद्मा को पतिव्रता स्त्री जनों के हृदयों में आनन्द उत्पन्न करने वाले वचनों द्वारा और सन्मान के समीपवर्ती वस्त्र व आभूषणों के प्रदान द्वारा सन्मानित करके उसे वेदार्थ जानने वाले ब्राह्मणों द्वारा स्कन्ध से वहन किये जाने वाले रथ में बैठाकर उसके गृह में प्रविष्ट कराया । पश्चात् कुट्टिनी धाय का और कडारपिङ्ग का अत्यन्त तिरस्कार करते हुए बोला—'अरे नीच ! क्या इस नगर में समस्त जनों द्वारा सार्वजनिक रूप से सम्भोगवाली सुन्दर वेश्याएँ नहीं हैं ? जिसके कारण तूने ऐसा अनैतिक आचरण किया । अरे दुराचारी ! ऐसा आचरण करता हुआ तू यहाँ मरण प्राप्त कर क्यों नहीं मरता ? अतः यदि इस समय मैं तुझे तृणाङ्कुर-सरीखा नष्ट करता हूँ, तो यह तेरा विशेष अपकार नहीं होगा ।'

इस प्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण तिरस्कार करके अनीति रूपी जहरीले साँप-सरीखे कडारपिङ्ग को और कुट्टिनी धाय के मनोरथरूपी अतिथि के यजमान उग्रसेन मन्त्री को समस्त लोक के समक्ष विशेष आक्रोश-पूर्वक देश से निर्वासित कर दिया—निकाल दिया । इस प्रकार कडारपिङ्ग, जिसका कामदेवरूप चाण्डाल निन्द्य कार्य में संलग्न है, व्यभिचार के कारण प्रजाजनों के समक्ष तिरस्कृत होकर चिरकाल तक इस पाप का फल भोगता रहा फिर मरकर नरक लोक में गया ।

इस विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

---

१. भट्टिनी । २. समर्था भवति । ३. नटाचार्यवत् । ४. स्कन्धेनोह्यमानो रथः विमानाख्यः । उक्तं च—कर्णीरथः प्रवहणं डयनं च समं त्रयम् । ५. गृहं प्रवेश्य । ६. विनाशं गत्वा किं न विनष्टोऽसि ? । ७. हिनस्मि । ८. अतिशयं । ९. सत्री यजमानः, यजमानं । १०. 'आक्रोशः' टि० ख०, यश० पं० तु आक्षारणा परिभवः । ११. निर्घाटितः । १२. दुष्प्रवृत्तेः अनङ्ग एव मातङ्गो यस्य । १३. मृतः सन् । १४. स्थानं नरकलोकं श्रितः इत्यर्थः ।

मन्मथोन्माथितस्वान्तः परस्त्रीरतिजातधीः । कडारपिङ्गः संकल्पान्निपपात रसातले ॥१६२॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफलस्फारणो नामैकत्रिंशत्तमः कल्पः ।

ममेदमिति संकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु । *परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनिकुञ्चनम्[1] ॥१६३॥

*क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु [2]कुप्यं शयनमासनम् । द्विपदाः पशवो [3]भाण्डं बाह्या दश परिग्रहाः ॥१६४॥

समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा[4] हास्यप्रभृतयो[5]ऽपि षट् । चत्वारश्च कषायाः स्युरन्तर्ग्रन्थाश्चतुर्दश ॥१६५॥

अथवा चेतनाचेतनासङ्गाद्द्विधा बाह्यपरिग्रहः । अन्तः स एक एव स्याद्भवहेत्वाशयाश्रयः[6] ॥१६६॥

[7]धनायाविद्धबुद्धीनामधनाः[8] स्युर्मनोरथाः । न ह्यर्थक्रियारम्भा[9] धीस्तदर्थिषु कामधुक्[10] ॥१६७॥

सहसंभूतिरप्येष देहो यत्र न शाश्वतः । द्रव्यदारकदारेषु तत्र कास्था[11] महात्मनाम् ॥१६८॥

स श्रीमानपि निःश्रीकः स नरश्च नराधमः । यो न धर्माय भोगाय विनियेत[12] धनागमम् ॥१६९॥

काम से पीड़ित चित्तवाला और परस्त्री के साथ रति-विलास करने के लिए उत्पन्न हुई बुद्धिवाला कडारपिङ्ग परस्त्री-गमन के संकल्पमात्र से नरक भूमि में गिरा ॥१६२॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में कुशील के कटुक फल की प्रचुरतावाला यह इकतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का निरूपण करते हैं]

बाह्य (धन व धान्य-आदि) और आभ्यन्तर (मिथ्यात्व-आदि) पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प को परिग्रह कहते हैं, उसके विषय में मनोवृत्ति को संकुचित करनी चाहिए ॥१६३॥ खेत, धान्य, धन, गृह, कुप्य (वस्त्र व कम्बल-आदि), शय्या, आसन, द्विपद (दासी-दास), पशु, और भाजन ये दश बाह्य परिग्रह हैं ॥१६४॥ मिथ्यात्व, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया व लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ॥१६५॥ अथवा—चेतन व अचेतन के भेद से बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है और संसार के कारणों के आश्रयवाला परिणाम अन्तरङ्ग परिग्रह है, जो कि एक ही प्रकार का है। अर्थात्—संसार के कारण मिथ्यात्वादि चैतन्यरूप परिणाम ही हैं आधार जिसके वह अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकार का है ॥१६६॥ धन की तृष्णा से व्याकुलित बुद्धिवालों के मनोरथ निष्फल (धन-हीन) होते हैं; क्योंकि धन चाहनेवालों की निरर्थक वाञ्छावाली बुद्धि वाञ्छित (अभिलषित—मनचाही) वस्तु देनेवाली नहीं होती। अर्थात्—इच्छामात्र से धन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आचार्यों ने धन-प्राप्ति का कारण लाभान्तराय का क्षयोपशम बतलाया है; अतः धन-प्राप्ति के विषय में आर्तध्यान नहीं करना चाहिए ॥१६७॥ जिस संसार में साथ उत्पन्न हुआ यह शरीर भी स्थायी (नित्य रहनेवाला) नहीं है वहाँपर शरीर से भिन्न धन, पुत्र व स्त्रियों में महात्माओं की आस्था (श्रद्धा) कैसे हो सकती है ? ॥१६८॥

जो मानव दान व पुण्य-आदि धर्म की प्राप्ति के लिए और न्याय-प्राप्त भोगों के भोगने के लिए संचित

---

*. 'मूर्च्छा परिग्रहः'—मोक्षशास्त्र अ० ७-१७। १. संकोचः। *. 'वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासी दासं चतुष्पदं भाण्डम्। परिमेयं कर्तव्यं सर्वं सन्तोषकुशलेन ॥ ७३ ॥ —अमि० श्रा० ६। २. 'वस्त्रादि' टि० ख०, 'वस्त्रकम्बलादि' टि० च० एवं यश० पं०। ३. लोहकर्पूरतैलादि। ४. स्त्रीपुंनपुंसकभावाः। ५. हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः। ६. संसाराश्रयपरिणामः। ७. 'धनगर्द्धवाञ्छा' टि० ख०, यश० पं० तु 'धनायानिद्धः गर्द्धः'। ८. निष्फलाः। ९. वाञ्छामात्रा। १०. वाञ्छितप्रदा भवेन्न स्यात्। ११. वाञ्छा। १२. न उपयोगी कुर्यात्।

प्राप्तेऽर्थे ये न माद्यन्ति नाप्राप्ते स्पृहयालवः । लोकद्वयाश्रितां श्रीणां त एव परमेश्वराः ॥१७०॥

*चित्तस्य [1]वित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः[2] । अस्थाने क्लिश्यमानस्य न हि क्लेशात्परं फलम् ॥१७१॥

अन्तर्बहिर्गते सङ्गे निःसङ्गं यस्य मानसम् । सोऽगण्यपुण्यसंपन्नः सर्वत्र सुखमश्नुते ॥१७२॥

बाह्यसङ्गरते पुंसि कुतश्चित्तविशुद्धता । सतुषे हि बहिर्धान्ये दुर्लभान्तर्विशुद्धता ॥१७३॥

सत्पात्रविनियोगेन[3] योऽर्थसंग्रहतत्परः । लुब्धेषु स परं लुब्धः सहामुत्र धनं नयन्[4] ॥१७४॥

कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रहः । पञ्चमाणुव्रतज्यानिं[5] करोति गृहमेधिनाम् ॥१७५॥

यस्य [6]द्वन्द्वद्वयेऽप्यस्मिन्निःस्पृहं देहिनो मनः । स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां क्षणात्पक्षे स दक्षते[7] ॥१७६॥

अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायामवश्यं जायते नृणाम् । अघसंघचितं चेतः संसारावर्तगर्तगम् ॥१७७॥

श्रूयतामत्र परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—

धन का उपयोग नहीं करता, वह धनाढ्य होकर के भी दरिद्र है और मनुष्य होकर के भी मनुष्यों में नीच है ॥ १६९ ॥ प्राप्त हुए धन में अभिमान न करने वाले व अप्राप्त धन की वाञ्छा न करने वाले मानव ही दोनों लोकों में प्राप्त होने वाली लक्ष्मियों के उत्कृष्ट स्वामी होते हैं ॥ १७० ॥ जब मानव का चित्त धन-प्राप्ति के लिए चिन्तित होता है तब उसे पापबन्ध के सिवाय दूसरा फल प्राप्त नहीं होता; क्योंकि निस्सन्देह अयोग्य स्थान में क्लेशित होने वाले व्यक्ति को कष्ट के सिवा दूसरा फल प्राप्त नहीं होता ॥ १७१ ॥ जिसका विशुद्ध मन बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह में अनासक्त या मूर्च्छा-रहित है, वह अगण्य (अनगिनती) पुण्य-राशि से युक्त हुआ सर्वत्र (इस लोक व परलोक में) सुख प्राप्त करता है ॥ १७२ ॥ जिस प्रकार निस्सन्देह छिलका-सहित बाहिरी धान्य में भीतरी निर्मलता दुर्लभ होती है उसी प्रकार बाह्य परिग्रह में आसक्त हुए मानव में चित्त की विशुद्धि किस प्रकार हो सकती है ? ॥ १७३ ॥ जो सत्पात्रों के लिए दान देकर धन के संचय करने में तत्पर है, वह उस धन को अपने साथ परलोक में ले जाता है अतः वह लोभियों में महा लोभी है ।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्यश्री ने अपने 'नीतिवाक्यामृत' के धर्म समुद्देश में भी लिखा है—'स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम्' ॥ १८ ॥ अर्थात्—जो मनुष्य सज्जनों के लिए दान देकर अपने साथ परलोक में धन ले जाता है, वही निश्चय से सच्चा लोभी है, अभिप्राय यह है, कि धन का लोभी लोभी नहीं है, किन्तु जो उदार है, उसे सच्चा लोभी कहा गया है; क्योंकि पात्रदान के प्रभाव से उसकी सम्पत्ति अक्षय होकर उसे जन्मान्तर में मिल जाती है ॥१७४॥

लोभ में आकर परिमाण किये हुए धन से अधिक धन का संचय करने वाला मानव श्रावकों के परिग्रह परिमाण नाम के अणुव्रत की हानि करता है ॥ १७५ ॥ जिस मानव का चित्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहों में निस्पृह (लालसा-शून्य) है, वह क्षणभर में स्वर्गश्री व मुक्तिश्री के पक्ष (स्वीकार करने) में दक्ष (चतुर) होता है ॥ १७६ ॥ धन की अत्यधिक तृष्णा होने पर मनुष्यों का मन अवश्य ही पाप-समूह का संचय करता हुआ उन्हें संसाररूपी भँवर के गड्ढे में गिरा देता है ॥ १७७ ॥

अब परिग्रह की तृष्णा वाली कथा श्रवण कीजिए—

*. चित्तार्थचित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः । अतीवोद्योगिनोऽस्थाने न हि क्लेशात् परं फलम् ॥ ६३ ॥ —धर्मरत्ना० पृ० ९६ । १. धन । २. पापात् भिन्नं फलं न, किन्तु पापमेव भवति । ३. दानयोगेन । ४. 'स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥ १८ ॥—नीतिवाक्यामृत, धर्म, सूत्र १८ पृ० २६. । ५. हानिं । ६. परिग्रहद्वये । ७. दक्षः स्यात् ।

पञ्चालदेशेषु त्रिदशनिवेशानुकूलोपशल्ये[1] काम्पिल्ये निजमतिमाहात्म्योपहसितामराचार्यप्रतिभो[2] रत्नप्रभो नाम नृपतिः। आत्मीयकपोलकान्तिविजितामृतमरीचिमण्डला मणिकुण्डला नामास्य महादेवी। कुलक्रमागतात्मोपार्जिताऽमितवित्तः सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी। गृहस्य श्रीरिव धनश्रीर्नामास्य भार्या। सूनुरनयोर्न्याय्यार्थोपार्जनैकचित्तः सुदत्तो नाम। स महालोभविभावसुज्वलच्चित्तभित्तिः सागरदत्तः पुरुषपरम्परायातायाः काञ्चनकोटेरेकस्याः ★, स्वयमुपार्जितार्धकोटेः पतिर्भवन्नपि शालीयाविभक्तभोजने[3] द्वितयतुषापनीति[4]र्धावना[5]ऽऽचामकृतिश्च, शाकपाकविधाने संभाराविक्षतिः[6] [7]प्रसभान्नबहुतिश्च, [8]घार्तपूर[9]रिमार्वेष्टिमाविभक्ष्योपक्षेपे महती स्नेहापहृतिरिन्धनविरतिश्च, दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे, न विक्रयाय घृतं न च तक्रं [10]कडङ्करायेति च मन्यमानः स्वयमेव प्रतिदिवसवृद्धि[11]ग्रहणाय [12]स्वजलोकपाटके विहरमाणः [13]प्रतिपितृप्रिय[14]यन्त्रमुपसृत्य 'आः[15], सुरभिः खल्वेष खलः संजातः' इति सस्मेरं व्याहरन्, गृहीतपिण्याकखण्डः[16] [17]अशनावसानसमये तद्गन्धमाजिघ्रन्, सर्वलोकपरिहृत[18]मनवधिकालोचित[19]मतिसमर्घतां गतमखण्डितमेव[20] च स्थालीविलीयं भवति[21] तत्केवला[22]ञ्जिसौमसहायमाहरति। अत एवास्य[23] महामोहानुबन्धस्य[24] पिण्याकगन्ध इति

१७. लोभी पिण्याकगन्ध की कथा

पञ्चालदेश के स्वर्ग की अनुकूलता के निकटवर्ती काम्पिल्य नगर में अपनी बुद्धि के माहात्म्य से बृहस्पति की प्रतिभा को तिरस्कृत करने वाला 'रत्नप्रभ' नामका राजा था। अपने गालों की मनोज्ञ कान्ति द्वारा चन्द्रमण्डल को जीतने वाली 'मणिकुण्डला' नाम की उसकी पट्टरानी थी। वहाँ पर वंशपरम्परा से प्राप्त हुई व स्वयं कमाई हुई अपरिमित लक्ष्मी का स्वामी 'सागरदत्त' नामका नगरसेठ था। उसकी गृहलक्ष्मी-सी 'धनश्री' नामकी पत्नी थी। इनके न्यायपूर्वक धन कमाने में एकाग्रचित्त वाला 'सुदत्त' नामक पुत्र था।

महालोभरूपी अग्नि में अपनी चित्तरूपी भित्ति को प्रज्वलित करनेवाला सागरदत्त सेठ यद्यपि वंश परम्परा से प्राप्त हुई एक करोड़ सुवर्णमुद्राओं का और स्वयं कमाई हुई अर्धकरोड़ सुवर्णमुद्राओं का स्वामी था, तथापि वह सोचता था, कि धान्य-आदि का भात खाने में उसके छिलके दूर करने होंगे और प्रक्षालन और पसावण करना पड़ता है। यदि शाक पकाया जाय तो तेल व मिर्च-मसाला-आदि में खर्च होता है और उसके साथ अधिक अन्न भी खाया जायगा और घेवर, पुड़ी व जलेबी-आदि भक्षण-योग्य वस्तुओं के आक्षेप में प्रचुर घी नष्ट होता है और ईंधन का व्यय होता है। इसी प्रकार दूध, दही, तक्र (मट्ठा) के उपयोग (भक्षण) करने से न तो बेंचने के लिए घी रहेगा और न धान्य की भूसी के लिए छाँछ ही रहेगी।

अतः जब वह स्वयं प्रतिदिन ब्याज वसूल करने के लिए तेलियों के समूह के मुहल्ले में पर्यटन करता था तो उनके कोल्हू के समीप जाकर जरा हँसकर कहता 'वाह! निस्सन्देह यह खली तो सुगन्धित निकली है' ऐसा कहकर वह तिल की खली का एक टुकड़ा उठा लेता था और भोजन-वेला में उसकी गंध सूँघता हुआ और ऐसी धान काँजी के साथ खाता था, जो कि समस्त लोगों द्वारा छोड़ी हुई, अतिजीर्ण, स्वल्प मूल्य वाली

---

१. समीपे। २. बृहस्पतिबुद्धिः। ★. 'स्वयमुपार्जितस्य च तदर्धस्य च पतिर्भवन्नपि' क०। ३. सति बह्वी हानिर्भवतीति मन्यमानः। ४. प्रक्षालन। ५. पसावण। ६. तैलमरीचादीनां व्ययः स्यात्। ७. 'प्रचुरान्नस्य भुक्तिः' टि० ख०, यश० पं० तु 'गृद्धिभोजनं'। ८. घेवर। ९. पुड़ी। १०. धान्यत्वग्भिमिश्रं। ११. व्याज। १२. तिलंतुद, तैलिकाः। १३. पितृप्रियाः तिलाः। १४. यन्त्रं तिलपीडनयन्त्रं भाण्डं (घाणी)। १५. अत्र आः इति कोपेऽर्थे व्याजग्रहणार्थी। १६. खलः। १७. भोजनवेलायां। १८. अतिजीर्णं। १९. स्वल्पमूल्यं। २०. खंडनरहितं। २१. स्थालीविलीयं अर्हति। २२. काञ्जिकेन सहितं। २३. सागरदत्तस्य। २४. आसक्तेः।

जगति नाम पप्रथे । 'मुखामोदमात्रेण च प्रयोजनम् । तदलं ताम्बूलार्थमर्थव्ययेन' इति विचिन्त्य [1]पिप्पलत्वचः [2]कालवल्लीदलोत्तरास्वादवपुषः कवलयति । [3]'अर्धघ्राणोदरः परिवारः कदाचिदपि देहे हृदये वा न मनागपि विकुरुते' इति मत्वा न कमप्युदरपूरं पूरयति । [4]प्रतिचारकांश्चैवं शिक्षयति—'न तैलार्थं लवणार्थं वित्तं व्ययितव्यम्[5], किं तु [6]कार्षापणं भाण्डं चादाय [7]आपणमुपढौक्य तदुभयं गृहीत्वा पुनरिदं [8]साधु न भवतीति प्रतिसमर्पयंस्तत्र भाण्डे किंचित्तैलस्नायि तेन शारीरो विधिर्विधातव्यः ।' परिजनार्भकान् स्वकीयांश्चैवमुपजपति[9] —'न भवद्भिरङ्गाभ्यङ्गार्थं भवनमुपढौकितव्यम्, किं तु सस्नेहदेहैः [10]प्रातिवेशिकशिशुसंदोहैः सहातिसंबाधं योद्धव्यम् । अतो भवतामनुपायसंनिधिः स्नानविधिः । क्षपायां च [11]प्रतिवेशवेश्मप्रदीपप्रभाप्रज्वलितेन [12]वलीकान्तावलम्बितेन [13]काचमुकुरेण गृहाङ्गणे ★प्रदीपकार्यं [14]निकाय्यमध्ये च सणसरण्ड[15]प्रोतै[16]हिरण्यरेतोदीप्तै[17]रण्डबीजैः करोति । सर्वजनसाधारणमपि [18]नवीनसङ्गा एव [19]युगः सपरिच्छदः परिदधाति । मनाग्मलीमसरागाश्च विक्रीणीते । ततोऽस्य [20]वसनधावनार्थमपि न [21]कपर्दकोपक्षयः

और बिना कूटी काटी व थाली में स्थापित करते ही बिखरने वाली थी, अतएव तीव्र लोभ में आसक्त हुए इसका 'पिण्याकगन्ध' (खल सूँघने वाला) यह नाम लोक में प्रसिद्ध हुआ ।

'मुख को सुगन्धित करने मात्र से ही तो प्रयोजन है; अतः ताम्बूल के लिए धन खर्च करना निरर्थक है' ऐसा सोचकर वह पीपल की छालों को भक्षण करता था, जिनकी रुचि बौर के या बावची के पत्तों के पश्चात् खाने से होती है ।

'आधे पेट खाने वाला कुटुम्ब कभी भी [गृह-स्वामी से] शरीर व मन द्वारा जरा भी विकृत (वैर विरोध करने वाला) नहीं होता' ऐसा मानकर वह किसी कुटुम्बी को भरपेट भोजन नहीं देता था । वह अपने सेवकों के लिए इस प्रकार की शिक्षा देता था कि 'तैल व नमक-आदि साधारण वस्तुओं के लिए धन नष्ट नहीं करना चाहिए, पैसा व बर्तन लेकर बाजार में जाना चाहिए और तैल व नमक लेकर बाद में यह अच्छा नहीं है, यह कहकर वापिस लौटा देना चाहिए जिससे बर्तन में कुछ तैल व नमक लगा रह जाता है, उससे मालिश वगैरह शारीरिक कार्य करना चाहिए ।' वह अपने और कुटुम्ब के बच्चों से यह कहता था कि 'आप लोगों के लिए शरीर में मालिश करने के लिए मेरे गृह पर नहीं आना चाहिए किन्तु तैल की मालिश किये हुए पड़ोसियों के बालक-समूह के साथ आपस की विशेष रगड़पूर्वक कुश्ती लड़नी चाहिए, जिससे आपकी तैल-स्नान-विधि बिना यत्न किए हो जायगी ।

वह रात्रि में पड़ोसी के गृह के दीपकों की कान्ति से प्रकाशित हुए व गृह के उपरितन भाग पर लटके हुए काँच के दर्पण द्वारा अपने घर के आँगन में दीपक का कार्य करता था और पोचोलकड़ी-सन-शलाका-में पिरोये हुए व अग्नि द्वारा प्रदीप्त किये हुए एरण्ड के बीजों से घर के अन्दर प्रकाश करता था । वह सर्वसाधारण के उपयोग में आनेवाला नया (कोरा) वस्त्र-जोड़ा (टि० के अभिप्राय से सेला-जोड़ा)

१. पिप्पलछल्ली । २. 'बावचीपत्र, पत्राणां पश्चाद्भोजनेन सत् रुचिर्यासां ताः पिप्पलत्वचः' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'कालवल्ली बदरी' इत्याह । ३. अर्द्धाहारेण । ४. उत्तरसाधकान् । ५. तैललवणादि सामान्यवस्तु-निमित्तं समीचीनं धनं कथं विनाशयते ? । ६. मानं । ७. हट्टं गत्वा । ८. समीचीनं ।
९. चिन्तयति । १०. पड़ोसी । ११. पड़ोसी-गृह । १२. गृहस्योपरितनभागे । १३. काच-दर्पणेन । ★. प्रदीपकार्यं सागरदत्तः श्रेष्ठी करोति । १४. गृहमध्ये । १५. सींठीदंड—पोचीलाकड़ी । १६. अग्नि । १७. एरण्डबीजैः । १८-१९. कोरावस्त्र-सेलाद्वय । २०. वस्त्रप्रक्षालनार्थं । २१. कौड़ी ।

[1]पर्वाणि च [2]पुराणपल्लवकचवरापनयनकणोत्करेणातपतप्त[3]संघाटस्नेहप्रवेण [4]गुडगोणीक्षालनकषायेण च निवर्तयति[5]। प्रत्यामन्त्रणेन द्रविणव्ययात्[6]परागारभोजनावलोकनेनाश्रितजनमनोविनाशभयाच्चामन्त्रितो न कस्यापि निकेतने [7]प्साति।

एवमतीवतर्षोत्कर्षरसहार्ये सकलकदर्याचार्ये[8] तस्मिञ्जीवत्यपि मृतकल्पमनसि वसति सति एकदा स लक्ष्मीकमलिनीपरिमलनकलभो रत्नप्रभो राजसिन्धुरप्रधावसंदर्शनप्रासादसंपादनाय [9]अवणाश्रयवृत्तस्य ब्रह्मदत्तस्य महीपतेः कालेन स्थण्डिलतालुप्तावकाशे भवनप्रदेशे भूशोधनं विधापयन्नेतदास्थानमण्डपाभोगबन्धबन्धुराः[10] प्रकामोदरदोषकलुषवपुषः संपूर्णविस्तारपुषः[11] प्रथिमगुणविशिष्टकाः[12] सुवर्णेष्टकाः समालोक्य बहिर्निकामं कलङ्कमलिनत्वादितरेष्टकाविशिष्टत्वमाकलयन् 'एताः खलु चैत्यालयनिर्माणाय योग्याः' इति[13] चेतसंकृत्य स्तूपतामानाययामास।

अत्रान्तरे समस्त[14]मितंपचपुरोगमसगर्भः[15] पिण्याकगन्धः सरभसमापततामिष्टकावहतां[16]वैवधिकनिवहानां सायंसमये[17] मार्गविषये पतितामेकामिष्टकामवाप्य चरणक्षालनदेशे[18] न्यधात्। तत्र च[19] प्रतिपलमङ्घ्रिसंघर्षण-

परिवार-सहित पहनता था और जैसे ही वे थोड़े मलिन होते थे, उन्हें बेंच देता था, जिससे कपड़े धोने में उसको कौड़ी भी खर्च नहीं होती थी। वह दीपोत्सव-आदि पर्व, पुराने पत्तों को कूट कर और उनके रेशे निकालने से उत्पन्न हुई चूर्ण-राशि से और सूर्य की गर्मी से तप्त हुए संघाट—गुड़ांश—के तरल तैल द्वारा एवं गुड़ की फट्टी धोने से उत्पन्न हुए मधुर रस द्वारा व्यतीत करता था। बदले में दूसरों का निमन्त्रण करने से धन खर्च होगा एवं दूसरों के गृह का भोजन देखने से मेरे सेवकजनों के मन मुझ से टूट जाँयगे, इस भय से निमन्त्रण आने पर भी वह किसी के घर पर नहीं जीमता था। इस प्रकार अत्यन्त बढ़ी हुई तृष्णा से प्रेम करने वाला और सब कंजूसों का आचार्य वह पिण्याकगन्ध जीवित रहने पर भी मरे हुए-सरीखे मनवाला होकर निवास कर रहा था।

एक समय लक्ष्मीरूपी कमलिनी के मर्दन करने के लिए हाथी के बच्चा-सरीखे रत्नप्रभ राजा ने श्रेष्ठ हाथियों की दौड़ देखने के लिए एक राज-महल के निर्माण के लिए विचार किया और उसके लिए स्वर्गीय ब्रह्मदत्त राजा के महल-प्रदेश में, जिसकी जगह समय पाकर ढेर हो जाने से लुप्तप्राय हो गई थी, भूमि-शोधन कराई तब उसने ऐसी सुवर्ण की ईंटें देखीं, जो कि इसके विस्तृत सभागृह में लगीं हुईं थीं। जो अत्यन्त जमीन के ऊपर दोष से काली हो गई थीं। जो समस्त विस्तार को पुष्ट करने वाली थीं और जो पृथु गुण से विशिष्ट थीं (चौड़ी थीं), परन्तु वे बाहर से अत्यन्त मैल से मलिन थीं, इसलिए उसने दूसरी ईंटों की विशेषता निश्चय करते हुए 'निस्सन्देह ये ईंटें मन्दिर के निर्माण के लिए योग्य हैं' इस प्रकार मन में विचार कर एक स्थान पर उनका ढेर लगवा दिया।

इसी बीच में समस्त लोभियों में अग्रेसर-सरीखा पिण्याकगन्ध वेगपूर्वक आने वाले, ईंटों का भार-वहन करने वाले बेंहगी उठाने वालों (कावड़िक) के समूहों की संध्या की वेला में मार्ग-प्रदेश पर गिरी हुई एक ईंट उठा लाया और उसे पैर-धोने के स्थान पर रख दी। वहाँ पर प्रत्येक दिन पैरों की रगड़ से जब उस

१. दीपोत्सवादीनि करोति। २. कङ्कचक्कलकणगणि ?। ३. सीघड़ा। ४. कोथली। ५. पर्वाणि करोति। ६. अन्यलोकगृहे भोजनं मयेभिर्दृष्टं तदा मद्गृहे एते न स्थास्यन्ति इति भयात्। ७. न भुङ्क्ते। ८. लुब्धे। ९. मृतस्य। १०. ईदृशाः इष्टकाः। ११. विस्तारं पुष्णन्ति याः। १२. पृथु। १३. मनसि कृत्वा। १४. लुब्ध। १५. सदृशः। १६. 'भारवाहानां' टि० च०, 'वार्ताविहो वैवधिकः, विविधः भारः पर्याहारो वा तं वहतीति वैवधिकः' टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'वैवधिकाः परिस्कन्धाः कावडहाश्च एकार्थाः।' इति प्रोक्तं। १७. संध्यायां। १८. पादप्रक्षालनदेशे। १९. प्रतिदिनं।

दोषकालुष्यमोषे [1]धर्मनिमित्तत्वमवेत्य तैस्तैः प्रलोभनवस्तुभिः [2]काचवहानां विहितोपचारस्ताः[3] संगृह्णन् [4]श्रुतस्वस्रीयापायोदन्तः [5]स्फायमानमनोमन्युकृतान्तः[6] पिण्याकगन्धः 'पुत्र, निखिलकलाभ्यासविशदचित्त सुदत्त, भवत्पितृस्वसुः सुतशोकशङ्कूद्धरणाय मयावश्यं तत्र गन्तव्यमपस्नातव्यं[7] च । ततस्त्वयाप्येताः [8]परिस्कन्दलोकप्रलोभनेन साधु संगृहीतव्याः' इत्युपह्वरे[9] अभिधाय सकलजगद्व्यवहारावतारत्रिवेद्यां काकन्द्यां तोकशोकभूयिष्ठायाः स्वसुः कनिष्ठाया दर्शनार्थमगच्छत् । [10]अन्यायव्यवहारपराङ्मुखः सुदत्तः तातोपदेशमनर्थाय[11] [12]समवस्यन्[12] यतो★ राजपरिगृहीतं तृणमपि गृहीतं काञ्चनीभवति संपद्यते च पूर्वोपार्जितस्याप्यर्थस्यापहाराय प्राणसंहाराय चेति जातमतिर्नैकामपीष्टकां समग्रहीत् ।

महालोभलोलतान्धः पिण्याकगन्धस्तस्याः पुरोऽपस्नायाऽऽगतः सुतमप्राक्षीत्—'वत्स, कियतीः खलु त्वमिष्टकाततीः पर्यग्रहीः ।'

स्तेययोगविनिवृत्तः सुदत्तः—'तात, नैकामपि ।'

प्रादुर्भवद्दीर्घदुर्गतिदुरितबन्धः पिण्याकगन्धः समर्थं सदाचारकृतार्थं पुण्यभाजि तुजि परमुत्तरमपश्यन्, 'यदीमौ क्रमौ परिक्रमणक्षमौ मम नाभविष्यतां तदा [13]कथंकारमहं मन्मनोरथवन्ध्यां[14] काकन्द्यामगमिष्यम् । अतः [15]एतौ-

ईंट की समस्त मलिनता नष्ट हुई तब उसने उसे सुवर्ण की ईंट निश्चय की । फिर तो वह उन उन प्रलोभन वस्तुओं के प्रदान द्वारा उन बँहगी उठानेवालों की सेवा करके उनसे ईंटों का संग्रह करने लगा ।

एक दिन पिण्याकगन्ध ने अपने भानेज की मृत्यु का समाचार सुना और इससे उसका मानसिक शोकरूपी यमराज बढ़ा, अतः उसने अपने पुत्र को एकान्त में बुलाकर कहा—

'समस्त कलाओं के अभ्यास से विशुद्ध चित्तवाले पुत्र सुदत्त ! आपकी बुआ का पुत्र-वियोग संबंधी शोकरूपी कीला उखाड़ने के लिए मुझे वहाँ अवश्य जाना चाहिए और मृत-स्नान भी करना चाहिए । अतः तुम्हें इस कावड़िक-(बँहगी उठानेवाले) समूह के लिए प्रलोभन वस्तु के प्रदान द्वारा सोने की ईंटें अच्छी तरह संग्रह करनी चाहिए ।' इस तरह एकान्त में कहकर पिण्याकगन्ध पुत्र के वियोग का प्रचुर शोक करनेवाली सबसे छोटी बहिन के दर्शनार्थ शीघ्र काकन्दी नगरी में गया, जो कि समस्त लोक-व्यवहार की उत्पत्ति में त्रिवेदी (प्रवीण) है ।

वहाँ पर सुदत्त अन्याय से पराङ्मुख-दूरवर्ती-रहता था; अतः उसने अपने पिता का उपदेश संसार का कारण निश्चय करते हुए एक भी ईंट ग्रहण नहीं की; क्योंकि उसे ऐसी नैतिक बुद्धि उत्पन्न हो गई थी—'जो मानव राजा का तृण भी चुरा लेता है, उसे उसके बदले में सुवर्ण देना पड़ता है; क्योंकि राजकीय साधारण वस्तु की चोरी तीक्ष्ण राज-दण्डवाली होने से पूर्व-संचित समस्त धन नष्ट कराने में व प्राणघात कराने में कारण होती है ।'

महालोभ की तृष्णा से अन्धे पिण्याकगन्ध ने मृत-स्नान करके उस नगरी से आकर पुत्र से पूँछा—'पुत्र ! निस्सन्देह तुमने कितनी ईंटों का समूह संग्रह किया ?'

चोरी के संबंध से पराङ्मुख हुए सुदत्त ने उत्तर दिया—'पिताजी ! एक भी नहीं !'

घोर दुर्गति के कारण पाप का बंध करनेवाले पिण्याकगन्ध ने, कुटुम्ब-पालन में समर्थ, सदाचार से

१. विनाशे सति । २. भारवाहानां । ३. इष्टकाः । ४. भागिनेयमरण । ५. वृद्धि जायमान । ६. शोकयमः । ७. मृतस्नानं कर्तव्यं । ८ कावड़िक । ९. एकान्ते । १०. अन्यायपराङ्मुखः । ११. संसारकारण । १२. जानन् । ★. देखिए—'नीतिवाक्यामृत' व्यसन समुद्देश सूत्र २८ पृ० २४४ । (हमारी भाषाटीका)—सम्पादक । १३. केन कारणेन । १४. कारायां । १५. पादौ ।

चाम श्रीविरामायहौ मौहौ' इति विचिन्त्योद्वर्तनं वर्तयन्त्याः स्ववासिन्याः करावाप्तिप्तशरीरेण[1] शिलापुत्रकेण[2] तौ जर्जरितावजीजनत् ।

एतच्च [3]वैदेहिकव्यञ्जनपरिजनात्प्रा[4]चीनबर्हिनिभः क्षितिरमणीकरिणीभः रत्नप्रभः श्रुत्वा [5]वासीप्रपञ्चेन शिल्पिभिर्वि[6]दापितेष्टकातक्षणः[7] सुवर्णत्वं निर्णीय विहितसर्वस्वापहारं सनिकारं[8] नगरजनोच्चार्यमाणदुरयवादप्रबन्धं पिण्याकगन्धं [9][10]निरवासयत् । 'गुणवत्स्वर्गे हि पुण्यवेषोर्यमोऽपि' इति नीतिवाक्यमनुस्मृत्य मूलधनप्रदानेनान्वयागत[11]निवासनिवेदनेन च परद्रव्यादाननिवृत्तं सुदत्तं साधु समाश्वासयत् । स तथा निर्वासितः संजातनरकनिपात[12]निबन्धः कृतप्रकामलोभसंबन्धचिरायोपार्जितदुरन्तदुष्कर्मसञ्चयः पिण्याकगन्धः प्रेत्य[13] पातालमगात् ।

भवति चात्र श्लोकः—

षष्ठ्याः क्षितेस्तृतीये[14]ऽस्मिन्लल्लके दुःखमल्लके । पेते पिण्याकगन्धेन धनाधाविद्धचेतसा ॥१७८॥

इत्युपासकाध्ययने परिग्रहाग्रहफलप्रपञ्चनो नाम द्वात्रिंशः कल्पः ।

सफल जन्मवाले एवं पुण्यवान् पुत्र के कहने पर जब कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं जाना तब 'यदि ये मेरे दोनों पैर चलने में समर्थ न होते, तो मैं मेरे मनोरथ को बन्दीगृह (जेलखाना) काकन्दी नगरी में किस प्रकार से जाता ? इसलिए ये दोनों पैर ही लक्ष्मी रोकनेवाले व पापी हैं' ऐसा सोचकर उसने उबटन पीसनेवाली अपनी पत्नी के हाथ से ग्रहण की हुई पीसने की सिल द्वारा अपने दोनों पैर तोड़ डाले ।

इन्द्र-सरीखे व पृथिवीरूपी स्त्री को प्रमुदित करने के लिए हथिनी को हाथी-जैसे रत्नप्रभ राजा ने वणिक् वेषी गुप्तचर के मुख से उक्त घटना सुनकर टाँकी के अग्रभाग से शिल्पियों द्वारा उन ईंटों को कटवाया तो उसने उन्हें सोने की निश्चय की। तब उसने पिण्याकगन्ध का समस्त धन जब्त कर लिया और उसे नागरिकजनों द्वारा कथन किये गए निन्द्य अपकीर्ति के प्रबन्ध वाला करके बेइज्जतपूर्वक देश से निकाल दिया ।

राजालोग गुणवान् के लिए इन्द्र हैं और दुष्ट के लिए यमराज हैं।' इस नीति-वाक्य का स्मरण करके राजा रत्नप्रभ ने चोरी से पराङ्मुख हुए उसके सुदत्त पुत्र के लिए मूलधन के प्रदान द्वारा और वंश परम्परा से चले आनेवाले आवास की अनुमति द्वारा अच्छी तरह आश्वासन दिया ।

देश से निकाला जाकर पिण्याकगन्ध अत्यन्त लोभ का संबंध करने के कारण नरक-पतन का बंध करके और चिरकाल तक दारुण दुःखदायक पाप-समूह का संचय करके मरकर नरक गया ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

धन के लिए भ्रान्त चित्तवाला पिण्याकगन्ध षष्ठम नरक के तीसरे लल्लक नामके पाथड़े में, जो कि भयानक और दुःख का पात्र है, गिरा ॥ १७८ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में परिग्रह में आसक्ति का फल विस्तृत करनेवाला
यह बत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१. गृहीत । २. 'पीसनशेण' टि० ख० 'पेषणपाषाणेन' इति पं० । ३. 'वणिग्गूढपुरुषात्' टि० ख०, 'वैदेहिकव्यंजनः वणिक्वेषः राजप्रणिधिः' इति यश० पं० । ४. इन्द्रसमानः । ५. टाँकी । ६. कारित । ७. तनूकरणं । ८. धन । ९. निकारो विप्रकारः स्यात् विप्लवविधिनेत्यर्थः । १०. निर्घाटितवान् । ११. आवासानुमतेन । १२. पतन । १३. मृत्वा । १४. षष्ठमनरकस्य तृतीये प्रस्तारे ।

*दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिस्त्रितयाश्रयम् । गुणव्रतत्रयं सद्भिः सागारयतिषु स्मृतम् ॥१७९॥
[1]दिक्षु सर्वास्वधःप्रोर्ध्वं देशेषु निखिलेषु च । एतस्यां दिशि देशेऽस्मिन्नियत्येव[2] गतिर्मम ॥१८०॥
[3]दिग्देशनियमादेवं ततो बाह्येषु वस्तुषु । हिंसालोभोपभोगादिनिवृत्तेश्चित्तयन्त्रणा ॥१८१॥
रक्षन्निदं प्रयत्नेन गुणव्रतत्रयं गृही । आज्ञैश्वर्यं लभेतैव यत्र यत्रोपजायते ॥१८२॥
[4]आशादेशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यतिक्रमात्[5] । देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाश्रयः ॥१८३॥
[6]शिखण्डिकुक्कुटश्येनबिडालव्यालबभ्रवः[7] । विषकण्टकशस्त्राग्निकशापाशकरज्जवः ॥१८४॥
[8]पापाख्यानार्तरौद्रध्यान[9]हिंसाक्रीडावृथाक्रियाः[10] । परोपतापपैशुन्यशोकाक्र[11]न्दनकारिता ॥१८५॥
वधबन्धनसंरोधहेतवोऽन्येऽपि चेदृशाः । भवन्त्यनर्थदण्डाख्याः सांप[12]रायप्रवर्धनात् ॥१८६॥

[अब गुणव्रतों का वर्णन करते हैं]

सज्जन आचार्यों ने दिग्व्रत, देशव्रत व अनर्थदण्डव्रत के भेद से गृहस्थ व्रतियों के तीन गुणव्रत निरूपण किये हैं ॥ १७९ ॥

दिग्व्रत व देशव्रत का लक्षण—

पूर्व व पश्चिम-आदि समस्त दशों दिशाओं में से अमुक दिशा में नियमित गमन करना, अर्थात्—अमुक दिशा में जन्मपर्यन्त इतने योजन या इतने कोश तक ही जाऊँगा, उससे बाहर न जाना दिग्व्रत है और (दिग्विरति के भीतर कुछ समय के लिए) अधः व ऊर्ध्व-आदि समस्त देशों में से अमुक देश में ही मेरा नियमित गमन होगा, इससे बाहर नहीं जाऊँगा, यह देशव्रत है ॥ १८० ॥

इन व्रतों से लाभ—

इस प्रकार दिशा और देश का नियम करने के कारण अवधि से बाहर की भोगोपभोग वस्तुओं में हिंसा, लोभ व उपभोग-आदि का त्याग हो जाने से चित्त काबू में होता है या मनोनिग्रह होता है ॥ १८१ ॥ तीनों गुणव्रतों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ यह व्रती श्रावक जहाँ जहाँ जन्म लेता है वहाँ वहाँ आज्ञा व ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ १८२ ॥ दिशा और देश के किये हुए प्रमाण का उल्लंघन करने से (उससे बाहर चले जाने से) दिग्व्रती व देशव्रती को प्रायश्चित्त लेना पड़ता है ॥ १८३ ॥

अब अनर्थदण्ड व्रत का निरूपण करते हैं—मयूर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सर्प और नेवला-आदि हिंसक जन्तुओं का पालना, विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, चाबुक, जाल व रस्सी-आदि हिंसा के साधनों को दूसरों को देना, पाप का उपदेश देना, आर्त व रौद्रध्यान करना, हिंसा-प्रधान क्रीड़ा करना, निष्प्रयोजन पृथिवी-खोदना-आदि, दूसरों को कष्ट देना, चुगली करना, शोक करना व दूसरों को रुलाना एवं इसी प्रकार के दूसरे कार्य करना, जो कि प्राणियों का वध, बंधन करनेवाले हैं और दूसरे के रोक रखने में कारण हैं, उन्हें अनर्थ दण्ड कहते हैं, क्योंकि

*. 'दिग्देशानर्थदण्डविरति—' । मोक्षशास्त्र ७–२१ । १. 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि । इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥'—रत्नकरण्ड श्रा० । २. इयती—नियमिता । ३. 'अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् । पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥'—रत्न० । ४. दिशा । ५. लंघनात् । ६. 'मयूरबिडालकुक्कुट—इत्यादि ॥ ८१ ॥ अमितगति० ६-८१ । 'विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादि हिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् ।—सर्वार्थसिद्धि ७-२२ । ७. नकुल । ८. पापोपदेश । ९. आक्षेटकादि । १०. वृथाक्रियाः निष्प्रयोजनं भूखननं, जलस्फालनं, अनलसमेन्धनं, पवनकरणमेकेन्द्रियहिंसनं च । ११. क्रन्दितं रुदितं—कष्टं । १२. संसार ।

पोषणं क्रूरसत्त्वानां हिंसोपकरणक्रियाम् । देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुधीः ॥१८७॥
अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यतिः । [1]सुहृत्तां सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते ॥१८८॥
वञ्चनारम्भहिंसानामुपदेशात्प्रवर्तनम् । भाराधिक्याधिकक्लेशौ तृतीयगुणहानये ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्ड-मण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्च-रित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः ।

उनसे संसार की वृद्धि होती है ॥ १८४-१८६ ॥ अपना आचार उत्तम बनाने की बुद्धि-युक्त हुए देशव्रती श्रावक को हिंसक जीवों का पोषण नहीं करना चाहिए एवं हिंसा के उपकरणों को किसी के लिए नहीं देना चाहिए ॥ १८७ ॥

अणुव्रती श्रावक अनर्थ दण्डों का त्याग करने से अवश्य ही समस्त प्राणियों की मित्रता व उनका स्वामित्व प्राप्त करता है ॥ १८८ ॥ खोटा उपदेश देकर दूसरों को धोखा देना, आरम्भ और हिंसा का प्रवर्तन करना, शक्ति से अधिक बोझा लादना और अधिक कष्ट देना ये पाँच कर्म अनर्थदंड व्रत की हानि पहुँचाते हैं, अर्थात्—इनसे अनर्थ दण्डव्रत सदोष हो जाता है, अतः अणुव्रती श्रावक को इन कामों से दूर रहना चाहिए ॥ १८९ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में तीन गुणव्रतों का निरूपण करनेवाला यह तैंतीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार समस्त तार्किक-चक्रवर्तियों में चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य 'श्रीमत्सोमदेवसूरि' द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्यविद्याधर-समूह के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधर महाराज-चरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू महा-काव्य' है, 'सच्चरित्र चिन्तामणि' नामका सप्तम आश्वास पूर्ण हुआ ।

---

१. सुहृत्ता मैत्री ।

अष्टम आश्वासः

आदौ सामायिकं कर्म प्रोषधोपासनक्रिया । [1]सेव्यार्थनियमो दानं शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥ १ ॥
आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम् । नियुक्तं तत्र यत्कर्म त[2]त्सामायिकमूचिरे ॥ २ ॥
[3]आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् । [4]तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम्[5] ॥ ३ ॥
अन्तःशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चनम् । [6]आद्या [7]दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या[8] स्नानाद्यथाविधि ॥ ४ ॥
संभोगाय विशुद्धयर्थं स्नानं धर्माय च स्मृतम् । धर्माय तद्भवेत्स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधिः ॥ ५ ॥
नित्यंस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे । यतेस्तु [9]दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार दार्शनिक-चूड़ामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री, श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व साहित्य विभाग के अध्यक्ष 'न्यायाचार्य' 'साहित्याचार्य' व कवि चक्रवर्ती श्रीमत्मुकुन्दशास्त्री खिस्ते के प्रधान शिष्य, नीतिवाक्यामृत के भाषाटीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक, 'जैन न्यायतीर्थ, प्राचीन न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद विशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागर-निवासी व परवार जैनजातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की 'यशस्तिलक दीपिका' नाम की भाषाटीका में 'सच्चरित्र चिन्तामणि' नामका सप्तम आश्वास पूर्ण हुआ।

[अब शिक्षाव्रतों को कहते हैं—]

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और पात्रदान ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥ १ ॥ सामायिक का स्वरूप-अर्हत्परमेष्ठी की पूजा करने का जो उपदेश है, उसे 'समय' कहते हैं एवं उसमें निर्धारित क्रियाकाण्डों (जिन-स्नपन, पूजा, स्तुति व जप-आदि) को शास्त्रकारों ने उसके इच्छुक श्रावकों का सामायिक व्रत कहा है ॥ २ ॥

मूर्तिपूजा का विधान—जिनेन्द्र भगवान् के न होने पर भी उनकी मूर्ति की पूजा पुण्यबंध के लिए होती है। गरुड़ के न होने पर भी क्या उसकी मुद्रा विष की शक्ति को नष्ट नहीं करती ? ॥ ३ ॥ विवेकी पुरुष को अन्तरङ्ग शुद्धि व बहिरङ्ग शुद्धि करके देवपूजा करनी चाहिए। चित्त से दुष्परिणामों के त्याग करने से अन्तरङ्ग शुद्धि होती है और विधिपूर्वक स्नान करने से बहिरङ्ग शुद्धि होती है ॥ ४ ॥ स्नान-विधि का निरूपण—भोजन के लिए, विशुद्धि के लिए और धर्म के लिए आचार्यों ने स्नान करना कहा है। जिसमें परलोक (स्वर्गादि) के योग्य कर्तव्य (दान, व्रत, पूजा व अभिषेक- आदि) किये जाते हैं, वह स्नान धर्म के लिए कहा गया है ॥ ५ ॥ देव-पूजा को स्वीकार करने के लिए गृहस्थ को सदा स्नान करना चाहिए और मुनि को

१. भोगोपभोगसंख्या । २. 'आगमयमुनिमुक्तं'—इत्यादि ॥ ९७ ॥ रत्नकरण्ड श्रा० । 'रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य । तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥'—पुरुषार्थ० । ३. तीर्थंकरासन्निधानेऽपि प्रतिमा धर्महेतवे । वैनतेयस्य मुद्रापि विषं हन्ति न संशयः ॥२२२॥—प्रबोधसार । ४. गरुड़ः । ५. अपनोदनम् । ६. अन्तः शुद्धिः । 'मध्यशुद्धिं वहिः शुद्धिं विदध्यात्तदुपासने । पूर्वा स्यात् स्वान्तनैर्मल्यात् परा स्नानाद्यथाविधिः ॥२२३॥' —प्रबोध० ७. 'दुष्परिणामपरिहारात्' टि० ख०, घ०, च० । पञ्जिकाकारस्तु 'दौश्चित्यमार्तरौद्रध्याने' इत्याह । ८. वहिः शुद्धिः । ९. दुर्जनश्चाण्डालरजःस्वलादिः ।

वातातपादि*संस्पृष्टे भूरितोये जलाशये[1] । अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥ ७ ॥
पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंश्रयम् । स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः । यद्वा तद्वा भवेत्स्नानम[2]न्त्यमन्यस्य तद्द्वयम्[3] ॥ ९ ॥
*सर्वारम्भविजृम्भस्य[4] ब्रह्मजिह्मस्य[5] देहिनः । अविधाय बहिः शुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥ १० ॥
अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन्मन्त्रमात्रपरायणः । स मन्त्रैः शुद्धिभाग्नूनं भुक्त्वा [6]हृत्वा *विहृत्य च ॥ ११ ॥
[7]मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च । शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता[8] भवेत् ॥ १२ ॥
[9]बहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचाम्य गृहं विशेत् । स्थानान्तरात्समायातं [10]सर्वं [11]प्रोक्षितमाचरेत् ॥ १३ ॥
[12]आप्लुतः [13]संप्लुतस्वान्तः शुचिवासोविभूषितः । [14]मौनसंयमसंपन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥ १४ ॥

दुर्जन (कापालिक, रजस्वला व चाण्डालादि) से छू जाने पर ही स्नान करना चाहिए । यदि मुनि को दुर्जन का स्पर्श नहीं हुआ है, तो उसका स्नान निन्द्य है ॥ ६ ॥ प्रचुर जलराशिवाले व बहती हुई वायु से स्पर्श किये हुए और सूर्य की किरणों से सर्वरूप से स्पर्श किये हुए तालाब-आदि जलाशय में अवगाहन करके स्नान करना उचित है, किन्तु जिस जलाशय व कुआ-आदि का पानी धूप व वायु से स्पर्श किया हुआ नहीं है, उसे छानकर ही स्नान में प्रयोग करना चाहिए ॥ ७ ॥ स्नान पाँच प्रकार का जानना चाहिए। पैरों तक, घुटनों तक, कमर पर्यन्त, गर्दन तक और सिर तक। इनमें से मनुष्यों को उनके दोष के अनुसार स्नान करना चाहिए ॥ ८ ॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकार के आरम्भों (कृषि व व्यापारादि) का त्यागी है, उसे इनमें से कोई भी स्नान कर लेना चाहिए, किन्तु दूसरे गृहस्थों को तो कण्ठ पर्यन्त या मस्तक पर्यन्त स्नान करना चाहिए। अर्थात्—आरम्भ करने पर कण्ठ-स्नान और ब्रह्मचर्य के भङ्ग होने पर मस्तक-पर्यन्त स्नान करना चाहिए ॥९॥ जो समस्त प्रकार के आरम्भों (कृषि व व्यापार-आदि) में प्रवृत्त है और ब्रह्मचर्य के पालन में कुटिल है, उसे कण्ठ पर्यन्त व मस्तक पर्यन्त स्नान द्वारा बाह्यशुद्धि किये बिना देवोपासना का अधिकार नहीं है ॥ १० ॥

स्नान-हीन साधु की शुद्धि—

जल-स्नान से शुद्धि को निराकरण करता हुआ (जल-स्नान न करनेवाला) साधु केवल मन्त्र-मात्र के जप में तत्पर होता है; क्योंकि वह आहार, विहार व मल-मूत्रादि क्षेपण व दहन करके उनसे उत्पन्न हुए दोषों के निवारण करने के लिए निस्सन्देह मन्त्रों द्वारा शुद्ध हो जाता है, उसे जल-स्नान द्वारा बाह्य शुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ११ ॥ अतः प्रासुक व प्रशस्त मिट्टी से अथवा ईंट के चूर्ण से अथवा राख या गोबर से तब तक हस्तादि की शुद्धि करनी चाहिए, जब तक उनमें निर्मलता (शुद्धि) न आजाय ॥ १२ ॥ बाहर से घूम करके गृह पर आए हुए मानव को आचमन (कुल्ला) किये बिना गृह में प्रवेश नहीं करना चाहिए। एवं अन्य स्थान से आई हुई समस्त वस्तुओं को जल-सिञ्चन से पवित्र करके व्यवहार में लानी चाहिए ॥ १३ ॥ गृही श्रावक को

*. 'संस्पृष्टे' इति मु० व क० । १. तडागादौ । २-३. क्रमेण ग्रीवा शिरः, कण्ठ शिरो वा स्नानं गृहस्थस्य, आरंभे सति कण्ठस्नानं, ब्रह्मभङ्गे सति मस्तकस्नानं । *. 'सर्वारम्भप्रवृत्तस्य' इति क० । ४. आरंभे प्रवृत्तस्य । ५. 'वक्रस्य' टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'ब्रह्मचर्य-मन्दस्य' इति प्रोक्तं । ६. दहनं कृत्वा । *. 'विशुद्धय च' इति क० । ७. 'मृत्स्ना अजन्तुका भूमिः' पं०, 'प्रशस्तमृत्तिकया' टि० ध० च० । ८. गन्धलेपहानिः । ९. आचमेद्धौतहस्ताङ्घ्रिः पीते वारिणि सर्वदा । चतुराहारभुक्तौ च कृतायामुदकं पिबेत् ॥ १ ॥ १०. सर्वं वस्तु । ११. अभ्युक्षित्वा । १२. स्नातः । १३. संस्कृतचित्तः अथवा अव्यग्रचित्तः । १४. मौनसंयमसम्पन्नैर्देवोपास्तिर्विधीयताम् । दन्तधावनशुद्धास्यैर्मौलवस्त्रपवित्रितैः ॥२२६॥—प्रबोधसार ।

दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः । असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥ १५ ॥
[1]होमभूत[2]बली पूर्वैरुक्तौ *भक्तविशुद्धये । भुक्त्यादौ सलिलं [3]सर्पिरौषध्यं[4] च [5]रसायनम् ॥१६॥
एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया । दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत्[6] ॥ १७ ॥
द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः । लोकाश्रयो भवेदाद्यः [7]परः स्यादागमाश्रयः ॥ १८ ॥
जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा । श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ १९ ॥
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् । तत्क्रियाविनियोगाय [8]जैनागमविधिः परम् ॥ २० ॥
[9]यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र[9] दुर्लभा । संसारव्यवहारे[10] तु स्वतःसिद्धे वृथागमः ॥ २१ ॥

शुद्ध जल से स्नान किया हुआ, अव्यग्रचित्त-युक्त होकर, पवित्र वस्त्रों से सुशोभित एवं मौन व संयम से युक्त होकर देवपूजा की विधि करनी चाहिए ॥ १४ ॥ विवेकी पुरुष को दातौन से मुख शुद्ध करके अपना मुख, मुख-पर वस्त्र लगाकर आच्छादित करके तथा बिना स्नान किये हुए दूसरे मनुष्यों का स्पर्श न करके जिन-पूजा करनी चाहिए ॥ १५ ॥

पूर्वाचार्यों ने भोजन की शुद्धि के लिए भोजन करने से पहले होम (अग्नि में भोज्यांश का हवन करना) और भूतबलि (पशु-आदि जीवों के लिए प्राङ्गण में कुछ अन्न का प्रक्षेपण करना) का विधान कहा है। अर्थात्—शिष्ट पुरुषों को भोजन के अवसर पर कुछ अन्न अग्नि में होम करना चाहिए और कुछ अन्न आँगन में प्रक्षेपण करना चाहिए, जिससे उनका भोज्य पदार्थ विशुद्ध हो जाता है। एवं भोजन में जल, घी, दूध व तक्र का सेवन रसायन-सरीखा बल व वीर्यवर्धक कहा है ॥ १६ ॥ उक्त विधि (भोजन के शुरु में होम-आदि) करना पुण्य-निमित्त नहीं है और उसका न करना अधर्म-निमित्त भी नहीं है। उक्त विधि-विधान तो केवल उस प्रकार माङ्गलिक (शकुन-निमित्त) है जिस प्रकार विवाह-आदि लौकिक शुभ कार्यों के प्रारम्भ में डाभ का स्थापन, पुष्प व अक्षतों का प्रक्षेपण एवं शास्त्र-स्थापन और वन्दनवार बाँधना-आदि विधि-विधान माङ्ग-लिक (शकुन-निमित्त) होता है ॥ १७ ॥

निश्चय से गृहस्थों का धर्म दो प्रकार का है। एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। इनमें से लौकिक धर्म लोक के आधार वाला है। अर्थात्—लोक की रीति के अनुसार होता है और दूसरा पारलौकिक धर्म आगमाश्रय है। अर्थात्—पूर्वापर के विरोध से रहित प्रामाणिक द्वादशाङ्ग शास्त्रों का आधार लेकर होता है—उनके अनुसार होता है ॥ १८ ॥ ब्राह्मण-आदि वर्णों की समस्त जातियाँ अनादि (बीज-वृक्ष की तरह प्रवाह रूप से चली आनेवालीं) हैं और उनकी क्रियाएँ भी अनादि हैं, उसमें वेद व स्मृति ग्रन्थ प्रमाण हों इसमें हमारी (आर्हतों—जैनों की) कोई हानि नहीं है ॥ १९ ॥

जिसप्रकार रत्नों की, खानि से निकले हुए रत्नों के लिए संस्कार-विधि (शाणोल्लेखन-आदि) महत्त्वपूर्ण होती है उसीप्रकार जाति (मातृ-पक्ष) से विशुद्ध ब्राह्मण-आदि वर्णवाले मानवों की क्रियाओं

१-२. भोजनावसरे किंचिदग्नौ किंचिदाङ्गणेऽन्नं क्षिप्यते। 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्' ॥७०॥ —मनुस्मृति ३ अ०। *. 'भुक्तिविशुद्धये' इति क०। ३. 'सर्पिरुदश्व्यं' इति क०। 'घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते' ॥३४॥ —नीतिवाक्यामृत हमारी भाषा टीका पृ० ३२८, अर्थात्—घृत-पानपूर्वक भोजन करनेवाले मनुष्य की जठराग्नि प्रदीप्त होती है और नेत्रों की रोशनी भी बढ़ जाती है ॥३४॥ ४. दुग्धं। ५. मथितं। ६. शकुनार्थं क्रियते। ७. पारलौकिकः। ८. निश्चयाय। ९. संसारभ्रमणमोचनमति-दुर्लभा। १०. लौकिकव्यवहारे।

तथा च । सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं [1]लौकिको विधिः । यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ २२ ॥

इत्युपासकाध्ययने स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः ।

[2]द्वये देवसेवाधिकृताः [3]संकल्पिताप्तपुष्पपरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च, ★संकल्पोऽपि [4]दलफलोपलादिष्विव न समयान्तरप्रतिमासु विधेयः । यतः—

"[5]शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः । [6]नाकारान्तरसंक्रान्ते यथा [7]परपरिग्रहे ॥२३॥

तत्र[8] प्रथमान्प्रति [9]समयसमाचारविधिमभिधास्यामः । तथा हि !

(गर्भान्वय, दीक्षान्वय व कर्त्रन्वय क्रियाओं) के निश्चय करने के लिए जैनशास्त्रों का विधि-विधान ही उत्कृष्ट है ॥ २० ॥ क्योंकि शास्त्रान्तरों में संसार के भ्रमण से छुड़ानेवाला सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है और लौकिक व्यवहार तो स्वतः सिद्ध है, उसमें आगम की अपेक्षा करना निरर्थक है ॥ २१ ॥ निस्सन्देह जैनधर्मानुयायिओं को वे समस्त लौकिक विधि-विधान (विवाह-आदि) प्रमाण हैं, जिनमें उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता और चारित्र (अहिंसा-आदि) दूषित नहीं होता । अर्थात्—ऊपर कहे हुए होम, भूतबलि व अतिथि-सत्कार-आदि लौकिक विधि विधान में सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता और अहिंसादि व्रत की क्षति नहीं होती. अतः प्रमाण है, परन्तु वेद और स्मृति ग्रन्थों में यज्ञ में किये हुए प्राणिवध को अहिंसा माना है, उसका आचरण अहिंसाव्रत का घातक है और सम्यक्त्व को नष्ट करता है अतः जैनों को प्रमाण नहीं है ॥ २२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में 'स्नान-विधि' नाम का चौंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

देवपूजा की विधि

देवपूजा के अधिकारी मानव दो प्रकार के हैं—

१. जिन्होंने पत्र व पुष्प-वगैरह शुद्ध पदार्थों में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके, उन्हें पूज्य स्वीकार किया है और २. जिन्होंने जिन-बिम्बों में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके उन्हें पूज्य स्वीकार किया है, परन्तु विवेकी पुरुष जिसप्रकार पत्र, फल व पाषाण-आदि शुद्ध वस्तुओं में जिनेन्द्र भगवान्-आदि की स्थापना करता है उस प्रकार उसे दूसरे मतों की ब्रह्मा व विष्णु-आदि की मूर्तियों में ऋषभदेव-आदि तीर्थङ्करों का संकल्प कदापि नहीं करना चाहिए ।

क्योंकि अविरुद्ध या शुद्ध पदार्थ में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना उसप्रकार उचित है जिस प्रकार शुद्ध कन्या में पत्नी का संकल्प करना उचित होता है । जिस प्रकार दूसरे से विवाहित कन्या में पत्नी का संकल्प उचित नहीं है । उसी प्रकार अन्य देवाकार को प्राप्त हुए विष्णु-आदि की प्रतिमाओं में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना अयोग्य (आगम से विरुद्ध) है ॥ २३ ॥

अब हम पत्र व पुष्प-आदि में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके देव-पूजा करनेवाले श्रावकों के प्रति पूजा-विधि के विषय में धर्मोपदेश देंगे—

१. लौकिको विधिः विवाहः । २. द्विप्रकाराः पुरुषाः । ३. 'संकल्पिताप्तपूजिताः' इति क० । ★. 'संकल्पितोऽपि' इति क० । ४. 'यथा दलफलादिषु संकल्पो जिनस्य क्रियते तथा अन्यदेवप्रतिमायां जिनसंकल्पो न क्रियते इत्यर्थः' टि० घ०, 'न कर्तव्यः क्व समयान्तरप्रतिमासु केष्विव दलादिषु इव । अन्यदेवहरहिरण्यगर्भप्रतिमाविषये जिनसंकल्पो न क्रियते' इति टि० ख० । ५. अविरुद्धे । ६. न अन्यदेवाकारसंक्रान्ते उपलादौ । ७. यथा परपरिग्रहे परिणीतकन्यायां संकल्पोऽनुचितः अयोग्यः । ८-९. संकल्पिताप्तपुष्पपरिग्रहान् प्रति धर्मोपदेशं दास्यामः ।

अर्हन्[1]तनुमध्ये दक्षिणतो [2]गणधरस्तथा पश्चात् । [3]श्रुतगीः साधुस्तदनु च पुरोऽपि [4]दृगवगमवृत्तानि ॥२४॥
भूर्जे फलके [5]सिचये शिलातले [6]सैकते क्षितौ व्योम्नि ।
हृदये चेति स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥२५॥
रत्नत्रयपुरस्काराः पञ्चापि परमेष्ठिनः । भव्यरत्नाकरानन्दं कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥२६॥

ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्यापरम्परस्य [7]परानपेक्षापर्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञानसाम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविशेषविराजितस्य षोडशार्धलक्षणसहस्राङ्कितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य द्वादशगणप्रमुखमहामुनिमनःप्रणिधान[8]संनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य[9] समवसरणसरोवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य दुस्तारा[10]जवञ्जवीभावजलनिधिनिमज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणिप्रभा[11]भोगनभोविजृम्भमाणचरणनखनक्षत्रनिकुरम्बस्य सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेत[12]कल्पानोकुहस्य कीर्ति[13]पोतिकाप्रवर्धनकामधेनोः [14]अवीचिपरिचयखलीकारकारणाभिधानपात्रमन्त्रप्रभावस्य सौभाग्यसौरभसंपादनपारिजातप्रसवस्तबकस्य सौरूप्योत्पत्तिमणि[15]मकरि-

---

पूजा-विधि के वेत्ताओं को सदा अर्हन्त और सिद्ध को पत्र व पुष्पादि के मध्य में, आचार्य को दक्षिण में, उपाध्याय को पश्चिम में, साधु को उत्तर में और पूर्व में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को क्रम से भोजपत्र पर, लकड़ी के पटिये पर, वस्त्र पर, शिलातल पर, बालुकामय प्रदेश पर, पृथ्वी पर, आकाश में और हृदय में स्थापित करना चाहिए ॥२४-२५॥ सम्यग्दर्शन-आदि रत्नत्रय से पूजनीय और तीन लोक के लिए चन्द्रमा-सरीखे पाँचों परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्र को प्रमुदित करें ॥ २६ ॥

अर्हन्त पूजा

मैं ऐसे भगवान् अर्हन्त परमेष्ठी की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जिनकी विशेष माहात्म्यवाली पूजा परम्परा समस्त लोक के स्वामियों (इन्द्र-आदि) द्वारा की गई है । जो दूसरे (चक्षुरादि इन्द्रिय) की अपेक्षा से रहित परमात्म-पर्याय से उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों के अवलोकनरूप केवलदर्शन व केवलज्ञानरूप साम्राज्य के चिह्नरूप पंचकल्याणकों, आठ प्रातिहार्यों एवं चौंतीस अतिशयों से विशेषरूप से सुशोभित हैं । जिनके दिव्य परमौदारिक शरीर का प्रभाव एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त है । जिनके परमेश्वर व परमसर्वज्ञ-आदि एकहजार नाम बारह गण (शिक्षक, वादी व विक्रियर्द्धि-आदि) के मुनियों में प्रमुख महामुनियों (गणधरों) के मन में चित्त की एकाग्रता द्वारा आरोपण किये जा रहे हैं। जो मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय इन घातिया कर्मरूप इन्द्रजाल से रहित हैं । जो समवसरणरूपी सरोवर में आये हुए तीनलोक के प्राणीरूप कमल-समूह को विकसित करने के लिए सूर्य-मण्डल-सरीखे हैं। जिनका उत्कृष्ट द्वादशाङ्ग शास्त्र दुःख से भी पार करने के लिए अशक्य संसाररूप समुद्र में डूबे हुए प्राणी-समूह के लिए हस्तावलम्बन-सरीखा है। जिनके चरणों के नखरूपी नक्षत्र-समूह, भक्ति के भार से नम्रीभूत हुए तीनलोक के स्वामियों (इन्द्र-आदि) के मुकुटों में जड़े हुए मणियों को कान्ति के विस्तार-रूप आकाश में विस्तृत हो रहा है । जो सरस्वती को वर का प्रसाद देने के लिए चिन्तामणि हैं । जो लक्ष्मीरूपी लता के आश्रय के लिए कल्पवृक्ष-से हैं । जो कीर्तिरूपी

---

१. सिद्धः । २. आचार्यः । ३. उपाध्यायः । ४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । ५. वस्त्रे । ६. पुलिने । ७. परस्य अनपेक्षा या पर्यायसंगतिः, अनुक्रमो वा । ८. आरोप्यमाण । ९. अरिर्मोहः, रजो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं, रहः अन्तरायः, कुहकमिन्द्रजालं । १०. आजवंजवीभावः संसारः । ११. विस्तार एव नभः । १२. स्थान । १३. बालिका । १४. अवीचिर्नरकविशेषस्तस्य परिचयः संगतिः । १५. 'मकरी' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'मणिमकरिका पुत्तलिका' इत्याह ।

कायटनविकटाकारस्य[1] रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा। अपि च।

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम्[2]। आरोग्याय जिनाधीशं करोम्यर्चनगोचरम्॥ २७॥

ॐ [3]सहचरसमीचीनत्रा[4]बोधत्रयविचारगोचरोचितहिताहितप्रविभागस्य अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मुक्ताफलमिव उपलादिव काञ्चनम् [5]स्मादेवात्मनः [6]कारणविशेषोप[7]सर्पणवशादाविर्भूतमखिलमलविलयलब्धात्मस्वभावमसममसहायमक्रममनवधीरितान्य[8]संनिधिध्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपैकनिबन्धनम्[9]न्तःप्रकाशम्[10]ध्यासितयन्तमनन्तदर्शनवैशद्य[11]विशेषसाक्षात्कृतसकलवस्तुसर्वस्वमनन्[12]तसानसुख[13]स्रोतसमपर्यन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावभासमसदृश[14]भिनिवेशावगाहमलघुगुरुव्यपदेशमपगतबाधाधराकारसंक्रममतिविशुद्धस्वभावतया निवृत्ताशेषशरीर-

इछिया की वृद्धि के लिए कामधेनु हैं। जिनके नामरूपी मन्त्र का प्रभाव ग्रह-विशेष की संगति को नष्ट करने में कारण है। जो सौभाग्यरूपी सुगन्धि की प्राप्ति में कल्पवृक्ष के पुष्पों का गुच्छा-सरीखे हैं। जो अनोखे सौन्दर्य की उत्पत्तिरूपी मणि-जड़ित पुतली की रचना के लिए स्वर्णकार-जैसे हैं एवं जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय से अलंकृत हैं।

मैं जन्म-जरा-मरणरूपी रोग की निवृत्ति के लिए मनुष्य, नागासुर व देवरूपी कमलों के विकसित करने के लिए सूर्य की कान्ति को धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेव की पूजा करता हूँ॥ २७॥

सिद्ध-पूजा

मैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ। जिनका हिताहित का प्रकृष्ट ज्ञान पूर्वजन्म से आये हुए मति, श्रुत व अवधिज्ञान के विचार के विषय के योग्य है, इसीलिए गुरु-आदि दूसरे की अपेक्षा न करने के कारण जो स्वयंभू हैं। जिसने ऐसे केवलज्ञान से अधिष्ठित ऐसे परमात्मा को प्राप्त किया है, जो कि (केवलज्ञान) इसी पूर्व संसारी आत्मा से ही घातिया कर्मों को क्षय करनेवाली कारण सामग्री (द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव-आदि एवं सम्यग्दर्शन-आदि) के सन्निधान से उस प्रकार उत्पन्न हुआ है, जिसप्रकार कारण-सामग्री (स्वाति नक्षत्र का उदय-आदि) के सन्निधान से जल से [सीप में] मोती उत्पन्न होता है और जिस-प्रकार कारणसामग्री (अग्निपुट-पाक व छेदन, भेदन-आदि) के सन्निधान से सुवर्णपाषाण से सुवर्ण उत्पन्न होता है। जिसकी उत्पत्ति समस्त मलों (घातिया कर्म व उनके उदय से होनेवाले अज्ञानादि दोषों) के क्षय से हुई है, जो अनोखा और चक्षुरादि इन्द्रियों की सहायता से शून्य है। जो क्रम-रहित है, अर्थात्—समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाला है। जिसने दूसरे पदार्थों की निकटता व दूरी तिरस्कृत की है। जो सीमा को उल्लंघन करने वाला व इन्द्रियों के व्यापार-आदि प्रयत्नों के बिना उत्पन्न होनेवाला एवं जो अतिशय की सीमा का अन्त करने वाला है और जिसकी उत्पत्ति में केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही कारण है। जिसमें (परमात्मा में) अनन्त दर्शन की विशेष निर्मलता के कारण समस्त पदार्थों का सार प्रत्यक्ष किया गया है। जो अनन्त सुख का झरना है। जो अनन्तवीर्य-शाली है। जिसमें चक्षुरिन्द्रिय से अगोचर सूक्ष्मत्व प्रति जीवी गुण की प्रतीति है। जिसमें अनोखे परमावगाढ़ सम्यक्त्व के साथ अवगाह गुण वर्तमान है। जो अगुरु लघु गुण

1. 'जड़िया—स्वर्णकार' टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'विकटाकारः टंकः' इति प्रोक्तम्। 2. विरोचनो रविः। 3. पूर्वजन्मागत। 4. चार्वीत्रयं मतिः श्रुतमवधिश्च। 5. पूर्वसंसारिण एव। 6. द्रव्यक्षेत्रकालभावादि, खय उवसमो विसोही देसण पाउग्गकरणलद्धीए चत्तारि विसामण्णा करणे पुण होई सम्मत्तं॥ १॥ 7. आगमनं। 8. सामीप्यं। 9. केवलज्ञानं। 10. प्राप्तवन्तं। 11. निर्मलता। 12-13. ईदृशं परमात्मानं। 14. अभिनिवेशः सम्यक्त्वं।

द्वारतया च मनाङ्मुक्तपूर्वावस्थान्तरमरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवनशिरःशेखरायमाणेन[1] धरित्रीधरमुपशान्तसकलसंसारदोषप्रसरं परमात्मानमुपेयुषो [2] गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा। अपि च।

[3] प्रत्नकर्मविनिर्मुक्तान्नू[4]त्नकर्मविवर्जितान्। यत्नतः संस्तुवे सिद्धान्रत्नत्रयमहीयसः ॥ २८ ॥

ॐ [5] ...आचारशुद्धकुलशीलगुरुपरम्परोपात्तसमस्तैतिह्यरहस्यसारस्य [6] अध्ययनाध्यापन[7]वि[8]नियोगविनयनियमोप[9]नयनादिक्रियाकाण्डनिःस्नात[10]चित्तस्य चातुर्वर्ण्यसंघप्रवर्धनधुरंधरस्य द्विविधात्मकधर्मावबोधनविषूर्तैहिकव्यपेक्षासंबन्धस्य सकलवर्णाश्रमसमयसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविदलितनिखिलजनतारविन्दिनीमिथ्यात्वमहामोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यप्रशिष्यसंपदाशेषमिदं भुवनमुद्धर्तुमुद्यतस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्याचार्यपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च। विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यकमुपेयुषः। आचार्यवर्यानर्चामि संचार्य हृदयाम्बुजे ॥ २९ ॥

से मुक्त है। जो बाधा और पर के आकाररूप संक्रमण से रहित है। विशेष विशुद्ध स्वभाव के कारण और समस्त शारीरिक द्वारों के हट जाने से जो पूर्व अवस्था से कुछ छुटकारा पा चुका है, अर्थात्—जो पूर्व-अवस्था से कुछ ऊँन है। जिसमें रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श नहीं हैं व जो समस्त लोक के शिर पर मुकुट के समान आचरण करनेवाले स्थान से जगत् का पालन करनेवाला है एवं जिसमें समस्त सांसारिक अज्ञानादि दोषों का विस्तार नष्ट हो चुका है। जो (सिद्ध परमेष्ठी) तीर्थङ्कर परमदेव द्वारा भी गुरु माने गये हैं और जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से अलंकृत हैं।

पुराने कर्मों के बन्धन से छूटे हुए और नवीन कर्मों से रहित तथा रत्नत्रय से महान् उन सिद्धों का मैं यत्नपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥ २८ ॥

आचार्य-पूजा

मैं विशेष पूज्य ऐसे भगवान् आचार्य परमेष्ठी की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जिन्होंने जाति व आचरण से शुद्ध कुल व सदाचार से विभूषित हुई गुरु-परम्परा द्वारा समस्त आगम के गोप्यतत्त्व का सार ग्रहण किया है। जिनका चित्त स्वयं शास्त्रों का पठन-पाठन, अधिकार, विनय, नियम (व्रत व तप का पालन) व दीक्षा व व्रतारोपण विधि-आदि क्रिया-काण्डों से पवित्र है। जो चार वर्ण (ऋषि, यति, मुनि व अनगार) के साधु-संघ की वृद्धि का भार वहन करनेवाले हैं। जिन्होंने मुनि व श्रावक धर्म के ज्ञापन में इस लोक संबंधी सुख की अपेक्षा का संबंध त्याग दिया है। जिन्होंने समस्त वर्णों व आश्रमों की आगमानुकूल क्रिया-पद्धति के विचार के योग्य वचन-समूहरूपी किरणों द्वारा समस्त जनतारूपी कमलिनी का मिथ्यात्व व विशिष्ट अज्ञानरूप अन्धकार-पटल नष्ट कर दिया है। जिन्होंने ज्ञान व तप के प्रभाव से जिन-शासन को उद्दीपित किया है और जो अपनी शिष्य-प्रशिष्य सम्पत्ति द्वारा समस्त लोक के उद्धार करने में प्रयत्नशील-से रहते हैं एवं जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से अलंकृत है।

मैं समस्त आगम को विचार करके आचार्यपद प्राप्त करनेवाले पूज्य आचार्यों को अपने हृदयकमल में स्थापित करके उनकी पूजा करता हूँ ॥ २९ ॥

---

१. स्थान। २. तीर्थङ्करपरमदेवेन 'नमः सिद्धेभ्यः' इति वचनात्। ३. पुराणं। ४. नवं। ५. जात्याचरणशुद्धं। ६. स्वयं पठन। ७. पाठन। ८. अधिकार। ९. दीक्षाव्रतारोपणादिविधि। १०. पवित्र।

ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावारपारंगमस्य अपार[1]संसारारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गमार्गण[2]निरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तैकान्तवादमदमषीमलिनपरवादिकरिकण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठारवायमाण[3]प्रमाण[4]नय[5]निक्षेपा[6]नुयोग[7]वाग्व्यतिकरस्य श्रवणग्रहणावगाहना[8]वधारण[9]प्रयोग[10]वाग्मित्वकवित्वगमक[11]-शक्तिविस्मापितविनतनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीमन्तप्रान्त[12]पर्यस्तोत्तंसप्रसवसौरभाधिवासितपादपीठोपकण्ठस्य श्रुतविज्ञानपवित्रहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च। अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपारागमपारगान्। उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय[13] श्रुतात्मने ॥३०॥

ॐ [14]विदितवेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरण[15]करणत्रयविशुद्धित्रिपथगा[16]प्रवाहनिर्मूलितमनोजकुज-

उपाध्याय-पूजा

मैं ऐसे भगवान् उपाध्याय परमेष्ठी की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जो श्रीमान् भगवान् अर्हन्त देव के मुखकमल से निकले हुए बारह अङ्गों (आचार-आदि), चौदह पूर्वों (उत्पादपूर्व-आदि) तथा चौदह प्रकीर्णकों (सामायिक-आदि) के रूप में विस्तीर्ण श्रुतरूपी समुद्र के पारगामी हैं। जो अपार संसाररूपी अटवी से निकलने के लिए बाधा-रहित मार्ग के अन्वेषण करने में तत्पर हुए शिष्यजनों के लिए शरणभूत हैं। दुरन्त एकान्तवाद के मदरूपी कालिमा से मलिन हुए अन्यमतावलम्बीरूपी हाथियों के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप व अनुयोग से युक्त जिनका वचन-समूह सिंह के दहाड़ने के समान आचरण करता है। श्रवण, ग्रहण, अवगाहन (विचार करना), अवधारण, प्रयोग (शास्त्र के अर्थ को ज्ञापन करनेवाला वचन), वक्तृत्व-कला (शास्त्र के अर्थ को मुख द्वारा सूचित करना), कवित्व व तार्किक शक्ति द्वारा आश्चर्य-युक्त किये गए नम्रीभूत हुए मनुष्यों, देवों व विद्याधरों के स्वामियों के केशप्रान्त से नीचे गिरी हुई मुकुट माला के पुष्पों की सुगन्धि से, जिनके चरणों के आसन का निकट भाग सुगन्धित किया गया है और जिनका हृदय चारित्र व श्रुतज्ञान से पवित्र है एवं जो पूज्य हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से अलंकृत हैं।

मैं पुण्य व श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ एकान्तवादियों को परास्त करनेवाले और अपार द्वादशाङ्ग आगम के पारगामी उपाध्याय परमेष्ठियों की पूजा करता हूँ ॥ ३० ॥

साधु-पूजा

मैं विशेष पूज्य और ऐसे सर्वसाधु परमेष्ठी की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ, जो मोक्षोपयोगी जीवादि तत्त्वों के ज्ञाता हैं। जिन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर चारित्र-पालनरूपी एवं मन, वचन व काय की विशुद्धिरूपी गङ्गानदी के प्रवाह द्वारा कामदेवरूपी वृक्ष के कुटुम्ब का विस्तार जड़मूल से उखाड़कर फेंक दिया है। जिन्होंने

१. संसाराटवी। २. अवलोकन। ३. शब्दायमान। ४. वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतु प्रमाणं। ५. प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशनिरूपणप्रवणो नयः। ६. अप्रकृतांकल्पयोग्यतास्वरूपैर्वस्तुव्यवस्थापनहेतुर्निक्षेपः। ७. सामान्यविशेषाभ्यामशेषपदार्थावगमाश्रयः अनुयोगः। ८. अवगाहनं विमर्शनम्। ९. प्रयोगः शास्त्रार्थज्ञापनं वचनं। १०. 'वाचोयुक्तिः पटुर्वाग्मी' इति टि० ख०, यशा० पञ्जिकाकारस्तु 'शास्त्रपरिज्ञानस्य मुखसूचितत्वं वाग्मित्वं। तदुक्तं—पुरस्तः प्रशमितमिवालिखितमिव मनोनिषिक्तमिव हृदये गृहं ? (प्रविष्टं) यस्य शास्त्रं स भवेत् ज्ञाता तदर्थस्य पातु वो निकषग्रावो' इत्यचीकथत्। ११. तार्किकः सिद्धान्तज्ञाता। १२. अधः पतित। १३. उप समीपे अयः शुभावहो विधिर्यस्य सः उपायः पुण्यमित्यर्थः पुण्यार्थं श्रुतार्थं च। १४. ज्ञाततत्त्वस्य। १५. मनोवाक्काय। १६. गंगा।

कुटुम्बाडम्बरस्य अमरखचरनरनितम्बिनी[1]कदम्बनवप्रादुर्भूतमदन[2]मदमकरन्दबुदिन★विनोदारविन्द[3]चन्द्रायमाणोचितो-दितव्रतव्राता[4]पहसिता[5]र्वाचीनचरित्रच्युतविरञ्च[6]विरो[7]चनादि[8]ध्यानसरसस्य[9] अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्ध्यान-धैर्यविमूलितविघ्नप्रत्यूहै[10]र्व्यूहैरनन्यजनसामान्यवृत्तिभिर्मनोगोचराति[11]चरैराश्चर्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैर्मूलो-त्तरगुणग्रामणीभिस्तपःप्रारम्भैः सकलैहिकसुखसाम्राज्यदरप्रधानावहिला[12]यातावधीरित★विस्मितोपनतवनदेवतालकालि-कुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरागस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सर्वसाधुपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च । बोधापगाप्रवाहेण विध्यातानङ्गवह्नयः । ★विध्याराध्याङ्घ्रयः सन्तु साध्यबोधाय[13] साधवः ॥३१॥

ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादितत्त्वा[14]वधारणद्वयविजृम्भित[15]निरतिशयाभिनिवेशाधिष्ठानासु[16]-प्रकाशितशङ्का[17]प्राकाम्या[18]वज्ञावन[19]कु[20]मतातिशल्योद्धारासु[21] प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यस्तम्भसंभृतासु

ऐसे विशुद्ध चारित्र-समूह द्वारा नवीन चारित्र से च्युत हुए ब्रह्मा व विरोचन (तपस्वी विशेष) आदि तपस्वियों का ध्यान तिरस्कृत किया है, जो कि (चारित्र-समूह) देवाङ्गना, विद्याधरी व मानवों की कमनीय कामिनी-समूहरूपी तड़ाग में उत्पन्न हुए काममदरूपी मकरन्दवाले दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) की क्रीड़ारूपी कमलों को चन्द्र-सा आचरण करनेवाला है, अर्थात्—संकुचित करनेवाला है। अनेक बार तीनों लोकों को क्षोभित कर देनेवाले, धर्मध्यान की निश्चलता से समस्त विघ्नों के समूह को नष्ट करनेवाले, सर्व साधारण मानवों द्वारा अशक्य प्रवृत्तिवाले, मन से चिन्तवन के लिए अशक्य, आश्चर्य व प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पृथिवी-सरीखे, मूलगुण व उत्तरगुणों की प्रमुखतावाले नानाप्रकार के तपों के अभ्यासों से (क्षुभित—सन्तुष्ट होकर) समस्त इस लोक संबंधी सुख-साम्राज्यरूप वर देने के लिए सावधान होकर आये हुए, परन्तु तिरस्कृत होनेपर आश्चर्यान्वित व नम्रीभूत हुए वन-देवताओं के केश-समूह-रूपी भ्रमर-समूह द्वारा, जिनके चरणकमलों का पराग विलुप्त कर दिया गया है और जिनकी आत्मा मोक्ष-मार्ग में श्रद्धालु है और जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से विभूषित हैं।

जिन्होंने सम्यग्ज्ञानरूपी नदी के प्रवाह द्वारा कामरूपी अग्नि बुझा दी है, और जिनके चरण पूजा विधि से पूजनीय हैं, वे साधु केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए होवें ॥ ३१ ॥

सम्यग्दर्शन-पूजा

मैं संसाररूपी वृक्ष को काटने में प्रथम कारण, समस्त कल्याणों के कर्ता व पंचपरमेष्ठी को अग्रेसर करनेवाले भगवान् सम्यग्दर्शनरूपीरत्न की अष्ट द्रव्यों से पूजा करता हूँ। जिसने (सम्यग्दर्शन ने) पुण्यशाली

१. स्त्रीसमूहतडाग तत्रोत्पन्न । २. काम । ★. आच्छादित, क्रीडा एव कमलं । ३. कमलसंकोचकारकः कामविध्वंसकः इति भावः । ४. व्रातः समूहः । ५. तिरस्कृतब्रह्मादयः । ★. अर्वाग्भवं । ६. ब्रह्मा । ७. ऋषिनाम । ८. तापस । ९. ध्यानाध्यस्य । १०. प्रत्यूहो विघ्नः । ११. अगम्यैः । १२. सावधान । ★. 'अवधारित' ग० । विमर्श—मु० प्रति का 'अवधीरित' पाठ सही प्रतीत होता है—सम्पादक । ★. पूजाविधिना आराध्याः अङ्घ्रयश्चरणाः येषां । १३. साध्यो बोध्यः आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्यं केवलज्ञानं तस्मै । १४. अवधारणद्वयमयोगव्यवच्छेदोऽन्ययोगव्यवच्छेदः, जिनो देव एव, जिन एव देवः इत्यादि । १५. सर्वेषां सम्यग्दृष्टीनामभिप्रायाः परिणामाः समानाः सदृशा एव भवन्ति न तु न्यूनाधिकाः । १६-१७. प्रकटित-निष्कासितशल्यासु, प्रासादभूमिशोधनेऽपि अस्थ्यादि निष्काश्यते, निःशङ्कितगुण । १८. प्राकाम्यमाकाङ्क्षा । १९. अवज्ञाधमं विचिकित्सा । २०. मूढदृष्टिः एतानि शल्यानि । २१. प्रायः भूमिशोधने अस्थ्यादिकं निष्काश्यते ।

स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपरचितोत्सवसपर्यासु[१] [२]अनेकत्रिदशविशेषनिर्मापितभूमिकासु सुकृतिचेतःप्रासाद-परम्परासु कृतक्रीडाविहारमपि ध [illegible][३] भरतैरावतविदेहवर्ष[४]धरचक्रवर्तिचूडा-मणि[५]कुलदैवतं अमरेश्वरमतिदेवतावतं[६]सकल्पवल्लीपल्लवं अम्बरचरलोकहृदयैकमण्डनं अपवर्गपुरप्रवेशागण्यपुण्यप-ण्यात्मसात्करणसत्यंकारं[७] अनुल्लङ्घ्यदुरघघनघटादुर्दिनेष्वपि जन्तुषु ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनतमस्काण्डभेदनमामनन्ति मनीषिणः, तस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्न-स्याष्टतयीमिष्टि करोमीति स्वाहा।

अपि च। मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं युक्तिश्रीवल्लरीवनम्[८]। भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं [९]भुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥३२॥

मानवों की ऐसी चित्तरूपी महलों की पङ्क्तियों में क्रीड़ा के लिए विहार किया है, जो कि जिन, जिनागम, जिनधर्म और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए जीवादि सात तत्वों के अयोग व्यवच्छेद व अन्ययोग व्यवच्छेद (जिनेन्द्र देव ही हैं व जिनेन्द्र ही देव है, इत्यादि क्रमशः अन्य विशेषणों की व्यावृत्ति व अन्य विशेष्यों की व्यावृत्ति) की आस्था से वृद्धिगत हुईं सदृश परिणाम-स्थानरूपी आधार (भूमि या नींव) वाली हैं। जिनमें से शङ्का, आकांक्षा, विचिकित्सा (ग्लानि) व मूढ़ दृष्टिरूपी शल्यें (कीलें) निकाल कर फेंक दी गई हैं। अर्थात्—जिसप्रकार महल की भूमि-शोधन में हड्डी-आदि निकालकर फेंक दी जाती हैं उसीप्रकार सम्यग्दृष्टियों द्वारा भी चित्त के शोधन में उक्त शल्यें निकाल कर फेंक दी जाती हैं। जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, व आस्तिक्य रूपी स्तम्भों द्वारा धारण की गई है। स्थितिकरण, उपगूहन, वात्सल्य व प्रभावना द्वारा जिनमें उत्सवों की पूजा की गई है। अर्थात्—जिसप्रकार महल-रचना में मध्य मध्यमें पूजा की जाती है उसीप्रकार सम्यक्त्व की भी उक्त अङ्गों द्वारा पूजा की जाती है और जिनकी भूमिकाएँ (अवस्थाएँ व पक्षान्तर में तल) दो प्रकार (निसर्गज व अधिगमज), तीन प्रकार (औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक) व दश-प्रकार (आज्ञा व मार्ग-आदि) से निर्माण कराई गई हैं, ऐसा होकर के भी जो स्वभावतः महामुनियों के मनरूपी समुद्र में प्रसिद्ध हैं। जो समस्त भरत, ऐरावत व विदेहक्षेत्रों व कुलाचलों के चक्रवर्तियों का चूड़ामणि (शिरो-रत्न) और कुल देवता है। जो देवेन्द्रों की बुद्धिरूपी देवी के कर्ण-आभूषण के लिए कल्पलता का पल्लव है। जो विद्याधर-समूह के हृदय का अद्वितीय आभूषण है। मोक्षनगर में प्रवेश करने के लिए असंख्यात पुण्यरूपी पण्य (खरीदने लायक वस्तु) को अधीन करने के लिए जो सत्यंकार (व्यवस्था का अनुल्लङ्घन-बयाने का धन) है। अर्थात्—जिस प्रकार पेशगी दिये हुए धन से खरीदने लायक वस्तु खरीदी जाती है उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी बयाने के धन से भी मोक्षनगर में प्रवेश करानेवाला असंख्यात पुण्य खरीदा जा सकता है। जिसे शास्त्र-वेत्ता विद्वान् अटल (अवश्य भोगने योग्य) महापाप रूपी मेघों की घटा से दुर्दिन-सरीखे (ग्रस्त हुए) जीवों के भी ज्योतिर्लोक-आदि गतिरूपी गड्ढों में गिरानेवाले मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के पटल का भेदन करनेवाला मानते हैं, अर्थात्—पापी से पापी जीव को भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर प्रथम नरक के सिवाय शेष नरकों में और भवनत्रिक व व्यन्तर-आदि में जन्म लेना नहीं पड़ता।

मैं ऐसे सम्यग्दर्शन की भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ, जो मुक्तिलक्ष्मी रूपी लता की जड़ है और जो

१. प्रासादे क्रियमाणे मध्ये मध्ये पूजा क्रियते। २. अनेको विशेषो द्विविधतया, त्रयोविशेषाः त्रिविधतया, दश विशेषाः दशविधतया भूमिका अवस्था तलं च। ३. प्रसिद्धं। ४. कुलपर्वत। ५. शिरोरत्नानामुपरि स्थितं। ६. कर्णावतंस (कर्णपूर)। ७. सत्यंकारं व्यवस्थानुल्लङ्घनम्, धनसार्थ इति लोकभाषा। ८. जलं। ९. भुक्तिरेव चिन्तामणिः।

ॐ अनिखिलभुवन[1]तार्तीयलोचनम्, आत्महिताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादितसमीचीनभावम्, अधिगमजसम्यक्त्वरत्नोत्पत्तिस्थानम्, [2]अखिलास्वपि दशासु क्षेत्रज्ञस्वभावसाम्राज्यपरमलाञ्छनम्, अपि च [4]यस्मिन्निदानीमपि[4] [5]नदीस्नातचेतोभिः [6]सम्यगुपाहितोपयोगसंमार्जने [7]द्युमणिमणिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति [8]ते ते [9]भावाः कसंप्रत्ययाः [10]स्वभावक्षेत्रसमयविप्रकर्षिणोऽपि भावास्तस्यात्मलाभनिबन्धनो[11]भयहेतुविहितविचित्रपरिणतिभिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलैः पञ्चतयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च । नेत्रं हिताहितालोके सूत्रं धीसौधसाधने । पात्रं पूजाविधेः कुर्वे क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥३३॥

युक्ति (दर्शनशास्त्र) लक्ष्मीरूपी लता को वृद्धिगत करने के लिए जल है एवं जो सांसारिक भोगरूपी चिन्तामणि को देनेवाला है ॥ ३२ ॥

सम्यग्ज्ञान-पूजा

जो समस्त लोक को जानने के लिए तीसरा नेत्र है। आत्मा के हिताहित के विवेक के यथार्थ जानने से ही जिसे समीचीनता प्राप्त हुई है, जो अधिगमज सम्यग्दर्शनरूप रत्न की उत्पत्ति का स्थान है; क्योंकि अधिगमज सम्यक्त्व में परोपदेश की अपेक्षा होती है। जो आत्मा की समस्त पर्यायों (नरक व एकेन्द्रियादि) में भी आत्मा के स्वभाव रूप साम्राज्य का प्रदर्शन चिह्न है, अर्थात्—अनेक नर व नरक-आदि पर्यायों को धारण करता हुआ यह आत्मा जिस प्रधान चिह्न के कारण अपने ज्ञान स्वभावरूप साम्राज्य वाला कहा जाता है। इसकी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि केवल केवलियों के तीर्थ में ही नहीं, अपितु इस समय में भी सरस्वतीरूपी नदी में स्नान करने से जिनके चित्त निर्मल हो गए हैं ऐसे विद्वानों द्वारा आरोपित अभ्यास से अपने उपयोग को विशुद्ध कर लेने पर उनके केवलज्ञान में सूर्यकान्तमणि के दर्पण की तरह स्वभाव से सूक्ष्म परमाणु-आदि व क्षेत्र से दूरवर्ती-सुमेरु-आदि और काल से दूरवर्ती राम-रावण-आदि स्वात्मा द्वारा अनुभव करने-योग्य पदार्थ प्रत्यक्षगोचर प्रतीत होते हैं। वह ज्ञान यद्यपि एक है, किन्तु अपनी उत्पत्ति के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग-कारणों से होनेवाली विचित्र परिणति के द्वारा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान के भेद से उसकी पाँच अवस्थाएँ (भेद) हो गई हैं, उस समस्त कल्याणों का कर्ता और पंच परमेष्ठी को अग्रेसर करनेवाले (क्योंकि पंचपरमेष्ठी का स्वरूप जाने बिना सम्यग्ज्ञान उदित नहीं होता) भगवान् (पूज्य) सम्यग्ज्ञान की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ।

मैं ऐसे सम्यग्ज्ञान को पूजाविधि का पात्र करता हूँ, अर्थात्—उसकी पूजा करता हूँ, जो कि आत्मिक हित और अहित को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है और जो बुद्धिरूपी महल के निर्माण करने के लिए बढ़ई है एवं जो लक्ष्मी के समागम कराने का स्थान है ॥ ३३ ॥

---

१. तृतीय। २. नरक, एकेन्द्रियादिषु। ३. ज्ञाने। ४. न केवलं केवलिनां तीर्थे। ५. सरस्वत्यां स्नातचित्तैः विद्वद्भिः। ६. आरोपिताभ्यासेन कृतोज्ज्वले केवलदीस्नातचित्तैर्नरैः। ७. सूर्यकान्तमुकुरे। ८. जीवादिपदार्थाः। ९. स्वात्मानुभवनीयाः। १०. केचन भावाःस्वभावेन दूराः, केचन क्षेत्रापेक्षया दूराः, केचन कालापेक्षया दूरतराः तस्य सम्यग्ज्ञानस्य। ११. 'मतेरन्तरङ्गो हेतुः क्षयोपशमः, बाह्यं तदिन्द्रियानिन्द्रियं। श्रुतस्यान्तरङ्गं क्षयोपशमः बाह्यमनिन्द्रियं। अवधेर्बाह्यं भवप्रत्ययः, मनःपर्ययस्य बाह्यं क्षेत्रादिकं, अन्तरङ्गं क्षयोपशमः, अवधेश्चापि क्षयोपशममन्तरङ्गं। केवलज्ञानस्य बाह्यं मानुष्यं, अन्तरङ्गं कर्मणां क्षयः'। इति टि० ख० च०।

ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिबन्धकान्धकारविध्वंसनम्, [1]अनवद्यविद्यामन्दाकिनीनिदान[2]मेदिनीधरम्[3], अशेषसत्त्वोत्सवानन्दचन्द्रोदयम्, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयम्[4], अनल्पफलप्रदायितपःकल्पद्रुमप्रसव-भूमिम्[5]स्मयोपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्यप्रधानैरनुष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीधनाः परमपदप्राप्तेः प्रथममिव सोपानम्, तस्य [6]पञ्चतयात्मनः [7]सर्वक्रियोपरमातिशयावसानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चारित्र-रत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च । *धर्मं [8]योगिनरेन्द्रस्य कर्मवैरिजयार्जने । शर्मकृत्सर्वसत्त्वानां धर्मधीवृत्तमाश्रये ॥ ३४ ॥

जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधवृत्तानाम् । कृत्वाष्टतयीमिष्टिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ ३५ ॥

तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः श्रद्धानमुक्तं जिनै[9]रेतद्द्विविधत्रिभेदविषयं व्यक्तं [10]चतुर्भिर्गुणैः ।

अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं मूर्धन्यपोढं त्रिभिर्दिव्यत्ते देव दधामि संसृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥ ३६ ॥

सम्यक्चारित्र-पूजा

जो समस्त लोक और अलोक के देखने व जानने में रुकावट डालनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकार को विध्वंस करनेवाला है, जो केवलज्ञानरूपी गङ्गा का उत्पादक कारण हिमाचल है। अर्थात्—जैसे हिमाचल से गङ्गा निकलती है वैसे ही चारित्र की आराधना से केवलज्ञान प्रकट होता है। जो समस्त प्राणियों के उत्सवों (आनन्दों) की वृद्धि के लिए चन्द्र के उदय-सा है। अर्थात्—जिस प्रकार चन्द्र के उदय से समुद्र वृद्धिगत होता है उसी प्रकार चारित्र की आराधना से समस्त प्राणियों के आनन्द की वृद्धि होती है। जो समस्त व्रत, गुप्ति व समितिरूपी लताओं के बगीचे के लिए वसन्त ऋतु के समान है। जो प्रचुर फलदायक तपरूपी कल्प-वृक्ष की उत्पत्ति भूमि है। जो गर्व का अभाव, कषायों का क्षय, विशुद्ध चित्तवृत्ति व धीरता की प्रमुखतावाले महात्माओं द्वारा धारण किया जाता है। प्रशस्त बुद्धिरूपी धनवाले महात्मा ऐसे चारित्र को मोक्षपद की प्राप्ति का प्रथम सोपान-(सीढ़ी) सरीखा कहते हैं। जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यात चारित्र के भेद से अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप व वीर्याचार के भेद से पांच प्रकार का है। और जिसके अन्त में मन, वचन व काय के व्यापार का क्षय वर्तमान है, उस समस्त कल्याणों के कर्ता और पंचपरमेष्ठी की प्रमुखतावाले भगवान् सम्यक्चारित्र की आठ द्रव्यों से पूजा करता हूँ।

धर्म में वृद्धि रखनेवाला मैं ऐसे सम्यक्चारित्र का आश्रय ग्रहण करता हूँ, जो कि कर्मरूपी शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने में महामुनिरूपी राजा का धनुष है एवं जो समस्त प्राणियों के लिए सुखदायक है ॥ ३४ ॥

इसप्रकार अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी अष्ट द्रव्य से पूजन करके मैं इनका युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥ ३५ ॥

सम्यग्दर्शन की भक्ति

हे जिनेन्द्र ! मैं संसाररूपी लता की वृद्धि को समाप्त करने का उत्सववाले व तीन लोक द्वारा पूजित

---

१. केवलज्ञानं । २. कारणं । ३. हिमाचलं धीधनाः उशन्ति कथयन्ति । ४. वसन्तं । ५. अगर्व । ६. पंचतयात्मनः सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रभेदेन । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारभेदेन । ७. मनोवचःकायव्यापारक्षयपर्यन्तस्य । *. 'वर्म' इति ध० । ८. महामुनि । ९. निसर्गाधिगम, उपशम-क्षायिक-मिश्र, आज्ञामार्गादि । १०. उपशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ।

ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो ज्ञानानि संचिन्वतां । वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः ।
एषा येषु न विद्यते तव वचःश्रद्धाप्रधानोद्धुरा दुष्कर्माङ्कुरकुञ्ज[1]वज्रदहनद्योतावदाता रुचिः ॥ ३७ ॥
संसाराम्बुधिसेतुबन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीवन प्रोल्लासामृतवारिवाहमखिलत्रैलोक्यचिन्तामणिम् ।
कल्याणाम्बुजषण्डसंभवसरः सम्यक्त्वरत्नं कृती यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः ॥ ३८ ॥
(इति दर्शनभक्तिः)

[2]अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः[3] साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः ।
दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुते ॥ ३९ ॥
यद्देवैः शिरसा धृतं गणधरैः कर्णावतंसीकृतं न्यस्तं चेतसि योगिभिर्नृपवरैराघ्रातसारं पुनः ।
हस्ते दृष्टिपथे मुखे च निहितं विद्याधराधीश्वरैस्तत्स्याद्वादसरोरुहं मम मनोहंसस्य भूयान्मुदे ॥ ४० ॥

सम्यग्दर्शन को चित्त में धारण करता हूँ । जिनेन्द्रों ने जीवादि सात तत्वों में इस विशुद्ध मन की उत्कृष्ट रुचि को सम्यग्दर्शन कहा है, जिसके निसर्गज व अधिगमज दो भेद हैं एवं औपशमिक क्षायिक व क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं तथा आज्ञा व मार्ग-आदि दशभेद हैं । जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य इन चारों गुणों से पहिचाना जाता है । जो निःशङ्कित-आदि आठ अङ्गोंवाला है और जो तीन प्रकार की मूढ़ता से रहित है ॥३६॥ हे जिनेन्द्र ! जिनकी आपके वचनों में गाढ़ मनोयोग से उत्कट श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो कि (रुचि) पाप कर्मरूपी अङ्कुरों के लतागृहों को भस्म करने के लिए वज्राग्नि की कान्तिसरीखी शुभ्र है, वे चञ्चल बुद्धिवाले चाहे कितना ही तप करें और चाहे कितना ही प्रचुर ज्ञान संचय करें अथवा धन वितरण करें, फिर भी प्रायः जन्म-परम्परा का छेदन करनेवाले नहीं हो सकते ॥ ३७ ॥

हे प्रभो ! जो पुण्यवान् पुरुष ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को अपने हृदय में धारण करता है, उसे स्वर्ग और मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति सुलभ है, जो कि संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए पुल के बन्धन-सरीखा है । जो क्रम से उत्पन्न होनेवाले लक्ष्मी के उपवन को विकसित करने के लिए अमृत भरे मेघों-सरीखा है और जो समस्त तीन लोक के प्राणियों को चिन्तामणि-सा है एवं जो कल्याणरूपी कमल-समूह की उत्पत्ति के लिए तड़ाग-सरीखा है ॥ ३८ ॥

सम्यग्ज्ञान की भक्ति

इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान स्वल्प व्यापारवाला है, अर्थात्—बहुत थोड़े पदार्थों को विषय करता है । अवधिज्ञान भी मर्यादा-सहित है, अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर केवल रूपी पदार्थों को ही विषय करने के कारण सीमित है । मनः पर्यय का भी विषय थोड़ा है और वह भी किसी विशिष्ट योगी में ही उत्पन्न होता है, अतः आश्चर्यजनक है । केवलज्ञान महान् है, किन्तु उसकी प्राप्ति इस पंचमकाल में दुर्लभ है । यह तो पूज्य महापुरुषों के कथानकों का विषय रह गया है । एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है, जो समस्त पदार्थों को विषय करता है और सुलभ भी है, उसकी हम क्या प्रशंसा करें ॥ ३९ ॥ ऐसा स्याद्वाद (अनेकान्त) श्रुतरूपी कमल मेरे मनरूपी हंस की प्रसन्नता के लिए हो, जिसे जिनेन्द्रदेव ने शिर पर धारण किया था, गणधरों द्वारा जो कर्णाभूषण किया गया, जो महामुनियों द्वारा अपने चित्त में स्थापित किया गया और राजाओं में श्रेष्ठों के द्वारा जिसका सार सूँघा गया है एवं विद्याधरों के स्वामियों ने जिसे अपने हाथों पर स्थापित किया एवं नेत्र गोचर किया तथा मुख में स्थापित किया ॥ ४० ॥

१. वज्राग्निः । २. 'अल्पदैर्घ्या' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'अत्यल्पायति स्वल्पव्यापारा' इत्याह । ३. समर्यादः ।

मिथ्यातमःप[1]टलभेदनकारणाय स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमना: प्रणमामि नित्यं त्रैलोक्यमङ्गलकराय जिनागमाय ॥ ४१ ॥ (इति ज्ञानभक्तिः)

ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात्स्वस्य खेदावहं यस्मे साधु न त[2]त्फलश्रियमयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः ।
कामं देव [3]यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमयस्तस्मै स्वच्चरिताय संयमधमध्यानादिधाम्ने नमः ॥ ४२ ॥
यश्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः श्रीपाणिग्रहकौतुकं[4] कुलबलारोग्यागमे संगमः ।
यत्पूर्वैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये ॥ ४३ ॥
हस्ते स्वर्गसुखान्यतर्कितभवास्ताश्चक्रवर्तिश्रियो देवाः पादतले लुठन्ति फलति द्यौः कामितं सर्वतः ।
कल्याणोत्सवसंपदः पुनरिमास्तस्यावतारालये प्रागेवावतरन्ति यस्य चरितैर्जैनैः पवित्रं मनः ॥ ४४ ॥
(इति चारित्रभक्तिः)

बोधोऽवधिः[4] श्रुतमशेषनिरूपितार्थमन्तर्बहिःकरणजा सहजा मतिस्ते ।
इत्थं स्वतः सकलवस्तुविवेकबुद्धेः का स्याज्जिनेन्द्र भवतः परतो[6] व्यपेक्षा[7] ॥ ४५ ॥

आगम में कहे हुए तत्वों की भावना से युक्त चित्तवाला मैं ऐसे जिनागम के लिए सदा नमस्कार करता हूँ, जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार समूह को नष्ट करने में कारण है, जो स्वर्ग व मोक्षरूपी नगर के मार्ग का ज्ञान करानेवाला है एवं जो तीन लोक का कल्याण करनेवाला है ॥ ४१ ॥

चारित्र-भक्ति

जिस चारित्र के बिना विद्वान् का ज्ञान उस प्रकार उसके लिए खेदजनक होता है जिस प्रकार भाग्य-हीन मानव का शरीर पर आभूषण धारण करना खेदजनक होता है और जिसके बिना यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्नाङ्कुर सम्यग्ज्ञानरूपी फल सम्पत्ति को भली प्रकार धारण नहीं करता एवं जिसके बिना समस्त तपो-भूमियाँ अत्यन्त निष्फल हुईं, हे भगवन् ! आपके उस सम्यक्चारित्र के लिए नमस्कार हो, जो कि संयम, इन्द्रिय-दमन व धर्मध्यान और शुक्लध्यान-आदि का स्थान है ॥ ४२ ॥ ऐसे उस अनेक प्रकार के सम्यक्चारित्र के लिए मैं स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ, जो अभिलषित वस्तुओं के प्रदान करने के लिए चिन्तामणि है। जो सौन्दर्य व उत्तम भाग्य का निवास है, जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ पाणि-ग्रहण करने में कङ्कण-बन्धन है। जो उत्तमकुल, शक्ति व निरोगता का संगमस्थान है। जिसे धर्मध्यान की निधिवाले पूर्वचार्यों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए धारण किया था और जो सामायिक व छेदोपस्थापना-आदि के भेद से पाँच प्रकार का है ॥ ४३ ॥

जिनेन्द्र के चारित्र-धारण से पवित्र मनवाले मानव के लिए स्वर्ग-सुख हस्त-गत हो जाते हैं। चक्रवर्ती की विभूतियाँ बिना विचारे प्राप्त होनेवाली होती हैं,। देवतालोग उसके चरणतल पर लोटते हैं, समस्त दिशाएँ उसके मनोरथ को पूर्ण करती हैं और उस चरित्रवान् की जन्मभूमि में जन्म से पूर्व ही ये गर्भकल्याणक-आदि उत्सव सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

अर्हन्त-भक्ति

हे जिनेन्द्र ! आपको जन्म से ही अन्तरङ्ग (मन) व बहिरङ्ग (स्पर्शनादि) इन्द्रियों से होनेवाला मतिज्ञान, समस्त जीवादि तत्त्वों को जाननेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है। इस प्रकार स्वतः ही

१. छविर्नेत्ररुजो क्लीबे समूहे पटलं न ना। २. ज्ञान। ३. चारित्रेण विना। ४. कङ्कणं। ५. हे जिन तव वर्तते। ६. अन्यतः। ७. वाञ्छा।

ध्यानावलोकविगलत्तिमिरप्रताने त्वां देव केवलमयीं श्रियमादधाने ।
आसीत्त्वयि त्रिभुवनं मुहुरुत्सवाय व्यापारमन्थर[1]मिवैकपुरं महाय[2] ॥ ४६ ॥
छत्रं दधामि किमु चामरमुत्क्षिपामि हैमाम्बुजान्यथ जिनस्य पदेऽर्पयामि ।
इत्थं मुदामरपतिः स्वयमेव यत्र सेवापरः परमहं किमु वच्मि तत्र ॥ ४७ ॥
त्वं सर्वदोषरहितः सुनयं वचस्ते सत्त्वानुकम्पनपरः सकलो विधिश्च ।
लोकस्तथापि यदि तुष्यति न त्वयीश कर्मास्य तन्ननु रवाविव कौशिकस्य ॥ ४८ ॥
पुष्पं त्वदीयचरणार्चन[3]पीठसङ्गाच्चूडामणी भवति देव जगत्त्रयस्य ।
अस्पृश्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुपास्तु[4] रवीश्वराद्यैः[5] ॥ ४९ ॥
मिथ्यामहान्धतमसावृतमप्रबोधमेतत्पुरा जगदभूद्भवगर्तपाति ।
तद्देव[6] दृष्टिहृदयाब्जविकासकान्तैः स्याद्वादरश्मि[7]भिरधोद्धृतवांस्त्वमेव ॥ ५० ॥
पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य स्वच्छे मनःसरसि संनिहितं समास्ते ।
तं श्रीः स्वयं भजति तं नियतं वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥ ५१ ॥ (इत्यर्हद्भक्तिः)

समस्त पदार्थों की विवेक बुद्धिवाले आपको पर की (गुरु-आदि की) सहायता की वाञ्छा ही क्या है ? अर्थात्–आपको ज्ञानोत्पत्ति में गुरु-आदि सहायकों की अपेक्षा नहीं होती ॥ ४५ ॥ हे प्रभो ! जब आप शुक्लध्यानरूपी प्रकाश द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को नष्ट करनेवाले होने से उत्पन्न हुई उस केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करनेवाले हुए तब तीन लोक ने आपकी बार-बार पूजा के लिए अपने व्यापार में मन्द होकर (अपना कार्य रोककर) एकनगर-सरीखे होकर महान् उत्सव किया । अर्थात्–भगवान् को केवलज्ञान होनेपर उनके समवसरण में नर, सुर व पशु-आदि धर्म-श्रवण के लिए आते हैं ॥ ४६ ॥

'मैं प्रभु के मस्तक पर छत्र धारण करूँ या चमर ढोरूँ अथवा जिनेन्द्र के चरणों में स्वर्ण-कमल अर्पित करूँ' इस प्रकार जहाँ सौधर्मेन्द्र स्वयं ही प्रमुदित होकर प्रभु की आराधना में तत्पर है, वहाँ मैं क्या कहूँ ॥ ४७ ॥ हे स्वामिन् ! तुम समस्त दोषों (क्षुधा-तृषा-आदि अठारह दोषों) से रहित हो । तुम्हारे वचन स्याद्वाद (अपेक्षावाद) रूप हैं (विविध दृष्टिकोणों से वस्तु का निश्चय करनेवाले हैं) । तथा तुम्हारे द्वारा कही हुई समस्त विधि सभी प्राणियों की रक्षा में तत्पर है, तथापि लोक आपसे सन्तुष्ट नहीं होते, इसका कारण उनका मिथ्यात्व कर्म ही है न कि आप । जिस प्रकार सूर्य के उदित होनेपर उसे उल्लू नहीं देखता, इसमें उल्लू का दृष्टि-दोष ही कारण है, न कि सूर्य ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! तुम्हारे चरणों की पूजा का पुष्प-प्रक्षेप के आधारभूत आसन (पीढ़ा) के संसर्गमात्र से पुष्प, तीनों लोकों के मस्तक का आभूषण हो जाता है, अर्थात्–उस पुष्प को सब अपने शिर पर धारण करते हैं । परन्तु दूसरों के शिर पर स्थित हुआ भी पुष्प अस्पृश्य माना जाता है । अतः दूसरे सूर्य व रुद्र-आदि देवताओं से तुम्हारी तुलना को कौन कहे ? ॥ ४९ ॥ हे देव ! पहले मिथ्यात्वरूपी निविड़ अन्धकार से आच्छादित होने के कारण प्रकृष्ट कर्त्तव्य-ज्ञान से विमुख हुआ यह जगत् संसाररूपी गड्ढे में पड़ा हुआ था, उसका तुमने ही नेत्र-कमल व हृदय-कमल को विकसित करने के कारण मनोज्ञ स्याद्वाद (अनेकान्त) रूपी रश्मियों (किरणों अथवा आकर्षण की अपेक्षा से रज्जुओं) से उद्धार किया ॥५०॥ हे देव ! जिसके विशुद्ध मनरूपी स्वच्छ तड़ाग में तुम्हारे दोनों चरणकमल समीप में विराजमान हैं, उसकी

१. मन्दं । २. पूजार्थं । ३. चरणायतः यदर्चनपीठं पुष्पप्रक्षेपस्याधारभूतमन्यत् पीठं च वर्तते तस्य संसर्गात् । ४. कथयतु । ५. सूर्यरुद्राद्यैः । ६. नेत्रकमलं हृदकमलं च । ७. किरणैः आकर्षणापेक्षया रज्जुभिः ।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण[1] प्रविदितनिखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चाः प्रोद्धूय ध्यानवातैः सकलमघरजः प्राप्तकैवल्यरूपाः ।
कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥५२॥
दानज्ञानचरित्रसंयमनयप्रारम्भगर्भं मनः कृत्वान्तर्बहिरिन्द्रियाणि मरुतः[2] संयम्य पञ्चापि च ।
पश्चाद्गलितविकल्पजालमखिलं प्रध्वस्ततमःसंतति ध्यानं तत्प्रविधाय ये च मुमुचुस्तेभ्योऽपि बद्धोऽञ्जलिः ॥ ५३ ॥
इत्थं येऽत्र समुद्रकन्दरसरःस्रोतस्विनीभूनभोद्वीपाद्रिद्रुमकाननादिषु धृतध्यानावधानर्द्धयः[3] ।
कालेषु त्रिषु मुक्तिसंगमजुषस्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपैस्ते रत्नत्रयमङ्गलानि ददतां भव्येषु रत्नाकराः ॥ ५४ ॥

(इति सिद्धभक्तिः)

[4]भौमव्यन्तरमर्त्यभास्करसुरश्रेणीविमानाश्रिताः स्वर्गौकः कुलपर्वतान्तरचरार[5]ण्यप्रबन्धस्थितीः ।
वन्दे तत्सुरपालमौलिविलसद्रत्नप्रदीपार्चिताः साम्राज्याय जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्स्वा[6]ध्यायिसाध्वाकृतीः ॥ ५५ ॥

(इति चैत्यभक्तिः)

लक्ष्मी स्वयं सेवा करती है और स्वर्ग-मोक्ष उत्पन्न करनेवाली यह सरस्वती निश्चित रूप से उसे वरण करती है ॥ ५१ ॥

सिद्ध-भक्ति

ऐसे वे सिद्ध परमेष्ठी तुम्हारी सिद्धि (मुक्ति) के लिए हों, जिन्होंने छद्मस्थ अवस्था में मति, श्रुत व अवधिज्ञान द्वारा समस्त जानने योग्य तत्त्वों को विस्तारपूर्वक जाना। पुनः शुक्लध्यान रूपी वायु के द्वारा समस्त पापरूपी धूलि को उड़ाकर केवलज्ञान प्राप्त किया। पश्चात् जिन्होंने प्राणियों का उपकार किया। पुनः तीन लोक के स्वामियों (इन्द्र-आदि) द्वारा जिनका निर्वाण-कल्याणक उत्सव किया गया और जो तीन लोक के अग्रभागरूपी सिद्धपुरी में निवास करनेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि इस पद्य में जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए हैं, उन्हें नमस्कार किया गया है ॥ ५२ ॥ ऐसे उन सिद्ध परमेष्ठियों के लिए भी मैं अञ्जलि (हस्त-संपुट) जोड़ता हूँ, जिन्होंने अपना मन, दान, ज्ञान, चारित्र, संयम व नयों के प्रारम्भ में स्थापित करके मन व स्पर्शनादि बाह्य इन्द्रियों का तथा पांच वायुओं (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) का निरोध किया। फिर ऐसा शुक्लध्यान प्राप्त करके मुक्त हुए, जिसमें राग, द्वेष व मोहादि समस्त विकल्प समूह नष्ट हो चुके हैं और जो अज्ञानरूपी अन्धकार-परम्परा का विध्वंस करनेवाला है। भावार्थ—प्रस्तुत पद्य में जो सामान्य जन सिद्ध हुए हैं, उन्हें नमस्कार किया गया है ॥ ५३ ॥

इसप्रकार समुद्र, गुफा, तड़ाग, नदी, पृथिवी, आकाश, द्वीप, पर्वत वृक्ष व वन-आदि में लगाये हुए ध्यान की संलग्नतारूपी ऋद्धिवाले होकर जिन्होंने तीनों कालों (भूत भविष्यत व वर्तमान) में मुक्तिश्री के साथ प्रीतिपूर्वक संगम सेवन किया है, जो तीनों लोकों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं और जो सम्यग्दर्शन-आदि रत्नों की खानि हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी भव्य प्राणियों के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी मङ्गल समर्पण करें ॥ ५४ ॥

चैत्यभक्ति

मैं ऐसी अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व सर्वसाधुओं की प्रतिमाओं को स्वर्ग-आदि के साम्राज्य की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ, जो कि भवनवासी व व्यन्तरों के भवनों में, मानवों के भवनों में, सूर्य-

---

१. छद्मस्थावस्थायां । २. वातान्—प्राणापानव्यानोदानसमानान् । ३. ध्यानावधानमेव ऋद्धिर्येषां ।
४. भौमाः भवनवासिनः । ५. गिरनारादिषु पर्वततलेषु नयनेषु ? । ६. उपाध्याय ।

[1]समवसरणवासान्मुक्तिलक्ष्मीविलासा[2]न्स[3]कलसमयनाथा[4]न्व्याकरणविद्यासनाथान्[5] ।
भवनिगल[6]विनाशोद्योगयोगप्रकाशा[7]न्विषमगुणभावान्संस्तुवेऽहं क्रियावान्[8] ॥ ५६ ॥
भवदुःखानलशान्ति[9]र्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः[10] ।
शिवशर्मास्रवशान्तिः[11] शान्तिकरः[12] स्ताज्जिनः शान्तिः ॥ ५७ ॥ (इति शान्तिभक्तिः)
मनोमात्रोचितायापि यः पुण्याय न चेष्टते । हताशस्य कथं तस्य कृतार्थाः स्युर्मनोरथाः ॥ ५८ ॥
येषां तृष्णातिमिरभिदुरस्त[13]त्त्वलोकावलोकात्पारेऽवारे [14]प्रशमजलधेः सङ्गवार्धेः परेऽस्मिन् ।
बाह्यव्याप्तिप्रसरविधु[15]रश्चित्तवृत्तिप्रचार[16]स्तेषामर्घाविधिषु भवताद्वारिपूरः[17] श्रिये वः ॥ ५९ ॥
[18]भूराख्ये [19]प्रणिधितरणावन्तरारम्भकेऽस्मिन्नास्ते येषां हृदयकमलं मीलनिस्पन्दवृत्ति ।
तत्त्वालोकावगमगलित[20]ध्वान्तबन्धस्थितीना[21]मिष्टिं तेषामहमुपनये[22] पादपीठचन्दनेन ॥ ६० ॥

और देवों के श्रेणी विमानों में स्थित हैं, जिनका निवास स्वर्ग, ज्योतिषी देव, कुलाचल, पाताललोक, गुफाएँ व गिरनार-आदि पर्वत-तलों में है और जो उन नगर-स्वामियों के मुकुटों पर जड़े हुए रत्नरूपी दीपकों से पूजी गई हैं ॥ ५५ ॥

पञ्चगुरु-भक्ति

क्रिया में उद्यत हुआ मैं, समवसरण में स्थित हुए अर्हन्तों की, मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ क्रीड़ा करनेवाले सिद्धों की, समस्त आगम के स्वामी आचार्यों की व व्याकरण-आदि विद्याओं से सहित उपाध्यायों की तथा ऐसे सर्वसाधुओं की स्तुति करता हूँ, जिनका ध्यानरूप प्रकाश संसाररूपी शृङ्खला को छिन्न-भिन्न करने के उद्योगवाला है एवं जिनमें अनोखे सम्यग्दर्शन-आदि गुण वर्तमान हैं ॥ ५६ ॥

शान्ति-भक्ति

ऐसे श्रीशान्तिनाथ भगवान् शान्ति (विघ्न-हरण) करनेवाले हों, जो सांसारिक दुःखरूपी अग्नि को शान्त करनेवाले (बुझाने वाले) हैं, जिन्होंने धर्मरूपी अमृत की वृष्टि द्वारा जनता में शान्ति (शैत्य) उत्पन्न की है व जो मोक्ष-सुख में बाधक कर्मों (ज्ञानावरण-आदि) के आस्रव की शान्ति (क्षय) करनेवाले हैं ॥ ५७ ॥ जो ऐसे पुण्य-संचय के लिए प्रयत्न नहीं करता, जिसकी प्राप्ति में केवल मन की विशुद्धि मात्र ही योग्य है, उस हताश (दीन) मानव के मनोरथ कैसे सफल हो सकते हैं ? ॥ ५८ ॥

आचार्य-भक्ति

उन आचार्यों की पूजाविधि में अर्पित किया गया जल-समूह तुम लोगों को लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए होवे, जिनका चित्तवृत्ति-प्रचार (आत्मा, इन्द्रिय और मन को केन्द्रित करने में कारणीभूत व्यापार—ध्यानादि) तत्त्व-समूह के यथार्थ प्रकाश से तृष्णारूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाला है और प्रशमरूपी समुद्र के उस पार (तट) व इस पार में वर्तमान है, अर्थात्—प्रशमरूपी समुद्र के मध्य में ही वर्तमान है एवं जो परिग्रह रूपी समुद्र से उत्तीर्ण (पार) हो चुका है तथा जो बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति के प्रसार से रहित है ॥ ५९ ॥

१. अर्हतः । २. सिद्धान् । ३. परिपूर्ण । ४. सूरीन् । ५. उपाध्यायान् । ६. शृङ्खला । ७. साधून् । ८. क्रियासक्तः । ९. विध्यापनं विध्याति—विध्यातीत्यर्थः । १०. शैत्यं । ११. क्षय । १२. विघ्नहरः । १३-१४. येषां चित्तवृत्तिप्रचारः प्रशमजलधेः पारे परकूले, अवारे अवाक्कूले च वर्तते, प्रशमसमुद्रमध्ये एव वर्तते इत्यर्थः । सङ्गवार्धेः परिग्रहसमुद्रस्य परे पारे वर्तते तस्मादुत्तीर्ण इत्यर्थः । १५. प्रविश्लेषे च विकले विधुरं सुधियो विदुः । १६. आत्मेन्द्रियमनसां व्यासङ्गहेतुर्व्यापारः । १७. समूहः । १८. प्रकर्षे प्राप्ते सति । १९. ध्यानसूर्ये, प्रणिधिः प्रार्थने चरे अवधानेऽपि । २०. ध्वान्तस्याज्ञानस्य प्रबंधः समूहः तस्य स्थितिः । २१. पूजां । २२. परिकल्पयामि ।

येषामन्तस्तत्त्वामृतरसास्वादमन्दप्रचारे[1] क्षेत्राधीशे विगलितनिखिलारम्भसंभोगभावः ।
ग्रामोऽक्षाणामुषित[2] इवाभाति योगीश्वराणां कुर्मस्तेषां कलमसदकैः[3] पूजनं निर्ममाणाम्[4] ॥ ६१ ॥
[5]देहारम्भेऽप्युपरतधियः सर्वसंकल्पशान्तेर्येषामूर्मि[6]स्मय[7]विरहिता मुक्तिधामामृताप्तेः ।
आत्मात्मीयानुगमविगमाद्वृत्तयः शुद्धबोधास्तेषां पुष्पैश्चरणकमलान्यर्चयेयं शिवाय ॥ ६२ ॥
येषामङ्गे मलयजरसैः संगमः कर्दमैर्वा स्त्रीभिर्बिब्बोकैः[8] पितृवनचिताभस्मभिर्वा समानः ।
मित्रे शत्रावपि च विषये[9] निस्तरङ्गो[10]ऽनुषङ्ग[11]स्तेषां पूजाव्यतिकरविधावस्तु भूत्यै हविर्वः[12] ॥६३॥
योगाभोगाचरणचतुरे [13]दीर्णकन्दर्पदर्पे स्वान्ते ध्वान्तोद्धरणसविधे[14]ऽथ ज्योतिरुन्मेष[15]भाजि ।
[16]संमोदेतामृतभृत इव श्रेऽन्तरात्मोऽन्तरर्चयेषां तेषु क्रमपरिचयात्स्याच्छ्रिये वः प्रदीपः ॥६४॥

विशुद्ध आत्मारूपी आकाश में धर्मध्यानरूपी सूर्य प्रकर्ष को प्राप्त हो जाने पर जिनका हृदय कमल हर्ष से निश्चलता प्राप्त करता है, अर्थात्—आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता है और तत्त्वदर्शन व तत्त्वज्ञान से जिनके अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को स्थिति नष्ट हो चुकी है, उनके चरणों की चन्दन से पूजा करता हूँ ॥ ६० ॥

हम ममत्व-रहित ऐसे आचार्यों की अक्षतों (धान्य तण्डुलों) से पूजा करते हैं, जिनकी आत्मारूप, अध्यात्मरूपी अमृतरस के पान करने से बाह्य अनात्मीय पदार्थों में मन्द गतिवाली हो जाने पर जिनका इन्द्रिय-समूह, जिससे समस्त आरम्भ व काम-क्रीड़ा नष्ट हो चुकी है, ऊजड़ हुआ-सरीखा शोभायमान हो रहा है ॥ ६१ ॥ मैं ऐसे आचार्यों के चरणकमलों की मोक्ष प्राप्ति के लिए पुष्पों से पूजा करता हूँ, समस्त संकल्पों (कामनाओं) के शान्त हो जाने से जो शरीररूपी परिग्रह में भी विरक्त बुद्धिवाले हैं, मोक्षस्थानरूपी अमृत की प्राप्ति हो जाने से जिनकी क्षुधा व तृषा-आदि की पीड़ा का सहन गर्व-रहित है और आत्मा में भी अपनेपन की भावना की उत्पत्ति के नष्ट हो जाने से जिनकी वृत्तियाँ शुद्ध बुद्धि वाली हो गई हैं ॥ ६२ ॥ ऐसे उन आचार्यों की पूजा की उत्सव विधि में अर्पण किया हुआ नैवेद्य तुम्हारी विभूति के लिए हो, जिन्हें अपने शरीर पर लगाया गया मलयागिर चन्दन का लेप अथवा कीचड़ों का लेप एक सरीखा है, अर्थात्—क्रम से हर्ष व विषाद के लिए नहीं है व जिन्हें स्त्रियों के विलास या श्मशान भूमि की चिता की राख समान है एवं मित्र व शत्रु के दृष्टिगोचर होने पर जिनका आशय कल्लोल-रहित (राग-द्वेष-शून्य) है, अर्थात्—जो मित्र से अनुराग व शत्रु से द्वेष नहीं करते ॥ ६३ ॥

जिनका मन जब ऐसा विशुद्ध हो जाता है, जो कि विस्तृत योगों (ध्यानों) के पालन करने में प्रवीण है और कामदेव का गर्व विदीर्ण करनेवाला है एवं अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने में तत्पर है; क्योंकि उसमें ज्ञानरूपी ज्योति उत्पन्न हो चुकी है, तब जिनकी अन्तरात्मा अमृतरस से भरी हुई-सी या चन्द्र-सी विशेष आनन्दित होती है, उनके चरणों की पूजा के लिए अर्पित किया गया दीप तुम्हारी श्री-वृद्धि के लिए हो ॥ ६४ ॥

---

१. क्षेत्राधीशे। २. उद्वस इव । ३. 'अक्षतैः' टि० ख० 'सदकास्तण्डुलाः' इति पं० । ४. ममत्वरहितानां । ५. आरामः परिग्रहः । *. 'देहारम्भे' इति ग० । ६. 'ऊर्मिः पीड़ाजवोत्कण्ठा भङ्गप्रकाशवीचिषु क्षुत्पिपासादिपीड़ा' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'ऊर्म्मयः क्षुत्पिपासादयः' इत्याह । ७. गर्व । ८. विलासैः । ९. इन्द्रियगोचरे । १०. निष्कल्लोलः । ११. 'संगतिः' इति टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'अनुषङ्गः आशयः' इति प्रोक्तं । १२. नैवेद्यं । १३. विदारित । १४. समीपे । १५. प्रादुर्भाव । १६. हृष्येत ।

येषां [1]ध्येयाशयकुवलयानन्दचन्द्रोदयानां बोधाम्भोधिः [2]प्रमदसलिलैर्माति नात्मावकाशे ।
लब्ध्वाप्येतामखिलभुवनैश्वर्यलक्ष्मीं निरीहं चेतस्तेषामयमपचितौ[3] श्रेयसे वोऽस्तु धूपः ॥६५॥
[4]चित्ते चित्ते विशति करणेष्वन्तरात्मस्थितेषु [5]स्रोतः स्यूते [6]बहिरखिलतो व्याप्तिशून्ये[7] च पुंसि ।
येषां ज्योतिः किमपि परमानन्दसंदर्भ[8]गर्भं जन्मच्छेदि प्रभवति[9] फलैस्तेषु कुर्मः सपर्याम् ॥६६॥
वाग्देवतावर इवायमुपासकानामागामि[10]तत्फलविधाविव पुण्यपुञ्जः ।
लक्ष्मीकटाक्ष[11]मधुपागमनैकहेतुः पुष्पाञ्जलिर्भवतु तच्चरणार्चनेन ॥६७॥ (इत्याचार्यभक्तिः)

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः ।

इदानीं ये [12]कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नापनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् षट् प्रोवाहरिष्यामः । तथाहि—

श्रीकेतनं वाग्वनितानिवासं पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम् । स्वर्गापवर्गागमनैकहेतुं जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥६८॥
भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः [13]पुण्यामृतेन च तनौ नितरां पवित्रः ।
श्रीमण्डपे विविधवस्तुविभूषितायां वेद्यां जिनस्य [14]सवनं विधिवत्तनोमि ॥६९॥

ऐसे उन आचार्यों की पूजा में अर्पण किया हुआ धूप आप लोगों के कल्याण के लिए हो, जो भव्यजनरूपी कुवलय (नीलकमल व पक्षान्तर में पृथिवी-मण्डल) को आनन्दित या विकसित करने के लिए चन्द्रमा के उदय सरीखे हैं, जिनका ज्ञानरूपी समुद्र हर्षरूपी जल राशि से आत्मारूपी स्थान में नहीं समाता एवं समस्त लोक की ऐश्वर्य लक्ष्मी प्राप्त करके भी जिनका चित्त निस्पृह (लालसा-शून्य) है ॥६५॥ हम ऐसे उन आचार्यों की फलों से पूजा करते हैं, जिनकी चित्तवृत्ति, जब चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन हो जाती है और जिनकी समस्त इन्द्रियाँ जब अन्तरात्मा में लीन हो जाती हैं एवं इन्द्रियों के प्रवाह वाली आत्मा जब अविच्छिन्नता से समस्त बाह्य प्रपंचों से रहित हो जाती है तब जिन्हें ऐसी कोई अनिर्वचनीय ज्ञानज्योति उत्पन्न होती है, जिसके मध्य में उत्कृष्ट आनन्द की सृष्टि है, और जो जन्म-परम्परा के छेदन करने में समर्थ होती है ॥ ६६ ॥ ऐसी यह पुष्पाञ्जलि उस आचार्य के चरणों की पूजा करने से ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—यह सरस्वती देवी का वरदान ही है और मानों—यह भविष्य में प्राप्त होनेवाले पूजा के फल के लिए पुण्य-समूह ही है, श्रावकों की लक्ष्मी के कटाक्षरूपी भ्रमरों के आगमन का कारण हो ॥ ६७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में पूजा विधि का बतलानेवाला पैंतीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

अब हम जिनबिम्ब की पूजा की प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकों को उद्देश्य करके अभिषेक, पूजन, स्तुति, जप, ध्यान व श्रुतदेवता की आराधना इन छह विधियों को कहेंगे—

अभिषेक विधि

मैं ऐसे जिनेन्द्रदेव के अभिषेक के गृह (जिनमन्दिर) में प्रविष्ट होता हूँ, जो लक्ष्मी देवी का गृह है, श्रुतदेवता का निवास-स्थान है व देवपूजादि करनेवाले श्रावकों के पुण्यार्जन का खेत है तथा स्वर्ग व मोक्षप्राप्ति का मुख्य कारण है ॥ ६८ ॥ मैं विशुद्ध परिणामरूपी जल से अपनी मानसिक शुद्धि प्राप्त करके और पवित्र जल

---

१. ध्येयाशयः भव्यजनः । २. हर्ष । ३. पूजायां । ४. आत्मनि चैतन्यरूपे । ५–७. स्रोतः प्रवाहेन्द्रिययोः अविच्छिन्नतया बाह्यप्रपञ्चरहिते पुंसि । ८. रचना । ९. उत्पद्यते ज्योतिः । १०. पूजा । ११. कटाक्षाः एव भ्रमराः । १२. जिनबिम्ब । १३. पवित्रजलेन । १४. 'सवः अभिषेकः' इति पञ्जिकाकारः ।

[1]उदङ्मुखः स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् । पूजाक्षणे भवेन्नित्यं यमी वाचंयमक्रियः ॥७०॥
[2]प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम् । पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥७१॥
यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो येनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते ।
यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना यस्मिन्नैष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनम् ॥७२॥
[3]धौतोपलेपवपुषो न मलानुषङ्गस्त्रैलोक्यपूज्यचरणस्य कुतः 'परोऽर्घ्यः'[4] ।
मोक्षामृते धृतधियस्तव नैव[5] कामः स्नानं ततः [6]कमुपकारमिदं तनोतु ॥७३॥
तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुवेऽभिषवं तव । को नाम सूपकारार्थं फलार्थी विहतोद्यमः ॥७४॥

(इति प्रस्तावना)

[8]रत्नाम्बुभिः [9]कुशकृशानुभिरात्त[10]शुद्धौ भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य[11] ।
कुर्वे [12]प्रजापतिनिकेतनदिङ्मुखानि दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि[13] ॥७५॥

द्वारा शरीर में अत्यन्त पवित्र होकर अर्थात्—सकलीकरण व अङ्गन्यास करके श्रीमण्डप में अष्ट मङ्गल द्रव्यों (छत्र व चमर-आदि) से अलंकृत हुई वेदी पर श्री जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक यथाविधि विस्तारित करता हूँ ॥ ६९ ॥ ऐसी प्रतिज्ञा करके पूजा करनेवाला श्रावक स्वयं उत्तर दिशा की ओर मुँह करके खड़ा हो और जिनबिम्ब का मुख पूर्व दिशा की ओर करके स्थापित करे एवं पूजा के समय सदा संयमी (प्राणि-रक्षा करने वाला और इन्द्रियों को काबू में करनेवाला) और मौन रखनेवाला, अर्थात्—पूजा-मन्त्रों के उच्चारण के सिवा दूसरों से भाषण न करनेवाला होवे ॥ ७० ॥

देवपूजा के छह विधि-विधान हैं—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाफल ॥७१॥

प्रस्तावना

मैं उस जिनेन्द्रदेव का अभिषेक प्रारम्भ करता हूँ, जो लक्ष्मी के जन्म के लिए समुद्र-सरीखे हैं, जिसे योगीजन अपने मन में चिन्तवन करते हैं, जिसके द्वारा यह समस्त लोक स्वामी-युक्त है, जिसके लिए समस्त देव-समूह नमस्कार करते हैं, जिससे द्वादशाङ्ग श्रुत का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी प्रसन्नता से मानव पुण्यशाली होते हैं और जिसमें संसार का कारण कर्म-संबंध (राग, द्वेष व मोहादि) नहीं है ॥७२॥ हे प्रभो ! आपके शरीर से आगन्तुक मल के नष्ट हो जाने से आपका मैल से कोई संबंध नहीं है, तीन लोक द्वारा पूजनीय चरण-कमल-वाले आपके दधि व दुग्ध-आदि प्रमुख पदार्थ पूज्यता के पात्र पवित्र किस प्रकार हो सकते हैं। इसी प्रकार मोक्षरूपी अमृत में स्थापित की हुई बुद्धिवाले आपमें जब किसी प्रकार की वाञ्छा नहीं है तब यह अभिषेक आपका क्या उपकार कर सकता है ? ॥ ७३ ॥ तथापि मैं अपने पुण्य-संचय के लिए आपका अभिषेक आरम्भ करता हूँ; क्योंकि कौन धान्य-आदि फल का इच्छुक मानव धान्य-आदि व्यञ्जनों के लिए अपना प्रयत्न नष्ट करनेवाला होगा ? ॥ ७४ ॥

[इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ । आगे पुराकर्म कहते हैं]

---

१. उत्तरदिक् । २. 'स्नापनकरणे योग्यतास्थापनं प्रस्तावना प्रस्तावः' टि० ख०, 'स्नापनकरणे योग्यतास्थापनं प्रस्तावना टि० च०, घ० । ३. विगतागन्तुकमलस्य तव । ४. दुग्धदधिप्रमुखपदार्थः । ५. पूज्यतापात्रं पवित्रः कथं ?।' ६. वाञ्छा न । ७. अपि तु न कमपि । ८. रत्नसहितजलैः कुम्भमध्ये भृङ्गारे वा पञ्चरत्नं क्षिप्यते, मुद्रापण । ९. दर्भाग्निप्रक्षालनं । १०. गृहीत । ११. सिक्त्वा । १२. 'ब्रह्मस्थान—पीठस्थानप्रमुखानि' टि० ख०, 'ब्रह्मस्थान-प्रमुखानि' टि० च०, 'प्रजापतिनिकेतनं ब्रह्मस्थानं' इति पञ्जिकायां । १३. गुम्फितानि ।

[1]पाथःपूर्णान्कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् । दुग्धाब्धीनिव निदधे प्रवालमुक्तोल्बणांश्चतुरः ॥७६॥
[इति पुराकर्म]

यस्य स्थानं त्रिभुवनशिरःशेखराग्रे निसर्गात्तस्यामर्त्यक्षितिभृति[2] भवेन्नाद्भुतं स्नानपीठं[3] ।
लोकानन्दामृतजलनिधेर्वारि यत्तत्सुधात्वं धत्ते यत्ते सवनसमये तत्र विस्मीयते कः ॥७७॥
तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे [4]पवित्रवपुषि प्रतिकल्पितार्घे[5] ।
[6]लक्ष्मी[7]श्रुतागमन[8]बीजविदर्भगर्भे [9]संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥७८॥ (इति स्थापना)
सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु [10]पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात् ।
इन्द्रस्त्वहं तव [11]सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥७९॥ (इति सन्निधापनम्)

पुराकर्म

रत्न-सहित जलों (जल से भरे हुए कलश-आदि में पंचरत्न क्षेपण किये जाते हैं—मुद्रार्पण) से व दर्भाग्नि के प्रज्वालन से गृहीत शुद्धिवाली जिनेन्द्र को अभिषेक-भूमि में दुग्ध से धरणेन्द्रों को सन्तुष्ट करके ब्रह्म-स्थान (सिंहासन) की पूर्व-आदि दश दिशाओं को दूर्वा, अक्षत, पुष्प व डाभों से गुम्फित करते हैं ॥ ७५ ॥ मैं वेदी के चारों कोनों में आम्रादि के पल्लवों से और पुष्पों से पूजित व जल से भरे हुए चार घटों को स्थापित करता हूँ, जो कि मूँगों और मोतियों की मालाओं से युक्त होने के कारण क्षीर समुद्र-सरीखे हैं ॥ ७६ ॥

[इस प्रकार पुराकर्म विधि समाप्त हुई]

स्थापना

जिस जिनेन्द्र का निवासस्थान स्वभाव से ही तीन लोक के मस्तक (सर्वार्थसिद्धि विमान) के ऊपर मुकुट-सरीखी सिद्ध शिला के ऊपर है, उसके अभिषेक का सिंहासन सुमेरुपर्वत पर है, इसमें आश्चर्य नहीं है। इसीतरह हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे अभिषेक के समय लोक के आनन्दरूपी क्षीरसमुद्र का यह जल यदि अमृत-पना प्राप्त करता है तो इसमें कौन आश्चर्य करता है ? ॥ ७७ ॥

मैं ऐसे सिंहासन पर तीन लोक के स्वामी जिनेन्द्रदेव को स्थापित करता हूँ, जो कि मणि-जड़ित सुवर्ण कलशों से लाये हुए पवित्र जलों से प्रक्षालित किया गया है व जिसके लिए पूर्व में अर्घ-प्रदान किया गया है एवं जिसका मध्यभाग लक्ष्मी व सरस्वती के बीजों द्वारा श्रीं ह्रीं का गुम्फन किया गया है, अर्थात्—जिसके मध्य में अक्षतों से श्रीं ह्रीं लिखे गये हैं ॥ ७८ ॥

[इस प्रकार स्थापना-विधि समाप्त हुई]

संनिधापन

यह जिनबिम्ब ही निस्सन्देह वही समवसरण में विराजमान साक्षात् जिनेन्द्रदेव है व यह सिंहासन ही सुमेरु है एवं कलशों में भरा हुआ यह पवित्र जलपूर ही साक्षात् क्षीर सागर का जलपूर है तथा तुम्हारे अभिषेकरूपी अलङ्कार की शोभा के संबंध से इन्द्र का रूप धारक मैं ही साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक

१. जल । २. 'मेरौ' ख०, 'सुरशैले' पं० । ३. सिंहासनं । ४. जलैः प्रक्षालिते । ५. पीठस्यापि पूर्वं अर्घः प्रदीयते । ६. 'श्रीं' । ७. ह्रीं । ८. अक्षतैः श्रींकारो लिख्यते न तु गन्धेन । ९. 'गुम्फित, मिश्रित ।' इति टि० ख०, 'लक्ष्मीश्रुतागमनबीजैः श्रीसरस्वतीबीजैः 'श्रीं, ह्रीं' इति पं० । १०, पीठमेव मेरुः । ११. 'सवः अभिषेकः' इति पं० ।

[1]यागेऽस्मिन्नाकनाथ ज्वलन [2]पितृपते [3]नैगमेय [4]प्रचेतो
वायो [5]रैदेशशेषोडु[6]पसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्राः ।
मन्त्रैर्भूः स्वः स्वधाद्यैरधिगतबलयः[7] स्वासु दिक्षूपविष्टाः ।
[8]क्षेपीयः क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवोत्साहिनां विघ्नशान्तिम् ॥८०॥
[9]देहेऽस्मिन्विहितार्चने मिषति [10]प्रारब्धगीतध्वनावातोद्यैः स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चानन्दिनि प्राङ्गणे ।
मृत्स्नागोमय[11]भूतिपिण्ड[12]हरिताद्भर्भप्रसूनाक्षतैरम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजनां प्रस्तुवे ॥८१॥
[13]पुण्यद्रुमश्चिरमयं नवपल्लवश्रीश्चेतःसरः[14] [15]प्रमदमन्दसरोजगर्भम् ।
वागापगा च मम दुस्तरतीरमार्गा स्नानामृतैर्जिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदैः ॥८२॥
द्राक्षाखर्जूर[16]चोचेक्षु[17]प्राचीनामलकोद्भवैः । राजादनाम्रपूगोत्थैः[18] स्नापयामि जिनं रसैः ॥८३॥

महोत्सव की शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी ? ॥ ७९ ॥

[इस प्रकार सन्निधापन विधि पूर्ण हुई]

पूजा

इस अभिषेक महोत्सव में, हे रक्षण-चतुर इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईश, धरणेन्द्र तथा चन्द्र ! तुम लोग, जो कि ग्रहों (सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनैश्चर, रवि, राहु व केतु) की प्रमुखता वाले हो, अपने परिवार के साथ आकर और 'भूः स्वः स्वधा-आदि मन्त्रों के द्वारा बलि (नैवेद्य) प्राप्त किये हुए होकर अपनी-अपनी दिशाओं (पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण-आदि) में स्थित होकर शीघ्र ही जिनेन्द्र की अभिषेक-विधि में उत्साहित हुए पुरुषों की विघ्न-शान्ति करो।

भावार्थ—जिनेन्द्र की अभिषेक-विधि की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आचार्यश्री ने उक्त दिक्पालों व ग्रहों का स्मरण मात्र किया है न कि उनकी पूजा की है ॥ ८० ॥

जिनेन्द्र-शरीर के पूजित हो जाने पर, भव्यों को प्रमुदित करनेवाले जिनमन्दिर के आँगन में, जो कि बाजों व स्तुतिपाठकों के मांगलिक शब्दों से गूँज रहा है एवं जिसमें गीतों की ध्वनि आरम्भ हो चुकी है, मैं प्रशस्त मिट्टी, जमीन पर न पड़ा हुआ गोबर-पिण्ड, भस्म-समूह, दूर्वा, दर्भ (कुश), पुष्प, अक्षत, जल तथा चन्दन से जिनेन्द्र भगवान् की नीराजना (आरती) करता हूँ ॥ ८१ ॥

जिनेन्द्रप्रभु के तीन लोक को प्रमुदित करनेवाले अभिषेक जलों से मेरा यह पुण्यरूपी वृक्ष चिरकाल तक नवीन पल्लवों की शोभा-युक्त हो और मेरे चित्तरूपी तडाग के मध्य में हर्षरूपी यथेच्छ कमल विकसित हों एवं मेरी वाणीरूपी नदी के तट का मार्ग दुस्तर हो, अर्थात्—उसे कोई पार न कर सके ॥ ८२ ॥

मैं मुनक्कादाख, खजूर, नारियल, ईख, पका आँवला, राजादन (चिरौंजी या खिरनी) आम्र व सुपारी के रसों से जिनेन्द्र का अभिषेक करता हूं ॥ ८३ ॥

---

१. स्नापनविधौ। २. हे यम !। ३. हे नैऋते !। ४. हे वरुण !। ५. हे धनद !। ६. हे सोम ! (चन्द्र !)। ७. अधिगता प्राप्ता बलिर्यैस्ते। ८. शीघ्रं। ९. जिनदेहे नीराजनां प्रारंभे। १०. सति। ११. भस्म। १२. दूर्वा। १३. भवतु इत्यध्याहार्यं। १४. चित्तमेव तडागं। १५. हर्षं। १६. नालिकेरं। १७. 'पक्व' टि० ख०, 'प्राचीनामलकं पक्वफलविशेषः' इति पं०। १८. पूगं क्रमुकं।

आयुः प्रजासु परमं भवतात्सदैव धर्मावबोध[1]सुरभिश्चिरमस्तु भूपः ।
पुष्टिं विनेयजनता वितनोतु कामं [2]हैयंगवीनस्नपनेन जिनेश्वरस्य ॥८४॥
येषां कर्मभुजङ्गनिर्विषविधौ बुद्धिप्रबन्धो नृणां येषां जातिजरामृतिव्युपरमध्यानप्रपञ्चाग्रहः ।
येषामात्मविशुद्धबोधविभवालोके सतृष्णं मनस्ते धारोष्णपयःप्रवाहधवलं ध्यायन्तु जैनं वपुः ॥८५॥
जन्मस्नेहच्छिदपि जगतः [3]स्नेहहेतुर्निसर्गा [4]त्पुण्योपाये [5]मृदुगुणमपि [6]स्तब्धलब्धात्मवृत्तिः ।
चेतोजाड्यं हरदपि दधि प्राप्तजाड्यस्वभावं[7] जैनस्नानानुभवनविधौ मङ्गलं वस्तनोतु ॥८६॥
एलालवङ्गकङ्कोल[8]मलयागरुमिश्रितैः । पिष्टैः [9]कल्कैः [10]कषायैश्च जिनदेहमुपास्महे ॥८७॥
[11]नन्द्यावर्तस्वस्तिकफलप्रसूनाक्षताम्बुकुशपूर्णैः । अवतारयामि देवं जिनेश्वरं [12]वर्धमानैश्च ॥८८॥

जिनेन्द्र के घृताभिषेक से प्रजाजनों की आयु सदैव चिरकालीन हो, राजा चिरकाल तक धार्मिक ज्ञान की सुगन्धि-युक्त (गुणवान्) हो एवं शिष्यजन-समूह (भव्य-समूह) यथेष्ट समृद्धि विस्तारित करे ॥ ८४ ॥

जिन मानवों की बुद्धि की अविच्छिन्नता (सातत्य), कर्मरूपी सर्पों को निर्विष करने में प्रवृत्त है और जिनका जन्म, जरा व मरण के दुःखों को नष्ट करनेवाले धर्मध्यान के विस्तार में प्रगाढ़ अनुराग है एवं जिनका मन आत्मिक विशुद्ध केवलज्ञानरूपी ऐश्वर्य के दर्शन के लिए उत्कण्ठित है, वे धारोष्ण दूध के प्रवाह से शुभ्र हुए जिनेन्द्र प्रभु के शरीर का ध्यान करें ॥ ८५ ॥

दही संसार के जन्म संबंधी स्नेह (प्रेम—अनुराग) को नष्ट करनेवाला होकर के भी स्वभाव से स्नेह (प्रेम) का कारण है। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो स्नेह को नष्ट करनेवाला है, वह स्नेह का कारण कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि दही जिनेन्द्रप्रभु के अभिषेक के माहात्म्य से जगत की जन्मपरम्परा के स्नेह (अनुराग) को नष्ट करनेवाला है और अपि (निश्चय से) वह स्वभाव से स्नेह (घी) का कारण है। इसी प्रकार दही दान के अवसर पर मृदुगुणमपि (कोमल होकर के भी) स्तब्धलब्धात्मवृत्ति (गर्व-युक्त—सदर्प नहीं है) किन्तु कठिन है। यहाँ पर भी विरोध मालूम पड़ता है; क्योंकि जो कोमल प्रकृति है वह कठिन कैसे हो सकता है, ? अतः इसका परिहार यह है कि जो मृदुगुणमपि (कोमल स्वभाववाला है) और अपि (निश्चय से) स्तब्धलब्धात्मवृत्ति है (कठिन—स्थिर-होकर ही जन्म प्राप्त करता है—जमता है) इसी प्रकार जो चेतोजाड्यं हरदपि (चित्त की जड़ता—मूर्खता नष्ट करनेवाला) होकर के भी प्राप्तजाड्यस्वभावं (मूर्खता-प्राप्त करनेवाला) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि मूर्खता-शून्य में मूर्खता किस प्रकार हो सकती है ? अतः इसका समाधान यह है कि जो चेतोजाड्यं हरत् (चित्त की जड़ता—आलस्य) नष्ट करनेवाला है और अपि (निश्चय से) प्राप्तजाड्यस्वभावं (सघनता प्राप्त करनेवाला या जलस्वभाव) है, ऐसा दही जिनेन्द्र-प्रभु के अभिषेक के माहात्म्य से तुम्हारा कल्याण विस्तारित करे ॥ ८६ ॥

हम इलायची, लौंग, कङ्कोल (सुगन्धि जड़ी बूटी), चन्दन व अगुरु इनके चूर्णों के कल्कों (सुगन्धि जलों) से और पकाकर तैयार किये हुए इनके काढ़ों से जिनेन्द्रदेव के शरीर की उपासना करते हैं ॥ ८७ ॥

---

१. सुगन्धः गुणवानित्यर्थः । २. घृतं । ३. पक्षे घृतं । ४. दाने । ५. कोमल सुहालूं ? । ६. सदर्पं न किन्तु कठिनं वर्तते । ७. मूर्खत्वं न किन्तु सघनं । ८. मलयं चन्दनं । ९. त्वक्चूर्णैः । १०. पंचप्रकारत्वक्क्वाथैः ।

११. आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक् कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनम् ।* सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥
—सागारधर्मा० अ० ६ ।

*. एलादिचूर्णकल्ककषायैरुद्वर्त्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतारणं । —संस्कृत टी० सागार० धर्मा० अ० ६ । १२. शरावपुटैः ।

ॐ भक्तिभरविनम्रोरगनरसुरासुरेश्वरशिरःकिरीटकोटिकल्पतरुपल्लवायमानचरणयुगलम्, अमृताशनाङ्गनाकरविकीर्यमाणमन्दारनमेरुपारिजातसंतानकवनप्रसूनस्यन्दमानमकरन्दस्वादोन्मदमिलन्मत्तालिकुलप्रलापोत्तालित[1] निलिम्पालप्ति[2]व्यापारितमम्, अम्बरचरकुमारहेलास्फालितवेणुवल्लकीपणवानकमृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरी[3]झम्भाप्रमुख्यनवधि[4]घन[5]शुषिर[6]तताव[7]नद्धवाद्यनादनिवेदितनिखिलविष्टपाधिपोपासनावसरम्, अनेकामर[8]विकिरकुलकीर्णकिसलयाशोकानोकुहोल्लसत्प्रसवपरागपुनरुक्तसकल[9]दिक्पाल*हृदयरागप्रसरम्, अखिलभुवनैश्वर्यलाञ्छनातपत्रत्रय[10]शिखण्डमण्डनमणिमयूखरेखालिख्यमान[11]मखमुखरखेचरी[12]भालतलतिलकपत्रम्, अनवरतयक्षविक्षिप्यमाणोभयपक्षचामरपरम्पराशुभ्रालयवलितविनेयजनमनःप्रासादचरित्रम्, अशेषप्रकाशितपदार्थातिशायिशारीरप्रभापरिवेषमुषित[13]परिषत्सभास्तार[14]मतितिमिरनिकरम्, अनवधिवस्तुविस्तारात्मसाक्षात्कारासारविस्फारितसरस्वतीतरङ्गसङ्गसंतर्पितसमस्तसत्त्वसरोजाकरम्,

---

नन्द्यावर्तक, स्वस्तिक, फल, पुष्प, अक्षत, जल और कुश-समूह से तथा सराव पुटों (सकोरों) से जिनेन्द्रप्रभु को अवतारित करता हूँ ॥ ८८ ॥

जिनके चरणयुगल भक्ति के भार से नम्रीभूत हुए धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, इन्द्र व असुरेन्द्रों के मस्तकों पर धारण किये हुए मुकुटों के अग्रभाग पर कल्पवृक्ष के पल्लव-सरीखे आचरण करते हैं। जिन्होंने ऐसे मतवाले भ्रमर-समूह की गुञ्जायमान ध्वनि से उत्कण्ठित किये गए देवों के गले संगीत करने के व्यापार-युक्त किये हैं, जो कि देवियों के हस्तों द्वारा क्षेपण किये जा रहे मन्दार, नमेरु, पारिजात व सन्तानक कल्पवृक्षों के वनों के पुष्पों से प्रवाहित हो रहे पुष्परस का पान करने से मतवाले होकर एकत्रित हो रहे थे। जिन्होंने विद्याधरकुमारों द्वारा क्रीड़ापूर्वक बजाये जानेवाले बाँसुरी, वीणा, पणव (ढोल या तबला), भेरी, नगाड़ा, मृदङ्ग, शङ्ख, बड़ा ढोल, त्रिविल (वाद्यविशेष), ताल (मँजीरा), झाँझ, भेरी व झम्भा (हुडुक्का), आदि एवं बेमर्याद घन (तालादि), शुषिर (वंश-आदि), तत (वीणादि), अवनद्ध (मुरजादि) की ध्वनि द्वारा समस्त विश्व के स्वामियों (इन्द्र-आदि) के लिए उपासना करने का अवसर सूचित किया है। जिन्होंने अनेक देवों व पक्षि-समूह द्वारा क्षेपण की हुई कोंपलोंवाले अशोकवृक्षों की शोभायमान पुष्पधूलि से समस्त दिक्पालों के हृदयों का प्रेम-विस्तार द्वि-गुणित किया है। जिनके द्वारा स्तुति करने में वाचाल हुई विद्याधरियों के ललाट-तल की तिलकरचना, समस्त लोकों के ऐश्वर्य के चिह्नरूप तीन छत्रों के मस्तक पर अलंकृत हुई मणियों की किरण-पङ्क्ति द्वारा चित्रित की जा रही है। जिन्होंने शिष्यजनों के मनरूपी महल का चरित्र (आचरण व पक्षान्तर में मार्ग) निरन्तर यक्षजाति के देवों द्वारा दोनों बाजू ढोरी जानेवाली चामरों की श्रेणी के किरण-समूह से शुभ्र किया है। जिन्होंने समस्त प्रकाशशील पदार्थों को अतिक्रमण करनेवाले अपने शारीरिक कान्ति के परिवेश (घेरा) द्वारा समवसरणसभा के सभासदों को बुद्धि का अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह नष्ट किया है।

अनन्त पदार्थों के विस्तार को प्रत्यक्ष करनेवाले केवलज्ञानरूपी आसार (जलवृष्टि) से बढ़ी हुई सरस्वतीरूपी नदी की तरङ्गों के संसर्ग से जिन्होंने समस्त प्राणीरूपी कमल-समूह को अत्यन्त सन्तुष्ट किया है।

---

१. उत्सुकीकृत। २. गीत। ३. 'हुडुक्का' पं०, 'गफेरी' टि० ख०। ४. तालादिकं। ५. वंशादि। ६. वीणादि। ७. मुरजादि। ८. पक्षी। ९. नृप। *. 'हृदयपरागप्रसरं' क०। १०. मस्तक। ११. स्तुति। १२. ललाटं। १३. 'समज्यापरिषद्गोष्ठी सभा समितिसंसदः। आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः' ॥ टि० ख०, 'परिषत् समवसरणसभा' इति पं०। १४. 'सभासदः सभास्तारः सभ्याः सामानिकाश्च ते।' टि० ख०, 'बुधाः' इति पं०।

[1]इभारातिपरिवृढोपवाह्यमानासनावसानलग्नरत्नकरप्रसरपल्लवितवियत्पादपाभोगम्, अनन्यसामान्यसमवसरणसभासीनमनुजदिविजभुजङ्गेन्द्रवृन्दवन्द्यमानपादारविन्दयुगलम्,

[2]मद्भाविलक्ष्मीलतिकावनस्य प्रवर्धनावर्जित[3]वारिपूरैः । जिनं चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भैर्नभःसदो[4]धेनुपयोधराभैः ॥८९॥

लक्ष्मीकल्पलते[5] समुल्लस जनानन्दैः परं पल्लवैर्[6]धर्माराम फलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो भव ।
[7]बोधाधीश विमुञ्च संप्रति मुहुर्दुष्कर्मघर्मक्लमं त्रैलोक्यप्रमदावहैर्जिनपतेर्गन्धोदकैः स्नापनात् ॥९०॥

शुद्धैर्विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकैः[8] । करोम्य[9]वभृथस्नानमुत्तरोत्तरसंपदे ॥९१॥

[10]अमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाह्वबीजे[11]कलादले [12]कमले । संस्थाप्य पूजयेयं त्रिभुवनवरदं जिनं विधिना ॥९२॥

जिन्होंने सिंह-स्वामी द्वारा धार्यमाण आसन (सिंहासन) के अन्त में जड़े हुए रत्नों की किरणों के प्रसार से आकाश रूपी विस्तृत वृक्ष को पल्लवित किया है एवं अनोखी समवसरणसभा में स्थित हुए चक्रवर्ती, इन्द्र व धरणेन्द्रों के समूह द्वारा जिनके दोनों चरणकमल वंदनीय किये जा रहे हैं।

जिनमें मेरी भविष्य में होनेवाली लक्ष्मीरूपी लता के वन को वृद्धिगत करनेवाला जलपूर ग्रहण किया गया है (भरा गया है) व जिनकी कान्ति देवों की कामधेनु के स्तनों-सरीखी शुभ्र है, ऐसे चार कलशों से पूर्वोक्त जिनेन्द्रप्रभु का अभिषेक करता हूँ* ॥ ८९ ॥

जिनेन्द्रप्रभु के तीन लोक को आनन्ददायक गन्धोदकों के अभिषेचन से हे लक्ष्मीरूपी कल्पलता ! तुम मनुष्यों के आनन्दरूपी पल्लवों से उल्लास को प्राप्त हो जाओ। हे धर्मरूपी उद्यान ! तुम फलों से अत्यन्त मनोज्ञ होकर भव्य प्राणियों द्वारा सेवनीय हो जाओ और हे ज्ञानवान् आत्मा ! तुम अब दुष्कर्मरूपी सन्ताप को ग्लानि को बार बार छोड़ो ॥ ९० ॥

मैं केवलज्ञानी जिनेन्द्रप्रभु का शुद्ध व श्रेष्ठ जलों से अभिषेक करके सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए यज्ञान्तस्नान (अभिषेक करने के पश्चात् स्नान करके अष्टप्रकारी पूजा की जाती है, यह क्रम है) करता हूँ ॥ ९१ ॥

मैं, सोलह पांखुड़ीवाले, जिन (पांखुड़ियां) में अकार-आदि सोलह स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) लिखकर चिन्तवन किये गए हैं, कमल पर, जिसकी कर्णिका पकार (प व्यञ्जन) से निर्मित हुई है, अर्थात्—जिसकी कर्णिका में पकार लिखकर चिन्तवन किया गया है, जिसके (कर्णिका के) मध्य अपना नाम स्थापित किया गया है, अर्थात्—जिसमें विशुद्ध आत्मद्रव्य या अर्हन्तप्रभु या ह्रीं को स्थापित करके चिन्तवन किया गया है, तीन लोक को अभिलषित वस्तु देनेवाले जिनेन्द्रप्रभु को विधि पूर्वक स्थापित करके उनकी पूजा करता हूँ।

भावार्थ—शास्त्रकारों ने धर्मध्यान के चार भेद निर्दिष्ट किये हैं। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

---

१. सिंहः । २. मम । ३. उपात्तः । ४. कामधेनुः । ५. हे त्वमुल्लासं प्राप । ६. सह । ७. हे आत्मन् ! । ८. 'मेघजलैः तड़ागादानीतैः' टि० ख०, 'उत्तरोदकैः मेघोदकैः हंसोदकैर्वा' इति पं० । ९. यज्ञान्तस्नानं, अभिषेके कृते सति पुनः स्नात्वा पश्चादष्टप्रकारी पूजा क्रियते इति क्रमः । १०-११-१२. 'पकारेण (पवर्ण) कर्णिका क्रियते, तन्मध्ये स्वकीयं नाम निक्षिप्यते, षोडशदलेषु अकारादयः स्वराः लिख्यन्ते' टि० ख० घ० च० । 'अमृतं पवर्णः, कला अकारादयः षोडश' इति पं० । *. रूपक व उपमालंकारः ।

पिण्डस्थ ध्यान में विवेकी व संयमी धार्मिक पुरुष को पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्वरूपवती इन पाँच धारणाओं—ध्येयतत्वों—का ध्यान, दुःखों की निवृत्ति के लिए करना चाहिए।

पार्थिवी धारणा में मध्यलोकगत स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त तिर्यग्लोक के बराबर, निःशब्द, तरङ्गों से रहित और बर्फ-सरीखा शुभ्र ऐसे क्षीर समुद्र का ध्यान करे। उसके मध्य में सुन्दर रचना-युक्त, अमित दीप्ति से सुशोभित, पिघले हुए सुवर्ण के समान प्रभा-युक्त, हजार पत्तोंवाला, जम्बूद्वीप के बराबर और मनरूपी भ्रमर को प्रमुदित करनेवाला ऐसे कमल का चिंतवन करे। तत्पश्चात् उस कमल के मध्य में सुमेरुपर्वत के समान पीतरंग की कान्ति से व्याप्त ऐसी कर्णिका का ध्यान करे। पुनः उसमें शरत्कालीन चन्द्र-सरीखा शुभ्र और ऊँचे सिंहासन का चिन्तवन करके उसमें आत्मद्रव्य को सुखपूर्वक विराजमान, शान्त और क्षोभ-रहित, राग, द्वेष व मोह-आदि समस्त पाप कलङ्क को क्षय करने में समर्थ और संसार-जनित ज्ञानावरण-आदि कर्म-समूह को नष्ट करने में प्रयत्नशील चिन्तवन करे। इति पार्थिवी धारणा।

आग्नेयी धारणा में निश्चल अभ्यास से नाभिमंडल में सोलह उन्नत पत्तोंवाले एक मनोहर कमल का और उसकी कर्णिका में महामन्त्र (र्हं) का, तथा उक्त सोलह पत्तों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः इन सोलह अक्षरों का ध्यान करे।

पश्चात् हृदय में आठ पांखुड़ीवाले एक ऐसे कमल का ध्यान करे, जो अधोमुख (औंधा) हो और जिसपर ज्ञानावरण-आदि आठ कर्म स्थित हों।

पश्चात्-पूर्वचिन्तित नाभिस्थ कमल की कर्णिका के महामन्त्र की रेफ से मन्द-मन्द निकलती हुई धूम की शिखा का, और उससे निकलती हुई प्रवाहरूप स्फुलिङ्गों की पंक्ति का, पश्चात् उससे निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिन्तवन करे। इसके बाद उस ज्वाला (अग्नि) के समूह से अपने हृदयस्थ कमल और उसमें स्थित कर्म-समूह को जलाता हुआ चिन्तवन करे। इस प्रकार आठों कर्म जल जाते हैं, यह ध्यान की ही सामर्थ्य है।

पश्चात् शरीर के बाह्य ऐसी त्रिकोण वह्नि (अग्नि) का चिन्तवन करे, जो कि ज्वालाओं के समूह से प्रज्वलित वड़वानल के समान, अग्नि-बीजाक्षर 'र' से व्याप्त व अन्त में साथिया के चिन्ह से चिन्हित, ऊर्ध्व-मण्डल से उत्पन्न, धूम-रहित और सुवर्ण-सरीखी कान्ति-युक्त हो। इस प्रकार धगधगायमान फैलती हुई लपटों के समूह से देदीप्यमान बाहर का अग्निपुर, अन्तरङ्ग की मन्त्राग्नि को दग्ध करता है।

तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस नाभिस्थ कमल-आदि को भस्मीभूत करके दाह्य—जलाने-योग्य-पदार्थ का अभाव होने के कारण स्वयं शान्त हो जाता है। इति आग्नेयी धारणा—

मारुती धारणा में ध्यानी संयमी मनुष्य को, आकाश में पूर्ण होकर संचार करनेवाले, महावेगशाली, महाशक्तिशाली, देवों की सेना को चलायमान करनेवाला और सुमेरुपर्वत को कम्पित करनेवाला, मेघों के समूह को बखेरनेवाला, समुद्र को क्षुब्ध करनेवाला, दशों दिशाओं में संचार करनेवाला, लोक के मध्य में संचार करता हुआ और संसार में व्याप्त ऐसे वायु मंडल का चिन्तवन करे। तत्पश्चात् उस वायुमंडल द्वारा कर्मों के दग्ध होने से उत्पन्न हुई भस्म को उड़ाता हुआ ध्यान करे। पुनः उस वायु मंडल को स्थिर चिन्तवन कर उसे शान्त करे। इति मारुती धारणा।

वारुणी धारणा में ध्यानी मानव, ऐसे आकाशतत्त्व का चिन्तवन करे, जो कि इन्द्रधनुष और बिजली

पुण्योपार्जनशरणं[1] पुराणपुरुषं स्तवोचिताचरणम् । [2]पुरुहूतविहितसेवं [3]पुरुदेवं पूजयामि तोयेन ॥९३॥
[4]मन्मथमथनमनं मन्दरगिरिशिखरमज्जनावसरं । कन्द[5]सुमालतिकायाश्चन्दनचर्चाचितं जिनं कुर्वे ॥९४॥

[6]अवमतरुगहनदहनं निकामसुख[7]संभवामृतस्थानम् ।
आगमदीपालोकं कलमभवैस्तन्दुलैर्भजामि जिनम् ॥९५॥

[8]स्मररसविमुक्तसूक्ति विज्ञानसमुद्र[9]मुद्रिताशेषम् । श्रीमानसकलहंसं कुसुमशरैरर्चयामि जिननाथम् ॥९६॥

की गर्जना-आदि चमत्कारवाले मेघों के समूह से व्याप्त हो। इसके बाद अर्धचन्द्राकार, मनोज्ञ और अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश को बहाते हुए वरुणमंडल (जलतत्त्व) का ध्यान करके उसके द्वारा उक्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाली भस्म का प्रक्षालन करता हुआ चिन्तवन करे। इति वारुणी धारणा।

तत्त्वरूपवती धारणा में संयमी व ध्यानी पुरुष सप्तधातु-रहित, पूर्णचन्द्र के सदृश कान्ति-युक्त और सर्वज्ञ के समान अपनी विशुद्ध आत्मा का ध्यान करे। इति तत्त्वरूपवती धारणा।

इस प्रकार अभी तक पिण्डस्थ ध्यान का संक्षिप्त विवेचन किया गया है, अन्य पदस्थ-आदि का स्वरूप ज्ञानार्णव शास्त्र से जान लेना चाहिए।

विस्तार के भय से हम यहाँ उसका संकलन नहीं करते। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत पद्य में आचार्यश्री ने आग्नेयी व तत्त्वरूपवती धारणा का विवेचन करते हुए ध्यानार्थ पुरुष का निरूपण किया है * ॥९२॥

मैं ऐसे प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ भगवान् की जल से पूजा करता हूँ, जो कि पुण्योपार्जन के गृह हैं, जो पुराण पुरुष हैं, जिनका चारित्र स्तुति के योग्य है और जिनकी पूजा इन्द्रों द्वारा की गई है ॥ ९३ ॥ जो प्रचुर दर्पवाले काम का दमन करनेवाले हैं, जिनको सुमेरुपर्वत की शिखर पर अभिषेक का अवसर प्राप्त हुआ है और जो कीर्तिरूपी लता की जड़ हैं, उन जिनेन्द्रदेव को हम चन्दन के लेप से पूजित करते हैं ॥ ९४ ॥ मैं ऐसे जिनेन्द्र को धान्य-तण्डुलों (अक्षतों) से पूजा करता हूँ, जो दोष (राग-आदि) रूपी वृक्षों के वन को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखे हैं, जो अनंतसुख की उत्पत्ति के लिए मोक्ष-सदृश हैं और जिनमें आगम (द्वादशाङ्ग श्रुत) रूपी दीपक का प्रकाश वर्तमान है ॥ ९५ ॥

जिनकी सूक्तियाँ (वचन) राग से रहित हैं, जिन्होंने (केवलज्ञान) रूपी समुद्र द्वारा समस्त लोक को वेष्टित किया है और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवर के राजहंस हैं, उन जिनेन्द्र प्रभु की पुष्पों से पूजा करता हूँ ॥ ९६ ॥ मैं ऐसे अर्हन्त भगवान् की नैवेद्य से पूजा करता हूँ, जिनकी नीतियाँ—नय-अनन्त हैं, अर्थात्—जो

---

१. गृहम् । २. पुरुहूतः शक्रः । ३. आदिदेवं ।
४. प्रचुरदर्पखण्डितकाम । ५. कीर्ति । ६. दोषः । ७. संभवार्थं मोक्षसदृशं । ८. रागादिमुक्ता सूक्तिर्वचनं यस्य सः तं ।
९. वेष्टित ।

*. प्रस्तुत लेखमाला 'नीतिवाक्यामृत' (हमारी भाषा-टीका) आन्वीक्षिकीसमुद्देश पृ० १०१, १०२ से संकलन की गई है—सम्पादक

अर्हन्तमभिनतनीति निरञ्जनं मि[1]हिरमाधिदावाग्नेः। आराधयामि हविषा मुक्तिश्रीरमितमानसमङ्गजम् ॥९७॥
भक्त्या नतामराशयकमलवना[2]न्धतिमिरमार्तण्डम्।
जिनमुपचरामि दीपैः सकलसुखाराम[3]कामदमकामम् ॥९८॥
अनुपमकेवलवपुषं [4]सकलकलाविलयवर्तिरूपस्थम्। योगावगम्यमिलयं यजामहे [5]निखिलगं जिनं धूपैः ॥९९॥
स्वर्गापवर्गसंगतिविधायिनं व्यस्तजातिमृतिदोषम्। व्योमचरामरपतिभिः स्मृतं फलैर्जिनपतिमुपासे ॥१००॥
अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्ग[6]महविर्दीपैः सधूपैः फलैरर्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम्।
तं स्तौमि प्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनं [7]त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये[8] श्रद्दधे ॥१०१॥
[9]यज्ञैर्मुदावभृ[10]थभाजिनरपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम्।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥१०२॥ (इति पूजा)

अनन्त नयों के स्वरूप के प्रतिपादक हैं, जो निरञ्जन (राग, द्वेष व मोहरूपी अञ्जन से रहित—वीतराग-विशुद्ध) हैं, जो मानसिक व्याधिरूपी दावानल अग्नि को बुझाने के लिए मेघ-सरीखे हैं, जिनका मन मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ अनुरक्त है और जो कामदेव-सरीखे मनोज्ञ हैं ॥ ९७ ॥

मैं ऐसे जिनेन्द्रदेव की दीपों से पूजा करता हूँ, जो कि भक्ति से नम्रीभूत हुए देवों के चित्तरूपी कमल-वन का विषमान्धकार (निविड़ अज्ञानान्धकार व पक्षान्तर में विकसित न होना) नष्ट करने के लिए सूर्य-सरीखे हैं, जो समस्त सुखों के लिए उद्यान रूप हुए अभिलषित वस्तु देनेवाले हैं एवं जो काम-वासना से रहित हैं ॥ ९८ ॥ हम ऐसे जिनेन्द्रदेव की धूप से पूजा करते हैं, जिनका अनोखा केवलज्ञान और अनोखा परमौदारिक शरीर है, समस्त भावकर्मों (रागादि) के नष्ट हो जाने पर जो रूप रहता है, उसी रूप (केवलज्ञान स्वरूप) में जो स्थित हैं और जिनका स्थान (मोक्ष) ध्यान के द्वारा जानने योग्य है एवं जो केवलज्ञान की अपेक्षा समस्त पदार्थों में व्यापक हैं ॥ ९९ ॥

मैं ऐसे जिनेन्द्र को फलों से उपासना (पूजा) करता हूँ, जो कि स्वर्गश्री व मुक्तिश्री के साथ संगम करानेवाले हैं, जिन्होंने जन्म व मरणरूपी दोष नष्ट कर दिये हैं और जो विद्याधरों के स्वामियों व देवेन्द्रों द्वारा स्मरण किये गये हैं ॥१००॥ अभिषेक—समारोह के पश्चात् तीन लोक के गुरु श्रीजिनेन्द्र को जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप व फलों से पूजा करके मैं उनकी स्तुति करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हें अपने चित्त में स्थापित करता हूँ एवं द्वादशाङ्ग श्रुत की आराधना करता हूँ तथा तीन लोक में उत्पन्न होने वाले उस यज्ञोत्सव की तीनों कालों में अनुमोदना करता हूँ, अर्थात्—जहाँ कहीं यज्ञ (पूजा) होता है, उसकी मैं अनुमोदना करता हूँ ॥ १०१ ॥ यज्ञान्त स्नान किया हुआ मैं जिनका पादपीठ (चरणों के पास का स्थान), पुष्पाञ्जलि-समूह से भरा हुआ है, उन जिनेन्द्रदेव की पूजा द्वारा हर्षपूर्वक उपासना करके पुनः मैं उनकी श्वेत छत्र, चमर व दर्पण-आदि माङ्गलिक द्रव्यों से आराधना करता हूँ ॥ १०२ ॥

[इस प्रकार पूजा समाप्त हुई, आगे पूजा का फल बतलाते हैं—]

१. मेघं। २. विषमान्धकारं। ३. वाञ्छितप्रदं। ४. कलाः भावकर्माणि तासां विलये विनाशे सति, सकलकलाविलये वर्तते यद् रूपं तत्सकलकलाविलयवर्तिरूपं तत्र तिष्ठतीति तत्स्थं केवलज्ञानस्वरूपमित्यर्थः। ५. सर्वगं केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापकं। ६. पुष्प। ७. त्रैलोक्ये प्रभवः उत्पत्तिर्यस्य महस्य स तं। ८. यत्र कुत्रापि यज्ञो वर्तते तमनुमोदयामि। ९. पूजाभिः। १०. यज्ञान्तस्नानं।

भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे ।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे भूयादेतद् भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ॥१०३॥
प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसंनिधिरयं मुनिमाननेन ।
सायंतनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥१०४॥
धर्मेषु [1]धर्मनिरतात्मसु [2]धर्महेतौ धर्मादवाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूलः ।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥१०५॥ (इति पूजाफलम्)
आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणव्याक्षेपतो वात्मनश्चापल्यान्मनसो मतेर्जडतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे ।
यः कश्चिस्तव संस्तवेषु समभूदेष प्रमादः स मे मिथ्या, स्तान्ननु देवताः प्रणयिनां तुष्यन्ति भक्त्या यतः ॥१०६॥
देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च । यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः[3] ॥१०७॥
इत्युपासकाध्ययने स्नपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः ।
नमदमरमौलिमणिखचितविलग्नरत्नांशुनिकरगगनेऽस्मिन् । [4]अरुणायतेऽङ्घ्रियुगलं यस्य स जीयाज्जिनो देवः ॥१०८॥

पूजा-फल

हे भगवन् ! जब तक आपका केवलज्ञानरूप प्रकाश मेरी आत्मा में प्रकट हो तब तक जिन भगवान् के चरणों में मेरी भक्ति हो, समस्त प्राणियों में मेरा मैत्रीभाव (दुःख उत्पन्न न होने की अभिलाषा) हो। मेरी धन-वितरण की बुद्धि समस्त अतिथियों के सत्कार में संलग्न होवे, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्व में लीन रहे, मेरी विद्वानों के प्रति प्रेम-तत्परता हो तथा मेरी चित्तवृत्ति परोपकार करने में प्रवृत्त हो ॥ १०३ ॥ हे देव ! मेरी प्रातःकालीन विधि आपके चरणकमलों की पूजा से सम्पन्न हो, मध्याह्न-बेला का समागम साधुओं के सन्मान में व्यतीत हो एवं मेरी सायंकालीन वेला भी सदा आपके चारित्र-कथन की कामना में व्यतीत हो ॥१०४॥

धर्म के आचरण से प्रभावशाली हुआ राजा धर्म (उत्तम क्षमा-आदि), धार्मिक जन (मुनि-आदि) व धर्म साधनों (चैत्यालय, मुनि, शास्त्र व संघ) के विषय में सदा अनुकूल रहे और सदा जिनेन्द्र के चरण-कमलों की पूजा से प्राप्त हुए पुण्य द्वारा पुण्यशालिनी हुई जनता यथेष्ट उत्कृष्ट लक्ष्मी प्राप्त करे ॥ १०५ ॥ हे देव ! शरीर के आलस्य से या इन्द्रियों का दूसरी जगह उपयोग के चले जाने से, आत्मा की दूसरे कार्य में व्याकुलता के कारण, मानसिक चञ्चलता से, बुद्धि की जड़ता से और वचनों के स्पष्ट उच्चारण की मन्दता के कारण तुम्हारी स्तुतियों में मुझ से जो कुछ प्रमाद हुआ है, वह मिथ्या हो। क्योंकि निस्सन्देह देवता तो अनुरक्तों की भक्ति से सन्तुष्ट होते हैं ॥ १०६ ॥

जो मानव गृहस्थ होकर के भी देवपूजा किये विना और साधुओं की सेवा किये विना भोजन करता है, वह महापाप खाता है ॥ १०७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में अभिषेक व पूजन-विधि नामका छत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

ऐसे वे जिनेन्द्र देव जयवन्त हों, जिनके चरण-युगल नमस्कार करते हुए देवों के मुकुटों के समूह में खचित रत्न-किरणों के समूहरूपी आकाश में सूर्य-सरीखे आचरण करते हैं ॥ १०८ ॥ जिनके चरणों के नखों का किरण-समूह, इन्द्राणी के श्रोत्रों पर स्थित हुई कल्पवृक्ष की ईषद्विकसित मञ्जरी-जैसा मनोज्ञ है, वे जिनेन्द्र

१. धार्मिकेषु । २. चैत्यालयमुनिशास्त्रसंघेषु । ३. पापं । ४. सूर्यवदाचरति ।

सुरपतियुवतिश्र[1]वसाममरतरु[2]स्मेरमञ्जरीरुचिरम् । चरणनखकिरणजालं यस्य स जयताज्जिनो जगति ॥१०९॥

वर्ण:—[3]त्रिदिवकुञ्जरमौलिमन्दारमकरन्द*स्यन्द[4]नदिनि, करविसरसारधूसरपदाम्बुज,
वैदग्ध्योपरमप[5]दप्राप्तवादजयविजितमनसिज ॥११०॥

गाथा—यस्त्वाममितगुणं जिन कश्चित्सावधिबोधः स्तौति विपश्चित् ।
नूनमसौ ननु काञ्चनशैलं तुलयति हस्तेनाचिरकालम्[6] ॥१११॥
स्तोत्रे यत्र महामुनिपक्षाः[7]सकलैतिह्याम्बुधिविधिदक्षाः ।
मुमुचुश्चिन्तामनवधिबोधास्तत्र कथं ननु मादृग्बोधाः[8] ॥११२॥
तदपि वदेयं किमपि जिन त्वयि यद्यपि शक्तिर्नास्ति तथा मयि ।
यदियं भक्तिर्मां मौनस्थं*देव न कामं कुरुते स्वस्थम् ॥११३॥

चतुष्पदी—सुरपतिविरचितसंस्तव दलिताखिलभव परमधामलब्धोदय ।
कस्तव जन्तुर्गुणगणमघहरचरण[9] प्रवितनुतां हतनतभय ॥११४॥
जय निखिलानिलिम्पा[10]लापकल्प[11] जगतीस्तुतकीर्तिकलत्रतल्प[12] ।
जय [13]परमधर्महर्म्यावतार लोकत्रितयोद्धरणैकसार[14] ॥११५॥

प्रभु जगत में जयवन्त हों ॥ १०९ ॥ जिनके चरणकमल देवेन्द्रों के मुकुटों पर स्थित हुए मन्दारजाति के कल्पवृक्षों के पुष्पों के मकरन्द (पुष्प-रस) के स्यन्दकारी (बहनेवाले) प्रसार (फैलाव) के सार से ईषत्पाण्डु (कुछ शुभ्र) किये गए हैं, विद्वत्ता में सर्वोत्कृष्ट होने से जिन्होंने वाद (शास्त्रार्थ) में विजय श्री (अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से कीर्ति लक्ष्मी) प्राप्त की है और जो कामदेव को जीतनेवाले हैं, ऐसे हे जिनेन्द्रदेव ! ॥ ११० ॥ सीमितज्ञानी जो कोई विद्वान् अपरिमित गुणवान् आपकी स्तुति करता है, वह शीघ्र हाथ से सुमेरु-पर्वत को तोलता है ॥ १११ ॥ समस्त आगमरूपी समुद्र के अवगाहन करने में निपुण, असीम ज्ञानधारी महा-मुनि-समूह भी जब जिस प्रभु की स्तुति करने का विचार छोड़ चुके तब निश्चय से मुझ-सरीखा अल्पज्ञानी आपकी स्तुति करने का विचार किस प्रकार कर सकता है ? ॥ ११२ ॥ हे जिनेन्द्र ! यद्यपि मेरे में आपकी स्तुति करने की शक्ति नहीं है तथापि कुछ कहता हूँ, क्योंकि आपकी यह भक्ति मौन धारण करनेवाले मुझे यथेष्ट सुखी नहीं करती ॥ ११३ ॥

जिनकी इन्द्रों ने स्तुति की, जो समस्त संसार-परिभ्रमण को नष्ट करनेवाले हैं, जिन्होंने सर्वोत्तम मोक्षस्थान के कारण प्रातिहार्य-आदि वैभव प्राप्त किया, जिनके चरण पाप-नाशक हैं एवं जो भक्त प्राणियों का भय नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे हे प्रभो ! कौन मानव आपके गुण-समूह का विस्तार से कथन कर सकता है ॥ ११४ ॥ जो समस्त देवों की स्तुति के ग्रन्थरूप हैं और जो समस्त पृथिवी के द्वारा स्तुति की गई कीर्ति-रूपी कामिनी के लिए शय्यारूप हैं, ऐसे हे प्रभो ! आपकी जय हो । जो उत्कृष्ट धर्म के अवतार में प्रासादप्राय हैं और जिनकी अद्वितीय शक्ति तीन लोक के उद्धार करने में समर्थ है, ऐसे हे जिन ! आपकी जय हो ॥ ११५ ॥

१. कर्णानां । २. ईषद्विकसित । ३. देवप्रधान । *. 'स्यन्दकार' ख०, । ४. स्यन्दकारी विसरः प्रसारः, मन्दारपुष्पाणां मकरन्दसमूहप्रसारसारेण धूसरः ईषत्पाण्डुकृतः । ५. पदे प्राप्तो वादे मदाः येन । ६. शीघ्रं । ७. 'समूहाः महामुनयः एव' ख०, 'पक्षाः समूहः' टि० च० । ८. कर्ता । *. 'देव निकामं कुरुते स्वस्थं' क० । ९. नापि तु न कश्चित् तव गुणसमूहं प्रवितनुतां । १०. स्तुति । ११. ग्रन्थ । १२. शय्या । १३. धर्मस्य प्रासादप्रायं । १४. 'सारो मज्जास्थि-रांशयोः बले श्रेष्ठे च' टि० ख० । 'सारः स्यान्मज्जनि बले स्थिरांशेऽपि पुमानयम् । सारं न्याय्ये जले वित्ते सारं स्याद्वाच्यवद्वरे' इति विश्वः' इति संकलनं सम्पादकस्य ।

जय लक्ष्मीकरकमलार्चिताङ्ग सारस्वतरसनटनाटयरङ्ग ।
जय [1]बोधमध्यसिद्धाखिलार्थ मुक्तिश्रीरमणीरतिकृतार्थ ॥११६॥
नमदमरमौलि*मन्दिरतटान्तराजत्पदनखनक्षत्रकान्त[2] ।
विबुधस्त्रीनेत्राम्बुजविबोध[3]मकरध्वजधनु[4]रुद्भवनिरोध ॥११७॥
बोधत्रयविदितनिखिलतत्त्व[5] का नामपेक्षा तव परत्र[6] ।
जगतः[7] प्रबोधमसुभृज्जनस्य गुरुरस्ति कोऽपि किमिहारुणस्य[8] ॥११८॥
[9]निजबीजबलान्मलिना[10]ऽपि महति[11]धीः शुद्धिं परमामभव भजति ।
युक्तेः कनकाश्मा भवति हेम[12] किं कोऽपि तत्र विवदेत नाम ॥११९॥

हे लक्ष्मी के करकमलों द्वारा पूजित शरीरवाले, हे सारस्वत रसरूपी नट के अभिनय के लिए रङ्गमञ्च-सरीखे प्रभो ! आपकी जय हो। हे केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों के ज्ञाता और हे मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के साथ रतिविलास करने से कृतार्थ हुए प्रभो ! आपकी जय हो ॥ ११६ ॥ नमस्कार करते हुए देवों के मुकुटरूपी सुमेरु-तट के प्रान्तभाग में जिनके चरण-नखरूपी चन्द्र सुशोभित हो रहे हैं, जो देवियों के नेत्ररूपी कमलों को विकसित करते हैं, जो कामदेव के धनुष का गर्व रोकने वाले हैं, ऐसे हे प्रभो ! आप जयवन्त हो ॥ ११७ ॥ जैसे इस लोक में प्राणि-जनों का जागरण करनेवाले सूर्य का क्या कोई गुरु है ? वैसे ही मति, श्रुत व अवधिज्ञान के द्वारा जानने योग्य वस्तु-समूह को जाननेवाले हे प्रभो ! तुम्हें भी किसी गुरु की अपेक्षा नहीं हुई ॥ ११८ ॥

जैमिनीय मत-समीक्षा

हे संसार- रहित प्रभो ! अज्ञान-आदि दोषों से मलिन बुद्धि भी आपमें ज्ञान-ध्यानादि उपादान कारणों की सामर्थ्य से उस प्रकार अत्यन्त शुद्धि (केवलज्ञान) प्राप्त करती है जिस प्रकार मलिन सुवर्णपाषाण उपाय (अग्निपुट-पाकादि) से शुद्ध सुवर्ण हो जाता है, इसमें क्या कोई भी (जैमिनीय-आदि दार्शनिक) विवाद कर सकता है ? ॥ ११९ ॥

भावार्थ—जैनदर्शनकार स्वामी समन्तभद्राचार्य* ने भी कहा है, कि किसी पुरुष-विशेष (तीर्थङ्कर-आदि) में अज्ञान-आदि दोषों व उनके कारणभूत ज्ञानावरण-आदि कर्मों की समूलतल (जड़ से) हानि उसको नष्ट करनेवाले आत्मिक कारणों (ज्ञान-ध्यानादि उपायों) द्वारा उस प्रकार होती है जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण का बाह्य व आभ्यन्तर मल उसको नष्ट करनेवाली कारणसामग्री (अग्नि-पुटपाकादि उपाय) द्वारा नष्ट हो जाता है।

हे प्रभो ! जैसे परिमाण (आकार) आकाश में अपनी वृद्धि की चरमसीमा (महापरिमाणपन) प्राप्त करता है वैसे ही बुद्धि भी किसी महापुरुष (तीर्थङ्कर-आदि) में अपने विकास की चरमसीमा (केवल-

१. केवलज्ञान । *. 'मन्दरतटान्त' क० । २. चन्द्रः शोभमान एव चन्द्रः । ३. विकासकर्ता । ४. गर्व । ५. 'परिच्छेद्यवस्तु-तन्त्रं शास्त्रं कुलं तन्त्रं तन्त्रं सिद्धौषधिक्रिया । तन्त्र मुख्यं बलं तन्त्रं तन्त्रं पत्तनसाधनं' टि० ख० 'तन्त्र संप्रदायः' इति टि० च० । ६. गुरौ । ७. जागरणं । ८. सूर्यस्य । ९. ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात् । १०. धीः । ११. त्वयि विषये । १२. जैमिनीयो निरस्तः ।

*. तथा च स्वामी समन्तभद्राचार्यः—

दोषावरणयोर्हानिः निःशेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ १ ॥

देवागमस्तोत्र से संकलित—सम्पादक

परिमाणमिवातिशयेन वियति मतिरुच्चैर्नरि गुरुतामुपैति ।
[1]तद्विद्वयेदितिन्वा द्विजस्य विश्राम्यति चित्ते कस्य ॥१२०॥
[2]कपिलो यदि वाञ्छति[3] विरिमचिति[4] [5]सुरगुरुगीर्षु स्फोदयेव पतति ।
[6]चैतन्यं बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि[7] कस्य वद[8] तत्र[9] विदित[10] ॥१२१॥
भूपवन[11]वनानलतत्वकेषु [12]धिषणो [13]निगृणाति [14]विभागमेषु ।
न पुनर्विधि[15] तद्विपरीतधर्मधाम्नि[16]ब्रवीति तत्तस्य [17]कर्म ॥१२२॥

ज्ञान) प्राप्त करती है, इसलिए मीमांसक ने जो सर्वज्ञ की आलोचना की है, वह किसी के भी चित्त में नहीं उतरती ॥ १२० ॥

सांख्यदर्शन-मीमांसा

हे विख्यात प्रभो ! जब सांख्य बुद्धि को जड़रूप प्रकृति का धर्म (गुण) मानता है तब यह चतुर्भूत (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु) के स्थापक चार्वाक के वचनों (सिद्धान्तों) में आ गिरता है। अर्थात्—जिस प्रकार चार्वाक (नास्तिक) बुद्धि को पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार भूतों से उत्पन्न हुई (देहात्मिका, देह-कार्य व देह-गुण) मानता है उसी प्रकार सांख्य भी बुद्धि को जड़रूप प्रकृति से उत्पन्न हुई मानता है, इसलिए उसे चार्वाक-मत की आपत्ति होती है ; उक्त दोष के निवारण के लिए यदि सांख्य यह कहता है कि हम तो स्वतन्त्र पुरुषतत्त्व (आत्मपदार्थ) मानते हैं, जो कि चैतन्यस्वरूप को लिए हुए है, तब उक्त दोष कैसे आ सकता है ? उसका उक्त कथन भी विरुद्ध है, क्योंकि जब सांख्य का चैतन्य बाह्य घट-पटादि पदार्थों के ज्ञान से शून्य है, तब हे प्रभो ! आप उसे उस चैतन्य के विषय में कहिए कि उसका वह अर्थक्रिया-हीन चैतन्य किसके उपयोगी होगा ? अर्थात्—जब वह बाह्य पदार्थों के जाननेरूप अर्थ-क्रिया नहीं करता तब अर्थक्रिया-शून्य होने से वह खर-विषाण (गधे के सींग) की तरह असत् सिद्ध होता है ॥ १२१ ॥

भावार्थ—सांख्यदर्शनकार* ने निम्नप्रकार पच्चीस तत्त्व माने हैं। १. प्रकृति, २. महान् (बुद्धि), ३. अहंकार (अभिमानवृत्ति-युक्त अन्तःकरण), अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले १६ गण (पाँच तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध व ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय-चक्षुरादि-पाँच कर्मेन्द्रिय-वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) व मन एवं पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न होनेवाले पाँचभूत (पृथिवी-आदि) अर्थात्—शब्द से आकाश, रूप से तेज, गन्ध से पृथिवी, रस से जल व स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है। इस प्रकार चौबीस पदार्थ हुए और पच्चीसवाँ पुरुषतत्त्व (जीवात्मा), जो कि अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत (व्यापक), निर्गुण, कूटस्थ-नित्य, दृष्टा, भोक्ता व क्षेत्रवित् है। विशेष यह कि सांख्यदर्शन की मीमांसा पूर्व में (आ० ५ पृ० १५२-१५३ श्लोक ६२ व उसके बाद का गद्य तथा पृ० १५७-१५८ श्लोक नं० ८५-८९) कर चुके हैं, वहाँ से जान लेनी चाहिये।

१. जिन-निन्दा। २. सांख्यः। ३. ज्ञानं, बुद्धिं। ४. अचेतनं प्रधानं इति यावत्। ५ चार्वाकवचनेषु चतुर्भूतस्थापकेषु पतति। ६. यदि तु चैतन्यं तदपि विरुद्धं तदपि सांख्यमतखंडनं। ७. कार्यकारकं। ८. कथय। ९. चैतन्यविषये। १०. हे विख्यात। ११. जल। १२. बृहस्पतिः। १३. कथयति। १४. विभेदनं ज्ञानं। १५. आत्मनि ज्ञानं न कथयति। १६. तस्मादचेतने जीवस्थापनाद्विपरीतधर्मं। १७ इदं धिषणस्य पापं वर्तते।

*. तथा चोक्तम्—'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्मादगणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि' ॥
(सां० का० २२) सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३१९ से संकलित—सम्पादक

विज्ञानप्रमुखाः सन्ति [1]विमुक्ति न गुणाः किल [2]यस्य नयोऽत्र वाचि ।
तस्यैव [3]पुमानपि नैव तत्र दाहाद्दहनः क इहापरोऽस्ति ॥१२३॥
[4]धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ननु नियगृहाणि [5]गिरिशः करोति ।
चित्रं तथापि यस्तद्वचांसि[6] लोकेऽत्र भवन्ति महायशांसि ॥१२४॥

चार्वाक दर्शन-मीमांसा

चार्वाक-गुरु बृहस्पति ज्ञान को पृथिवी, वायु, जल व अग्नि इन चार अचेतन (जड़) भूतों का धर्म (गुण) कहता है, किन्तु उनसे विरुद्ध धर्मवाले, अर्थात्—अचेतन (जड़) पृथिवी-आदि भूतों से विपरीत धर्म (चैतन्यगुण) के स्थानवाले आत्मा का धर्म (गुण) नहीं मानता यह उसी बृहस्पति का ही पाप है।

भावार्थ—चार्वाकदर्शन* की मान्यता है कि 'जब तक जियो तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो; क्योंकि संसार में कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है। अभिप्राय यह है जब मृत्यु अवश्यम्भावी है तब तपश्चर्या-आदि का क्लेश-सहन व्यर्थ है। शरीर ही आत्मा है; क्योंकि उससे भिन्न आत्मद्रव्य की प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रतीति नहीं होती। इसलिये जब मरणकाल में शरीर ही भस्मीभूत हो गया; अतः इसका परलोक-गमन (मरण) व जन्मान्तर प्राप्ति (अन्य जन्म) नहीं है। यह पृथिवी, जल, तेज व वायु इन चार भूतों को चार पदार्थ मानता है और जिस प्रकार महुआ, गुड़, व जल-आदि पदार्थों से उत्पन्न हुई सुरा में मदशक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार शरीराकार परिणत हुए पृथिवी-आदि चार भूतों से चैतन्य (ज्ञान) शक्ति उत्पन्न होती है एवं शरीर के नष्ट हो जाने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। विशेष यह कि हम नास्तिक दर्शन की विस्तृत मीमांसा पूर्व में (आश्वास ४ पृ० ९१–९२ श्लोक ४५–४७ एवं आश्वास ५ पृ० १६३–१६५, श्लोक ११३–१२६ तक) कर चुके हैं ॥ १२२ ॥

वैशेषिक दर्शन की मुक्ति-मीमांसा

जिस कणाद ऋषि (वैशेषिक दर्शनकार) के सिद्धान्त में यह न्याय है कि "निश्चय से मुक्तजीव में विज्ञान (बुद्धि) व सुख-आदि गुण नहीं हैं, उसके यहाँ मुक्ति अवस्था में जीवतत्त्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार लोक में उष्णता के बिना अग्नि सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार विज्ञान-आदि गुणों के बिना मुक्त अवस्था में जीव भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि गुणों के बिना गुणवान् द्रव्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?

भावार्थ—वैशेषिक दर्शनकार† मुक्ति अवस्था में मुक्त जीव में बुद्धि व सुख-आदि विशेष गुणों का अत्यन्त अभाव मानते हैं। यह युक्ति संगत नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से मुक्ति में जीव द्रव्य शून्य सिद्ध हो जाता है ॥ १२३ ॥

सृष्टिकर्तृत्व-मीमांसा

जब महेश्वर पर्वत व पृथिवी-आदि पदार्थों की सृष्टि करता है तब निश्चय से उसी शिव को घट व

---

१. मुक्तजीवे विज्ञानादयो गुणाः न वर्तन्ते। २. यस्य जीवस्य कणादस्य वाचि—सिद्धान्ते—नयो न्यायोऽस्ति। ३. जीवोऽपि नास्ति तस्मिन् मते, दाहाद् उष्णत्वं विना यथाऽग्निर्नास्ति तथा ज्ञानादिगुणान् विना आत्मापि नास्ति। ४. गिरिप्रभृति यदि वस्तु सृजति तर्हि घटादीनपि सृजति। ५. रुद्रः। ६. शैववचांसि—शैववचनानि।

*. तथा चोक्तम्—यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ १ ॥
सर्वदर्शन संग्रह पृ० २ से संकलित—सम्पादक

†. तथा चोक्तम्—अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिकाः सर्वदर्शनसंग्रह (उपोद्घात) पृ० ७८ से संकलित—

पुष्पत्रयमबलासक्तमूर्ति तस्मात्परस्तु[1] गतकायकीर्तिः[2] ।
एवं सति नाथ कथं हि सूक्तमाभाति हिताहितविषयमत्र ॥१२५॥
[3]सोऽहं योऽभूवं बालवयसि निश्चिन्वन्क्षणिकमतं जहासि ।
[4]संतानोऽप्यत्र न *वासनापि [5]यद्वान्वयभावहतेन नापि ॥१२६॥
[6]चित्तं न विचार*कमक्षजनितमखिलं *सविकल्पं [7]स्वांशापतित-
[8]मुदितानि [9][10]वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्याः कथमात्महिताय्युशन्ति[11] ॥१२७॥

व गृह-आदि की सृष्टि करनी चाहिए, आश्चर्य है फिर भी उसके वचन (वेदादि) मनुष्य-समूह द्वारा विशेष कीर्तिशाली (प्रामाणिक) माने जाते हैं।

भावार्थ—जब सदाशिव पृथिवी-आदि की सृष्टि करता है तब वही घट व गृहादि की सृष्टि क्यों नहीं करता ? और ऐसा होने से कुँभार व बढ़ई-आदि से क्या प्रयोजन रहेगा ? इसकी मीमांसा पूर्व में (आ० ५ पृ० १६१) की जा चुकी है ॥ १२४ ॥

वेद की ईश्वर कर्तृत्व-मान्यता की समीक्षा

हे स्वामिन् ! श्री ब्रह्मा, विष्णु व महेश तो तिलोत्तमा, लक्ष्मी व गौरी में आसक्त हैं, (जिससे रागादि दोषों से दूषित होने के कारण अप्रमाण हैं) और उनसे भिन्न परमशिव शरीर-रहित है। ऐसी स्थिति में उस परमशिव से हिताहित के प्रदर्शक वेद की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है ? ॥ १२५ ॥

बौद्धदर्शन-समीक्षा

'जो मैं बाल्यावस्था में था, वही मैं युवावस्था में हूँ' यदि इस प्रकार एकत्व मानते हो तो हे बौद्ध ! तुम अपने क्षणिक सिद्धान्त का त्याग करते हो। उक्त दोषके निवारण के लिए वादी (बौद्ध) यह कहता है, कि यद्यपि क्षणिक आत्मादि वस्तु नष्ट हो जाती है, परन्तु उसकी सन्तान या वासना बनी रहती है, जिससे उक्त बात संघटित हो जायगी। उक्त विषय पर विचार करते हैं, कि आपके यहाँ सन्तान या वासना भी घटित नहीं होती। अर्थात्—जो जीवक्षण प्रथम समयमें ही समूल नष्ट हो चुका, उससे अन्य जीवक्षण उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार आपके क्षणिकवाद में सन्तान नहीं है उसी प्रकार वासना (संस्कार) भी नहीं है; क्योंकि विद्यमान पदार्थ में सन्तान या वासना संघटित होती है, न कि सर्वथा समूलतल नष्ट हुए पदार्थों में। अतः आपका कथन विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि अनुक्रम से उत्पन्न होनेवाली पूर्वापर पर्यायोंमें व्यापक रूप से रहनेवाले आत्म द्रव्य संबंधी अन्वय के बिना सन्तान या वासना नहीं बन सकती ॥ १२६ ॥

बौद्ध के प्रमाणतत्त्व की मीमांसा

१. आपका समस्त पाँच प्रकार का इन्द्रिय-जनित निर्विकल्पक ज्ञान विचारक नहीं है और इससे दूसरा

१. परः परम एव शिवः । २. कायरहितः । ३. सोऽहं इति मन्यसे चेत्तर्हि क्षणिकमतं जहासि रे बौद्ध ! ।
४. यो जीवः प्रथमसमये विध्वंसं प्राप्तः तस्माज्जीवादन्यो जीवो नोत्पद्यते । एवंविधः सन्ताननिषेधोऽस्ति भवन्मते ।
*. भवन्मते यथा सन्तानो नास्ति तथा वासनापि नास्ति तर्हि कथमुच्यते वासनया ज्ञानमुत्पद्यते तद् भवतः सर्वमसम्बद्धं । ५. अनुक्रमेणोत्पन्नेषु । चेज्जीवाज्जीव उत्पद्यते तर्हि तेन कारणेनास्मन्मतेऽपि आत्मा विवर्तते ।
६. अविकल्पं ज्ञानं । 'तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पमपि न विचारकम्, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभिलापसंसर्ग-रहितत्वात्' ।—अष्टसहस्री पृ० ३४ से संकलित—सम्पादक । *. निर्विकल्पं । ७. ससन्देहं पंचप्रकारं ।
८. आत्मस्वरूपाद्भिन्नं वर्तते । ९. बौद्धोक्तानि । १०. जीवादि । ११. वदन्ति ।

[1]अद्वैतं तत्त्वं वदति[2] कोऽपि सुधियां[3] धियमातनुते न सोऽपि* ।
[4]पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसंस्था: कुतोऽत्र शिवशर्मसदन ॥१२८॥
[5]हेतावनेकधर्मप्रवृद्धि[6]रालयाति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धि–[7] ।
[8]मन्यस्तुन[9]रखिलमतिव्यतीतमुद्भाति सर्वभुवननिकेत[10] ॥१२९॥

पाँच प्रकार का सविकल्पक ज्ञान अपने प्रमाण स्वरूप से भिन्न (संदिग्ध) है। इसलिए हे भगवन् ! जब बौद्धों द्वारा कहे हुए प्रमाणतत्व या वचन जीवादि वस्तु का स्पर्श नहीं करते तब बौद्धानुयायी आत्महित किस प्रकार कहते हैं ?

भावार्थ—बौद्धों* ने कहा है, कि इन्द्रिय-जनित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्य (प्रमाण) है; क्योंकि वह ब्राह्मण-आदि की कल्पना से शून्य है और सविकल्पक ज्ञान भ्रम रूप है, क्योंकि उसमें कल्पितरूप से वस्तु प्रतीत होती है, जिससे सभी को ऐकमत्य नहीं होता। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में जब प्रमाणतत्व वस्तु निश्चायक नहीं है तब वहाँ आत्म-हित कैसे संभव हो सकता है ? ॥ १२७ ॥

ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार (बौद्ध विशेष) मत-समीक्षा

हे मोक्ष-सुख के गृह प्रभो ! जो कोई (ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार) भी अद्वैत तत्व (क्षणिक ज्ञानमात्र) को कहता है। अर्थात्—जो समस्त चराचर जगत को भ्रमरूप मानकर केवल क्षणिक ज्ञान परमाणु-पुञ्जरूप तत्व मानता है, वह भी विद्वानों की बुद्धि को प्रभावित नहीं कर सकता; क्योंकि इस अद्वैत तत्व में प्रतिज्ञा, हेतु व उदाहरण की स्थिति किस प्रकार संघटित हो सकती है ?

भावार्थ—'रागादि से भिन्न शुद्ध जीवतत्व नहीं है, जिस प्रकार अङ्गार से कृष्णता पृथक् नहीं है'। प्रस्तुत वादी की यह मान्यता अयुक्त है; क्योंकि प्रतिवादी (जैन) द्वारा स्वीकार किये हुए निम्नप्रकार पक्ष, हेतु व उदाहरण वर्तमान हैं। 'रागादि से भिन्न शुद्ध जीवतत्व है' यह पक्ष या प्रतिज्ञा हुई; क्योंकि परम-समाधिस्थ महापुरुषों द्वारा शरीर-परिमाण, रागादि से भिन्न, चिदानन्दैक स्वभाव वाले शुद्ध जीवतत्व की उपलब्धि देखी जाती है' यह हेतु (युक्ति) हुआ। 'कालिकास्वरूपस्वर्णवत्' अर्थात्—जिस प्रकार किट्ट कालिका से पृथक् शुद्ध सुवर्ण उपलब्ध है, यह दृष्टान्त-वचन (उदाहरण) हुआ। इस प्रकार प्रतिपक्ष-हेतु-उदाहरण समझना चाहिए ॥ १२८ ॥

अद्वैत की सिद्धि के लिए हेतु को मान लेने से उसके साथ में हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व-आदि

१. ज्ञानमात्रमेकमेव । २. बौद्धविशेषः । ३. चमत्कारं ।
*. 'हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः । हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥—आप्तमीमांसा ।
४. 'अङ्गारात् कार्ष्ण्यवत् रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्ति' इति यद् भणितं तदयुक्तं कथमिति चेत्—'रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्ति इति पक्षः आस्था सन्धा-प्रतिज्ञा इत्यनर्थान्तरं, परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीरप्रमाणरागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुतः, कालिकास्वरूपात्सुवर्णवदिति दृष्टान्तः, इति प्रतिपक्षहेतुदृष्टान्तवचनानि ज्ञातव्यानि । ५. कारणे कथिते सति । ६. पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वादिका । ७. अनेकपदार्थस्वभावसिद्धि कथयति । ८. दृष्टान्तं वचः । ९. सर्वमतरहितं कस्यापि मतस्याधीनं न दृष्टान्तं 'दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येयाः' इत्यादि पूर्वोक्तं । १०. हे अनेकान्तसमनिकेत ।
*. तदुक्तं—कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् । विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः ॥ १ ॥
सर्वदर्शन संग्रह पृ० ४४ से संकलित—सम्पादक

[1]मनुजस्सपूर्वनयनायकस्य [2]भवतो [3]भवतोऽपि गुणोत्तमस्य ।
ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते जडजं मौक्तिकमपि *हरन्ति ॥१३०॥
नाप्तेषु [4]बहुत्वं यः सहेत [5]पर्यायविभूतिष्वपि [6]महेत ।
नूनं द्रुहिणादिषु दैवतेषु [7]कं तस्य स्फुटति तथाविधेषु[8] ॥१३१॥
[9]दीक्षासु तपसि वचसि [10]त्वयि तु यदिहैक्यं[11] सकलगुणैरहीन[12] ।
तस्मादवैमि[13] जगतां त्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ॥१३२॥
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुखचित्तो यदि [14]विदलितमदनविशिख ।
निन्द्यः स एव घूके दिवापि [15]विद्वेषीमनुपालभते न कोऽपि ॥१३३॥

अनेक धर्म मानने पड़ते हैं और उनके मानने से जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए द्वैततत्त्व की ही सिद्धि होती है—अद्वैत की नहीं। अतः हे स्याद्वाद के आधार प्रभो। सर्वमत से रहित हुए केवल एकमत के समर्थक दृष्टान्त नहीं होते ॥ १२९ ॥

हे प्रभो ! द्वेष से कलुषित बुद्धिवाले लोग, जो पूर्व में मनुष्य होकर स्याद्वाददर्शन के नेता हुए हैं और जो श्रीशिव (रुद्र) से भी गुणोत्तम (वीतरागता व सर्वज्ञता-आदि गुणों से सर्वश्रेष्ठ और पक्षान्तर में प्रशस्त तन्तुओं द्वारा गूँथी जाने से श्रेष्ठ) हैं आपके ऐसे मौक्तिक (मुक्तिश्री की प्राप्ति के सिद्धान्त व पक्षान्तर में मोती-समूह) को छोड़ देते हैं, जो कि जड़ज (जड़ाय-जातं, अर्थात्—अज्ञानियों के उद्धार के लिए उत्पन्न हुआ और पक्षान्तर में डलयोरभेदः, अर्थात्—श्लेषालङ्कार में ड और ल एक समझे जाते हैं; अतः जलज—जल से उत्पन्न हुआ) है।

भावार्थ—जिस प्रकार मलिन बुद्धिवाले अज्ञानी पुरुष जल से उत्पन्न हुए बहुमूल्य मोती-समूहको, जो कि गुणोत्तम (प्रशस्त तन्तुओं द्वारा गुम्फित होने से उत्तम) है व श्रेष्ठनायक मणिवाला है, छोड़ देते हैं उसी प्रकार द्वेष से कलुषित बुद्धिवाले पुरुष भी आपके मौक्तिक (मुक्ति-संबंधी सिद्धान्त), जो कि जड़ज हैं, अर्थात्—सांसारिक ताप नष्ट करने से शीतल हैं, अथवा अज्ञानियों के उद्धार के लिए उत्पन्न हुए हैं, छोड़ देते हैं❀ ॥ १३० ॥

हे पूज्य ! जिसे अनुक्रम से होनेवाले बहुत आप्तों को मान्यता सह्य नहीं है, निश्चय ही अवताररूप ब्रह्मा-आदि देवताओं के सामने वह अपना सिर फोड़ता है। अर्थात्—उसे अनुक्रम से उत्पन्न हुए बहु संख्या-वाले ब्रह्मा-आदि देवताओं के लिए भी अपना मस्तक नहीं झुकाना चाहिए ॥ १३१ ॥ हे समस्त गुणों से परि-पूर्ण व विद्वानों की योग्य चरण सेवावाले प्रभो ! निश्चय से आपके चारित्र, तपश्चर्या व वचनों में जो एक-वाक्यता (पूर्वापर विरोध-शून्यता) पाई जाती है, अतः मैं जानता हूँ; कि तुम्हीं तीनलोक के स्वामी हो ॥ १३२ ॥ हे काम के बाणों को चूर-चूर करनेवाले प्रभो ! तथापि यदि कोई तुमसे विमुख चित्तवाला है तो

१. अयं जिनः पूर्वं नरः। २. तव। ३. रुद्रादपि। *. 'रहन्ति' इति मु० व ख०। टिप्पण्यां रह त्यागे त्यजन्ति। ४. २४ चौबीस तीर्थङ्कर। ५. अनुक्रमेणोत्पन्नेषु। ६. हे पूजागत। ७. मस्तकं। ८. बहुषु हरिहरादिषु। ९. चारित्रेषु। १०-११. त्वयि विषये निश्चयेन चारित्रादीनामैक्यं वर्तते। १२. परिपूर्ण। १३. जानामि। १४. हे चूर्णीकृतमदनबाण !। १५. घूके अन्धे सति इनं सूर्यं न कोऽपि निन्दति।

❀. व्यङ्ग्यार्थ—मोतीमाला नायकमणि (मध्यमणि) से युक्त होती है व सूत्रों—तन्तुओं से गुम्फित होती है, यह बात भी यहाँ झलकती है—सम्पादक

निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन [1]दिशसि निकामं कामितानि ।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो[2] चकास्ति ॥१३४॥

पद्धतिका— इति [3]सदमृतनाथ स्मरशरमाथ[4] त्रिभुवनपतिमतिकेतन[5] ।
मम दिश जगदीश [6]प्रशमनिवेश त्वत्पदनुतिहृदयं[7] जिन ॥१३५॥

घत्ता— अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्सवचन्द्रमाः । [8]स्मरमदमयध्वान्तध्वंसे मतः[9] परमोऽर्यमा[10] ।
अदयहृदयः कर्मारातौ नते[11] च कृपात्मवानिति[12] विसदृशव्यापाररत्वं तथापि भवान् महान् ॥१३६॥
[13]अनन्तगुणसन्निधौ [14]नियतबोधसंपन्निधौ श्रुताब्धिबुधसंस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते[15] ।
जिनेश्वर सतीदृशे त्वयि मयि स्फुटं तादृशे कथं सदृशनिश्चयं तदिदमस्तु [16]वस्तुद्वयम् ॥१३७॥
[17]तदलमतुलत्वा[18]दृग्वाणीपथस्तवनोचिते *त्वयि गुणगणापात्रैः स्तोत्रैर्जडस्य हि मादृशः ।
प्रणतिविषये व्यापारेऽस्मिन्पुनः सुलभे जनः [19]कथमयमवागास्तां स्वामिन्नतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥१३८॥

वही निन्दा के योग्य है; क्योंकि उल्लू के दिन में भी अन्धे हो जाने पर कोई भी सूर्य की निन्दा नहीं करता ॥ १३३ ॥ हे जिन ! आपके पास कुछ भी नहीं है, अर्थात्—आप धन-धान्यादि परिग्रह से रहित हैं तो भी तुम जगत के लिए कौन कौन सी यथेष्ट इच्छित वस्तुएँ प्रदान नहीं करते ? किन्तु इसमें आश्चर्य नहीं है; क्योंकि आकाश के पास कुछ भी नहीं है फिर भी क्या उससे जलवृष्टि होती हुई नहीं देखी जाती ? ॥ १३४ ॥ इसलिए हे मोक्षके स्वामी ! हे काम-बाणों के विध्वंस करनेवाले ! हे तीनलोक के स्वामियों की सेवा के मन्दिर ! हे कर्मों के क्षय के स्थान ! और हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! मुझे आपके चरणोंमें नमस्कार करनेवाली बुद्धि प्रदान कीजिए ॥ १३५ ॥

हे जिनेन्द्र ! देवाङ्गनाओं के नेत्ररूपी कुवलयों (चन्द्र-विकासी कमलों) के विकसित करने के लिए आप आनन्दप्रद चन्द्रमा हैं और काम के मदरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए आप सूर्य कहे गये हैं एवं कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट करने के लिए आप कठोर हृदय हैं, किन्तु नम्रीभूत मानव के विषय में आप दयालु हैं। इस प्रकार विपरीत व्यापार वाले (चन्द्र, सूर्य, निष्ठुरता व दयालुता-आदि विजातीय व्यापार-युक्त) हो करके भी आप महान् हैं ॥ १३६ ॥ आप अनन्त गुणों की निधि (खजाना) हैं और मैं, परिमित बुद्धिरूपी (मतिज्ञान व श्रुतज्ञान) सम्पत्ति का खजाना हूँ । आप द्वादशाङ्ग श्रुतरूपी समुद्र के पारदर्शी विद्वानों (गणधरादि) द्वारा स्तुति किये गए हैं और मैं परिमित शब्दों वाला और सीमित छन्दों या सीमित आचरण से युक्त हूँ । हे जिनेश ! आप में और मुझमें इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए हम दोनों एक सरीखे कैसे हो सकते हैं ? इसलिए मैं और आप दोनों दो वस्तु हैं ॥ १३७ ॥

हे अनुपम ! जब तुम आप सरीखी वाणी के मार्ग (गणधरादि) द्वारा स्तवन करने के योग्य हो तो मुझ अज्ञानी के आपके गुण-समूह के स्थान न होनेवाले स्तवनों से आपकी स्तुति करना व्यर्थ है, परन्तु जब

१. अपि तु सर्वाणि वाञ्छितवस्तूनि त्वं ददासि । २. किं न भवति ? । ३. मोक्ष । ४. विध्वंसक । ५. सेवा-हृदयमन्दिर ! । ६. कर्मक्षयस्थान ! । ७. बुद्धि दिश । ८. काममदमयो मौढ्यो अन्धकारः । ९. कथितः । १०. रविः । ११. नम्रे नरे । १२. विपरीत । १३. त्वयि । १४. मयि । १५. आचरण मयि । १६. त्वं, अहं च । १७. स्तोत्रैर्मादृशो जडस्य । १८. भवत्सदृशवाणीमार्गयोग्ये । *. 'त्वयि मयि गुणापात्रैः' क० । १९. मौनवान् कथं तिष्ठतु अयं मल्लक्षणः जनः किञ्चिज्जल्पितं, परन्तु मया स्तोत्रं कर्तुं न पार्यते ।

जगन्नेत्रं धाम निखिलविषयज्ञानमहसां[1] महान्तं त्वां मन्ये सकलसमयनीतिस्मृतगुणम्[2]।
महोदारं सारं विनतहृदयानन्दविषये ततो याचे भो चेद्भवसि भगवन्नर्थिविमुखः ॥१३९॥
मनुजदिविजलक्ष्मीलोचनालोकलीला[3]श्चिरमिह[4]चरितार्थास्त्वत्प्रसादात्प्रजाताः।
हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वा[5]त्सहवसतिसनाथं छात्रमित्रे※ विधेहि ॥१४०॥

इत्युपासकाध्ययने स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः।

[6]सर्वाक्षर[7]नामाक्षर[8]मुख्याक्षरार्धेक[9]वर्णविन्यासात्। [10]निगिरन्ति जपं केचिदहं तु [11]सिद्धवर्णैरेव ॥१४१॥
पातालमर्त्यखेचरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य। [12]अविगानात्संसिद्धेः[*] [13]समवाये [14]देवयात्रायाम् ॥१४२॥
पुष्पैः पर्वभिर[15]म्बुजबीजस्वर्णा[16]र्ककान्तरत्नैर्वा। निष्कम्पिताक्षवलयः[17] पर्यङ्कस्थो जपं कुर्यात् ॥१४३॥

नमस्कार संबंधी व्यापार सुलभ है तब मुझ सरीखा विद्वान् मूक कैसे रहे ? इसलिए मैंने कुछ कहा है। परन्तु मेरे द्वारा स्तवन करना शक्य नहीं है, अतः हे स्वामिन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १३८ ॥

हे भगवन् ! आप जगत् के नेत्र हैं, समस्त पदार्थों के ज्ञानरूपी तेज के स्थान हैं, महान् हैं, समस्त सिद्धान्तों में आपके गुण स्मरण किये गए हैं, विनयशील मानवों के हृदय प्रमुदित करने के लिए महान् उदार हैं, अतः मैं आपसे याचना करता हूँ, यदि आप याचकों से विमुख नहीं हैं ॥ १३९ ॥ भगवन् ! आपके प्रसाद से हम इस लोक में चिरकाल तक मानवीय लक्ष्मी व स्वर्गलक्ष्मी के नेत्रों के दर्शन की शोभा प्राप्त करनेवाले होकर कृतार्थ हो चुके। अब तो 'छात्रमित्र' इस दूसरे नामवाले सोमदेवसूरि का यह हृदय प्रभु की सेवा के लिए उत्सुक है, इसलिए अब मेरे हृदय को अपने साथ निवास से सहित कीजिए—मेरे हृदय में निवास कीजिए ॥ १४० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में स्तवन विधि नामक सैंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब जप करने की विधि निरूपण कहते हैं—]

जप-विधि

कोई आचार्य 'णमो अरहंताणं' आदि पूरे नमस्कार मन्त्र से जप करना कहते हैं। कोई अरहंत व सिद्ध-आदि पंच परमेष्ठी के वाचक नामाक्षरों से जप करना कहते हैं। कोई पंचपरमेष्ठी के वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरों से जप करना कहते हैं। कोई 'ओं' अथवा 'अ' आदि एक अक्षर से जप करना कहते हैं, किन्तु मैं (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पैंतीस अक्षरों वाले पञ्च नमस्कार मन्त्र से ही जप करना कहता हूँ ॥ १४१ ॥ अधोलोक में (भवनवासी व व्यन्तर देवों में), मनुष्यों में, विद्याधरों में, वैमानिक देवों में, जन-समाज में और तीर्थङ्कर-पूजा में सिद्धि-दायक होने के कारण पंचनमस्कार मन्त्र का सर्वत्र विशेष आदर है, इसमें किसी प्रकार

१. तेजसां पात्रं स्थानं। २. समयसिद्धान्तचिन्तितगुणं। ३. शोभा। ४. सत्यार्थाः।
५. 'सहनिवाससहितं मदीयं हृदयं कुरु' टि० ख०।
'वसनं वसतिः सह वसत्या सनाथं सहितं सहवसतिसनाथं' टि० च०।
※. 'छात्रा एव मित्राणि यस्य' टि० ख०, 'मयि सोमदेवे' टि० च०।
'छात्रमित्रेति कवेरन्वेदनंक नाम ' इति पञ्जिकायां।
६. णमो अरहंताणमित्यादि पंचत्रिंशत्। ७. अरहंत, सिद्ध इत्यादि। ८. असि आ उसा। ९. ॐ अथवा अ।
१०. कथयन्ति। ११. अनादिसंसिद्धपंचत्रिंशदक्षरैः। १२. अविप्रतिपत्तेः आदरात्। ★. 'अविगानात् संसिद्धिः' च०।
१३. समाजे संघमेलापके। १४. तीर्थङ्करपूजायां। १५. कमल, काकड़ी। १६. सूर्यकान्त। १७. इन्द्रियसमूहः।

अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी [1]तर्जन्यां साधु बहिरिदं नयतु । इतरास्वङ्गुलिषु पुनर्बहिरन्तश्चैहिकापेक्षी ॥१४४॥
वचसा वा मनसा वा कार्यो [2]जापः समाहितस्वान्तैः । शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रसंख्यं द्वितीये तु ॥१४५॥
नियमितकरणग्रामः स्थानासनमानसप्रचारज्ञः । पवनप्रयोगनिपुणः सम्यक्सिद्धो भवेदशेषज्ञः ॥१४६॥
इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थम् । मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ॥१४७॥
मन्त्राणामखिलानामयमेकः कार्यकृद् भवेत्सिद्धः । [3]अस्यैकदेशकार्यं [4] परे [5] तु कुर्युर्न ते सर्वे ॥१४८॥
कुर्यात्करयोर्न्यासं कनिष्ठिकान्तः [6]प्रकारयुगलेन । तदनु [7]हृदाननमस्तककवचास्त्रविधिर्विधातव्यः ॥१४९॥

का विवाद नहीं है ॥ १४२ ॥ पद्मासन से बैठकर इन्द्रिय-समूह को चञ्चल न करके (निश्चल करते हुए) जपकर्ता को पुष्पों से या अङ्गुलियों के पर्वों से अथवा कमलगट्टों से या सुवर्ण के दानों से अथवा सूर्यकान्त-मणि के दानों से पञ्च नमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए ॥ १४३ ॥

मुक्तिश्री के इच्छुक जपकर्ता को माला के लिए अँगूठा और उसके पास की तर्जनी अँगुली पर रखकर तर्जनी अँगुली से भलीभाँति बाहर की ओर जप करना चाहिए और ऐहिक सुख की अपेक्षा करनेवाले जपकर्ता को शेष अँगुलियों (मध्यमा व अनामिका) द्वारा बाहर व अन्दर की ओर जप करना चाहिए ॥ १४४ ॥ ध्येय वस्तु में निश्चलीकृत मनवाले जपकर्ता द्वारा वचन से या केवल मन से पञ्चनमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए। क्योंकि वाचनिक जप में सौगुना और मानसिक जप में तो हजार गुना पुण्य होता है ॥ १४५ ॥ ऐसा विवेकी जपकर्ता सर्वज्ञ होकर सिद्धपद प्राप्त करता है, जिसने समस्त इन्द्रिय-समूह को वश में किया है, जो एकान्तस्थान, आसन (पद्मासन व खड्गासन), और मानस प्रचार (मन को नाभि, नेत्र व ललाट-आदि में संचारित करना) का ज्ञाता है, अर्थात्—जो अपनी मनोवृत्ति समस्त बाह्य विषयों से खींचकर आत्मस्वरूप में ही प्रवृत्त करता है, जो प्राणायाम-विधि द्वारा वायु-तत्व के प्रयोग करने में निपुण है।

भावार्थ—जपकर्ता को सबसे पहले जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक व अनिवार्य है, अन्यथा उसका जप हस्ति-स्नान की तरह निष्फल है। इसी प्रकार उसे एकान्त स्थान में पद्मासन व खड्गासन लगा कर एकाग्र चित्तपूर्वक जप करते हुए प्राणायाम विधि द्वारा कुम्भक व पूरक-आदि वायुतत्व का यथाविधि उपयोग करने में चतुर होना चाहिए; क्योंकि विधि पूर्वक पंचनमस्कार मन्त्र का जपकर्ता सर्वज्ञ होकर सिद्धपद प्राप्त करता है ॥ १४६ ॥

क्योंकि मुनिराज मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए अन्त में इसी पैंतीस अक्षरोंवाले पञ्च-नमस्कार मन्त्र को सदा विधि पूर्वक जपते हैं ॥ १४७ ॥ यह अकेला ही सिद्ध किया हुआ होनेपर सब मन्त्रों का कार्य करता है, किन्तु दूसरे सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी कार्य नहीं करते ॥ १४८ ॥

[जप-प्रारम्भ करने से पूर्व सकलीकरण-विधान—]

दोनों हस्तों की अँगुलियों पर अँगूठे से लेकर कनिष्ठिका अँगुलि तक दो प्रकारसे मन्त्र का न्यास करना चाहिए। तदनन्तर हृदय, मुख व मस्तक-आदि का अङ्गन्यास करके जपकर्ता को निर्विघ्न इष्ट-सिद्धि के लिए सकलीकरण विधिरूपी कवच (बख्तर) व अस्त्र-धारण की विधि करनी चाहिए।

भावार्थ—जप करने से पूर्व अङ्ग-शुद्धि, न्यास व सकलीकरण विधि करनी चाहिए। अर्थात्—प्रतिष्ठा-

१. जाप्ये कृते सति इदं बहिर्वस्तु उच्चाटनीयं जपः प्रापयतु। २. सर्वेनसामपध्वंसि जप्यं त्रिजगदघमर्षणे। ३. मन्त्रस्य। ४. णमो अरहंताणमेतावन्मात्रेणापि। ५. मन्त्राः। ६. विधिपूर्वक अंगुलिरेखा। ७. एष विस्तारः सकलीकरणविधौ ज्ञातव्यः।

संपूर्णमतिस्पष्टं [1]सनादमानन्दसुन्दरं जपतः । सर्वसमीहितसिद्धिर्निःसंशयमस्य जायेत ॥१५०॥
मन्त्रोऽयमेव सेव्यः परत्र मन्त्रे फलोपलम्भेऽपि । यद्यप्यग्रे विटपी फलति तथाप्यस्य सिच्यते मूलम् ॥१५१॥
अत्रामुत्र च नियतं कामितफलसिद्धये परो मन्त्रः । नाभूदस्ति भविष्यति गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् ॥१५२॥
अभिलषितकामधेनौ दुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन् । दृष्टादृष्टफले सति परत्र मन्त्रे कथं सजतु ॥१५३॥
इत्थं मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकनगरं मरुतो[2] नियम्य ।
सम्यग्जपं विदधतः सुधियः प्रयत्नाल्लोकत्रयेऽस्य कृतिनः किमसाध्यमस्ति ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने जपविधिर्नामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[3]आविध्यासुः परं ज्योतिरीप्सुस्तद्धाम शाश्वतम् । इमं ध्यानविधि यत्नादभ्यस्यत्वस्तु समाहितः ॥१५५॥

सार संग्रह पृ० १८ में लिखे हुए मन्त्र (ॐ ह्रां णमो अरहंताणं ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः-आदि) पढ़कर सकलीकरण विधि करनी चाहिए। पश्चात् जप-विधि आरम्भ करनी चाहिए। विद्वद्वर्य० पं० ※. आशाधरजी ने प्रतिष्ठा-सारोद्धार में लिखा है, कि 'इस सकलीकरणरूपी बख्तर को धारण किये हुए जो मन्त्रवाला इष्ट कर्म (पूजा व जप-आदि) करता है, उसके कोई विघ्न नहीं आता।' ॥ १४९ ॥

[पञ्च नमस्कार मन्त्र के जप का फल व माहात्म्य—]

ऐसे जपकर्ता के निस्सन्देह समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं, जो कि आनन्द-पद होने से मनोज्ञ बिन्दु-सहित णमोकार मन्त्र को शुद्ध व स्पष्ट उच्चारणपूर्वक जपता है ॥ १५० ॥ दूसरे मन्त्रों से फल-सिद्धि होने पर भी इसी पञ्चनमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए। क्योंकि वृक्ष यद्यपि अग्रभाग पर फलता है तथा इसकी जड़ सींची जाती है, अर्थात्—यह मन्त्र सब मन्त्रों का मूल है, अतः इसी का जप करना चाहिए ॥ १५१ ॥ पञ्च परमेष्ठी के वाचक इस णमोकार मन्त्र के सिवा दूसरा मन्त्र इसलोक व परलोक में निश्चित रूप से अभिलषित फलसिद्धि करनेवाला न हुआ है, न है और न होगा ॥ १५२ ॥

जब यह णमोकार मन्त्र निस्सन्देह अभिलषित वस्तु के देने में कामधेनु-सरीखा है और पापरूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि-जैसा है एवं ऐहिक व पारलौकिक सुख देने में समर्थ है, तब कौन जपकर्ता मानव दूसरे मन्त्र की जपविधि में तत्पर होगा ? ॥ १५३ ॥ इस प्रकार मन को नियन्त्रित करके और इन्द्रिय-रूपी नगर को बाह्य विषयों से हटाकर आभ्यन्तर की ओर करके तथा श्वासोच्छ्वास को प्राणायाम विधि द्वारा नियन्त्रित करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सम्यग् जप करता है, उस पुण्यशाली जपकर्ता के लिए तीनों लोकों में कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १५४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जपविधि नाम का यह अड़तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब ध्यान-विधि का निरूपण करते हैं—]

---

१. बिन्दुसहितं णकारस्यानुस्वारो दीर्घं पठ्यते। २. नियम्य। ३. आध्यातुमिच्छुः।

※. तथा च विद्वान् आशाधरः—

'क्षमितोऽनेन सकलीकरणेन महामनाः। कुर्वन्निष्टानि कर्माणि केनापि न विहन्यते' ॥ ७० ॥

—प्रतिष्ठासारोद्धार अ० २ पृ० ३६ से संकलित—सम्पादक

तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ दृढमग्नतया मनः । बहिर्व्याप्तौ जडं कृत्वा [1]दृढमासनमाचरेत् ॥१५६॥
[2]सूक्ष्मप्राणयमायामः* [3]स्तब्धसर्वाङ्गसंचरः । [4]ग्रावोत्कीर्ण इवासीत ध्यानानन्दसुधां लिहन् ॥१५७॥
यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मन्येवास्तमासते । तदा ज्योतिः स्फुरत्य[5]न्तश्चिरले[6] चित्ते निमज्जति ॥१५८॥
चित्तस्यैकाग्रता[7] ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः । ध्येय*मात्मागमज्योतिस्तद्विधि र्देहयातना[8] ॥१५९॥
तैरश्चमामरं मार्त्यं नाभसं भौममङ्गजम् । सहेत समधीः सर्वमन्तरायं [9]तुषातिगः ॥१६०॥
[10]नासमित्यसमविद्ध्याय न [11]क्लीबत्वममुत्यवे । तस्मादखिलदयमानात्मा परं ब्रह्मैव चिन्तयेत् ॥१६१॥

ध्यान-विधि

जो अर्हन्त भगवान् का ध्यान करने का अभिलाषी है और जो उस स्थायी मोक्षपद की प्राप्ति का इच्छुक है, उसे सावधान होकर आगे कही जानेवाली इस ध्यानविधि का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिए ॥ १५५ ॥ तत्त्वों (अर्हन्तभगवान् या जीवादि) के चिन्तवनरूपी अमृत के समुद्र में अपना मन दृढ़तापूर्वक मग्न करके और उसे बाह्य विषयों की व्याप्ति से इकदम जड़ करके पद्मासन या खड्गासन से ध्यान करना चाहिए ॥ १५६ ॥ धर्मध्यानी को ध्यानरूपी सुखामृत का आस्वादन करते हुए उच्छ्वास-निःश्वासरूप प्राणवायु के प्रवेश व निर्गम को सूक्ष्म करनेवाला निश्चल और समस्त अङ्गों का हलन-चलन न करनेवाला होकर पाषाण-घटित-सा होते हुए ध्यानस्थ होना चाहिए ॥ १५७ ॥ जब धर्मध्यानी की पाँचों ही इन्द्रियाँ (स्पर्शनादि) बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाती हैं और जब उसका मन आत्मस्वरूप के चिन्तन में डूब जाता है तब उसकी अन्तरात्मा में सम्यग्ज्ञान रूप प्रकाश प्रकट होता है ॥ १५८ ॥

ध्यान-आदि का स्वरूप

चित्त की एकाग्रता (चित्त को ध्येय वस्तु से दूसरी जगह व्यापारित न करना) ध्यान है। ध्यान का फल (स्वर्ग-आदि) भोगने में समर्थ आत्मा ध्याता (ध्यान करनेवाला) है। आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय (ध्यान करने योग्य) हैं तथा देहयातना (करणग्राम-नियन्त्रणा—समस्त इन्द्रिय-समूह को नियन्त्रित करना) ध्यान की विधि जाननी चाहिए ॥ १५९ ॥

धर्मध्यानी का परीषह-सहन

धर्मध्यानी को शत्रु-मित्र में समान बुद्धि-युक्त और तोष-रोष (राग-द्वेष) से रहित होना चाहिए। अन्यथा—राग द्वेष होनेपर उसका आर्त व रौद्र ध्यान हो जायगा और धर्म-ध्यान करते समय उन समस्त अन्तरायों (विघ्नबाधाओं—उपसर्ग व परीषहों) को सहन करना चाहिए, जो पशु-कृत हैं [उदाहरण में जैसे सुकुमाल मुनि पर शृगाली ने उपसर्ग किया था], जो देव-कृत हैं, [उदाहरण में जैसे पार्श्वनाथ भगवान् पर कमठ के जीव व्यन्तर ने उपसर्ग किया था], जो मनुष्यों से उत्पन्न हुए हों, [जैसे पांडवों पर कौरवों ने उपसर्ग किये थे], जो आकाश से उत्पन्न (वज्रपात-आदि) हुए हैं व जो भूमि से उत्पन्न (भूकम्प-आदि) हुए हैं और जो शरीर-कृत (रोगादि) हैं ॥ १६० ॥ क्योंकि उपसर्ग-आदि के समय असमर्थता दिखाने से धर्मध्यान संबंधी

---

१. ऊर्ध्वमुपविष्टं च । २. सूक्ष्म उच्छ्वासनिःश्वासः तस्य यमः प्रवेशः आयामो निर्गमः । * 'शान्तः सर्वाङ्गसुन्दरः' क० । 'शान्तः निश्चलः' पं० । ३. निश्चलः । ४. पाषाणघटितः । ५. मध्ये अन्तरात्मनि । ६. मनसि सति । ७. ध्येयादन्यत्र व्यापाराभावः । *. 'आत्मगमं ज्योतिः' क० । ८. करणग्रामनियन्त्रणा । ९. तोषरोषाभ्यां विनिर्मुक्तः । १०. असमर्थत्वं । ११. कातरत्वं दीनता ।

*यत्रायमिन्द्रियग्रामो [1]व्यासङ्गस्तेनविप्लवम् । नाप्नुवीत तमुद्देशं[2] भजेतात्म्यात्मसिद्धये ॥१६२॥
फल्गुजन्मात्ययं देहो यत्तलाबुफलायते । संसारसागरोत्तारे रक्ष्यस्तस्मात्प्रयत्नतः ॥१६३॥
भरेऽभीरे वृथा [3]वर्म क्षेत्रेऽसस्ये[4] वृतिर्वृथा । यथा तथा वृथा सर्वो ध्यानशून्यस्य तद्विधिः ॥१६४॥
बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं[5] दीपवन्मनः । यत्रत्यालोकनोल्लासि तत्स्याद्ध्यानं सबीजकम् ॥१६५॥
निर्विचारावतारासु चेतः[6]स्रोतःप्रवृत्तिषु । आत्मन्येव [7]स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानमबीजकम्[8] ॥१६६॥

विघ्न दूर नहीं हो सकते और न दीनता दिखाने से जीवन की रक्षा ही हो सकती है; अतः उपसर्ग-सहन में संक्लेश परिणाम से रहित होकर परमात्मा का ही ध्यान करना चाहिए ॥ १६१ ॥

धर्मध्यानी के स्थान का निर्देश

धर्मध्यानी को आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए ऐसा एकान्त स्थान सेवन करना चाहिए, जहाँ पर उसका यह इन्द्रिय-समूह व्याकुलतारूपी चोर की विघ्न-बाधा प्राप्त न कर सके ॥ १६२ ॥ शरीररक्षा—यद्यपि इस मानव-शरीर का जन्म निरर्थक है तथापि यह तपश्चर्या-आदि के द्वारा संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए तुम्बी-सरीखा सहायक है अतः प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ १६३ ॥

ध्यानविधि की निरर्थकता

जिसप्रकार शत्रु से भयभीत हुए कायर पुरुष के लिए कवच का धारण व्यर्थ है एवं जिसप्रकार धान्य से शून्य खेत पर काँटों की बाड़ी लगाना निरर्थक है उसीप्रकार ध्यान न करने वाले पुरुष के लिए ध्यान की सब विधि (आसन-आदि) व्यर्थ है ॥ १६४ ॥

[शुद्धध्यान—दो प्रकार का है, एक सबीजध्यान और दूसरा अबीज ध्यान दोनों का स्वरूप निरूपण करते हैं—]

सबीजध्यान (पृथक्त्ववितर्क सवीचार शुक्लध्यान) जैसे वायु-रहित स्थान में दीपक की लौ निश्चल होकर बाह्य प्रकाश से सुशोभित होती है वैसे ही जिस ध्यान में जब योगी का मन आत्मा में स्थित हुई अज्ञान-रूपी वायुओं से होनेवाली चञ्चलता छोड़कर (निश्चल होकर) जीवादि सप्त तत्त्वों के दर्शन से सुशोभित होता है उसे सबीजक (पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामक शुक्लध्यान) कहते हैं ॥ १६५ ॥

अब अबीजध्यान (एकत्ववितर्क अवीचारनामक शुक्लध्यान) को बतलाते हैं—

जब योगी के चित्तरूपी झरने की प्रवृत्तियाँ (प्रवाह या व्यापार) निर्विचार (संक्रमण-रहित—अर्थात्—द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य-आदि के ध्यानरूप संक्रमण से रहित) के अवतार वाली होती हैं, जिससे उसकी आत्मा विशुद्ध आत्मस्वरूप में ही चमत्कार करनेवाली (लीन होनेवाली) होती है तब उसका वह ध्यान (अबीजक एकत्ववितर्कावीचार नामक शुक्लध्यान) है ।

भावार्थ—यहाँपर दूसरे शुक्लध्यान (एकत्ववितर्क) का निरूपण किया गया है, इसमें चित्तरूपी झरने का प्रवाह अर्थ (द्रव्य) व व्यञ्जन-आदि के संक्रमण से हीन होता है, जिससे आत्मा आत्मा में ही लीन

*. स्थाने । १. व्यासङ्गः (व्याकुलता) एव स्तेनश्चौरस्तस्य विघ्नं न प्राप्नोति । २. स्थानं । ३. कवच । ४. धान्यरहिते । ५. निश्चलं । ६. प्रवाह । ७. चमत्कुर्वन् । ८. एकत्ववितर्काऽवीचाराख्यं शुक्लध्यानमित्यर्थः ।

चित्तेऽनन्तप्रभावेऽस्मिन्प्रकृत्या [1]रसवच्चले । [2]तत्तेजसि स्थिरे सिद्धे न किं सिद्धं जगत्त्रये ॥१६७॥
[3]निर्मनस्के मनोहंसे पुंहंसे सर्वतः स्थिरे । बोधहंसोऽखिला*लोक्य सरोहंसः प्रजायते ॥१६८॥
यद्यप्यस्मिन्मनःक्षेत्रे क्रियां तां तां समाचरन्[4] । कश्चिद्वेदयते[5] भावं तथाप्यत्र न विभ्रमेत्[6] ॥१६९॥
[7]विपक्षे क्लेशराशीनां यस्मान्नैष विधिर्मतः । तस्मान्न विस्मयेतास्मिन्परं ब्रह्मसमाश्रितः ॥१७०॥
प्रभावैश्वर्यविज्ञानदेवतासंगमादयः । योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदां मुदे ॥१७१॥
भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः । तथात्मजमिति ध्यानं सर्वप्राणिनि नोद्भवेत् ॥१७२॥
तस्य कालं वदन्त्यन्तर्मुहूर्तं मुनयः परम् । अपरिस्पन्दमानं हि [8]तत्परं दुर्धरं मनः ॥१७३॥

होती है। यह तेरहवें गुणस्थान में केवलीभगवान् के प्रकट होना है। इस एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्नि द्वारा घातियाकर्मरूपी ईंधन भस्मसात् होकर केवलज्ञान प्रकट होता है ॥ १६६ ॥ अनन्त-सामर्थ्यशाली यह मन, जो कि पारद-सरीखा स्वभाव से चञ्चल है, जब उस तेज (अध्यात्मज्ञान व पक्षान्तर में अग्नि) में स्थिर निश्चल व सिद्ध (ध्यान-मग्न व पक्षान्तर में शुद्ध, मारित, मूर्च्छित व बद्ध-आदि) हो जाता है तब तीन लोक में उस योगी को क्या सिद्ध (प्राप्त) नहीं होता ? अपि तु समस्त स्वर्गश्री व मुक्तिश्री प्राप्त हो जाती है ॥ १६७ ॥ यदि यह मनरूपी हंस अपने मनोव्यापार से रहित हो जाय, अर्थात्—अपनी चञ्चलता छोड़ देवे और आत्मारूपी हंस परमात्मा में लीन होकर सर्वथा स्थिर (आत्मस्थ) हो जाय तो ज्ञान-रूपी हंस समस्त लोकरूपी सरोवर का हंस हो जाता है। अर्थात्—मन निश्चल होने के साथ यदि आत्मा आत्मामें स्थिर हो जाय तो समस्त विश्व को प्रत्यक्ष जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट होता है ॥ १६८ ॥ इस मनरूपी स्थान में जीवादि ध्येय वस्तु में चित्त की एकाग्रतारूप प्रवृत्ति को करता हुआ मुनि हेय (त्याज्य) व उपादेय (ग्राह्य) वस्तु को यथावत् जान लेता है तथापि उसे इसमें विभ्रम (तत्त्व और अतत्त्व में समान बुद्धि या अज्ञान) नहीं करना चाहिए। अर्थात्—हेय वस्तु को उपादेय व उपादेय को हेय नहीं समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि विभ्रम (अज्ञान) होने से धर्मध्यान नष्ट होकर आर्त-रौद्रध्यान हो जाता है ॥ १६९ ॥

क्योंकि हमने दुःख-समूह को देनेवाले शत्रुभूत ध्यान (आर्त व रौद्र ध्यान) में ऊपर कही हुई विभ्रम लक्षणवाली विधि नहीं कही है। अतः परब्रह्म परमात्माका आश्रय लेनेवाले धर्मध्यानी को इस विषय में (ध्यान से उत्पन्न होनेवाली ऋद्धि-आदि में) आश्चर्य नहीं करना चाहिए ॥ १७० ॥ ध्यान के प्रकट होने से प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्टज्ञान और देवों का समागम-आदि प्राप्त हो जाने पर भी तत्वज्ञानी इनसे प्रमुदित (हर्षित) नहीं होते; क्योंकि उनका लक्ष्य ध्यानरूपी अग्नि द्वारा कर्मरूपी ईंधन को भस्म करके केवलज्ञान प्राप्ति का होता है ॥ १७१ ॥

ध्यान की दुर्लभता व माहात्म्य-आदि

जिसप्रकार पृथिवी से रत्नों की उत्पत्ति होती है तथापि सर्वत्र रत्न उत्पन्न नहीं होते उसीप्रकार ध्यान भी आत्मा से उत्पन्न होता है तथापि वह समस्त प्राणियों की आत्माओं से उत्पन्न नहीं होता ॥ १७२ ॥ ऋषि धर्मध्यान व शुक्लध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त तक कहते हैं; क्योंकि निश्चय से इससे अधिक

१. पारदवच्चले । २. अग्नौ ज्ञाने च । ३. मनोव्यापाररहिते । 'निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहंसे सर्वथा स्थिरे । बोधहंसः प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे' ॥ १ ॥ —प्रबोधसार । *. 'लोके' च० । ४. मुनिः । ५. जानाति—हेयमुपादेयं वस्तु यथावत् पश्येदित्यर्थः । ६. हेयमुपादेयतया उपादेयं हेयतया न पश्येत् । ७. शत्रुभूते ध्याने एष विभ्रमलक्षणो विधिर्न कथितः । ८. अन्तर्मुहूर्तकालात्परं ।

तत्कालमपि तद्ध्यानं स्फुरदेकाग्रमात्मनि । उच्चैः कर्मोच्चयं भिन्द्याद्वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥१७४॥
[1]कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यश्चुलुकैर्नोच्चुलुम्पितुम् । [2]कल्पान्तमरुतः पुनर्वातस्तं[3] मुहुः शोषमानयेत् ॥१७५॥
[4]रूपे मरुति[5] चित्तेऽपि [6]तथान्यत्र यथा विशन् । लभेत कामितं तद्वदात्मना परमात्मनि ॥१७६॥
[7]वैराग्यं [8]ज्ञानसंपत्तिरसङ्गः[9]स्थिरचित्तता[10] । [11]ऊर्मिस्मयसहत्वं* च पञ्च [12]योगस्य हेतवः* ॥१७७॥
[13]आधि[14]व्याधिविपर्यास[15]प्रमादा[16]लस्य[17]विभ्रमाः[18] ।
[19]अलाभः [20]सङ्गितास्थैर्य[21]मेते [22]तस्यान्तरायकाः* ॥१७८॥

काल तक मन का स्थिर होना अत्यन्त कठिन है ॥ १७३ ॥ जिसप्रकार वज्र क्षणभर में महान् पर्वत को चूर-चूर कर डालता है उसीप्रकार आत्मा में प्रकट हुआ अन्तर्मुहूर्त कालवाला निश्चल शुक्लध्यान भी महान् घातिया कर्मसमूह को विदीर्ण (नष्ट) कर देता है ॥ १७४ ॥ जिस प्रकार सैकड़ों कल्पकालों (युगान्तरों) तक हस्त की चुल्लुओं से समुद्र के जल को उलीचने पर भी समुद्र खाली नहीं होता, परन्तु प्रलयकालीन प्रचण्ड वायु उसे बार-बार शोषण में ला देती है—सुखा देती है उसी प्रकार आत्मा में प्रकट हुआ शुक्लध्यान भी अन्तर्मुहूर्त में घातिया कर्म-समूह को नष्ट कर देता है ॥ १७५ ॥ जैसे कामतत्व (कमनीय कामिनी) आदि में व दूसरे के शरीर में प्रवेश-करना-आदि में एवं बाह्य वस्तुओं में मन को स्थिर करने से अभिलषित वस्तु (कामतत्व-आदि) प्राप्त होती है वैसे ही आत्मा के द्वारा परमात्मा में मन स्थिर करने से परमात्मपद की प्राप्ति होती है ॥ १७६ ॥

निम्नप्रकार पाँच प्रशस्त गुण धर्मध्यान की उत्पत्ति में कारण हैं। वैराग्य (देखे हुए व आगामी काल में आनेवाले इन्द्रियों के विषयों में तृष्णा का अभाव), ज्ञानसम्पत्ति (बंध व मोक्ष की प्राप्ति के उपाय का ज्ञान), असङ्ग (बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग), स्थिरचित्तता (तप, स्वाध्याय व ध्यान कर्म में चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न) व ऊर्मिस्मयसहत्व (शारीरिक—क्षुधा-तृषा-आदि, मानसिक—शोक-आदि व आगन्तुक परीषहों-दुःखों) के उद्रेक (वृद्धि) पर विजय प्राप्त करना ॥ १७७ ॥

निम्नप्रकार ९ दुर्गुण धर्मध्यान के अन्तराय (विघ्नबाधा उपस्थित करने वाले) हैं। आधि (दौर्मनस्य—मानसिक पीड़ा या कुत्सित मनोवृत्ति), व्याधि (दोष-वैषम्य—शारीरिक रोग), विपर्यास (अतत्व में तत्व का आग्रह), प्रमाद (तत्वज्ञान की प्राप्ति में अनादर), आलस्य (प्राप्त हुए तत्व का अनुष्ठान न

१. युगान्तरैः । २. प्रलयकालोत्पन्न । ३. अम्बुधि । ४. कामतत्वादौ । ५. परकायप्रवेशादौ । ६. अन्यत्र बाह्ये वस्तुनि यथा वाञ्छितं भवति । ७. दृष्टागामिविषयेषु वैतृष्ण्यं । ८. बन्धमोक्षोपायविवेकः । ९. बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागः । १०. तपःस्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽविचलितप्रयत्नः । ११. शारीरमानसागन्तुकपरीषहोद्रेकविजयित्वं ।
*. 'प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे, मनसः शोकमोहने, जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः' । तथा च श्रीभागवतटीकायां—'शोकमोहौ जरामृत्यू, क्षुत्पिपासे षडूर्मयः' ।

१२. योगतत्वमात्ममनःसावधानचित्तवृत्तिनिरोधः, न चित्तवृत्तिनिरोधमात्रमन्यथा सुप्तमूर्च्छितादीनामपि योगतापत्तेः ।
*. तथा चोक्तं प्रबोधसारे—'निर्वेदोदयसम्पत्तिः स्वान्तस्थैर्यं रहःस्थितिः । विविधोर्मिसहत्वं तु साधूनां ध्यानहेतवः ॥ १ ॥
तथा चोक्तं तत्वानुशासने—'सङ्गत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं । मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ १ ॥
१३. आधिर्दौर्मनस्यं । १४. दोषवैषम्यं व्याधिः । १५. 'परमतभ्रान्तिः' टि० ख०, 'असत्ये तत्वाभिनिवेशो विपर्यासः' टि० घ० च० पञ्जिकायां च । १६. तत्वाधिगमानादरः प्रमादः । १७. लब्धस्यापि तत्वस्याननुष्ठानमालस्यं । १८. तत्वातत्वयोः समा बुद्धिर्विभ्रमः । १९. स्वपरयोरज्ञानादभ्यस्ततत्वाप्राप्तिरलाभः । २०. सत्यपि तत्वज्ञाने सुखदुःखसाधनोत्कर्षापकर्षाभिनिवेशः सङ्गिता । २१. योगहेतुषु मनसोऽव्यवस्थितत्वमस्थैर्यं । २२. ध्यानस्य ।
*. तथा चोक्तं प्रबोधसारे—'स्वान्तास्थैर्यं विपर्यासं प्रमादालस्यविभ्रमाः । रौद्रार्तावियमास्थानमेते प्रत्यूहदायिनः ॥१॥

यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः । रोषतोषाविविक्तात्मा[1] तयोरासीत लोष्ठवत् ॥१७९॥
[2]ज्योतिर्बिन्दुः कला नादः कुण्डलीवायुसंचरः । मुद्रा[3]मण्डलधोद्धानि[4]निर्बीजीकरणादिकम्[5] ॥१८०॥

करना), विभ्रम (तत्व व अतत्व में सदृश बुद्धि), अलाभ (आत्मा व अनात्मा का ज्ञान न होने से अभ्यास किये हुए तत्व की प्राप्ति न होना), सङ्गिता (तत्वज्ञान होने पर भी सुख-साधनों में हर्ष व दुःख-साधनों में द्वेष का आग्रह करना) व अस्थैर्य (ध्यान के कारणों में मन की अशान्ति अर्थात् मन को न लगाना) ॥ १७८॥

धर्मध्यानी का कर्त्तव्य

जो काँटों से ध्यानी का शरीर व्यथित करता है और जो उसके शरीर पर चन्दनों का लेप करता है ऐसे शत्रु-मित्रों पर जिसका अभिप्राय क्रम से द्वेष व राग से असम्पृक्त (नहीं छुआ हुआ) है, ऐसे धर्मध्यानी को पाषाण-घटित-सरीखा होकर ध्यान में स्थित होना चाहिए ॥ १७९ ॥

[अब अन्य मत संबंधी ध्यान कहकर उसकी समीक्षा करते हैं]

तान्त्रिकों की मान्यता है कि योगी पुरुष ज्योति (ओंकार की आकृति का ध्यान, अर्थात्—यथाविधि प्रणवमन्त्र (ओंकार) का जप करना), बिन्दु—पीत व शुभ्र-आदि बिन्दुका दर्शन (प्राणायाम विधि के अवसर पर मुख के दक्षिण भाग पर व वाम भागपर क्रम से दाहिनी व बाईं हस्ताङ्गुलियों का तत्तत्स्थानों पर स्थापन करने के बाद जैसे कानों में अङ्गुष्ठ को, नेत्र-प्रान्त में तर्जनी को, नासापुट में मध्यमा अङ्गुली को, ऊर्ध्व ओष्ठ के प्रान्त भाग में अनामिका और अधरोष्ठ के प्रान्त भागमें कनिष्ठिका अङ्गुली को स्थापित करना चाहिए इसके बाद अन्तर्दृष्टि द्वारा अवलोकन करने पर बिन्दु का दर्शन होता है जैसे पीतबिन्दु के दर्शन से पृथिवी तत्व का, श्वेत बिन्दु के दर्शन से जलतत्व का, अरुणबिन्दु के दर्शन से तेजतत्व का, श्याम-बिन्दु के दर्शन से वायु-तत्व का और पीतादिवर्ण-रहित परिवेषमात्र के दर्शन से आकाश तत्व का ज्ञान होता है), कला (अर्धचन्द्र), नाद (अनुस्वार के ऊपर रेखा ‾), कुण्डली (प्राणियों की पिङ्गला नाम की दक्षिण नाड़ी व इड़ा नाम की वामनाड़ी एवं मध्यवर्ती सुषुम्ना नाड़ी, अर्थात्—प्राणायाम-विधि में वायु का संचार ढाई घड़ी पर्यन्त पिङ्गला व इडा नाड़ी द्वारा होता है-इत्यादि) व वायु-संचार (कुम्भक—नासापुट द्वारा शरीर के मध्य प्रविष्ट की जानेवाली घटाकार वायु, पूरक—बाह्य वायु को पूर्ण शरीर में प्रविष्ट करना व रेचक—कोष्ठ्य वायु का बाहिर निकालना-इत्यादि, श्वास (बाह्य वायु को नासापुट द्वारा शरीर के मध्य स्थापित करना) व प्रश्वास (कोष्ठ्य

१. अविविक्तात्मा असंपृक्ताशयः। २. ॐकारस्याकारेण बिन्दुकलादीनामाकारेण च निर्बीजीकरणं कर्म करोति, तदवसाने मरणस्य जयो भवतीति मिथ्यादृष्टयः कथयन्ति तदसत्यं । बिन्दुः (तथा चोक्तं—'पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुभिर्निरुपाधि खम्' सं० टीका—पीतवर्णे बिन्दौ दृष्टे पृथिवीतत्त्वं वहतीति ज्ञेयं, श्वेतबिन्दुदर्शने जलतत्त्वं, अरुणबिन्दुदर्शने तैजसतत्त्वम्, श्यामबिन्दुदर्शने वायुतत्त्वं, पीतादिवर्णरहितपरिवेषमात्रदर्शने आकाशतत्त्वमिति । उपाधि शब्देन पीतादयो वर्णा गृह्यन्ते । खमाकाशम् यथावद्वायुतत्वमवगम्य तन्नियमने विधीयमाने विवेकज्ञानावरणकर्मक्षयो भवति, तपो न परं प्राणायामात् । सं० टीका—उक्तरीत्या श्वासोच्छ्वासतत्वं विज्ञाय प्राणायामेन वायोर्निरोधे कृते विवेकज्ञानाच्छादकं कर्म क्षीयते । सर्वदर्शनसंग्रह पातञ्जलदर्शनप्रकरण पृ० ३८० से संकलित—सम्पादक) अर्धचन्द्रं कला, अनुस्वारस्योपरि रेखा स नादः कथ्यते । कुण्डली तदाकारेण बीजीकरणम् । ३. त्रिकोण चतुष्कोणादि बहुप्रकारं ठेन बहुधर्मं । ४. प्रेमाणि । ५. यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्बीजीकरणं क्रियते ।

[1]नाभौ नेत्रे[2] ललाटे च[3]ब्रह्मग्रन्थौ च तालुनि ।
[4]अग्निमध्ये रवौ[5]चन्द्रे[6] लूतातन्तौ[7] हृदङ्कुरे[8] ॥१८१॥
मृत्युंजयं भवन्तेषु[9]सतत्वं[10] किल मुक्तये । अहो मूढधियामेष नयः स्वपरवञ्चनः ॥१८२॥

वायु को शरीर से बाहर निकालना) को गतिविच्छेद लक्षणवाला प्राणायाम) मुद्रा (आसन, अर्थात्—हस्त व पादादि का अवस्थान विशेषरूप पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार का आसन) व मण्डल (त्रिकोण व चतुष्कोण व वृत्ताकार-आदि आकार) इन सबमें प्रेरणा से की जानेवाली क्रियाएँ (कर्म) बीजीकरणकर्म (संप्रज्ञात समाधि—बाह्य पदार्थों को विषय करनेवाली अविद्या-आदि वृत्तियों का निरोध) में और निर्वीजीकरण (असंप्रज्ञातसमाधि) में कारण हैं । अभिप्राय यह है, कि आसन की स्थिरता-आदि में प्रतिष्ठित हुआ प्राणायाम उत्कृष्ट तपरूप होकर संप्रज्ञात समाधि-आदि में कारण होता है । इसी प्रकार वह प्राणायाम-विधि से निम्न प्रकार बीजीकरण कर्म (संप्रज्ञातसमाधि) को नाभि, नेत्र, ललाट (मस्तक), ब्रह्मग्रन्थि (समस्त आतड़ियों का समूह) व तालु, अग्नितत्ववाली नासिका, रवि (दक्षिणनाड़ी), चन्द्र (वामनाड़ी), जननेन्द्रिय व हृदङ्कुर (हृदयछिद्र के बिना भी उस काल में भेद-सरीखी गाँठ हो जाती है) इनके प्रमुख मार्ग द्वारा करता है और जब मरणवेला होती है तब मुक्ति की प्राप्ति के लिए निर्वीजीकरण कर्म (असंप्रज्ञात समाधि) करता है जिससे वह मृत्यु से वञ्चित होता है, अर्थात्—उसका पश्चात् मरण नहीं होता; क्योंकि प्रस्तुत तत्त्व (निर्वीजीकरण) निश्चय से मुक्ति का कारण है । अहो—आश्चर्य की बात है; क्योंकि यह अपने व दूसरों को ठगनेवाली नीति मूढ़ बुद्धिवालों की समझनी चाहिए ।

भावार्थ—पातञ्जल दर्शन में योग (ध्यान) के आठ अङ्ग कहे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि* । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पाँच यम हैं ।[11] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं ।[12] पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार के आसन हैं । क्योंकि आसन की स्थिरता होनेपर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है । श्वास (नासापुट द्वारा बाह्य वायु का भीतर प्रवेश, जिसे पूरक कहते हैं) और प्रश्वास-(नासापुट द्वारा कोष्ठ्य वायु का बाहर निकालना, जिसे रेचक कहा है) काल में वायु की स्वाभाविक गति का निरोध (रोकना) प्राणायाम है[13] । उसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक व रेचक ।

१-२. 'नेत्रनाभिप्रमुखमार्गेण शुक्रनिष्कासनं कर्म मृत्युञ्जयं भवति साधनाभ्यासेन' । विमर्श—अयं विषयः टिप्पणीकारेण कुतः शास्त्रात् संकलितः ? इति न जानीमो वयं यतः पातञ्जलयोगदर्शने नास्ति । —सम्पादक

३. निखिलान्त्रजालं ब्रह्मग्रन्थिरुच्यते तत्रापि निर्वीजीकरणं भवति । ४. नासिकायां अग्नितत्वं वर्तते । ५. दक्षिणनाड्यां । ६. चन्द्रे वामनाड्यां । ७. लूतातन्तौ लिङ्गविषये । ८. हृदयछिद्रं विनापि तदाकाले भेद-सदृशग्रन्थिः स्यात् । ९-१०. यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्वीजीकरणं क्रियते तेन कर्मणा मृत्यौ वंचिते सति पश्चात् कदाऽपि मरणं न स्यादित्यर्थः ।

*. तथा चोक्तं पतञ्जलिना—'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति (पात० यो० सू० २।२९)

११. तथा चाह पतञ्जलिः—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । (पात० यो० सू० २।३०)

१२. ,, ,, शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । (पात० यो० सू० २।३२)

१३. ,, ,, ,, तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । (पात० यो० सू० २।४९)
श्वासो नाम बाह्यस्य वायोरन्तरानयनम् । प्रश्वासः पुनः कोष्ठ्यस्य बहिर्निःसारणम् ॥

नासापुट से बाह्य वायु को शरीर के मध्य प्रविष्ट करके शरीर में पूरने को पूरक कहा है। उस पूरक वायु को स्थिर करके नाभिकमल में घट की तरह भरकर रोके रखने को कुम्भक कहा है। पश्चात् उस वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। प्राणायाम से स्थिर हुआ चित्त, इन्द्रियों के विषयों से संयुक्त नहीं होता और ऐसा होने से इन्द्रियाँ भी विषयों से संयुक्त नहीं होतीं वे इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप को अनुकरण करनेवाली हो जाती हैं। इसी को प्रत्याहार कहते हैं[१]।

जिस देश में (नाभिचक्र, हृदयकमल, नासाग्र, भ्रुकुटि का मध्यभाग व मस्तक-आदि देश में) ध्येय (प्रणव—ओंकार-मन्त्र-आदि) चिन्तनीय है, उस देश में चित्त के स्थिरीकरण को धारणा कहते हैं[२]।

पौराणिकों ने कहा है कि 'प्राणायाम से वायु को वश में करके और प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को वश करके पश्चात् नाभिचक्र-आदि देशरूप शुभाश्रय में चित्त को अवस्थिति (एकाग्रता) करे।[३] प्रसन्नवदन (विष्णु-आदि) ध्येयरूप के ज्ञान के ऐसे प्रवाह को ध्यान कहते हैं, जो कि एकाग्ररूप और दूसरे विषयों के व्यवधान से शून्य है।'[४] * पौराणिकों ने भी यही कहा है। 'वही ध्यान ध्येय के आवेश के वश से जब ध्यान व ध्याता की दृष्टि से शून्य होकर ध्येयरूप अर्थमात्र को ग्रहण करनेवाला होता है उस काल में ध्यान विद्यमान होकर के भी ध्याता, ध्यान व ध्येय-आदि विभागको ग्रहण न करने के कारण स्वरूप-शून्य की तरह हो जाता है, उसे समाधि कहते हैं।'[५] समाधि के दो भेद हैं—संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि। उक्त आठ योग (ध्यान) के साधनों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच योग के बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि ये चित्त की स्थिरता द्वारा परम्परा से ध्यान के उपकारक हैं। धारणा, ध्यान व समाधि ये तीन योग के अन्तरङ्ग कारण हैं; क्योंकि समाधि के स्वरूप को निष्पादन करते हैं। इसप्रकार यह ध्यानरूपी वृक्ष चित्तरूपी क्षेत्र में यम व नियम से बीज प्राप्त करता हुआ आसन व प्राणायाम से अङ्कुरित होकर प्रत्याहार से कुसुमित होता है एवं धारणा, ध्यान व समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनों से फलशाली होता है।

प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि योगी (ध्यानी) को पूर्वोक्त यम (अहिंसा-आदि) व नियम (शौच व सन्तोष-आदि) को धारण करते हुए आसन (पद्मासन-आदि) की स्थिरता से प्राणायाम को प्रतिष्ठित करना चाहिए और प्राणायाम की वेला में सबसे प्रथम प्रणवमन्त्र (ओंकार) रूप ध्येय तत्व का चिन्तन करना चाहिए। पश्चात् पीत व शुभ्र-आदि बिन्दु का दर्शन करना चाहिए, जो कि पृथिवीतत्त्व, जलतत्त्व व तेजतत्त्व आदि के ज्ञान में साधन है। अर्थात्—प्राणायाम के समय योगी को मुख के दक्षिण भाग पर व वामभाग पर क्रम से दाहिनी व बाईं हस्ताङ्गुलियों को तत्तत्स्थानों पर स्थापन करने के बाद, जैसे कानों में अङ्गुष्ठ को, नेत्रप्रान्त में तर्जनी को, नासापुट में मध्यमा अङ्गुलि को, ऊर्ध्व ओष्ठ के प्रान्तभाग में अनामिका को और

---

१. तथा चाह पतञ्जलिः—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (पात० यो० सू० २।५४)

२. „ „ „ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (पात० यो० सू० ३।१)

३. तथा चोक्तं विष्णुपुराणे—
प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्। वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥ १ ॥ (वि० पु० ६।७।४५)

४. तथा चाह पतञ्जलिः—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (पा० यो० सू० ३।२)

*. तथा चोक्तं विष्णुपुराणे—
तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या संततिश्चान्यनिःस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥ १ ॥ (वि० पु० ६।७।८९)

५. तथा चाह पतञ्जलिः—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (पात० यो० सू० ३।३)

कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्येवंविधैर्नयैः । अलं तपोजपाप्तेष्टि[1]दानाध्ययनकर्मभिः ॥१८३॥
योऽविचारितरम्येषु क्षणं देहातिहारिषु । इन्द्रियार्थेषु वश्यात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते ॥१८४॥
यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरीकुरुते मनः । [2]तन्निरोधभुवो धाम्नः[3] स[4]ईप्सति कथं नरः ॥१८५॥
आत्मज्ञः संचितं दोषं [5]यातनायोग[6]कर्मभिः । कालेन [7]क्षपयन्नेति योगी रोगीव [8]कल्पताम् ॥१८६॥

अधरोष्ठ के प्रान्तभाग में कनिष्ठिका अङ्गुली को स्थापित करना चाहिए। इसके पश्चात् अन्तर्दृष्टि द्वारा अवलोकन करने पर बिन्दु का दर्शन होता है। जैसे पीतबिन्दु के दर्शन से पृथिवीतत्त्व का, श्वेतबिन्दु के दर्शन से जलतत्त्व का, अरुणबिन्दु के दर्शन से तेजतत्व का, श्यामबिन्दु के दर्शन से वायुतत्व का और पीतादिवर्ण-रहित परिवेष मात्र के दर्शन से आकाश तत्त्व का ज्ञान होता है।

प्राणायाम की बेला में अर्द्धचन्द्ररूप कला का चिन्तवन करते हुए नाद (ध्वनिविशेष—अजा शब्दानुकरण) करना चाहिए।

इसके बाद वायु के वहन व स्थान का ज्ञान करने के लिए कहा गया है—प्राणियों की पिङ्गला नामकी दक्षिणनाड़ी, इड़ा नामकी बामनाड़ी एवं सुषुम्ना नामकी मध्यवर्ती नाड़ी है। वायु का संचार ढाई घड़ी पर्यन्त पिङ्गला से होता है, बाद में ढाई घड़ी तक इड़ा से होता है। पुनः उतने काल तक पिङ्गला से पश्चात् उतने काल तक इड़ा से होता है। इस प्रकार दिन रात रिहिट की घरियों के घूमने की तरह दोनों नाड़ियों से वायु बहती है। एक एक घड़ी में ६० साठ पल होते हैं और एक एक पल में श्वास-प्रश्वास छह होते हैं, इस प्रकार एक घड़ी में ६० × ६ = ३६० श्वास-प्रश्वास होते हैं और ढाई घड़ी में ९०० श्वास-प्रश्वास होते हैं। अर्थात्—एक घंटे में ९०० श्वास-प्रश्वास होते हैं। इस प्रकार सूर्योदय से लेकर पुनः सूर्योदय पर्यन्त (२४ घंटे में) २१६०० श्वास-प्रश्वास होते हैं। इस प्रकार नाड़ी-संचरण की दशा में वायु का संचार होने पर पृथिवी-आदि तत्वों का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार योगी प्राणायाम विधि से निम्नप्रकार संप्रज्ञातसमाधि को नाभि, नेत्र, ललाट, समस्त आंतड़ियों का समूह, तालु, अग्नितत्त्ववाली नासिका, दक्षिणनाड़ी, बामनाड़ी, जननेन्द्रिय व हृदङ्कुर इनके प्रमुख मार्ग द्वारा करता है (जिसे हम धारणा के विवेचन में स्पष्ट कर चुके हैं) और जब मरणवेला होती है तब मुक्ति की प्राप्ति के लिए असंप्रज्ञात समाधि करता है, जिससे वह मृत्यु से वञ्चित होता है* ॥ १८०–१८२ ॥

यदि इस प्रकार के प्राणायाम-आदि उपायों से इन कर्मों का क्षय हो सकता है तो उनके क्षय के लिए तप, जप, जिनपूजा, दान व स्वाध्याय-आदि क्रियाकाण्ड व्यर्थ हो जायेंगे॥ १८३ ॥ आश्चर्य है कि वह मानव भी, जिसकी आत्मा विना विचारे मनोज्ञ प्रतीत होनेवाले व क्षणभर के लिए शारीरिक पीड़ा दूर करनेवाले इन्द्रियों के विषयों में वशीभूत है, निस्सन्देह योगी (ध्यानी) कहा जाता है ? ॥ १८४ ॥ इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा जिसके मन को पीड़ित करती है, वह मानव इन्द्रियों के रोकने से उत्पन्न होनेवाले मोक्षरूपी तेज की प्राप्ति की इच्छा कैसे कर सकता है ? ॥ १८५ ॥ आपके यहाँ आत्मज्ञानी मुनि उस प्रकार संचित (पूर्व में बाँधे हुए) दोषों (राग, द्वेष व मोहादि) को यातना (शारीरिक तीव्रवेदना) व योगकर्मों (प्राणायाम-आदि-

१. जिनपूजा। २. इन्द्रिय। ३. तेजसः। ४. कथं प्राप्तुमिच्छति ?। ५. लङ्घनादि तीव्रवेदना। ६. योगः औषधादिप्रयोगः ध्यानं च। ७. क्षयं कुर्वन्। ८. नीरोगतां।

*. प्रस्तुत लेखमाला 'पातञ्जलयोगदर्शन' के आधार से गुम्फित की गई है—सम्पादक

लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये । सुखे दुःखे समानात्मा भवेद्ध्यानधीः सदा ॥१८७॥
परे[1] ब्रह्मण्यनूचानो[2] [3]धृतिमैत्री[4]दया[5]न्वितः ।
[6]अन्यत्र सूनृताद्वाक्यान्नित्यं [7]वाचंयमी भवेत् ॥१८८॥
[8]संयोगे [9]विप्रलम्भे च [10]निदाने [11]परिदेवने । [12]हिंसायामनृते स्तेये भोगरक्षासु तत्परे[13] ॥१८९॥

ध्यान के अङ्गों) से चिरकाल में क्षय करता हुआ कल्पता (मुक्ति) प्राप्त करता है, जिस प्रकार रोगी शरीर में संचित किये हुए दोषों (वात, पित्त व कफ की विषमता से उत्पन्न हुए रोगों) को यातना (लङ्घन-आदि) व योगकर्म (औषधि के प्रयोग) द्वारा चिरकाल से क्षय करता हुआ कल्पता (निरोगता) प्राप्त करता है।

भावार्थ—यदि आपके यहाँ आत्मज्ञानी योगी पुरुष प्राणायाम की विधि से उत्पन्न हुई शारीरिक तीव्रवेदना व योगकर्मों (ध्यानादि क्रियाकाण्डों) से पूर्व में बाँधे हुए अज्ञानादि पाप कर्मों को क्षय करता हुआ चिरकाल में मुक्ति-लाभ करता है तो वह रोगी-सरीखा ही है; क्योंकि रोगी भी प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार द्वारा संचित हुए वात, पित्त व कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाले रोगों को लङ्घन व औषधि के प्रयोग से समय पाकर क्षीण करता हुआ निरोगता प्राप्त करता है ॥ १८६ ॥

धर्मध्यान में बुद्धि रखनेवाले को सदा लाभ व हानि में, वन और गृह में, मित्र व शत्रु में, मनोज्ञ व अमनोज्ञ में एवं सुख व दुःख में समभाव रखनेवाला होना चाहिए ॥ १८७ ॥ धर्मध्यानी को परमात्मा में लवलीन होते हुए द्वादशाङ्ग श्रुत का अभ्यासी एवं धृति (प्रिय-अप्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर चित्त को विकृत न करना), मैत्री (समस्त प्राणियों से द्रोह न करने की बुद्धि) और दया (अपने समान दूसरे प्राणियों के हित करने की बुद्धि) से युक्त होते हुए सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए अथवा मौन पूर्वक रहना चाहिए ॥ १८८ ॥

आर्त व रौद्रध्यान का स्वरूप और उनके त्यागने का उपदेश

विवेकी को आर्त व रौद्रध्यान त्याग देना चाहिए, जो कि संयोग, वियोग, निदान, वेदना, हिंसा, झूठ, चोरी व भोगों की रक्षा में तत्परता से उत्पन्न होते हैं और जीव को अनन्त संसार में भ्रमण लक्षणवाले पापरूपी रथ के मार्ग हैं और परिणाम में विशेष दुःख देनेवाले हैं।

भावार्थ—इनमें पहला आर्तध्यान चार प्रकार का है। अनिष्ट संयोगज, इष्टवियोगज, निदान व परिदेवनरूप। अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जाने पर उससे छुटकारा पाने के लिए जो सदा अनेक प्रकार के उपायों

१. आत्मनि। २. प्रवचने साङ्गे अधीती। ३. प्रियाप्रियवस्तूपनिपाते चित्तस्याविकृतिर्धृतिः। ४. सर्वसत्वानभिद्रोहबुद्धिर्मैत्री। ५. आत्मवत् परस्यापि हितोपादानवृत्तिर्दया। ६. विना। ७. सत्यं वदेत् अथवा मौनी स्यात्। ८. संयोगे इत्यादिना चतुर्विधमार्तध्यानमुपदिशति—तत्र पंचानामिन्द्रियाणां मनसाऽधिष्ठितानामुपभोक्तृत्वेन स्वेषु विषयेषु प्रवृत्तिः संयोगः। ९. 'वियोगे' टि० ख०, 'प्रीतिविषयस्य वस्तुनो देशकालाभ्यां विप्रकर्षात्मनो दौर्मनस्यं विप्रलम्भः। १०. निजानुष्ठानमूल्येनानिमिषं मनुष्येष्वभिलषितवस्तुपरिपणनं निदानं। ११. आगतयोरिष्टानिष्टयोरविप्रयोगवियोगप्रार्थनमनागतयोरुत्पत्त्यनुत्पत्तिप्रार्थनं वा परिदेवनं।
तथा चार्या—प्राप्तेऽप्राप्ते च हिते वियोगसंयोगबुद्धिरर्तिः स्यात्। विषमानामागमचिन्तनमहिते च तदुद्भवं वार्त्तं ॥ १ ॥
१२. हिंसायामित्यादिना चतुर्विधं रौद्रं समुपदिशति—हिंसादयः कविना स्वयमेव व्याख्याताः।
तथा चोक्तं—स्वपरापायगो भावो रुद्र इत्युच्यते बुधैः। तत्र यार्तं तु यं कर्म रौद्रं सन्तस्तद्भूचिरे ॥ १ ॥
१३. पूर्वोक्ते पदार्थे तत्परे तन्मये द्वे आर्तरौद्रध्याने।

जन्तोरनन्तसंसारभ्रमणै[1]रथवर्त्मनी । [2]आर्तरौद्रे त्यजेद्ध्याने दुरन्तफलदायिनी ॥१९०॥
बोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गार्गले परे । सोपाने श्वभ्रलोकस्य तत्त्वेक्षावृत्तिपक्ष्मणी[3] ॥१९१॥
लेशतोऽपि मनो यावदेते समधितिष्ठतः । एष जन्मतरुस्तावदुच्चैः समधिरोहति ॥१९२॥
ज्वलन्कज्जलमाधत्ते प्रदीपो न रविः पुनः । तथाशयविशेषेण ध्यानमारभते फलम् ॥१९३॥
प्रमाणनयनिक्षेपैः सानुयोगैर्विशुद्धधीः । मतिं तनोति[4] तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायणः ॥१९४॥
[5]अरहस्ये यथा लोके सती[6] काञ्चनकर्मणी[7] । [8]अरहस्यं तथेच्छन्ति सुधियः परमागमम् ॥१९५॥

का चिन्तवन करना है, वह अनिष्ट संयोगज नामका पहला आर्तध्यान है। इष्ट वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए हमेशा चिन्तवन करते रहना वह इष्टवियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान है। आगामी भोगों की प्राप्ति के लिए सतत चिन्तवन करना तीसरा निदान नामका आर्तध्यान है। शारीरिक पीड़ा हो जाने पर उसे दूर करने के लिए निरन्तर चिन्तवन करना वह वेदना नामका चौथा आर्तध्यान है। इसीप्रकार रौद्रध्यान भी हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, व परिग्रहानंदी के भेद से चार प्रकार का है। दूसरों को सताने में आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है। झूठ बोलने में आनन्द मानना मृषानन्दी, चोरी करने में आनन्द मानना चौर्यानन्दी और विषय-भोग की सामग्री के संचय करने में आनन्द मानना विषयानन्दी नामका चौथा-रौद्रध्यान है। उक्त दोनों आर्त व रौद्रध्यान त्याग देने चाहिए ॥१८९-१९०॥ ये दोनों अशुभ ध्यान जाननेयोग्य आगम के ज्ञान को रोकने के लिए किवाड़-सरीखे हैं और मोक्षमार्ग के रोकने के लिए बड़े अर्गल-(बेड़ा) जैसे हैं एवं नरकलोक में उतरने के लिए सीढ़ी-जैसे हैं और तत्त्वदृष्टि को ढाँकने के लिए पलकों के समान है ॥ १९१ ॥ जब तक मन में ये दोनों ध्यान लेशमात्र भी अधिष्ठित रहते हैं तबतक यह संसाररूपी वृक्ष विशेष ऊँचा होकर बढ़ता चला जाता है ॥ १९२ ॥ जिसप्रकार जलता हुआ दीपक कज्जल धारण करता है कि जलता हुआ सूर्य, उसीप्रकार ध्यान भी ध्यान करनेवाले के अच्छे या बुरे भावों के अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है ॥ १९३ ॥

धर्मध्यान

[दोष व दोष-फल प्रदर्शित करने पर मनुष्य-लोक का गुण व गुण-फल के श्रवण में आग्रह होता है, ऐसा निश्चय करके शास्त्रकार आर्त व रौद्र ध्यान के बाद धर्मध्यान का निरूपण करते हैं]

जो निर्मल बुद्धिशाली मानव धर्मध्यान में तत्पर होता है, वह प्रमाण (सम्यग्ज्ञान), नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारों के साथ तत्त्वों के ज्ञान में अपनी बुद्धि प्रेरित करता है, वह उसका आज्ञाविचय धर्मध्यान है ॥ १९४ ॥ जिसप्रकार लोक में सुवर्ण की दो क्रियाएँ (कसौटी पर कसना और छेदन करना) प्रकटरूप से होती हैं उसीप्रकार विद्वान् पुरुष परमागम को भी गूढ़ता-रहित (प्रकट अर्थवाला) चाहते हैं। अभिप्राय यह है कि सुवर्ण की तरह परमागम भी ऐसा होना चाहिए, जिसे सत्य की कसौटी पर कसा जा सके, ऐसा आगम ही श्रेष्ठ है, उसमें कही हुई बातें यथार्थ होती हैं, परन्तु जो आगम हमारे-सरीखे अल्प बुद्धि वाले

१. एतौ रथ—पापरथमार्गभूते द्वे ध्याने । २. तथा चोक्तं तत्त्वार्थसूत्रे—(अ० ९) 'आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ निदानं च ॥ ३३ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥ ३. नेत्रनिमीलने नेत्रझंपनोपकरणविस्फारणि ?
४. करोति । ५. प्रकटे । ६. विद्यमाने भवतः । ७. सुवर्णस्य द्वे कर्मणी कषच्छेदलक्षणे । ८. प्रकटार्थं ।

[1]यः स्वल्पबोधानां विचारेऽपि मादृशां । स संसारार्णवे मज्जज्जनस्यालम्बः कथं भवेत् ॥१९६॥ (इत्याज्ञा)
अहो मिथ्यातमः पुंसां युक्तिद्योतैः स्फुरत्यपि । यदन्धयति चेतांसि रत्नत्रयपरिग्रहे ॥१९७॥
[2]आशास्महे तदेतेषां दिनं[3] यत्रास्तकल्मषाः । इमेऽमेते प्रपश्यन्ति तत्त्वं दुःखनिबर्हणम् ॥१९८॥ (इत्यपायः)
अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान् । मरुत्त्रयीवृतो लोकः प्रान्ते [4]तद्धामनिष्ठितः ॥१९९॥ (इति लोकः*)
[5]रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च । अनारतं भ्रमन्त्येते निजकर्मानिलेरिताः ॥२००॥ (इति विपाकः)

मानवों की परीक्षा में स्खलित (असफल) होता है, वह संसार समुद्र में डूब रहे प्राणियों को अवलम्बन (सहारा) देनेवाला किसप्रकार हो सकता है ?

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान से सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित परमागम से परमात्मा के स्वरूप का निश्चय करके परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, इसी से परमात्म पद की प्राप्ति होती है। जिस ध्यान में जैन सिद्धान्त में कहे हुए वस्तुस्वरूप का चिन्तन सर्वज्ञ भगवान् को प्रमाण मानकर—उनकी आज्ञा को ही प्रधान करके किया जाता है उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ १९५-१९६ ॥

अपायविचय का स्वरूप

आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाश के विस्तृत होने पर भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को ग्रहण करने में (मोक्षमार्ग को स्वीकार करने में) मनुष्यों के चित्तों को अन्धा बनाता है। अर्थात्—हिताहित के विवेक से शून्य करता है, इसलिए हम इन भव्यजनों के उस दिन की आशा करते हैं, जिस दिन ये मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वरूपी पाप को नष्ट करने वाले होकर समस्त दुःखों से छुड़ानेवाले तत्त्वों की श्रद्धा करेंगे, अर्थात्—सन्मार्ग से भ्रष्ट हुए मानवों के उद्धार करने के विषय में जो चिन्तवन किया जाता है, उसे अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ १९७-१९८ ॥

संस्थानविचय का स्वरूप

यह लोक किसी ईश्वर-आदि द्वारा रचा हुआ नहीं है, और इसका स्वरूप भी विचित्र है, इसके बीच में एक राजू चौड़ी व चौदह राजू लम्बी त्रसनाली है एवं जो तीन वातवलयों (घनोदधिवातवलय, घनवातवलय व तनुवातवलय) से वेष्टित (घिरा हुआ) है तथा लोक के ऊपर उसके प्रान्तभाग में सिद्धस्थान है, अभिप्राय यह है उक्त प्रकार लोक के स्वरूप के चिन्तवन करने को संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१९९॥

---

१. परकीयः आगमः । २. वयं वाञ्छामः । ३. यत्र यस्मिन् दिने एते मिथ्यादृष्टयः अस्तकल्मषाः सन्तः तत्त्वं पश्यन्ति तद्दिनं वाञ्छामः ।

तथा चाह पूज्यपादः—

'जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद् विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ् मार्गापरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः । अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः' । —सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सू० ३६ । ४. मोक्ष । *. संस्थानविचयधर्मध्यान ।

तथा चाह टिप्पणीकारः—'श्रुतिमतिबलवीर्यप्रेमरूपायुरंग, स्वजनतनकान्ताभ्रातृपित्रादिसर्वं ।
सितजगजलं वा न स्थिरं वीक्षतेंगी तदपि बत विमूढो नात्मकार्यं करोति ॥ १ ॥ इति संस्थानविचयः' टि० ख० ।

तथा चाह पूज्यपादः—लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः ।—सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ३६ ।

५. तथा चाह पूज्यपादः—'कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः ।
—सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ३६.

इति चिन्तयतो धर्म्यं प्रशान्तेन्द्रियचेतसः । तमांसि [1]प्रशममायान्ति [2]प्राक्शाम्भोरिवायाविव ॥२०१॥
[3]भेदं [4]विवर्जितामेवमभेदं[5-6] भेदवर्जितम्[7] । ध्याय[8]न्सूक्ष्मक्रियाशुद्धो [8-9]निष्क्रियं [9]योगमाचरेत्★ ॥२०२॥

विपाकविचय का स्वरूप

ये प्राणी धूलि-सरीखे अपनी कर्मरूपी वायु द्वारा प्रेरित हुए निरन्तर इस लोक के मध्य, ऊर्ध्व व अधो लोक में भ्रमण करते हैं, उक्त प्रकार ज्ञानावरण-आदि कर्मोंके फल के चिन्तवन करने को विपाकविचय कहते हैं।

भावार्थ—पञ्जिकाकार★ ने कहा है कि 'आः कष्ट है कि निश्चय से विचित्र फल (सुख-दुःख) देनेवाले ज्ञानावरण-आदि कर्मों द्वारा संसार के प्राणी चारों गतियों में दुःखित किये जाते हैं, इसलिए कब मैं इस कर्म-फल को निर्जरा करके आगामी कर्म-फल को तिरस्कृत करता हुआ मोक्ष प्राप्त करनेवाला होऊँ, इसप्रकार चिन्तवन करना विपाकविचय है ॥ २०० ॥

धर्मध्यान का फल

जैसे सूर्य के उदय से तम (अन्धकार) नष्ट हो जाते हैं वैसे ही अपनी इन्द्रिय व मन को वश करके धर्मध्यान का चिन्तवन करनेवाले मानव के तम (अज्ञान या पाप) नष्ट हो जाते हैं ॥ २०१ ॥

शुक्लध्यान का स्वरूप

[उक्त चारों प्रकार की धर्मध्यान-विधि में प्रवीण हुआ योगी मोक्षोपयोगी शुक्लध्यान प्राप्त कर

---

१. विनाशं । २. सूर्य । ३. भेदं पृथक्त्वं । ४. विवर्जितामेवमेकत्वरहितमर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु संक्रमात् । अनेन पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यं शुक्लध्यानमुक्तं । ५-६. अभेदमेकत्वं भेदवर्जितं पृथक्त्वरहितमर्थव्यञ्जनयोगान्तरेष्वसंक्रमात् । अनेन एकत्ववितर्कावीचाराख्यं शुक्लध्यानमुक्तं । ७. सूक्ष्मक्रियाशुद्धः सूक्ष्मैकक्रियावलम्बनः, अनेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति शुक्लध्यानमुक्तं । ८-९. निष्क्रियं सकलयोगरहितं योगं ध्यानं, अनेन समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानमुक्तम् ।

भवन्ति चात्र सुभाषितानि—

वितर्कः श्रुतमित्याहुर्विचारः संक्रमो मतः । अर्थव्यञ्जनयोगेषु स च संक्रम इष्यते ॥ १ ॥
द्रव्यपर्यायरूपः स्यादर्थस्तत्त्वार्थवेदिना । तद्वाचकवचस्तस्य तद्व्यञ्जनमुदाहृतम् ॥ २ ॥
श्रेणिद्वयसमालम्ब्यं हेतुः स्वर्गापवर्गयोः । शुक्लमाद्यं भवेद्ध्यानं श्रुतकेवलिनो मुनेः ॥ ३ ॥
योगं यं वाचं वा, संक्रम्योभव्याणुपर्यये वितर्कयतः । श्रुतिविषयं भवति यतेः केवलज्ञानं क्षपकश्रेणिमारूढोः ॥४॥

★. तथा चाह सूत्रकारः—'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥ परे केवलिनः ॥ ३८ ॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥ —तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ ।

★. तथा च पञ्जिकाकारः—आः कष्टं खलु चित्रं फलमनुभावयद्भिरमीभिः कर्मभिश्चतसृषु गतिषु प्राणिनः क्लिश्यन्ते तत्कदाऽहमेतत्फलं निर्जीर्यायशौरिवागामिकर्मफलसंबंधः शिवी स्यामिति भावनं विपाकः ।

ह० लि० पञ्जिका से संकलित—सम्पादक

विलीनाशेषसंबन्धः शान्तमारुतसञ्चयः । देहातीतः परं धाम कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥२०३॥
प्रक्षीणोभयकर्माणं[1] जन्मदोषैर्विवर्जितम् । लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥२०४॥
[2]मार्गं सूत्रमनुप्रेक्षाः सप्ततत्त्वं जिनेश्वरम् । ध्यायेदागमचक्षुष्मान्प्रसंख्यानपरायणः[3] ॥२०५॥
[4]जाने तत्त्वं यथैसिद्धं [5]श्रद्दधे तदनन्यधीः[6] । मुञ्चेऽहं सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमादधे ॥२०६॥
[7]आत्मायं बोधिसंपत्तेरात्मन्यात्मानमात्मना । यदा [8]सूते तदात्मानं लभते परमात्मना ॥२०७॥

सकता है ऐसा चित्त में निश्चय करके ग्रन्थकार धर्मध्यान के बाद शुक्लध्यान का निरूपण करते हैं*]

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कावीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और समुच्छिन्नक्रियानिर्वति । उनमें से पहला पृथक्त्ववितर्कवीचार विवर्जितभेद है, अर्थात्—एकत्व-रहित है—अर्थ (द्रव्य व पर्याय) व्यञ्जन (द्रव्य-पर्याय को कथन करनेवाला वचन) व योगान्तरों (मनोयोग-आदि) में संक्रमण करता है । दूसरा एकत्ववितर्कावीचार भेद-विवर्जित है, अर्थात्—पृथक्त्व से रहित है; क्योंकि यह अर्थ व व्यञ्जन-आदि में संक्रमण नहीं करता । तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, जो कि सूक्ष्म क्रिया का अवलम्बन करनेवाला है और चौथा समुच्छिन्नक्रियानिर्वति, जिसका लक्षण निष्क्रिय है, अर्थात्—समस्त योग-रहित है । अर्थात्—योगी उक्त तीन प्रकार के शुक्लध्यान को ध्याता हुआ निष्क्रिय ध्यान को ध्याता है । ऐसे अयोग केवली भगवान् इस चौथे शुक्लध्यान से समस्त कर्मों का संबंध नष्ट करनेवाले होकर जिनका प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) वायु का प्रचार रुक गया है और जो वर्तमान शरीर छोड़कर सर्वोत्कृष्ट मुक्तिपद प्राप्त करते हैं ॥ २०२–२०३ ॥

मोक्ष का स्वरूप

विद्वानों ने ऐसी विशुद्ध आत्मा को मोक्ष कहा है, जिसने दोनों प्रकार के कर्म (घातिया व अघातिया) नष्ट किये हैं व जो जन्म, जरा व मृत्यु-आदि दोषों से रहित है एवं जिसने आत्मिक गुण (अनन्तज्ञान-आदि) प्राप्त किये हैं ॥ २०४ ॥

ध्यान करने योग्य वस्तु

धर्म-ध्यान में तत्पर हुए मानव को शास्त्ररूप चक्षु से युक्त होकर मोक्षमार्ग के सूत्र (सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः) का और बारह भावनाओं का तथा मोक्षोपयोगी सात तत्वों का एवं वीतराग सर्वज्ञ-जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करना चाहिए ॥ २०५ ॥

धर्मध्यानी को क्या विचार करना चाहिए ?

मैं आगमानुसार तत्वों को जानता हूँ और एकाग्रचित्त होकर उनका श्रद्धान करता हूँ एवं समस्त आरम्भों को छोड़ता हूँ तथा आत्मा में आत्मा को स्थिर करता हूँ ॥ २०६ ॥ संसारी यह आत्मा जब सम्यग्ज्ञान-

१. घाति-अघाति । २. रत्नत्रयलक्षणं । ३. ध्यानतत्परः । ४. अहं । ५. रोचे । ६. एकाग्रचित्तः ।

*. तथा च पञ्जिकाकारः—

धर्मध्यानविधौ सिद्धः शुक्लध्यानविधानभाक् । अतएवास्य भाषन्ते निर्देशं तदनन्तरम् ॥ १ ॥

इति चेतसि निधाय धर्मध्यानानन्तरं चतुर्भेदं शुक्लध्यानं भेदमित्यादिनोदाहरति । यश० पञ्जिका से संकलित —सम्पादक

७. संसारी सन्नपि । ८. जनयति ध्यायति वा ।

ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा । आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथा युक्तिपरिग्रहः ॥२०८॥
सुखामृतसुधासूतिस्तद्व[1]चैवदयाचलः । परं ब्रह्माहम[2]त्रासे तमःपाशवशीकृतः ॥२०९॥
यदा प्रकाशिते मे तेतस्तद्ध्यानोदयगोचरम् । तदाहं जगतां चक्षुः स्यामादित्य इवातमाः ॥२१०॥
आदौ मध्यमधुप्रान्ते सर्वमिन्द्रियजं सुखम् । प्रातःस्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्गिषु ॥२११॥
यो दुरामयदुर्दर्शं यद्ग्रासो यमोऽङ्गिनि । स्वभावसुभगे तस्य[3] स्पृहा केन निवार्यते ॥२१२॥
जन्मयौवनसंयोगसुखानि यदि देहिनाम् । [4]निर्विपक्षाणि को नाम सुधीः संसारमुत्सृजेत् ॥२१३॥
अनुयाचेत नायूंषि नापि मृत्युमुपाहरेत् । [5]भृतो भृत्य इवासीत [6]कालावधिमविस्मरन् ॥२१४॥
महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्वश्रद्धितेजसा । सुविशुद्धान्तरात्मासे तमःपारे प्रतिष्ठितः ॥२१५॥

रूपीलक्ष्मी से आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का ध्यान करता है तब आत्मा को परमात्मस्वरूप से प्राप्त करता है—परमात्मा बन जाता है ॥ २०७ ॥ आत्मा ही ध्याता (ध्यान करनेवाला) है, आत्मा ही ध्येय (ध्यान करने योग्य) है एवं आत्मा ही ध्यान है तथा रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही ध्यान का फल है। अर्थात्—ध्याता, ध्यान, ध्येय और उसका फल ये सब आत्मस्वरूप ही पड़ते हैं, युक्ति के अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥ २०८ ॥ मैं सुखरूपी अमृत की उत्पत्ति के लिए चन्द्रमा हूँ तथा सुखरूपी सूर्य को उदित करने के लिए उदयाचल हूँ। एवं मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ, परन्तु अज्ञानान्धकाररूपी जाल से पराधीन होकर इस शरीर में ठहरा हुआ हूँ ॥ २०९ ॥ जब मेरा मन उस शुक्लध्यान के उदय को विषय करनेवाला होकर प्रकाशित होगा तब मैं उस प्रकार अतम (अज्ञान नष्ट करनेवाला) होकर तीन लोक के पदार्थों का दृष्टा (केवली) हो जाऊँगा जिस प्रकार अतम (अन्धकार नष्ट करनेवाला) सूर्य जगत की चक्षु (लोक के पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला) होता है ॥ २१० ॥ समस्त इन्द्रिय-जन्य सुख शुरु में मधु-जैसा मीठा प्रतीत होता है परन्तु अखीर में कटुक मालूम पड़ता है जैसे शीत ऋतु में सवेरे स्नान करनेवाले प्राणियों को उष्ण जल प्रिय मालूम पड़ता है न कि ग्रीष्म ऋतु में प्रातः स्नान करने वालों को ॥ २११ ॥ जो यमराज दुष्ट व्याधियों से पीड़ित होने के कारण दुःख से भी देखने के लिए अशक्य (कुरूप) प्राणी को अपने मुख का ग्रास बनाता है, तो स्वभाव से सुन्दर प्राणी को अपने मुख के ग्रास बनाने की उसकी इच्छा को कौन रोक सकता है ? अर्थात्—वह सुन्दर मनुष्य को भी खा लेता है ॥ २१२ ॥ यदि प्राणियों के जन्म, यौवन व इष्ट-संयोग से होनेवाले सुख विपक्षों (जन्म का विपक्षी मरण और जवानी का विपक्षी बुढ़ापा एवं इष्ट संयोग-सुख का विपक्षी इष्टवियोग) से रहित होते तो ऐसी संभावना है कि कौन बुद्धिमान मनुष्य संसार को छोड़ता ? ॥ २१३ ॥

योगी पुरुष को काल की अवधि को न भूलते हुए (इस प्रकार निश्चय करते हुए कि स्वादिष्ट अन्न-आदि से पुष्ट किया हुआ भी यह शरीर यमराज की वञ्चना का उल्लंघन नहीं करता) न तो जीवन की याचना करनी चाहिए कि मैं अधिक काल तक जीवित रहूँ और न मृत्यु की अनिच्छा करनी चाहिए कि मैं कभी न मरूँ। उसे उसप्रकार अपने कर्तव्य (ध्यानादि) में स्थित होना चाहिए जिसप्रकार स्वामी द्वारा भरण-पोषण किया हुआ (वेतन पानेवाला) नौकर उसके कर्तव्य में सावधान रहता है ॥ २१४ ॥ मैं आज विशेष भाग्यशाली हूँ; क्योंकि तत्वश्रद्धानरूपी प्रकाश से मेरी अन्तरात्मा विशुद्ध हो गई है और मैं मिथ्यात्व-रूपी गाढ़ अन्धकार को पार करके प्रतिष्ठित हूँ ॥ २१५ ॥ संसार में ऐसा कोई भी सुख-दुःख नहीं है, जिसे

१. सुखसूर्यस्य । २. देहे तिष्ठामि । ३. यमस्य । ४. शाश्वतानि । ५. पुष्टो मृष्टान्नादिभिः कायः । ६. भृत्यः कायः यमवंचनां न लङ्घयतीत्यर्थः, तेन कारणेन योगिना जीवितमरणयोर्वाञ्छा अवाञ्छा न कर्तव्या ।

तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं च नाप्तवान् । स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥२१६॥
सम्यगेतत्सुधाम्भोधेः*बिन्दुमप्यालिहन्मुहुः । जन्तुर्नं जातु जायेत जन्मज्वलनभाजनः ॥२१७॥
[1]देवं देवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् । [2]चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं प्रातिहार्याष्टशोभितम् ॥२१८॥
निरञ्जनं जनाधीशं परमं रमयाश्रितम् । अच्युतं च्युतदोषौघमभवं भवभृद्गुरुम् ॥२१९॥
सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्य[3]सर्वेश्वरमनीश्वरम्[4] । सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वाश्रयमनाश्रयम् ॥२२०॥
प्रभवं सर्वविद्यानां सर्वलोकपितामहम् । सर्वसत्त्वहितारम्भं [5]गतसर्वमसर्वगम्[6] ॥२२१॥
नम्रामरकिरीटांशुपरिवेषनभस्तले । भव्यत्पादद्वयद्योतिनखनक्षत्रमण्डलम् ॥२२२॥
स्तूयमानमनूचानै[7]र्ब्रह्मोद्यैर्ब्रह्मकामिभिः । [8]अध्यात्मागमवेधोभिर्योगिमुख्यैर्महर्द्धिभिः ॥२२३॥
नीरूपं [9]रूपिताशेषमशब्दं [10]शब्दनिश्चितम् । अस्पर्शं [11]योगसंस्पर्शमरसं [12]सरसागमम् ॥२२४॥

मैंने प्राप्त न किया हो किन्तु जैनागमरूपी अमृत का पान मैंने स्वप्न में भी नहीं किया ॥ २१६ ॥ जो प्राणी इस आगमरूपी क्षीरसागर की एक बिन्दु का भी आस्वादन कर लेता है, वह फिर कभी भी जन्मरूपी अग्नि का पात्र नहीं होता । अर्थात्—उस शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है, जिससे उसे संसार में भ्रमण नहीं करना पड़ता ॥ २१७ ॥

[अब अर्हन्त भगवान् के ध्यान करने की प्रेरणा करते हैं—]

धर्मध्यानी को ऐसे अर्हन्त भगवान् का ध्यान करना चाहिए, जो कि समवसरण में विराजमान; पंच कल्याणकों के स्वामी, चौंतीस अतिशयों से युक्त और आठ प्रतिहार्यों से विभूषित हैं, जो निरञ्जन (घातिया-कर्मरूपी मल से रहित), मनुष्यों के स्वामी, व सर्वोत्कृष्ट हैं, जो अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग लक्ष्मी से आश्रय किये हुए, आत्मस्वरूप से च्युत न होनेवाले, दोष-समूह से रहित और संसार-रहित होकर संसारी प्राणियों के गुरु हैं, जो समस्त प्राणियों द्वारा स्तुति-योग्य हैं किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य नहीं है, जो समस्त प्राणियों के स्वामी हैं किन्तु जिनका कोई स्वामी नहीं है, जो सबके आराध्य हैं परन्तु जिनका कोई आराध्य नहीं है, जो सबके आश्रय हैं परन्तु जिनका कोई आश्रय नहीं है, जो समस्त विद्याओं के उत्पत्तिस्थान और समस्त लोक के पितामह हैं, जिनके कार्य का प्रारम्भ समस्त प्राणियों के हित के लिए है जो समस्त विश्व के ज्ञाता और स्वशरीर के परिमाण हैं ॥ २१८-२२१ ॥ जिनके चरण-युगल का प्रकाशमान नखरूपी नक्षत्र-समूह, नमस्कार करने वाले देवों के मुकुटों के किरण-मण्डलरूपी आकाश में शोभायमान हो रहा है ॥ २२२ ॥ द्वादशाङ्ग श्रुत के पारगामी, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्म की कामना करनेवाले अध्यात्मशास्त्र के कर्ता तथा महान् ऋद्धिधारी गणधर जिनकी स्तुति करते हैं ॥ २२३ ॥ जो रूप-रहित हैं और समस्त वस्तु-समूह के ज्ञाता है, जो स्वयं शब्दरूप नहीं हैं किन्तु आगम से निर्णीत हैं, जो स्पर्श-रहित हैं किन्तु ध्यान से स्पृष्ट हैं, जो रस गुण से रहित हैं, किन्तु जिनका आगम सरस (सुखरस का उत्पादक) है, जो गन्धगुण से रहित हैं किन्तु अनन्त ज्ञानादि गुणों से अपनी आत्माको सुगन्धित करनेवाले हैं, जो चक्षुरादि इन्द्रियों के संबंध से रहित हैं अर्थात्—जब भगवान् केवलज्ञानी हुए तभी से इनका भावेन्द्रियों से संबंध छूट गया, किन्तु इन्द्रियों के विषयों के प्रकाशक

*. क्षीरसमुद्रस्य । १. अर्हन्तं ध्यायेत् । २. चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं—निःस्वेदत्वादयो दश सहजाः, गव्यूतिशतचतुष्टय सुभिक्षितादयो घातिक्षयजाः दश, सर्वार्धमागधीभाषादयो देवोपनीताश्चतुर्दश । ३. न विद्यते स्तुत्यो यस्य । ४. न विद्यते ईश्वरः स्वामी यस्य सः अर्हन् ।

५. ज्ञातं सर्वं येन । ६. न सर्वं गच्छतीति शरीरप्रमाणमित्यर्थः । ७. ब्रह्मविद्भिः । ८. आगमकर्तृभिः । ९. ज्ञात । १०. आगमेन निश्चा यस्य । ११. ध्यान । १२. सुखरसागमं ।

गुणैः सुप्रस्थितात्मानमनन्यगुणसंगमम् । व्यतीतेन्द्रियसंबन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥२२५॥
भुवमानन्दसस्यानामम्भस्तृष्णानलार्चिषाम् । पवनं दोषरेणूनामग्निमेनोवनीरुहाम् ॥२२६॥
[1]यजमानं सदर्थानां व्योमालेपादिसंपदाम्[2] । भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतश्रियाम् ॥२२७॥
[3]अतावकगुणं सर्वं त्वं सर्वगुणभाजनः । त्वं सृष्टिः [4]सर्वकामानां कामसृष्टिनिमीलनः[5] ॥२२८॥
खसुप्तदीपनिर्वाणे *प्राकृते वा त्वयि स्फुटम् । [6]खसुप्तदीपनिर्वाणं [7]प्राकृतं स्याज्जगत्त्रयम् ॥२२९॥
[8]त्रयीमार्गं [9]त्रयीरूपं त्रयीमुक्तं[10] [11]त्रयीपतिम् ।
[12]त्रयीव्याप्तं [13]त्रयीतत्त्वं त्रयीचूडामणिस्थितम्[14] ॥२३०॥

हैं; जो शाश्वत सुखरूपी धान्य की उत्पत्ति के लिए पृथिवी, तृष्णारूपी अग्नि-ज्वालाओं के बुझाने के लिए जल, दोष (क्षुधा-तृषा-आदि) रूपी धूलि को उड़ाने के लिए वायु और पापरूपी वृक्षों को भस्म करने के लिए अग्नि हैं, जो प्रशस्त पदार्थों के दाता और समवसरण-आदि विभूतियों की प्राप्ति होने पर भी उनमें अनुरक्त न होने के कारण जो निर्लिप्त रहना-आदिरूपी सम्पत्तियों के लिए आकाश-सरीखे हैं, जो भव्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य एवं मोक्षरूपी अमृत-लक्ष्मी के लिए चन्द्र हैं, समस्त वस्तु-समूह में तुम्हारे गुण (अनन्त ज्ञानादि) नहीं हैं, और तुम समस्त गुणों के पात्रभूत हो, एवं तुम समस्त मनोरथों को पूर्ण करनेवाले तथा काम की सृष्टि का संकोचन करनेवाले हो अर्थात्—काम-विकारों को दूर करनेवाले हो ॥ २२४-२२८ ॥ वैशेषिक दर्शन में निर्वाण (मुक्ति) का स्वरूप आकाश-सरीखा शून्य माना है; क्योंकि उनके मत में मुक्त अवस्था में आत्मा के बुद्धि व सुख-आदि नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद (नाश) हो जाता है। सांख्यदर्शन में निर्वाण का स्वरूप सोये हुए मनुष्य की तरह अर्थ-क्रिया-शून्य माना गया है; क्योंकि उन्होंने पुरुष के ऐसे चैतन्यस्वरूप की उपलब्धि (प्राप्ति) को मुक्ति मानी है, जो कि पदार्थों के ज्ञानरूपी अर्थक्रिया से शून्य है और बौद्धमत में दीपक के बुझने सरीखी आत्मा की निरन्वय हानि (नाश) को मुक्ति माना है, किन्तु अलौकिक अर्हन्त भगवान् में उक्त तीन दर्शनकारों के निर्वाण अनेकान्त शैली के अनुसार प्रकटरूप से विद्यमान हैं। अर्थात्—जैनदर्शन में मोक्ष में राग, द्वेष व मोह से रहित होने के कारण आत्मा की विशुद्ध अवस्था को आकाश-सरीखी मानी है और ध्यान में लीन होने के कारण सुप्त मानी है और दीपक की तरह केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली दीप-सरीखी मानी है; अतः हे जिन ! उक्त तीनों दर्शनकारों की मुक्ति का स्वरूप हीन (युक्तिविरुद्ध) है ॥ २२९ ॥ जिनका मोक्षमार्ग रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-

---

१. दातारं उत्तमार्थानां । २. आदिशब्दान्महत्त्वादि । ३. यद्वस्तु तत्सर्वं अतावकगुणं त्वत्स्वरूपं न भवति । ४. वाञ्छितवस्तूनां । ५. संकोचनः । ६. 'खनिर्वाणं नैयायिकानाम्, सुप्तनिर्वाणं सांख्याना, दीपनिर्वाणं बौद्धानाम्, पक्षे रागद्वेषमोहरहितत्वादाकाशवत् शून्यं, योगनिद्रायां सुप्तं, दीपवत् केवलज्ञानेन द्योतकम्' । टि० ख० । 'खनिर्वाणं नैयायिकानामित्यादि टि० ख० वत्, 'खादिवन्निर्वाणं वैशेषिकसांख्यबौद्धानां ज्ञानाद्यभावचैतन्यमात्रान्वयविशेषविनाशाभ्युपगमात् । *. अलौकिके निश्चितं त्वयि विषये भवति' इति टि० घ० च० । 'खवत् निर्वाणं वैशेषिकाणां ज्ञानाद्यभावाभ्युपगमात्, सुप्तवन्निर्वाणं सांख्यानां चैतन्यमात्राभ्युपगमात्, प्रदीपवन्निर्वाणं बौद्धानां निरन्वयविनाशाभ्युपगमात्' । इति पञ्जिकाकारः प्राह । ७. हीनं । ८. रत्नत्रयमार्गं (रत्नत्रयं मार्गो यस्य) । ९. 'रत्नत्रय, सत्तासुखचैतन्यरूपं वा' । टि० ख० । 'रत्नत्रयरूपं' टि० घ० च० पं० च । १०. 'जातिजरामरणमुक्तं' टि० घ० पं० च । 'रागद्वेषमोह' टि० ख० । ११. 'जगत्त्रयपतिं' इति पं०, 'मतिश्रुतावधित्रयं गृहस्थापेक्षया' टि० ख० । १२. कालत्रयव्याप्तं (अतीतानागतवर्तमानत्रयी) । १३. राग, द्वेष, मोह, स्वर्गमर्त्यपाताल, गृहस्थापेक्षया मतिश्रुतावधित्रयं । १४. त्रैलोक्यशिखायां मणिवत् स्थितम् ।

जगतां कौमुदीचन्द्रं कामकल्पावनीरुहम् । गुणचिन्तामणिक्षेत्रं कल्याणागमसागरम् ॥२३१॥

[1]प्रणिधानप्रदीपेषु साक्षादिव चकासतम् । ध्यायेज्जगत्त्रयाधीशं[2]मर्हन्तं सर्वतोमुखम् ॥२३२॥

[2]आहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रं पदं करे । इमास्तस्मादयत्नाप्या[3]श्चक्राङ्काः क्षितिपश्रियः ॥२३३॥

यं यमध्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सराः । तत्पदाय दधत्यन्तः स स तत्रैव लीयते ॥२३४॥

अनुपायानिलोद्भ्रान्तं पुंस्तरूणां मनोदलम्[4] । तद्भूमावेव[5] सम्प्रेत्य लीयमानं चिरादपि ॥२३५॥

[6]ज्योतिरेकं परं वेधः [7]करीषाश्मसमित्समः । [8]तत्प्राप्त्युपायदिङ्मूढा भ्रमन्ति भवकानने ॥२३६॥

आदि) है, जो रत्नत्रयरूप है अथवा सत्ता, सुख और चैतन्य से विशिष्ट होने के कारण जो त्रयीरूप हैं, जो राग, द्वेष और मोह से मुक्त हैं अथवा जन्म, जरा व मरण से मुक्त हैं, जो तीन जगत के स्वामी हैं अथवा गृहस्थ की अपेक्षा से मति, श्रुत व अवधिज्ञान से युक्त हैं, जो कालत्रय में व्याप्त हैं, जिनका तत्व उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यात्मक है और जो तीनों लोकों के शिखर पर मणि-सरीखे विराजमान हैं ॥ २३० ॥ जो जगत के लिए पूर्णिमासी के चन्द्र हैं, जो अभिलषित वस्तु देने के लिए कल्पवृक्ष हैं, जो गुणरूपी चिन्तामणि के स्थान हैं एवं जो कल्याण-प्राप्ति के लिए खानि हैं ॥२३१॥ जो ध्यानरूपी दीपकों के प्रकाश में साक्षात् चमकनेवाले और तीन लोकों से पूजनीय हैं एवं जिनका मुख समस्त दिशाओं में है ॥२३२॥ आचार्यों ने कहा है, कि उन अर्हन्त का ध्यान करने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है और उनके ध्यान से इन्द्रपद हस्त-गत होता है एवं चक्रवर्ती की विभूतियाँ बिना यत्न के प्राप्त हो जाती हैं ॥२३३॥ मान व ईर्ष्या से रहित पुरुष अध्यात्म-मार्ग में अपने अन्तःकरण में मोक्षपद की प्राप्ति के लिए जो-जो भाव स्थापित करते हैं वह-वह भाव उसी पद में ही लीन होता जाता है अर्थात्—प्रकर्ष को प्राप्त हुआ वह भाव अर्हन्त पद की प्राप्ति का कारण होता है ॥२३४॥ पुरुषरूपी वृक्षों का मनरूपी पत्ता मोक्ष प्राप्ति में जो कारण नहीं हैं, ऐसे मिथ्यादर्शन-आदि रूपी वायु से सदा उद्भ्रान्त (चञ्चल व पक्षान्तर में भ्रान्ति-युक्त) बना रहता है किन्तु अर्हन्तरूपी भूमि में पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसी में चिरकाल के लिए लीन हो जाता है ।

भावार्थ—नाना प्रकार के सांसारिक प्रपञ्चों में फँसे रहने के कारण मानव का मन सदा चञ्चल व भ्रान्तियुक्त बना रहता है, किन्तु जब मनुष्य मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर अपने मन को स्थिर करने में प्रयत्नशील होता है और अर्हन्तदेव का ध्यान करता है तो उसका मन उसी में लीन होकर उसे अर्हन्त बना देता है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिर पड़ता है; क्योंकि अर्हन्त अवस्था में भावमन नहीं रहता ॥२३५॥ ध्यान करने योग्य आत्मतत्त्वरूपी ज्योति (अग्नि) एक ही है परन्तु उसका आकार उस प्रकार पृथक् है जिस प्रकार अग्नि एक होकर भी आकार से पृथक्-पृथक् होती है । अर्थात्—जिस प्रकार अग्नि एक होकर शुष्क गोबर (कण्डा), पाषाण व लकड़ी के कारण कण्डे की अग्नि, पाषाण-अग्नि व लकड़ी की अग्नि-आदि भिन्न-भिन्न आकार धारण करती है उसी प्रकार ध्यान करने-योग्य आत्मा भी एक ही है, परन्तु स्त्री, पुरुष व नपुंसक के वेष में वह तीनरूप प्रतीत होती है, परन्तु ये अज्ञानी मानव उस आत्मा व अग्नि की प्राप्ति के उपाय की दिशा में मूढ़ हुए (दिग्भ्रान्त हुए) संसाररूपी वन में भ्रमण करते हैं । अभिप्राय यह है कि जैसे कण्डे से अग्नि का प्रकट होना कठिन है वैसे ही स्त्री-शरीर में आत्मा का विकास होना कठिन है और जैसे पाषाण से अग्नि शीघ्र प्रकट होती है वैसे ही पुरुष शरीर में आत्मा का विकास शीघ्र होता है एवं जैसे लकड़ी से अग्नि का प्रकट

१. ध्यान । २. अर्हतः । ३. प्राप्य । ४. पर्णं । ५. मोक्षे एव । ६. आत्मा अग्निश्च । आत्मा एक एव आकारस्तु पृथक् स्त्री-पुंन्नपुंसकभेदात् । ७. गोमयेऽग्निः शीघ्रं प्रकटो न स्यात्तथा स्त्रीषु आत्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति । पाषाणेऽग्निः शीघ्रं प्रकटः स्यात्तद्वत् पुंस्यात्मा । समिधिविषये शीघ्रं प्रकटो न स्यात्तद्वन्नपुंसके, आत्मनोऽग्नेश्च । ८. मोक्षोपाय ।

[1]परापरपरं देवमेवं चिन्तयतो यतेः । भवन्त्यतीन्द्रियास्ते ते भावा लोकोत्तरश्रियः ॥२३७॥
[2]व्योम, [3]छायानरोत्सङ्गि यथामूर्तमपि स्वयम् । योगयोगात्तथात्मायं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षणः ॥२३८॥
न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम् । यद्योगद्योतने न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥२३९॥
देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः । समं पूजाविधानेषु पश्यन्दूरं [4]व्रजेदधः ॥२४०॥
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे । अतो [5]यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः ॥२४१॥
तच्छासनैकभक्तीनां सुदृशां सुव्रतात्मनाम् । स्वयमेव प्रसीदन्ति ताः पुंसां सपुरंदराः ॥२४२॥
[6]तद्बद्धमोक्षकक्षाणां रत्नत्रयमहीयसाम् । उभे कामदुघे स्यातां द्यावाभूमी मनोरथैः ॥२४३॥

होना विशेष कठिन है वैसे ही नपुंसक-शरीर में आत्मा का विकास विशेष कठिन है ॥ २३६ ॥ इसप्रकार पर (मुनि) और अपर (गणधर) से भी श्रेष्ठ अर्हन्त देव का ध्यान करनेवाले योगी पुरुष में इन्द्रियों के अगोचर भाव (अवधिज्ञान-आदि) अलौकिक लक्ष्मी (मुक्तिश्री) को देनेवाले प्रकट होते हैं ॥ २३७ ॥ जिसप्रकार आकाश स्वयं अमूर्तिक होकर के भी छाया-पुरुष को मध्य में धारण करने से छाया पुरुष हो जाता है। अभिप्राय यह है कि निस्सन्देह कोई निमित्तज्ञानी छाया-दर्शन के अभ्यास से अपने शरीर की छाया का दर्शन करता है और जब छाया विघटित हो जाती है तब आकाश शून्य होने पर भी उसके द्वारा उसमें छाया-हीन पुरुष देखा जाता है उसीप्रकार ध्यान के अभ्यास से ध्यानी को अमूर्तिक आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ २३८ ॥ ऐसे वे गुण नहीं, वह सम्यग्ज्ञान नहीं और वह सम्यक्त्व नहीं एवं वह यथार्थ सुख भी नहीं, जो ध्यान के प्रकाशवाली व अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को नष्ट करनेवाली विशुद्ध आत्मा में प्रकट नहीं होते। अर्थात्—धर्म व शुक्लध्यान के प्रभाव से आत्मा में समस्त प्रशस्त गुण, केवलज्ञान, परमावगाढ़ सम्यक्त्व व मुक्तिश्री का यथार्थ सुख प्रकट होता है ॥ २३९ ॥

शासन-देवता की कल्पना

जो श्रावक तीनों लोकों के दृष्टा जिनेन्द्र भगवान् को और व्यन्तर-आदि देवताओं की पूजाविधि में समान रूप से मानता है। अर्थात्—दोनों की एक सरीखी पूजा करता है, वह विशेष रूप से नरकगामी होता है। अभिप्राय यह है कि विवेकी पुरुष को पूजाविधि में दूसरे देव जिनेन्द्र-सरीखे पूज्य व सर्वोत्कृष्ट नहीं मानने चाहिए किन्तु उन्हें हीन समझना चाहिए। जिनागम में जिन शासन की रक्षा के लिए उन शासन देवताओं की कल्पना की गई है, अतः पूजा का एक अंश देकर सम्यग्दृष्टियों को उनका सन्मान करना चाहिए ॥ २४०–२४१ ॥ व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र, जिनशासन के अनन्य भक्त, सम्यग्दृष्टि व व्रती पुरुषों पर स्वयं प्रसन्न होते हैं ॥ २४२ ॥ स्वर्ग व पृथिवी दोनों ही उनके मनोरथों की पूर्ति द्वारा इच्छित वस्तु देनेवाले होते हैं, जिन्होंने मोक्ष को अपनी कांख में बांधा है और जो रत्नत्रय से महान् हैं ॥ २४३ ॥

१. परः अनगारः केवली, तस्मात् परः उत्कृष्टः गणधरस्तस्मात् परो जिनः। २. आकाशं। ३. छायानरोत्सङ्गि छायापुरुषो भवतीति शेषः। किल कश्चिन्निमित्तीपुरुषः स्वशरीरछायावलोकनं करोति, छायावलोकनाभ्यासवशात् छाया विघटति, आकाशे शून्येऽपि नरो दृश्यते, तद्वत् ध्यानाभ्यासात् आत्मा दृश्यते इत्यर्थः। ४. अतिशयेन अधोगामी स्यात्, तेन कारणेन अन्यदेवाः जिनसदृशाः न माननीयाः, किन्तु जिनात् हीनाः ज्ञातव्याः इत्यर्थः। ५. न तु जिनवत् स्नपनादिना। ६. मोक्ष।

कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान्नमस्येद्वापि देवताः । सस्पृहं यदि तच्चेतो रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥२४४॥
ध्यायेद्वा [1]वाङ्मयं ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाचकम् । एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥२४५॥
ध्यायन्विन्यस्य [2]देहेऽस्मिन्निदं[3] मन्दरमुद्रया[4] । [5]सर्वनामादिवर्णार्हं [6]वर्णाद्यन्तं [7]सबीजकम् ॥२४६॥
तपःश्रुतविहीनोऽपि तद्धधामा[8]विद्धमानसः । न जातु तमसां सृष्टा तत्तत्त्वरुचिधीप्रधीः ॥२४७॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तपः परम् । इमं मन्त्रं स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्यचेतसः ॥२४८॥
मन्त्रोऽयं स्मृतिधाराभिषिक्तं यस्याभिवर्धति । तस्य सर्वं प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपांसवः ॥२४९॥
अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा । भवत्येतत्स्मृतिर्जन्तुरास्पदं सर्वसंपदाम् ॥२५०॥
उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं किंचिल्लौकिकमुच्यते । [9]प्रकीर्णकप्रपञ्चेन दृष्टादृष्टफलाश्रयम् ॥२५१॥

निष्काम होकर धर्माचरण की प्रेरणा

धार्मिक पुरुष तप करे, मन्त्रों का जाप करे अथवा देवों को नमस्कार करे किन्तु यदि उसका चित्त लौकिक वस्तुओं की लालसा-युक्त है तो वह इस लोक व परलोक में रिक्त (फल-शून्य) रहता है ॥२४४॥ धर्म-ध्यानी को अर्हन्त व सिद्ध-आदि पञ्चपरमेष्ठी की वाचक पञ्चनमस्कार मन्त्ररूपी ज्योति का एकाग्र-चित्त होकर ध्यान करना चाहिए; क्योंकि यह पञ्चनमस्कार मन्त्ररूपी ज्योति निस्सन्देह समस्त विद्याओं की अविनाशी आधार है ॥ २४५ ॥ जिसमें पञ्चनमस्कार मन्त्र के पाँचों पदों के प्रथमाक्षर सन्निविष्ट हैं, और जो 'अर्हं' रूप है तथा बीजाक्षरवाला है, ऐसे 'अर्हं' इस मन्त्र को अपने मस्तक के ऊपर स्थापित करके मन्दर मुद्रा (मस्तक के ऊपर दोनों हाथों से शिखराकार कुड्मल करना अथवा पंचमेरुमुद्रा) द्वारा ध्यान करना चाहिए; क्योंकि उस तत्त्व के ध्यान से व्याप्त चित्तवाला मनुष्य तप और श्रुत से रहित होने पर भी कभी अज्ञानों का सृष्टा—उत्पादक—नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि उस तत्त्व की श्रद्धा से सदा प्रकाशित रहती है ॥ २४६–२४७ ॥ योगी पुरुष समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके व उत्कृष्ट तप करके समाधिमरण की वेला में एकाग्रचित्त होकर इसी मन्त्र का ध्यान करते हैं ॥ २४८ ॥ यह पञ्चनमस्कार मन्त्र जिस ध्यानी के चित्त को पंचपरमेष्ठी के गुण-स्मरणरूपी जलधाराओं से अभिषिक्त करता है, उसकी समस्त क्षुद्र उपद्रवरूपी धूलियाँ शान्त हो जाती हैं ॥ २४९ ॥ अपवित्र या पवित्र, निरोगी या रोगी जो प्राणी इस मन्त्र का स्मरण करता है, वह समस्त विभूतियों का स्थान हो जाता है ॥ २५० ॥ अलौकिक ध्यान के निरूपण के पश्चात् अब-उसकी चूलिका-व्याख्याके कारण प्रत्यक्ष व परोक्षफल का आधारभूत लौकिक ध्यान संक्षेप रूप से कहा जाता है ॥ २५१ ॥

१. पंचनमस्कारमन्त्र । २ ललाटे । ३. अर्हं । ४. 'मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकारः कुड्मलः क्रियते स एव मन्दरः' इति टि० ख०, 'मन्दरमुद्रा पंचमेरुमुद्रा' इति पं० । ५. 'पंचपदप्रथमाक्षरेण योग्यं' इति टि० ख०, 'सर्वनामादिवर्णार्हं—सर्ववर्णाः, नामवर्णाः, नामादिवर्णाः—अर्हन्त । अ सि आ । आदि अकार तदन्ते बीजं ह्रं इत्यादिकं' इति पञ्जिकाकारः । ६. अर्हं । तथा च—व्युत्पत्तिः 'अर्हं' इति पदस्य 'अर्हत्' शब्दस्य 'अर्हं' इति गृह्यते । अशरीर अर, अर्य अर, अध्यापक अ, मुनि म् । पश्चाद्रूपे रूपं प्रविष्टमिति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तरं अर्हं इत्यत्र उच्चारणार्थं अकारः क्षिप्यते । मोऽनुस्वारः व्यञ्जने 'अर्हं' इति तत्त्वं निष्पन्नम् ।
तथा चाह शुभचन्द्राचार्यः :—

'अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सबिन्दुकम् । तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥'

ज्ञानार्णव पृ० २९१ से संकलित—सम्पादक

७. साक्षरं ध्यानमिदं । ८. सहित । ९. चूलिकाव्याख्यया ।

पञ्चमूर्तिमयं बीजं[1] नासिकाग्रे विचिन्तयन् । निधाय[2] संगमे चेतो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ॥२५२॥
यत्र यत्र[3] हृषीकेऽस्मिन्नि[4] दधीताचलं मनः । तत्र तत्र लभेतायं बाह्यग्राह्याश्रयं सुखम् ॥२५३॥
स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा ध्यानं तत्त्वबीजसमाश्रयम् । आद्येन लभते कामं द्वितीयेन परं पदम् ॥२५४॥
[5] पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडीं संचालयेत्ततः । मरुच्चतुष्टयं पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ॥२५५॥

नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके और मन को भ्रकुटियों के मध्य में स्थापित करके पंच-परमेष्ठी-वाचक और बीजाक्षर वाले 'ओं' मन्त्र का ध्यान करनेवाला मानव दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है ॥ २५२ ॥ जिस जिस इन्द्रिय (स्पर्शन-आदि) में यह अपना मन निश्चल करके आरोपित करता है, इसे उस उस इन्द्रिय में बाह्य पदार्थों के आश्रय से होनेवाला सुख प्राप्त होता है ॥ २५३ ॥

ध्यान के दो भेद हैं । स्थूलध्यान व सूक्ष्मध्यान । स्थूलध्यान तत्व के आश्रय से प्रकट होता है और सूक्ष्मध्यान बीजाक्षर मन्त्र के आश्रय से होता है । स्थूलध्यान से अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है और सूक्ष्म ध्यान से उत्तमपद (मोक्ष) प्राप्त होता है ॥ २५४ ॥

लौकिक ध्यान की विधि—ध्यानी लौकिक ध्यान की सिद्धि के लिए नाभि में स्थित कमल को संचालित करे । पश्चात् नाड़ी (कमल-नाल) को संचालित करे । पुनः कमल-नाल के संचालन द्वारा कुम्भक, पूरक व रेचक वायुओं को हृदय के प्रति प्राप्त करावे । पश्चात् नासिका के मध्य में सूक्ष्म रूप से स्थित हुए पृथिवी, जल, तेज व वायुमण्डल को आत्मा में प्रचारित—योजित करे ।

भावार्थ—पातञ्जल दर्शन में योग (ध्यान) के आठ अङ्ग कहे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पाँच यम हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं । पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार के आसन हैं । क्योंकि आसन की स्थिरता होने पर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है ।

श्वास (नासापुट द्वारा बाह्य वायु का भीतर प्रवेश, जिसे पूरक कहते हैं) और प्रश्वास-(नासा-पुट द्वारा कोष्ठ्य वायु का बाहर निकालना, जिसे रेचक कहा है) काल में वायु की स्वाभाविक गति का निरोध (रोकना) प्राणायाम है, उसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक व रेचक ।

नासापुट द्वारा बाह्य वायु को शरीर के मध्य प्रविष्ट करके शरीर में पूरने को पूरक कहा है । उस पूरक वायु को स्थिर करके नाभिकमल में घट की तरह भरकर रोके रखने को कुम्भक कहा है । पश्चात् उस वायु को धीरे-धीरे बाहिर निकालने को रेचक कहते हैं । प्राणायाम से स्थिर हुआ चित्त, इन्द्रियों के विषयों से संयुक्त नहीं होता और ऐसा होने से इन्द्रियाँ भी विषयों से संयुक्त नहीं होतीं । वे इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप को अनुकरण करनेवाली हो जाती हैं, इसी को प्रत्याहार कहते हैं । उक्त आठ योग (ध्यान) के साधनों में से यम,

१. ॐकारं । २. भ्रूमध्ये । ३. स्पर्शनादौ । ४. आरोपयेत् । ५. नाभौ स्वभावेन स्थितं कमलं चालयेत्, पश्चात्कमलाकारेण नाड़ीं—नालिकां (कमलनालं) संचालयेत्, नाड्या कृत्वा मरुतः हृदयं प्रति प्रापयेत्, पश्चान्मरुच्चतुष्टयं—पृथ्वी अप्तेजोवायुमंडलानि नासिकामध्ये सूक्ष्माणि स्थितानि सन्ति तानि चेतसि आत्मविषये प्रचारयतु योजयतु ।

दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तद् ज्ञानमुत्सृजेत् ॥२५६॥
सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना । पापोपहतबुद्धीनां ध्यानवार्ताऽपि दुर्लभा ॥२५७॥
दधिभावगतं क्षीरं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् । तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा पुनः पापैर्न लिप्यते ॥२५८॥
मन्दं मन्दं[1] क्षिपेद्वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत् । न क्वचिद्वार्यते वायुर्न च शीघ्रं प्रमुच्यते ॥२५९॥
*रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः । आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥२६०॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥२६१॥

नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योग (ध्यान) के बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि ये चित्त को स्थिरता द्वारा परम्परा से ध्यान के उपकारक हैं। धारणा, ध्यान व समाधि ये तीन योग के अन्तरङ्ग कारण हैं; क्योंकि ये समाधि के स्वरूप को निष्पादन करते हैं। 'तत्त्रयमेकत्र संयमः (पात० योगसूत्र ३।४) अर्थात्—धारणा, ध्यान व समाधि इन तीनों की संयम यह पारिभाषिकी संज्ञा है।

इसप्रकार यह ध्यानरूपी वृक्ष चित्तरूपी क्षेत्र में यम व नियम से बीज प्राप्त करता हुआ आसन व प्राणायाम से अङ्कुरित होकर प्रत्याहार से कुसुमित होता है एवं धारणा, ध्यान व समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनों से फलशाली होता है। प्रकरण में लौकिक ध्यान का निरूपण करते हुए आचार्य श्री ने प्राणायाम द्वारा नाभिस्थ कमल-आदि को संचालित करने एवं पार्थिवी, आग्नेयी-आदि धारणाओं का भी निर्देश किया है, जिनका हम पूर्व में (श्लोक नं० ९२ के भावार्थ में) विस्तृत विवेचन कर चुके हैं* ॥ २५५ ॥

जैसे दीपक को हस्तगत करनेवाला कोई मानव उसके द्वारा कोई बाह्य वस्तु को देखकर उस दीपक को त्याग देता है वैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ जानकर पश्चात् उस ज्ञान को त्याग देना चाहिए ॥२५६॥ समस्त पाप कर्मों का आस्रव क्षीण हो जानेपर ही मानव में ध्यान करने की भावना प्रकट होती है; क्योंकि पाप-संचय से नष्ट बुद्धिवाले मानवों के लिए तो ध्यान की चर्चा भी दुर्लभ है। अर्थात्—कषायों के उदय होनेपर ध्यान प्रकट नहीं होता ॥२५७॥ जो दूध दही हो चुका है, वह पुनः दूध नहीं होता वैसे ही जैसे तत्वज्ञान द्वारा विशुद्ध हुई आत्मावाला योगी भी पुनः पापों से लिप्त नहीं होता ॥२५८॥ प्राणायाम की विधि में ध्यानी को रेचकवायु (प्राणायाम द्वारा शरीर से बाहर की जानेवाली वायु) को धीरे-धीरे छोड़नी चाहिए एवं कुम्भकवायु (प्राणायाम से शरीर के मध्य में प्रविष्ट की जानेवाली घटाकार वायु) और पूरकवायु (प्राणायाम से पूर्ण शरीर में प्रविष्ट की जानेवाली वायु) को धीरे-धीरे शरीर में स्थापित करनी चाहिए—अर्थात् खींचनी चाहिए। क्योंकि ध्यानी द्वारा प्राणायाम में न तो हठपूर्वक कुम्भक व पूरक वायु इकट्ठी धारण की जाती है और न हठपूर्वक रेचक वायु शीघ्र छोड़ी जाती है ॥ २५९ ॥ योगियों का ज्ञान विचित्र होता है, क्योंकि वे लोग दूरवर्ती रूप, स्पर्श, रस, गन्ध व शब्दों को अपनी इन्द्रियों के समीपवर्ती-सरीखे प्रत्यक्ष जान लेते हैं ॥ २६० ॥ जिसप्रकार बीज के अत्यन्त जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसीप्रकार कर्मरूपी बीज के भी अत्यन्त जल जाने पर उससे संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता ॥ २६१ ॥

१. मुञ्चेत् । * तथा चोक्तं—
संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादनघ्राणविलोकनानि । दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् वहन्तः स्वस्ति: क्रियासुः परमर्षयो नः' ॥१॥
संस्कृत देवशास्त्रगुरुपूजा ।

*. प्रस्तुत लेखमाला पातञ्जल योगदर्शन के आधार से गुम्फित की गई है—सम्पादक

[1]नाभौ चेतसि नासाग्रे दृष्टौ भाले च मूर्धनि। विहारयेन्मनोहंसं सदा कायसरोवरे ॥२६२॥
[2]प्राणायामी नभोऽगच्छेज्जले तिष्ठेदग्निमध्येऽनलार्चिषि। [3]मनोमरुत्प्रयोगेण शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥२६३॥
जीवः शिवः शिवो जीवः [4]किं भेदोऽस्त्यत्र कश्चन। पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः शिवः पुनः ॥२६४॥
साकारं [5]नश्वरं सर्वमनाकारं न दृश्यते। [6]पर्यायविनिर्मुक्तं कथं ध्यायन्ति योगिनः ॥२६५॥
अत्यन्तं मलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मलः। देहादेनं पृथक्कृत्वा तस्मान्नित्यं विचिन्तयेत् ॥२६६॥
तोयमध्ये यथा तैलं पृथग्भावेन तिष्ठति। तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुमानास्ते पृथक्तया ॥२६७॥
यत्नः सविधिरात्मायमुपायेन शरीरतः। पृथक्क्रियेत तत्त्वज्ञैश्चिरं संसर्गवानपि ॥२६८॥

ध्यानी को नाभि में, हृदय में, नासिका के अग्र भाग में, नेत्रों में, ललाट में, व शिर में और शरीररूपी सरोवर में अपने मनरूपी हंस का सदा विहार कराना चाहिए। अर्थात्—ये सब ध्यान लगाने के स्थान हैं इनमें से किसी भी एक स्थान पर मन को स्थिर करके ध्यान करना चाहिए॥ २६२॥ मन की स्थिरता से और प्राणायाम के अभ्यास से ध्यानी आकाश में विहार कर सकता है, जल में स्थिर रहता है और अग्नि की ज्वालाओं के मध्य स्थित हो सकता है, अधिक क्या शस्त्रों द्वारा भी वह पीड़ित नहीं किया जा सकता॥ २६३॥ शङ्काकार—संसारी जीव शिव (मुक्त) है और शिव संसारी जीव है, इन दोनों में क्या कुछ भेद है? क्योंकि जीवत्व की अपेक्षा एक हैं।

उत्तर—जो कर्म कर्मसमूहरूपी बन्धन से बँधा हुआ है, वह संसारी जीव है और जो उससे छूट चुका है, वह शिव (मुक्त) है। अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा में शुद्धता और अशुद्धता का ही भेद है, अन्य कुछ भी भेद नहीं है, शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहते हैं॥ २६४॥

आत्मध्यान के विषय में प्रश्न व उत्तर

यदि समस्त वस्तु-समूह साकार है? तो वह सब विनाश-शील है और यदि निराकार है? तो वह दिखाई नहीं देती किन्तु आत्मा तो न साकार है और न निराकार है तो योगी पुरुष उसका ध्यान कैसे करते हैं? अभिप्राय यह है कि ध्यान करने योग्य दोनों वस्तुएँ (अरहंत व सिद्ध) पहले साकार शरीर-प्रमाण या (पर्याय-सहित) होती हैं बाद में निराकार (पर्याय-रहित) होती हैं; क्योंकि जिनागम में 'सायारमणायारा' ऐसा कथन है। अर्थात्—अर्हन्त अवस्था में साकार (पर्याय-सहित) है और पश्चात्—सिद्ध अवस्था में निराकार—पर्याय-रहित है॥ २६५॥ शरीर अत्यन्त मलिन है, क्योंकि सप्त धातुओं से निर्मित हुआ है और आत्मा अत्यन्त विशुद्ध है; क्योंकि सप्तधातु-रहित है; अतः ध्यानी को इसे शरीर से पृथक् करके नित्यरूप से चिन्तवन करना चाहिए॥ २६६॥

शरीर और आत्मा की भिन्नता में उदाहरणमाला—जैसे तैल, जल के मध्य रहकर भी जल से पृथक् रहता है वैसे ही यह आत्मा भी शरीर में रहकर उससे पृथक् रहता है॥ २६७॥ यह आत्मा, जो कि चिरकाल से शरीर के साथ संसर्ग (संयोग-सम्बन्ध) रखने वाली भी है, तत्त्वज्ञानियों द्वारा ध्यान-आदि

१. तथा चाह शुभचन्द्राचार्यः—

'नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे, वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३॥

ज्ञानार्णव पृ० ३०६।

२. गच्छेन्मुनिः। ३. प्राणायाम। ४. प्रश्ने। ५. विनाशि। ६. तेन कारणेन उभयमपि ध्येयं, पूर्वं साकारं पर्यायसहितं पश्चान्निराकारं, 'सायारमणायारा' इतिवचनात्।

[1]पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले । तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद्वा [2]दर्पणबिम्बवत् ॥२६९॥
एकस्तम्भं नवद्वारं [3][4]पञ्च [5]पञ्चजनाश्रितम् । [6]अनेककक्षमेवेदं शरीरं योगिनां गृहम् ॥२७०॥

उपायों से वैसी शरीर से पृथक् की जाती है जैसे घृत, जो कि दही के साथ चिरकालीन संसर्ग रखनेवाला है, मन्थन-आदि उपाय द्वारा दही से पृथक् कर दिया जाता है ॥ २६८ ॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है, किन्तु उसकी गन्ध निराकार है या वृक्ष साकार है और उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है और दर्पण-गत सम्पूर्ण व असम्पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब निराकार है वैसे ही शरीर साकार है और उसमें स्थित हुई आत्मा निराकार है ॥ २६९ ॥

भावार्थ—यहाँपर किसी ने शङ्का (प्रश्न) उपस्थित की—'जो वस्तु साकार (अवयव-विशिष्ट) है, वह विनाशशील होती है, जैसे घट व पट-आदि, और जो वस्तु निराकार (निरवयव—अवयव-रहित) है, वह दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसे आकाश। परन्तु ध्यान करने योग्य आत्मद्रव्य जब साकार (सावयव) नहीं है, क्योंकि वह नित्य (सकलकाल-कलाव्यापी—शाश्वत रहनेवाला) व अनाद्यनन्त है। इसी तरह वह न निराकार है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होती है, तब योगी पुरुष उसका ध्यान कैसे कर सकते हैं?' इस शङ्का का समाधान करते हुए टिप्पणीकार ने कहा है—'ध्यान करने योग्य दोनों पदार्थ (अर्हन्त व सिद्ध) पूर्व में (जीवन्मुक्त अवस्था—अर्हन्त-अवस्था में) साकार (पर्याय-सहित—शरीरपरिमाण) होते हैं और पश्चात् सिद्ध अवस्था में निराकार (पर्याय-रहित) होते हैं।

ग्रन्थकार आचार्यश्री ने उक्त शङ्का के समाधान करने के लिए दृष्टान्तमाला उपस्थित की है। इसके पूर्व उन्होंने सप्तधातुमय शरीर की मलिनता और आत्मा की अत्यन्त विशुद्धता निर्देश करके आत्मद्रव्य को शरीर से पृथक् और नित्य (शाश्वत रहनेवाला अनाद्यनन्त) चिन्तवन करने के लिए कहा, इसके बाद कहा है, कि संसार अवस्था में आत्मा, शरीर में रहकर भी उससे वैसा पृथक् (भिन्न) है जैसे जल में स्थित हुआ तैल, जल से पृथक् होता है। पुनः घृत का दृष्टान्त देकर समझाया कि जिसप्रकार दही के साथ चिरकालीन संसर्ग रखनेवाला घी, मन्थन क्रिया द्वारा दही से पृथक् (जुदा) कर लिया जाता है उसीप्रकार चिरकाल से शरीर के साथ संयोगसंबंध रखनेवाली आत्मा भी तत्ववेत्ताओं द्वारा ध्यान-आदि उपायों से शरीर से पृथक् की जाती है। इसके बाद शङ्काकार की शङ्का के समाधान करने के लिए आचार्यश्री ने शरीर को साकार और आत्मा को निराकार सिद्ध करने के लिए तीन मनोज्ञ दृष्टान्त दिये हैं—१. पुष्प और उसकी सुगन्धि, २. वृक्ष और उसकी छाया एवं ३. मुख और दर्पण-गत सम्पूर्ण व असम्पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब। अर्थात्—जैसे पुष्प, वृक्ष व मुख, साकार हैं वैसे ही शरीर भी साकार (अवयव-विशिष्ट) है और जैसे पुष्प की सुगन्धि, वृक्ष की छाया और दर्पण-गत मुख का प्रतिबिम्ब निराकार हैं वैसे ही आत्मा भी निराकार—निरवयव—है।

निष्कर्ष—आत्मा में शरीर की तरह अवयव नहीं हैं और न वह कारणसामग्री से घट-पटादि की तरह उत्पन्न होता है, अतः निराकार है और इसीलिए वह नष्ट भी नहीं होता, और शरीर-परिमाण होने से सर्वथा निराकार न होने के कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से दृष्टिगोचर भी होता है।

यह शरीर ही योगियों का गृह है, जो कि एक आयुरूपी खम्भे पर ठहरा हुआ है, और जिसमें नौ

१. पुष्पं साकारं, परिमलः निराकारः। २. आदर्शे सकलनिष्कलमुखवत्। ३. 'आयुषा धृतम्' टि० ख०। 'एकस्तम्भं आयुर्भूत्' इति पञ्जिकायां। ४. पंचेन्द्रियाणि। ५. 'मनुष्य' टि० ख०, 'पंचजनाः मनुष्यास्तैराश्रितं' पं०। ६. 'नाभिकमलादि' टि० ख०, अनेककक्षं हृन्नाभिब्रह्मरन्ध्रादिभेदेन।

ध्यानामृतान्नतृप्तस्य क्षान्तियोषिद्रतस्य च । अत्रैव रमते चित्तं योगिनो योगबान्धवे ॥२७१॥
रज्जुभिः कृष्यमाणः स्याद्यथा [1]पारिप्लवो हयः । कृष्टस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने सीदेत न क्षणम् ॥२७२॥
[2]रक्षां [3]संहरणं [4]सृष्टिं [5]गोमुद्रामृतवर्षणम् । विधाय चिन्तयेदाप्तमाप्तरूपधरः स्वयम् ॥२७३॥
*धूमवन्निर्वमेत्पापं [6]गुरुबीजेन तादृशा । गृह्णीयादमृतं [7]तेन [8]तद्वर्णेन मुहुर्मुहुः ॥२७४॥
[9]संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः । भवेच्च [10]समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनम् ॥२७५॥

द्वार (दोनों नेत्रों के दो छिद्र-आदि) हैं एवं जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी मनुष्य निवास करते हैं तथा जो हृदय, नाभि व ब्रह्म रन्ध्र-आदि रूपी अनेक कोठरियों वाला है ॥ २७० ॥ धर्मध्यानरूपी अमृतान्न से सन्तुष्ट हुए और क्षमारूपी स्त्री में अनुराग करनेवाले योगी का चित्त इसी ध्यानरूपी बन्धुजनों में ही क्रीड़ा करता है ॥ २७१ ॥ जैसे लगाम से खींचा जानेवाला घोड़ा चञ्चल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियों से प्रेरित आत्मा भी क्षण भर ध्यान में स्थिर नहीं होता; अतः ध्यानी को इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए ॥ २७२ ॥ स्वयं आप्त (अर्हन्त) के स्वरूप का धारक 'मैं अर्हन्त भगवान् की तरह परमौदारिक शरीर में स्थित हूँ' ऐसी भावना करके धर्मध्यानी को रक्षा, संहार, सृष्टि, गोमुद्रा (आसन विशेष) और अमृत वृष्टि को करके आप्त के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। अर्थात्—जिसप्रकार सकलीकरणविधान में पहले शरीर-रक्षा की जाती है और बाद में अग्नि तत्व द्वारा दहन-लक्षणवाला संहरण किया जाता है एवं पश्चात् चन्द्र (वरुणमण्डल) से अमृत-वृष्टि की सृष्टि की जाती है उसीप्रकार योगी को पिण्डस्थ नामक धर्मध्यान में पूर्व में शरीर-रक्षा करके और बाद में अग्नितत्व के चिन्तन द्वारा कर्म-दहन लक्षण वाला संहरण करके पश्चात् चन्द्र (वरुणमण्डल) से अमृतवृष्टि को सृष्टि करके सुरभिमुद्रा नामका आसन लगाकर आप्तस्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए।

भावार्थ—यहाँपर ग्रन्थकार ने पिण्डस्थ नामक धर्मध्यान में पार्थिवी व आग्नेयी-आदि धारणाओं के चिन्तवन के विषय में लिखा है, उन धारणाओं-का विस्तृत स्वरूप हम इसी '३९ वें कल्प के श्लोक नं० ९२ के भावार्थ में उल्लेख कर चुके हैं ॥ २७३ ॥ ध्यानी को उस प्रकार के पंचपरमेष्ठी-वाचक बीजाक्षर 'ह्रीं' से धूम की तरह पाप को नष्ट करना चाहिए। अर्थात्—आग्नेयी धारणा में 'ह्रीं' की रेफ से निकलती हुई धूम-शिखा के चिन्तन करने से धूम की तरह पाप का क्षय होता है तथा उस अमृतवर्ण पकार के ध्यान से बारम्बार अमृत (मोक्षपद) को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि श्रुत के अक्षर का ध्यान मोक्ष में कारण है ॥ २७४ ॥

ध्यान के आसनों का स्वरूप

जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनों से नीचे दोनों पिण्डलियों पर रखकर यथाविधि बैठा जाता है, उसे

१. यो दुष्टाश्वः स्यात्सः प्रेरितस्तिष्ठति, खंचितश्चलति, तथेन्द्रियैः खंचितो न तिष्ठति किन्तु आत्मना ग्राह्यः इति भावः, पारिप्लवः चंचलः । २-४. सकलीकरणे यथा पूर्वं शरीररक्षा क्रियते, पश्चादग्नितत्वेन दहनलक्षणं संहरणं, चन्द्रादमृतमंडलादमृतवर्षणेन सृष्टिः । ५. सुरभिमुद्रा । *. 'धूमवन्निर्वर्तेत्' ग० । ६. 'ॐकारेण कारणेन' । टि० ख०, 'गुरुबीजेन ह्रींकारेण' इति पं० । ७-८. अमृतवर्णेन पकारेण । ९-१०. सक्थ्योरधः पादौ तदा पद्मासनं, सक्थ्योपरि तदा वीरासनं, घूंटी उपरि घूंटी तदा सुखासनं ।

तथा चोक्तममितगत्याचार्येण—

जङ्घाया जङ्घया श्लेषो समभागे प्रकीर्तितम् । पद्मासनं सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः ॥ १ ॥
बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि । समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥ २ ॥
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति । वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरैः ॥ ३ ॥

तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—

गुल्फोत्तान[1]कराङ्गुष्ठरेखारोमालिनासिकाः। समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः ॥२७६॥
[2]तालत्रिभागमध्याङ्घ्रिः स्थिरजोर्वशिरोऽधरः[3]। समनिस्पन्दपार्ष्ण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचनः ॥२७७॥
न खात्कृतिर्न [4]कण्डूतिर्नोष्ठभक्तिर्न[5] कम्पितिः[6]। न पर्वगणितिः कार्या नोक्तिरन्दोलितिः स्मितिः ॥२७८॥
न कुर्याद्दूरदृक्पातं नैव [7]केकरवीक्षणम्। न स्पन्दं पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥२७९॥
[8]विक्षेपाक्षेपसंमोहदुरीहरहिते हृदि। लब्धतत्त्वे करस्थोऽयमशेषो ध्यानजो विधिः ॥२८०॥

इत्युपासकाध्ययने ध्यानविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः कल्पः।

यस्याः [9]पदद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं लोकत्रयाम्बुजसरःप्रविहारहारि।
तां वाग्विलासवसतिं सलिलेन देवीं सेवे [10]कविश्रुतरुमण्डनकल्पवल्लीम् ॥२८१॥ (इति तोयं)
यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि [11]बोधोऽवकेशितरुवन्न [12]फलार्थिसेव्यः।
सोऽयमल्पवेदपि[13] [14]यदनुगतस्त्रिलोक्या सेव्यः [15]सुरद्रुरिव तां प्रयजेय गन्धैः ॥२८२॥ (इति गन्धम्।)

पद्मासन कहते हैं। जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनों के ऊपर के हिस्से पर रखकर बैठा जाता है, उसे वीरासन कहते हैं और जिसमें पैरों की गाँठें बराबर में रहती हैं, उसे सुखासन कहते हैं ॥ २७५ ॥

गृहस्थों के ध्यानोपयोगी सुखासन का स्वरूप बताते हैं—पैरों की गाठों पर बायीं हथेली के ऊपर दाहिनी हथेली को सीधा रक्खे। अगूठों की रेखा, नाभि से निकल कर ऊपर को जानेवाली रोमावली और नासिका एक सीध में हों। दृष्टि सम हो। शरीर न एकदम तना हुआ हो और न एकदम झुका हुआ हो। खड्गासन अवस्था में दोनों चरणों के बीच में चार अंगुल का अन्तर होना चाहिए। मस्तक और ग्रीवा स्थिर हों। एड़ी, घुटने, भ्रुकुटि, हाथ और नेत्र समानरूप से निश्चल हों। न खाँसे, न खुजाए। न ओष्ठ संचालित करे, न काँपे, न हस्त के पर्वों पर गिने, न बोले, न हिले-डुले, न मुस्कराए, न दृष्टि को दूर तक ले जाये और न कटाक्षों से देखे। नेत्रों की पलक-श्रेणी चंचल न करे। एवं नासिका के अग्रभाग में अपनी दृष्टि स्थिर रखे।

जब योगी का मन ऐसा होता है, जो अस्थिरचित्तपना, आक्षेप (तप, स्वाध्याय व ध्यान में चित्त को कुछ विचलित करना), संमोह (अज्ञान—अतत्व में तत्व का आग्रह या परमत-भ्रान्ति) व दुरीहित दुरभिलाषा) से रहित होता है तब उसके विशुद्ध मन में यह समस्त ध्यान-विधि हस्त-गत—सुलभ होती है ॥ २७६–२८० ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में ध्यानविधि नामक उनतालीसवां कल्प समाप्त हुआ।

जिसके स्यादस्ति व स्यान्नास्ति-आदि अनेकान्त-वाचक शब्द व धातुरूप दोनों पद (चरण) शब्दालंकार व अर्थालङ्कार के योग्य हैं और जो तीनों लोकरूपी कमल-सरोवर में क्रीड़ा करने से मनोज्ञ है एवं जो कविरूपी कल्पवृक्षों को विभूषित करने के लिए कल्पलता-सरीखी है ऐसी स्याद्वादवाणी की लीलावाली सरस्वती देवी को मैं जल से पूजता हूँ* ॥ २८१ ॥ मैं ऐसी स्याद्वाद वाणी को गन्ध से पूजता हूँ: जिसके बिना समस्त पदार्थों को प्रतिपादन करनेवाला भी ज्ञान उसप्रकार फलार्थी (स्वर्ग व मोक्षफल के इच्छुक) पुरुषों द्वारा

---

१. चतुःकर पार्श्वनाथवत्। २. विस्तस्तेस्तृतीयभागश्चतुरङ्गुलः। ३. ग्रीवा। ४. खर्जनम्। ५. पृथक्करणं। ६. कम्पनम्। ७. कटाक्ष। ८. आ—ईषत्। ९. शब्दालंकारः अर्थालङ्कारश्च। १०. कविरेव कल्पतरुस्तस्यालंकरणे। ११. परिज्ञानं। १२. 'वंध्यवृक्षवत्' टि० ख०, 'अवकेशी वन्ध्यः' इति पं०। १३. नरः। १४. वाण्या। १५. 'सुरद्रुः सुरद्रुम.' यश० पं०। *. रूपकालंकारः।

या[1]स्वल्पवस्तुरचनापि [2]मितप्रवृत्तिः [3]संस्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मीः[4] ।
*स्वर्वल्लरीवनलतेव सुधानुबन्धात्तामद्भुतस्थितिमहं सदकैः श्रयामि ॥२८३॥ (इत्यक्षतम्)

[5]यद्बीजमल्पमपि* सज्जनधीधरायां लब्धप्रवृद्धिविविधानवधिप्रबन्धैः ।
[6]सस्यैरपूर्वरसवृत्तिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरविधिं[7] प्रसवैर्भजे ताम् ॥२८४॥ (इति पुष्पम्)

या[8] स्पष्टशाब्दिकविधिः [9]परतन्त्रनीतिः प्रायः [10]फलापरिगतापि मनः प्रसूते ।
स्पष्टं स्वतन्त्रमुपशान्तकलं नृणां च चित्रा हि वस्तुगतिरन्नविधैर्यजेत ॥२८५॥ (इति चरुम्)

[11]एकं पदं [12]बहुपदापि ददासि तुष्टा [13]वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम् ।
सेवं *तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तथैव दीपः ॥२८६॥ (इति दीपम्)

सेवनीय नहीं होता जिसप्रकार न फलनेवाला वृक्ष फलार्थी पुरुषों द्वारा सेवनीय नहीं होता और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्ष की तरह तीनों लोकों से पूजनीय होता है[14] ॥२८२॥ मैं उस आश्चर्यजनक स्थितिवाली ऐसी सरस्वती देवी को अक्षतों से पूजता हूँ, जिसके अभ्यास से अल्प अर्थ वाली व अल्प शब्दवाली रचना भी उस प्रकार अपरिमित अर्थवाली व अपरिमित शब्दवाली होकर सुशोभित होती है जिसप्रकार अमृत के सिञ्चन से वनलता भी कल्पलता होकर सुशोभित होती है[15] ॥२८३॥ जिसकी विधि आश्चर्य का विषय है, उस जिनवाणी को मैं पुष्पों से पूजता हूँ, जिसका छोटा-सा भी बीज सज्जनों की बुद्धिरूपी भूमि में वृद्धिगत, नानाप्रकार के व असीम प्रबन्धों (गद्य व पद्यरूप काव्य-रचनाओं) द्वारा अपूर्वरस (शृङ्गार-आदि व पक्षान्तर में मिष्टरस) वाले फलों के साथ ऊँगता है[16] ॥२८४॥ ऐसी वाणी को नानाप्रकार के नैवेद्यों से पूजना चाहिए, जो शब्दरूप होने के कारण नेत्रों से अगम्य है, अतएव अति अस्पष्ट है तथापि वह मानवों की आत्मा को स्पष्ट प्रकट करती है, जो कण्ठ व तालु-आदि आठ स्थानों से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र है तो भी वह आत्मा को स्वाधीन करती है, जो मूर्ति-सहित है तो भी वह मानवों की आत्मा को शरीर-रहित कर देती है, सच है कि तत्वज्ञान बड़ा विचित्र है। आशय यह है, कि जिनवाणी श्रुतज्ञानरूप होने पर भी केवलज्ञान को प्रकट करती है, जिससे वह केवलज्ञान मानवों की आत्मा को स्पष्ट जानता है और स्वाधीन बनाता है व शरीर-रहित कर देता है; अतः तत्वज्ञान विचित्र है ॥२८५॥

हे देवी ! तुम बहुत पदोंवाली होकर के भी सन्तुष्ट होने पर आराधक जन के लिए एक पद प्रदान करती हो, यहाँ विरोध प्रतीत होता है, उसका परिहार यह है कि द्वादशाङ्ग के पदों की संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है, अतः जिनवाणी बहुपदा (बहुत पदोंवाली व पक्षान्तर में अमृत स्वरूप) है और उसके द्वारा एक पद (मोक्ष) प्राप्त होता है। और वर्णात्मक होकर के भी आराधक जन को ब्राह्मणादि वर्णों का धारक नहीं करती; यहाँ पर भी विरोध मालूम पड़ता है, उसका परिहार यह है कि जिनवाणी वर्णात्मक (अक्षरात्मक) है, परन्तु सन्तुष्ट हुई आराधक जन को ब्राह्मणादि वर्णों से मुक्त करती है, तथापि

---

१. 'अल्पशब्दसहिताऽपि' टि० ख०, 'स्तोकार्थाऽपि' टि० च० घ०। २. 'अल्पार्थाऽपि' टि० ख०, 'स्वल्पशब्दापि' टि० च०। ३. भगवत्याः अभ्यासवशात्। ४. अमितास्पृहा। ५. यस्याः बीजं। *. अल्पार्थाऽपि। ६. फलैः कृत्वा। ७. आश्चर्येण गोचरो गम्यश्चासौ विधिर्यस्याः सा ताम्। ८. शब्दरूपत्वान्नेत्राणामगम्या तथापि मनः आत्मानं स्पष्टं स्वाधीनं प्रसूते प्रकटीकरोति। ९. अष्टस्थानापेक्षया तथापि मनः स्वाधीनं सूते। १०. मूर्तिसहिताऽपि मनः आत्मानं उपशान्तकलं शरीररहितं सूते। ११. अद्वितीयं मोक्षं। १२. कोटिशतमित्यादि पक्षे अमृतस्वरूपा। १३. अक्षरस्वरूपा पक्षे विप्रादि। *. यद्यप्येकपदत्वात् कृपणापि। १४. उपमालंकारः। १५. उपमालंकारः। १६. श्लिष्टोपमालंकारः।

[1]चक्षुः परं [2]करणकन्दरदूरितेऽर्थे मोहान्धकारविघुतौ[3] परमः प्रकाशः ।
तस्मागामिपथवीक्षणरत्नदीपस्त्वं सेव्यसे तदिह देवि अनेन धूपैः ॥२८७॥ (इति धूपम्)
चिन्तामणित्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्याः पुंसां मनोरथपथप्रथितप्रभावाः ।
भावा भवन्ति नियतं तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्तदिदमस्तु मुदे फलं ते ॥२८८॥ (इति फलम्)
[4]कलधौतकमलमौक्तिकदुकूलमणिजालचामरप्रायैः । आराधयामि देवीं सरस्वतीं सकलमङ्गलकर्थैः ॥२८९॥
स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणैः समुपासनीया ।
स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥२९०॥
[5]मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामभ्यर्च्यऽर्चनात्संस्तवनात्स्तवार्हः ।
[6]जपी जपाद्ध्यानविधेरबाध्यः[7] श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च ॥२९१॥
दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां [8]भावैरनन्याश्रयैः । स्निग्धस्त्वं न तथापि यत्समविधि[9]र्भक्ते विरक्तेऽपि च ॥
मच्चेतः पुनरेतदीश भवति प्रेमप्रकृष्टं सतः । किं भाषे परमत्र यामि भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥२९२॥

मैं आपकी पूजा करता हूँ, क्योंकि प्रयोजनार्थी प्रयोजन सिद्ध करनेवाले का दोष नहीं देखता; अतः मैं तुम्हें दीप अर्पित करता हूँ[10] ॥२८६॥ हे देवि ! तुम इन्द्रियरूपी गुफाओं से दूरवर्ती पदार्थों को देखने के लिए उत्कृष्ट नेत्र हो, अर्थात्—आपके प्रसाद से इन्द्रियों के अगोचर पदार्थ जाने जा सकते हैं; और प्राणियों के अज्ञानरूपी अन्धकार के स्फोटन—विध्वंस करने के लिए तुम उत्कृष्ट प्रकाश हो तथा मोक्षस्थान में जानेवाले मार्ग के दर्शन में रत्नमयी दीपक हो; इसलिए लोग धूप से तुम्हारी पूजा करते हैं[11] ॥२८७॥ हे देवि ! आपकी विधिपूर्वक सेवा करने से चिन्तामणि, कामधेनु व कल्पवृक्ष-आदि पदार्थ, जिनका प्रभाव प्राणियों की इच्छा-पूर्ति के विषय में प्रसिद्ध है, नियम से प्राप्त होते हैं; इसलिए यह फल तेरी प्रसन्नता के लिए हो ॥२८८॥ मैं सुवर्ण-कमल, मोती-समूह, रेशमीवस्त्र, मणि-समूह और चमरों की बहुलतावाली समस्त माङ्गलिक वस्तुओं से सरस्वती देवी की आराधना (पूजा) करता हूँ ॥२८९॥

ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथी का प्रवेश करानेवाली हो, जो कि स्याद्वादरूपी पर्वत से उत्पन्न हुई है, जो मुनियों द्वारा सन्माननीय है, जो अन्य की शरण में न जानेवाले देवों द्वारा सम्यक्रूप से उपासनीय है, एवं जिसका प्रवाह प्राणियों के मन में स्थित हुए समस्त कर्मरूपी कलङ्क को नष्टकरनेवाला है[12] ॥२९०॥ जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करने से भक्त पुरुष मस्तक पर अभिषेक किया हुआ (राजा) होता है, पूजा करने से पूजनीय होता है, स्तुति करने से स्तुति के योग्य होता है एवं जप करने से जप-योग्य होता है एवं ध्यान-विधि से बाधाओं से रहित होता है तथा श्रुत की आराधना से बहुश्रुत विद्वत्तारूपी लक्ष्मीवाला होता है॥२९१॥ हे जिनेन्द्र ! मैंने तुम्हारा दर्शन किया और जिसका अन्य आश्रय नहीं है, ऐसे भावों (आठ द्रव्यों) से तुम्हारी विशेष पूजा की। तो भी राग, द्वेष से रहित होने के कारण तुम मुझ से स्नेह-रहित हो; क्योंकि तुम भक्त व विरक्त पुरुष में समता-युक्त (मध्यस्थ—राग-द्वेष-रहित) हो, अर्थात्—तुम भक्त से राग और विरक्त से द्वेष नहीं करते। फिर भी मेरा यह चित्त आपके प्रति प्रेम से भरा है। अधिक क्या कहूँ अब मैं जाता हूँ। मुझे आपका पुनः दर्शन प्राप्त हो ॥२९२॥

१-२. करणान्येव कन्दराणि गुफास्तेषां कन्दराणां दूरे पदार्थे त्वं सरस्वती चक्षुः । ३. स्फोटने । ४. सुवर्ण । ५. राजा भवति । ६. जप्यः । ७. बाधारहितो भवति । ८. पदार्थैः अष्टप्रकारपूजनैः । ९. समतायुक्तः मध्यस्थः । १०. विरोधाभासालंकारः । ११. रूपकालंकारः । १२. रूपकालंकारः ।

इत्युपासकाध्ययने श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

पर्वाणि *प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च । पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्मात्र बृंहयेत् ॥२९३॥

रसत्यागैकभक्तैकस्थानोपवसनक्रियाः । यथाशक्तिविधेयाः स्युः [1]पर्वसन्धौ च पर्वणि ॥२९४॥

नैरन्तर्यसान्तर्यतिथितीर्थर्क्षपूर्वकः[2] । उपवासविधिश्चित्र[3]श्चिन्त्यः श्रुतसमाश्रयः ॥२९५॥

[4]स्नानगन्धाङ्गसंस्कारभूषयोषाऽविवर्जितः । निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्परः ॥२९६॥

देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा । उपोषितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥२९७॥

पुंसः कृतोपवासस्य बह्वारम्भरतात्मनः । कायक्लेशः प्रजायेत गजस्नानसमक्रियः ॥२९८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में श्रुताराधनविधि नामक चालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

प्रोषधोपवास का स्वरूप

प्रत्येक मास में वर्तमान दो अष्टमी व दो चतुर्दशी इन चार पर्वों को 'प्रोषध' कहते हैं, इन पर्वोंमें व्रती श्रावक को विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतों का पालन करके धर्म-कर्म की वृद्धि करनी चाहिए ॥२९३॥ पर्वसन्धि (अष्टमी) व पर्व के दिनों में रसों का त्याग, एकाशन, एकान्त स्थान में निवास व उपवास-आदि क्रियाएँ यथाशक्ति करनी चाहिए ॥२९४॥ लगातार या बीच में अन्तराल देकर के तिथि, तीर्थङ्करों के कल्याणक तथा नक्षत्र को आधार बनाकर आगमानुसार अनेक प्रकार की उपवास-विधि विचार लेनी चाहिए । अर्थात्—कोई तो रसत्याग-आदि सदा करते है, कोई अमुक तिथि में करते हैं, कोई तीर्थङ्करों के कल्याणकों के दिन करते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकार की उपवासविधि आगम में निर्दिष्ट है, उसे विचार लेनी चाहिए ॥२९५॥

उपवास करनेवाले गृहस्थ को स्नान, इत्र-फुलेल, शरीर-संस्कार, आभूषण और स्त्री में अनासक्त बुद्धि रखकर अर्थात् इन्हें त्यागकर, और समस्त पाप क्रियाओं का त्याग करने वाला होकर चरित्र-पालन में तत्पर होना चाहिए और जिनमन्दिर में या पर्वत पर, गृह में या वन में जाकर सदा धर्मध्यान में तत्पर होना चाहिए ॥२९६-२९७॥

जो मानव उपवास करके भी अनेक प्रकार के आरम्भों में अनुरक्त चित्तवाला है, उसका उपवास केवल काय-क्लेश ही है और उसकी क्रिया हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है । अर्थात्—जिस प्रकार हाथी स्नान करके पुनः अपने शरीर पर धूलि डाल लेता है, अतः उसका स्नान व्यर्थ है उसी प्रकार उपवास करके गृहस्थ संबंधी प्रपञ्चों में फँसे हुए का उपवास निरर्थक है, क्योंकि उससे आत्मा का हित नहीं होता ॥२९८॥

---

*. तथा चोक्तं समन्तभद्राचार्यैः—'चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद् भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०९॥ रत्न श्रा० । तथा च पूज्यपादः—'प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः' ।—सर्वार्थसिद्धि । १. अष्टम्यां । २. नक्षत्र । ३. नानाप्रकारः । ४. तथा चाह समन्तभद्राचार्यः—
'पञ्चानां पापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणां । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१०७॥
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वाऽन्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥'—रत्नकरण्ड श्रा० ।

★अनवेक्षाप्रतिलेखनदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्काराः । [1]आवश्यकविरतियुताश्च[2]तुर्थमेते विनिघ्नन्ति ॥२९९॥
विशुध्येन्नान्तरात्मायं कायक्लेशविधिं विना । किमन्नेरन्यदस्तीह काञ्चनाश्मविशुद्धये ॥३००॥
हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दुःखवृक्षदवानलः । पवित्रं यस्य चारित्रैश्चित्तं सुकृतिजन्मनः[3] ॥३०१॥

इत्युपासकाध्ययने प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

यः [4]सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः । भूषादिपरिभोगः स्यात्पौनः पुन्येन सेवनात्★ ॥३०२॥
परिमाणं तयोः कुर्वीत तृष्णावृत्तिनिवृत्तये । प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियमं भजेत् ॥३०३॥
[5]यमश्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ । यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥३०४॥

विना देखी व विना शोधी भूमि पर मल-मूत्रादि का क्षेपण करना, मृदु उपकरण (मयूर-पिच्छ) से विना शुद्ध किये हुए पूजा के उपकरण व शास्त्र-आदि का ग्रहण करना, पाप कार्य का आरम्भ करना, अशुभ मन से विचार करना और सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण-आदि छह आवश्यक क्रियाओं को न करना ये कार्य प्रोषधोपवासव्रत के घातक हैं; अतः प्रोषधोपवास के दिन इन अतीचारों का त्याग करना चाहिए ॥२९९॥ उपवास-आदि द्वारा कायक्लेश किये विना आत्म-शुद्धि नहीं होती। क्या इस लोक में सुवर्ण-पाषाण की शुद्धि के लिए अग्नि को छोड़कर दूसरा कोई साधन है? अर्थात्—जैसे अग्नि में तपाने से ही सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही शरीर को कष्ट देने से आत्मा विशुद्ध होती है ॥३००॥ पुण्य से जन्मवाले जिसका चित्त चारित्र से पवित्र है, उसे ऐसा चिन्तामणि रत्न हस्तगत (प्राप्त) होता है, जो कि दुःखरूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए दावानल अग्नि-सरीखा है ॥३०१॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में प्रोषधोपवासविधि नामक इकतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

भोगपरिभोग परिमाणव्रत

जो पदार्थ एकवार ही भोगा जाता है उसे 'भोग' कहते हैं जैसे भोजन-वगैरह और जो वार-वार भोगा जाता है, उसे 'परिभोग या उपभोग' कहते हैं। जैसे आभूषण वगैरह ॥ ३०२ ॥ धार्मिक पुरुष को अपने चित्त की अधिकाधिक संग्रह करने की तृष्णा की निवृत्ति के लिए भोगोपभोग वस्तुओं का परिमाण कर लेना चाहिए और जो कुछ प्राप्त है और जो सेवन-योग्य है, उन समस्त वस्तुओं का भी अपनी इच्छानुसार नियम कर लेना चाहिए, कि आज मैं इतनी भोगोपयोग वस्तुएँ भोगूँगा ॥ ३०३ ॥ त्याज्य पदार्थों के त्याग के विषय

★. तथा चाह उमास्वामी-आचार्यः—'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥'—मोक्षशास्त्र ७–३४।

तथा चाह समन्तभद्राचार्यः—'ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे । यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥११०॥' रत्न० श्रा०। 1. षडावश्यकरहिताः। 2. उपवासं। 3. सुकृत्या पुण्येन जन्म यस्य। 4. एकवारं।

★. तथा चाह समन्तभद्राचार्यः—'भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपञ्चेन्द्रियो विषयः ॥ ८३ ॥' रत्न० श्रा०।

तथा चाह पूज्यपादः—'उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः, परिभोगः आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् ।'—सर्वार्थसि० ७–२१।

5. तथा चाह समन्तभद्राचार्यः—'नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे। नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥'—रत्नकरण्ड श्रा०।

[1]पलाण्डुकेतकीनिम्बसुमनःसूरणादिकम् । त्यजेदाजन्म तद्रूपबहुप्राणिसमाश्रयम् ॥३०५॥
[2]दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसंबन्धमिश्रयोः । अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याक्षतिकारणम् ॥३०६॥
इत्थं नियतवृत्तिः स्यादनिच्छोऽप्याश्रयः श्रियाः । नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीसविधागमः ॥३०७॥

इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

*यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् । यथापात्रं यथाकालं दानं देयं गृहाश्रमैः ॥३०८॥
आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां[3] रत्नत्रयसमृद्धये । [4]स्वपरानुग्रहायेत्थं यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥३०९॥

में यम और नियम की विधि कही गई है। अर्थात्—भोगोपभोग वस्तुओं का परिमाण दो प्रकार से किया जाता है। एक यमरूप से और दूसरे नियमरूप से। जीवनपर्यन्त त्याग करने को यम समझना चाहिए और कुछ समय के लिए त्याग करने को नियम समझना चाहिए। अर्थात्—परिमितकाल पर्यन्त त्याग को नियम जानना चाहिए ॥ ३०४ ॥

व्रती को प्याज-आदि जमीकन्द, केतकी के पुष्प व नीम के पुष्प तथा सूरण-वगैरह जमीकन्द जन्म पर्यन्त के लिए छोड़ देने चाहिए; क्योंकि ये पदार्थ उसी प्रकार के बहुत से जीवों के निवासवाले हैं ॥ ३०५ ॥ ऐसे भोजन का भक्षण भोगपरिभोगपरिमाणव्रत की क्षति का कारण है, जो कच्चा या जला हुआ है, जो व्रती-द्वारा त्याग किया हुआ है, जो जन्तुओं से छू गया है, या जिसमें जन्तु गिरकर मर गए हों और जो दृष्टि-गोचर नहीं हुआ ॥ ३०६ ॥ उक्त प्रकार से भोगोपभोग वस्तुओं का परिमाण करनेवाला श्रावक मनुष्य इच्छुक न होता हुआ भी मनुष्यों की लक्ष्मी (चक्रवर्ती-विभूति) व देवों की लक्ष्मी (इन्द्र-विभूति) का आश्रय होकर मुक्तिश्री को निकट में प्राप्त करनेवाला हो जाता है ॥ ३०७ ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में भोगोपभोगपरिमाण नामक बयालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

दान का स्वरूप

गृहस्थाश्रमी को विधि (पड़गाहना-आदि), देश, द्रव्य, आगम, पात्र एवं काल के अनुसार दान देना चाहिए ॥ ३०८ ॥ जो अपने कल्याण के लिए है और मुनि-आदि सत्पात्रों की रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) की वृद्धि के लिए होता है, इसप्रकार जो दाता और पात्र के उपकार के लिये

---

१. तथा चाह पूज्यपादः—'मधु मांसं मद्यञ्च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा। केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गबेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्। यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति।'—सर्वार्थ० ७-२१।
२. तथा चाह सूत्रकारः—'सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः' ।—मोक्षशास्त्र ७-३५।

*. तथा चोक्तं—'यथाद्रव्यं यथादेशं यथापात्रं यथापथम्। यथाविधानसम्पत्त्या दाने देयं तदर्थिनाम् ॥१३॥ प्रबोधसार पृ. १८७।

३. महामुनीनां। ४. तथा चाह सूत्रकारः—'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं।' —मोक्षशास्त्र ७-३८। 'स्वपरोपकारोऽनुग्रहः। 'स्वोपकारः पुण्यसंचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः।'—सर्वार्थसिद्धि भाष्यकारः पूज्यपादः पृ० २१९।
तथा चोक्तं श्रीमद् विद्यानन्दिस्वामिना—
'अनुग्रहार्थमित्येतद्विशेषणमुदीरितं। तेन स्वमांसदानादि निषिद्धं परमापकृत् ॥२॥'
'तेन च विशेषणेन स्वमांसादिदानं स्वापायकारणं परस्यावद्यनिबंधनं च प्रतिक्षिप्तमालक्ष्यते, तस्य स्वपरयोः परमापकारहेतुत्वात्।'—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४७२।

[1]दातृपात्रविधिद्रव्यविशेषात्तद्विशिष्यते । यथा [2]घनाघनोद्गीर्णं तोयं भूमिसमाश्रयम् ॥३१०॥
दातानुरागसंपन्नः पात्रं रत्नत्रयोचितम् । सत्कारः स्याद्विधिर्द्रव्यं[3] तपःस्वाध्यायसाधकम् ॥३११॥
परलोकधिया कश्चित्कश्चिदैहिकचेतसा । औचित्यमनसा कश्चित्सतां वित्तव्ययस्त्रिधा ॥३१२॥
परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषां न धीः समा । धर्मः कार्यं यशश्चेति तेषामेतत्त्रयं कुतः ॥३१३॥
[4]अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम् । दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ॥३१४॥

दिया जाता है, उसे ही दान कहा जाता है ॥ ३०९ ॥ जैसे मेघों से बरसा हुआ जल भूमि का आश्रय प्राप्त करके विशिष्ट फलदायक होता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्य की विशेषता से दान में भी विशेषता होती है, अर्थात्—ऐसा दान विशेष फलदायक होता है ॥ ३१० ॥

दाता-आदि का स्वरूप

जो पात्र के गुणों (सम्यग्दर्शन-आदि) में अनुरक्त होकर देवे, वह दाता है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से विभूषित है वह पात्र है। नवधा भक्ति को विधि कहते हैं और मुनियों के तप व स्वाध्याय में सहायक अन्न व शास्त्र-आदि को द्रव्य कहते हैं ॥ ३११ ॥ सज्जन दाताओं का धन-वितरण तीन प्रकार से होता है। कोई सज्जन परलोक की बुद्धि के उद्देश्य से कि परलोक में हमें स्वर्गश्री की प्राप्ति होगी, धन-वितरण करते हैं। कोई सज्जन ऐहिक सुख की वाञ्छा से कि इस लोक में मेरी कीर्ति हो और जनता से सन्मान प्राप्त होगा, धन वितरण करते हैं एवं कोई सज्जन औचित्य (दान व प्रिय वचनों द्वारा दूसरों के लिए सन्तोष उत्पादन करना) से युक्त अभिप्राय से दान करते हैं ॥ ३१२ ॥ जिनकी बुद्धि न परलोक सुधारने की है और न ऐहिक कार्य की ओर है और न औचित्य की ओर है अर्थात्—जो उक्त उद्देश्यों से दान द्वारा पात्रों को सन्मानित नहीं करते, उनके लिए धर्म, लौकिक कार्य व कीर्ति ये तीनों कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

भावार्थ—परलोक की बुद्धि के उद्देश्य से और औचित्य मनोवृत्ति से दान करने से क्रमशः धर्म व कीर्ति प्राप्त होती है। जैसे मुनियों को दान देना-आदि, बाढ़-पीड़ितों या दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करना, शिक्षालयों व औषधालयों के संचालनार्थ दान देना-आदि। इस लोक की बुद्धि से किया हुआ धन-वितरण लौकिक कार्यों में उपयोगी है। जो लोग उक्त तीनों आधारों में धन खर्च नहीं करते, वे लौकिक कार्यों में भी खाली हाथ रहते हैं और पारलौकिक सुख से भी वञ्चित रहते हैं और न उन्हें यश भी मिलता है ॥ ३१३ ॥

दान के भेद

विद्वानों ने चार प्रकार का दान कहा है—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारों दान दाता की शक्ति व श्रद्धा का आश्रय करते हैं। अर्थात्—यदि दाता के पास धन नहीं है, तो वह देने का इच्छुक होकर के भी नहीं दे सकता और उसके पास धन होने पर भी श्रद्धा के बिना उसमें दान करने

१. तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्यः—'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः'—मोक्ष० ७–३९। २. घनाघनाः मेघः। ३. ओदनादि।

४. तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्यः—'आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥'—रत्न० श्रा०।
तथा चाह पूज्यपादः—'त्यागो दानं। तत्त्रिविधं आहारदानमभयदान ज्ञानदानं चेति'।—सर्वार्थ० ६–२४।

[1]सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान्भवेत् । आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्याच्छ्रुतकेवली ॥३१५॥
*अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधीः सदा । तद्धीने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः ॥३१६॥
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः । सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥३१७॥
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम् । तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥३१८॥
[2]नवोपचारसंपन्नः समेतः सप्तभिर्गुणैः । अन्नैश्चतुर्विधैः[3] शुद्धैः[4] साधूनां कल्पयेत्स्थितिम् ॥३१९॥

की इच्छा नहीं होती; अतः जो धनाढ्य व श्रद्धालु होते हैं, वे ही उक्त चारों प्रकार का दान पात्रों के लिए दे सकते हैं ॥ ३१४ ॥

चारों दानों का फल

आचार्यों ने कहा है कि अभयदान (प्राणि-रक्षा) से दाता को सुन्दर रूप मिलता है, आहार-दान से भोगसामग्री प्राप्त करनेवाला होता है एवं औषधिदान से निरोगता प्राप्त होती है तथा शास्त्रदान से श्रुत केवली होता है ॥ ३१५ ॥

अभयदान की श्रेष्ठता

विवेकी मानव को सबसे प्रथम समस्त प्राणियों के लिए सदा अभयदान देना चाहिए। क्योंकि अभयदान न देनेवाले (निर्दयी) मानव की निस्सन्देह सभी पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं ॥ ३१६ ॥ क्योंकि अभयदान (प्राणि-रक्षा) समस्त दानों में श्रेष्ठ है; अतः यदि अभयदान देनेवाला मानव दूसरे दान करनेवाला हो अथवा न भी हो तो भी उसका कल्याण होता है ॥ ३१७ ॥ जो मानव अभयदान देता है, उसने समस्त शास्त्र पढ़ लिए और उत्कृष्ट तप कर लिया एवं समस्त दान कर लिए। अर्थात्—वह शास्त्रवेत्ता, परमतपस्वी व समस्त दानों का कर्ता है ॥ ३१८ ॥

[अब आहारदान को कहते हैं]

सात गुणों (श्रद्धा व तुष्टि-आदि) से युक्त दाता को नवधा भक्ति (प्रतिग्रह व उच्चासन-आदि) पूर्वक अन्न, पान, स्वाद्य व लेह्य के भेद से चार प्रकार के शुद्ध आहार द्वारा मुनियों की भोजन विधि करना चाहिए, अर्थात्—उनके लिए चार प्रकार का शुद्ध आहार देना चाहिए ॥ ३१९ ॥

---

१. तथा चोक्तं—'सौरूप्यमभयात् प्राहुराहारात् सर्वभुक्तता । श्रुतात् श्रुतमतामीशा निर्व्याधित्वं तथौषधात् ॥ १८ ॥'
—प्रबोधसार पृ० १९० ।

*. तथा चोक्तं—'धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्यं यतः स्थितिः । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥ ८४ ॥'
—अमि० श्रा० ९ परि० ।

२. तथा चाह स्वामिसमन्तभद्राचार्यः—
नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥—रत्न० ।

३. अन्नपानखाद्यलेह्यभेदात् । ४. अविरुद्धैः चर्मजलादिरहितैः ।

[1]प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।
[2]विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥३२०॥
श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः । यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥३२१॥

तत्र विज्ञानस्यैवं लक्षणम्—

विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं [3]प्रसृतं च यत् । मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं [4]गदावहम् ॥३२२॥
उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं[5] विगर्हितम् । न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥३२३॥
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम्[6] । न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाऽयथर्तुकम् ॥३२४॥

गृहस्थ को मुनियों की नवधा भक्ति करनी चाहिए। १. प्रतिग्रह (पड़गाहना, अर्थात्—अपने गृह के द्वार पर मुनि को आते देखकर उन्हें आदरपूर्वक स्वीकार करते हुए 'स्वामिन् ! नमोऽस्तु ठहरिए, ठहरिए, ठहरिए' इस प्रकार तीन बार कहना) २. उच्चासन (गृह के मध्य ले जाकर ऊँचे आसन पर बैठाना) ३. पादप्रक्षालन (उनके चरणकमलों को प्रक्षालित करना) ४. पादपूजा (पश्चात्—उनके चरणकमलों की पूजा करना), ५. प्रणाम (पञ्चाङ्ग नमस्कार करना), ६. ७. ८. मनशुद्धि, वचनशुद्धि व कायशुद्धि कहना और ९. आहार-शुद्धि (अन्न-जलशुद्धि) । ये नवधा भक्ति हैं ॥ ३२० ॥

जिस दाता में निम्न प्रकार से सात गुण होते हैं, उसकी आचार्य प्रशंसा करते हैं—१. श्रद्धा (पात्र-दान के फल में विश्वास करना), २. तुष्टि (सन्तोष—दिये हुए आहार दान से हर्षित होना), ३. भक्ति (पात्र के गुणों में अनुराग होना), ४. विज्ञान (आचार शास्त्र का ज्ञान), ५. अलुब्धता (दान देकर सांसारिक सुख की अपेक्षा न करना), ६. क्षमा (क्रोध के कारणों की उत्पत्ति होनेपर भी क्रोध न करना) और ७. शक्ति (स्वल्प धन होनेपर भी दान देने में रुचि होना) ॥ ३२१ ॥

[अब इन गुणों में से विज्ञान गुण का स्वरूप शास्त्रकार स्वयं बताते हैं]

विवेकी श्रावक को मुनियोंके लिए ऐसा सदोष भोजन नहीं देना चाहिए, जो विरूप है, जो चलित-रस है, जो घुना हुआ (कीड़ों से व्याप्त) है, जो साधुकी प्रकृति के विरुद्ध है, और जो विशेष जीर्ण या जला हुआ है तथा जिसके खाने से रोग उत्पन्न होते हैं। जो जूँठा है, जो नीच पुरुषों के खाने-योग्य है, जो दूसरे (किसानों-आदि) के उद्देश्य से बनाया गया है, जिससे अशोधित है, जो निन्द्य है, जो दुर्जनों से छू गया है, और जो देव व यक्ष-आदि के सत्कार के लिए बनाया गया है ॥ ३२२-३२३ ॥ इसी तरह जो दूसरे गाँव से लाया हुआ है, जो सिद्ध मन्त्रों से लाया हुआ है, जो भेंट में आया है, और जो बाजार से खरीदा गया है एवं

१. तथा चाह भगवज्जिनसेनाचार्यः—
'प्रतिग्रहणमत्युच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम् । पादप्रधावनञ्चार्चा नतिः शुद्धिश्च या त्रयी ॥ ८६ ॥ —महापुराण' ।
तथा चोक्तं—'प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादप्रक्षालनमर्चनम् । प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव' ॥ १ ॥
—चारित्रसार पृ० १४ ।
अभ्युत्थानं । पूर्वं पादप्रक्षालनं पश्चात् पूजा । २. भिक्षा आहारः ।
३. 'अतिजीर्णं' टि० ख०, 'प्रसृतं यदुप्तं धान्यं न प्ररोहति, प्ररूढं वा न फलति' इति यश० पञ्जिकाकारः । ४. रोग-कारि । ५. कर्षकादिनिमित्तनिष्पन्नमशोधितत्वात् । ६. प्राभृतं—ढौकनकं ।

दधिसर्पिः पयोभक्ष्यप्रायं [1]पर्युषितं मतम्[2] । गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥३२५॥
बालग्लान[3]तपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान् । मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते स्युस्तपःक्षमाः ॥३२६॥
[4]शाठ्यं गर्वमवज्ञानं[5] [6]पारिप्लवमसंयमम् । वाक्पारुष्यं विशेषेण वर्जयेद्भोजनक्षणे ॥३२७॥
अभक्तानां [7]कदर्याणामव्रतानां च सद्मसु । न भुञ्जीत तथा साधुर्दैन्यकारुण्यकारिणाम्* ॥३२८॥
नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिताः[8] । किं नु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोचितवृत्तयः[9] ॥३२९॥

जो आचार शास्त्र से व प्रकृति से विरुद्ध है तथा जो ऋतु के प्रतिकूल है ॥ ३२४ ॥ दही, घी व दूध से सिद्ध हुआ आहार बासा होनेपर भी पात्रों के देने के लिए अभीष्ट है किन्तु जिनका गन्ध, रूप व स्वाद बदल गया है, वह सब आहार निन्दित है, अर्थात्—मुनि को देने-योग्य नहीं है ॥ ३२५ ॥

साधु-सेवा—विवेकी श्रावक को ऐसे मुनियों की सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करने में समर्थ हो सकें, जो अल्प उम्रवाले हैं, जो रोगों से पीड़ित हैं, जो तप से दुर्बल हैं, जो वयोवृद्ध (बूढ़े) हैं और जो व्याधियों से पीड़ित हैं ॥ ३२६ ॥

भोजन की वेला में त्याज्य दुर्गुण—भोजन की वेला में कपट, अभिमान, निरादर, चित्त की चञ्चलता, असंयम और कर्कश वचनों को विशेषरूप से छोड़ना चाहिए। क्योंकि इनसे मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है ॥ ३२७ ॥

किनके गृहों में साधु-वर्ग आहार-ग्रहण न करे ?

जो साधुओं के भक्त नहीं हैं, अर्थात्—जो नवधा भक्तिपूर्वक दान नहीं देते। जो अत्यन्त कृपण हैं, जो व्रत-रहित (अहिंसा-आदि व्रतों को न पालनेवाले) हैं, जो अपनी दीनता प्रकट करते हैं और करुणा उत्पन्न करनेवाले हैं। अर्थात्—जो करुणा-बुद्धिसे दान देते हैं, अर्थात्—जो यह कहते हैं कि 'यह मुनि दया का पात्र है इसे आहार देना चाहिए'। उनके गृहों पर साधु को आहार नहीं लेना चाहिए ॥ ३२८ ॥

[अब साधु दीन व दयापात्र नहीं होते, इसका समर्थन करते हैं—]

वे साधु महासत्वशाली-धीर-वीर-होते हैं और चित्त से भी बड़े दयालु होते हैं, अर्थात्—वे दुःखी व अश्रुपात करनेवाले को देखकर आहार में अन्तराय करते हैं, इसलिए वे अपनी दीनता प्रकट करनेवालों के गृहों पर और मुनियों को दयापात्र कहनेवालों के गृहों पर आहार नहीं करते, क्योंकि जब वे दीनता व करुणा के संकल्प मात्र से उचित वृत्तिवाले, अर्थात्—दीन व दयापात्र को देखकर आहार-ग्रहण में अन्तराय करनेवाले होते हैं तब निस्सन्देह क्या वे दीन व दयापात्र कहनेवालों के गृहों पर आहार करते हैं ? अपितु नहीं करते ॥ ३२९ ॥

---

१. बासी। २. अभीष्टं दातुं। ३. रुग्णादिविलष्टशरीरः। ४. कपटत्वं। ५. निरादरः। ६. 'चंचलत्वं' टि० ख०, 'पारिप्लवं चपलता' यश० पं०। ७. 'कदर्यहीनकीनाशकिंपचानमितंपचाः कृपणक्षुल्लकक्लीवक्षुद्रा एकार्थवाचकाः' टि० ख०, 'यो भृत्यात्मपीड़ाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः ॥ ९ ॥' नीतिवाक्यामृत अर्थसमु० पृ० ४७।
'कदर्याः कृपणाः' यश० पं०।

*. 'असम्मताभक्तकदर्यमर्त्यकारुण्यदैन्यातिशयान्वितानाम्। एषां निवासेषु हि साधुवर्गः परानुकम्पाहितधीर्न भुङ्क्ते ॥ २९ ॥ —धर्मरत्नाकर। पृ० १२४। ८. दुःखितं अश्रुपातं वा दृष्ट्वा ये मुनयोऽन्तरायं कुर्वन्ति। ९. वृत्तयः सन्तः किं आहरन्ति ? अपि तु न।

धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः । [1]अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां [2]प्रतिहस्तं समादिशेत् ॥३३०॥
[3]आत्मवित्तपरित्यागात्परैर्धर्मविधापने । निःसंदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम् ॥३३१॥
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः । विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम् ॥३३२॥
शिल्पि[4]कारुक[5]वाक्पण्य[6]संभलीपतितादिषु[7] । [8]देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु[9] ॥३३३॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च[10] विधोचिताः[11] । मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥३३४॥

[अब ग्रन्थकार दूसरों से दान-पुण्यादि करानेवालों के विषय में कहते हैं] जो कार्य दूसरों से कराने-योग्य है या जो भाग्य-वश हो जाता है (जो कुछ भी इष्ट-अनिष्ट-सुख-दुःख होता है, वह भाग्याधीन है उसे स्वयं करने का नियम नहीं है) उनको छोड़कर दान पुण्यादि धार्मिक कार्य व स्वामी की सेवा एवं पुत्रोत्पत्ति को कौन बुद्धिमान् मानव दूसरों के हाथ से कराने के लिए आदेश देगा ? अर्थात्—विवेकी पुरुषों को उक्त कार्य स्वयं करने चाहिए ॥३३०॥ जो अपना धन देकर दूसरों के हाथ से धर्म कराता है, वह उसका फल दूसरों के भोगने के लिए प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है, अर्थात्—उसका फल दूसरे ही भोगते हैं ॥३३१॥ भोज्य-पदार्थ, भोजन करने की शक्ति, रतिविलास करने की सामर्थ्य, कमनीय कामिनियाँ, धनादिवैभव और दान करने की शक्ति ये वस्तुएँ स्वयं धर्म करने से प्राप्त होती हैं, न कि दूसरों से धर्म कराने से ॥३३२॥

मुनियों के आहार-ग्रहण के अयोग्य गृह

मुनियों को बढ़ई, माली, कारुक (नाई, धोबी,-आदि), भाट, कुट्टिनी स्त्री, नीच व जाति से बहिष्कृत और साधुओं के उपकरण (पीछी-आदि) बनाकर जीविका करनेवालों के गृहों में आहार नहीं करना चाहिए ॥३३३॥

जिनदीक्षा व आहारदान के योग्य वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये तीन वर्ण ही जिन-दीक्षा के योग्य हैं किन्तु आहारदान देने योग्य चारों ही वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व सत् शूद्र) हैं; क्योंकि सभी प्राणी मानसिक, वाचनिक व कायिक-धर्म के पालन के लिए आगम से अनुमति हैं ॥३३४॥

१-२. यत् किमपि इष्टमनिष्टं च दैवः करोति, तत्र स्वहस्तः न किमपि कर्तुं शक्नोति,
अतस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति ।
३. निजधनेन परहस्तेन धर्मं कारयति स्वहस्तेन न दत्ते ।
४. तथा चाह—भगवज्जिनसेनाचार्यः—
न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः । वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥१९०॥
'शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्' ॥१९२–४॥
'तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः । कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१८५॥
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः । तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः ॥१८६॥
—महापुराण १६ वाँ पर्व ।
५. वाक्पण्याः बन्दिनः । ६. संभली कुट्टिनी । ७. जातिच्युताः । ८. आहारं । ९. यतीनामुपकरणपाञ्छीपि-च्छयोगपट्टादिकरणजीविनां गृहे आहारो न कर्तव्यः । १०. वर्णाः । ११. शूद्रजनानामपि विधा-आहार-उचितो योग्यः दीयते इत्यर्थः ।

[1]पुष्पादिरशनादिर्वा[2] न स्वयं धर्म एव हि । क्षित्यादिरिव धान्यस्य किं तु भावस्य[3] कारणम् ॥३३५॥
युक्तं हि श्रद्धया साधु [4]सकृदेव मनो नृणाम् । परां शुद्धिमवाप्नोति लोहं विद्धं रसैरिव ॥३३६॥
तपोदानार्चनाहीनं मनः सदपि देहिनाम् । तत्फलप्राप्तये न स्यात्कु[5]शूलस्थितबीजवत् ॥३३७॥
[6]आवेशिकाश्रितज्ञातिदीनात्मसु यथाक्रमम् । यथोचितं यथाकालं [7]दानपञ्चकमाचरेत्* ॥३३८॥

धर्म क्या है ? और धर्म का कारण क्या है ?

यह पुष्प-आदि व अन्न-आदि वस्तुएँ निस्सन्देह स्वयं धर्म नहीं हैं, किन्तु ये वस्तुएँ वैसी परिणामों की निर्मलता में कारण हैं जैसे उपजाऊ भूमि-आदि धान्य की उत्पत्ति में कारण होती है।

भावार्थ—यद्यपि पूजा में चढ़ाई जानेवाली पुष्प-वगैरह वस्तुएँ और मुनि-आदि पात्रों के लिए दिया जानेवाला आहार स्वयं धर्म नहीं है, तथापि इनके निमित्त से होनेवाले शुभभाव वेसे धर्म के कारण हैं, क्योंकि उनसे शुभ कर्म का बन्ध होता है, जैसे खेत व जल वगैरह यद्यपि स्वयं धान्य नहीं हैं तो भी धान्य की उत्पत्ति में कारण होते हैं ॥३३५॥

यथार्थ श्रद्धा का माहात्म्य

निस्सन्देह मानवों का मन यदि एक बार भी यथार्थ (निष्कपट) श्रद्धा से युक्त हो जाय तो वह उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होता है, जैसे पारदरस के योग से लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है (सुवर्ण हो जाता है) । अर्थात्—जैसे लोहा, जिसके भीतर पारदरस के प्रविष्ट हो जाने से सुवर्ण हो जाता है वैसे ही यथार्थ श्रद्धा से युक्त हुआ मन अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥ ३३६ ॥

मन को विशुद्ध करने का उपाय

प्राणियों का मन प्रशस्त होने पर भी यदि तप, दान व देव पूजा से रहित है तो वह निस्सन्देह उस प्रकार तप-आदि से होनेवाले फल को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता जिस प्रकार कोठी में भरे हुए धान्य-बीज प्रशस्त होने पर भी धान्य के अङ्कुरों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते।

भावार्थ—जिस प्रकार धान्य-आदि के बीज प्रशस्त (अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति वाले) होने पर भी यदि केवल कोठी में भरे हुए रक्खे रहें तो कदापि धान्य के अङ्कुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु जब उन्हें खेत में बोया जाएगा और खाद व जल-संयोग-आदि कारण-सामग्री मिलेगी तभी वे धान्याङ्कुरों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार मानवों का प्रशस्त मन भी जब तप, दान व जिनेन्द्र भक्ति से युक्त होगा तभी वह स्वर्गश्री-आदि का उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं, अतः मन को सदा शुभ कार्यों में लगाना चाहिए ॥ ३३७ ॥

पाँच दानों का विधान—आगन्तुक अतिथि को, अपने आश्रितों को, अपने वंशवालों को एवं दुःखी

१-३. पुष्पाद्यादिकं वस्तु भावस्य परिणामनिर्मलतायाः कारणं स्यात् । ४. एकवारमपि । ५. गृहकोष्ठे भाण्डागारे । ६. अतिथिः । ७. दानपञ्चकम् । *. तथा चोक्तं शास्त्रान्तरे—
'ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥'—मनुस्मृति, अ० ४ । तथा चोक्तं—'आवेशिकज्ञातिषु संस्थितेषु दीनानुकम्पेषु यथायथं तु । देशोचितं कालबलानुरूपं दद्याच्च किंचित् स्वयमेव बुद्ध्वा ॥' धर्मरत्ना० पृ० १२६ ।

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके । एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥३३९॥
यथापूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् । तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥३४०॥
सदुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं नरे । देशव्रती भवेन्मध्यमन्त्यश्चासंयतः सुदृक् ॥३४१॥
यत्र रत्नत्रयं नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः । उप्तं तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥३४२॥
पात्रे दत्तं भवेदन्नं पुण्याय गृहमेधिनाम् । शुक्तावेव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥३४३॥
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु । दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥३४४॥
कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां[1] किंचिद्दिशन्नपि[2] । [3]दिशेदुद्धृतमेवान्नं [4]गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥३४५॥
सत्कारादिविधावेषां[5] दर्शनं दूषितं भवेत् । यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥३४६॥
[6]शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिला[7]जीवकादिभिः[8] । सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥३४७॥
अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः । युद्धमेव भवेद्गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि ॥३४८॥

व दरिद्र मनुष्यों को क्रमानुसार औचित्य (दान व प्रिय वचन बोलकर सन्तुष्ट करना) व काल का उल्लङ्घन न करके पाँच दान (ऋषियज्ञ-आदि) देने चाहिए ॥ ३३८ ॥

[अब पंचम काल में साधुओं का विहार बतलाते हैं—] इस दुःषमा नामक पंचमकाल में जब मानवों का मन चञ्चल रहता है और शरीर अन्न का भक्षक कीड़ा बना रहता है, यह आश्चर्य है कि आज भी जिनेन्द्र की मुद्रा के धारक साधु महापुरुष पाये जाते हैं ॥ ३३९ ॥ जैसे पाषाण वगैरह से निर्मित जिन बिम्ब पूज्य है वैसे ही वर्तमान के मुनि भी, जिनमें पूर्व मुनियों की सदृशता पाई जाती है, पूज्य हैं ॥ ३४० ॥

पात्र के तीन भेद—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र से विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं। अणुव्रती श्रावक मध्यम पात्र है और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है ॥ ३४१ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से शून्य (मिथ्यादृष्टि) मानव को विद्वानों ने अपात्र समझा है, उसके लिए दिया हुआ समस्त दान उस प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज निरर्थक होता है ॥३४२॥ मुनि-आदि पात्रों के लिए दिया हुआ आहारदान गृहस्थ श्रावकों की पुण्यवृद्धि के लिए होता है क्योंकि निस्सन्देह मेघों का जल सीप में ही पड़ने से मोती होता है, अन्यत्र नहीं ॥ ३४३ ॥ जिनका चित्त मिथ्यात्व से आविष्ट है और जो मिथ्याचारित्र को पालते हैं, उनके लिए दान देना वैसा दोषजनक होता है जैसे साँप को दूध पिलाना दोष-जनक होता है, अर्थात्—जहर उगलकर काटनेवाला होता है ॥ ३४४ ॥ मिथ्यादृष्टियों के लिए दयाभाव के कारण अथवा औचित्य के कारण यदि कुछ स्वल्प दिया भी जाय तो भोजन के पश्चात् पकाये हुए अधिक आहार में से स्वल्प आहार दे देना चाहिए, किन्तु उन्हें गृह पर नहीं जिमाना चाहिए ॥ ३४५ ॥ मिथ्यादृष्टियों का सन्मान-आदि करने से सम्यग्दर्शन वैसा दूषित हो जाता है जैसे स्वच्छ पानी भी विषैले बर्तन के संसर्ग से दूषित हो जाता है ॥ ३४६ ॥ अतः बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी व कनछिदा संन्यासी-आदि सम्प्रदाय के साधुओं के साथ निवास व वार्तालाप व उनकी सेवा छोड़ देनी चाहिए ॥ ३४७ ॥ ऐसे मिथ्यादृष्टियों के साथ वार्तालाप करने से, जिनके मन यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता नहीं हैं और जो

---

१. मिथ्यादृशां । २. स्वल्पं ददत् । ३. दद्यात् । ४. स्वभोजनानन्तरमुद्धृतं अधिकं सिद्धं तदेव, न तु पूर्वं समीचीनं । ५. कुदृशां । ६. बौद्ध । ७. तपस्वी । ८. आजीवकाः आच्छिद्रकर्णाः 'कनछिदा' इति भाषायां ।

भयलोभोपरोधाद्यैः[1] कुलिङ्गिषु निषेवणे[2] । अवश्यं दर्शनं म्लायेन्नीचैराचरणे सति* ॥३४९॥
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु । नृषु कुत्सितसेवायां दैन्यमेवातिरिच्यते ॥३५०॥
[3]समयी साधकः साधुः सूरिः समयदीपकः[4] । तत्पुनः पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिणः ॥३५१॥
गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः । यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥३५२॥
ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कायकर्मसु[5] । मान्यः समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थ[6]समर्थधीः ॥३५३॥
दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे[7] कुतः । तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥३५४॥
मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः । साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जनपण्डितैः ॥३५५॥
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे[8] चातुर्वर्ण्यपुरःसरः । सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥३५६॥

दुराग्रही होने से मलिन हैं, ऐसे लड़ाई झगड़े की नौबत आ जाती है, जिसमें दण्डादण्डी और एक दूसरे के बाल पकड़ कर खींचने का अवसर होता है ॥ ३४८ ॥

जब विवेक-हीन मानव किसी अनिष्ट के भय से या धनादि के लोभ से या दूसरों के आग्रह से कुलिङ्गी साधुओं की सेवा रूप नीच आचरण करता है तो उसका सम्यग्दर्शन अवश्य ही मलिन होता है ॥ ३४९ ॥ जब बुद्धिमान् व पुरुषार्थी धार्मिक पुरुष यह समझ लेता है कि 'धनादि विभूतियाँ भाग्याधीन होती हैं,' तो भी धन की चाह से नीचों की सेवा करता है, इसमें उसकी दीनता ही कारण है ॥ ३५० ॥

[अब अन्य तरह से पात्रों के पाँच भेद और उनका स्वरूप कहते हैं]

विद्वान् पुरुष निम्न प्रकार पाँच प्रकार के पात्र मानते हैं—समयी, साधक, साधु, सूरि (आचार्य) और समय-दीपक (जैनशासन की प्रभावना करनेवाला) ॥ ३५१ ॥ जो जैन धर्म का अनुयायी है, चाहे वह गृहस्थ है या साधु, जब योग्य समय में प्राप्त हो जाय तो सम्यग्दृष्टि सज्जनों को उसका आदर-सत्कार करना चाहिए ॥ ३५२ ॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष वस्तु को भली प्रकार जानने में समर्थ है, ऐसे ज्योतिष, मन्त्र व निमित्त-शास्त्र के ज्ञाताओं का और शारीरिक चिकित्सा में निपुण व परोक्ष व्याधि का ज्ञाता वैद्य का अथवा पाठान्तर में प्रतिष्ठा-आदि के ज्ञाता का साधर्मी जनों को सन्मान करना चाहिए ॥ ३५३ ॥ क्योंकि यदि ज्योतिषी-आदि नहीं हैं तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा आदि क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि इनमें मुहूर्त-आदि देखने के लिए ज्योतिषी व नैमित्तिक की अपेक्षा होती है। यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि जैनेतर सम्प्रदाय में भी ज्योतिषी व निमित्तज्ञानी आदि हैं उनसे काम चल जायगा किन्तु इस तरह मुहूर्त आदि के

---

१. आग्रह । २. सेवायां सत्यां । *. तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्यः—
'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ ३० ॥'—रत्न० श्रा० ।
३. तथा चोक्तं विदुषा आशाधरेण—
'समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात् । दानादिना यथोत्तरगुणरागात् सद्गृही नित्यम् ॥ ५१ ॥—सागार०, अ० २ । ४. सामयिक, साधक, नैष्ठिक, गणाधिप व प्रभावक । ५. 'वैद्यः' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'कायकर्मसु चिकित्सादिक्रियासु' इत्याह । ६. देहान्तःस्थितो व्याधिः परोक्षार्थः । ७. नैमित्तकं विना । ८. काण्डो-ऽस्त्री वर्गे बाणे नाले सरे शरे सहदश्लाघयोः स्तम्बे ॥' टि० ख०, 'काण्डोऽस्त्री वर्गबाणार्थनालावसरवारिषु । दण्डे प्रकाण्डे रहसि स्तम्बे कुत्सितकुत्सयोः ॥ इति विश्वः ।' अर्थात्—काण्ड-वर्ग (विषयसमाप्ति), बाण, अर्थ, नाल-डंडी, अवसर, जल ॥ २ ॥ दण्ड (डंडा), वृक्षका स्थूलभाग, एकान्त, गुच्छ, निन्दित, निंदा । (पुं० न०) विश्वलो० को० पृ० ९० से संकलित—सम्पादक

लोकवित्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः । मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥३५७॥
मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्[1] । द्वयं यत्र स देवः स्याद्द्विहीनो गणपूरणः* ॥३५८॥
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया । अन्योन्यक्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥३५९॥
[2]अनुवीचिवचो भाष्यं सदा पूज्यादिसंनिधौ । यथेष्टं हसनालापान्वर्जयेद् गुरुसंनिधौ ॥३६०॥
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् । ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥३६१॥
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः । बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥३६२॥
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः । तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥३६३॥

लिए जैनेतर ज्योतिषी-आदि से पूँछने पर अपने धर्म की उन्नति कैसे हो सकती है ? ॥ ३५४ ॥ पुण्य के संचय करने में निपुण श्रावकों को, मूल गुणों व उत्तरगुणों के कारण श्लाघनीय—प्रशंसनीय—तपों के द्वारा जिसकी स्थिति मुनि-धर्म में दृढ़ है, ऐसे साधु की मन, वचन व काय से पूजा करनी चाहिए ॥ ३५५ ॥

जो ज्ञानकाण्ड (न्याय व व्याकरण-आदि) और क्रियाकाण्ड में निपुण होने से चतुर्विध संघ (मुनि, ऋषि, यति व अनगार) में अग्रेसर होते हैं और जो संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में नौका सरीखे हैं, उन आचार्यों की अर्हन्त भगवान् की तरह पूजा करनी चाहिए ॥ ३५६ ॥ लोकव्यवहार की निपुणता व कवित्व (काव्य रचना की चतुरता) द्वारा और शास्त्रार्थ एवं वक्तृत्व कला के कौशल द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करने में तत्पर रहनेवाले सज्जन पुरुष (चाहे गृहस्थ हों या मुनि हों) दान व सन्मानादि द्वारा विशेषरूप से पूज्य हैं।

भावार्थ—जैनधर्म को उद्दीपित करने के लिए लोक-व्यवहार में निपुण, काव्यरचना में कुशल, शास्त्रार्थ करने में प्रवीण विद्वान् और तात्त्विक, मधुर व प्रभावशाली भाषण देने में कुशल विद्वानों की अपेक्षा रहती है, अतः उनका भी सन्मान करना चाहिए ॥ ३५७ ॥

तप से रहित ज्ञान भी पूज्य है और ज्ञान से हीन तप भी पूज्य है, किन्तु जिसमें ज्ञान (केवलज्ञान) और तप दोनों हैं वह देव है, जिसमें दोनों नहीं हैं, वह तो केवल संघ का स्थान भरनेवाला ही है ॥ ३५८ ॥

विनय-विधि—जिनमुद्रा के धारक साधुओं को नमोऽस्तु कहकर उनकी विनय करनी चाहिए। आर्यिका के प्रति वन्दे कहकर उसकी विनय करनी चाहिए और क्षुल्लक त्यागी परस्पर में एक दूसरे को सदा इच्छामि कहकर विनय करते हैं ॥ ३५९ ॥ आचार्य-आदि पूज्य पुरुषों के समक्ष सदा शास्त्रानुकूल निर्दोष वचन बोलना चाहिए और गुरुजनों के समीप स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करनी चाहिए ॥ ३६० ॥ केवल आहारदान के लिए साधुओं की परीक्षा, कि (ये आगमानुसार मुनियों के आचार को पालते हैं अथवा नहीं इस प्रकार का विचार) नहीं करनी चाहिए, चाहे वे सच्चे मुनि हों या झूठे; क्योंकि गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध होता है ॥ ३६१ ॥

क्योंकि समस्त प्रकार के कृषि व व्यापार-आदि उद्योगों में प्रवृत्त होनेवाले गृहस्थों का धन अनेक प्रकार से (लज्जा व भय-आदि) खर्च होता है अतः तपस्वियों के लिए आहार दान देने में विशेष परीक्षा नहीं करनी चाहिए ॥३६२॥ तपस्वी साधु जैसे-जैसे तप व ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट हों, वैसे-वैसे

---

१. पूजितं । *. तथा चोक्तं—'मान्यो बोधस्तपोहीनो बोधहीनं तपोऽर्हितम् । द्वयं यत्र स देवः स्यात् द्विहीनो गणपूरणः ॥ ४६ ॥' —प्रबोधसार पृ० २०२ । २. 'आगमानुसारि' टि० ख०, घ० च०, 'अनुवीचि अनुल्बणं' इति पञ्जिकाकारः ।

दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं[1] समयाश्रिते । एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥३६४॥
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् । नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥३६५॥
[2]ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः । भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥३६६॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते । पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव[3] ॥३६७॥
[4]अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये । यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥३६८॥
साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् । सोऽयमित्यवधानेन* स्थापना सा निगद्यते+ ॥३६९॥

गृहस्थों को उनकी विशेष पूजा करनी चाहिए ॥ ३६३ ॥ भाग्यशाली पुरुषों को भाग्य से प्राप्त हुए धन को जैन धर्मानुयायिओं में अवश्य खर्च करना चाहिए भले ही उन्हें आगमानुकूल कोई मुनि मिले अथवा न भी मिले ॥ ३६४ ॥ जिनेन्द्र भगवान् का यह धर्म उत्तम और जघन्य अनेक प्रकार के मनुष्यों से भरा हुआ है। जैसे गृह एक खम्भे पर नहीं ठहर सकता वैसे यह धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से नहीं ठहर सकता ॥ ३६५ ॥

मुनियों के चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य व भावनिक्षेप की अपेक्षा से मुनि चार प्रकार के होते हैं और वे सभी दान व सम्मान के योग्य हैं ॥ ३६६ ॥ गृहस्थों के पुण्य-उपार्जन की दृष्टि से जिनबिम्बों की तरह उन चार प्रकार के मुनियों में उत्तरोत्तररूप से विशिष्ट विधि (विशेष दान व मानादि) होती जाती है। अर्थात्—जिसप्रकार नाम-जिन से स्थापना जिन विशेष पूज्य हैं और स्थापना जिन से द्रव्य जिन विशेष पूज्य है और द्रव्यजिन से भाव-जिन विशेष पूज्य हैं उसीप्रकार नाम मुनिसे स्थापना मुनि-आदि विशेष पूज्य हैं ॥ ३६७ ॥

[अब क्रमशः चारों निक्षेपों का स्वरूप निर्देश करते हैं—]

नामनिक्षेप

नाम के अनुसार गुण व क्रिया-आदि से रहित पदार्थों में लोक व्यवहार चलाने के लिए पुरुष के अभिप्राय को अवलम्बन करके जो नाम रक्खा जाता है उसे नाम निक्षेप कहते हैं ॥ ३६८ ॥

स्थापनानिक्षेप

तदाकार व अतदाकार काष्ठ वगैरह में 'यह अमुक है' इसप्रकार के अवधारण से जो स्थापना की जाती है, वह स्थापना निक्षेप कहा जाता है ॥ ३६९ ॥

---

१. टुवप् बीजसन्ताने । २. मुनयः । ३. प्रतिमावत् ।
४. तथा चाह पूज्यपादः—'अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम' ।—सर्वार्थ० १–५ ।
तथा चाह श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामी—'संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव निमित्तान्तरमिष्टितः ।
नामानेकविधं लोकव्यवहाराय सूत्रितम् ॥ १ ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १–५ पृ० ९८ । *. अवधारणेन । +. तथा चाह पूज्यपादः—'काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना' ।—सर्वार्थ० १–५ ।
तथा चोक्तं श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिना—
'वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता । सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः ॥ ५४ ॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १११

[1]आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः । [2]तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते ॥३७०॥
यदात्मवर्णनप्रायं[3] क्षणिकाहार्यविभ्रमम् । [4]परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं मतम् ॥३७१॥
[5]पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसंस्तुतम् । दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥३७२॥
[6]आतिथेयं स्वयं यत्र यत्र पात्रपरीक्षणम् । गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सात्त्विकं विदुः[7] ॥३७३॥
उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् । दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ॥३७४॥

द्रव्य व भाव निक्षेप

जो वस्तु भविष्य में होनेवाले गुणों की प्राप्ति के योग्य है, उसे वर्तमान में उस गुणरूप से संकल्प करना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमान पर्याय में स्थित हुई वस्तु को भाव निक्षेप कहते हैं। अर्थात्—वर्तमान कालीन गुण व पर्याय विशिष्ट पदार्थ को भावनिक्षेप कहते हैं ॥ ३७० ॥

[अब दूसरी तरह से दान के तीन भेद बतलाते हैं—]

राजसदान

जिस दान में अपनी प्रशंसा की बहुलता पाई जाती है और जो तत्काल मनोज्ञ प्रतीत हो, अर्थात्—जिसे दाता प्रतिदिन नहीं देता, कभी-कभी देता है; अतः जो क्षणभर के लिए मनोज्ञ है, एवं जो दूसरे दाता के विश्वास से उत्पन्न हुआ है, अर्थात्—जिसमें दाता को स्वयं तो दान पर विश्वास नहीं होता, अतः किसी को दान से मिलनेवाले फल को देखकर जो दान दिया जाता है, वह रजोगुण की प्रधानता के कारण राजसदान माना गया है ॥ ३७१ ॥

तामसदान

आचार्यों ने उस दान को तामसदान कहा है, जिसमें पात्र व अपात्र दोनों एकसरीखे माने जाते हैं और जो विना किसी आदर-सत्कार व स्तुति के दिया जाता है और जिसमें दास व नौकरों के उद्योग की अपेक्षा होती है ॥ ३७२ ॥

सात्त्विक दान

जिसमें स्वयं पात्र को देखकर स्वयं उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है, और जिसमें दाता के श्रद्धा-आदि गुण पाये जाते हैं, विद्वानों ने उस दान को सात्त्विक दान माना है ॥ ३७३ ॥ इन तीनों दानों के

---

१. तथा चाह—श्री भट्टाकलङ्कदेवः—'अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं' —तत्त्वार्थवार्तिक १-५ ।
तथा चोक्तं श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिना—
'यत्स्वतोऽभिमुखं वस्तु भविष्यत्पर्ययं प्रति । तद् द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरभेदतः ॥६०॥ —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १११ ।
२. 'तथा चाह श्रीमत्पूज्यपादः—'वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः' । सर्वार्थ० १-५ ।
तथा चाह श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामी—'सांप्रतो वस्तुपर्यायो भावो द्वेधा स पूर्ववत् । —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ११३ ।
३. कदाचित् ददाति । ४. स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति, परन्तु कस्यचिद् दानस्य फलं दृष्ट्वा अनेन ईदृशं प्राप्तं पश्चाद् ददाति । ५. सद्गुणावलोकनेन यद्दानं । ६. अतिथौ भवं ।
७. तथा चोक्तं—'यत्रातिथेयं स्वयमेव साक्षात् ज्ञानादयो यत्र गुणाः प्रकाशाः ।
पात्राद्यपेक्षापरता च यत्र तत्सात्त्विकं दानमुपाहरन्ति ॥७८॥ —धर्मरत्ना० पृ० १२७ ।

यद्दत्तं तदमुत्र स्यादित्यसत्यपरं वचः । गावः पयः प्रयच्छन्ति किं न तोयतृणाशनाः ॥३७५॥

मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पितः । भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यतः ॥३७६॥

अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च । भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वराः ॥३७७॥

लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणं । ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥३७८॥

श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः । ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥३७९॥

शारीरमानसागन्तुव्याधिसंबाधसंभवे । साधु संयमिनां कार्यः प्रतीकारो गृहाश्रितैः ॥३८०॥

तत्र [1]दोषधातुमलविकृतिजनिताः शारीराः, दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसाऽधिसंपादिता मानसाः[2] शीतवाताभिघातादिकृता आगन्तवः ।

मध्य सात्विक दान उत्तम है, राजसदान मध्यम है और तामसदान निकृष्ट है ॥ ३७४ ॥ जो दान दिया गया, वह दाता को परलोक में फलदायक होता है, यह वचन मिथ्या है; क्योंकि दान का फल इसी लोक में मिल जाता है, जैसे पानी पीनेवाली व घास-भक्षण करनेवाली गाएँ क्या दूध नहीं देतीं ? अर्थात्—जिस दिन गायों के लिए पानी पिलाया जाता है और घास खिलाई जाती है उसी दिन वे दूध दे देती हैं, इससे दाता को दान का फल (कीर्ति-लाभ व मानसिक शुद्धि) इसी लोक में मिल जाता है। अथवा दूसरी तरह से यह अर्थ समझना चाहिए कि दाता पात्र के लिए यदि रूखा-सूखा अन्न देता है तो वही रूखा-सूखा अन्न उसे परलोक में मिलेगा, यह कथन झूठ है; क्योंकि गायों के लिए प्रेमपूर्वक पानी व घास ही दिया जाता है, परन्तु वे उसके बदले मधुर दूध दे देती हैं। अतः मुनियों के लिए आहार की वेला में भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात का पुञ्ज भी, अपरिमित पुण्य का कारण होता है; क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है।

निष्कर्ष—दाता की श्रद्धा व भक्ति से ही दान की कीमत आँकी जाती है, न कि पात्र के लिए दिये जानेवाले द्रव्य की कीमत से। अतः पात्र के लिए भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी दाता को प्रचुर फलदायक होता है, न कि बिना भक्ति के दिया हुआ मिष्ठान्न-भोजन ॥ ३७५-३७६ ॥

[अब आहार की वेला में मौन का विधान करते हैं—]

जिनेन्द्र भगवान् ने स्वाभिमान की रक्षा के लिए और श्रुत की विनय के लिए आहार की वेला-आदि के अवसर पर मौन रखना कहा है। जिह्वा की लम्पटता का त्याग करने से तप की वृद्धि होती है और स्वाभिमान (याचना न करना) की रक्षा होती है और उनके होने से तीन लोक में मनसिद्धि होती है। मौन द्वारा श्रुत की विनय करने से कल्याण होता है और वह मुक्तिरूपी सम्पत्ति का आश्रय होता है और उससे (मौन से) मनुष्यलोक के ऊपर सरस्वती प्रसन्न होती है, अर्थात्—तीन लोक के अनुग्रह करने में समर्थ दिव्यध्वनि का प्रसाद प्राप्त होता है ॥ ३७७-३७९ ॥

संयमी मुनियों की व्याधियों के प्रतीकार का विधान

संयमी मुनिजनों को शारीरिक (वात, पित्त व कफ की विकृति-आदि से उत्पन्न होनेवाले बुखार-आदि रोग), मानसिक व आगन्तुक व्याधियों की पीड़ा होने पर गृहस्थ श्रावकों को भलीप्रकार उन कष्टों के दूर करने का उपाय करना चाहिए ॥ ३८० ॥

उनमें वात, पित्त व कफ की विकृति से, रस-रक्त आदि धातुओं के विकार से और मल के विकार

---

१. वातपित्तश्लेष्म। २. तथा चोक्तं—'शारीराः ज्वरकुष्ठाद्याः क्रोधाद्या मानसाः स्मृताः। आगन्तवोऽभिघातोत्थाः सहजाः क्षुत्तृषादयः ॥ ८८ ॥'—धर्मरत्ना०, पृ० १२८।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः । असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥३८१॥
सौमनस्यं सदाचार्ये व्याख्यातृषु पठत्सु च । आवासपुस्तकाहारसौकर्यादिविधायकैः ॥३८२॥
*अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं सूक्तं केवलिभाषितम् । नश्येन्निर्मूलतः सर्वं श्रुतस्कन्धधरात्यये ॥३८३॥
प्रश्रयोत्साहनानन्दस्वाध्यायोचितवस्तुभिः । श्रुतवृद्धान्मुनीन्कुर्वञ्जायते श्रुतपारगः ॥३८४॥
[1]श्रुतात्तत्त्वपरिज्ञानं श्रुतात्समयवर्धनम् । श्रेयोऽपि ना श्रुताभावे सर्वमेतत्समस्यते ॥३८५॥

से उत्पन्न हुई व्याधियों—रोगों-को शारीर व्याधि कहते हैं। मानसिक पीड़ा, खोटे स्वप्नोंका देखना व भय-आदि से उत्पन्न होनेवाले कष्टों को मानस-कष्ट कहते हैं एवं शीत व वात के आक्रमण-आदि से उत्पन्न हुई व्याधियों को आगन्तुक कहते हैं। इन बाधाओं के दूर करने का प्रयत्न गृहस्थों को करना चाहिए।

क्योंकि रोग-ग्रस्त मुनियों की उपेक्षा करने से मुनियों के रत्नत्रय की विराधना होती है और श्रावकों का अधर्म-कार्य प्रकट होता है, अतः गृहस्थों को रुग्ण साधुजनों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए॥ ३८१॥

श्रुत की रक्षा के लिए श्रुतधरों की रक्षा का विधान

अतः जैनागम का व्याख्यान करनेवाले विद्वानों के लिए और जैनागम को पढ़नेवाले छात्रमुनि-आदि के लिए रहनेको निवास-स्थान, शास्त्र और आहार-आदि की सुविधा देकर गृहस्थों को अपनी सज्जनता का परिचय देना चाहिए॥ ३८२॥ क्योंकि श्रुत-समूह के धारकों (श्रुत के व्याख्याताओं व पाठकों) के नष्ट हो जाने से तीर्थङ्कर केवली भगवान् के द्वारा उपदिष्ट समस्त श्रुत, जो कि ग्यारह अङ्गों (आचाराङ्ग-आदि) व चौदह पूर्वों तथा प्रकीर्णकों में कहा हुआ है, जड़ से नष्ट हो जायगा॥ ३८३॥ जो विनय करके, उत्साह-वृद्धि करके व आनन्दित करके एवं स्वाध्याय के योग्य शास्त्र-आदि वस्तुएँ देकर मुनियों को शास्त्र में निपुण (विद्वान्) बनाने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं श्रुत का पारगामी (श्रुतकेवली) हो जाता है।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्यश्री ने श्रुत-समूह के धारकों (श्रुत के व्याख्याताओं व पाठकों) के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ देकर श्रुत की रक्षा करने के लिए कहा है। वास्तव में जैनशासन को सुरक्षित व उद्दीपित करने में जैनशास्त्रों के ज्ञाता विद्वानों की महती आवश्यकता होती है। और यह तभी संभव है जब जैनों के विद्यालयों व गुरुकुलों में जैनशास्त्रों का पठन-पाठन चालू रहे। यदि जैन समाज में से शास्त्रज्ञान लुप्त हो गया तो धर्म-कर्म भूल जाने से नाममात्र के जैन रह जायँगे।

अतः समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए जैनशास्त्रों का पठन-पाठन चालू रखने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात्—वर्तमान में जैन समाज में जो विद्यालय व गुरुकुल-आदि खुले हुए हैं, जिनमें जैनशास्त्रों का पठन-पाठन-आदि चालू है, उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान द्वारा श्रुत लक्ष्मी से अलङ्कृत होना चाहिए॥ ३८४॥

श्रुत का महत्त्व

शास्त्र से ही मोक्षोपयोगी तत्त्वों का ज्ञान होता है और शास्त्र से ही जैनधर्म की वृद्धि होती है,

*. तथा चोक्तं—'अङ्गपूर्वरचितप्रकीर्णकं वीतरागमुखपद्मनिर्गतम् ।
नश्यतीह सकलं सुदुर्लभं सन्ति न श्रुतधरा यदर्षयः ॥ ९१ ॥
सत्प्रश्रयोत्साहनयोग्यदानानन्दप्रमोदादिमहाक्रियाभिः ।
कुर्वन् मुनीनागमसिद्धचित्तान् स्वयं नरः स्याच्छ्रुतपारगामी ॥ ९२ ॥' —धर्मरत्ना० प० १२८।

1. तथा चोक्तं—'श्रुतेन तत्त्वं पुरुषैः प्रबुध्यते, श्रुतेन वृद्धिः समयस्य जायते। श्रुतप्रभावं परिवर्णयन्ति जिनाः श्रुतं विना सर्वमिदं विनश्यति ॥ ९३ ॥' —धर्मरत्ना० प० १२९।

अस्त्रधारणवद्बाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः । यथार्थज्ञानसंपन्नाः शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥३८६॥
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम् । कर्म बाहीकवत्किंचिद्व्येति[1] किंचिदुदेति च[2] ॥३८७॥
[3]सृणिवज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः । [4]तद्वृते च बहिः क्लेशः क्लेश एव परं भवेत् ॥३८८॥
बहिस्तपः स्वतोऽभ्येति[5] ज्ञानं भावयतः सतः । [6]क्षेत्रज्ञे परिमग्नेऽस्मिन् कुतः स्युरपराः[7] क्रियाः* ॥३८९॥
[8]यदज्ञानी युगैः कर्म बहुभिः क्षपयेद्वा । तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥३९०॥
ज्ञानी पटुस्तथैव स्याद्बहिः क्लेशेषु[9] संततेऽखिले । स्यादज्ञो ज्ञानलवे यस्मान्न पटुत्वं युगैरपि ॥३९१॥
[10]शब्दवित्तिर्न गीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयैः । स परप्रत्ययाच्छिलश्यन्भवेदन्धसमः पुमान् ॥३९२॥

अतः शास्त्रज्ञानके अभाव हो जानेपर अपने कल्याण के इच्छुकों को यह समस्त लोक अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याप्त हुआ आचरण करता है ॥ ३८५ ॥ जैसे तलवार-वगैरह अस्त्रों का धारण करना सुलभ है वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं परन्तु जैसे वीर पराक्रमी पुरुष दुर्लभ होते हैं वैसे ही सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥ ३८६ ॥ जो मनुष्य ज्ञान की भावना से शून्य है और केवल शरीर को कष्ट देता है, उसका उस प्रकार कुछ कर्म नष्ट होता है और कुछ नया कर्म उदय में आता है जिस प्रकार बोझा ढोनेवाले का कुछ भार हल्का होता है और कुछ नया भार आता रहता है । इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥ ३८७ ॥

सच्चे ज्ञान की विशेषता

मानव के इस मनरूपी हाथी को वश में करने के लिए सम्यग्ज्ञान ही अङ्कुश-सरीखा है, अर्थात्—जैसे अङ्कुश हाथी को वश में रखता है वैसे ही ज्ञान मानव के मन को वश में रखता है । सम्यग्ज्ञान के बिना मिथ्यादृष्टि मानव का बाह्य काय-क्लेश केवल कष्टप्रद ही है ॥ ३८८ ॥ सम्यग्ज्ञान की भावना करनेवाले सज्जन साधु के निकट बाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है । क्योंकि जब आत्मा ज्ञान में लीन हो जाता है तो अन्य बाह्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? ॥ ३८९ ॥ अज्ञानी (आत्मज्ञान से शून्य-मिथ्यादृष्टि) जिन कर्मों को बहुत से युगों में भी नष्ट नहीं कर सकता, ध्यान से युक्त ज्ञानी पुरुष उन कर्मों को निश्चय से क्षणभर में नष्ट कर डालता है ॥ ३९० ॥ सम्यग्ज्ञानी साधु जब परिपूर्ण यथाख्यात चारित्र प्राप्त करता है तभी उससे वह परिपूर्णज्ञानी (केवली) हो जाता है, उक्त चारित्र के बिना सम्यग्ज्ञानी साधु ज्ञान के लवलेशमात्र से केवली नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार बाह्य कायक्लेश करनेवाला अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) साधारण शास्त्रज्ञान के लवलेश मात्र से बहुत से युगोंमें परिपूर्णज्ञानी (केवली) नहीं हो सकता । (उक्त अर्थ टिप्पणीकार के अभिप्राय से किया गया है) । इसका दूसरा अर्थ यह है कि समस्त बाह्य व्रतों में क्लेश सहन करनेवाले अज्ञानी मुनि से ज्ञानी साधु तत्काल कुशल (कर्मों के क्षय करने में समर्थ) हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतों को करनेवाला

१. विनश्यति । २. उदयमागच्छति । ३. अङ्कुशवत् । ४. ज्ञानं विना । ५. आगच्छति । ६. आत्मनि । ७. बाह्या. ।
*. तथा चोक्तं—'बाह्यं तपः परमिदमेति पुंसो ज्ञानं स्वयं भावयतः सदैव । क्षेत्रज्ञरत्नाकरसन्निमग्ने बाह्याः क्रियाः सन्तु कुतः समस्ताः ॥ ९६ ॥' —धर्मरत्ना० प० १२९ ।
८. तथा चोक्तं—'यदज्ञानी क्षपेत् कर्म बह्वीभिर्भवकोटिभिः । तज्ज्ञानवांस्त्रिभिर्गुप्तः क्षपयेदन्तर्मुहूर्ततः ॥ ९७ ॥' —धर्मरत्ना० प० १२९ ।
९. क्लेशं कुर्वतः । ३. सम्पूर्णे चारित्रे सति पटुः परिपूर्णज्ञानी भवेत् । न तु ज्ञानलवलेशमात्रेण केवली स्यादिति भावः ।
१०. व्याकरणैः ।

स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासतः। प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्यं प्रतिपद्यते ॥३९३॥

तत्र स्वरूपं च द्विविधम्—अक्षरम्, [1]अनक्षरं च। रचना द्विविधा—गद्यम्, पद्यं च। शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च। भूषा द्विविधा—शब्दालंकारः, अर्थालंकारश्च। अर्थो द्विविधः—[2]चेतनोऽचेतनश्च[3], [4]जातिर्व्यक्तिश्चेति[5] वा।

[6]सार्धं सचित्तनिक्षिप्तवृताभ्यां दानहानये। अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रियाः ॥३९४॥

अज्ञानी युग बीत जानेपर ज्ञान के लवलेशमात्र में भी कुशल नहीं होता॥ ३९१॥ जिसकी वाणी व्याकरण-शास्त्र के अभ्यास से शुद्ध नहीं हुई, अर्थात्—जो व्याकरणशास्त्र का वेत्ता नहीं है, और जिसकी बुद्धि नीतिशास्त्रों के अभ्यास से अथवा नयों (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक) के अभ्यास से शुद्ध नहीं हुई, अर्थात्—जो नीतिशास्त्र का अथवा नयों का वेत्ता नहीं है, वह मानव दूसरों के विश्वास के अनुसार चलने से कष्ट उठाता हुआ अन्धा-सरीखा है॥ ३९२॥

प्रत्येक शास्त्र में संक्षेप से निम्नकार वस्तुएँ होती हैं। स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलङ्कार और वर्णन किया हुआ विषय और ये प्रत्येक दो दो प्रकार के हैं॥ ३९३॥

स्वरूप दो प्रकार का होता है—अक्षरात्मक, जो कि द्वादशाङ्गों के अक्षरोंवाला है और दूसरा अनक्षरात्मक (अस्फुट अर्थ को सूचन करनेवाला जैसे तड़त्-तड़त् इत्यादि। रचना दो प्रकार की है—गद्यरूप और पद्यरूप, अर्थात्—बिना श्लोकवाले और श्लोकवाले शास्त्र। शुद्धि दो प्रकार की होती है। एक तो शास्त्रकार की असावधानी से शब्दों के प्रयोग में होनेवाली अशुद्धियों का अभाव और दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो। अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं—एक शब्दालंकार (शब्दों में सौन्दर्य के उत्पादक अनुप्रास-आदि) व अर्थालङ्कार (अर्थ में सौन्दर्य लानेवाले उपमा-आदि) और वर्णित विषय दो प्रकार का है—चेतन (जिसमें जीव द्रव्य का निरूपण हो जैसे समयसार-आदि) व अचेतन (जिसमें पर्वत-आदि जड़ पदार्थों का कथन हो) या जाति (पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग वाले शब्द जिसमें पाए जाते हैं) और व्यक्ति (जिसमें एकवचन व बहुवचनवाले शब्द समूह हों।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतीचार

सचित्त कमल के पत्तों-आदि में आहार स्थापित करना, सचित्त पत्ते वगैरह से आहार को ढाँकना, दूसरे दातार की वस्तु दान देना, अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना और असमय में आहार देना, ये पाँच

---

१. अस्फुटार्थसूचनार्थं, यथा तड़त्तड़िति पटपटायति। २. यत्र जीवादीनां व्याख्या क्रियते सोऽर्थश्चेतनः। ३. यत्र पर्वतादीनां व्याख्या स अचेतनः। ४. जातिर्लिङ्गं। ५. व्यक्तिरेकवचनं द्विवचनं, बहुवचनं।

६. तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्यः—
'सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः'—मोक्षशास्त्र ७–३६।
तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्यः—
'हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि। वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥ १२१॥'—रत्न०।

[1]नतेर्गोत्रं श्रियो दानादुपास्तेः सर्वसेव्यताम् । भक्तेः कीर्तिमवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्भजन् ॥३९५॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[2]मूलव्रतं व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रियाः । दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥३९६॥
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता । तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥३९७॥
[3]अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः । [4]सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥३९८॥
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः । भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥३९९॥
तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृताः । निरुक्तियुक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ॥४००॥

अतिथि संविभाग व्रत के अतीचार हैं, अतः श्रावक इन्हें छोड़ देवे ॥ ३९४ ॥ मुनियों की स्वयं सेवा करनेवाले दाता को मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र का बंध होता है, दान देने से लक्ष्मी प्राप्त होती है, उपासना करने से समस्त लोक द्वारा सेवनीय होता है एवं उनकी भक्ति करने से कीर्ति-लाभ होता है ॥ ३९५ ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन में 'दानविधि' नाम का तेतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

ग्यारह प्रतिमाएँ

आचार्य श्रावकों की निम्नप्रकार ग्यारह प्रतिमाएँ (चारित्र के पालन करने की श्रेणियाँ) कहते हैं । दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, आरंभत्याग, दिवामैथुनत्याग, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा । इनमें पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं के चारित्र को पालन करने में स्थित होकर ही आगे-आगे की प्रतिमाओं का चारित्र पालन करना चाहिए । जैसे दर्शन-प्रतिमा के चारित्र-पालन पूर्वक व्रत प्रतिमा की आराधना करनी चाहिए । उक्त समस्त प्रतिमाओं में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-आदि) की भावनाएँ एक सरीखी कही गई हैं । श्रावकों की इस ग्यारह प्रतिमाओं में से पहले की छह प्रतिमा के धारक गृहस्थ कहे जाते हैं । सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमा के धारकों को ब्रह्मचारी समझने चाहिए और अन्तिम दो प्रतिमा के धारक भिक्षु समझने चाहिए और इन सबसे ऊपर मुनि होते हैं ॥ ३९६-३९९ ॥

भावार्थ—निरतिचार सम्यग्दर्शन के साथ अष्ट मूलगुणों का निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा

---

१. तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्यः—
'उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ ११५ ॥ —रत्न० ।

२. तथा चोक्तं—'दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइ भत्ती य । बंभारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥
—चारित्तपाहुड २१ ।

तथा चाह श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यः—
'सद्दर्शनं व्रतोद्योतं समतां प्रोषधव्रतम् । सचित्तसेवाविरतिमह्नः स्त्रीसङ्गवर्जनम् ॥ १५९ ॥
ब्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम् । तथानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥ १६० ॥
स्थानानि गृहिणां प्राहुः एकादश गणाधिपाः ।' —महापुराण पर्व १० ।

तथा चाह विद्वान् आशाधरः—
दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च । सचित्तदिवामैथुनविरतौ गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥ २ ॥
अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः । अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥ ३ ॥'
—सागर धर्मा० अ० ३ ।

३. दर्शनप्रतिमापूर्वकं व्रतप्रतिमामाराधयेदित्यर्थः । ४. प्रथमप्रतिमादिषु क्रमेण रत्नत्रयभावनाः सदृशाः ।

जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना। गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥४०१॥
मानमायामदामर्षक्षपणात्क्षपणः स्मृतः। यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥४०२॥
यो [1]हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे। यः सर्वसङ्गसंत्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः ॥४०३॥

है। जो निःशल्य होकर पाँच अणुव्रतों को निरतिचार पालन करता हुआ सात शील धारण करता है। वह व्रत प्रतिमाधारी है। पूर्वोक्त दो प्रतिमाओं को धारण करके तीनों सन्ध्याओं में यथाविधि सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को नियम से उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। कृषि व व्यापार आदि का त्याग करना पाँचवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा है। जो अपनी स्त्री से दिन में रति-विलास न करके उसके साथ हँसी मजाक भी नहीं करता वह दिवा मैथुन त्यागी है। कोई आचार्य इसके स्थान में रात्रिभुक्तित्याग को कहते हैं, उसका अर्थ यह है रात्रि में सभी प्रकार के आहार का निरतिचार कृत कारित व अनुमोदनापूर्वक त्याग किया जाता है। मन, वचन, काय और कृत, कारित व अनुमोदना से स्त्री-सेवन का त्याग, सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तु के खाने का त्याग करना अर्थात्—कच्चे मूल, पत्ते-आदि प्रत्येक वनस्पतिकायिक शाक या फल भक्षण न करके उन्हें अग्निमें पकाकर या आचार शास्त्र के अनुसार प्रासुक करके भक्षण करता है, वह सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है। समस्त परिग्रह को त्याग देना परिग्रह त्याग प्रतिमा है। समस्त आरम्भ, परिग्रह व लौकिक कार्यों में अनुमति न देकर केवल भोजनमात्र में अनुमति देना दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमा है। जो उक्त दश प्रतिमाओं का चारित्र पालन करता हुआ गृहत्याग करके मुनियों के आश्रम (वन) में जाकर गुरु के समीप व्रत (ग्यारहवीं प्रतिमा का चारित्र) धारण करके तप करता है और खण्डवस्त्र या लँगोटी मात्र धारण करता हुआ भिक्षा भोजन करता है, वह ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी है। इसके दो भेद हैं, क्षुल्लक व ऐलक। क्षुल्लक कौपीन (लँगोटी) व खण्डवस्त्रधारी होता है और ऐलक केवल कौपीन मात्र धारण करता है। क्षुल्लक केशों का मुण्डन करता है और ऐलक केश लुञ्चन करता है, यह उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। इनमें आगे की प्रतिमाओं में पूर्व पूर्व की प्रतिमाओं का चारित्र अवश्य होना चाहिए एवं रत्नत्रय की भावना भी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होनी चाहिए।

विमर्श

यहाँ पर ध्यान देने योग्य यह है कि शास्त्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि ने पाँचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा की जगह आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा का उल्लेख किया है एवं आठवीं प्रतिमा की जगह पाँचवीं प्रतिमा का। जबकि अन्य श्रावकाचारों में ऐसा व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अतः क्रमिक त्याग की दृष्टि से पूर्वाचार्यों का निरूपण सही मालूम पड़ता है। परन्तु हमने उक्त दोनों श्लोकों का अर्थ ग्रन्थकार के अनुसार ही किया है।

मुनियों के विविध नामों का अर्थ

उन-उन गुणों की मुख्यता के कारण मुनि अनेक प्रकार के कहे गये हैं। अब उनके उन नामों की युक्तिपूर्वक निरुक्ति (व्युत्पत्ति-पूर्ण व्याख्या) कहते हैं, उसे मुझसे सुनिए ॥ ४०० ॥ जो समस्त इन्द्रियों को जीतकर अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को जानता है, वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ, वह जितेन्द्रिय कहा जाता है ॥ ४०१ ॥ गर्व, कपट, मद व क्रोध का क्षय कर देने के कारण साधु को 'क्षपण' कहा गया है और अनेक स्थानों में ईर्यासमिति पूर्वक विहार करने से थका हुआ नहीं होता, इसलिए विद्वान् उसे 'श्रमण' जानते हैं ॥४०२॥ जो पूर्व-आदि दश दिशाओं के परिमाण से रहित है और जिसकी समस्त प्रकार की लालसाएँ (जीवन, आरोग्य,

1. दिक्परिमाणरहितः।

[1]रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः । मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥४०४॥
यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् । योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥४०५॥
आत्माशुद्धिकरैर्यस्य न सङ्गः कर्मदुर्जनैः । स पुमाञ्शुचिराख्यातो नाम्बुसंप्लुतमस्तकः ॥४०६॥
धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तोऽधर्मकर्मणः । तं निर्मममुशन्तीह केवलात्मपरिच्छदम् ॥४०७॥
यः [2]कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते । पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥४०८॥
निर्ममो निरहंकारो निर्माणमदमत्सरः । निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः ॥४०९॥
योऽवगम्य यथाम्नायं तत्त्वं तत्त्वैकभावनः । वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥४१०॥
श्रुते व्रते प्रसंख्याने[3] संयमे नियमे यमे । यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः[4] प्रकीर्तितः ॥४११॥

भोग व उपभोग संबंधी तृष्णाएँ) शान्त (नष्ट) हो चुकी हैं; इसलिए विद्वान् आचार्यों ने उसे 'आशाम्बर' कहा है और जो समस्त प्रकार के बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों का त्यागी है; अतः उसे 'नग्न' कहा गया है ॥ ४०३ ॥ समस्त दुःख-समूह का संवरण (आच्छादन) करने के कारण विद्वानों ने उसे 'ऋषि' कहा है और अध्यात्म विद्याओं (केवलज्ञान-आदि) की प्राप्ति से पूज्य होने के कारण महापुरुष उसे 'मुनि' कहते हैं ॥४०४॥ जो पापरूपी जाल को नष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है, इसलिए वह 'यति' है और शरीररूपी गृह में भी लालसा-रहित होने के कारण सज्जनों ने उसे 'अनगार' माना है ॥ ४०५ ॥ आत्मा को मलिन करनेवाले कर्मरूप दुर्जनों के साथ जिस संसर्ग नहीं है, वही पुरुष 'शुचि' कहा गया है, न कि जल से धोये हुए मस्तकवाला। अर्थात्—जो जल से मस्तक पर्यन्त स्नान करता है, वह पवित्र नहीं है किन्तु जिसकी आत्मा निर्मल है, वही पवित्र है। अर्थात्—यद्यपि मुनि स्नान नहीं करते, किन्तु उनकी आत्मा विशुद्ध है, इसलिए उन्हें पवित्र कहते हैं ॥ ४०६ ॥ जो धर्माचरण (सम्यग्दर्शन-आदि) के फल (स्वर्ग-सुख-आदि) का इच्छुक नहीं है और अधर्माचरण (पापाचरण) से निवृत्त है और केवल आत्मा ही जिसका परिवार है लोक में उसे आचार्य 'निर्मम' कहते हैं। अर्थात्—मुनि पापाचरण न करके केवल धर्माचरण ही करते हैं, और उसे भी लौकिक इच्छा न रखकर केवल अपना कर्तव्य समझकर करते हैं एवं उनके पास अपनी आत्मा के सिवा कोई भी परिग्रह नहीं रहता, अतः उन्हें 'निर्मम' कहा गया है ॥ ४०७ ॥ आचार्य, साधु को पुण्य-पाप लक्षणवाले दोनों प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त (छूटा हुआ) होने के कारण मुमुक्षु कहते हैं। क्योंकि जो मानव लोहे की या सुवर्ण की जंजीरों से बँधा हुआ है, उसे बँधा हुआ ही कहा जाता है। अर्थात्—पुण्यकर्म सुवर्ण के बन्धन हैं और पापकर्म लोहे के बन्धन हैं; क्योंकि दोनों ही जीव को संसार में बांधकर रखते हैं। अतः जो पापों से निवृत्त होकर पुण्यकर्म करता है, वह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनों को छोड़कर शुद्धोपयोग में लीन है वही 'मुमुक्षु' है ॥ ४०८ ॥ जो मूर्च्छा (ममता) से रहित है, अहंकार-शून्य है, जो मान, मद व ईर्षा से रहित है, जिसके अहिंसा-आदि महाव्रत प्रशंसनीय हैं और जो अपनी निन्दा व स्तुति में समान बुद्धि-युक्त (राग-द्वेष-शून्य) है, अर्थात्—जो अपनी निन्दा करनेवाले शत्रु से द्वेष नहीं करता और स्तुति करनेवाले मित्र से राग नहीं करता, अतः उसे 'समधी' कहते हैं ॥ ४०९ ॥

जो आगम के अनुसार मोक्षोपयोगी तत्वों (जीवादि) को जानकर केवल उसी की एकमात्र भावना (चिन्तवन) करता है, उसे वाचंयम (मौनी) जानना चाहिए। जो पशु-सरीखा केवल भाषण-नहीं करता,

1. संवरणात्। 2. पुण्यपापलक्षण। 3. ध्याने। 4. अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती गणश्च स इति हैमः। 'अनूचानो विनीते स्यात् साङ्गवेदविचक्षणे'—इति मेदिनी।

[1]योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः । समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥४१२॥
तत्त्वे पुमान्मनः पुंसि[2] मनस्यक्षकदम्बकम् । यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ॥४१३॥
कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् । येनेदं साधितं स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधकः* ॥४१४॥
ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः । सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥४१५॥
क्षान्तियोषिति यः सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः । स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥४१६॥
[3]ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी । वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥४१७॥
संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः । तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥४१८॥
कर्मात्मनोर्विवेक्ता[4] यः क्षीरनीरसमानयोः । भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः ॥४१९॥

वह मौनी नहीं है ॥ ४१० ॥ जिसका मन द्वादशाङ्ग श्रुत के अभ्यास में, अहिंसा-आदि व्रतों के पालन में, धर्मध्यान के चिन्तन में, प्राणि-संरक्षणरूप व इन्द्रिय-वशीकरणरूप संयम में और नियम (परिमित कालवाले भोगोपयोग वस्तु के त्याग) में और यम (आजन्म भोगोपभोग के त्याग) में अत्यधिक संलग्न रहता है, उसे 'अनूचान' (द्वादशाङ्ग श्रुत का वेत्ता) कहा गया है ॥ ४११ ॥ जो इन्द्रियरूपी चोरों पर विश्वास नहीं करता और शाश्वत कल्याणकारक रत्नत्रयरूप-मोक्षमार्ग में स्थित है एवं जो समस्त प्राणियों द्वारा विश्वास-योग्य है, उसे आगम में 'अनाश्वान्' कहा जाता है ॥ ४१२ ॥ जिसकी आत्मा मोक्षोपयोगी तत्व में लीन है, मन आत्मा में लीन है और जिसका इन्द्रिय-समूह मन में लीन है, वह योगी है, अर्थात्—जिसका इन्द्रियसमूह मन में, मन आत्मा में और आत्मा तत्व में लीन है, वह योगी है। किन्तु जो दूसरी वस्तुओं की चाहरूपी दुष्ट संकल्प से युक्त है, वह योगी नहीं ॥ ४१३ ॥ काम, क्रोध, मद, माया व लोभ ये पाँच प्रकार की अग्नियाँ हैं; अतः जिसके द्वारा ये पाँचों अग्नियाँ वश में की गई हैं, वही कृतकृत्य मुनि ही पंचाग्नि-साधक है, न कि बाह्य अग्नियों का उपासक ॥ ४१४ ॥ सम्यग्ज्ञान ब्रह्म है, प्राणिरक्षा ब्रह्म है, कामवासना के विशेष निग्रह को ब्रह्म कहते हैं। जो मनुष्य सम्यक् रूप से सम्यग्ज्ञान की आराधना करता है और प्राणिरक्षा में तत्पर रहता है एवं काम को जीत लेता है, वही 'ब्रह्मचारी' है ॥ ४१५ ॥ जो क्षमारूपी स्त्री में आसक्त है, अर्थात्—जो अहिंसक है, जिसे सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथि प्रिय है। अर्थात्—जो सदा शास्त्र-स्वाध्यायरूपी पात्र की आराधना करता है, तथा जो मनरूपी देवता की साधना करता है, वही सच्चा गृहस्थ है ॥ ४१६ ॥ जो साधु इन्द्रिय-समूह के बाह्य विषयों (स्पर्श-आदि) को अथवा टि० के अभिप्राय से मकान वगैरह बाह्य परिग्रह को तथा अन्तरङ्ग परिग्रह (रागद्वेष-आदि) को छोड़कर संयम धारण करता है उसे 'वानप्रस्थ' जानना चाहिए, किन्तु जो कुटुम्ब को लेकर वन में निवास करता है, वह वानप्रस्थ नहीं है ॥ ४१७ ॥

जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी तलवार से संसाररूपी अग्नि की शिखा विदीर्ण (नष्ट) की है, उसे आचार्यों ने 'शिखाच्छेदी' कहा है, केवल शिर घुटानेवाले को नहीं ॥ ४१८ ॥ संसार अवस्था में कर्म और आत्मा दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं, अतः जो साधु भेदज्ञान द्वारा दूध व जल-सरीखे संयोगसंबंध को प्राप्त हुए कर्म (ज्ञानावरण-आदि) व आत्मा को जुदा-जुदा करनेवाला है, वही 'परमहंस' साधु है। जो अग्नि-सरीखा

---

१. इन्द्रियचौरेषु। २. आत्मनि मनः। *. तथा चोक्तं शास्त्रान्तरे—'उदरे गार्हपत्याग्निर्मध्यदेशे तु दक्षिणः। आस्य आहवनीयोऽग्निश्च सत्यपर्वा च मूर्धनि। यः पञ्चाग्नीनिमान् वेद आहिताग्निः स उच्यते'। —गरुड़पुराण।
२. वास्त्वादि। ४. पृथक् कर्ता।

ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च । नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥४२०॥
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः । संसाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥४२१॥
अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने । स पुमान्दीक्षितात्मा स्यान्न त्वजादियमाशयः[1] ॥४२२॥
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशयः । स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥४२३॥
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् । यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्निसमेधकः ॥४२४॥
भावपुष्पैर्यजेद्देवं व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम् । क्षमापुष्पैर्मनोवह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥४२५॥
[2]षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनर्त्विजाम्* । सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्यः शिवशर्माध्वरोद्धुरः ॥४२६॥

सर्वभक्षी है, अर्थात्—समस्त भक्ष्य व अभक्ष्य वस्तुओं को भक्षण करने वाला है, वह परमहंस नहीं है ॥ ४१९ ॥ जिसका मन सदा तत्वज्ञान से प्रदीप्त है, शरीर अहिंसादि व्रतों के धारण से प्रदीप्त है और जिसकी इन्द्रियाँ सदा सेवनीय पदार्थों के त्याग से प्रदीप्त हैं वही 'तपस्वी' है, किन्तु केवल बाह्य वेष का धारक तपस्वी नहीं है, अर्थात्—जो नग्न होकर पीछी व कमण्डल-आदि बाह्य वेष को धारण करता है, वह तपस्वी नहीं है ॥४२०॥ पाँचों इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्तियाँ ही पाँच तिथियाँ कही गई हैं, जो कि संसार के आश्रय की कारण हैं; अतः जो इन तिथियों से मुक्त हो गया है, उसे 'अतिथि' कहते हैं। अर्थात्—पाँचों इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशीरूप पाँच तिथियाँ हैं, जो इनसे मुक्त हो गया अर्थात्—जिसने पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया, वही वास्तव में अतिथि है।

भावार्थ—आहार-निमित्त आनेवाले साधु को अतिथि कहते हैं, क्योंकि जिसके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं उसे लोक में अतिथि कहा है। ग्रन्थकार ने कहा है कि अतिथि शब्द का यह अर्थ लौकिक है। वास्तव में पाँचों इन्द्रियाँ ही पाँच तिथियाँ (द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी) हैं और जो इनसे मुक्त हो गया (जिसने पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया) वही साधु वास्तव में अतिथि है ॥४२१॥

समस्त प्राणियों की रक्षा करना ही जिसका दैनिक यज्ञ (पूजा) है, वह साधु पुरुष 'दीक्षितात्मा' है। जो बकरे-वगैरह प्राणियों का घातक है, वह दीक्षितात्मा नहीं है ॥ ४२२ ॥ जो पापकर्मरूपी दुर्जनों को स्पर्श करनेवाला नहीं है और समस्त प्राणियों का हित चाहता है, वह वास्तव में 'श्रोत्रिय' है, जो केवल बाह्य शुद्धि वाला है वह श्रोत्रिय नहीं है ॥ ४२३ ॥ जो आत्मारूपी अग्नि में दयारूपी मन्त्रों के द्वारा कर्म (ज्ञानावरण-आदि) रूपी ईंधन-समूह को अच्छी तरह हवन करता है, वही सच्चा होता (होम करनेवाला) है; जो केवल बाह्य अग्नि में काष्ठ-समूह रखकर उसे प्रदीप्त करता है, वह होता नहीं है ॥ ४२४ ॥ जो विशुद्ध भावरूपी पुष्पों से देवपूजा करता है, अहिंसादि व्रतरूपी सुमनों से शरीररूपी गृह की पूजा करता है एवं क्षमारूपी पुष्पों से मनरूपी अग्नि की पूजा करता है, उसे सज्जनों ने यष्टा (पूजा करनेवाला) माना है ॥ ४२५ ॥ जो महात्मा, तीर्थङ्कर प्रकृति की कारण सोलह कारण भावना (दर्शन-विशुद्धि-आदि) रूपी यज्ञ करानेवाले ऋत्विजों का स्वामी है और जो मोक्ष-सुखरूपी यज्ञ का उद्धारक है, उसे 'अध्वर्यु' समझना चाहिए ॥ ४२६ ॥ जो शरीर और आत्मा के भेद को विशेष रूप से ज्ञापन करता है, वह विद्वानों के लिए प्रीतिजनक सच्चा वेद है, परन्तु जो समस्त प्राणियों के क्षय का कारण है, वह वेद नहीं है।

१. छागादीनां घातकः । २. षोडश भावना एव ऋत्विजस्तेषां मध्येऽध्वर्युः यजुर्वेदज्ञाता मुख्यः आत्मा एव ।
*. 'यः प्रभुर्भावनर्चिषाम्' क० ।

विवेकं वेदयेदुच्चैर्यः शरीरशरीरिणोः । स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥४२७॥
जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् । एषा त्रयी यतस्त्रय्याः[1] क्षीयते सा त्रयी मता ॥४२८॥
अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः । यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धलः ॥४२९॥
सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः । न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥४३०॥
स शैवो यः शिवज्ञाता स बौद्धो योऽन्तरात्मभुत्[2] । स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥४३१॥
ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः । दानयोग्यः कथं स स्यात्पञ्चाक्षाशुभसत्क्रियः[3] ॥४३२॥
[4]अनुमान्या [5]समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा । भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया[6] यतिद्वयसमाश्रया ॥४३३॥

भावार्थ—श्री भगवज्जिनसेनाचार्य★ ने भी कहा है कि 'निर्दोष (अहिंसा धर्म का निरूपण करनेवाला) द्वादशाङ्ग श्रुत ही वेद है, परन्तु प्राणि-हिंसा का समर्थक वाक्य (शास्त्र) वेद नहीं है, उसे तो कृतान्त की वाणी समझनी चाहिए' ॥ ४२७ ॥

पुरुषों के जन्म, जरा व मरण ये तीनों संसार के कारण हैं, इस त्रयी (इन तीनों) का जिस रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) रूपत्रयी से नाश हो वही त्रयी मानी गई है। अभिप्राय यह है कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद को त्रयी कहते हैं किन्तु शास्त्रकार कहते हैं, कि जो संसार के कारण जन्म, जरा व मरण को नष्ट करने में समर्थ है, वही रत्नत्रय ही सच्ची त्रयी है ॥ ४२८ ॥ जो प्राणी है समीचीन रूप से अहिंसा-आदि व्रतों का आचरण करता है, ज्ञानवान् है, निःस्पृही है एवं बाह्य (धन-धान्यादि) व अन्तरङ्ग (मिथ्यात्व-आदि) परिग्रहों से रहित है, वही साधु यथार्थ ब्राह्मण है, जो मनुष्य केवल जाति (ब्राह्मणत्व) के मद से अन्धा है, वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ४२९ ॥ वही जाति परलोक के लिए उपयोगी है, अर्थात्—स्वर्ग आदि सुख को उत्पन्न करनेवाली है, जिससे प्रशस्त धर्म (सम्यग्दर्शन-आदि) की उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिसप्रकार भूमि के शुद्ध होने पर भी यदि वह धान्यादि के बीजों से रहित है तो वह धान्योत्पत्ति के लिए समर्थ नहीं होती उसी प्रकार प्रशस्त ब्राह्मणत्व-आदि जाति भी सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म-प्राप्ति के बिना स्वर्ग-आदि सुख को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती ॥ ४३० ॥ जो शिव (कल्याणकारक मोक्ष या मोक्षमार्ग) का ज्ञाता है, वही शैव (शिव का अनुयायी) है। जो आत्मतत्व का ज्ञाता है, वही बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है एवं जो संसार में पुनः जन्मधारण करनेवाला नहीं है, वही द्विज (ब्राह्मण) है। अभिप्राय यह है कि जो कुलीन माता-पिता से उत्पन्न होकर उपनयन संस्कार-युक्त होकर गुरु के पादमूल में तत्वज्ञान प्राप्त करता है, जिसका द्वितीय संस्कार-जन्म हुआ है और पुनः जिनदीक्षा धारण करके कर्मों का क्षय करता है। अतः जिसे तीसरा जन्म धारण नहीं करना पड़ता वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ४३१ ॥ जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दयी है, विषय-लम्पट है और पाँचों इन्द्रियों के वश में है, वह आहार-आदि दान का पात्र कैसे हो सकता है ? अर्थात् ऐसे निःकृष्ट मानव के लिए कभी दान नहीं देना चाहिए ॥ ४३२ ॥ देशविरत और सर्वविरत की अपेक्षा से भिक्षा के चार भेद हैं—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरीभिक्षा। टिप्पणीकार ने कहा है कि अनुमान्या भिक्षा दशप्रतिमा तक होती है। आमन्त्रणपूर्वक आहार को समुद्देश्य कहते हैं, अतः

१. सम्यक्त्वादेः। २. अन्तरात्मानं बुध्यतीति। ३. पंचेन्द्रियवशः। ४. दशप्रतिमापर्यन्तं। ५. आमन्त्रणपूर्विका पद्प्रतिमापर्यन्तं। ६. ब्रह्मचारि-मुनि।

★. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः :—
श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषं । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥२२॥ —आदिपुराण पर्व० ३९

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ।

तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् । स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥४३४॥

[1]गहनं* न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम् ।

तन्न [2]स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः ॥४३५॥

[3]प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् । वपुरेव नृणां निगिरति *चरमचरित्रोचितं समयम् ॥४३६॥

[4]सविधा पापकृतेरिव* जनिताखिलकायकम्पमातङ्का । यमदूतीव जरा यदि समागता जीविते [5]तृष्णा ॥४३७॥

दूसरी समुद्देश्या भिक्षा छठी प्रतिमा तक होती है और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक व ऐलक त्रिशुद्धा नाम की भिक्षा करते हैं तथा साधु भ्रामरी भिक्षा करते हैं; क्योंकि मुनिजन दाताओं को बाधा न पहुँचाकर भँवरे की तरह आहार करते हैं; अतः उनकी भिक्षा का नाम भ्रामरी है ॥ ४३३ ॥

इसप्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि के उपासकाध्ययन में मुनि के नामों की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या को बतलानेवाला चौवालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब समाधिमरण की विधि का निरूपण करते हैं—]

वृक्ष के पके हुए पत्ते-सरीखा या तैल-रहित दीपक-सरीखा शरीर को स्वयं ही विनाशोन्मुख जानकर समाधिमरण करना चाहिए ॥ ४३४ ॥ आचार्यों ने कहा है कि शरीर का त्याग करना आश्चर्य-जनक नहीं है किन्तु लोक में संयम-धारण करना आश्चर्य-जनक है; अतः यदि शरीर स्थिर-शील है तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि विनाश-शील हो तो उसके नष्ट होने में शोक नहीं करना चाहिए ॥ ४३५ ॥

[अब समाधिमरण का समय बताते हैं—]

जब शरीर प्रतिदिन क्षीण शक्तिवाला हो जाय और जिसने आहार-ग्रहण छोड़ दिया हो एवं जब उसकी रक्षा के उपाय (औषधादि) व्यर्थ हो जाँय तब स्वयं शरीर ही मनुष्यों को कह देता है, कि अब समाधि-मरण का समय आ गया है ॥ ४३६ ॥ जब मानवों को यमराज की दूती-सरीखी वृद्धावस्था आ जाय, जो कि समस्त शरीर में कम्पन व व्याधि को उत्पन्न करनेवाली है और जो ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—पापकार्य की निकटवर्तिनी ही है—तब उन्हें जीवन की लालसा क्यों करनी चाहिए ? अर्थात्—उस समय गृहस्थ या मुनि को जीवन की अभिलाषा छोड़ देनी चाहिए ॥ ४३७ ॥ वृद्धावस्था द्वारा कानों के समीपवर्ती श्वेत बालों को

---

१. तथा च विद्वान् आशाधरः—

'गहनं न तनोर्हानं पुंसः किन्त्वत्र संयमः । योगानुवृत्तेर्व्यावृत्य तदात्मात्मनि युज्यताम्' ॥२४॥ —सागार० अ० ८ ।

*. आश्चर्यं न शरीरमोचनं ।

२. तथा च पं० आशाधरः—

'न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः । न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरं ॥५॥ —सागार० अ० ८ ।

३. तथा च श्रीमद्विद्यानन्दि आचार्यः—

मरणसंचेतनाभावे कथं सल्लेखनायां प्रयत्न इति चेन्न, जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यककर्मपरिक्षयसंप्राप्तौ यत्तस्य स्वगुण-रक्षणे प्रयत्नात् ततो न सल्लेखनात्मवधः प्रमत्तस्य विशुद्धयंगत्वात्तपश्चरणादिवत् । —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० ७ सूत्र २२ पृ० ४६७ की अन्तिम ल० १ तथा पृ० ४६८ की शुरू की १½ लकीर । *. मरणावसरं । ४. समीपवर्तिनीव । *. 'सविधापापकृतेरिव' क० । ५. का तृष्णा ? ।

[1]कर्णान्तिकेशपाशग्रहणविधिर्बोधितोऽपि यदि जरया। स्वस्य हितैषी न भवति तं किं मृत्युर्न संग्रसते ॥४३८॥
[2]उपवासादिभिरङ्गे कषायदोषे च बोधिभावनया। कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय[3] यतेत गणमध्ये ॥४३९॥
यमनियमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चनाविधिर्दानम्। एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥४४०॥
[4]द्वादशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत्। किं स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यतेः पुराचरितम् ॥४४१॥
[5]स्नेहं विहाय बन्धुषु मोहं विभवेषु कलुषतामहिते।
गणिनि च निवेद्य निखिलं दुरीहितं तदनु भजतु विधिमुचितम् ॥४४२॥

पकड़कर समझाये जाने पर भी वृद्ध पुरुष यदि आत्मकल्याण का इच्छुक नहीं होता तो क्या उसे मृत्यु अपने मुख का कौर नहीं बनाती ?

भावार्थ—वृद्धावस्था के बाद मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होना निश्चित है; अतः वृद्ध को आत्मकल्याण में ही प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है, न कि जीवन की लालसा रखना ॥ ४३८ ॥

समाधिमरण की विधि

ऐसे साधु या श्रावक को, जिसने उपवास-आदि द्वारा अपना शरीर कृश (क्षीण) किया है और रत्नत्रय की भावना द्वारा कषाय रूप दोष कृश किये हैं, मुनिसंघ के समक्ष आहार के त्याग के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात्—यावज्जीवन या काल की अवधि पर्यन्त आहार का त्याग करना चाहिए ॥ ४३९ ॥ यदि अन्तसमय (मरणवेला) में मन मलिन रहा तो जीवनपर्यन्त किये हुए यम (बाह्य व आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और धर्मध्यान), नियम (अहिंसादि), शास्त्र-स्वाध्याय, इच्छानिरोध लक्षणवाला तप, देवपूजा व पात्रदान-आदि समस्त धार्मिक अनुष्ठान निष्फल हैं ॥ ४४० ॥ जैसे कोई राजा, जिसने बारह वर्ष पर्यन्त शस्त्रविद्या (शस्त्रों का संचालन-आदि) का अभ्यास किया है, यदि युद्धभूमि पर शत्रु के प्रति कायरता दिखाता है तो उसकी शस्त्रविद्या निष्फल है वैसे ही साधु भी, जिसने पहले जीवनभर सदाचार व तत्वज्ञान-आदि का अभ्यास किया, यदि मृत्यु के अवसर पर समाधिमरण से विमुख हो गया तो उसका पूर्वकालीन समस्त धार्मिक अनुष्ठान व्यर्थ है ॥ ४४१ ॥ बन्धुजनों से स्नेह, धनादि वैभव से मोह और शत्रु के प्रति कलुषता को छोड़कर समस्त दोषों को आचार्य से निवेदन करे और उसके बाद समाधिमरण की योग्य विधि का पालन

१. पलितकेशाः किल पूर्वं कर्णसमीपे दृश्यन्ते।
२. तथा चाह पं० आशाधरः—
'उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः। संलिख्य गणिमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी' ॥१५॥ सागार० अ० ८।
३. मरणाय। ४. तथा चाह पं० आशाधरः—
'नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत्। युधीव स्खलितो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशः कटु ॥१७॥ —सागार० अ० ८।
५. तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्यः—
'स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः। स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्। आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥१२५॥'
—रत्नकरण्ड श्रा०।

*अशनं क्रमेण हेयं स्निग्धं पानं ततः खरं[1] चैव । तदनु च सर्वनिवृत्तिं कुर्याद्गुरुपञ्चकस्मृतौ निरतः ॥४४३॥
*कदलीघातवदायुषि[2] कृतिनां सकृदेव विरतिमुपयाति । तत्र पुनर्नैष विधिर्दैवे[3] क्रमविधिर्नास्ति ॥४४४॥
[4]सूरौ प्रवचनकुशले साधुजने यत्नकर्मणि प्रवणे । चित्ते च समाधिरते किमिहासाध्यं* यतेरस्ति ॥४४५॥
[5]जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधिः । एते सनिदानाः स्युः सल्लेखनहानये पञ्च ॥४४६॥

करे ॥ ४४२ ॥ धीरे-धीरे अन्न का त्यागकर दूध व मट्ठा रख लेवे फिर उन्हें भी छोड़कर गर्म जल रख लेवे, उसके बाद पंचनमस्कारमन्त्र के स्मरण में लीन होकर सब कुछ छोड़ देना चाहिए ॥ ४४३ ॥ जब किन्हीं पुण्यवान् पुरुष की आयु कटे हुए केले की तरह एक साथ ही समाप्त होती हो, अर्थात्—शत्रु, विष व अग्नि-आदि द्वारा एकबार में ही नष्ट हो जाय तो वहाँ समाधिमरण की यह क्रमिक विधि नहीं है; क्योंकि दैव (भाग्य) की प्रतिकूलता में क्रमिक विधान नहीं बन सकता। अर्थात्—भाग्य की प्रतिकूलता से होनेवाले कदलीघातमरण में यह विस्तृत सन्यास-विधि नहीं होती, किन्तु उस अवसर पर सर्वसन्यास (समस्त चारों प्रकार के आहार का त्याग) विधि होती है ॥ ४४४ ॥

जब समाधिमरण करानेवाले आचार्य सिद्धान्त-शास्त्र में कुशल हों और साधु-समूह सन्यासविधि में प्रयत्नशील हो एवं समाधिमरण करनेवाले का मन ध्यान में अनुरक्त हो तो समाधिमरण करनेवाले साधु को लोक में कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ४४५ ॥ सल्लेखनाव्रत की क्षति करनेवाले निम्नप्रकार पाँच अतिचार हैं—जीने की इच्छा करना, मरण की इच्छा करना, मित्रों के साथ अनुराग प्रकट करना, पहले भोगे हुए भोगों का

*. तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्यः—
'आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत् पानम् । स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥१२७॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या । पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥१२८॥'
—रत्नकरण्ड श्रा० ।

१. खरपानं । *. 'कदलीघातवदायुः' ग० । 'कदलीघातवदायुषि' मु०, क०, ख०, घ० । विमर्श—अयं पाठः समीचीनः ।
—सम्पादकः ।

२. उपयाति गच्छति को विरतिं अन्नपानादिविरतिं कथं ? सकृदेव एकहेलया, सुकृतिनां पुण्यवतां कदलीघातवदायुषि—यदा वैरिविषाग्न्यादिकेन मरणमायाति तदा एवं वदति मम सर्वसन्यासः तत्र पुनः कदलीघातमरणे एषः विस्तर-सन्यासविधिर्न भवति ।

३. यतो दैवे क्रमविधिर्नास्ति ।
तथा चाह पं० आशाधरः—'भृशापवर्तकवशात् कदलीघातवत् सकृत् । विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥११॥'
—सागार० अ० ८ ।

४. आचार्ये । *. न किमपि । ५. यदि स्तोकं कालं जीव्येत तदा भव्यमिति जीविताशंसा । यदि शीघ्रं म्रियते तदा भव्यं किमद्यापि दुःखमनुभूयते, इति मरणाशंसा—वाञ्छा, यदि स आयाति तदाऽयं सन्यासः सफलः कथयति । यदि सुखेन म्रियते तदा भव्यमिति चिन्तयति ।
तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्यः—'जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि' ॥ ३७ ॥
—मोक्षशास्त्र अध्याय ७ ।

तथा चाह श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः—
'जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः । सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९॥'—रत्नकरण्ड ।

आराध्य रत्नत्रयमित्यमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।
समाधिभावेन कृतात्मकार्यः कृती जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥४४७॥
इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ।

अथ प्रकीर्णकम् ।

[1]विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिदक्षं प्रकीर्णकम् । उक्तानुक्तामृतस्यन्दबिन्दुस्वादनकोविदैः ॥४४८॥
सुजनत्वं विनयो विवेकः परीक्षणं तत्त्वविनिश्चयश्च ।
एते गुणाः पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मवान्धर्मकथापरः स्यात् ॥४४९॥
असूयकत्वं शठताविचारो दुराग्रहः सूक्तविमानना च । पुंसाममी पञ्च भवन्ति दोषास्तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय ॥४५०॥
पुंसो यथा संशयिताशयस्य दृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ।
धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ॥४५१॥

स्मरण करना और आगामी भोगों की इच्छा करना ॥ ४४६ ॥ इसप्रकार रत्नत्रय को आराधना करके आचार्य के अधीन होकर उनकी आज्ञा के अनुसार चलनेवाला समाधिमरण का इच्छुक, जिसने यथाविधि धर्मध्यान परिणति से समाधिमरण किया है, पुण्यात्मा पुरुष जगत्पूज्य तीर्थङ्करपद का स्वामी हो जाता है ॥ ४४७ ॥

इसप्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि के उपासकाध्ययन में सल्लेखनाविधि नामक पैंतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब कुछ सुभाषितों का कथन करते हैं—]

उपदिष्ट व अनुपदिष्ट सुभाषितरूपी अमृत से क्षरण करनेवालीं बिन्दुओं के आस्वादन करने में चतुर विद्वानों ने, शास्त्रों में विस्तृत हुए सार्थक सुभाषित वचनों के कथन करने को प्रकीर्णक कहा है ।

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री[2] ने कहा है कि 'जो समुद्र सरीखे विस्तृत सुभाषितरूपी रत्नों की रचना का स्थान है, उसे प्रकीर्णक कहते हैं ।' अर्थात्—जिसप्रकार समुद्र में फैली हुई प्रचुर रत्नराशि वर्तमान होती है उसीप्रकार प्रकीर्णक काव्यरूपी समुद्र में भी फैली हुई सुभाषित काव्यरूपी रत्न-राशि पाई जाती है ॥ ४४८ ॥

धर्म कथा करने का पात्र

वही विशिष्ट आत्मा धर्मोपदेश देने में तत्पर होता है, जिसमें ये पाँच गुण वर्तमान हों—सज्जनता, विनय, सद्बुद्धि, परीक्षा और मोक्षोपयोगी तत्वों का निश्चय ॥ ४४९ ॥

तत्वज्ञान में बाधक दोष

मानवों के निम्नप्रकार पाँच दोष तत्वज्ञान में बाधक हैं—दूसरे के गुणों में मात्सर्य करना, दुष्टता, हिताहित का विचार न होना, दुराग्रह (हठ-ग्रहण) और हितकारक उपदेश का अनादर करना ॥ ४५० ॥

संशयालु की असफलता

जैसे लौकिक कार्यों (व्यापार-आदि) में संदिग्ध अभिप्रायवाले मानव की कोई भी लौकिक प्रवृत्ति सफल नहीं देखी गई उसीप्रकार धर्म के स्वरूप में संदिग्ध बुद्धिवाले मानव की कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति सफल नहीं होती ।

१. विप्रकीर्णानां पूर्वोक्तानां । २. तथा च सोमदेवसूरिः—'समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकम् ।' नीतिवाक्यामृत (भा० टी० समेत) पृ० ४११

*जातिपूजाकुलज्ञानरूपसंपत्तपोबले । उशन्त्यहंकृतोद्रेकं[1] मदमस्मयमानसाः ॥४५२॥
यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन[2] मोदते । स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥४५३॥
देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः । दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥४५४॥
स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः[3] । षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥४५५॥
आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् । सत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥४५६॥

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री ने कहा—'सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः' अर्थात्—'सभी स्थानों में संदेह करनेवालों के कार्य सिद्ध नहीं होते'—(नीतिवाक्यामृत सदाचारसमुद्देश सूत्र ५२ पृ० ३४३ हमारी भाषा टीका)' अतः विवेकी पुरुष को कार्य-सिद्धि के लिए सभी स्थानों में सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ४५१ ॥

मदों का निषेध

गर्व-रहित मनोवृत्तिवाले (विनयशील) आचार्य, जाति (माता के वंश की शुद्धि), प्रतिष्ठा, कुल (पिता की वंश-शुद्धि), विद्या, लावण्य, सम्पत्ति, तप व बल इनके गर्वोद्रेक (विशेष अहंकार) को मद या घमण्ड कहते हैं ॥ ४५२ ॥ जो मानव घमण्ड में आकर अपने साधर्मी जनों की निन्दा करके हर्षित होता है वह निश्चय से धर्म-घातक है; क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं है ॥ ४५३ ॥

गृहस्थ के छह कर्तव्य

देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों के छह धार्मिक कर्तव्य हैं, जो कि प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करने चाहिए ॥ ४५४ ॥

देवपूजा की विधि

सज्जनों ने गृहस्थों के लिए देवपूजा के विषय में छह धार्मिक क्रियाएँ कही हैं—पूर्व में अभिषेक, पुनः पूजन, पश्चात् भगवान् के गुणों का स्तवन, पुनः पञ्चनमस्कार मन्त्र-आदि का जाप पश्चात् ध्यान और अन्त में श्रुतदेवता की आराधना (स्तुति)। अर्थात्—इस क्रम से जिनेन्द्रदेव की आराधना करनी चाहिए ॥ ४५५ ॥

कल्याण-प्राप्ति के उपाय

आचार्यों की पूजा करना, देव, शास्त्र व गुरु की श्रद्धा, शास्त्रों में कहे हुए मोक्षोपयोगी तत्वों का ज्ञान और शास्त्र-विहित क्रियाओं का आचरण ये सब कर्तव्य-समूह कल्याण की प्राप्ति करनेवाले हैं ॥ ४५६ ॥

---

*. तथा च श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः—

'ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥
स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः । सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥' —रत्नकरण्ड० ।

१. गर्वोद्रेकं । २. निन्दया । ३. श्रुताराधनमित्यर्थः ।

शुचिर्विनयसंपन्नस्त[1]नुचापल्यवर्जितः । *अष्टदोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥४५७॥
अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु । अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥४५८॥

शिष्य-कर्तव्य

अपने कल्याण के इच्छुक शिष्य को बाह्य व आभ्यन्तर शुद्धि से युक्त होकर शारीरिक चञ्चलता छोड़ते हुए विनयपूर्वक गुरु के समीप अष्ट दोषों (अकाल, अविनय, अनवग्रह, अबहुमान, निह्नव, अव्यञ्जन, अर्थविकल और अर्थव्यञ्जनविकल) को टालकर आगम का अध्ययन करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञान की आराधना के आठ दोष होते हैं। अकाल व अविनय-आदि। अकाल (सूर्य-ग्रहण-आदि में पढ़ना), अविनय (विनयपूर्वक अध्ययन न करना), अनवग्रह (पढ़े हुए आगम के विषय को अवधारण न करना), अबहुमान (गुरु का आदर न करना), निह्नव (जिनसे पढ़ा है, उनका नाम छिपाना), अव्यञ्जन (शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिक को छोड़ जाना), अर्थविकल (शास्त्र का अर्थ ठीक न करना), और अर्थव्यञ्जन विकल (न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना) । साधु शिष्य को आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी के पास इन आठ दोषों को टालकर आगम का अध्ययन व मनन-आदि करना चाहिए।

इसी प्रकार गुरु के पादमूल में श्रुताभ्यास करनेवाले सज्जन शिष्य को विनयशील होना चाहिए। नीतिकार आचार्यश्री ने विनय के विषय में कहा है—'व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥ ६ ॥ पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥ ७ ॥—नीतिवाक्यामृत पुरोहितसमुद्देश पृ० २११-२१२।' अर्थात्—व्रत-पालन—अहिंसा, सत्य व अचौर्य-आदि सदाचार में प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन व आयु में बड़े पुरुषों के साथ नमस्कारादि नम्रता का बर्ताव करना विनय गुण है। सारांश यह है कि व्रती, विद्वान् व वयोवृद्ध माता-पिता-आदि पुरुष, जो कि क्रमशः सदाचार-प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन व हित-चिन्तवन-आदि सद्गुणों से विभूषित होने से श्रेष्ठ हैं, उनकी विनय करना विनयगुण है। क्योंकि व्रती महापुरुषों की विनय से पुण्यप्राप्ति, विद्वानों की विनय से शास्त्रों का वास्तविक स्वरूपज्ञान एवं माता-पिता-आदि हितैषियों की विनय से शिष्ट पुरुषों के द्वारा सन्मान प्राप्त होता है। इसी प्रकार शिष्य-कर्तव्य का निर्देश करते हुए आचार्यश्री ने कहा है—'अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥ १८ ॥—नीतिवाक्यामृत पुरो० पृ० २१३। अर्थात्—शिष्य को विद्याध्ययन करने के सिवाय दूसरा कार्य, शारीरिक व मानसिक चपलता तथा चित्तप्रवृत्ति को अन्यत्र ले जाना ये कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेवाला शिष्य मूर्ख रह जाता है ॥ ४५७ ॥

स्वाध्याय का स्वरूप

चार अनुयोगों (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग) के शास्त्र तथा गुणस्थान (मिथ्यात्व-आदि) और मार्गणास्थान (गति व इन्द्रिय-आदि चौदह मार्गणास्थान) के निरूपक शास्त्रों का एवं अध्यात्मतत्त्वविद्या का यथाविधि पढ़ना स्वाध्याय है। ॥ ४५८ ॥

---

१. शरीर। *. '१. अकाल, २. अविनय, ३. अनवग्रह, ४. अबहुमान, ५. निह्नव, ६. अव्यञ्जन, ७. अर्थविकल, ८. अर्थव्यञ्जनविकल इत्यष्टौ दोषाः' टि० ख०। 'अकालाध्ययनादि' टि० च०।

गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः । [1]प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्पुराणचरिताश्रयः ॥४५९॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् । [2]शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥४६०॥
ममेदं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः । इत्थमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणाश्रितः[3] ॥४६१॥
जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मावबोधनम् । बन्धमोक्षफलताचेति फलं द्रव्यानुयोगतः[4] ॥४६२॥
[5]जीवस्थान[6]गुणस्थान[7]मार्गणास्थानगो विधिः । चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येकं यथागमम् ॥४६३॥

प्रथमानुयोग का स्वरूप

धर्म-बुद्धि गृहस्थ जिससे अपना सिद्धान्त भलीभाँति जानता है, वह प्रथमानुयोग है, जो कि पुराण के आधारवाला और चरित के आधारवाला है, अर्थात्—जिसमें चौवीस तीर्थङ्कर-आदि तिरेसठ शलाका के पूज्य महापुरुषों का चरित्र अथवा किसी एक पूज्य पुरुष का चरित्र उल्लिखित होता है ॥ ४५९ ॥

करणानुयोग का स्वरूप

अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक में पाई जानेवालीं चारों गतियों का विचार जिसमें किया गया हो उसको विद्वानों ने करणानुयोग कहा है। यह दूसरे अनुयोगों की परीक्षा करनेवाला है ॥ ४६० ॥

चरणानुयोग का स्वरूप

यह मेरा अणुव्रत व महाव्रतात्मक कर्तव्य कर्म (आचरण) है और उसके संरक्षण व संवर्धन का यह क्रम है, अर्थात्—अतीचारों के त्याग से व्रतों का संरक्षण होता है और भावनाओं से व्रत वृद्धिगत होते हैं, इसप्रकार आत्मा के चरित्र का निरूपण जिसमें किया गया हो, वह चरणानुयोग है ॥ ४६१ ॥

द्रव्यानुयोग का स्वरूप

द्रव्यानुयोग से विवेकी पुरुष को जीव और अजीव द्रव्य का ज्ञान होता है, धर्म, अधर्म, बन्ध एवं मोक्षतत्व का ज्ञान होता है ॥ ४६२ ॥

जीवसमास-आदि जानने योग्य तत्त्व

जीवसमास (एकेन्द्रिय-आदि), गुणस्थान (मिथ्यात्व-आदि) व मार्गणास्थान (गति व इन्द्रिय-

---

१-४. तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्यः—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥
लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥
गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् । चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥ —रत्नकरण्ड० ।

५. बादरसुहुमेइन्दिय वितिचउरिन्दिय असण्णिसण्णीय । पज्जत्तापज्जत्ता भूदा इदि चउदसा होंति । अर्थात्—एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरभेदेन द्विविधाः, विकलेन्द्रियास्त्रयः, पञ्चेन्द्रियाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च । एते सप्त पर्याप्तेतरभेदेन चतुर्दशजीवस्थानानि भवन्ति । ६. मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टिः, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली व अयोगकेवली, इति चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्ति । ७. गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञि, आहारक भेदेन चतुर्दश मार्गणास्थानानि भवन्ति ।

[1]आद्याः पञ्च तिर्यक्षु चत्वारि श्वभ्रनाकिनोः । गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥४६४॥
[2]अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतम् । तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥४६५॥
अन्तर्बहिर्मलप्लोषा[3]दात्मनः शुद्धिकारणम् । शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥४६६॥
कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् । संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥४६७॥

आदि) प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद हैं, इनका स्वरूप आगमों से जानना चाहिए ।

भावार्थ—जीवसमास के चौदह भेद हैं—एकेन्द्रिय सूक्ष्म व बादर, दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय व असैनी पंचेन्द्रिय । ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चौदह होते हैं, इसप्रकार जीवसमास के चौदह भेद हैं ।

इसीतरह गुणस्थान भी चौदह हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली व अयोगकेवली । जिनमें संसारी जीव अन्वेषण किये जाते हैं, उन्हें, मार्गणास्थान कहते हैं । उनके भी चौदह भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार मार्गणा ॥ ४६३ ॥

चारों गतियों में होनेवाले गुणस्थान

तिर्यञ्चगति में तिर्यञ्चों के शुरु से पाँच गुणस्थान होते हैं । नरकगति के नारकियों में और देवगति के देवों में पहले के चार गुणस्थान होते हैं और मनुष्यों में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं ॥ ४६४ ॥

तप का स्वरूप

अपनी शक्ति न छिपानेवाले विवेकी मानव द्वारा जो काय-क्लेश (शारीरिक कष्ट) किया जाता है, उसे तप कहा गया है, किन्तु वह जैनमार्ग के अनुकूल होने से ही गुणकारक होता है, यह जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥ ४६५ ॥ अथवा तपोनिधियों ने ऐसी शारीरिक क्रिया (उपवास-आदि) व मानसिक क्रिया (प्रायश्चित्त-आदि) को तप कहा है, जो कि अन्तरङ्ग (रागादि) व बहिरङ्ग मल के सन्ताप से सन्तप्त हुई आत्मा की शुद्धि में कारण है ॥ ४६६ ॥

संयम का स्वरूप

कषायों का निग्रह, इन्द्रियों का जय, मन, वचन व काय की कुटिल प्रवृत्ति का त्याग तथा अहिंसादि

---

१. तथा चाह पूज्यपादः—'गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति । तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति । मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति । देवगतौ नारकवत् ।'

—सर्वार्थसिद्धि सूत्र ८ (सत्संख्या०) पृ० १२ ।

२. तथा चाह पूज्यपादः—'अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः' ।

—सर्वार्थसिद्धि अ० ६ सूत्र २४ पृ० १९७ ।

तथा च श्रीमद्विद्यानन्दिआचार्यः—'अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः । कायक्लेशः समाख्यातं विशुद्धं शक्तितस्तपः ॥ ९ ॥—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० ४५६ । ३. दाहात् ।

अस्यायमर्थः—कषन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसङ्गसंपादनेनात्मानमिति कषायाः[1] क्रोधादयः। अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो न्यग्रोधादय[2] कषायाः कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः। तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः। विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः। मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिवेशेन वा माया। चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भाव इत्यभिवृद्धिविनाशयोर्महान्संतोषोऽसंतोषो वा लोभः।

व्रतों का पालन करना इसे संयमी आचार्यों ने संयम कहा है, यह संयम धर्म शाश्वत कल्याण-प्राप्ति के इच्छुक (मोक्षाभिलाषी) साधुजनों के होता है ॥ ४६७ ॥

[अब इसका स्पष्ट विवेचन करते हैं—]

जो आत्मा को दुर्गति में लेजाकर दुःखित करती हैं, उन्हें (क्रोधादि को) कषाय कहते हैं। अथवा जैसे वटवृक्ष-आदि के कसैले रस विशुद्ध वस्तु को कलुषित (मलिन) करनेवाले हैं वैसे ही क्रोधादि कषाय भी विशुद्ध आत्मा को कलुषित (मलिन) करने में कारण हैं; अतः कसैले रस-सरीखी होने के कारण इन्हें कषाय कहते हैं। वे कषाय चार प्रकार की हैं—क्रोध, मान, माया व लोभ।

क्रोध—अपने या दूसरों के अपराध से अपना या दूसरों का नाश (घात) होना या नाश करना क्रोध है, अथवा अशुभभावों का उत्पन्न होना क्रोध है। मान—विद्या, विज्ञान व ऐश्वर्य-आदि के घमण्ड में आकर पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लङ्घन करना, अर्थात्—उनका आदर-सत्कार न करना मान है। अथवा युक्ति दिखा देनेपर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ना मान है।

माया—दूसरों को धोखा देने के अभिप्राय से अथवा अपनी कीर्ति, आदर-सत्कार और धनादि की प्राप्ति के अभिप्राय से मन, वचन व काम की कुटिल प्रवृत्ति करना माया है।

लोभ—चेतन स्त्री पुत्रादिक में और अचेतन धन व धान्यादि पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इसप्रकार की चित्त में उत्पन्न हुई विशेष तृष्णा को लोभ कहते हैं। अथवा इन पदार्थों की वृद्धि होने पर जो विशेष सन्तोष होता है और इनके विनाश होने पर जो महान् असन्तोष होता है उसे लोभ कहते हैं।

कषायों के भेद

इसप्रकार ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक को चार-चार अवस्थाएँ हैं—अनन्तानुबन्धिक्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

---

१. तथा चाह श्रीपूज्यपादः—'कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। तेषां चतस्रोऽवस्थाः अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्चेति। अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। समेकीभावे वर्तते। संयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः। —सर्वार्थसिद्धि अ० ८-९ पृ० २२७-२२८।

२. निग्रोधस्येमे नैयग्रोधाः वटजाः।

सम्यक्त्वं घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः । अप्रत्याख्यानकषायाश्च देशव्रतविघातिनः ॥४६८॥
प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः [1]संयमस्य विनाशकाः । चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः कलिम्[2] ॥४६९॥
पाषाणभूरजोवारिलेखा[3]प्रख्यस्वभावकः । क्रोधो यथाक्रमं गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् ॥४७०॥
शिलास्तम्भास्थि[4]सार्द्रैक वेत्रवृत्तिर्द्वितीयकः । अधःपशुनरस्वर्गगतिसंगतिकारणम् ॥४७१॥
वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रैश्चामरैः समाः । माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥४७२॥
क्रिमिनीलीवपुर्लेपहरिद्रारागसन्निभः । लोभः कस्य न संजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥४७३॥

कषायों का स्वरूप

इनमें से जो सम्यक्त्व गुण का घात करती हैं, अर्थात्—सम्यग्दर्शन को नहीं होने देती, उन्हें अनन्तानुबन्धि कषाय कहते हैं। जो सम्यक्त्व का घात न कर श्रावकों के देशव्रत (एकदेश चारित्र) को नष्ट करती हैं, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। जो कषाय सम्यग्दर्शन व देशव्रत को न घातकर मुनियों के सर्वदेश चारित्र को घातती हैं, उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं एवं जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्र को नहीं होने देतीं वे संज्वलन कषाय हैं॥ ४६८–४६९॥

शक्ति की अपेक्षा कषायों के भेद

चारों क्रोध-आदि कषायों में से प्रत्येक के शक्ति की अपेक्षा से भी चार-चार भेद हैं। पत्थर की लकीर-सरीखा क्रोध, पृथिवी की लकीर-सा क्रोध, धूलिकी लकीर-सा क्रोध और जलकी लकीर-सा क्रोध। इनमें से पत्थर की लकीर-सरीखा उत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध जीव को नरकगति में ले जाता है। पृथिवी की रेखा-सा क्रोध जीव को तिर्यञ्च गति में ले जाता है। धूलि की रेखा-जैसा क्रोध जीव को मनुष्यगति में ले जाता है और जलरेखा-सा जघन्य शक्तिवाला क्रोध जीव को देवगति में ले जाता है॥ ४७०॥

मान कषाय के भी शक्ति की अपेक्षा चार भेद हैं—पत्थर के खम्भे के समान, हड्डी के समान, गीली लकड़ी के समान और बेंत के समान। जैसे पत्थर का खम्भा कभी नहीं नमता वैसे ही जो मान जीव को कभी विनीत नहीं होने देता, वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान जीव को नरक-गति में जाने का कारण है। हड्डी-जैसा मान जीव को तिर्यंच गति में ले जाने का कारण है। थोड़े समय में नमने-योग्य गीली लकड़ी-जैसा अनुत्कृष्ट शक्ति वाला मान जीव को मनुष्य गति में उत्पन्न होने का कारण है और जल्दी नमने-लायक बेंत-सरीखा मान जीव को देवगति में ले जाने का कारण है॥४७१॥

इसी तरह बाँस की जड़, बकरी के सींग, गोमूत्र और चामरों-जैसी माया क्रमशः चारों गतियों में उत्पन्न कराने में निमित्त होती है। अर्थात्—जैसे बाँस की जड़ में बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं वैसे ही प्रचुर छल-छिद्रों वाली व उत्कृष्ट शक्ति वाली माया जीव को नरकगति की कारण है। बकरी के सींगों-सरीखी कुटिल माया तिर्यञ्चगति की कारण है और गोमूत्र-जैसी कम कुटिल माया मनुष्यगति की कारण है और और चामरों-सरीखी माया देवगति की कारण है॥ ४७२॥

किरमिच के रंग, नील के रंग, शरीर के मल और हल्दी के रंग-सरीखा लोभ शेष कषायों की तरह किस जीव के संसार का कारण नहीं होता? अर्थात्—किरमिच के रंग-जैसा पक्का तीव्र लोभ नरकगतिरूप

१. दीक्षायाः। २. विनाशं। ३. सदृश। ४. सार्द्र काष्ठ।

किं च । यथौषधक्रिया रिक्ता रोगिणोऽपथ्यसेविनः । क्रोधनस्य तथा रिक्ताः समाधिश्रुतसंयमाः ॥४७४॥
[1]मानदावाग्निदग्धेषु [2]मदोषरकषायिषु । नृद्रुमेषु प्ररोहन्ति न सच्छायोचिताङ्कुराः ॥४७५॥
यावन्मायानिशालेशोऽप्यात्मताम्बुषु कृतास्पदः । न प्रबोधश्रियं तावद्धत्ते चित्ताम्बुजाकरः[3] ॥४७६॥
लोभ[4]कीकसचिह्नानि चेतः स्रोतांसि दूरतः । गुणाः[5] पान्थास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिव ॥४७७॥
तस्मान्मनोनिकेतेऽस्मिन्निदं शल्यचतुष्टयम् । यतेतोद्धर्तुमात्मज्ञः क्षेमाय शमकीलकैः ॥४७८॥
षट्स्वर्थेषु विसर्पन्ति स्वभावादिन्द्रियाणि षट् । तत्स्वरूपपरिज्ञानात्प्रत्यावर्तेत सर्वदा ॥४७९॥

संसार का कारण है। नील के रंग जैसा लोभ तिर्यञ्चगति का कारण है और शरीर के मल-जैसा लोभ मनुष्यगति का कारण है एवं हल्दी के रंग-सरीखा लोभ देवगति का कारण है ॥४७३॥

क्रोध का दुष्परिणाम

जिसप्रकार अपथ्यसेवी रोगी का औषधि-सेवन व्यर्थ है उसीप्रकार क्रोधी मानव के धर्मध्यान, श्रुताभ्यास व संयम निष्फल (व्यर्थ) हैं ॥ ४७४ ॥

मान से हानि

मानरूपी दावानल अग्नि से भस्म हुए और मदरूपी खारी मिट्टी से कषायले रस वाले मनुष्यरूपी वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले नये अंकुर नहीं ऊँगते। अर्थात्—जैसे दावानल अग्नि से जले हुए व खारी मिट्टी से कषायले रसवाले वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले अंकुर नहीं ऊँगते वैसे ही घमण्डी व अहङ्कारी मानव से सद्गुण प्रकट नहीं होते ॥ ४७५ ॥

माया से हानि

जबतक जीवरूपी जलराशि में माया (छलकपट) रूपी रात्रि का लेशमात्र भी निवास रहता है तबतक उसका मनरूपी कमल-समूह विकास-लक्ष्मी को धारण नहीं करता ॥ ४७६ ॥

लोभ से हानि

जैसे पथिक लोक में गड़ी हुई हड्डियों के चिन्होंवाली चाण्डालों की सरसी (तलैया) दूर से छोड़ देते हैं वैसे ही प्रशस्त ज्ञानादि गुण, लोक में लोभरूपी हड्डियों के चिन्होंवाले मानवों के चित्तरूपी झरनों को दूर से छोड़ देते हैं। अर्थात्—लोभी के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ ४७७ ॥

मनुष्य-कर्तव्य

अतः आत्मज्ञानी पुरुष को अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए संयमरूपी कीलों द्वारा अपने मनरूपी गृह से इन क्रोध, मान, माया व लोभरूपी चारों शल्यों को निकालने का यत्न करना चाहिए ॥४७८॥ छह इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र व मन) स्वभाव से ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, अतः उन विषयों के स्वरूप को जानकर सदा इन्द्रियों को उनके विषयों से पराङ्मुख करनी चाहिए। अर्थात्—

१-२. तथा चाह सोमदेवसूरिः—'दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ५ ॥ कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥ ६ ॥ —नीतिवाक्यामृत हमारी भाषाटीका अरिषड्वर्गसमुद्देश पृ० ६१ ।

३. कमलसमूहः । ४. अस्थि । ५. पथिकाः ।

आपाते सुन्दरारम्भैर्विपाके विरसक्रियैः । [1]विर्वर्वा विषयैर्ग्रस्ते[2] कुतः कुशलमात्मनि ॥४८०॥
दुश्चिन्तनं दुरालापं दुर्व्यापारं च नाचरेत् । व्रती व्रतविशुद्धयर्थं मनोवाक्कायसंश्रयम् ॥४८१॥
अभङ्गानतिचाराभ्यां गृहीतेषु व्रतेषु यत् । रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेद्व्रतपालनम् ॥४८२॥
वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् । नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥४८३॥

[3]दृष्टानुश्राविक[4]विषय[5]वितृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमानागमानुभूतपदार्थविषया [6]संप्रमोषस्वभावा स्मृतिः तत्त्वविचिन्तनं । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधानानि यमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा नियमाः ।

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

इन्द्रियों को उनके विषयों में फँसने से बचाना चाहिए ॥ ४७९ ॥ जब आत्मा ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ग्रस्त (व्याकुल या फँसी हुई) होती है, तो उस आत्मा को कल्याण की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? जो कि विष-सरीखे तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं, अर्थात्—जैसे विष भक्षणकाल में मिष्ट प्रतीत होता है वैसे ही इन्द्रियों के विषय भी तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं और जो फलकाल में वैसे नीरस क्रियावाले (दुर्गति के दुःख देनेवाले) हैं जैसे भक्षण किया हुआ विष उत्तरकाल में नीरस (घातक) होता है ॥ ४८० ॥

व्रती कर्तव्य

व्रती पुरुष को अपने व्रतों को विशुद्ध रखने के लिये दुष्ट मन के आधार से दूसरे का बुरा चिन्तवन नहीं करना चाहिये । वचन के आधार से असत्य, निन्दा व कलहकारक वचन नहीं बोलना चाहिये और शरीर के आश्रय से बुरी चेष्टा (हिंसा व चोरी-आदि) नहीं करनी चाहिए ॥ ४८१ ॥

व्रती द्वारा जो व्रत ग्रहण किये गये हैं, उनमें न तो अतिचार लगाना चाहिए और न व्रतों को खण्डित करना चाहिए । इसप्रकार से जो व्रतों की रक्षा की जाती है उसे ही व्रतों का पालन कहा जाता है ॥४८२॥ व्रती को सदा वैराग्य की भावना करनी चाहिए । सदा तत्वों का चिन्तवन करना चाहिए और यम (वाह्य व आभ्यन्तर शौच-आदि) व नियमों (अहिंसा-आदि) के पालन में सदा प्रयत्न करना चाहिए ॥४८३॥

वैराग्य-आदि का स्वरूप

प्रत्यक्ष से देखे हुए (राज्यादि वैभव) व आगम में निरूपण किये हुए (स्वर्गादि भोगों) की लालसा से रहित हुए साधु या श्रावक का मन को वश करना वैराग्य है । प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण से जाने हुए पदार्थों का ऐसा स्मरण करना तत्वचिन्तन है, जो कि उल्लंघन करने के लिए अशक्य स्वभाव-वाला है । वाह्य व आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और ध्यान को यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये नियम हैं ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में प्रकीर्णकविधि नामका छियालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१. विर्वर्वा विषैरिव । २. आस्वादितैः भक्षितैः । ३. दृष्टाः स्वयमुपलब्धाः । ४. 'अनुश्रवे भवमनुश्राविकं श्रुतमित्यर्थः' टि० ख० च० । 'अनुश्राविकः आगमः' पं० । ५. विषयाः स्वर्गादिसंभवाः । ६. अनुल्लंघनीय स्वभावा ।

इत्येष गृहिणां धर्मः प्रोक्तः क्षितिपतीश्वर[1]। यतीनां तु श्रुताज्ज्ञेयो मूलोत्तरगुणाश्रयः ॥४८४॥
इत्थं [2]मुने[3]र्द्वितयधर्मकथावतारं श्रुत्वा तदर्भकयुगाचरणप्रचारम् ।
अग्राह् धर्ममुचितं[4] भवभावसूत्ते:[5] । सा देवता स नृपतिः स च पौरलोकः[6] ॥४८५॥

मुनिकुमारयुगलमपि क्रमेण व्यतिक्रान्तबालकालं [7]सुधाशनधर्माधिरोहणं [8]यतिवि[9]रतिवेषभाषितानल्प-विकल्पतपःप्रासादकलशाधिरोहणमतिचिरं चरित्रमाचर्य

अभयरुचिरथापत्यानुज[10]स्तत्र देवी वनरहसि[11] विधाय प्रायमैशानकल्पम् ।
धृतयतिपतिवृत्तो मारदत्तोऽपि भूपः समभजत तथैव स्वर्गलक्ष्मीविलासम् ॥४८६॥
[12]रत्नद्वयेन समलंकृतचित्तवृत्तिः सा देवतापि [13]गणिनो [14]महमाचरय्य ।
द्वीपान्तर[15]द्युनगजातजिनेन्द्रसद्म[16]वन्दारुतानुमतकामपरायणाभूत् ॥४८७॥

इसप्रकार हे मारिदत्त महाराज ! हमने यह गृहस्थ-धर्म कहा और मूलगुण व उत्तरगुणोंवाला मुनिधर्म आगम से जानना चाहिए ॥ ४८४ ॥

प्रकरण—इसप्रकार उस चण्डमारी देवी, मारिदत्त महाराज और नगरवासी जनों ने सुदत्ताचार्य से श्रावक व मुनिधर्म विषयक व कथाओं के अवतरण-वाले और दोनों शिशुओं (अभयरुचि क्षुल्लक व उनकी बहिन अभयमति क्षुल्लिका) के आचरण के प्रचारवाले धर्म को सुनकर अपनी पर्याय व परिणामों के अनुसार योग्य धर्म ग्रहण किया। अर्थात्—चण्डमारी देवी ने अपनी देवपर्याय के योग्य सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और मारिदत्त राजा व नगरवासी मानवों ने अपनी मनुष्यपर्याय के योग्य सम्यग्दर्शन व श्रावकधर्म ग्रहण किया ॥४८५॥

उस क्षुल्लक जोड़े ने भी क्रम से कुमारकाल व्यतीत करते हुए चिरकालतक ऐसा चारित्र (मुनिधर्म व आर्यिका-धर्म) पालन किया, जो कि स्वर्गलोक में स्थापित करनेवाला है और जो मुनिवेष (दिगम्बरमुद्रा) व आर्यिकावेष में कहे हुए अनेक भेदोंवाले तपरूपी महल पर कलश स्थापित करनेवाला है।

अपनी छोटी बहिन (अभयमति क्षुल्लिका) सहित अभयरुचि क्षुल्लक ने उस चण्डमारी देवी के वन के एकान्त स्थानपर यथाविधि समाधिमरण करके ऐशानकल्प नामका दूसरा स्वर्ग प्राप्त किया और श्री सुदत्ताचार्य से धर्म श्रवण करके श्रावक धर्म धारण करनेवाले मारिदत्त राजा ने भी उसी तरह स्वर्ग-लक्ष्मी का विलास प्राप्त किया ॥ ४८६ ॥

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूपी दोनों रत्नों से विभूषित मनोवृत्तिवाली चण्डमारी देवी ने भी श्री सुदत्ताचार्य की पूजा की और वह ऐसे जिन-चैत्यालयों की वन्दना करने की अनुमति-युक्त इच्छा में तत्पर हुई, जो कि दूसरे धातकी खण्ड-आदि द्वीपों पर व सुमेरुपर्वत पर अथवा ज्योतिषी-आदि देव विमानों में स्थित हैं, ॥ ४८७ ॥

---

१. हे मारदत्तमहाराज ! । २. सुदत्तसूरेः । ३. श्रावकयतिगोचर । ४. जन्मस्वभावदेवता उचितं । ५. भवे सम्यक्त्वं योग्यं, मनुजभवे सम्यक्त्वं व्रतं च । ६. धर्मं जग्राह । ७. 'स्वर्गलोक' टि० ख० । 'सुधाशना: देवाः' पं० । ८. मुनि । ९. आर्या । १०. भगिनीसहितः । ११. एकान्ते । १२. दर्शनज्ञान । १३. श्रीसुदत्तस्य । १४. महं पूजां कृत्वा । १५. 'ज्योतिरादिविमानस्थितचैत्यालय' । 'पर्वतस्थिति' टि० ख० च० । 'द्युनगो मेरुः' पं० । १६. वन्दारोर्भविः ।

ध्यानं [1]सिद्धिगिरौ विधाय स मुनिः सम्यक्सुदत्ताह्वयः कल्पे लान्तवनाम्न्यजायत सुरः सर्वामरग्रामणीः ।
अन्ये ये च यशोमतिप्रभृतयस्तेऽपि प्रकल्पितव्रताः[2] संजातास्त्रिदशेश्वराः सुकृतिभिः संकीर्त्यमानश्रियः ॥४८८॥
जयतु जगदानन्दस्यन्दी[3] जिनोक्तिसुधारसस्तदनु जयतात्कामारामः[4] सतां फलसंगमैः ।
जयतु [5]कवितादेवी शश्वत्तदत्र [6]यदाश्रया[7]स्फुरति मतिरियं सूते सूक्तं जगत्त्रयभूषणम् ॥४८९॥
[8]अभिधाननिधानेऽस्मिन्यशस्तिलकनामनि । यशोधरमहाराजचरिते स्तान्मतिः सताम् ॥४९०॥
एतामष्टसहस्रीमजस्रमनुपूर्वशः कृती *विमृशन् । [9]कविता[10]रहस्यमुद्रामवाप्नुयादासमुद्रं च यशः ॥४९१॥
श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः[11] शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः ।
तस्याश्चर्यतपःस्थितेस्त्रिनवते[12]र्जेतुर्महावादिनां शिष्योऽभूदिह सोमदेव यतिपस्तस्यैष काव्यक्रमः ॥४९२॥
विद्याविनोदवनवासिमहत्कुलेन[13] पुस्तं श्लोकैः चित्रलिपिपल्लुकेन[14] ।
श्रीसोमदेवरचितस्य यशोधरस्य सल्लोकमान्यगुणरत्नमहोदरस्य ॥४९३॥

श्री सुदत्ताचार्य ने सिद्धिगिरि (सिद्धवर कूट) पर भलीभाँति धर्मध्यान किया, जिससे वे लान्तव नाम के सातवें स्वर्ग में समस्त देवों के नेता देव हुए। सुदत्ताचार्य से व्रतधारण करनेवाले दूसरे यशोमति कुमार-आदि, पुण्यवानों द्वारा कीर्तन की जानेवाली लक्ष्मीशाली देवेन्द्र हुए ॥ ४८८ ॥

ग्रन्थकार की कामना

तीन लोक के लिए यथार्थ सुख का क्षरण करनेवाला जिनागमरूपी अमृतरस जयवन्त हो। इसके बाद सज्जनों का मनोरथरूपी वन अपनी फल-प्राप्ति के साथ जयवन्त हो। पश्चात् सरस्वती देवी अथवा कवित्व शक्ति सदा जयवन्त हो, जिसके आश्रय से यह कवि की बुद्धि (श्रीमत्सोमदेवसूरि की प्रतिभा) ऐसे सुभाषित रस (यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य रूपी अमृत) का प्रसव (उत्पत्ति) करती है, जो कि तीन लोक का आभूषण है ॥ ४८९ ॥

सुभाषितों की निधिवाले इस 'यशस्तिलकचम्पू' नामके महाकाव्य में, जिसका दूसरा नाम 'यशोधर-महाराज चरित' भी है, सज्जनों की बुद्धि प्रवृत्त हो ॥ ४९० ॥

अष्टसहस्री नामवाले (आठ हजार श्लोक परिमाणवाले) इस यशस्तिलक महाकाव्य को निरन्तर आचार्यपरम्परा का अनुसरण करके विचार करनेवाला विद्वान् कवितारूपी स्त्री का भोग प्राप्त करता है अथवा कविता के मूलतत्त्व का विश्वास प्राप्त करता है और अपनी कीर्ति को समुद्र पर्यन्त विस्तारित करता है ॥४९१॥

ग्रन्थ कर्ता की प्रशस्ति

देवसंघ के आभूषण श्रीमान् 'यशोदेव' नाम के आचार्य थे, उनके शिष्य प्रशस्त सम्यग्ज्ञानादि गुणों की निधि श्रीनेमिदेव नामके आचार्य थे। आश्चर्यकारिणी तप की मर्यादावाले और तेरानवे बार महावादियों पर विजयश्री प्राप्त करनेवाले उस नेमिदेव आचार्य के शिष्य, श्रीमत् सोमदेवसूरि द्वारा, जो कि गङ्गधारा नगरी में हुए है, रचा हुआ यह 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य है ॥ ४९२ ॥

---

१. रेवाणइम्मितीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूडे। दो चक्की दहकप्पे आहुट्ठकोडिनि वुदं वंदे ॥ २. समर्थितव्रताः । ३. श्रवणः क्षरन् । ४. अभिलाषवनं । ५. सरस्वती कवित्वशक्तिर्वा । ६. कविता । ७. कवेर्मतिः । ८. सुभाषितं । *. विचारयन् । ९. कविता एव स्त्री । १०. भोग । ११. यशोदेवः । १२. ९३ । १३. चिरसवीरेण । १४. नाम्ना लेखकेन ।

अपि च । यस्याक्षरावलिरधीरविलोचनाभि[1]राकाङ्क्ष्यते मदनशासनलेखनेषु ।
तस्मै [2]विवेकिषु न यच्छति रच्छुकाय को नाम लेखकशिखामणिनामधेयम् ॥४९४॥

शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु (अङ्कतः ८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मल्वाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वागराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमान[3]वसुधारायां[4] गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति ।

सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वासः ।

[अब लेखक का परिचय देते हैं—]

श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा रचे गए और सज्जन-समूह द्वारा प्रशंसनीय गुणरूपी रत्नों की उत्पत्ति के लिए पर्वत-सरीखे 'यशोधरमहाराजचरित' की सुन्दर लिपिवाली पुस्तक (शास्त्र) ऐसे 'रच्छुक' नामके लेखक द्वारा लिखी गई है, जिसका हृदय रूपी नौका विद्या की क्रीडारूपी जल से सुशोभित है ॥ ४९३ ॥

उस लेखक की विशेषता यह है—

जिसकी अक्षर-पङ्क्ति चञ्चल नेत्रोंवाली कमनीय कामिनियों द्वारा कामदेव के शासन लिखने में आकांक्षा की जाती है, ऐसे उस 'रच्छुक' नाम के लेखक के लिए विद्वानों के मध्य में कौन सा विद्वान् 'समस्त लेखक-शिरोमणि' नामकी पदवी प्रदान नहीं करता ? ॥ ४९४ ॥

ग्रन्थकर्ता का समय व स्थान

शक संवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) की सिद्धार्थसंवत्सर (वीरसंवत्) के अन्तर्गत चैत्रमास की मदनत्रयोदशी (शुक्लपक्ष की त्रयोदशी) में, जब [राष्ट्रकूट या राठौर वंश के महाराजा] श्री **कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) पाण्ड्य, सिंहल, चोल** व **चेरम** वगैरह राजाओं पर विजयश्री प्राप्त करके अपना राज्यप्रभाव (सैनिकशक्ति) **मल्वाटी (मेलपाटी)** नामक सेना-शिविर में वृद्धिगत कर रहे थे, तब उनके चरणकमलों का आश्रय करनेवाला चालुक्यवंशज ऐसा **अरिकेसरि** नामक सामन्त राजा था, जो कि सामन्त-राजाओं में चूडामणि-सा श्रेष्ठ है और जो पंचमहाशब्दों ? का निश्चय करनेवाले महासामन्तों का अधिपति है, उसके वागराज (वद्दिग) नाम के ज्येष्ठ पुत्र की राजधानी **गंगाधारा** नाम की नगरी में, जिसमें लक्ष्मी की कृपा से द्रव्य-प्रवाह वृद्धिगत हो रहा है, यह **यशस्तिलकचम्पू**' महाकाव्य रचा गया ।

इसप्रकार समस्त दार्शनिक विद्वत्समूह में चूडामणि-सरीखे सर्वश्रेष्ठ श्रीमत्पूज्य नेमिदेव आचार्य के शिष्य ऐसे श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा, जिनके चरणकमल तत्कालीन निर्दोष गद्य-पद्य काव्यों के रचयिता विद्वत्समूह के चक्रवर्तियों के मस्तक पर अलङ्कार रूप से शोभायमान हैं, रचे हुए 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य में, जिसका दूसरा नाम 'यशोधरमहाराजचरित है, धर्मामृतवर्षमहोत्सव नाम का यह आठवाँ आश्वास पूर्ण हुआ ।

---

१. स्त्रीभिः । २. विवेकिषु मध्ये । ३. द्रव्य । ४. नाम नगर्याम् ।

वर्णः पदं वाक्यविधिः समासो लिङ्गं क्रिया कारकमन्यतन्त्रम् ।
छन्दो रसो रीतिरलंक्रियार्थो लोकस्थितिश्चात्र चतुर्दश स्युः ॥४९५॥

इस महाकाव्य में निम्न प्रकार चौदह वस्तुएँ पाई जाती हैं, वर्ण, पद, वाक्य (पद-समूह), समास, लिङ्ग, क्रिया, कारक (क्रिया से अन्वय रखने वाला), अन्य तन्त्र (अन्य शास्त्रों के सिद्धान्त), छन्द (अनुष्टुप्-आदि), रस (शृङ्गार-आदि), रीति, अलङ्कार, अर्थ (वाच्यार्थ) और लोकव्यवहार-पटुता (नीतिशास्त्र) ॥४९५॥

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री, श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक
गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्य-
विभाग के अध्यक्ष, 'न्यायाचार्य' 'साहित्याचार्य' व कवि-चक्रवर्ती श्रीमत्मुकुन्दशास्त्री
खिस्ते के प्रधानशिष्य, 'नीतिवाक्यामृत' के अनुसन्धानपूर्वक भाषाटीकाकार,
सम्पादक व प्रकाशक, जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ,
आयुर्वेदविशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित,
सागर निवासी व परवार जैन जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री
द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेव सूरि के 'यशस्तिलकचम्पू'
महाकाव्य की 'यशस्तिलक दीपिका' नामकी
भाषाटीका में 'धर्मामृतवर्ष महोत्सव
नामका अष्टम-आश्वास समाप्त हुआ ।

इति भद्रं भूयात्--

अन्त्य मङ्गल व आत्म-परिचय

जो है सत्यमार्ग का नेता, अरु रागादि-विजेता है।
जिसकी पूर्णज्ञान-रश्मि से, जग प्रतिभासित होता है॥
जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अनुग्रह रचना है।
ऐसे 'ऋषभदेव' को हमने, शत-शत शीश नवाया है॥१॥

दोहा

सागर नगर मनोज्ञतम, धर्म-धान्य आगार। वर्णाश्रम-आचार का, शुभरूप साकार॥२॥
जैनी जन तहँ बहु बसें, दयाधर्म निजधार। पूज्यचरण वर्णी लसें, जिनसे हों भवपार॥३॥
जैन जाति परवार में, जनक 'कन्हैयालाल'। जननी 'हीरादेवि' थीं, कान्तरूप गुणमाल॥४॥
पुत्र पाँच उनसे भये, पहले 'पन्नालाल'। दूजे 'कुंजीलाल' अरु, तीजे 'छोटेलाल'॥५॥
चौथे 'सुन्दरलाल' आ, पंचम 'भगवतलाल'। प्रायः सब ही बन्धुजन, रहें मुदित खुशहाल॥६॥
वर्तमान में बन्धु दो, विलसत हैं अमलान। बड़े 'छोटेलाल' वा 'सुन्दरलाल' सुजान॥७॥
भाई 'छोटेलाल' तो, करें वणिज व्यापार। जिनसे रहती है सदा, कमला मुदित अपार॥८॥
बाल्यकाल के मम रुचि, प्रकटी विद्या-हेत। तातें हम काशी गये, ललित-कला संकेत॥९॥

चौपाई

द्वादश वर्ष साधना करी। गुरु-पदपङ्कज में चित दई॥
[1]'मातृसंस्था' में शिक्षा लही। गैल सदा उन्नति की गही॥१०॥
व्याकरण, काव्य, कोश, अतिमाना। तर्क, धर्म, अरु नीति बखाना॥
[2]वाग्मित्व-आदि कला परधाना। नानाविध सिख भयो सुजाना[3]॥११॥

दोहा

कलकत्ता कालेज की, तीर्थ उपाधि महान। जो हमने उत्तीर्ण की, तिनका करूँ बखान॥१२॥

चौपाई

पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ जानो। दूजी 'प्राचीनन्याय'[4] प्रमानो॥
तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानो। जिसमें साहित्य सकल समानो॥१३॥

---

१. श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय वाराणसी का स्नातक—सम्पादक। २. वक्तृत्वकला। ३. विद्वान्।
४. भारतीय षड्दर्शनशास्त्र।

गुरुजन मेरे विद्यासागर । ललितकला के सरस सुधाकर ॥
पहले शास्त्री 'अम्बादत्त' । जो थे दर्शनशास्त्र महत्त ॥१४॥
दूजे श्रीमद्गुरु 'गणेश' थे, न्यायाचार्य अरु तीर्थ-समान ।
वर्णी बापू थे अति दार्शनिक, सौम्यप्रकृति वा सन्त महान ॥१५॥

दोहा

सरस्वती मेरी प्रिया, उनसे हुई सन्तान । एक पुत्र पुत्री-उभय, जो हैं बहु गुणवान ॥१६॥
पत्नी मम दुर्दैव ने, सद्यः लीनी छीन । है वंशवेलि बढ़ावने, सुत 'मनहर' परवीन ॥१७॥
मेरी शिष्य परम्परा, भी है अति विद्वान । जिसका अति संक्षेप से, अब हम करें बखान ॥१८॥
पहले 'महेन्द्रकुमार' हैं, दूजे 'पवनकुमार' । 'मनरञ्जन' तीजे लसें, चौथे 'कनककुमार' ॥१९॥

चौपाई

वि० संवत् बीस सै अठ बीस, ज्येष्ठ शुक्ल तेरस दिन ईश ।
पूर्ण प्रकाशित ग्रन्थ हुआ, शुभ उद्यम का शुभ फल हुआ ॥२०॥

दोहा

अल्पबुद्धि परमादतें, भूलचूक जो होय । सुधी सुधार पढ़ो सदा, जातें सज्जन होय ॥२१॥

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ—सम्पादक

परिशिष्ट १

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

[अ]

अप्रार्थितोऽपि जायेत	४०
अथाशया कोऽपि न वर्तते ते	४९
अहोरात्रं यथा हेतुः	५३
अवक्षेपेण हि सता-	५६
अस्मादृशां स धर्मः	५८
अथास्ति भक्तिस्तत्र दैवतेषु	६०
अस्तनं विज्ञाय मृषानुरागिता	६०
अज्ञानभावादथ चापलाद्वा	६०
अथाप्यमाप्तः पर एव न स्या—	६९
असंशयं हेतुविशेषभावा—	७०
अङ्गारवत्सद्धि न जातु शुद्ध्ये—	७०
अशेषमेतद्वपुषा बिभर्ति	७०
अनुनयत वदत मधुरं	८२
अन्तःपुरे भूमिपतिर्मदान्धः	८८
अज्ञानभावादथवा प्रमादा—	८९
अन्येऽपि ये स्त्रीष्वनुरक्तचित्ता	९४
अन्यत्र कुरुते जन्तु—	११७
अहं पिता पूर्वभवेऽस्य राज्ञः	१२४
अलिकुलमिदं लूतातन्तु—	१२७
अहो विवेकशून्यानां—	१५२
अकर्ता निर्गुणः शुद्धो	१५३
अनुभवत पिबत खादत	१५३
अन्यथा लोकपाण्डित्यं	१५४
अग्निवत्सर्वभक्षोऽपि	१५४
असमाधिकरो बादर—	१५७
अकर्तापि पुमान् भोक्ता	१५८
अदृष्टविग्रहाच्छान्ता—	१५९
अशो जन्तुरनीशोऽय—	१६०
अलं दुरापहैर्नाथ	१७०
अध ऊर्ध्वं वा प्राणी	१७१
अहं प्रजानां मम दैवतेय—	१७७
अरालकालव्यालेन	१७७
अज्ञातपरमार्थानां—	१८७
अव्यक्तनरयोर्नित्यं	१८९
अनेकजन्मसंतते—	१९२
अत्यक्षोऽप्यागमात्पुंसि	१९७
अजस्तिलोत्तमाचित्तः	१९८
अदृष्टविग्रहाच्छान्ताद्	२०१
अश्मा हेम जलं मुक्ता	२०२
अनयैव दिशा चिन्त्यं	२०३
अन्योन्यानुप्रवेशेन	२०६
अप्रतिर्न्यं प्रत्यक्षिन्यं	२०७
असज्जनवचनाचामो	२०९
अर्हन्यासङ्गवैराग्य	२१०
अदेवे देवताबुद्धि—	२११
अहमेको न मे कश्चि—	२१२
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति	२१८
अपौरुष वचिवद्वेदात्	२१८
अन्तस्तत्त्वविहीनस्य	२१९
अन्तर्दुरन्तसंचारं	२३४
अभिमानस्य रक्षार्थं	२३९
अशक्तस्यापराधेन	२४६
अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्तं	२५३
अन्तःसारशरीरेषु	२६२
अलकवलयावर्तभ्रान्ता	२६७
अचिरेण भक्तिसंपत्तिः	२७०
अर्हतान्न परं तत्त्वं	२७३
अबुद्धिपूर्वापेक्षाया—	२८३
अज्ञाज्ज्ञानं स्वचिन्मोहाद्	२८८
अधर्मकर्मनिर्मुक्ति—	२९१
अल्पात् क्लेशात् सुखं सुष्ठु	२९८
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष	२९९
अणुव्रतानि पञ्चैव	३०६
अतिप्रसङ्गहानाय	३०७
अहिंसाव्रतरक्षार्थं	३०७
अमित्थं मिथ्यमुत्सर्गि	३०७
अन्यदपि भवेत्पापी	३०९
अदत्तस्य परस्वस्य	३२५
अत्युक्तिमन्यदोषोक्ति	३३४
असत्यं सत्यगं किंचित्	३३५
अल्पैरपि समर्थः स्यात्	३३९
अस्थाने बद्धकक्षाणां	३४७
अनङ्गानलसंलीढे	३५६
अनवरतमलार्द्रे	३६२
अन्तर्बहिर्गते सङ्गे	३६८
अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायाम्	३६८
अनर्थदण्डनिर्मोक्षाद्	३७५
अन्तःशुद्धिं बहिःशुद्धिं	३७६
अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन्	३७७
अर्हन्नतनुमध्ये	३८०
अपास्तैकान्तवादीन्द्रान्	३८३
अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं—	३८७
अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं	३८८
अमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्	४००
अवमतमगहनदहनं	४०२
अर्हन्तममितनीति	४०३
अनुपमकेवलवपुषं	४०३
अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर	४०३
अर्हतं तत्त्वं वदति कोऽपि	४१०
अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्	४१२
अनन्तगुणसन्निधौ	४१२
अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी	४१४

अत्रामुत्र च नियतं ४१५
अभिलषितकामधेनो ४१५
अलाभः सङ्क्लिष्टस्थैर्यम् ४१९
अरहस्ये यथा लोके ४२५
अहो मिथ्यातमः पुंसां ४२६
अकुक्षिगो विचित्रात्मा ४२६
अनुयायेत नार्यूपि ४२९
अलाबुकगुणं सर्वं ४३१
अनुपाय्यानिलोद्भ्रान्तं ४३२
अधीत्य सर्वशास्त्राणि ४३४
अपवित्रः पवित्रो वा ४३४
अत्यन्तं मलिनो देहः ४३७
अनवेक्षाप्रतिलेखन ४४४
अभयाहारभैषज्य ४४६
अभयं सर्वसत्त्वानाम् ४४७
अभक्तानां कदर्याणां ४४९
अज्ञाततत्त्वचेतोभिर् ४५२
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्यात् ४५४
अनुवीचीवचो भाष्यं ४५४
अतद्गुणेषु भावेषु ४५५
अभिमानस्य रक्षार्थं ४५७
अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं ४५८
अस्त्रधारणवद् बाह्यो ४५९
अध्यधिप्लवमारोढुं ४६१
अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु ४६५
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रैः ४६५
अहिंसः सद्व्रती ज्ञानी ४६६
अनुमान्या समुद्देश्या ४६६
अतानं क्रमेण हेयं ४६९
अदुर्जनत्वं विनयो विवेकः ४७०
असूयकत्वं शठताऽविचारो ४७०
अनुयोगगुणस्थान ४७२
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु ४७३
अनिगूहितवीर्यस्य ४७४
अन्तर्बहिर्मलप्लोषाद् ४७४
असज्ज्ञानविचाराभ्यां ४७८
अभयशर्विरखापसु— ४७९
अभिधानविधानेऽस्मिन् ४८०

[आ]

आपत्स्नानं व्रतस्नानं ६३
आतङ्कशोकामयकेतनस्य ६५
आत्मानं सततं रक्षेद् ८४
आकल्पं परिपूर्णकामितफलाः— ९४
आत्मनि सति परसंज्ञा १५५
आस्तां तवान्यदपि तावदतुल्यकक्ष १६०
आसीच्चन्द्रमतिर्यशोधरनृपस्य १६६
आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं १९४
आप्तागमपदार्थानां १९६
आत्मान्तरपरिस्थितिलोके २०१
आत्मलाभं विदुर्मोक्षं २०७
आप्तागमपदार्थाना— २०७
आप्तागमाविशुद्धत्वे २३५
आत्मनि मोक्षे ज्ञाने २४१
आधिव्याधिनिरुद्धस्य २७०
आसन्नभव्यताकर्म २८२
आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे २८४
आज्ञामार्गसमुद्भव २८५
आत्मा कर्ता स्वपर्यायै २८८
आसनं शयनं मार्ग- ३०६
आश्रितेषु च सर्वेषु ३०७
आत्मदेशपरिस्पन्दो ३११
आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे ३१२
आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् ३१२
आत्मार्जितमपि द्रव्यं ३२५
आत्मादेशप्रमाणस्य ३७४
आदौ सामायिकं कर्म ३७६
आप्तसेवोपदेशः स्यात् ३७६
आप्तस्यासन्निधानेऽपि ३७६
आप्लुवः संप्लुतस्वान्तः ३७७
आयुः प्रजासु परमं भवतात् सदैव ३९८
आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणी- ४०४
आदित्यास्तुः परं ज्योति— ४१५
आधिव्याधिविपर्यास ४१९
आत्मशः संचितं दोषं ४२३
आशास्महे तदेतेन ४२६
आत्मायं बोधिसंपत्ते— ४२८
आदौ मद्यमधुप्रान्ते ४२९
आहुस्तस्मात्परं ब्रह्म ४३२
आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां ४४५
आत्मवित्तपरित्यागात् ४५०
आदेशिकाश्रितज्ञाति ४५१
आगामिगुणयोग्योऽर्थो ४५६
आतिथेयं स्वयं यत्र ४५६
आत्माशुद्धिकरैर्यस्य ४६३
आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी ४७०
आचार्योपासनं श्रद्धा ४७१
आदितः पञ्च तिर्यक्षु ४७४
आपाते सुन्दरारम्भैर् ४७८

[इ]

इयं हि शाश्वज्जननी मदीया ६०
इत्थं वात्स्यायनगोत्रजस्य ८७
इच्छन्गृहस्यात्मन एव शान्ति ८८
इयता ग्रन्थेन मया १७८
इत्थं शङ्कितचित्तस्य २१२
इत्थं प्रयतमानस्य ३०८
इत्थं येऽत्र समुद्रकल्पसरः— ३९१
इति तदमृतनाथ स्मरवार— ४१२
इममेव मन्त्रमन्ते ४१४
इत्थं मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति ४१५
इति चिन्तयतो धर्म्यं ४२७
इत्थं नियतवृत्तिः स्याद् ४४५
इत्येष गृहिणां धर्मः ४७९
इत्थं मुनेर्द्वितयधर्मकथावतारं ४७९

[ई]

ईशानशीर्षोर्पितविश्वमाणि १२१
ईर्ते मुक्तिः यदेवाय १८७

[उ]

उरसि नखक्षतपंक्ति २०

उद्गमाः पद्मानां सदृशं प्रसन्ने ६०
उमापतिः स्कन्दपिता त्रिशूली ६८
उद्गतमकरन्दरजः १२०
उड्डीनापङ्कजडिम्भमाकुलभवन्— १२३
उल्लोलकल्लोलकरप्रचारात् १२९
उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः १७८
उच्चावचप्रसूतीनां १९७
उपाये सत्युपेयस्य २०२
उत्पत्तिस्थितिसंहार २०५
उररीकृतनिर्वाह २२२
उदस्थितेव माणिक्यं २२६
उचिते स्थानके यस्य २२६
उद्भिन्ने स्तनकुड्मले स्फुटरसे— २२७
उपगूहस्थितीकारी २४६
उपेक्षायां तु जायेत २४९
उद्भ्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन् २९९
उपकाराय सर्वस्य ३०५
उदङ्मुखः स्वयं तिष्ठेत् ३९५
उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं ४३४
उच्छिष्टं नीचलोकार्हं ४४८
उच्चावचजनप्रायः ४५१
उत्तरोत्तरभावेन ४५५
उत्तमं सात्त्विकं दानं ४५६
उपवासादिभिरङ्गे ४६८

[ऊ]

ऊर्ध्वाधोगतिहेतु— १७३

[ऋ]

ऋचः सामान्यथर्वाणि ६३

[ए]

एतदेव द्वयं तस्मात् ३३
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् ५०
एतदेवार्यशास्त्रस्य ८७
एकैकमेषां गुणमाकलय्य ८९
एकान्तमालोक्य विकीर्य केदारान् ९४
एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते— १४२
एक एव हि भूतात्मा १९४
एकः खेऽनेकधान्यत्र १९४
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः १९७
एकान्तः शाश्वतश्चैव १९९
एकान्तसंशयाज्ञानं २०७
एवमालोच्य लोकस्य २०९
एकान्तरं त्रिरात्रं वा २१०
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्व— २१२
एष एव भवेद्देवस्— २१२
एकापि समर्थेयं २२२
एकस्मिन् वासरे मद्य— २९७
एकस्मिन् मनसः कोणे ३०९
एका जीवदयैकत्र ३१२
एकेन्द्रियद्रुमसमुल्लसनाम्बुवृष्टिः ३५७
एतद्विधिर्न धर्माय ३७८
एलालवङ्गकङ्कोल ३९८
एकस्तम्भं नवद्वारं ४३८
एकं पदं बहुपदापि ददाति तुष्टा ४४१
एतामष्टसहस्रीम्— ४८०

[ऐ]

ऐश्वर्यमेकं तिमिरं नराणां— ७३
ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्— १५९
ऐदंपर्यमतो मुक्त्वा ३५५
ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्य ३५६

[औ]

औविलायाः महादेव्याः २७०
औषध्यः पशवो वृक्षास्— ३५२

[क]

को नाम न जगति जनः ४७
कृत्वा मिथं दैवमयं हि लोको ५५
को भगवन्निह धर्मो ५७
किं दर्शनमिदमाहु— ५८
क्रीत्वा स्वयं वा ह्युत्पाद्य ६६
कालश्च सकृदभ्येति ८७
कुर्वन्भूपतिमन्दिरेषु करिणा— ९१
करिमकरमुखोद्गीर्णं १२०
कूलंकषा मन्मनसी मयि स्या— १२१
किं पुष्पपुञ्जलिकरस्त्रिजगज्जनानां १४९
कार्श्यं क्षुत्प्रभवं कदन्नमशनं— १५२
कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा १६१
कायाकारेषु भूतेषु १६३
कुतश्चिच्चित्तनाशेऽपि १६५
कामधेनुरखिलोत्सवसङ्गे १७१
[illegible] १८३
कपर्दी दोषवानेव १९८
कषायाः क्रोधमानाद्यास्— २०८
क्लेशायैव क्रियामीषु २११
को देवः किमिदं ज्ञानं २३५
कादम्बलार्द्रगोसिद्ध २४५
कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषा २५३
कर्मणां क्षयतः शान्तेः २८४
क्लेशाय कारणं कर्म २८८
कर्माकृत्यमपि प्राणी २९८
कुर्वन्नप्रतिभिः सार्धं ३००
कषायोदयतीव्रात्मा ३०८
कायेन मनसा वाचा ३०८
कस्यचित्संनिविष्टस्य ३०९
क्रियान्यत्र क्रमेण स्यात् ३०९
केवलिश्रुतसङ्घेषु— ३३५
कुब्जे षष्टिरशीतिः स्याद् ३३९
कृतप्रमाणाल्लोभेन ३६८
कपिलो यदि वाञ्छति विलिमचिति ४०७
कुर्यात्करयोर्न्यासं ४१४
कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यश्— ४१९
कर्माण्यपि यदीमानि ४२३
कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान् ४३४
कलधौतकमलमौक्तिक— ४४२
काले कलौ चले चित्ते ४५२
कारुण्यादथवौचित्यात् ४५२

काम: क्रोधो मदो माया ४६४
कर्मात्मनोर्विवेक्ता य: ४६४
कर्णान्तिकेशपाश— ४६८
कदलीघातवदायुषि ४६९
कषायेन्द्रियदण्डानां ४७४
किमिनीलीवगुर्लेप ४७६

[ख]

खसुखदीपनिर्वाणे ४३१

[ग]

गलिते नितम्बदेशात् २०
गुणग्रामविलोपेषु ३२
गत्यन्तरे जन्मकृतां पितृणां ६१
गुणा: कुतस्तस्य भवन्ति गम्या: ६९
गत: स काल: खलु यत्र पुत्र: ७१
गोब्राह्मणस्त्रीमुनिदेवतानां ७२
गविष्ठिरस्यापि मया पुरस्तात् ९०
गन्धर्वाखर्वपर्वानकनिनदवदत्— १२८
गुरूपासनमभ्यासो १६५
गर्भिणीनां मन:खेदात् १६८
ग्रहगोत्रगतोऽप्येष २००
गेहिना समवृत्तस्य २०४
गतिस्थित्यप्रतीघात २०६
गोपुच्छान्तनमस्कार २११
गृहस्थो वा यतिर्वापि २८६
गृहकार्याणि सर्वाणि ३०६
ग्रामस्वामिस्वकार्येषु ३१०
गोवधे सुरभिं हन्याद् ३५२
गुणै: सुरभितात्मान— ४३१
गुल्फोत्तानकराङ्गुष्ठ— ४४०
ग्रामान्तरात्समानीतं ४४८
गृहस्थो वा यतिर्वापि ४५३
ग्राम्यमर्थं बहिरवान्तर् ४६४
गहनं न शरीरस्य हि ४६७
गृही यत: स्वसिद्धान्तं ४७३

[घ]

घृष्यमाणो यथाङ्गार: १५३

[च]

चक्षुषि लाक्षाराग: २०
चत्वार एते सहजा: समुद्रा ६४
चपलकलहंसबालक १२०
चिरञ्चिमनिरीक्षणा— १२१
चित्तं स्वभावमृदु कोमलमेतदङ्ग- १७४
चित्ते चिन्तामणिर्यस्य २२६
चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिज— २५४
चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैः— २५७
चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य २७१
चक्रिश्री: संश्रयोत्कण्ठा २८७
चण्डोऽवन्तिषु मातङ्ग: ३०५
चित्तं द्वयो: पुरत एव निवेदनीयं ३६०
चेतनाचेतनासङ्गाद् ३६७
चित्तस्य चित्तचिन्तायां ३६८
चित्ते चित्ते विशति करणे— ३९४
चित्तं न विचारकमक्षजनितम् ४०९
चित्तस्यैकाग्रता ध्यानं ४१६
चित्तेऽनन्तप्रभावेऽस्मिन् ४१८
चक्षु:परं करणकन्दरदूरितेऽर्थे ४४२
चिन्तामणिस्त्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्या: ४४२

[छ]

छत्रं ददामि किमु चामरमुत्क्षिपामि ३९०

[ज]

जरैव धन्या वनिताजनानां ४६
जीव: को यतीते ५८
जन्मैकमात्माधिगमो द्वितीयं ६१
जातिर्जरामृत्युरथामयाद्या ७४
जलदेवीकरयन्त्रे— १२०
जलान्मुक्तानल: काष्ठात्— १६४
जलादिषु तिरोभूता— १६४
जैनागमोचितमुपास्य तपश्चिराय १७२
जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि १९३
ज्वालोरुवकजीवादे: १९४
जैनमेकं मतं मुक्त्वा २०३
जले तैलमिवैतिह्यं २४०
जिने जिनागमे सूरौ २७१
जीवन्तु वा म्रियन्तां वा २८८
जीवयोगाविशेषेण ३००
जातयोऽनादय: सर्वास्— ३७८
जिनसिद्धसूरिदेशक ३८७
जन्मस्नेहच्छिदपि जगत:— ३९८
जय निखिलनिलिम्पालापकल्प ४०५
जय लक्ष्मीकरकमलाच्चिताङ्ग ४०६
जगन्नेत्रं पात्रं निखिलविषय— ४१३
ज्योतिर्बिन्दु: कला नाद: ४२०
जन्तोरनन्तसंसार ४२५
ज्वलदङ्गनमाधत्ते ४२५
जाने तत्त्वं यथैतिह्यं ४२८
जन्मयौवनसंयोग ४२९
जगतां कौमुदीचन्द्रं ४३२
ज्योतिरेकं परं वेध: ४३२
जीव: शिव: शिवो जीव: ४३७
ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञ: ४५३
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि ४६२
जातिर्जरा मृति: पुंसां ४६६
जीवितमरणाशंसे ४६९
जातिपूजाकुलज्ञान— ४७१
जीवाजीवपरिज्ञानं ४७१
जीवस्थानगुणस्थान ४७३
जयतु जगदानन्दस्यन्दी— ४८०

[त]

तद्ध्यानस्थिति जातकल्मषमुषि १
त्वं मन्दिरद्रविणदारतनूरुहाद्यैर्— ४७
तज्ज्ञाने क उपाय: ५८
तैरेव गर्भवासे ५८
तिलसर्षपमात्रं यो ६५
तथा मांसं श्वचाण्डाल ६७
तत्रोपदेश: खलु किं नु कुर्या— ७१
तदस्य दु:स्वप्नविधे: शमार्थं ७१

[त]

तिलैर्व्रीहियवैर्माषै— ७३
तथाप्यमीभिः कुदालोपदेशं— ९०
तदेतदित्थं मम दुर्नयेन ९०
तथा सुतेन स्नुषया च मात्रा ९४
त्वं सर्वस्य सदागतिर्जिनपते— ९६
तरुणीचरणास्फालन १५२
तदहर्जस्तनेहातो १६३
तत्त्वं गुरोः समधिगम्य यथार्थरूपं १६६
त्वं वीर वैरिवनितानयनेन्दुकान्त १७१
तथागमान्मुनेर्मान्यात् १७९
तदहर्जस्तनेहातो १९०
तुच्छोऽभावो न कस्मापि १९३
तदामूर्तिहतो तस्य १९४
तथाप्यत्र तदावासे १९४
त्रैलोक्यं जठरे यस्य १९८
तत्त्वभावनयोद्भूतं २०२
ते तु यस्त्वदमन्येत २०३
तथापि यदि मूढत्वं २११
तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे २१२
तत्कुदृष्टयन्तरोद्भूता— २२६
तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां २३१
तदैतिह्ये च देहे च २३१
तत्संस्तवं प्रशंसां वा २३५
तपसः प्रत्यवस्यन्तं २४९
तद्दानज्ञानविज्ञान २५८
तृणकल्पः श्रीकल्पः २६५
तद्व्रतविद्यया वित्तैः २७१
तुण्डकण्डूहरं शास्त्रं २९२
तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो २९९
तद्द्रव्यदातृपात्राणां ३०२
तच्छाक्यसांख्यचार्वाक ३०२
तत्राहिंसा कुतो यत्र ३०८
तपोगुणाधिके पुंसि ३०८
तत्सत्यमपि नो वाच्यं ३३४
तुरीयं वर्जयेन्नित्यं ३३६
तथा कुर्वन् प्रजायेत ३३६
तपोऽर्थमिर्यहर्पायिर् ३३६
तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः— ३८७
ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो— ३८८
त्वं सर्वदोषरहितः सुनयं वचस्ते ३९०
तथापि स्वस्य पुण्यार्थं ३९५
तीर्थकर्मनिसुवर्णदेवेनोर्ः ३९६
तदपि वदेयं किमपि जिन त्वयि ४०५
तदलमतुलत्वाद्दुर्वाणी— ४१२
तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ ४१६
तैरदत्तमामरं मार्त्यं ४१६
तस्य कालं वदन्त्यन्तर् ४१८
तत्कालमपि तद्ध्यानं ४१९
तन्नास्ति यदहं लोके ४२०
ताः शासनाधिरक्षार्थं ४२३
तच्छासनैकभक्तानां ४३३
तद्धामबद्धकक्षाणां ४३३
तपः श्रुतविहीनोऽपि ४३४
तोयमध्ये यथा तैलं ४३७
तालद्विभागमध्याङ्घ्रिः ४४०
तत्रैरत्यर्थसान्वार्यं ४४३
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं ४४७
तपोदानार्चनाहीनं ४५१
तदुत्तमं भवेत्पात्रं ४५२
ते नामस्थापनाद्रव्य ४५५
तत्तद्गुणप्रधानत्वाद् ४६१
तत्त्वे पुमान् मनः पुंसि ४६४
तदूदलमिव परिपक्वं ४६७
तस्मान्मनोनिकेतेऽस्मिन् ४७७

[द]

दत्त्वाक्षतमिदमधरे २०
द्वेषं गच्छत्युपेक्षायां ३३
देवस्यापि वचः प्रायः ४३
दुःस्वप्नशङ्का तव चेदवास्ति ५०
दोषस्त्वमीषां पुनरेक एव ५२
देवाभिषेकार्चनवन्दनानि ६१
द्वयेन मार्गेण जगत्प्रवृत्तं ६१
दाहच्छेदकषाशुद्धे ६८
दत्तानुपात्रं सकलैः प्रमाणी— ९८
देवेषु चान्येषु विचारचक्षु— ६९
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन ७३
दश मासांस्तु तृप्यन्ति ७३
देवैर्मनुष्यैरथ राक्षसैर्वा ८७
दैवे तु पुंसः प्रतिकूलवृत्तौ ९१
देवार्चनारम्भविधौ जनानां १२१
दण्ड एव हि नीचानां १३२
द्वादशवर्षा योषा १५३
दशानोऽमितः कुर्वन् १५७
दृष्टाल्पगालत्त्वमदृष्टमेव १६३
देहात्मिका देहकार्या १६५
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन् १८६
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन् १८६
दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येयाः १८७
दूराग्रहग्रहग्रस्तो १८७
दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्वं १८८
द्रुहिणाधोक्षजेशान १९७
दाहच्छेदकषाशुद्धे १९९
द्वैताद्वैताश्रयः शाक्यः २००
दृष्टादृष्टमवैत्यर्थं २०२
दैवमादौ परीक्षेत २०४
दृष्टेऽर्थे वचसोऽध्यक्षा— २०४
दर्शनाद् दुरितध्वंसी २११
दोषं गूहति नो जातं २४६
दण्डो हि केवलो लोकं २५१
द्विविधं त्रिविधं दशविधं— २८३
दृष्टिहीनः पुमानेति २८६
देशतः प्रथमं तत्स्यात् २९२
देशतः सर्वतो वापि २९२
दृतिप्रायेषु पानीयं ३००
द्विजाण्डजनिहन्तृणां ३०१

देवतातिथिपित्रर्थं ३०६
दर्शनस्पर्शसंकल्प ३०७
द्विदलं द्विदलं प्राश्यं ३०७
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः ३०८
दर्पेण वा प्रमादाद्वा ३१०
द्वादशाङ्गधरोऽप्येको ३१०
दैवादायुर्विरामे स्यात् ३१२
दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः ३३६
देहद्रविणसंस्कार ३५५
दिग्देवालयदण्डानां ३७४
दिक्षु सर्वास्वधःप्रोर्ध्व ३७४
दिग्देशनियमादेवं ३७४
दन्तधावनशुद्धास्यो ३७८
द्वे हि मार्गे गृहस्थानां ३..
दानज्ञानचरित्रसंयमनय— ३९१
दूरारूढे प्रणिचितरणा— ३९२
देहारामेऽप्युपरतधियः— ३९३
देहेऽस्मिन् विहितार्चने नितरां— ३९७
द्राक्षाखर्जूरचोचेक्षु ३९७
देवपूजामनिर्माय ४०४
दिविजकुञ्जरमौलिमन्दार— ४०५
दीक्षासु तपसि वचसि त्वयि तु ४११
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुख— ४११
देवं देवसभासीनं ४३०
देवं जगत्त्रयीनेत्रं ४३३
दीपहस्तो यथा कश्चित् ४३६
दधिभावगतं क्षीरं ४३६
दग्धे बीजे यथात्यन्तं ४३६
दध्नः सर्पिरिवात्माऽयम् ४३७
दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां ४४२
देवागारे गिरौ वापि ४४३
दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य ४४५
दातृपात्रविधिद्रव्य ४४६
दातानुरागसंपन्नः ४४६
दानमन्यद् भवेन्मा वा ४४७
दधिसर्पिः पयोभक्ष्य ४४९
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः— ४५०
दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः ४५३
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर् ४५५
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी ४६५
द्वादशवर्षाणि नृपः ४६८
देवसेवा गुरूपास्तिः ४७१
दुश्चिन्तनं दुरालापं ४७८

[ध]

ध्यानानुष्ठानशक्तात्मा ४३
धर्मे प्रमाणं खलु वेद एव ६०
धूर्तेषु मायाविषु दुर्जनेषु ८३
धत्ते यद्दिविकिरावीर्ण ११५
धर्मकर्मण्यतोऽप्येष १७०
धर्मोत्कलिव जन्तु— १८२
धर्माधर्मौ नभः कालो २०६
धर्मच्छिद्मभुजां धर्मे २९८
धर्मभूमौ स्वभावेन ३०३
धनाशाविद्धबुद्धीनाम् ३६७
धर्मं योगिनरेन्द्रस्य ३८७
ध्यानावलोकविगलत्तिमिरप्रतानं ३९०
धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ ४०४
धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ४०८
ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ४२९
ध्यायेद्वा वाङ्मयं ज्योतिर् ४३४
ध्यायन्निदम्यस्य देहेऽस्मिन् ४३४
ध्यानामृतान्नतृप्तस्य ४३९
धूमवन्निर्वमेत् पापं ४३९
धर्मेषु स्वामिसेवायां ४५०
धर्मकर्मफलेऽनीहो ४६३
ध्यानं सिद्धिगिरौ— ४८०

[न]

नयननदनिदानैरश्रुप्रवाहैः १३
नार्थिनि मलिनमुखत्वं २१
नीचैर्वृत्तिर्येषां २१
नैता रूपं प्रतीक्षन्ते ३१
नार्पयन्ति मनः सङ्गे ३३
न श्मशानान्तकसंपर्कात् ४२
निष्कण्टकं राज्यमिदं प्रवृद्ध— ४९
नवं वयश्चारुतरास्तरुण्यो ५२
न कुर्वीत स्वयं हिंसां ५४
न तर्पणं देवपितृद्विजानां ५९
नामापि पूर्वं न समस्त्यमीषा— ६०
निर्निमित्तं न कोऽपीह ६१
न स्त्रीभिः संगमो यस्य ६३
निघ्नन्ति निःसंशयमेव भूपाः ७१
न कापि पुंसः पुरुषार्थसिद्धिः ७२
न मांसभक्षणे दोषो ७३
नान्येषु पापं मनसा विचिन्त्यं ७४
नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो— ७६
नरेषु संकल्पवशेन मन्मथो ७९
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो ८६
न चापि मे संगति विनीतचेतसः ८९
नृत्यैः समं वारविलासिनीनां ९१
न व्रतमस्थिग्रहणं ९२
नभः परिच्छेत्तुमिवोद्यतस्य ९७
नमेरुसंतानकपारिजात ९७
निमेषिताक्ष्यः कपिलनयन— १०७
निर्लेपमूर्तं सदा पुंसि १५८
न हि वै सशरीरस्य १५९
न केवलं तच्छुभकृन्नृपस्य १६१
नमस्यामो देवान्ननु हतविधे— १६२
नाहं नैव परो न कर्मभिरिह— १६३
नेत्रे विलासविरले शरपाकपाण्डु १६७
नग्नत्वं सहजं लोके १७०
नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह १८५
निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः स्याद् १८९
न्यस्तदीक्षाविनिर्मोक्षे १९२
निर्बीजतेव तन्त्रेण २००
नियतं न बहुत्वं चेत् २०२
निराधारो निरालम्बः २०८
नैव लग्नं जगत्क्वापि २०८

निष्पन्दाविविधौ वक्ते	२१०
नैष्किचन्यमहिंसा च	२१०
न स्वर्गापि स्थितेर्भुक्ति—	२१०
नदीनदसमुद्रेषु	२११
न स्वतो जन्तवः प्रेर्या	२११
नवैः संदिग्धनिर्वाहैः—	२४९
न वेदादपरं तत्त्वं	२७२
निसर्गोऽधिगमो वापि	२८२
निश्चयोचितचारित्रः	२८७
नात्मा कर्म न कर्मात्मा	२८८
निहत्य निखिलं पापं	३११
न स्तूयादात्मनात्मानं	३३६
न व्रतमस्थिग्रहणं	३४६
निष्कामं कामकामात्मा	३५४
नित्यं स्नानं गृहस्थस्य	३७६
नरोरगसुराम्भोज	३८१
नेत्रं हिताहितालोके	३८६
नन्द्यावर्तस्वस्तिक	३९८
नमन्नमरमौलिमण्डल—	४०४
नमदमरमौलिमन्दिरतटान्त	४०६
निजबीजबलान्मलिनापि	४०६
नासेषु महत्त्वं यः सहेत	४११
निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि	४१२
नियमितकरणग्रामः	४१४
नाक्षमित्वमविघ्नाय	४१६
नरेऽधीरे वृथा धर्म	४१७
निर्विचारावतारासु	४१७
निर्मनस्के मनोहंसे	४१८
नाभौ नेत्रे ललाटे च	४२१
निरञ्जनं अमाधीशं—	४३०
नम्रामरकिरीटांशु—	४३०
नीरूपं रूपिताशेष—	४३०
न ते गुणा न तज्ज्ञानं	४३३
नाभौ चेतसि नासाग्रे	४३७
न खात्कृतिर्न कण्डूतिर्—	४४०
न कुर्याद् दूरदृक्पातं	४४०
नवोपचारसंपन्नः	४४७
नाहरन्ति महासत्त्वाः	४४९
नतेर्गोत्रं श्रियो दानाद्	४६१
निर्ममो निरहंकारो	४६३
[प]	
पुष्पोत्क्षिप्तशिलीमुखावलिरभूत्	२१
प्रियोपचारसंचारे	३३
पौंश्चल्याच्चलचित्तत्वात्	३५
पातालमूलं स भुजङ्गपालो	४६
परोपरोधादयमेवमात्मा	५३
प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे—	५६
पुत्रस्य पित्रानुचरस्य भर्त्रा	६१
पर्वतीर्थातिथिश्राद्ध	६१
पद्मिनी राजहंसाश्च	६४
परेषु योगेषु मनीषयान्धः	६५
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं	६६
प्रसिद्धिरस्त एतस्य	६७
प्रमाणं व्यवहारेऽपि	६७
पुराणं मानवो धर्मः	६८
पिबेदिदं मद्यमृतं विचिन्त्य	७४
परस्य जीवेन यदि स्वरक्षा	७४
पुंसामसारसत्त्वानां	८२
प्रायः सरलचित्तानां	८२
प्रशास्ति यः श्रोतृवशेन धर्मं	८९
प्रवर्तते यो नृपतिः खलानां	८९
प्रतिक्षणं संशयितासुधो ये	९०
प्रजाविलोपो नृपतीच्छया स्यात्	९०
पिष्टं च मांसं परिकल्प्य तस्य	९४
पाताले पादमूलोपलविलसदहि—	९९
पार्श्वः पल्लवलुण्टनं करटिभिः—	१०२
प्रवणशरणागतोद्धरणकुलगौरेयः	१०६
प्रासादमण्डनमणौ रमणीविनोदे	१०९
पादान्तलक्ष्मीरपरः पयोधिः	१२९
प्रपञ्चरहितं शास्त्रं	१५४
पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं	१५४
यः परमत्यात्मानं	१५५
पयोधरभरालसाः—	१५५
पश्यन्ति ये जन्म मृतस्य जन्तोः	१५६
पृथिव्यादिवदात्माय—	१६३
पुंसि तिष्ठति तिष्ठन्ति	१६४
पित्तप्रकृतिर्धीमान्	१६५
पापिष्ठं पापहेतुर्वा	१७०
प्रायः संप्रति कोपाय	१८७
पात्रार्थेशादिवन्मन्त्रा—	१८८
पिहिते कारागारे	१९०
परस्परविरुद्धार्थं	१९८
पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये	२०४
पूर्वापरविरोधेन	२०४
प्रेर्यते कर्म जीवेन	२०६
प्रकृतिस्थित्यनुभाग	२०६
पाणिपात्रं मिलत्येतच्	२१०
परीषहव्रतोद्विग्न	२४९
पुण्यं वा पापं वा	२६७
पुण्यायापि भवेद् दुःखं	२८९
प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः	२९०
पुण्यं तेजोमयं प्राहुः	३०८
परिणाममेव कारणं	३०९
प्राय इत्युच्यते लोकस्—	३१०
पञ्चकृत्वः किलैकस्य	३२४
परप्रमोषतोषेण	३२६
पादमायान्निधिं कुर्यात्	३२७
प्रियशीलः प्रियाचारः	३३५
परस्त्रीराजविद्विष्ट	३३५
पुराणं मानवो धर्मः	३५२
परस्त्रीसंगमानङ्ग	३५५
प्राप्तेऽर्थे ये न गाहन्ति	३६८
पापाख्यानाशुभाध्यान	३७४
पोषणं क्रूरसत्त्वानां	३७५
पादजानुकटिग्रीवा	३७७
प्रत्नकर्मविनिर्मुक्तान्	३८२
पुष्पं त्वदीयचरणार्चनपीठसङ्गाच्	३९०
पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य	३९१

प्रस्तावना पुराकर्म ३९५
पात्र: पूर्णाम्कुम्भान् ३९६
पुष्पद्रुमरचिरमयं नवपल्लवश्रीष ३९७
पुण्योपार्जनशरणं ४०२
प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन ४०४
परिमाणमिवालिशायेन वियति ४०७
पुरुषत्रयमवलासकसमूर्ति ४०९
पातालमर्त्यखेचर— ४१३
पुष्पैः पर्वभिरम्बुज— ४१३
प्रभावैश्वर्यविज्ञान— ४१८
परे ब्रह्मण्यनूचानो ४२४
प्रमाणनयनिक्षेपैः ४२५
प्रक्षीणोभयकर्माणं ४२८
प्रभवं सर्वविद्यानां ४३०
प्रणिधानप्रदीपेषु ४३२
परापरपरं देव— ४३३
पञ्चमूर्तिमयं बीजं ४३५
पद्ममुत्थापयेत् पूर्व ४३५
पुष्पामोदो तरुच्छाये ४३८
पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्— ४४३
पुंसः कृतोपवासस्य ४४३
परिमाणं तयोः कुर्यात्— ४४४
पलाण्डुकेतकीनिम्ब ४४५
परलोकधिया कश्चित् ४४६
परलोकैहिकौचित्ये— ४४६
प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजा ४४८
पुष्पादिरशनादिर्वा ४५१
पात्रे दत्तं भवेदन्नं ४५२
पात्रापात्रसमावेक्ष्यम् ४५६
प्रश्रयोत्साहनानन्द ४५८
परिग्रहपरित्यागो ४६१
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्याः ४६५
प्रतिदिवसं विजहद्‍ल ४६७
पुंसो यथा संशयिताशयस्य ४७०
प्रत्यासमानस्वभावाः स्युः ४७५
पाषाणभूरजोवारि ४७६

[फ]

फलैस्तरूणाममृतानुकूलै— ९७
फल्गुजन्मायमं देही ४१७

[ब]

बालस्य मोग्ध्यान्न तपोऽधिकारो ५३
बालाग्रकोटावपि यत्र सङ्गे ६५
बलादमीभिर्विषयैर्वराकः ७३
बहिर्मुकुलमुत्थानः ८३
ब्रह्माजिह्मितमण्डला हरिकुल— ११६
बन्धमोक्षौ सुखं दुःखं १५७
बुद्धिं प्रति यदीष्येत १६५
ब्रह्मपुत्रविधिना सह माया १७२
बहिः शरीराद्यद्रूप— १८६
बोधो वा यदि वानन्दो १९२
बाह्ये ग्राह्ये मलापायात् १९३
ब्रह्मैकं यदि सिद्धं स्यात् १९४
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं २०७
ब्रह्मचर्योपपन्नाना— २०९
बालवृद्धगदग्लानान् २३४
बहिः क्रिया बहिष्कर्म २८७
बहिष्कायसमर्थेऽपि २९०
बहिस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन् ३५४
ब्राह्मणक्षत्रे पुंसि ३६८
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य ३७७
बहिर्विहृत्य संप्राप्तो ३७७
बोधापगाप्रवाहेण ३८४
बोधोऽवधिःश्रुतमशेषनिरूपितार्थ— ३८९
बोधत्रयविदितविधेयतन्त्र ४०६
बहिरन्तस्तमोवातै— ४१७
बोध्यागमकपाटे ते ४२५
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु ४५३
बहिस्तपः स्वतोऽस्येति ४५९

[भ]

भवति कचसहयोगात् २०
भूर्धनुर्दृष्टयो बाणाः ३३
भूमिलोऽपि चरेद्धर्मं ५६
भवबीजाङ्कुरमथना ६४
भूता भविष्यन्ति भवन्ति चान्ये ७०
भवन्नकृदमावहितो हि लोकः ७४
भ्रश्यत्कर्णावतंसकाः सरलित— १२२
भोगमागाहुः प्रकृतिमृगयर— १६०
भावः क्वापि भवेत्प्राज्ञो १७०
भेदोऽयं यद्यविद्या स्याद् १९१
भ्रंक्षनर्तननर्तनदयं १९८
भसिभस्मजटाबोट २३४
भूपयःपवनाग्नीनां ३१०
भूर्जे फलके सिचये ३८०
भोगभ्यन्तरमर्त्यभास्करसुर— ३९१
भवदुःखानलशान्तिः ३९२
भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः ३९४
भक्त्या नतामरशिरः ४०१
भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः— ४०४
भूपवनवनानलतत्वकेतु ४०७
भूमौ जन्मेति रत्नानां ४१८
भेदं विवर्जिताभेद— ४२७
भुवमानन्दसंस्थाना— ४३१
भोज्यं भोजनशक्तिश्च ४५०
भयलोभोपरोधाद्यैः ४५१
भुक्तिमात्रप्रदाने हि ४५४
भावपुष्पैर्यजेद्देवं ४६५

[म]

मनसिजकलभोऽयं नूनमस्मिन् प्रदेशे २१
मधुपर्के न यज्ञे च ५०
मर्त्येषु चेत् सप्तसु नाकिनां वा ६१
मोक्षार्थमुत्सुकधियां नराणां ६२
मक्षिकागर्भसंभूत ६६
मानवं व्यासवासिष्ठं ६८
मताः समा मन्मथलक्ष्मविद्भि ७२
मन्त्रेण शस्त्रैर्जलपीडनाद्वा ७५
मूर्च्छा वहति लोकोऽयं ८२
मया वागर्थसंभारे ९५

मध्यमनुकूल्यमधुकर १२०
मन्दस्पन्दीभवति हृदये— १३०
मेरुस्पर्द्धिविबुद्धगन्धशिखरो— १४९
मदनशरचित्रकान्तैं १५१
मलकलुषसायातं— १५९
महदपि पाप विचलति १७३
मार्दवाधिकतरं कलधौतं १७४
मायारामसमा रमा सुखमिदं १७५
मन्त्रवन्नियतोऽप्येपो २०६
मनोवाक्कायकर्माणि २०८
मायासंयमिन्युत्सर्पे २४९
महापद्मसुतो विष्णु— २८१
मायानिदानमिथ्यात्व २८६
मूलश्रयं मदाश्चाष्टौ २८७
मतिजागर्ति दृष्टेऽर्थे २९०
मद्यमांसमधुत्यागः २९४
मद्येन यादवा नष्टा २९४
मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः २९४
मनोमोहस्य हेतुत्वात् २९४
मद्यमांसमधुप्रायं २९९
मांसादिषु दया नास्ति २९९
मक्षिकागर्भसंभूत २९९
मद्यादिस्वादिगेहेषु ३००
मांसं जीवशरीरं ३००
मैत्रीप्रमोदकारुण्य ३०८
मनसा कर्मणा वाचा ३१०
मदेर्ष्यासूयनादि ३११
मन्दिरे पदिरे नीरे ३२५
मोक्षमार्गं स्वयं जानन् ३३५
मन्त्रभेदः परीवादः ३३५
मुखस्वादं शरीरं स्याद् ३३९
महोक्षो वा महाजो वा ३५१
मानवं व्यासवासिष्ठं ३५२
मृषोद्यादीनवोद्योगात् ३५३
मदनोद्दीपनैर्वृत्तैर् ३५४
मथ्यं घृतमुपादेयं ३५५
मन्मथोन्मथितस्वान्तः ३६७
ममेदमिति संकल्पो ३६७
मृत्स्नयेष्टकया वापि ३७५
मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं ३८५
मिथ्यातमःपटलभेदनकारणाय ३८९
मिथ्यामहान्धतमसावृतमप्रबोध ३९०
मनोमात्रोचितायापि ३९२
मद्भावलक्ष्मीलतिकावनस्य ४००
मन्दमदमदनदमनं ४०२
मनुजत्वपूर्णनयनायकस्य ४११
मनुजदिविजलक्ष्मी— ४१३
मन्त्राणामखिलानां— ४१४
मन्त्रोऽयमेव सेव्यः ४१५
मृत्युंजयं यदन्तेषु ४२१
मार्गं [illegible]मनुप्रेक्षाः ४[illegible]
महाभागोऽहमद्यास्मि ४२९
मन्त्रोऽयं स्मृतिवाराभिः ४३४
मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं ४३६
मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानां— ४४२
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु ४५२
मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैः— ४५३
मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ४५४
मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि ४५७
मुनीनां व्याधियुक्तानां ४५८
मूलव्रतं व्रतान्यर्चा ४६१
मानमायामदामर्ष ४६२
ममेदं स्यादनुष्ठानं ४७३
मानदावाग्निदग्धेषु ४७७

[य]

यदर्थं च मही त्यक्ता ४५
यावज्जरा जरयति न शरीरशक्ति ४७
यातु द्विपत्वसमदः समीक्षितुं ४८
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः ५०
यद्युपचितमन्यजन्मनि ५२
यदीय पुण्यस्य सुकर्ममायां ५४
यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् ५४
यो दद्यात्काञ्चनं मेरुं ५४
यथात्मनि शरीरस्य ५५
यावन्ति पशुरोमाणि ५५
यः कार्यवादेषु करोति संवां ६०
येनापि केनापि मिषेण मान्यैः— ६१
यावत्समर्थं वपुरुद्धतायां ६५
यथाजनाकूतमयं प्रवृत्तः ६६
यो भाषते दोषमविद्यमानं ६९
युवा निजादेशनिवेशितश्रीः ७१
यथा जलैः पङ्कजिनीदलानां ७२
यथा मम प्राणिवधे भवत्या ७४
यथोच्छिन्नाण्डा मण्डूकी ८८
यतो यथार्थं वदतां नराणा— ९०
यत्तुङ्गशृङ्गाग्रविलम्बिबिम्बः ९७
यश्चित्रमेघाम्बरमण्डिताङ्गः ९७
यदग्रिमोद्गमस्थूल ११५
यस्याः प्रवाहः सरितः प्रकामं १२१
यत्र सुखं वा दुःखं १२७
यत्राम्बुधिः पुष्करवत् स्थिताङ्के १२९
यः कोपः सापराधेषु १३२
यामेवं प्रादुष्यद— १४८
यथा स्नेहक्षयाद्दीपः १५५
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्— १५७
यः स्याद्यद्यपि सर्वयौक्तिकनय— १७७
यस्मादभ्युदयः पुंसां १८२
यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते १९३
यत्र नेत्रादिकं नास्ति १९३
यस्तत्त्वदेशनाद् दुःख १९७
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे १९७
यद् दृष्टमनुमानं च १९९
येऽविचार्य पुनर्देवं २०४
यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र २०९
ये प्लावयन्ति पानीये— २०९
यदेवाङ्गमशुद्धं स्या— २१०
यतः समयकार्यार्थी २४९
यद्रागादिषु दोषेषु २८४

यज्जानाति यथावस्थं २९०
यच्चिवज्जनुपान्धस्य २९०
यदर्थों दर्शितेऽपि स्यात् २९०
यदपरत्र करोतीह २९१
यस्तु लौल्येन मांसाशी ३०२
यस्स्यात्प्रमादयोगेन ३०६
यदन्तः सुषिरप्रायं ३०७
यौतवन्यूनताधिक्ये ३२५
यदपरस्य प्रियं कुर्यात् ३३६
यथा यथा परं वेलम् ३३६
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः ३५१
यस्य हस्तद्वयेऽप्यस्मिन् ३६८
यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्ति ३७८
यद्देवैः शिरसा धृतं गणधरैः— ३८८
यश्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः ३८९
येषां [illegible]— ३९२
येषामन्तस्तदमृतरसा— ३९३
येषामङ्गे मलयजरसैः ३९३
योगाभोगाचरणचतुरे ३९३
येषां ध्येयाधायकुवलया— ३९४
यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ३९५
यस्य स्थानं त्रिभुवनशिरः ३९६
मार्गेऽस्मिन् नाकनाथ ज्वलन पितृपते ३९७
येषां कर्मभुजङ्गनिर्विषविधौ ३९८
यत्रौंमुद्रावसुधभाग्भिरुपास्य देवं— ४०३
यस्त्वाममितगुणं जिन ४०५
यदेन्द्रियाणि पञ्चापि ४१६
यथायमिन्द्रियग्रामो ४१७
यद्यप्यस्मिन् मनःक्षेत्रे ४१८
यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं ४२०
योऽविचारितरम्येषु ४२१
यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि ४२३
यः स्खलत्यल्पबोधानां ४२६
यदा चकास्ति मे चेतस् ४२९
यो दुरागमदुर्दर्शो ४२९
यजमानं सदर्थानां ४३१
यं समध्यात्ममार्गेषु ४३२
यत्र यत्र हृषीकेऽस्मिन् ४३५
यायाद् व्योम्नि जले तिष्ठेत्— ४३७
यस्याः पदद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं ४४०
यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि ४४०
या स्वल्परचनापि मितप्रवृत्तिः ४४१
यद् बीजमल्पमपि सज्जनधीधरायां ४४१
या स्पष्टताधिकविधिःपरतन्त्रनीतिः ४४१
यः सकलैर्व्यक्तं भावः ४४४
यमश्च नियमश्चेति ४४४
यथाविधि यथादेशं ४४५
युक्तं हि श्रद्धया साधु ४५१
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां ४५२
यत्र रत्नत्रयं नास्ति ४५२
[illegible] ४५४
यदारम्भवर्णनप्रायं ४५६
यद्दत्तं तदमुत्र स्याद् ४५७
यदज्ञानी युगैः कर्म ४५९
यो हताशः प्रशान्ताशः ४६२
यः पापपाशनाशाय ४६३
यः कर्मद्वितयातीतः ४६३
योऽवगम्य यथाम्नायं ४६३
योऽप्रमत्तैस्त्रिविश्वस्तः ४६४
यमनियमस्वाध्यायाः ४६८
यो मदात् समयस्थानाम् ४७१
यथौषधक्रिया रिक्ता ४७७
यावन्मामानिशालेशो ४७७
यस्याशरावलि— ४८१

[र]

रमयति मनो नितान्तं २०
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः ५३
रागद्वेषमदोन्मत्ताः ६२
रजस्तमोभ्यां बहुलस्य पुंसः ७४
रत्नभावं समस्तानां ८३
राज्यस्थितं मामवहाय यैषा ८९
रक्तप्रान्तविलोललोचनयुगः— १२७
रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य १४७
रागाद्युपहतः शंभुः १५९
रसः क्षोणी यत्ना— १६०
रत्नायस्कान्तवातादे १६१
राजन्यशेखरनृपतिः पलितं विलोक्य १७२
रागाद्वा द्वेषाद्वा १९७
रागादिदोषसंभूति— १९७
रागरोषभरे नित्यं २८४
रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं २९२
रिक्थं निधिनिधानोत्थं ३२५
रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्री ३२६
रक्ष्यमाणे हि बृंहन्ति ३५४
राज्यं प्रवर्तते तस्य ३६२
रक्षन्निदं प्रयत्नेन ३७४
रत्नत्रयपुरस्काराः ३८०
रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ ३९५
रूपे मगति चित्तेऽपि ४१९
रेणुवज्जन्तवस्तत्र ४२६
रूपं स्पर्शं रसं गन्धं ४३५
रज्जुभिः कृष्यमाणः स्याद् ४३९
रसां संहरणं सृष्टि ४३९
रत्नद्वयेन समलंकृतचित्तवृत्तिः ४७९
रसत्यागैकभक्तैक ४४१
रेचयाल् क्लेशराशीनाम् ४६३

[ल]

लज्जा न सज्जा कुशलं न शीलं ६५
लोके विनिन्द्यं परदारकर्म ७४
लोलेन्द्रियैर्लोकमनोनुकूलैः ७५
लोलेन्द्रिया दुराम्नायाः १७०
लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः २५४
लङ्घनौषधसाध्यानां ३११
लक्ष्मीकल्पलते समुल्लस जना— ४००
लाभेऽलाभे वने वासे ४२४
लेपतोऽपि मनो यावद् ४२५

लोकचित्तकवित्वार्थैर् ४५४
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिर् ४५७
लोमशीकसचिह्नानि ४७७

[व]

विषवत् परिपाकेषु ३३
विमाननाच्च मान्यानां ५६
विमत्सरः कुचेलाङ्गः ६२
विष्णोर्मार्गगता मयाश्च सवितु– ६४
वदन्ति जैनास्तमिहाप्तमेते ६५
विचक्षणः किं तु परोपदेशे ७१
विषं विषस्यौषधमग्निरग्ने ७२
विलासिनीविभ्रमदर्पणानि ७२
विशील: कामवृत्तो वा ८६
विहाय शास्त्राण्यनमस्य मन्त्रिणो ८९
विज्ञानिनां शिल्पविशेषभावा– ९४
वैराग्य द्रुताः प्रहिता हि यावद् ९४
विहाय देहस्य सुखानि येषां १५४
वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः १५५
व्याक्रोशी व्यापहासी वा १५७
विश्वव्यापी भवेदात्मा १५८
विशुद्धज्ञानदेहाय १५८
वक्ता नैव सदाशिवो विकरणत् १५९
विधिर्विधाता नियतिः स्वभावः १६१
विहितकर्मकरार्थीनां १६१
विरुद्धगुणसंसर्गा– १६४
विज्ञानसुखदुःखादि १६५
वृद्धिहानी यथाग्नेः स्ता– १६५
वने वा नगरे वापि १७०
विधाय विधिवत्सूरेः १७९
विस्मयो जननं निद्रा १९७
वसुदेवः पिता यस्य १९८
विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात् २००
वक्ता नैव सदाशिवो विकरणत् २०१
वामदक्षिणमार्गस्थो २०३
वाग्विशुद्धापि दुष्टा स्याद् २०४
विकारे विदुषां द्वेषो २१०
वरार्थं लोकवार्तार्थं– २११
वस्तुन्येव भवेद् भक्तिः २११
विशुद्धमनसां पुंसां २५२
विद्याविभूतिरूपाद्याः २८७
विशुद्धवस्तुधीर्दृष्टि– २८७
वृत्तमग्निवपायो धीः २९२
विविदत्स्वेकेवलं शुद्धर्थं ३०१
विकथाक्षकषायाणां ३०६
वपुषो वचसो वापि ३०९
वधूवित्तस्त्रियौ हित्वा ३५३
विषवद्विषयाः पुंसाम् ३५४
विष्णुगुरोः कल्पेन ३६०
वधबन्धनसंरोध ३७४
वञ्चनारम्भहिंसानाम् ३७५
वातातपादिसंसृष्टे ३७७
विचार्य सर्वमेतिह्य ३८२
वाग्देवतावर इवायमुपासकानां– ३९४
वीतोपलेपवपुषो न मलानुषङ्ग ३९५
विज्ञानप्रमुखाः सन्ति विमुक्तिं ४०८
वचसा वा मनसा वा ४१४
विपक्षे क्लेशराशीनां ४१८
वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिः ४१९
विलीनाशयसंबन्धः ४२८
व्योम, च्छायानरोत्सङ्गि ४३३
विक्षेपाक्षेपसंमोह– ४४०
विशुध्येद्यान्तरात्मायं ४४४
विषमं विरसं विद्धं ४४८
बालग्लानतपःक्षीण– ४४९
विवेकं वेदयेदुच्चैर् ४६६
विप्रकीर्णार्थवाक्यानाम् ४७०
वेणुमूलैरजाशृङ्गैर् ४७६
वैराग्यभावना नित्यं ४७८
विद्याविनोदवनवासित– ४८०
वर्णाः पदं वाक्यविधिः समासो ४८२

[श]

श्रीमानस्ति समस्तवस्तुविषय– १
श्रुतान्यधीतानि मही प्रसाधिता ४२
शुक्रशोणितसंभूत– ५५
श्रमणं संकलिताङ्गं ६३
शौचं निकामं मुनिपुंगवानां ६५
शूद्राम्नं शूद्रशुश्रूषा ६७
श्रुतास्ते देवः श्रुतमेतदस्मा– ६९
श्रियां मनोदर्पकरैर्विलासैः– ७३
शूरोऽपि सत्त्वयुक्तोऽपि ८३
श्रीमानशेषभुवनाधिपतिर्जिनेन्द्रः– ६६
श्रीविलासोत्सवस्खलितसुरसमितयः १०५
श्रीरेषा स्वर्गसिन्धो– १४८
शिवं शक्तिविनाशेन १५४
शुद्धोऽपि देहसंबद्धो १५८
श्रीमानभ्यन्तरे सूरिः १७९
श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेयः– १८८
शून्यं तत्त्वमहं वादी १९१
श्रुति वेदमिह प्राहु– २०३
श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात् २०४
शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्य– २१२
शृङ्गारसारममृतद्युतिमिन्दुकान्ति २२८
श्रुतिशास्त्रविदाम्नायाः २३४
शौचं मज्जनमाचामः २३५
शारीरमानसागन्तु २८४
शुद्धमार्गमतोद्योगः २८९
शुद्धं दुग्धं न गोमांसं ३०१
शरीरावयवत्वेऽपि ३०१
शोकसंतापसंक्रन्द ३०८
श्रीभूतिः स्तेयदोषेण ३३४
शिखण्डिकुक्कुटश्येन ३७४
शुद्धे वस्तुनि संकल्पः ३७६
श्रीकेतनं वाग्वनितानिवासं ३९४
शुद्धविशुद्धबोधस्य ४००
श्रद्धा शुचिर्भक्तिर् ४४८
शाठ्यं गर्वमवज्ञानं ४४९
शिल्पिकारुकवाक्पण्य ४५०
शाक्यनास्तिकयागज्ञ ४५१

श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेयः ४५७

शारीरमानसागन्तु ४५७

श्रुतासत्त्वपरिज्ञानं ४५८

शब्दैरिहोनं गौः शुद्धा ४५९

श्रुते व्रते प्रसंख्याने ४६३

शुचिर्विनयसंपन्नः ४७२

शिलास्तम्भास्थिसार्द्रैश्म— ४७६

श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको— ४८०

[ष]

षट्कर्मकार्यार्थमथाश्रुतार्थं ६२

षण्मासांश्छागमांसेन ७३

षट्चरणचलितजलरुह— १२०

षट्शतानि नियुज्यन्ते ३५१

षष्ठ्याः क्षितेस्तृतीयेऽस्मिन् ३७३

षडत्र गृहिणो ज्ञेयाः ४६१

षोडशानामुदारात्मा ४६५

षट्स्वर्गेषु विसर्पन्ति ४५७

[स]

स्तनकलशकपोलभुजगा २१

स्त्रीषु साक्षाद्दिवं दृष्टौ ३३

सकृद्विज्ञातसारेषु ४२

सत्यं न धर्मः क्रियते यदि स्याद् ५१

स्वयं कृतं जन्तुषु कर्म नो चेत् ५२

सन्तर्पणार्थं द्विजदेवतानां ५५

स्वकृतैः कर्मभिरेष ५८

स्नात्वा यजेतासमयागमं वा ६२

सरित्सरोवारिधिवापिकासु ६२

समग्रं शशिना दृष्टः ६३

संदिग्धेऽपि परलोके ६६

सप्तधामेषु यत्पाप— ६६

सद्यः प्रतिष्ठितोवल्ले ६७

सर्वस्थितिप्रत्ययवन्हारवृत्ते— ६९

स्वयं स कुष्ठी पद्मोः किलार्कः ७१

संवत्सरं तु गव्येन ७३

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं ८५

सर्वेषु सत्त्वेषु हतेषु यन्मे ९४

सैवेयं नगरी तदेव भवनं— १०४

सस्यसंपत्तिसंक्षिप्तसीमाभुवः १०५

समरभरभागिभटभावधादोत्कटाः १०५

सौसेभसौधशिखराश्रयशातकुम्भ १०६

सिंहः सुखं निवसतादचलोपकण्ठे ११०

संगमपुरच्छायं १२१

स्तेनद्विपद्विपव्याल— १२५

स्वामिद्रोहः, स्त्रीवधो बालहिंसा, १२७

सुखदुःखानुभवार्थी १२७

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं १५६

स्तौतु निन्दतु वा लोको १५७

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं १५८

स्वयं कर्म करोत्यात्मा १६२

सोऽहं तदेव पात्रं १६२

संतानो न निरन्वये विसदृशे— १६२

सुखानुभवने मग्नो १७०

स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा १८२

सम्यक्त्वज्ञानचारित्र— १८३

सम्यक्त्वं भावनामाहु— १८३

सम्यक्त्वज्ञानचारित्र १८३

सर्वं चेतसि भासेत १८९

स्वभावान्तरसंभूति— १९०

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं १९६

स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति १९७

सदा शिवकला रुद्रे १९८

सिद्धान्तेऽन्यत् प्रमाणेऽन्यत् १९९

सर्गावस्थितिसंहार २०२

समस्तमुक्तिनिर्मुक्तः २०४

सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति २०४

सद्भावे कापालिकात्रेयी २१०

सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं २११

समयान्तरपाखण्ड २११

स्यां देवः स्यामहं यक्षः २२६

स्वस्यैव हि स दोषोऽयं २३१

स्वतः शुद्धमपि व्योम २३१

स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं २३१

सवित्रीव तनूजाना— २४६

स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसून २५६

सुदतीसङ्गमासक्तं २५७

समर्थश्चित्तविक्षाम्या— २५७

स्वाध्याये संयमे संघे २७०

सन्नसंश्च समावेश २७५

स्वमेव हन्तुमीहेत २७५

सरागवीतरागात्म— २८३

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य २८४

सम्यक्त्वं नाङ्गहीनं स्याद् २८६

स्वतः सर्वं स्वभावेषु २८८

सुखदुःखानिधासानि २८९

सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता २९२

सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्त २९२

सर्वदोषोदयो मद्यान् २९४

समुत्पद्य विपद्येह २९४

स्वभावाशुचि दुर्गन्ध— २९८

स सुखं सेवमानोऽपि २९८

स पुमाननु लोकेऽस्मिन् २९८

स भूभारः परं प्राणी २९८

स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः २९८

स विद्वान् स महाप्राज्ञः २९८

स धर्मो यत्र नाधर्मः २९९

स्वकीयं जीवितं यद्वत् २९९

स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद् ३०१

संकल्पपूर्वकः सेव्ये ३०६

संधानं पानकं धान्यं ३०७

सा क्रिया कापि नास्तीह ३०८

संक्लेशाभिनिवेशेन ३२५

सुप्रयुक्तेन दम्भेन ३२९

सत्यवाक् सत्यसामर्थ्याद् ३३६

सर्वा क्रियानुलोमा स्यात् ३५४

स्वाध्यायध्यानधर्माद्याः ३५५

सा दूतिकाभिमतकार्यविधौ नृपाणां ३५८

स्त्रीषु सम्यात्र गङ्गेव ३५९

स्त्रीणां वपुर्वेन्द्युभिरग्निसाक्षिकं ३६१

समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा ३६७
सहसंभूतिरप्येव ३६७
स श्रीमानपि निःश्रीकः ३६७
सत्पात्रविनियोगेन ३६८
संभोगाय विशुद्धधर्मो ३७६
सर्वारम्भविजृम्भस्य ३७७
स्वजात्यैव विशुद्धानां ३७८
सर्व एव हि जैनानां ३७९
संसाराम्बुधिसेतुबन्धमसम— ३८८
सम्यग्ज्ञानत्रयेण प्रविदितनिखिल— ३९६
समवसरणसारालङ्कृ— ३९२
सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेत— ३९६
स्मररसविमुक्तसूक्ति ४०२
स्वर्गापवर्गसंगतिविधायिनं ४०३
सुरपतियुवतिश्रवसाम् ४०५
स्तोत्रे यत्र महामुनिपक्षाः ४०५
सुरपतिविरचितसंस्तव दलिता— ४०५
सोऽहं योऽभूवं बालवयसि ४०९
सर्वाक्षरनामाक्षर— ४१३
संपूर्णमतिस्पष्टं ४१५
सूक्ष्मप्राणयमायामः ४१६
संयोगे विप्रलम्भे च ४२४
सुखामृतसुधासूतिः ४२९
सम्यग्गतरसुखाम्भोधेर् ४३०
सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्यं ४३०
स्तूयमानमनूचानैर् ४३०
स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा ध्यानं ४३५
सर्वपापास्रवे क्षीणे ४३६
साकारं नश्वरं सर्वं ४३७
संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्याम् ४३९
स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया ४४२
स्नानगन्धाङ्गसंस्कार ४४३
सौख्यमभयादाहु— ४४७
सत्कारादिविधावेषां ४५२
समयी साधकः साधुः ४५३
सर्वारम्भप्रवृत्तानां ४५४
साकारे वा निराकारे ४५५
सौमनस्यं सदाचार्ये ४५८
सुविविक्तज्ञानमेवास्य ४५९
स्वरूपं रचना शुद्धिर् ४६०
सार्वं सर्वमनिषिद्ध ४६०
संसाराग्निशिखाच्छेदो ४६४
सा जातिः परलोकाय ४६६
स शौचो यः शिवात्मा ४६६
सविधा पापकृतेरिव ४६७
सोऽहं त्रिज्ञात्र चम्पुषु ४६८
सूरी प्रवचनकुशले ४६९
स्नपनं पूजनं स्तोत्रं ४७१
सम्यक्त्वं ज्ञानमन्तानु— ४७६

[ह]

हताः कृपाणेन वनेऽपि जन्तवो ५५
होमस्नानतपोजाप्य ५६
हिताहितविवेकि जगति सर्गतः ६७
हरिः पुनः क्षत्रिय एव कश्चिच ७०
हिमालयादक्षिणदिक्कपोलः ९७
हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं १८९
हेयोपादेयरूपेण २०५
हासादिपतुष्टवतुर्यस्मिन् २३०
हिताहितविमोहेन २९४
हेतुशुद्धेः श्रुतेर्वाक्याद् २९६
हेयं पलं पयः पेयं ३०१
हिंसास्तेयानृताब्रह्म ३०६
हिंसायामनृते चौर्या— ३०६
हिंसनाब्रह्मचौर्यादि ३११
हिरण्यपशुभूमीनां ३११
हृच्चीरिव हृतप्रीतिः ३५४
हिंसनं साहसं द्रोहः ३५५
होमभूतबली पूर्वैः ३७८
हस्ते स्वर्गसुखान्यलंकितभवास ३८९
हेतावनेकधर्मप्रवृद्धि— ४१०
हस्ते चिन्तामणिस्तस्य ४४४

[क्ष]

क्षीयेतायं क्षयाल्लोकः १४१
क्षुत्पिपासाभयं द्वेषः— १९७
क्षयाक्षयैकपक्षत्वे २०५
क्षतत्रपुत्रोऽत्रविक्षिप्तः २२५
क्षान्त्या सत्येन शौचेन २४६
क्षुद्रमत्स्य. किलैकस्तु ३०४
क्षयामयसमः कामः ३५५
क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु ३६७
क्षान्तियोषिति यो सक्तः ४६४

[त्र]

त्रसस्थावरभेदेन २०६
त्रयीमार्गं त्रयीरूपं ४३१

[ज्ञ]

ज्ञानवानपि कार्येषु ८२
ज्ञानध्यानतपःपूताः १७०
ज्ञानादवगमोऽर्थानां १८८
ज्ञानहीने क्रिया पुंसि १८८
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे १८९
ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित् १९६
ज्ञाता द्रष्टा महान् सूक्ष्मः २०६
ज्ञानदर्शनशून्यस्य २०६
ज्ञाने तपसि पूजायां २४७
ज्ञातुरेव स दोषोऽयं २९१
ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा २९१
ज्ञातॄणामल्पमेव चित्त— ३२५
ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव— ३८९
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे ४५३
ज्ञानभावनया हीने ४५९
ज्ञानी पटुस्तदेव स्याद् ४५९
ज्ञानं क्षमा दया ब्रह्म ४६४
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर् ४६५
ज्ञानहीनो दुराचारो ४६६

परिशिष्ट २

अप्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्द-निघण्टुः

[श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दि. जैन सरस्वती भवन नागौर (राजस्थान) की श्रीदेव-विरचित यशस्तिलक-पञ्जिका के आधार से संकलित]

शब्द — अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
तत्त्वधानलिपि—सा सर्वकर्मनिर्मूलिनी ध्यानलिपिः इत्यस्य*	१—३
त्रैलोक्यक्षुभि—त्रैलोक्यं क्षोभयतीति	१—३
दत्तयाभककुभि—कृतमेव ककुप्सु तस्मो लोको यत्र	१—३
ब्रह्मतरुः—पलाशः	२—२
ललान्तं—पुष्पं	२—३
वृक्षोत्पलः—[illegible]	३—३
अवस्कन्दः—[1]बाधा	३—८
दितिसुतशत्रुः—हरिः	४—१
ब्रह्मासनं ध्यानं—	४—१
वारुणी—मदिरा [पश्चिमा] दिग् वा	४—२
मन्दरगिरिः—अस्ताचलः	४—२
दरम्—ईषत्	४—५
सुरनदीसंभेदः—गङ्गा-यमुना-संगमः*	४—७
[2]कृष्णागुरुपिञ्जरिलकर्णपालीषु—	४—८
नीलोपलः—इन्द्रनीलः	५—४
तुलाकोटिः—नूपुरं	५—४
कृष्णला—गुञ्जा	५—५
प्रदोषः—शयनयोग्यः	५—७
मुनिद्रुमः—अगस्तिः	६—१
सुपाटी—पुस्तकावयवः	६—१
अभिनयः—पूर्ववृत्तानुकरणं शय्यागमनकालश्च	६—२
धेनुष्याः—उत्तमगावः	६—४
रम्भितं—गोध्वनिः	६—४
दुश्च्यवनः—शक्रः	६—६
हरिहस्ती—ऐरावणः	६—७
खण्डपरशुचूडामणिः—खण्डपरशुरीश्वरस्तच्चूडामणिश्चन्द्रः	६—८
गिरिजसुहृत्—समुद्रस्य चन्द्र एव	७—१
उद्दण्डाः—कल्लोलाः	७—१
*विरहिणी—विरहोत्कण्ठिता	७—२
सितिमा—श्वेतत्वं	७—३
मलमता—धवलता	७—३
जडिमा—जडत्वं	७—४
कलधौतं—रजतेऽपि	७—६
जतु—लाक्षा	७—७
रदी—दन्ती	७—९
नमुचिरिपुः—इन्द्रः	८—१
गणितिः—गणना	८—१
कुमुदपक्षः—चन्द्रः	८—४
कुमुदबंधुः—चन्द्रः	
सितं—कर्पूरं	८—६

*. वृत्तं वा हि निविष्टं वा प्रसिद्धं वा तथा क्वचित् । परामृशति तच्छब्दो मुख्यं वा भाव्यमेव च ॥ १ ॥

१. 'रात्रिसंबन्धिनी धाटी' सं० टी० पृ० ७—२ ।

*. कथं सुरनदी यमुनेतिचेत् ? गङ्गासन्निधानात् तया च गङ्गुवपनं देवनद्योर्यदन्तरमिति ।

२. कृष्णागुरुपिञ्जरितकर्णानां पाल्यः पर्यन्तास्तास्वेवमुत्तरत्रापि योज्यं, न पुनरेवंविधं गृहीतव्यं कृष्णागुरुपिञ्जरिताश्च ताः कर्णपाल्यश्चेति । नीलोत्पलादेरन्यत्र कर्मधारयस्य महाकवीनामसम्मतत्वात् ।

*. तथा चोक्तं—'अनेककार्यव्यासङ्गाद्यस्या नागच्छति प्रियः । तस्या नाम सुदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता मता' ॥ १ ॥ सं० टी० पृ० १३ क्र० ९—१० ।

शब्द — अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
आपणाः—अट्टाः विपणयश्च*	९–५
संचारिका—दूती	९–९
अवग्रहः—वृष्टिप्रतिबंधोऽस्माच्चन्द्रात्	१०–२
[1]उत्पातरविमंडलात—इति विशेषणमनुपपन्नमप्यु-पपन्नमेव	१०–३
प्रवसितपथिकवनिता—प्रोषितभर्तृका	१०–४
अन्तर्वंशिकाः—राज्ञीरक्षणनियुक्ताः	१२–६
निःशेषभाषाः—मागध्यवन्तिकादयः[2]	१३–१
खदिरिका—धूर्ता	१४–१
गृहावग्रहणी—देहली	१४–६
आकेकराः—कटाक्षाः	१४–७
वशा—करिणी	१४–८
सहेलं—युगपत् सलीलं वा	१४–८
सान्द्रः—विलेपनविशेषः	१५–३
कूर्चस्थानं—संभोगोपकरणस्थापनप्रदेशः	१५–४
संचारिमा—संचारेण निर्वृत्ता संचारिमा*	१५–५
तुहिनं—कर्पूरं	१५–५
दलीका—पट्टिका	१५–५
साराः—पासकाः ? खदिरादिवृक्षविशेषाः[3]	१५–७
कुतपं—वाद्यं	१५–७
आचमनकानि—उदकपात्राणि	१५–७
कलमूकाः—षण्ढाः	१५–७
अधिरोहिणी—निःश्रेणिः	१५–८
सरणिः—मार्गः	१५–८
[4]अन्तरान्तरेत्यादि—मध्ये मध्ये	१६–१
उपधानम्—उपाशीर्षकं, उच्छीर्षकं	१६–२
अमरासुरगुरू—बृहस्पतिशुक्रौ	१६–३
संवेशः—सुरतं	१६–४
सागराम्बरा—भूः	१६–६
[5]वासकसज्जिका—शृङ्गारकारिणी	१७–६
[6]दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुतः—इत्यनेनेदमुक्तम्	१८–४
[7]पारिप्लवं—चपलत्वं	१८–५
अनन्यजः—कामः	१८–६
परिभाषा—संभाषणं शास्त्रं च	१९–१
उपोद्घातः—विवक्षितस्य वस्तुनोऽवतारणक्रमः	१९–१
*अनुतन्त्राणि—पश्चात् सुरतानि पक्षे वार्तिकानि	१९–१
मकरन्दपानेनेत्यादिना—अधरग्रहणं तल्लंघनं	१९–२
नखप्रदानालिङ्गनसंवेशनानि—कुचपरामर्शन ताडनसुरतावसानानि निवेदितानि ध्वनेरलंकारस्याश्रयणात्※	१९–२ से १९–५
अपश्चिमं—चरमं	२०–२
अन्तः करणं—मनः	२२–१
उपविश्राय—कृत्वा	२२–४
वैहायकं—कारटकं	२२–७

*. स एव काश्मीरमलयजागुरुशब्दस्य परिनिपातो लक्षणं हेत्वोः क्रियायाः इति ज्ञापकात् ।

१. तदाह—अभिधेयस्यातथ्यं तदनुपपन्नं निकाममुपपन्नमेव यत्र स्पुर्वक्तृणामुन्मादोऽव्यर्थमुक्तं वा ।

२. तथा चोक्तम्—मागध्यवन्तिका प्राच्या सौरसेन्यर्धमागधी । वाल्हीकी दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः ।

सं० टी० पृ० २५ से संकलित—सम्पादक ।

*. शेषिकोऽयं मि–म प्रत्ययः । ३. संशोधितः परिवर्तितश्च—सम्पादकः

४. अन्तरान्तरेत्यादिवाक्यस्य सुहृदस्य उत्फुल्लकमलेत्याद्युपमानचतुष्टयं यथासंख्यं योज्यं ।

५. तथा चोक्तं—उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा । मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥ १ ॥

६. तथा चोक्तं स्वरोदयशास्त्रे—'दाक्षिणात्योऽनिलः श्रेयान् कामसंग्रामयोर्नृणां ।

क्रियास्वन्यास्वन्यः स्याद्गमनादौ प्रभञ्जनः' ॥ १ ॥

७. देखिए पृ० १८ की टिप्पणी नं० २ ।

*. संस्कृतटीकामनुसृत्य संशोधितं परिवर्तितमिदं पदं—सम्पादकः यतः पञ्जिकाकारस्तु केवलं 'वार्तिकानि' आह ।

※. ध्वन्यलंकारः ।

तथा चोक्तं—'अन्यार्थवाचकैर्यत्र पदैरन्यार्थ उच्यते । सोऽलंकारो ध्वनिर्ज्ञेयो वक्त्राशयसूचनात् ॥ १ ॥

शब्द — अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
आकूतपरिपाकं—अभिप्रायावसानं	२२–११
पदवी—मार्गः	२३–१
अपाश्रयः—शय्यास्थानं	२३–२
कटङ्कराः—वृक्षशाखाः	२३–३
यवसं—तृणं	२३–३
अनुपदीना—उपानत्	२३–४
नासीरं—नासाग्रमपि	२३–६
वराटकाः—कपर्दिकाः	२३–७
धमनी—सिरानद्धं	२३–७
किटिका—कुटीरद्वारपिधानं	२३–८
गोनसः—सर्पः	२३–८
शिपालिः—करः	२३–८
पिण्डिकाः—जङ्घाप्रदेशाः	२३–९
घुण्टिका—गुल्फं	२३–१०
विपादिकाः—पादस्फुटनरेखाः	२३–१०
*विचर्चिका पादस्फोटाः	
मण्डूरं—लोहमलं	२४–१
[1]अष्टवङ्कः—अष्टवङ्क नामधेयः लेसिकापसदः	२४–५
लेसिकाः—हस्तिपकाः	२४–५
अश्लीलं—ग्राम्यं	२४–६
विधुंतुदः—राहुः	२४–७
संबंधः—आशयः	२४–८
वासतेयी—रात्रिः	२४–९
परवती—परायत्ता	२४–१०
तपनः—कामः	२४–१०
कात्यायनी—चण्डिका	२५–३
वेलजं—द्वारम्	२५–६
दुरभिसन्धिः—दुरीहितं	२५–७

शब्द — अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
मामीयं—मातुलीयं	२६–८
अर्थगलः—[2]अर्थमाचक्षाणस्य	२७–२
वारबाणं—कूर्पासकः (कञ्चुकमिति सं. टी.)	२८–१
कौसीद्यम्—आलस्यं	२८–७
निषादी—व्याधः	२८–७
अवगणा—एकाकिनी	२८–१०
असंस्तुताः—अपरिचिताः	३०–४
कच्चरं—कुत्सितं	३०–४
पाण्डुरपृष्ठी—कुलटा निर्भाग्या वा	३१–३
किंपाकः—विषतरुः	३२–१
हरिद्रारागहृदयः—अस्थिरचित्तः	३२–४
*समार्चिः—अग्निः	३३–८
कैकसी—राक्षसी	३३–९
अनुश्रवः—लौकिकी श्रुतिः	३४–५
अहल्या—गौतमभार्या	३४–६
उपपतिः—जारः	३५–१
उपप्रलोभ्य—वशयित्वा (लोभं दर्शयित्वा सं. टी.)	३५–७
उपानत्कारः—चर्म्मकारः	३६–३
अनुपनीतं—अकृतसंस्कारं	३६–३
गोगर्मुन्निवारणं—गोमक्षिकाणामपनयनाय चीरवल्कलव्यजनं	३६–४
कादम्बरी—मदिरा	३७–६
जनुषा—जन्मना	३७–७
अनर्थः—धनधर्मक्षयादि	३७–७
अजिह्मानि—ऋजूनि	३७–८
कलानां—गीतनृत्यवाद्यादीनां	३७–९
पारित्रकं—परकीयं	३७–१०
[3]अपामार्गः—प्रत्यक् पुष्पं ?	३९–५

*. पुष्पाङ्कितं पदं संस्कृतटीकातः संकलितं—सम्पादकः

१. उक्तं च—'कटिपादहस्तवक्षः पृष्ठाननकण्ठनिटिलदेशेषु वक्रो यस्मात्तस्माद्विज्ञेयो ह्यष्टवङ्क इति ।

संस्कृतटीका पृ० ४१ से संकलित—सम्पादक

२. याचमानस्य सं० टी० । *. 'असितार्चिरग्निः' इति ह० लि० क प्रतौ० ।

३. 'शेखरिकर्दजमिव प्रचटिकेव' सं० टी० पृ० ६९ ।

शब्द — अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
श्रायसं—श्रेयस्करं	३९–११
तपस्या—प्रव्रज्या	३९–११
घङ्घलं—व्यसनं	४०–८
मृषोद्यं—मिथ्योक्तिः	४०–८
[1]महोदयकर्मणे—श्रेयसे	४०–८
माया—परवञ्चनोपायः	४०–९
मातुः—निजजनन्याः	४०–१३
मारः—कामदेवसदृशः	४०–१३
गुणमयी नाम—सत्त्वरजस्तमोभिर्निर्वृत्तत्वात्	४२–३
दोषमयी—शारीरी-वातपित्तकफैर्निर्वृत्तत्वात्	४२–३
लोकालोकाचल इव—उदयाचल इव अस्ताचल इव	४४–१
रसाला—मज्जिका—शिखरिणी	४४–३
नगः—गिरिः	४४–७
निगमो—मार्गः	४४–८
गोपुराणि—नगरद्वाराणि	४४–८
उत्तानवेदी—अस्थिरः	४५–१
औषस्यं—प्राभातिकं	४५–२
गोसर्गं—प्रत्यूषः	४५–२
परिष्वङ्गः—संबंधः	४५–३
उद्गमनीयं—धौतं	४५–४
ईषत्प्राग्भारः—मोक्षः	४५–६
यातयामं—वृद्धं	४५–१०
उपसंव्यानं—उत्तरीयं	४६–२
अवर्जितम्—अवनतं	४६–४
तनूरुहः—पुत्रः	४७–३
आयच्छन्ते—निर्गच्छन्ति	४८–६
स्वोपज्ञं—स्वकृतं	४८–९
दृष्टितं—स्वप्नः	४८–९
प्रतीक्ष्याः—पूज्याः	४८–१०
स्नुषा—वधूः	४८–११

शब्द — अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
श्लेष्मविप्रुषः—रक्षार्थं निष्ठीवनकणिकाः	४९–१
बुधसङ्घः—विचक्षणः	४९–२
आचारान्धः—मूर्खः	४९–२
अनलः—पित्तं	४९–४
पीनसः—कफः	४९–४
आर्याणी—स्वामिनी	४९–५
भूदेवः—द्विजः	४९–६
मन्दविसर्पिणी—यूका	४९–१२
कारोरी—अप्रसूता गौः	५०–६
उदर्कः—आयतिः	५१–१
कर्करः—पाषाणः	५१–१
पूर्वपक्षः—आद्यो विकल्पः 'निष्कण्टकमित्यादि निरीक्षितोऽस्ति' इत्यन्तः	५१–४
गर्भः—शुक्रार्तवजीवसंयोगः	५१–७
अवसानं—मरणं आत्मनो विवक्षितैः शरीरेन्द्रियविषयैर्वियोग इति यावत्	५१–७
तयोरन्तरे—मध्ये	५१–७
चित्तमित्यादि—आत्मस्वरूपभेदद्वारेण द्रवोष्णतात्मकत्वात् पृथिवीपवनपावकानां, ज्ञानसुखादिरूपत्वाच्चात्मनः	५२–१
शिवाः—अनन्तरायाः	५२–४
अमीषां—वयः प्रभृतीनां	५२–६
तत्र दण्डः—अलुप्तप्रजननस्य प्रव्रजतः पूर्वः साहसदण्ड इति वचनं	५३–१
मध्यः—मध्यमवयाः	५३–१
राजपक्षान—राजचिह्नवानपरो नरः	५३–४
गव्ययः—दुःस्वप्नशाकुन्त्यादिकः	५३–५
विश्वामित्रसृष्टिः—वर्णसंकरादिकः	५४–२
अनपत्रपः—अविरुद्धः	५४–६
प्रग्रहः—स्वीकारः	५६–८

१. तदुक्तं—न नर्मयुक्तं ह्यनृतं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ १ ॥
इति कर्णपर्वणि जिष्णुं प्रति कृष्णोक्तिः सं० टी० पृ० ७२ से संकलित—सम्पादक

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
दर्शः—अमावास्या	५६–११
पौर्णमासी—पौर्णमासी	५६–११
उपहताः—ग्रहणादिदूषिताः	५६–१२
वासः—वासना	५७–२
कूटपाकलः—सद्यः प्राणहरो ज्वरः	५७–४
कापेयं—चापलं	५७–६
हव्यकव्ये—देवपितृकार्ये	५९–१
उद्भाः—ऊर्ध्वस्थिताः	६०–१
संधा—प्रतिज्ञा	६०–८
षट्कर्माणि—स्तम्भनमोहनादीनि	६२–४
सुधान्धसः—देवाः	६२–५
अङ्गानि—शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं निरुक्तमिति—	६३–३
इतिहासः—भारतं रामायणं च पुराणं वा प्रोक्तम्	६३–३
च शब्दान्मीमांसान्यायशास्त्र-परिग्रहः	६३–३
मयाः—यत्र देवप्रतिष्ठा नाम व्यवहारश्च ते मयाः	६४–३
समयाः—जिनजैमिनिशाक्यशंकरागमाः, त एव चत्वारः सांख्यलोकायताधिकाः षड्दर्शनानि भवन्ति	६४–१०
*उद्गता—ऊर्ध्वता	६५–१
काम्या—इच्छा	६६–७
क्रव्यादाः स्तेनव्याघ्रादयः	६७–८
निगमे—वेदे	६७–१०
दत्तानुपात्तं—स्वीकृतव्यवहारं	६८–९
अन्यत्र—स्वर्गादौ	६८–९
स्कन्दः—कार्तिकेयः	६८–१०
प्रत्यवहारः—संहारः	६९–८
हिमातपाम्भः समयाः—हैमन्तग्रीष्मवर्षाकालाः	६९–८
बहुत्वं—नियमवती प्रचुरता	७०–४
अन्यत्र—परमते, तथाहि—त्रय एव पुरुषाः, चत्वार एव वेदाः, पञ्च स्रोतोविनिर्गता एव शैव-सिद्धान्ताः, षडेवाङ्गानि, सप्तैव मातरः इत्यादि	७०–४
मुद्—[illegible]	७०–६
सोमः—चन्द्रः	७०–६
नाडीजङ्घः—वानरः	७१–१२
सुरभिलनया—सौरभेयी	७२–१
उरभ्रं—मेषमांसं	७३–५
वार्ध्रीणसः—शल्यकः	७३–८
वसु-शालिसिक्थमत्स्ययोरुपाख्याने कविरुपरत्र विस्तरेण स्वयमेव वक्ष्यति	७४–२
पुंसो—गौतमादेः	७४–४
प्राग्वंशः—यज्ञः	७५–८
अङ्गुलीयकं—मुद्रिका	७५–११
अनुपदं—पश्चात्	७५–१२
चेटस्य—दासस्य	७६–१
प्रस्तरः—पाषाणः	७६–४
स्तभः—छागः	७६–५
काढंबाः—ब्राह्मणाः	७७–९
निसृष्टार्थाः—स्वतन्त्राः	७७–१२
सायुज्यं—साम्यं	७८–५
अत्यासादयन्—तिरस्कुर्वन्	७८–५
गृहमेधिनोऽपि मुनयः इत्यादि	७८–८
कुणपाशिनः—राक्षसाः व्याघ्रादयो वा	७९–१
उभयानि—कुशलाकुशलानि	७९–४
बोधाधिपतिः—आत्मा	७९–४
हर्यं—माता	७९–५
जानुभञ्जिनी—यन्त्रविशेषः	७९–५
प्रतिश्रुतं—अभ्युपगतं	७९–६
रोक्षा—गुञ्जा ('चोक्षा' मु० प्रतौ)	७९–८

*. 'उद्गुता' इति मु. प्रतौ पाठः परन्तु पञ्जिकाकारेण स्वीकृतः पाठः सम्यगाभाति—सम्पादकः

शब्द — अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
※तथा च लौकिकी श्रुतिरित्यादि—	८०–१
शतक्रतुः—इन्द्रः	८०–२
वाग्जीवनः—बन्दी	८०–२
पौलस्त्यः—रावणः	८०–४
दाण्डक्यः—राजा	८०–५
प्रजापतिः—ब्रह्मा	८०–६
कृकवाकुः—कुक्कुटः	८०–१०
नीहारं—हिमं	८१–१
पत्नी—परिणीता	८१–९
असुहृनः—अनीर्ष्यः	८१–११
कृत्या—देवता सा किल आराधिता सती आराधयितारमेव च खादति	८१–११
पञ्चता—मरणं	८२–१
अक्षिगतः—द्वेष्यः	८२–१
उत्तायकः—अस्थिरः	८२–४
उद्भसत्—उत्कलत्	८२–६
निःशलाकम्—एकान्तः	८३–६
तार्क्ष्यः—गरुडः	८३–८
नवग्रहः—सद्योगृहीतः	८३–९
पर्यनुयोगः—प्रश्नः	८३–१०
मिथुनचरः—कोकः	८४–६
पांसुला—सापराधा कुलटा च	८५–१
मन्मथः—कामः उद्वेगश्च	८५–१
कटुस्वभावा—तिक्तस्वभावा विरसस्वभावा च	८५–२
नीचानुगता—निम्नानुगा नीचानुगामिनी	८५–३
परभागः—शोभा अन्यपुण्यं च	८५–३
साध्वी—सती	८६–३
प्रायोपवेशनम्—अनशनम्	८६–६
परीवादः—अपवादः	८६–७
प्रवहणं—गणभोजनं	८६–७
पूर्वपुरुषागतात्—आस्तामसौ ताम्रचूड–इत्यादिकात् वनैरपौत्यंतात्	८६–९
अवहित्था—आकारसंवरणं	८६–११
इहैव—उज्जयिन्यां	८७–२
तोलयति—संशयं नयति	८७–४
कर्णीसुतः—मूलदेवः	८७–५
※कुचुमारः—धूर्तशास्त्रप्रणेता	८७–६
खल्वः—खलतिः	८७–७
निशितनेमिना—तीक्ष्णधारेण	८८–६
कबरी—केशविन्यासः	८८–७
दुर्दुरः—मण्डूकः	८८–८
अत्ययः—कालातिपातः	८९–२
उपाकृताः—शास्त्रबाह्याः	८९–६
मेखलाभिभाषिणी—टंकिका (सं० टी० घण्टिका)	९०–३
नर्मसितं—उपयाचितकं	९१–७
वरिण्डकः—तल्पपालः ('क्षेत्रपालः' सं० टी०)	९१–९
भैरवी—चण्डिका	९२–२
पांसुलक्षणः—वातः	९३–१
अकत्थनः—अश्लाघनीयः	९३–९
अपाचीनः—प्रतिकूलः	९३–९
आदित्यसुतः—काकः	९३–१०
उत्पातलिङ्गानि—दुर्निमित्तानि	९३–१०
त्रिशूलिनी—चण्डिका	९३–११
प्रोक्षिता—दत्ता	९४–१
तस्य—कुक्कुटस्य	९४–२
स्म इति—किलार्थे	९४–६

इति चतुर्थ आश्वासः

शब्द — अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
सदागतिः—वातः, सदा सर्वकालं गतिः भक्तिमार्गः	९६–३

※ स्वर्गे किल शक्रसभायामेव विवादोऽभूत् । मनुष्यलोककर्तव्येह प्राणिनां शिष्टेतरव्यवस्था नात्मीयाचारनिबंधनेति ।

इदं बृहस्पतिरसहमानः सर्वाभरणविभूषितसर्वाङ्गवृद्धब्राह्मणवेषमादाय कुञ्जाकारनगरे प्रविशन् हारितसर्वस्वेन लोचनाञ्जनहरनाम्ना कितवेन कङ्कणमेकं याचितो नादात् । पुनस्तेन कुपितचेतसा एषः खलु द्विजो न भवति साधुः किन्तु ठकोऽयं संप्रत्येव स्वाध्यायिनां मंडलीं निपात्यागतोऽयमिति दूषितस्तत्र पुरे प्रवेशमलभमानः 'निर्विचारो मनुष्यलोक' इत्युक्त्वा नाकलोकं गतः प्रवेशं नालभतेति । *. 'कुमार' मु० प्रतौ ।

शब्द अर्थ पृष्ठ-पंक्ति

कर्मान्त:—कर्मावसान:, भू: पृथ्वी, विनेयजनस्य संपत्तिमित्तं भुवमवतीति भू:, अवतेः क्विपि सति वस्य संप्रसारणे सन्धिकार्ये च कृते भूरिति भवति ९६-१

दाता—यजमानः वितरिता शीलार्थे तृन् ९६-२

ते—लोकप्रसिद्धे ९६-३

ज्योतिषी—ज्ञानदर्शनलक्षणे च । ९६-३

तेज:—अग्नि: आत्मश्च ९६-४

अनङ्गन—आकाशं; अविद्यमाना अङ्गना यस्य ९६-४

तमस्त:—अज्ञानात्, अनेनाष्टमूर्तिमत्वं भगवतः उक्तं ९६-४

राका—पूर्णमासी ९७-५

चामरं—चमरीणां समूहश्चामरं तदवयवश्च ९७-६

किटि:—सूकरः ९७-७

दरद्—हलव्ययं [दरद्देहाः विदार्यमाणशरीराः सं० टी० पृ० १६९-१४] ९७-८

दौलेय:—कच्छपः ९७-८

नेत्राणि—तरुजटाः मृगविशेषाः वा लोचनानि च ९७-८

पाकधृति:—इन्द्रः ९७-८

उपत्यका—पर्वतस्य अधस्तनो देशः ९८-१

तदाभास:—विचारणं ९८-२

कुशिकसुतः—उलूकः शक्रश्च ९८-२

[1]कमलाः—मृगाः अब्जानि च ९८-३

पुण्डरीकः—व्याघ्रः सिताब्जं च ९८-३

समीक्षा—सांख्यशास्त्रं ९८-३

कपिल:—मर्कटः, मुनिश्च ९८-३

कञ्चुकिन:—सर्पाः अन्तःपुररक्षकाश्च ९८-४

सदन्तोत्सर्गः—सन्ति नक्षत्राणि अन्ते यस्योत्सर्गस्य स सदन्तः उत्सर्गो व्याप्तिर्यस्य पवनमार्गस्य सदन्तः सततश्च ९८-४

पारापताः—पक्षिणः कमलानि च ९८-४

हेरम्बः—महिषः विनायकश्च ९८-४

पिङ्गलेक्षणः—रुद्रः ९८-५

शाक्वरः—गौः ९८-५

समदनः—मदनः तरुः (राजवृक्षः सं० टी०), सम्यक् अदनं यस्य, सह मदनेन स्मरेण वा वर्तत इति च ९८-५

चेतकः—हरीतकः, चिती संज्ञाने चेतनं चेतः, तेन चेतेन सह वर्तत इति ९८-५

कोमल्लुः—पांथः ९८-५

कपयो.मर्कटाः, ध्वजास्तरवः ९८-५

मेरुधारासनः—हरः ९८-६

दुर्गाणि—विषमाः प्रदेशाः, दुर्गा—गौरी च ९८-६

भोगिनी—सर्पिणी, अवरुद्धवधूश्च ९८-६

रेवतीपतिः—बलभद्रः ९८-६

विहङ्गिका—पक्षिण्यः, कावटिश्च ९८-६

प्राग्भारः—विस्तारः ९९-१

अधित्यका—पर्वतस्योपरितनो भागः ९९-१

पुण्यजनाः—यक्षाः ९९-५

आवाप:—आश्रयः ९९-५

वर्णा:—हरितपीतादयो ब्राह्मणादयश्च १००-७

दलानि—पत्राणि कारणानि च १०१-१

काकुत्स्थ:—रामः १०१-१

पलाशा:—पल्लवाः राक्षसाश्च १०१-१

द्विजराजाः—पक्षिप्रधानाः विप्रमुख्याश्च १०१-१

पादाः—अक्षरसंघाताः मूलानि च । १०१-२

पत्राणि—वाहनानि दलानि च १०१-२

प्राघूर्णकाः—आगन्तवः १०१-४

उपयाचितं—नमसितं १०१-५

गो—पशु भुवं च १०१-६

विनायक:—वीनां (पक्षिणां) नायकाः गरुडादयो यस्य, गणपतिश्च १०१-६

वनमाला—स्रक्, काननपङ्क्तिश्च १०१-६

वय:—अवस्था, वयांसि पक्षिणः १०१-६

शुचिच्छदपरिच्छदः—[शुचिभिः पवित्रैश्छदैः पर्णैः परिच्छदः परिवृतः आच्छादितश्च, पक्षे शुचिच्छदो हंसपक्षी स परिच्छदो वाहनो यस्य स तथा*]

---

१. 'कमलस्तु मृगान्तरे' इति हैमः ।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
	* "शुचीनि छद्मानि च"	१०२–१
सुरवाहिनी	सुरसेना गङ्गा च	१०२–१
प्रवालं	विद्रुमं बालपल्लवश्च	१०२–२
प्रियालोकनः	प्रियदर्शनः	१०२–२
संपाकः	आकृतिमालकः ? (वृक्षविशेषः)	१०२–५
तृणराजः	तालः	१०२–६
पूतीकः	करञ्जः	१०२–६
विटपिनमधिवसतीत्यत्र 'उपान्वध्याङ् वसः' इत्यनेनाधिकरणे द्वितीया		१०३–१
उद्गमः	पुष्पं	१०३–१
तुरुष्कः	उत्तंसः	१०३–२
दुश्च्यवनः	शक्रः	१०३–२
प्रतीचीनः	विपरीतः	१०३–८
चिक्कः	अल्पः [सञ्चलि[illegible]—स[illegible]सस्य सं० टी० पृ० १७९]	१०३–८
विक्वणः	आसक्तः	१०३–८
पक्वर्णं	भिल्लपल्लिः	१०३–८
वातप्रमी	वातमृगः	१०४–१
*वीतंसः	पक्षिणां पाशः	१०४–१
मृगबन्धं	मृगबन्धनं	१०४–२
पलिशं	यत्र स्थित्वा मृगा हन्यन्ते स प्रदेशः पलिश उच्यते	१०४–३
पक्षति	पक्षमूलं	१०४–४
रोदस्योः	द्यावाभूम्योः	१०४–४
कारागारिकः	बन्दी	१०४–५
प्रचलाकप्रचयः	पिच्छकलापः	१०४–५
सारे	समीपे ? [साराणि पुरुषरत्नादीनि इति सं० टी० पृ० १८०]	१०४–६
कृशोदरी	स्त्री	१०४–९

शब्द	अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
वरारोहा	स्त्री (वरारोहाः मत्तकामिन्यः सं० टी० पृ० १८१)	१०५–१
निकाय्यं	गृहं	१०५–१
उपचार्यमानः	प्रतिपाल्यमानः	१०५–१
जेमनं	भोजनम्	१०५–२
सभास्तारः	सभ्यः	१०५–२–३
ईतिः	उपद्रवः	१०५–१०
शातकुम्भं	हेम	१०६–४
रहन्ति	त्यजन्ति	१०६–५
मण्डलवालः	श्वा	१०६–७
बर्करकः	छागशिशुः	१०६–७
वृष्णिकः	मेषः	१०६–७
निचिकी	मुख्या गौः	१०६–९
[illegible]	[illegible]	१०६–९
शकृत्करिः	वत्सः	१०६–९
अद्मनिवेशः	तृणभक्षणद्रोणी	१०६–१०
उद्गूर्णः	उद्यतः	१०६–१०
द्रुघणः	मुद्गरः	१०६–१०
रक्ताक्षः	महिषः	१०६–१०
नायहरिः	बलभद्रः [*नायहरयो वृषभाः सं. टी० पृ० १८५]	१०६–११
प्रष्ठौही	गर्भिणी गौः स्त्री वा	१०६–११
अवक्रयणी	प्रौढवत्सा	१०६–११
गृहावग्रहणी	देहली	१०६–११
माहेयी	गौः	१०७–१
व्याहारः	शब्दः	१०७–१
गृष्टिः	प्रथमप्रसूता गौः [सकृत्प्रसूता सं. टी.]	१०७–२
परेष्टुका	बहुप्रसूतिः गौः	१०७–२
[2]समांसमीना	प्रतिवर्षप्रसूः	१०७–२

*. अयं कोष्ठाङ्कितः पाठः संस्कृतटीकातः (पृ० १७६) संकलितः—सम्पादकः ।

१. यश० पञ्जिकायां । *. उक्तं च'–वीतं शस्त्रोपकरणं बन्धने मृगपक्षिणाम् ।' सं० टी० पृ० १७९ से संकलित—सम्पादक

*. 'नायहरिः' शब्दस्य 'वृषभः' इति सं० टीकाकारस्यार्थःप्रकरणताविच्छेदेन सम्यक् प्रतीयते—सम्पादकः

२. 'समांसमीना तु या सा प्रतिवर्षं प्रजायते' इत्यभिधानचिन्तामणिः' सं० टी० पृ० १८६ की टिप्पणी से संकलित—सम्पादक

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
सुव्रता—सुखदोह्या	१०७–२
पलिक्नी—अल्पदिनगर्भा	१०७–३
वेहत्—गलितगर्भा	१०७–३
वशा—वन्ध्या	१०७–३
अवतोका—विपाकविकला	१०७–३
उस्राः—गावः	१०७–३
वालेयकः—गर्दभः	१०७–३
आरेयः—मेषः	१०७–३
मृगदंश-शालावृक-कौलेयक-विश्वकद्रु-नित्य-जागरूक-सारमेय-वक्रपुच्छ-ऐलसस ? वराहवैरी-वान्तादाः श्वपर्यायाः	१०७–४,५,६, ७,१०,१२,१५,
श्वेतपिङ्गलः—सिंहः	१०७–६
मार्गायुकः—मृगयाकुशलः	१०७–६
सरमा—शुनी	१०७–११
दंष्ट्रायुधः—वराहः	१०७–११
हर्यक्षः—सिंहः	१०७–११,१२
निशान्तं—अन्तःपुरं	१०८–२
शम्भली—दासी	१०८–२
अधिरोहणं—सोपानं	१०८–४
प्रतीपदर्शिनी—स्त्री	१०८–५
मोहनं—सुरतं	१०८–६
त्रोटिः—चञ्चुः	१०८–७
शल्कं—खण्डं	१०८–७
कृकः—करणः ? [शिरोग्रीवा सं. टी. पृ. १९०]	१०८–८
संबाधः—पीडा	१०८–९
विरञ्चः—स्वरः ['पीडाशब्देन सावधानसमीप शरीरक्रिया' सं. टी. पृ. १९०–९ संशोधित ख० प्रतितः यतः मू० प्रतौ न वरीवर्ति]	१०८–९
सुप्रतिष्ठः—पतद्ग्रहः [ताम्बूलादिभाजनसंपुटकं सं० टी० पृ० १९०]	१०८–९
तालवृन्तं—व्यजनं	१०८–१०
प्रकीर्णकं—चामरं	१०८–१०

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
वाग्गुली—स्थगिका ? [वाग्गुलीशालेन पूगफलादिप्रसवकेन सं. टी. पृ. १९०–११]	१०८–१०
अनुपदीना—उपानत्	१०८–१०
आदर्शः—फलकं	१०९–५
भण्डिलः—दूतः	१०९–५
दिवसकरात्मजः—यमः	१०९–५
उपसम्पत्ता—मरणं	१०९–६
मायाकार !—हे प्रतीहार !	११०–३
भूदेवाः—द्विजाः	११०–३
अन्वाहार्यं—मृतस्य मासिको विधिः	११०–४
निगद्यागमः—गणितशास्त्रं	११०–८
वामेक्षणा—स्त्री	१११–१
खङ्गाः—कृपाणाः मृगविशेषाश्च	१११–२
महद्भिर्देहैः अजगरैश्च ।	१११–२
दन्तिनः—पर्वताः गजाश्च, 'तटो रदश्च दन्ताख्य' इति वचनात्	१११–३
अष्टापदः—व्यालविशेषः कैलाशश्च	१११–३
नाटेरः—नटः	१११–३
चित्रं—मण्डलं	१११–४
चित्रकाः—मृगविशेषाः [चित्रकाः व्याघ्रविशेषाः सं. टी. पृ. १९४]	१११–४
मेघरावः—जलदशब्दः मयूरश्च	१११–४
मागधी—गुदक्षिणा दिलीपपत्नीति यावत् तस्याः प्रभवः, पिप्पली च	१११–४
अमृतं—सुधा, अमृता गुडूची च	१११–४
विजया—गौरीसखी हरीतकी च	१११–४
जम्बुकः—वरुणः शृगालश्च	१११–५
सुदर्शनं—चक्रं, सुदर्शनः औषधिश्च	१११–५

'मरुद्भवाः-अर्जुननकुलसहदेवाः, लतापादपकीट-आटविशेषाः, मरुद्भवो भीमश्च' इति पञ्जिकाकारः [मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवानुगं मरुद्भवो वातोत्पत्तिः, अर्जुनः केकी अर्जुनो वृक्षविशेषः, नकुलः सर्पवैरी, सहदेवा बला, मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवास्ताननुगच्छतीति मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवानुगं । कमिव—

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
युधिष्ठिरमिव, यथा युधिष्ठिरो मरुद्भवेन भीमसेनेन अर्जुनेन पार्थेन अनुगच्छति अनुगमनं करोति । अथवा मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवा अनुगाः यस्य स तथा तम्*]	१११–५
अभीरुः—शूरः लताविशेषश्च[1]	१११–६
लक्ष्मीः—श्रीः लताविशेषश्च	१११–६
बृहती—छन्दो जातिः वीरुद्विशेषश्च	१११–६
समर्थः—आश्रमः	१११–६
तपस्विनी—प्रव्रजिता मुण्डिता[2] च	११२–१
चन्द्रलेखा—शशिकला बाकुचिका च	११२–१
कलिः—कालविशेषः बिभीतकाश्च	११२–१
अर्कः—रविः वीरुद्विशेषश्च	११२–२
अम्बरीषं—रणं	११२–२
अरिमेदः—अरीणां मेदः जन्तुविशेषः अरिमेदः तरुविशेषश्च[3]	११२–२
शिवप्रियः—धत्तूरकः	११२–२
गायत्री—खदिरः	११२–२
कालिदारः—चूतः	११२–३
ब्रह्मचारी—पलाशः	११२–३
वर्धमानः—एरण्डः	११२–३
[4]दिग्गजकुलं—	११३–१
वामनः—मदनतरुश्च[5]	११३–१
सोमः—सोमवल्ली ['हरीतकीवृक्षः' सं० टी० पृ० १९६]	११३–१
पूतना—हरीतकी	११३–१
मातृनन्दन—करञ्जः	११३–१

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
निःश्रेणी—खर्जूरी	११३–२
लेखपत्रः—तालः	११३–२
त्रिनेत्रः—नालिकेरं	११३–२
लम्बस्तनी—चिञ्चा	११३–२
कवचः—पर्पटकः	११३–३
रक्ततुण्डः—शुकः	११४–१
उच्चलिङ्गं—दाडिमं	११४–१
अपचयः—उञ्छनं	११४–१
उपलम्बा—लता	११४–२
प्रलम्बः—प्रतानं	११४–२
आनकाः—वृषभाः [अरण्यवृषभाः वानरा वेति सं. टी. पृ. १९८]	११४–३
वेल्लिकाः—सुताः [विलासवेल्लिकाः भिल्लानां बालकाः सं० टी० पृ० १९८]	११४–४
चुरी—बालुकावापिका चुण्टीति यावत्	११४–४
डामरिकाः—चौराः	११४–४
प्रकाण्डः—शाखा [प्रकाण्डाः समूहा सं०टी०पृ० १९९]	११४–८
द्रुमलाः—द्रुमसमूहाः	११४–९
खञ्जनः—जन्तुविशेषः	११४–९
*चित्रकः—चमूरुः [चित्रकाः व्याघ्रविशेषसमूहाः सं. टी. पृ. २००]	११४–१०
उदन्या—तृट्	११४–१०
रङ्कुः—मृगविशेषः	११४–१०
शल्लकशल्लकौ अपि—मृगविशेषौ	११५–१-२

---

*. सं० टी० पृ० १९४ से संकलित—सम्पादक

१. अभीरुरिन्दीवरी, उक्तं च—'वातमूली बहुसुता अभीरुरिन्दीवरी स्थिरपत्रा' इति यावत् । सं० टी० पृ० १९५ ।

२. तपस्विनी—प्रव्रजिता, मुण्डीकल्हारा च सं० टी० पृ० १९५ ।

३. 'विट्खदिरः' सं० टी० पृ० १९५ ।

४. उक्तं च—'ऐरावणः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥
ऐरावणः पुण्डरीकः पुष्पदन्तोऽथ वामनः । सुप्रतीकाञ्जनौ सार्वभौमः कुमुद इत्यपि ॥ इति पञ्जिकाकारः ।
अभ्रमुश्चैव कपिला ताम्रकर्णी च वामनाः । अनुपाञ्जनवत्यौ च शुभ्रदन्ती च पिङ्गला ॥' इति दिग्गजानां भार्याश्चैताः

५. मुक्तं सत् वमनं कारयति वामनो मदनवृक्षः—सं० टी० पृ० १९६ ।

*. सं० टीकायाः अर्थः सम्यक् प्रतिभाति—सम्पादकः

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
★मृगादनी—लताविशेषः	११५–३
¹व्याघ्री—बृहती ('भटकटैया' इति भाषायां)	११५–३
²निस्त्रिंशपत्त्रः—सिहुण्डः	११५–३
ब्रह्माणः—पलाशाः	११६–१
हरयः—सिंहाः	११६–१
स्थाणवः—छिन्नाग्रभागस्तम्भकाण्डः, पक्षे ब्रह्मा-विष्णुमहेश्वराश्च	११६–१
मधुः—दानवः क्षौद्रं च	११६–२
मदनः—कामस्तरुश्च	११६–२
चिल्लं—दूषिकोपहतं	११६–३
अणकं—कुत्सितं	११६–३
अवगाढं—प्राप्तं	११६–३
शाणं—शस्त्रोत्तेजनयन्त्रं	११६–४
अशना—क्षुत्	११६–६
पवनाशनाः—सर्पाः	११६–६
वम्राः—वल्मीकाः	११६–७
शिखावलः—मयूरः	११७–२
अग्निजन्मा—ईर्ष्या	११७–२
वृषः—धर्मः मूषिकश्च	११७–३
विषं—जलं गरलं च	११७–३
सरीसृपः—सर्पः	११७–४
वामलूरः—वल्मीकः	११७–४
पुरीतत्—अन्त्रं	११७–४
अनन्ता—भूः	११७–५
असृग्धरा—त्वक्	११७–६
क्षतजं—रुधिरं	११७–६
तरसं—मांसं	११७–७
पृदाकुः—सर्पः	११७–८
इन्दुमणिः—चन्द्रकान्तः	११८–२
पद्मावती—उज्जयिनी	११८–२
भोगवती—अहिपुरी	११८–४
पद्मः—सर्पविशेषः	११८–४
संवरः—जलं मृगश्च	११८–५
लक्ष्मणाः—सारसाः पक्षे सौमित्रिः	११८–५
धार्तराष्ट्राः—कौरवाः हंसाश्च	११८–६
[illegible]—मुनिः [illegible]	११८–६
आस्फूजितः—शुक्रः	११८–६
बलिः—दानवः पूजा च	११८–६
सौगन्धिकाः—सुगन्धिवस्तुपण्याः पुष्पाणि च	११८–७
ग्राहाः—मकराः	११८–७
कमठाः—कूर्माः	११८–७
पतत्त्रिणः—पक्षिणः	११८–७
मरालाः—हंसाः	११९–१
दार्वाघाटाः—सारसाः	११९–१
कारण्डाः—पक्षिणः	११९–२
काण्डः—बाणः	११९–२
★मल्लिकाक्षाः—हंसविशेषाः	११९–३
अवहाराः—जलव्यालाः [ग्राहाः सं० टी० पृ० २०८]	११९–५
डीवयः—जलसर्पाः	११९–६
मूककाः—भेकाः	११९–६
वाली—वीची	११९–९
आमलकं—स्फटिकं	१२०–१
वानीरो—वेतसां गतः	१२०–२
वञ्जुलः—लताविशेषः	१२०–२
दुर्वर्णं—रजतं	१२० ६
षट्चरणः—भ्रमरः	१२०–७
भाण्डं—भाजनं	१२०–९
सरिद्वरा—गङ्गा	१२१–२

★. पक्षे मृगानदन्ति भक्षयन्ति मृगादन्यो लुब्धकभार्याः प्रायेण, सं० टी० पृ० २०० ।

१. पक्षे व्याघ्री द्वीपिनी ।

२. सेहुण्डवृक्षः, पक्षे निस्त्रिंशपत्त्राः निर्दयवाहनजीवाः सं० टी० पृ० २०१ ।

★. उक्तं च—'रक्तैर्वक्त्रैः संचरणैः राजहंसान् विभावयेत् ।
श्यामलैर्मल्लिकाक्षास्तु धार्तराष्ट्राः सितेतरैः ॥' सं० टी० पृ० २०८ ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
चिलीचिमाः—मत्स्याः	१२१—५
पयस्यं—दधि	१२२—६
कूलवन्ती—नदी	१२२—६
व्यक्षः—समस्तः	१२२—७
पूलाक्षः—महिषः	१२२—७
चुलुकी—शिशुमारभार्या तदपत्यं चौलुकेयः शिशुमारः	१२२—७
लगुडः—दण्डः	१२३—४
तरी—नौः १२३—५ तर्पः तृणमयः	१२३—५
तरण्डः—फलकं	१२३—५
वेडिका—क्षुद्रा नौः	१२३—५
उडुपः—चर्मविनद्धः	१२३—५
तमलम्—ऊर्णामयमास्तरणं	१२४—६
अजिनं—चर्म	१२४—६
जेणं—पल्याणं	१२४—६
बब्बूलबदरीकरीराः—प्रसिद्धाः	१२४—६
उरभ्राः—मेषाः	१२४—७
अतिक्रामन्—अतिगच्छन्	१२४—८
अभ्रिकटः—मेघ-समूहः	१२४—८
सौम्यधातुः—शुक्रं	१२५—१
विपक्षाः—मासाः	१२५—२
कार्दमिकं—कर्दमेण रक्तं कृष्णवर्णमित्यर्थः	१२५—४
दण्डकः—क्षुद्रमार्गः	१२५—५
सकाण्डं—बाणसहितं	१२५—५
कोणाः—दण्डाः	१२५—६
चित्रगुप्तः—यमाक्षपटलिकः	१२६—१
अधोमुखः—बाणः	१२६—३
अवलग्नः—मध्यः	१२६—४
शकली—मत्स्यः	१२६—४
प्रमीतः—मृतः	१२६—५
दुर्ललिता—सक्ता	१२६—७
शिवप्राप्ताः—मासाः	१२७—६
ग्रंथः—माला	१२७—८
कासरः—महिषः	१२७—९
प्रस्फोटनः—सूर्पं	१२८—३

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
त्र्यूषणः—त्रिकटूकं (शुण्ठीमरिचपिप्पलीचूर्णं)	१२८—५
आलन्दकः—भाजनं	१२८—५
गोर्वरः—गोमयः	१२८—५
इरंमदः—वज्राग्निः	१२८—६
उद्धानं—चुल्ली	१२८—७
शिपस्तिः—भुजः	१२८—१०
पादान्तलक्ष्मीः—पादपङ्क्तिशोभा	१२९—१
कुतपी—तुरी [मार्दङ्गिकः सं० टी० पृ० २२९]	१२९—३
उपवीणनं—वीणावादनं	१२९—६
मयुः—किन्नरः	१२९—६
निर्दरं—कन्दरं	१२९—६
सूर्यप्रतिमागतः—कायोत्सर्गः	१३०—३
अरे कदाचाराचार !—अरे कुत्सिताचार !	१३१—४
पराकदुरात्मन्—पराकेन वधेन दुरात्मा तस्य संबोधनं क्रियते अरे पराकदुरात्मन्	१३१—५
खेटः—अधमः, उत्त्रासको वा खिट् उत्त्रासने इति धातोः पाठात्	१३१—५
मान्द्यः—निन्द्यः	१३१—५
कुमतिः—माया	१३१—६
भटहः—लघुः	१३१—६
ब्रह्मासनं—ध्यानं	१३१—७
समुनद्धभावं—दृप्तत्वं	१३१—८
अवनतमुखाब्जः—अधोमुखकमलः	१३२—१
अनुक्रोशः—अनुकम्पा	१३२—७
मेदिनी—म्लेच्छस्त्री भूश्च	१३३—४
अकारणं—अकृत्रिमं, शुद्धं निर्निमित्तं च	१३३—५
तर्कुकाः—याचकाः	१३३—६
निबर्हणं—निराकरणं	१३३—८
अरिषड्वर्गः—कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः	१३४—३
द्वन्द्वानि—परिमितत्वं कालहरणमित्येकं द्वन्द्वं, आशादर्शनं श्रवणगतत्वमिति द्वितीयं, अवधीरण-मनवसरः इति तृतीयं, महाशक्तिकमैश्वर्यमिति चतुर्थं द्वन्द्वं—	१३४—९
वदान्यता—त्यागिता	१३४—९

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अपाश्रयः—निषद्या [आश्रयः सं० टी० पृ० २४०]	१३६–१
नृपयज्ञः—संग्रामः	१३७–१
अष्टापदं—फलकं [अष्टापदभूमिका-चतुरङ्गफल-भूमिका इति सं० टी० पृ० २४२–८]	१३७–१
नयः—यानं [नयः परगृहे यानमित्यर्थः सं० टी० पृ० २४२–९]	१३७–२
उद्धवः—गर्वः	१३७–५
डिम्बः—विप्लवः (विप्लवः—विनाशः सं० टी० पृ० २४३)	१३७–७
सम्परायः—संग्रामः	१३७–८
अमत्राणि—भाजनानि	१३८–२
सालः—प्राकारः	१३९–२
समलं—अशुचि	१३९–५
अत्याधानम्—अधस्तलं	१३९–६
काण्डं—वपयोपः ? (काष्ठं दारु इत्यमरः)	१३९–६
सुखं विदन्तोऽपीतिनिर्देशः विदेःशतुर्वसुरित्यत्र विकल्पस्येष्टत्वात्	१३९–६
पुष्पं—कूष्माण्डं	१३९–८
आदीनवः—दोषः	१४०–३
प्रतिसरः—काण्डपटः	१४०–४
लेखाः—देवाः	१४०–४
गगनगमनाः—खेचराः	१४०–६
उदाहरणं—यशः	१४०–८
निचोलः—निचुलकः (निचुलस्तु निचोले स्यात् इति विश्वः, निचोलः प्रच्छदपटः अंगरक्षा इति भाषायां—सम्पादकः)	१४०–८
पौष्करेयं—कमलं	१४१–१
ऐकागारिक—मलिम्लुच-पाटच्चर-तस्करवाणिजकाः चौरपर्यायाः	१४१–३,४,५,६,
★ धर्मस्थीयाः	१४१–४
पक्षीवत्—गर्दभः	१४१–५
शालाजिरं—शरावं	१४१–५
आस्यनितं—मनः	१४२–४
गणरात्राः—रात्रिसमूहाः	१४२–४
नयविधा—नैगमस्त्रिविधो द्रव्यपर्यायोभयभेदेन, संग्रहव्यवहारादयश्च षड्भेदाः	१४२–७
वृषभेश्वरः—शंभुरादितीर्थंकरश्च	१४२–७
कपिलतालयशालिनी—कपिलतायां लयः मनः स्वरूपावाप्तिः तेन शालते इत्येवं शीला, पक्षे कपिभिर्लतालयैश्च शालिनी शोभमाना	१४२–७
परलोकः—स्वर्गादिः प्रतिपक्षश्च	१४३–१
नियोगः—नियोगभावनादयो वाक्यार्थाः, नियोगः आचरणादिप्रश्नः, भावनाः—दर्शनविशुद्धिरित्यादिकाः षोडश	१४३–१
योगाचारः—ज्ञानाद्वैतवादी, योगः—आगमागमपदार्थयाथात्म्यज्ञानानुविद्धमपरिस्पन्दात्मप्रदेशः, उपात्तागामिककर्मक्षयप्रतिबन्धहेतुराचारश्च	१४३–२
[1]सत्सचिवः—	१४३–२
कुसुमारः—कुहकविद्योपाध्यायः	१४३–३
बाहुबलिः—ईश्वरः केवली च	१४३–३
पार्श्वगतः—चित्रकर्मणि मूर्तिविशेषः तीर्थंकरविशेषागतं च	१४३–३
अशोकः—तरुः राजा च	१४३–४
रोहिणी—तरुः राज्ञी च	१४३–४
चरणं—भक्षणं, करणं—उत्फुल्लविजृम्भादिकं, चरणकरणं—आगमविशेषौ	१४४–१
पुरन्दर इत्यादिना चित्रालिखितां स्वप्नावलीं वर्णयति	१४४–१
रमा—श्रीः	१४४–२
पलाशः—राक्षसः पल्लवश्च	१४६–२
परभागः—शोभा परोदयं च	१४७–१
देहली—देहली	१४७–२

★. तदुक्तं—सर्ववर्णाश्रमाचारविचारोचितचेतसः । दण्डवाचो यथादोषं धर्मस्थीयाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

१. तदुक्तं—संपत्तौ स्वामिनः स्वस्य विपत्तौ स्वदरातिषु । यः साधयति बुद्ध्यैव तं विदुः सचिवं बुधाः ॥ १ ॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अरराणि—कपाटानि	१४७–२
योग्या—अभ्यासः	१४७–३
विलयः—विनाशः पश्चिमसंध्यायश्च	१४७–५
लिपिकराः—लेखकाः	१४७–५
उद्यानं—उद्गमनं	१४९–६
गोपानसी—गृहाच्छादनपटलैकदेशः	१४९–११
उटजं—तृणकुटीरकं	१४९–११
छदिः—पटलं	१५०–१
कङ्कः—पक्षी	१५०–१
कृष्णलेश्या—रौद्रपरिणामः	१५०–१
करटाः—काकाः	१५०–२
मृगव्यदः—श्वानः	१५०–२
[1]जनंगमः—मालः (चण्डालः)	१५०–२
श्वपचः—अन्तावसायि-दिवाकीर्तिश्चाण्डालाः	१५०–२
वृषदंशः—मार्जारः	१५०–४
ओणिकाः—कीडाः	१५०–५
उत्कुरुटः—कचवारः ? (कुक्कुटः)	१५०–५
अवहिता—तत्परा	१५०–६
निगृह्य—निश्चित्य ?	१५०–६
पुष्परथकर्णीरथौ—यानविशेषौ	१५१–२
*पीठमर्दविटविदूषकनायकसामाजिकानां लक्षणानि पूर्वोक्तानि	१५१–३
उपकार्या—मठमन्दिरादि राजसदनं	१५१–४
नरपटं—छत्रधारणं	१५१–६
सार्धुकः—निजभार्याभगिनीपतिः	१५१–७
दुःखत्रयं—आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन	१५२–१
बोधवान्—आत्मा	१५२–३
बहुधानकं—प्रकृतिः अव्यक्तं च	१५३–३
त्रिविपः—स्वर्गः	१५३–८

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
स्वलक्षणं—सजातीयविजातीयव्यावृत्तक्षणिकनिरंशपरमाणुमात्रं	१५५–४
अदृष्टसाध्यं—अनुपलभ्यमानफलं	१५६–४
वनं—जलं	१५६–७
[2]तदात्मकार्मेत्यादिनैतदाह	१५६–८
स्थविरस्वरः—मध्यमध्वनिः	१५७–१०
शंफसः—शासनस्य	१६०–३
शतधृतिः—इन्द्रः	१६०–४
अगेन्द्रः—मेरुः	१६०–६
रथचरणपाणिः—नारायणः	१६०–४
प्रासहरं—शोभनं	१६०–६
प्रवर्हं च—शोभनं	१६१–३
तापागते—स्वमि बौद्धे	१६२–७
श्रुतितः—आगमतः	१६२–१
विधन्—कुर्वन् 'विध् विधाने' इत्यस्यरूपं,	१६२–२
कुलालः—कुम्भकारः	१६३–१
सनातनः—नित्यः	१६३–४
उर्वरा—पृथ्वी	१६४–२
प्रभवभावः—कार्यकारणभावः	१६५–५
क्ष्वेडं—विषं	१६६–१०
पाण्डुतनया इवेति निदर्शनमयुक्तं चण्डकर्मादिकाले पाण्डुतनयानामभावादिति तत्र[3]	१६७–१
निगरणः—गलः	१६७–६
कुरली—संहतिः	१६७–७
डिण्डिमघुष्टं—घोषणा	१६८–२
कल्यपालाः—मद्यसंधानिनः	१६८–३
मादि—मकारादिपदत्रयस्य मधुमांसमद्यलक्षणस्य	१६८–४
चिक्कसा—खिल्लाः	१६८–१०

---

१. चण्डालप्लवमातंगदिवाकीर्तिजनंगमाः इत्यमरः—सम्पादकः *. दीखए पृ० १५१ टि० नं० २

२. तदुक्तं—देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः । मतत्रयमिहाश्रित्य नास्त्यन्यास्य गोचरः ॥ १ ॥

३. तदुक्तं—आराद् दूरसमं वस्तु कालात्ययात्पुराऽपि यत् ।
संभाव्यते न तदुक्ता तथात्वेन वदन् जडः ॥ तथा भवतु वा मा वाऽदृष्टात्यक्षनरकादिकं ।
न जातु दोषभाक् वक्ता स्वकालापेक्षया वेदन् तत्कालापेक्षया सर्वे न भावाः कविगोचराः
तत्सर्वज्ञादपरस्यास्ति न काव्येऽप्रसरोऽन्यथा । इति वचनात् ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
आवी—प्रसूतिव्यथा	१६८–१०
कंकेरा:—श्वान:	१६९–६
जोष:—सेवा	१६९–७
विधीतं—सकर्णं	१६९–७
आविग्नं—उद्विग्नं	१६९–९
वैदेहका:—वणिज:	१६९–१०
मन्यु:—कोप:	१६९–१०
मुकुरन्द:—दर्पण:	१७०–२
आवेशिक:—अतिथि:	१७०–४
पंचशाख:—हस्त:	१७१–३
मस्तुङ्कारा:—अभिमता:	१७१–७
¹अष्टाङ्गमहानिमित्तानि—	१७२–४
सभाजनं—प्रीति:	१७२–६
★ प्रायोपवेशनं—	१७२–११
अद्भुतमासमेत:—आश्चर्यलक्ष्मीसमन्वित:	१७२–१२
ब्रह्मपुत्र:—विषं	१७२–१३
सौल्किकेयं च—विषं	१७३–२
गन्धनं—प्रकाशनं	१७३–११
कौलीनता—दुरपवाद:	१७४–५
परिषत्—कर्दम:	१७५–२
घनसारं—कर्पूर:	१७५–२
अवचूलं—अवतंस:	१७६–५
विदग्धा:—बुधा:	१७६–५
समावर्तनं—आचार्यपदं	१७७–१
अराल:—दीर्घ:	१७७–८
लीला:—दशा:	१७७–८
नितले—तले	१७८–१
पर्यागत:—निषण्ण: ? ★निष्पन्न:	१७८–१

इति पञ्चम आश्वास:

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
सदागमं—मुनिकुमारयुगल-गुरुदेवता-पुरेश्वरपौर-जनागमनं	१७९–१
संयमधी:—तेषां मारिदत्तादीनामागमने प्राणिवधो माभूदिति बुद्धि:	१७९–१
कन्दलानि—शिर: सकलानि पल्लवानि वा	१७९–४
लेलिहाना:—सर्पा:	१७९–४
त्रिदिवदीर्घिका—गङ्गा	१७९–६
अर्जुनाम्बुजं—सिताम्बुजं	१७९–६
भिदु:—घुणकीटा:	१८०–२
[illegible]	१८०–४
दर्पोचिताचरणानन्दिता: विनीतावनिपालदारा येन शोभाढ्येति कण् दारक: इति—	१८०–४
दारक:—विदारणशील:	१८०–४
क्षुद्रा:—दुराचारा:	१८१–२
काद्रवेया:—सर्पा:	१८१–२
अनुजनर्म:—पश्चाज्जन्मपर्याय:	१८१–३
अभ्युदय:—इष्टशरीरेन्द्रियविषयप्राप्तिलक्षण:स्वर्ग:	१८२–६
नि:श्रेयसं—निखिलमलविलयलक्षणम्	१८२–६
आम्नाय:—आगम:	१८२–६
मिथ्यात्वादि—मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा:	१८३–१
मोह:—अज्ञानं	१८३–२
सन्देह:—इदं तत्त्वमिदं वाऽतत्त्वमिति चलन्ती प्रतिपत्ति: सन्देह:	१८३–२
विभ्रान्ति:—अतत्त्वे तत्त्वाध्यवसायो भ्रान्ति:	१८३–२
कार्ये—स्वरूपे	१८३–६
तरसं—मांसं	१८४–३
शक्ति:—स्त्रीशक्ति:	१८४–४
मुद्रा—योनिमुद्रा	१८४–४
कुणया—मदिरया	१८४–४

---

१. तथा चोक्तं—अन्तरिक्षं स्वरो भौममङ्गं व्यञ्जनलक्षणं । छिन्नं स्वप्न इति प्राहुर्निमित्तान्यष्ट तद्विद: ॥ १ ॥
ज्योतिर्भुविवरादेहोरेखाङ्कआदिभिर्यत: । छेदस्वप्नादिभिर्नॄणां ज्ञायते आत्मा शुभाशुभे ॥ २ ॥

★. तथा चोक्तं—बाहुल्ये भुक्तभावे च प्रायमाहुर्विचक्षणा: ।

★. अयं प्रामाणिकोऽर्थ: 'क०' प्रतित: संकलित:—सम्पादक:

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
जरावल:—वृद्ध:	१८५-१
निराश्रयं—निरन्वयं	१८६-४
ताथागता:—बौद्धा:	१८६-४
अव्यक्तं—प्रधानं	१८९-५
न्यक्षा:—धर्मरता.	१९२-२
मोक्षी—मुक्त:	१९२-२
षट्सु पातालेषु—शर्कराबालुकादिषु	१९५-३
व्यन्तरेषु—किन्नरकिम्पुरुषादिषु	१९५-४
भवनवासिषु—असुरनागादिषु	१९५-४
ज्योतिष्केषु—चन्द्रार्कादिषु	१९५-४
उषर्बुध:—अग्नि:	१९६-१
जाम्बूनदं—सुवर्णं	१९६-१
प्राणितं—जीवितं	१९६-३
भोगायतनं—शरीरं	१९६-४
नगौकसां—पक्षिणां	१९७-८
द्रुहिण:—ब्रह्मा	१९७-१०
अधोक्षज:—विष्णु:	१९७-१०
द्वैतं—गम्यागम्ययो: प्रवृत्तिपरिहारबुद्धिर्द्वैतं	२००-४
अद्वैतं—सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्वमद्वैतं	२००-४
यौगा:—वैशेषिका:	२०१-९
सायुज्यं—साम्यं	२०२-३-४
गतिस्थित्यादि—सर्वत्र वस्तूनां गतिनिबंधनं धर्म:, स्थितिनिबंधनमधर्म:, अप्रतीघातनिबंधनं नभ: परिणामनिबंधन: काल:	२०६-७
*प्रकृत्यादि:—	२०६-९
व्यत्यास:—विपर्यय:	२०७-५
चतुर्विधा:—अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदेन	२०८-१
पवमान:—वायु:	२०८-३
भूभ्रा:—पर्वता:	२०८-५
पोत्री—शूकर:	२०८-५
विष्टपं—भुवनं	२०९-४
आत्रेयी—रजस्वला	२१०-१
आप्लुत्य—स्नात्वा	२१०-१
उत्क्रान्ति:—मरणं	२१२-३
सनिकारं—सपरिभवं	२१३-४
प्रमीला—निद्रा	२१३-१०
अत्तव्यं—भोक्तव्यं	२१४-२
हे अम्ब—हे मात: !	२१४-७
खरं—अतीव [कठिनं टि.]	२१४-७
विशस्य—मारयित्वा	२१४-८
सपर्या—पूजा	२१५-१
पलाशी—रक्ष:	२१५-२
निष्कुट:—निर्गत:	२१५-३
अङ्कपाली—आलिङ्गनं	२१५-६
वार्ता—कुशलं	२१५-६
एकतानम्—एकाग्रं	२१५-७
अशिवताति:—अकल्याणं	२१५-७
उटजं—तृणगृहं	२१५-८
समन्ते—समीपे	२१५-९
समश्र:—आश्रम:	२१५-१०
ओतु:—मार्जार:	२१६-१
तितउ:—चालनिका	२१६-२
अमत्रं—पात्रं	२१६-२
कुशाशय:—जलाशय:	२१७-२
पत्ररथ:—पक्षी	२१७-५
अलोहल:—अव्यक्त:	२१८-२
कलापा:—पत्राणि	२१८-१०
उलप:—तृणविशेष:	२१८-१०
कासर:—महिष:	२१९-७
उषा—रात्रि:	२२०-३
निघ्न:—तत्पर:	२२०-३
विरोक:—किरण:	२२०-५
सर्ग:—अभिप्राय:	२२०-५
महिमा—महि पूजायामस्यौणादिक इम प्रत्यय:	२२१-४
वरूथिनी—सेना	२२१-७

* प्रकृति: स्यात्स्वभावोऽत्र स्वभावादच्युति: स्थिति: । तद्रसोऽप्यनुभाग: स्यात्प्रदेश: स्यादियत्तकं ॥ १ ॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
प्रतिघः—विघ्नः	२२१-८
¹सूदनं—निराकरणं	२२१-९
नूतनं—नव्यं	२२२-१
भूच्छाया—तिमिरं	२२३-१
वासतेयी—रात्रिः	२२३-१
यातुधानाः—राक्षसाः	२२३-१
न्यक्षासु—सर्वासु	२२३-२
अवगणः—एकाकी	२५२-२
भागधेयी बलिः	२२३-३
पतिम्वरा—कन्या	२२३-३
इष्टिः—पूजा	२२३-४
हुतवाहनः—अग्निः	२२३-७
क्रव्यादाः—राक्षसाः	२२३-८
सावित्र्याः—सावित्री नामकायाः	२२३-९
उदाहृत्य—उक्त्वा	२२३-११
तलवरः—तलारः	२२४-१
वृषन्—प्रधानः	२२४-४
शेमुषी—मतिः	२२५-३
केसरं—बकुलः	२२५-६
भोगायतनं – आत्मा	२२५-७
उदश्वितं—तक्रं	२२६-३
वयस्या—सखी	२२७-१
सराणि—कुल्याः	२२७-६
पंचालिकाः—पुत्तलिकाः	२२७-६
किल—पटु	२२७-६
मोहनं—सुरतं	२२८-२
अकूपारः—समुद्रः	२२८-५
पालिन्दी—वीची	२२८-५
निचायिता—अवलोकिता	२२८-७
पक्वणं—पलितः	२२९-६
प्लोषः—दाहः	२२९-६
विरतिः—आर्यिका	२३०-३
श्यालः—मैथुनकः	२३०-४

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
चतुर्थं—ब्रह्मचर्यं	२३०-८
गरणः—गलः	२३२-४
अनर्गलम्—अनवरतं	२३२-४
घाणीरं—नासिकायामपि	२३२-५
सृक्वः—ओष्ठपर्यन्तः	२३२-६
विशिखा—वीथी	२३२-६
उत्पातनिपाताः—उत्पतननिपातनक्रियाः	२३२-७
विप्लापं—भंजनं	२३२-८
अध्येषणम्—अर्थिता	२३२-८
आस्वनितं—मनः	२३३-१
उदालोय—उद्धृत्य	२३३-२
अशनाया—क्षुत्	२३३-३
अपघनम्—अङ्गम्	२३३-५
अप्रतिघं—निर्विघ्नं	२३३-५
वितर्दि—वेदिका	२३३-६
उपकुष्टं सुसम्	२३३-६
इन्दिरा—श्रीः	२३३-७
भर्मिः—धूर्तत्वं	२३३-८
श्याम—बलं	२३३-८
त्रिदिवः—देवाः	२३३-११
समज्या—कीर्तिः	२३३-११
निर्वर्णितः—सविस्मयं निरीक्षितः	२३४-१
अनिमिषाः—देवाः	२३४-३
मखः—यज्ञः	२३४-९
भर्मि—परवंचनकरः आडम्बरः	२३४-१०
बृसी—पट्टकः (कुशासनं)	२३४-११
आचामः—आचमनं	२३५-१
संस्तवः—मनसा कायेन वा सत्कारकरणं	२३५-४
ज्ञानं—मन्त्रवादादिविषयं ज्ञानं निर्बीजीकरणादिविषयं	२३५-४
विधुराः—राक्षसाः	२३५-६
पारावारः—समुद्रः	२३५-६
अष्टाङ्गमहानिमित्तानि—भौमस्वरशरीरव्यञ्जन-लक्षणछिन्नभिन्नस्वप्नाः	२३५-७

१. 'अधः सूदनं-निराकरणं' 'क'

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
गगनगमना:—विद्याधरा:	२३६—१
वीध्र:—विशद:	२३६—२
निलिम्पा:—देवा:	२३६—२
दोहृद:—मनोरथ:	२३६—५
पदवी—स्थानं मार्गो वा	२३६—८
आवश्यकं—नियमता	२३६—८
* चित्तं—आत्मा	२३६—९
मल्लकं—भाजनं[1]	२३७—१
किशारु :—शालकं अग्रविभागमित्यर्थ:	२३७—३
असिस्पृष्टा:—असंकीर्णा:	२३७—४
विकटा:—महान्त:	२३७—४
उदवसितं—स्थानं	२३७—५
अगदम्—औषधम्	२३७—८
वाक्यक्रमासि:—वाक्यक्रम एव असि: खड्ग:	२३८—१
नीहार:—पुरीषं	२३८—७
प्रतीक्षा—पूजा	२३९—१
मायायत्काय:—शुम्भच्छरीर:, यो वै शोषणे दृश्यस्य रूपं	२३९—२
निचायिका:—निचायो दर्शनं स विद्यते येषामिति	२३९—४
आदीनवं—दोष:	२३९—६
वशिकं—शून्यं	२३९—८
सर्ग:—निश्चय:	२४०—१
बहिर्वृत्ति—बाह्याचारे	२४०—२
अमृतान्धस:—देवा:	२४१—१
कुतपा:—दर्भा: (कुशा:)	२४१—१
[2]अम्भोजभव:—ब्रह्मा	२४१—४
कीनाश:—यम:	२४१—९
पवनाशनेश्वर:—शेष:	२४१—९
सिचयं—वस्त्रं	२४१—१०
अमर्त्या:—देवा:	२४२—१
पक्षद्वयं—कृष्णशुक्लपक्षौ	२४२—२
चञ्चरीका:—भ्रमरा:	२४२—३

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
नालं—कमलं	२४२—३
आखण्डलात्मजा:—वीरसमूह:	२४२—४
तत्सुता—श्री:	२४२—४
रथचरणं—चक्रं	२४२—४
नन्दक:—खड्ग:	२४२—४
अरुणानुज:—गरुड:	२४२—५
कौमोदकी—गदा	२४२—७
पाशभृत्—वरुण:	२४२—९
शाक्वर:—वृषभ:	२४२—९
अन्वक्—पश्चात्	२४२—९
नगनन्दना—गौरी	२४२—९
निबिरीस:—निबिड:	२४२—९
उद्भवा:—तरल:	२४३—१
पिण्डं—काय:	२४३—१
अम्बकं—लोचनं	२४३—२
भालं—ललाटं	२४३—२
गगनाटना:—देवा:	२४३—३
तटिनी—नदी	२४३—३
प्रालेयकर:—चन्द्र:	२४३—३
विरोका:—किरणा:	२४३—४
सार:—कर्बुरं	२४३—४
आजकावं—धनु:	२४३—५
प्रकोष्ठा:—हस्ता:	२४३—५
स्तम्बेरमासुर:—गजासुर:	२४३—५
अनलोद्भव:—गुह:	२४३—६
हेरम्ब:—विनायक:	२४३—६
पारिषदा:—गणा:	२४३—६
अहिर्बुध्न:—रुद्र:	२४३—७
वल्लवी—गोपी	२४३—८
जनश्रुति:—वार्ता	२४३—८
कालिन्दीसोदर:—यम:	२४३—१०
स्वापतेयं—धनं	२४४—२

* 'बुद्धेरात्मनो वा' इति टिप्पणीकार: ।

१. 'धारक:' इति माधव: ।

२. 'कमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्य' इति टि० ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अमोघमुखासनं—धनुः	२४४ २
सुषणं—वक्षं	२४४–३
शिफाः—जटाः	२४४–६
इरावती—नदी	२४४–८
[1]पर्यात्मधामनि	२४४–१०
गोषः—आहारः	२४५–१
धैयात्यं—धूर्तत्वं	२४५–१
रचनैः—संबंधैः	२४५–४
[illegible]	[illegible]
* आदितं—अप्रहीत्	२४५–६
कादम्बः—हंसः	२४५–८
तार्क्ष्यः—गरुडः	२४५–८
सवित्री—माता	२४६–४
पश्यतोहरः—चौरः	२४६–९
सनीडं—समीपं	२४७-२
मलिम्लुचाः—चौराः	२४७–३
ओकः—आवासः	२४८–१
कैरवं—कुमुदं	२४९–१
अर्जुनज्योतिः—चन्द्रः	२४९–१-२
प्रत्यवस्यन्तं—चलन्तं	२४९–७
पंचजनः—मनुष्यः	२४९–९
गोत्रा—भूः	२५०–२
अभिषेणः—सेनया अभियातीति	२५०–२
उद्गूर्णः—उद्यतः	२५०–३
संवीणः -- प्रवीणः	२५०–३
मृगायितुं—पलायितुं	२५०–९
भ्रमिलं—वक्रं	२५१–७
निचाय्य—अवलोक्य	२५२–१
सोत्तालं—त्वरितं	२५२–१
आत्महितस्योपकारिध्ये—आत्महितस्य प्रतियत्ने कुरु इति	२५२–४
खिर्सैः—वृद्धैः	२५२–७
अगदंकरम्—औषधं	२५२–९

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
पृदाकुः—सर्पः	२५३–५
वारिषेण ऋषिणा—इत्यत्र 'ऋत्यकः' इत्यनेन प्रकृतिभावान्न सन्धिः	२५३–६
वक्षोजौ—स्तनौ	२५३–९
प्रत्यवसानं—भोजनं	२५४–८
मङ्क्षु—झटिति	२५४–९
उदर्कम्—आयतिः	२५५–१
अद्धा—लघुः (शीघ्रं)	२५५–२
सरागं—मंचकादिकं	२५५–३
आविद्धं—निर्भरः आभुग्नो वा	२५५–५
मरालः—हंसः	२५५-७
चलनः—चरणः	२५५–७
कीकसम्—अस्थि	२५६–२
भ्रातृजाया—भ्रातृभार्या	२५६–४
उद्धवः—दर्पः	२५७–१
शकलितं—खण्डितं	२५७–१–२
अमुत्र—परलोके	२५७–९
अन्तर्वत्नी—गर्भिणी	२५८–५
माकन्द-रसाल-पिकप्रिय-कालिदासाः—चूतपर्यायाः—	२५८–५
शिफाः—जटाः	२५८–६
प्रतानिनी—लता	२५८–६
दीर्घिकेयं—कमलं	२५९–५
मित्रेण—रविणा	२५९–५
ब्रह्मवर्चसं—यतिव्रतविद्याप्रभावाः	२५९–५
प्रतोली—वरण्डिका	२५९–६
ऊर्ध्वज्ञोः—ऊर्ध्वजानोः	२६०–६
शङ्कुः—कीलकः	२६०–१०
इलामातुलः—चन्द्रमुखी ? [[1]चन्द्रः]	२६१–५–६
कङ्केलिः—अशोकः	२६२–१
पोधं—बालस्य पेयं दुग्धादि	२६२–७
मामः—ज्येष्ठभगिनीपतिः	२६३–४
प्राग्भारः—विस्तारः	२६३–९

1. 'परि-सामस्त्येन आत्मधामनि' टि० । * 'आपादिता' मु. प्रती ।

† टिप्पणीमनुसृत्य संशोधितं परिवर्तितं च—सम्पादकः

* टिप्पणीमनुसृत्य संशोधितं परिवर्तितं च—सम्पादकः

शब्द	अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
स्खलितं	वर्त्म	२६३—११
शयालुः	अजगरः	२६४—१
प्रत्यूहः	विघ्नः	२६४—२
शोणिणी-फेनमालिनी च	नदी	२६४—३—६
परैधितः	परपोषितः	२६५—१
अपनेतारो	जातिकरणादिक्रियाकर्तारो	२६५—३
पुण्यजनाः	राक्षसाः	२६५—६
खिलं	दूषिकोपहृतं	२६५—९
चिकिनं	अल्पं	२६५—९
प्रतीक्ष्यः	पूज्यः	२६६—१
अनुहारः	सदृशः	२६६—८
गोत्रेण	नाम्ना	२६६—८
भ्रमरकाः	अलकाः (केशाः)	२६६—९
कादम्बरी	मदिरा	२६६—१०
सविधे	समीपे	२६७—१
निवार्य	एकत्रीकृत्य	२६७—६
रणरणकः	कलमलः (अरतिजनकः)	२६७—८
शरणं	गृहं	२६७—८
शुद्धोदनतनयः	बुद्धः	२६८—४
अह्नानि	दिनानि*	२६८—४
अर्हणा	पूजा	२६८—९
प्रत्यवायः	विघ्नः	२६८—९
आयतनं	कारणं	२६९—१
क्ष्वेलितं	हस्तमुखसंयोगजो ध्वनिः	२६९—२
सामयिकः	कालोचितः	२६९—२
कुम्भीरं	जलचरविशेषः	२६९—४
शकुन्तेश्वरः	गरुडः	२६९—४
भद्रकुम्भाः	पूर्णकुम्भाः	२६९—५
छायाः	ह्रस्वाः	२६९—५
कर्णीरथः	शिबिका	२६९—५
भम्भाः	ढक्काः	२६९—६

शब्द	अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
विहायोविहाराः	खेचराः	२७०—१
चक्रचरणः	रथः	२७०—४
सौचित्यं	सौमनस्यं	२७०—९
सब्रह्मचारी	समानशीलः	२७०—१०
त्रिविधातङ्काः	शारीरमानसागन्तुभेदाः	२७१—३
सुधान्धसो	देवाः	२७१—४
विशाला	उज्जयिनी	२७१—४
काश्यपी	भूः	२७१—५
नक्रः	मकरः	२७१—५
दिवस्पतिः	इन्द्रः	२७१—५
अजिह्मः	पटुः	२७१—८
भुवस्त्रय्यं	भुवनत्रयं	२७१—८
उद्यावः	उत्सवः	२७२—१
मेदिनीनन्दनाः	तरवः	२७२—३
समूहेन	सम्यक् ऊहो यस्य ।	२७२—३
मुकुरन्द	दर्पणः	२७२—५
कलिः	विभीतकतरुः	२७२—७
[1]भलिः	कर्मायोग्यो बलिः	२७२—८
प्रवेकाः	मुख्याः	२७३—५
हलिः	महद्धलं	२७३—५
इला	भूः	२७३—५
सावेः	वादित्रः, अवेरौणादिकः इ प्रत्ययः	२७३—६
करिणः	गजात्	२७३—८—९
प्रभित्	प्रभेदनं	२७३—१०
अलिः	भ्रमरः	२७३—१०
समनिसर्गः	निश्चयः	२७४—२
मातलिः	सारथिः	२७४—३—४
विबुधः	बुधः	२७४—४
भट्टः	अविद्वान्	२७४—६
सम्भजनं	प्रीतिः	२७४—६
अवलीलम्	अनायासं	२७४—७

* अह्नोऽस्त्री नपुंसकलिङ्गत्वात् । स्त्रीलिङ्गे टापि ङी विधौ च सति अह्ना, अह्नी इति च भवति, अष्टाह्ना इत्यभूत् । अस्याह्नः स्त्रियां सङ्ख्यं अष्टाह्ना, अष्टाह्नी अष्टाह्नीति ।

१. दुष्टवृषः शक्तोऽप्यधुर्वहः टि० ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
मन्दाक्ष्यं—लज्जा	२७४–७
अशिवता—अकल्याणं	२७५–१
हिमवती—गङ्गा	२७५–३
वाद्बलिः—गजागमाचार्यः	२७५–४
सूक्षणं—परिभवः	२७५–१०
कालेयं—कुङ्कुमम्	२७६–१
सुरसरित्—गङ्गा	२७६–१
संवीणः—प्रवीणः	२७६–७
सर्वधुरीणः—सर्वकर्मणि कुशलः	२७६–७
अवस्कन्दः—धाटकः	२७६–९
अवसर्पाः—चराः	२७६–९
अभ्यमित्रीणं—शत्रु-अभिमुखं	२७६–९
अलर्क—स्वामिन्	२७७–३
अलर्कः—ग्रहिलश्च	२७७–८
समाशाखः—मासः	२७७–९
अजन्यं—उपद्रवं	२७७–१०
तमी—रात्रिः	२७८–१
समीरमार्गः—आकाशं	२७८–२
चमूरः—व्याघ्रः	२७८–२
ऊर्णनाभः—लूता	२७९–१
* शालाजिरं—शरावं	२७९–७
सप्ततन्तुः—यज्ञः	२७९–८
तृतीयेन—उदासीन	२७९–८
सवनेन—स्वरेण	२७९–८
विरिञ्चः—ब्रह्मा	२७९–९
सत्रं—यज्ञमण्डपः	२८०–१
आलू—करकः [भृंगारं झारी टि०]	२८०–३
संक्रन्दनः—शक्रः	२८०–४
सरिन्नाथः—समुद्रः	२८०–५
गोधः—गुल्फः	२८१–१

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
कामचरः—चरणः	२८१–४
चक्रवालः—मानुषोत्तरो गिरिः	२८१–४
निदानं—कारणं	२८२–४
सगन्धः—समानः	२८२–६
निध्यानं—[प्रतिमाऽवलोकनं टि०]	२८२–७
[1]निहालनं, वाहनं—दर्शनं च	२८२–७
नाकिषु—देवेषु	२८२–८
अधिमुक्तिः—श्रद्धा	२८३–२
अंशुमान्—रविः	२८३–३
निबर्हणं—निरसनं	२८४–४
त्रिविधस्य—द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकभेदेन	२८५–६
एकादशविधः—मूलव्रतं व्रतान्यर्चा इत्यादिभेदेन	२८६–१
चतुर्विधः—ऋषि-यति-मुन्यनगारभेदेन	२८६–१
मूढत्रयस्य मदानां च विकल्पं कविः स्वयमेवो त्तरत्र वक्ष्यति—	२८७–३
अनायतनानि षट्—कुदेवतदालयतदागम इत्यर्थः	२८७–३
अप्रसङ्गः—अप्रतिषेधः	२८७–९
रविरिपुः—उलूकः	२९०–६
[2]ज्ञानमेकमित्यादि	२९१–२
इति यश० पञ्जिकायां षष्ठ आश्वासः	
वैकटकर्म—शोधनादिक्रिया	२९४–१
निदानत्वात्—कारणत्वात्	२९४–११
[3]उपाख्यानं—कथानकं आख्यानकं तस्य चेदं लक्षणम्	२९५–१
अखर्वः—महान्	२९५–१
एकचक्रं—पोदनपुरं	२९५–१
पलं—मांसं	२९५–४
कश्यं हारहूरं च—मद्यं	२९५–४
आशुशुक्षणिः—अग्निः	२९६–२
तरसं—मांसं	२९६–२
मत्तालयः—मत्तभ्रमराः	२९६–९

*. शरावो वर्धमानकः इत्यमरः।

१. हल विशोधने, वह परिकल्पने अनयोः रूपं।

२ देखिए पृ० २३१ की टि० नं० ३३

३ इतिहासः पुरावृत्तं प्रबन्धरचना कथा। वृत्तोपलब्धकथनं वदन्त्याख्यानकं बुधाः ॥ १ ॥

शब्द — अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
कार्णं—छिद्रं	२९६-७
खरपटागम:—ठकशास्त्रं	२९६-८
मलिम्लुचा:—चौरा:	२९६-८
मैरेयं—मद्यं	२९७-३
यष्टायष्टि, मुष्टामुष्टि इत्यत्र पूर्वपदात्स्यात्वमीप संख्यानं	२९७-३
चिरत्नाय—चिरं	२९७-७
उदर्के—आयत्यां (आगामिकाले)	२९८-६
आनृशंस्यं—दया	२९९-६
दृति:—भस्त्रा, 'चर्ममाण्डेषु' टि०	३००-३
कुतुप:—चर्ममयं स्नेहभाजनं	३००-३
मय:—उष्ट्र:	३००-४
खिपद्रो:—विपत्तरी:	३०१-४
उद्यावेन्दिरा—उत्सवयो:	३०२-५
आसंदी—स्थानं	३०२-५
आङ्कलं—मांसं	३०२-६
निवर्हणमलीति निवर्हणात्—अदय:	३०२-६
पृदाकुपाक:—सर्पशिशु:	३०२-९
अनिमिषचरौ—भूतपूर्वमत्स्यौ	३०३-७
एकानस्यां—उज्जयिन्यां	३०४-१
परासुता—मरणं	३०५-२
दर्शनं—मांसरुधिरादीनां,	
स्पर्शनं—शुनकरजःस्वलादीनां,	
संकल्प:—इदं मांसमिदं रुधिरमित्याशय:,	
संसर्ग:—मूलजीवजन्त्वादिभिरशुद्धता,	
त्यक्तभोजिता—परिहृतान्यवहरणं	
ग्रासप्रत्यूह:—भोजनविघ्न:	३०५-१
अमिश्रं—केवलं	३०७-६
मिश्रं—संयुक्तं	,, ,,
उत्सर्गं—निरपवादं	,, ,,
१ तथा कालाश्रयं, देशाश्रयं अवस्थाश्रयं च	३०७-६
वल्ली—गुडूच्यादिका	३०७-७
कन्द:—सूरणादिक:	३०७-७
द्विदलं—माषमुद्गचणकादिधान्यं	३०७-८
शिम्बय:—फलय:	३०७-८
साधिता:—रद्धा:	,, ,,
परिदेवनं—रोदनं	३०८-२
कृच्छ्रं—प्रायश्चित्तं	३१०-५
पृथुरोमा—मत्स्य:	३१२-६
शकुली, वैसारिण:, अषझषीण: पाठीनश्च—मत्स्य:	३१२-३-१०
निध्याय—अवलोक्य	३१२-८
आनाये—जाले	३१३-५
प्रमापयितव्य:—हिंसितव्य:	३१३-५
शैवलिनी—नदी	३१३-७
अररं—कपाटं	३१४-३
भित्तं—शकलं	३१४-४
सरीसृप:—सर्प:	३१४-५
व्युष्टं—प्रभातं	३१४-५
उषर्बुध:—अग्नि:	३१४-६
द्रविणोदाश्च—अग्नि:	३१४-७
कुलपालिका—कुलस्त्री	३१४-११
समापन्नसत्वा—गर्भिणी	३१४-११
पाञ्चजनीन:—जनप्रिय:	३१४-१२
कलत्रं—जघनं भार्या च	३१५-३
स्वापतेयं—धनं	३१५-३
वनाशय:—जलाशय:	३१५-४
प्रतिग्रह:—स्वीकार:	३१५-६
उद्गमनीयं—धौतवस्त्रं	३१५-७
नवरक:—दोर:	३१५-०
वासो—वासर:	३१५-८
उदवसितं—गृहं	३१५-८-९
परिसर:—अङ्गणं	३१५-९
विशीर्यमाणा—म्लायन्ती	३१५-९
निध्याय—दृष्ट्वा	३१५-९
प्रतीक्ष्याय—पूज्याय	३२२-३

१. एतच्च भेदान्तरं पिण्डशुद्ध्यादिशास्त्रेभ्यो विस्तारेण प्रतिपत्तव्यं ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति	शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
वृषः—मुख्यः	३१६–१	कमलेशः—श्रीपतिः	३१८–७
अधिष्ठानं—आश्रयः	३१६–१	वल्लवी—गोपी	३१८–७
शेवधिः—निधिः	३१६–२	कामन्दः—कामः	३१८–८
¹आलिन्दकः	३१६–४	प्रज्ञुः—प्रकृष्टजानुः	३१९–१
चित्रभानुः—अग्निः	३१६–५	पौतव—तुला मानं च	३१९–२
उपांशुदण्डः—गुप्तवधः	३१६–६	विष्यः—विषेण वध्यः	३१९–२
प्रमीतः—मृतः	३१६–७	मुशल्यः—मुशलेन वध्यः	३१९–२
श्वपचः, जनंगमः, अन्त्यावसायी	३१६–६	एकानसी—उज्जयिनी	३१९–४
दिवाकीर्तिश्च—चाण्डालः	३१६–८-९	पदिरः—मार्गः	३१९–४
जिह्मः—कुटिलः	३१६–८	पिकप्रियः—चूतः	३१९–४
ब्राह्मी—वाणी	३१६–८	कर्कोटः—कण्ठरेखा	३१९–९
स्तनंधयः—शिशुः	३१६–८	अर्जुनं—तृणं	३२०–१
*रामरश्मिः हरिणकिरणवद्य श्वेतभानुभवान् इति यावत्	३१६–१०	धानकेयं—[illegible]	३२०–२
निःशलाकः—एकान्तः	३१६–१०	यूपदः—सहिरण्यकन्यादायं जामातृदेयं वस्तु	३२०–३
पणः—व्यवहारः	३१७–२	वेदमुखः—वह्निः	३२०–३
शण्डाः—वृषभाः	३१७–२	विशिखाः—मार्गाः	३२०–४
गोष्ठीनं—गोकुलस्थानं	३१७–३	आमुच्य—बद्ध्वा	३२०–४
सनीडं—समीपं	३१७–३	कच्चरं—कुत्सितं	३२०–८
लपनं—मुखं	३१७–३	महारजनं—कुसुंभं	३२०–१०
तार्णकाः—वृषभाः	३१७–४	मोरः—मयूरः	३२०–१०
आर्तं—बालं	३१७–४	मौकुलिः—काकः	३२०–१०
कीनाशः—यमः	३१७–७	अवगणः—एकाकी	३२१–३
तोकम्—अपत्यं	३१७–८	असंस्तुतः—अपरिचितः	३२१–३
संज्ञपनं—मारणं	३१७–९	उपयाचितं—नमस्थितं	३२१–४
उपह्वरं—रहः	३१७–९	स्पर्शयितुं—दातुं	३२१–४
उपमाता—धात्री	३१८–२	निकाय्यं—गृहं	३२१–६
हंभा—गोरुतं	३१८–३	वंध्यो—निर्भाग्यः	३२१–७
उपधान्तरं—समीपं	३१८–३	प्रवासयितव्यो—मारयितव्यः	३२१–७
सरोजसुहृदि—आदित्ये	३१८–४	भेलः—अविचारकः	३२१–८
बल्लवाः—गोकुलिकाः	३१८–५	कुहण्डः—मार्जारः	३२१–८
इन्दिरा—श्रीः	३१८–६	तोदकः—व्यथकः	३२१–९
		दमाथः—कर्दमः	३२२–१

१. प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके इत्यमरः।

* रामः सितेऽपि निर्दिष्टो हरिणश्च तथा मतः इति वचनात्।

शब्द — अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
आप्य—आगत्य	३२२-४
वापेन—पिता	३२२-५
दशमीस्थः—मृतः	३२२-८
प्रतिघः—विघ्नः	३२२-८
पद्मावती—उज्जयिनी	३२३-२
तुला—पुत्रेण	३२३-२
रमा—श्रीः	३२३-६
अश्रियः बन्धारिनः	३२३-६
विवान्यः—विदग्धः	३२३-८
वदान्यः—त्यागी	३२३-८
अवदानं—साहसं	३२३-८
मित्रयुः—व्यवहारवेदी तस्य भावो मैत्रेयिका	३२३-९
मन्युः—खेदः	३२३-९
कन्तुः—कामः	३२३-९
सरकः—मधुरः	३२४-१
दमूनसि—वह्नौ	३२४-३
वचस्यं—वचनं	३२४-५
द्योयजः—अतीन्द्रियजः	३२४-६
निरजन्यं—निर्विघ्नं	३२४-७
सायुज्यं—साम्यं	३२४-८
रायि—धने	३२५-४
रिक्थं—द्रव्यं	३२५-५
द्रविणस्य—धनस्य	३२५-५
सांपरायं—संशयाय	३२५-६
ततः—स्तेनात्	३२५-८
अनिमिषाः—देवाः	३२६-५
कुल्याः—शालाः	३२६-९
यवसं—तृणं	३२६-९
भटीराः—भटाः	३२६-१०
पीठमर्दः—नाटकाचार्यः	३२७-१
सनाभिः—बन्धुः	३२७-४
पुण्यश्लोक—सत्यवाक्	३२७-६
उपनिधिः—स्थापनीयं द्रव्यं	३२७-९
वस्तुस्कन्धं—वस्तुसमूहं	३२८-१
मद्रुविल्वः—दैवावलम्बनपरः	३२८-२
क्षणदा—रात्रि	३२८-३
वशिकः—शून्यः	३२८-४
वासिता—स्त्री	३२८-५
विदग्धकर्मणि—आतिथ्ये	३२८-५-६
संद्रवणं—विनाशः	३२८-६
अस्तमनस्ता—दुःखिता	३२८-६
क्षातः—कृशः	३२८-७
पटच्चरं—जीर्णं	३२८-७
कर्पटिः—निःस्वः	३२८-७
पस्त्यं—गृहं	३२८-७
अवर्ता—निर्जीविका	३२८-७
धङ्क्षा—तृष्णा	३२९-२
दुर्दुरूटः—दुराग्रही	३२९-२
लञ्जिका—दासी	३२९-४
पाटच्चरः—चौरः	३२९-७
अणकः—कुत्सितः	३२९-७
प्रत्ययिकः—विश्वास्यः	३२९-७
अतिवेलं—अतीव	३२९-७
शम्बलः—वाचालः	३२९-९
पालिन्दः—राजा	३२९-९
* अन्याय्यं—असंगतं	३२९-१०
अनर्शितः—नाथरहितः	३२९-१०
तानकः—वृषभः	३२९-१०
विक्कणः[1]—अपरिच्छेदकः	३३०-३
स्वाध्यायिनः—मठिकाप्रतिबद्धाः	३३०-३
महापरिषदः—न्यायचिन्तनापिकुलाः	३३०-३
अनधीनश्रीः—परवशबुद्धिः	३३०-४
अधक्षुका—स्थिरास्थिरा	३३०-४
नेमं—समीपं	३३०-४

* इदं पदमुपलब्धासु कासुचित्प्रतिषु न वरीवर्ति—सम्पादकः

१. 'कोविदः' इति टि० ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
तमस्विनी —रात्रिः	३३०–५
प्रहृदः—असम्बद्धप्रलापी	३३०–७
सर्वर्तुपरिवर्तः—संवत्सरः	३३०–८
उपसर्विनी—वापी	३३१–१
अनुक्रोशः—अनुग्रहः	३३१–२
परिप्लुतः—गृहीतः	३३१–३
परिवत्सरदलं—संवत्सरार्द्धं	३३१–४
व्याहारः—आलापः	३३१–४
मन्त्रैः—मन्त्रिणः	३३१–५
अम्बके—अम्बा	३३१–५
गुन्द्राः —कुटिलाः	३३१–६
कुक्कुटी—माया	३३१–६
ऊर्मिका—मुद्रा	३३१–६
चिलिपिका—चिन्ता	३३१–७
विषमर्षिः—अग्निः	३३१–८
संगीतिः—संकेतः	३३१–९
स्वस्त्ये—भाविनि	३३१–९
अध्येष्य—प्रार्थ्य	३३१–१०
नन्दनं—देवोद्यानं	३३२–२
वैदेहिकनन्दनः—वैश्यपुत्रः	३३२–२
विष्टया—पुण्येन	३३२–२
उपयिकं—उचितं	३३२–८
क्लिमी—हृदयं	३३२–८
कौलीनता—दुरपवादः	३३२–९
न्युब्जं—अधोमुखं	३३२–१०
हरिणी—स्वर्णप्रतिमा	३३२–१०
सूर्मी—लोहप्रतिमा	३३२–१०
सोमपायिनः—ब्राह्मणाः	३३३–१
नैर्ग्रन्थ्यः—निर्ग्रन्थः	३३३–१
कुशिकाः—ब्राह्मणाः	३३३–२
पांसनं—दूषणं	३३३–२
वैदर्वैधिकः—वेदानुष्ठानरतः	३३३–३
विश्वभोजः—अग्निः	३३३–४
चैत्यं—आस्पदं	३३३–४
दुर्गतिकः—जारः	३३३–४
चर्मतकः—भूर्जकः	३३३–५
[1] विस्रो—जरा	३३३–५
वयोभाः—युवा	३३३–६
अभिसारं—धूर्तं	३३३–६
विश्ववेशाः—अग्निः	३३३–६–७
उद्गर्धितं—भृत	३३३–८
शालाजिरं—शरावं	३३३–८
किर्मिरः—कर्बुरः	३३४–१
परिषत्—कर्दमः	३३४–१
समालिः—विलेपनं	३३४–२
परिष्कृतः—अलङ्कृतः	३३४–२
वालेयकः—गर्दभः	३३४–२
हिरण्यरेताः—अग्निः	३३४–३–४
अन्ववाये—वंशे	३३४–४
रोहिदश्वः—अग्निः	३३४–७
दंदशूकः—सर्पः	३३४–७
आनृशंसधीः—परद्रोहबुद्धिः	३३५–१
परीवादः—असम्बद्ध[?]लापः	३३५–४
अन्धांसि—अन्नानि	३३५–७
आस्थाग—प्रतिज्ञाय	३३५–८
परिवादयेत्—निन्दयेत्	३३६–२
प्रतिकर्म*—नैपुण्यं	३३८–३
२ विप्रश्नविद्या—	३३८–३
३ कथा—चित्रार्थकथा	
४ आख्यायिका—ख्यातार्था	३३८–३
प्रवह्लिका—प्रहेलिका	३३८–३
संवीणता—पटुता	३३८–४

१. जरा विस्रोतिकव्यते इति वचनात्।

* देखिए पृ. ३३८ की टि. नं० ४

२ होराशास्त्रादिभिः अथवा अहोरात्र्यादिभिः शुभाशुभज्ञानं।

३-४. देखिए पृ. ३३८ की टिप्पणी नं० ६

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
विधिका—प्रवंचनोपाय:	३३८—६
● कात्यायिनी—	३३८—६
संगरं—प्रतिज्ञां	३३८—८
चाम्पेयं—चम्पक:	३३९—४
भोगायतनं—शरीरं	३४०—१
निरनुक:—असहाय:	३४०—२
[1]जङ्घाकरिक:—चर:	३४०—३
अशना—क्षुधा	३४०—३
वाप्पीहः—चातक:	३४०—४
क्लमथु:—श्रम:	३४०—४
मन्दिरं—मण्डप:	३४०—४
कविष्य:—शास्त्रोपदेशयोग्य:	३४०—५
विदुषं—पण्डित:	३४०—५
आशीति:—आशय:	३४०—६
न्यक्ष:—सर्व:	३४०—६
ज्वालामाली—पावक:	३४०—७
तपस्वी—वर्पुद:	३४०—९
एकायनं—एकाग्रं	३४०—९
जन्यु:—पुत्र:	३४१—९
विदुष्या:—विचक्षणा:	३४२—६
विघुस:—स्फोटित:	३४२—७
[2]उपाध्मायात्—	३४२—७
एकसर्ग:—एकाभिप्राय:	३४२—७
सप्तरुचि:—अग्नि:	३४२—११
समिथ:—गोधूमचूर्णं	३४३—४
ऊर्णायु:—उरण:	३४३—४
[3]हव्यवाहवाहन:—	३४३—५
खर्व:—लघु:	३४३—६
कुड्यं[4]—भित्ति:	३४३—६
द्रुघण:—वेधा:	३४३—८

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
अपसद: उपसदो वा—गत:	३४४—२
अन्तेवासिन:—शिष्या:	३४४—६
परार्ध्ये वा—गततृतीयवर्णे एव	३४४—७
पदत्—गतवर्गे	३४४—७
सजू:—सह	३४४—७
द्वापर:—संशय:	३४४—८
अद्यश्वीने—पुराणे	३४४—९
अपरवान्—स्वतंत्र:	३४४—९
[5]भावृग्विधीने—	३४४—९
अस्तुङ्कारं—अमंगलं	३४५—१
रसवाहिनी—जिह्वा	३४५—२
कशिपू—भोजनाच्छादने	३४५—४
● आचित:—भार:	
अन्तर्धानं—तिरोधानं	३४५—८
इन्दिन्दिर:—भ्रमर:	३४६—५
शरव्यीकृते—लक्ष्यीकृते	३४६—६
अपराद्धेषु:—लक्ष्यच्युतबाण:	३४७—७
उत्कुर्वाण:—प्रकाशयन्	३४६—८
उद्बुद:—रस:	३४६—९
असमीक्ष्यं—अपरीक्षणीयं	३४७—१
मन्यु:—दु:खं	३४७—२
कोहले—अव्यक्ते	३४७—२
काहले—चन्द्रे	३४७—३
प्रजा:—दिश:	३४७—५
नतभ्रू:—विलासिनी	३४७—९
उदकगर्दिचारिका—कुण्डिका	३४७—११
ह्रीणता—लज्जा	३४८—४
शलल:—शलाका	३४८—५
अगणेयं—गणयितुमशक्यं	३४८—५
पिञ्छोल:—वंश:	३४८—६

● देखिए पृ. ३३८ की टिप्पणी नं० १० ।

१. चरणचर: पादचारी ।

२. उपाधेरसदाचारस्य आय: उत्पादो येन स: तस्मात् ।

३. हव्यवाहवाहन:, उरभ्र:, वृष्णिदश मेष: ।

४. 'कुड्या' सर्वत्र प्रतिषु ।

५. सादृशां विधिस्तस्य इने ईश्वरे ।

※ इदं पदं मु० पू० हृ० लि० प्रतिषु नास्ति ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
कशा—हृदयहननोपकरणं	३४८–६
पृथु—महत्	३४८–७
विरुद्धघुष्टं—दुरपवादघोषणा	३४८–८
श्रीफलं—बिल्वं	३४९–१
द्वीपिनी—नाम नदी	३४९–१
उल्लापः—घटना	३४९–५
१ निर्वरः—निर्भरः	३४९–५
पोतम्—पद्दशनः	३४९–७
कापिशायिनं—मद्य	३४९–११
चेतन्—आगम्	३४९–११
* उपन्यस्यमानः—	३५०–१
आवेगेन—शोकेन	३५०–४
ससत्वन्तूनां—यज्ञानां	३५०–५
ईतिभिः—२सर्पकण्टकादिभिः	३५०–८
श्रुतिधृतिः—ब्रह्मा	३५०–९
क्लीवं—नपुंसकं	३५१–२
जित्या—कृषिः	३५२–१
शाम्बर्या—मायया	३५२–७
प्सात्वा—खादित्वा	३५२–९
वीतिहोत्रः—अग्निः	३५२–९
द्राघीयः—दीर्घतरं	३५३–१
ग्नाधीपतिः—अग्निः	३५३–१–२
धनञ्जयश्च—अग्निः	३५३–२
हव्यं—दैवदेयं	३५३–२
कव्यं—पितृदेयं	३५३–२
शोचिष्केशः—अग्निः	३५३–३
क्षीनः—क्षीणः	३५३–३
आदीनवं—दोषः	३५३–५
हुतप्रीतिः—अग्निः	३५४–३
भावाप्तिः—रतिरसप्राप्तिः	३५४–५
तृतीया प्रकृतिः—नपुंसकः	३५४–६
इन्धे—दीपिते	३५५–३
अभिध्यानं३—आकाङ्क्षा	३५५–४
उपयमः—विवाहः	३५५–५
अपदव्यं—यन्त्रलिङ्गलेपादिप्रयोगः	३५५–६
वृथाट्या—एवमेव विहरणं	३५५–६
पौरोभाग्यं—असूयकत्वं	३५५–७
पद्मा—श्रीः	३५६–७
पिङ्गः—विटः	३५७–१
अरालं—वाम	३५७–२
अपदक्षीणे—चक्षुर्लोचने	३५७–६
शरणे—गृहे	३५७–६
* मुनयायतनपतनादिभिः—	३५७–९
अवन्ध्यसाध्यमिति क्रियाविशेषणं	३५७–७
आकूतम्—अभिप्रेते	३५७–७
धौत्यं—प्रकाशयं	३५८–१
तरसोः—वेगयोः	३५८–१
अविरलं—लघु (शीघ्रं)	३५८–९
अथ किं—एवमेतत्	३५९–३
ववनैः—वचनैः	३५९–४
वास्तु - गृहं	३५९–५
इत्वरी—कुलटा	३५९–८
उपोद्घातः—अवतारणक्रमः	३५९–८
दुश्चर्मा—षण्ढः	३६०–१०
४कुसुमकिसायः—कामः	३६१–४
पुष्पंधयः—भ्रमरः	३६१–५
रसालः—चूतः	३६१–६
स्कन्दः—क्षयरोगः	३६१–१०
सन्नता—चेष्टाभावक्षीणता	३६१–१०
जलार्द्रं—वस्त्रव्यजनं	३६२–१
कर्णजाहं—कर्णमूलं	३६२–४
एवमेवं—कदाचिन्निङ्कुरस्त्वामभिलषतीति	३६२–४

१. 'निष्ठुरः' टि० ख०।

*. उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वाऽऽत्मने पदं।

२. देखिए पृ० ३५० की टि. नं० ११–१२।

३. आर्तध्यानं।

* मुनयायतनपतनमदन्ति विभागयन्ति इत्येवंशीलैः।

४. देखिए–पृ. ३६१ की टिप्पणी नं. ३।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
वासुरेषु — पक्षिषु	३६२–८
श्वशुरस्य—हिमाचलस्य	३६३–१
मतालय:—भ्रमरा:	३६३–२
वृक्षोत्पलं—कर्णिकार:	३६३–२
अभ्याशे—समीपे	३६३–३
प्रवया:—वृद्ध:	३६३–८
आयतनं—कारणं	३६४–३
सुमजन:—रात्रिमध्य:	३६४–९
प्रतीका:—अवयवा:	३६५–४
आकल्प:—वेष:	३६५–५
शैलूष:—नट:	३६६–४
तृणेह्मि—हिनस्मि	३६६–७
सत्री—यजमान:	३६६–८
आधारण:—परिभव:	३६६–८
कुप्यं—वस्त्रकम्बलादि	३६७–४
भाण्डं—लोहकर्पूरतैलादि	३६६–४
वेदा:—स्त्रीपुंनपुंसकभावा:	३६७–५
हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा:	३६७–५
धनायाश्रित: गर्व:	३६७–७
ज्यानि—हानि	३६८–६
द्वन्द्व:—परिग्रह:	३६८–७
उपशल्ये—समीपे	३६९–१
संभारादि—तैलादि	३६९–५
प्रसभाभ्यवहृति¹—गृद्धिभोजनं	३६९–६
कडङ्गर—धान्यतृण	३६९–७
ध्वजा:—शैलिका:	३६९–७
पितृप्रिया:—तिला:	३६९–८
मन्थं—घाटक: (धाणी)	३६९–८
प्रत्यवसानं—भोजनं	३६९–९
स्थालीविलीयमहृति	३६९–१०
अवन्तिसोम—काञ्जिकं	३६९–१०
विष्णुसद: —पिप्पल:	३७०–१
ज्वालवल्ली—बदरी	३७०–२
कार्षापणं—मानं	३७०–४
वल्मीकमित—गृहपटललम्बिता ?	३७०–७
मुकुर:—दर्पण:	३७०–७
निकाय्यं—गृहं	३७०–७
ऊवलुक: गरुड:	३७०–८
नवीन:—नव:	३७०–८
कदर्या:—लुब्धा:	३७१–४
विधापयन्—विध विधाने	३७१–६
मितंपच:—लुब्ध:	३७१–९
धैवधिका:, परिस्कन्दा:, काष—	३७१–९
वहाह्य एकार्था:—	३७२–१–३
पक्ष:—दिवस:	३७१–१०
अपस्नातव्यं—मृतस्नानं कर्तव्यं	३७२–६
उपाहृते—एकान्ते	३७२–४
शिलापुत्रक:—पेषणपाषाण:	३७३–१
वैदेहिकव्यञ्जन:—वणिक्वेष: राजप्रणिधि:	३७३–२
प्राचीनबर्हिरिन्द्र:	३७३–३
बभ्रु:—नकुल:	३७४–६
❁ वृषाक्रिया:—	३७४–७
सम्पराय:—संसार:	३७४–८
सुहृत्ता—मैत्री	३७५–२
इति यशस्तिलकपञ्जिकायां सप्तम आश्वास:	
तार्क्ष्य:—गरुड:	३७६–१
सूचनं—अपनोदनम्	३७६–१
दौश्चित्यम्—आर्तरौद्रध्याने	३७६–४
दुर्जन:—चाण्डालरज:स्वलादि	३७६–६
मह्यजिह्मस्य—मह्यचर्ममन्दस्य	३७७–४
मृत्स्ना—अजन्तुका भूमि:	३७७–६
निर्मलता—मलक्लेपहानि: ?	३७७–६
आप्लुत:—स्नात:	३७७–८
संप्लुतं—अभ्यस्तं	३७७–८

१. बहु भुज्यते इत्यर्थ: ।

❁ निष्प्रयोजनं भूखननं; जलस्फालनं, अनलसमेन्धनं, पवनकरणमेकेन्द्रियहिंसनं च ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
ऊधस्यं—दुग्धं	३७८–२
लौकिको विधिः—विवाहः	३७९–१
श्रुतगीः—उपाध्यायः	३८०–१
दृक्—दर्शनं	३८०–१
अवगमः—ज्ञानं	३८०–१
वृत्तं—चारित्रं	३८०–१
सिचये—वस्त्रे	३८०–२
सैकते—पुलिने	३८०–२
अरिः—मोहनीयं	३८०–८
रजः—ज्ञानावरणं दर्शनावरणं	३८०–८
* रहः—अशुभाचारः	३८०–८
कुहकं—इन्द्रजालं	३८०–८
आजवंजवीभावः—संसारः	३८०–८
पोतिका—बालिका	३८०–१०
अवीचिः—निरयः	३८०–१०
मणिमकरिका—पुत्तलिका	३८०–११
विकटाकारः—टंकः ? (जड़िया—स्वर्णकार)	३८१–१
विरोचनः—रविः	३८१–२
चार्वीत्रयं—मतिः श्रुतमवधिश्च	३८१–३
अभिनिवेशः—सम्यक्त्वं	३८१–७
गुरुता—अर्हता	३८२–२
प्रत्नं—पुराणं	३८२–४
नूत्नं—नवं	३८२–४
उदितोदितं—आत्माचरणशुद्धं	३८२–५
विनियोगः—व्याख्यानं	३८२–५
उपनयनं—दीक्षाव्रतारोपणं विधिः	३८२–६
द्विधात्मकथा—गृहस्थाश्रयः	३८२–६
सम्परायः—संसारः	३८३–१
प्रमाणं—वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतु	३८३–३
नयः[1]—	३८३–३
निक्षेपः[2]—	३८३–३

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अनुयोगः[3]	३८३–३
अवगाहनं—विमर्शनं	" "
प्रयोगः—शास्त्रार्थज्ञापनं वचनं	" "
वाग्मित्वं[4]—	३८३–३
त्रिपथगा—गंगा	३८३–७
व्रातः—समूहः—	३८४–२
अर्वाचीनं—अर्वाग्भवं	३८४–२
विरिञ्चः—ब्रह्मा	" "
वैखानसः—तापसः	" "
प्रत्यूहः—विघ्नः	३८४–३
अवधारणद्वय[5]—	३८४–८
प्राकाम्यं—आकाङ्क्षा	३८४–९
अवह्लादनं—विचिकित्सा	३८४–९
अनेकविधशाविशेषाः*—	३८५–१
अर्घ—क्षेत्रम्	३८५–२
सत्यंकारं—व्यवस्थानुल्लङ्घनम्	
बनसार्थं इति लोकभाषा	३८५–४
अनवद्यविद्या—केवलज्ञानं	३८७–१
निदानं—कारणं	३८७–१
पञ्चवलयात्मनः[6]—	३८७–४
अल्पलापयतिः—स्वल्पव्यापारा	३८८–६
कौतुकं—कङ्कणं	३८९–५
रश्मिभिः—किरणैः, रज्जुभिश्च	३९०–१०
भौमाः—भवनवासिनः	३९१–७
चित्तवृत्तिप्रचारः—आत्मेन्द्रियमनसां तथा	
सङ्गहेतुव्यापारः	३९२–७
उपतये—परिकल्पयामि	३९२–९
सदकाः—तण्डुलाः	३९३–२
आरामः—परिग्रहः	३९३–३
ऊर्मयः—क्षुत्पिपासादयः	३९३–३
बिब्बोकाः—विलासाः	३९३–५

* 'अन्तरायकर्म' टि. ।

१,२,३, देखिए पृ. ३८१ की टि. नं० ५,६,७ ।

४. देखिए पृ. ३८३ टि. नं. १० ।

५. देखिए पृ० ३८४ टि. नं. १४ ।

* देखिए—पृ. ३८५ की टिप्पणी नं. २ ।

६. देखिए—पृ० ३८७ की टिप्पणी नं. ६ ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति	शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अनुषङ्गः—आगमः	३९३–६	पुरुहूतः—शक्रः	४०२–१
सविधे—समीपे	३९३–७	पुरुदेवं—आदिदेवं	४०२–१
अपचितौ—पूजायां	३९४–२	अधर्मं—दोषः	४०२–३
प्रजापतिनिकेतनं—ब्रह्मस्थानं	३९५–१०	श्रवसो—कर्णानां	४०५–१
अमर्त्यक्षितिभृति—सुरशैले	३९६–३	कुञ्जरः—प्रधानः	४०५–२
लक्ष्मीशुभागमनबीजैः—श्रीसरस्वतीबीजैः		उद्धमः—गर्वः	४०६–४
‘श्रीं ह्रीं’	३९६–६	वित्तिः—ज्ञानं	४०७–३
सवः—अभिषेकः	३९६–८	अचिति—अचेतने, प्रधान इति यावत्	४०७–३
पितृपतिः—यमः	३९७–१	धिषणः—बृहस्पतिः	४०७–५
नैगमेयः—नैर्ऋतिः	३९७–१	विदि—ज्ञाने	४०७–६
प्रचेताः—वरुणः	३९७–१	विमुचि—मुक्ते	४०८–१
रैदः—धनदः	३९७–२	निपः—घटः	४०८–३
उडुपः—शशी	३९७–२	अक्षजनितं—निर्विकल्पकं	४०९–५
क्षेपीयः—शीघ्रं	३९७–४	अनेकधर्मप्रवृद्धिः—पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वादिका	४१०–३
भूतिः—भस्म	३९७–६	महेत—पूजागत	४११–१
हरिता—दूर्वा	३९७–६	विदृशि—विगतदर्शने (अन्धे)	४११–८
चोचं—नालिकेरं	३९७–९	इनः—रविः	४११–८
प्राचीनामलकं—फलविशेषः	३९७–९	अर्यमा—रविः	४१२–५
पूगं—क्रमुकं	३९७–९	आशमिवेति—कवेरवेदनंक नाम ?	४१३–४
हैयङ्गवीनं—घृतं	३९८–२	अभिधानात्—अविप्रतिपत्तेः	४१३–७
मलयं—चन्दनं	३९८–७	समवाये—समाजे संघमेलापके	४१३–७
भम्भा—हुडुक्का	३९९–३	देवयात्रायां—तीर्थङ्करपूजायां	४१३–७
घनं—तालादिकं	३९९–४	अर्ककान्तं—सूर्यकान्तः	४१३–८
ततं—वीणादि	३९९–४	ऊर्ध्वं—स्थितपर्यङ्कलक्षणं	४१६–१
अवनद्धं—मुरजादि	३९९–४	यमः—प्रवेशः	४१६–२
वर्णः—स्तुतिः	३९९–६	आयामः—निर्गमः	४१६–२
भालं—ललाटं	३९९–६	शान्तः—निश्चलः	४१६–२
परिषत्—समवसरणसभा	३९९–७	ग्रावोत्कीर्णः—पाषाणघटितः	४१६–२
सभास्ताराः—बुधाः	३९९–७	एकाग्रता—ध्येयादन्यत्र व्यापाराभावः	४१६–४
आश्वजितः—वपालः	४००–३	देहयापना—करणग्रामनियन्त्रणा	४१६–४
उत्तरोदकैः—मेघोदकैः हंसोदकैर्वा	४००–६	द्वयातिगः—तोषरोषाभ्यां विनिर्मुक्तः	४१६–५
अमृतकृतकर्णिके[1]—अमूर्तं पदार्थः	४००–७	म्लीयस्त्वं—दैन्यत्वं	४१६–६
कलाः—अकारादयः षोडश	४००–७	व्यासङ्ग—व्याकुलता	४१७–१

१. देखिए पृ० ४१० की टिप्पणी नं० १०–११–१२ ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
वैराग्यं—दृष्टानाविविषयेषु वैतृष्ण्यं	४१९–४
ज्ञानं—बंधमोक्षोपायविवेकः	४१९–४
असङ्गः—बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागः	४१९–४
स्थिरचित्तता—तपःस्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽविचलितप्रयत्नः	४१९–४
ऊर्मिस्मयसहत्वं—शारीरमानसागन्तुपरीषहोद्रेकविजयित्वं	४१९–४
*योगतत्त्वं—	४१९–४
आधिः—दौर्मनस्यं	४१९–५
व्याधिः—दोषवैषम्यं	४१९–५
विपर्यासः—अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशः	४१९–५
प्रमादः[१]—	
आलस्यं[२]—	४१९–५
विभ्रमः[३] इत्यादि	४१९–५
अविविक्तात्मा—असंपृक्ताशयः	४२०–१
[४]धृतिः मैत्री[५] दया[६]—	४२४–२
संयोगः[७], विप्रलम्भः[८], निदानं[९], परिदेवनं[१०]	४२४–४
भेदं—पृथक्त्वं	४२७–२
विवर्जिताभेदं—एकत्वरहितं अर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु संक्रमात्[*]	४२७–२
अभेदं—एकत्वं	४२७–२
भेदवर्जितं—पृथक्त्वरहितमर्थव्यंजनयोगान्तरेष्वसंक्रमात्[११]	४२७–२
[१२]सूक्ष्मक्रियाशुद्धः—	४२७–२
[१३]निष्क्रियं योगं—	४२७–२
प्रसंख्यानं—ध्यानं	४२८–१
[१४]चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं—	४३०–३

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
सरसागमं—सुखरसागमं	४३०–९
[१५]वसुसदोपनिर्वाणि—	४३१–५
[१६]अयीमार्ग, वयोरूपमित्यादि[१७]	
मन्दरमुद्रा—पंचमेरुमुद्रा	४३४–३
[१८]सर्वनामादिवर्णाहिं—	४३४–३
पंचमूर्ति—ॐकारं	४३५–१
संगमे—चतुर्वर्गमध्ये	४३५–१
क्षिपेत्—मुञ्चेत्	४३६–४
एकस्तम्भं—आयुर्भूतं	४३८–२
पञ्च—इन्द्रियाणि	४३८–२
पञ्चजनाः—मनुष्यास्तैराश्रितं	" "
अनेककक्षं—हृत्नाभिब्रह्मरन्ध्रादिभेदेन	" "
गोमुद्रा—सुरभिमुद्रा	४३९–३
गुरुबीजेन—हुंकारेण	४३९–४
कचकेशी—वन्ध्यः	४४०–१०
सुरद्रुः—सुरद्रुमः	४४०–११
पर्वसन्धि—अष्टमी	४४३–१
चतुर्थं—उपवासं	४४४–१
घनाघनः—मेघः	४४६–१
प्रतिग्रहः—अभ्युत्थानं	४४८–१
विघा—आहारः	४४८–२
प्रमृतं—यदुप्तं धान्यं न प्ररोहति फलं वा न फलति	४४८–५
पारिप्लवं—चपलता	४४९–३
कदर्याः—लुब्धाः	४४९–४
वाक्पण्याः—बन्दिनः	४५०–४
संभली कुट्टिनी	४५०–४

इति श्रीदेवविरचितायां यशस्तिलकपञ्जिकायां अष्टम आश्वासः ।

---

* देखिए—पृ० ४१९, टि० नं० १२ ।
१.२.३, देखिए—पृ० ४१९ टि० नं० १६–२१ ।
४.५.६. देखिए—पृ० ४२४ टि० नं० ३–५ ।
७–१०. देखिए—पृ० ४२४ टि० नं० ८–११ ।
* अनेन पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यं शुक्लध्यानमुक्तं ।
११. अनेन एकत्ववितर्कावीचाराख्यं शुक्लध्यानमुक्तं ।
१२. देखिए—पृ० ४२७ टि० नं० ७ ।
१३. देखिए—पृ० ४२७ टि. नं० ८–९ ।
१४ देखिए पृ० ४३० टि० नं० २ ।
१५. देखिए—पृ० ४३१ टि० नं० ६ ।
१६ १७. देखिए—पृ० ४३१ टि० नं० ८–१२ ।
१८. देखिए—पृ० ४३४ टि० नं० ५ ।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति
पल्लद	पल्लव	७-५	निरोदध	निरोदधे	२५१-१
विहित	विहित	७-५	ह्यासानां	न ह्याप्तानां	२०१-५
स्वागत	स्वागत	१७-४	पुनरप्यमित	पुनरप्यमितप्रभः	२२०-१०
पितृदवन	पितृदैवत	५०-४	भोगमती	भोगवती	२४७ टि.नं.७
वासर	वासर	६१-७	शिदरो	शिखो	२६०टि. पंक्ति२
स्मृतीनिहास	स्मृतीतिहास	७२-६	पुरुषाणां	पुरुषाणां	२७६-६
विमृश्य	विमृश्य	८३-६	सुनि	मुनि	२७७-१०
पिष्टंय	पिष्टं च	९४-४	काहूले	काहूले५	३४७-३
सादृहास	साट्टहास	९७-७	भवश्च वा	भवेश्च वा	३००-६
विदवकरवद्रूनीन्द्राणां	विदवकद्रूर मनीन्द्राणां	१०७-६	धर्मानुरोधःबुद्धया	धर्मानुरोधबुद्धया	३०२-५
सवर्धमादम्	सवर्धमानम्	११२-३	देवीउपदेशदः	देवीउपसदः	३४४-२
नित्योत्सवि	नित्योत्सव	११८-२	अर्हत्स्तनुमध्ये	अर्हत्स्तनुमध्ये	३८०-१
पत्ति	पतुभि	११८-७	साधस्तदनु	साधुस्तदनु	३८०-१
ह्यप्यं	अल्पयं	१२०-१	रत्नजय	रत्नत्रय	३८०-४
नीमिमण्डला	नीमिमण्डला	१२०-३	आत्माज	आत्मा	२९३-१३
तणं	तणं	१२३-५	भवस्त्रिव्यं	भवेत्स्त्रिव्यं	३९५-१
दिलास	विलास	१६७-११	स्मरस	स्मररस	४०२-५
रुची	रुची	१६७-११	मङ्गनम्	मनङ्गम	४०३-१
कुषाग्र	कुषाग्रे	" "	कोडिप	कोऽपि	४१०-१
पञ्चम	षष्ठ	१८३-१	मतुलत्वा	मतुलत्वाद्	४१२-९
मुग्धघोषा	मुग्धघोषा	२११-७	यदेन्द्रियाणि	यदेन्द्रियाणि	४१६-३
सीघ	सीघु	२१३-९	क्षीण	क्षीणे	४३६-२
अनन्य	अन्य	१७२-१८	ह्रीं	हूँ	४३९-२०
दूसरे से	यदि दूसरे से	२००-२८	श्रूयामि	श्रयामि	४४१-२
तात्त्विककत्वसद्भाव	तात्त्विकैकत्वसद्भावे	२०५-८	पीठोपकण्ठ	पीठोपकण्ठे	२६४-८
ओतुः-मार्जारः	ओतुः मार्जारः	२१६-१टि.	चरणन	चरणेन	२८१-६
धिषणन	धिषणेन	२२९-१	पूजाक्षण	पूजाक्षणे	३९५-१
मार्गद्धि	मार्गद्धिं	२२६-२	कि जलता	न कि जलता	४२५-१९
विद्यते	विद्यते	२३९टि.नं.५	दाने	दानं	४४५ टि.पं०५